जीवराज जैन ग्रन्थमाला, हिन्दी विभाग पुष्प २७

ग्रन्थमाला-सम्पादक
स्व० प्रो० डॉ० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये एवं स्व० प्रो० डॉ० हीरालाल जैन.

श्रावकाचार संग्रह

(रत्नकरण्डक आदि ९ श्रावकाचारों का संग्रह)

[भाग १]

सम्पादक एवं अनुवादक
पं० हीरालाल सिद्धान्तालंकार, न्यायतीर्थ
व्यवस्थापक
ऐलक पन्नालाल दि० जैन, सरस्वती भवन, ब्यावर (राजस्थान)

प्रकाशक
लालचन्द हीराचन्द
अध्यक्ष, जैन-संस्कृति-संरक्षक-संघ, शोलापुर (महाराष्ट्र)

वी० नि० सं० २५०२]

[ई० सन् १९७६

मूल्य : २० रु०

प्रकाशक
लालचन्द हीराचन्द
अध्यक्ष,
जैन-संस्कृति-संरक्षक-संघ
सोलापुर (महाराष्ट्र)

प्रथम संस्करण
प्रतियाँ ५००

मुद्रक
वर्द्धमान मुद्रणालय
जवाहर नगर कॉलोनी, दुर्गाकुण्ड
वाराणसी - २२१००१
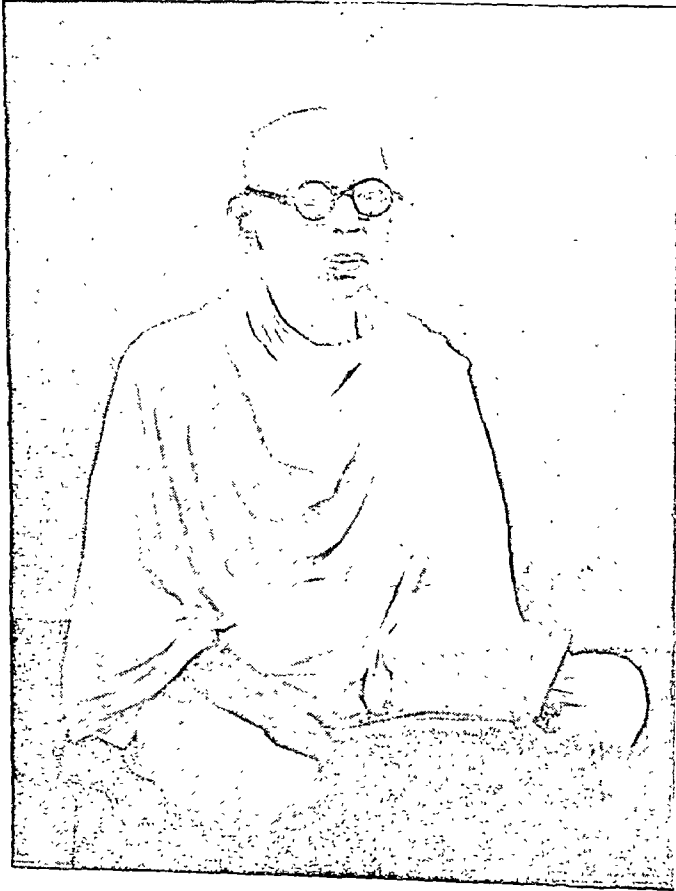
स्व. ब्र. जीवराज गौतमचंद दोशी

संस्थापक,

जैनसंस्कृति-संरक्षक-संघ, सोलापूर.

श्री जीवराज जैन ग्रंथमालाका

परिचय

सोलापुर निवासी स्व० ब्र० जीवराज गौतमचंद दोशी कई वर्षो से उदासीन होकर धर्म-कार्यमें अपनी वृत्ति लगा रहे थे। सन् १९४०में उनकी प्रबल इच्छा हो उठी कि अपनी न्यायोपार्जित संपत्तिका उपयोग विशेषरूपसे धर्म और समाजकी उन्नतिके कार्यमें करें। तदनुसार उन्होंने समस्त देशका परिभ्रमण कर जैन विद्वानोंसे साक्षात् और लिखित रूपसे सम्मतियां इस बातकी संग्रह की, कि कौनसे कार्यमें संपत्तिका उपयोग किया जाय। स्फुट मतसंचय कर लेनेके पश्चात् सन् १९४१ के ग्रीष्मकालमें ब्रह्मचारीजीने सिद्धक्षेत्र गजपंथ (नाशिक) के शीतल वाता-वातावरणमें विद्वानोंकी समाज एकत्रित की। और ऊहापोहपूर्वक निर्णयके लिये उक्त विषय प्रस्तुत किया।

विद्वान् सम्मेलनके फलस्वरूप ब्रह्मचारीजीने जैनसंस्कृति तथा जैनसाहित्यके समस्त अंगोंके संरक्षण, उद्धार और प्रचारके हेतु **'जैन संस्कृति संरक्षण संघ'** नामक संस्थाकी स्थापना की। उसके लिये रु० ३०,००० के दानकी घोषणा कर दी। उनकी परिग्रहनिवृत्ति बढ़ती गई। सन्१९४४ में उन्होंने लगभग दो लाख की अपनी संपूर्णसंपत्ति संघको ट्रस्टरूपसे अर्पण की। इसी संघके अंतर्गत 'जीवराज जैन ग्रंथमाला' द्वारा प्राचीन प्राकृत-संस्कृत-हिंदी तथा मराठी पुस्तकोंका प्रकाशन हो रहा है।

आजतक इस ग्रंथमालासे हिंदी विभागमें २७ पुस्तकें, कन्नड विभागमें ३ पुस्तकें, तथा मराठी विभागमें ४४ पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं।

प्रस्तुत ग्रंथ इस ग्रंथमालाका हिंदी विभागका २७ वाँ पुष्प है।

प्रकाशकीय निवेदन

यह श्रावकाचार संग्रह ग्रंथ उपासकाध्ययनांगका चरणानुयोगका प्रकाशक अनुपम ग्रंथ है। इसमें सब श्रावकाचारोंका संग्रह एकत्रित किया है। श्रावक धर्मका स्वरूप क्या है, आत्मधर्मके उपासककी दिनचर्या कैसी होनी चाहिये, परिणामोंकी विशुद्धिके लिये क्रमपूर्वक व्रत-संयमका अनुष्ठान नितांत आवश्यक है इसका विस्तारपूर्वक विवरण इस ग्रंथका पठन-पाठन करनेसे ज्ञात हो सकता है। स्वं० श्रीमान् डा० ए० एन० उपाध्ये ने सब श्रावकाचार ग्रंथोंकी नामावली भेजकर यह ग्रंथ प्रकाशित करनेके लिये मूलप्रेरणा दी इसलिये यह संस्था उनकी कृतज्ञ है।

इस ग्रंथका हिंदी अनुवाद श्री पं० हीरालालजीशास्त्री व्यावर ने तैयार करके ग्रंथ-मालाको जिनवाणीका प्रचार करनेमें सहयोग दिया है, जिसके लिये हम उक्त जैनधर्मसिद्धांतके मर्मज्ञ विद्वान्को हार्दिक धन्यवाद समर्पण करते है।

तथा इस ग्रंथका मुद्रण कार्य सुचारु रूपसे करनेमें श्री वर्द्धमान मुद्रणालय वाराणसी के संचालकवर्ग ने सहयोग दिया है इसलिये हम उनका भी आभार मानते हैं।

अंतमें इस ग्रंथका पठन-पाठन घर-घरमें होकर श्रावकधर्मकी प्रशस्त तीर्थप्रवृत्ति अखंड प्रवाहसे सदैव कायम रहे यह मंगल भावना हम प्रकट करते हैं।

श्री वालचंद देवचंद शहा
मंत्री, श्री जैनसंस्कृतिसंरक्षक संघ
(जीवराज जैन ग्रंथमाला, सोलापुर)

सम्पादकीय वक्तव्य

आजसे लगभग १० वर्ष पूर्वकी बात है कि इस संस्थाके मानद मंत्री श्रीमान् सेठ बालचन्द्र देवचन्द्रजी शहाका विचार हुआ कि इस संस्थासे दि० जैन सम्प्रदायमें उपलब्ध सभी श्रावकाचारों का संकलन करके प्रकाशित हो तो अभ्यासियोंके लिए बहुत उपयोगी रहे। उन्होंने अपना अभिप्राय अपने अनन्य सहयोगी स्व० डॉ० ए० एन० उपाध्ये से कहा। डाक्टर सा० ने एक रूप-रेखा बनाकर आपके पास भेजी। और आपने उसे मेरे पास भेजकर प्रेरणा की कि इस काय-भारको आप स्वीकार करें। मैं उस समय ऐ० पन्नालाल दि० जैन सरस्वती भवनका व्यवस्थापक होकर व्यावर आया ही था, इसलिए मैंने यह सोचकर इस कार्यको सहर्ष स्वीकार कर लिया कि सरस्वती भवनका विशाल-ग्रन्थ-संग्रह इस कार्यमें सहायक होगा।

स्व० डा० उपाध्ये सा० ने १५ श्रावकाचारोंके नाम अपने पत्रमें सुझाये थे। सरस्वती भवनकी ग्रन्थ-सूचीसे कुछ और भी श्रावकाचारोंके नाम ज्ञात हुए और मैंने उनकी प्रेसकापी करना प्रारम्भ कर दिया।

स्व० डा० उपाध्येने जिस काल-क्रमसे श्रावकाचारोंके संकलनका सुझाव दिया था, उन्हें और नये उपलब्ध श्रावकाचारों के नाम अपने विचार से काल-क्रमसे लिखकर २१ श्रावकाचारोंकी सूची दि० २१।४।७१ को श्रीमान् पं० कैलाशचन्द्रजीके पास बनारस भेजी और कालक्रमका निर्णय चाहा। उन्होंने उसी पत्र पर अपना निर्णय देकर यह भी सुझाव दिया कि पद्मनन्दिपंचविंशतिका, वरांगचरित, हरिवंशपुराण आदिमें भी जो श्रावक धर्मका प्रतिपादन किया गया है उसे भी संकलित करके प्रस्तुत संग्रहमें दे दिया जाना अच्छा रहेगा। तदनुसार चारित्रप्राभृत, तत्त्वार्थसूत्रका सप्तम अध्याय, पद्मनन्दिपंचविंशतिका, पद्मचरित, हरिवंश पुराण, वराङ्ग चरित से भी श्रावकाचारका संकलन किया गया। स्व० डा० उपाध्येके सुझाव से यह भी निर्णय किया गया कि जो श्रावकाचार स्वतंत्ररूपसे निर्मित हैं, और जो कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा तथा महापुराणके श्रावक धर्मके वर्णन करनेवाले पर्व हैं उन्हें तो क्रमशः काल-क्रमके अनुसार स्थान दिया जावे। शेष जो अन्य ग्रन्थोंसे उद्‌धृत हों, उन्हें अन्तमें परिशिष्टके रूपसे दिया जावे।

प्रस्तुत संकलनके मुद्रणका निर्णय वर्द्धमान मुद्रणालयमें किया गया और चार वर्ष पूर्व इसकी प्रारम्भिक प्रेसकापी बनारस भेज दी गई। परन्तु वहांसे प्रूफ मेरे पास आने-जानेमें समय बहुत लगता था अतः तीन वर्षमें लगभग ३० ही फार्म छप सके। संस्थाके मानद-मंत्रीजी चाहते थे कि इस वीर निर्वाणशताब्दी पर तो श्रावकाचार-संग्रहका प्रथम भाग प्रकाशित हो ही जाना चाहिए। पर वहां प्रूफ-संशोधन कौन करे, यह समस्या सामने थी। अन्तमें संस्थाके मंत्रीजीके परामर्शसे मैं बनारस गया और श्री० पं० महादेवजी व्याकरणाचार्यसे—जो कि प्रूफ-संशोधनके कार्यमें अतिकुशल हैं—इसे स्वीकार करनेका आग्रह किया। हर्ष है कि उन्होंने उसे स्वीकार किया और लगभग आधे भागका उन्होंने इस वर्षमें प्रूफ-संशोधन किया, जिससे कि यह प्रथम भाग पाठकोंके सम्मुख पहुँच सका है।

प्रस्तुत प्रथम भागमें १. रत्नकरण्डक, २. स्वामिकात्तिकेयानुप्रेक्षा-गत अंश, ३. महापुराण-गत अंश, ४. पुरुषार्थसिद्धयुपाय, ५. यशस्तिलक-गत अंश, ६. चारित्रसार-गत अंश, ७. अमितगति-श्रावकाचार, ८. वसुनन्दिश्रावकाचार और ९. सावयधम्मदोहा, ये नौ श्रावकाचार संकलित्त हैं।

द्वितीय भागमें १ सागारधर्मामृत, २ धर्मसंग्रहश्रावकाचार, ३ गुणभूषण श्रावकाचार, ४ प्रश्नोत्तर श्रावकाचार, ५ धर्मपीयूष श्रावकाचार, ६ व्रतोद्योतन श्रावकाचार, ७ लाटीसंहिता, ८ उमास्वाति श्रावकाचार, ९ पूज्यपाद श्रावकाचार आदि रहेंगे।

चारित्र प्राभृत, तत्त्वार्थसूत्र, पद्मचरित आदि से उद्धृत अंश परिशिष्ट में रहेंगे।

इस प्रथम भागमें जिन श्रावकाचारोंका संग्रह किया गया है, वे सभी विभिन्न स्थानोंसे पूर्व प्रकाशित हैं किन्तु सभीके मूल पाठोंका संशोधन और पाठ-मिलान ऐ० प० दि० जैन सरस्वती भवनके हस्तलिखित मूल श्रावकाचारोंसे किया गया है। यशस्तिलकगत श्रावकाचार 'उपासकाध्ययन' के नामसे भारतीयज्ञानपीठसे प्रकाशित हुआ है, उसीके आधार परसे केवल श्लोकोंका संकलन प्रस्तुत संग्रहमें किया गया है। पूजन सम्बन्धी गद्यभाग एवं कथानकोंका गद्यभाग स्व० डॉ० उपाध्येके परामर्श से नहीं लिया गया है।

इस भागके साथ प्रस्तावना नहीं दी जा रही है। हाँ, दूसरे भागके साथ विस्तृत प्रस्तावना दी जावेगी, जिसमें संकलित श्रावकाचारोंकी समीक्षाके साथ श्रावकाचारका क्रमिक विकास भी दिया जावेगा। तथा संकलित श्रावकाचारोंके कर्त्ताओंका परिचय भी दिया जावेगा। सम्पादनमें प्राचीन प्रतियोंका उपयोग किया गया है, उनका भी परिचय दूसरे भागमें दिया जायेगा। दूसरे भागमें ही समस्त श्रावकाचारोंके श्लोकोंकी अकारादि-अनुक्रमणिका भी दी जायगी, एवं अन्य आवश्यक पारिभाषिक शब्दकोष आदि भी परिशिष्ट में ही दिये जावेंगे।

अन्तमें मैं संस्थाके मानद मंत्री, स्व० डॉ० उपाध्ये और श्रीमान् पं० कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्त शास्त्रीका बहुत आभारी हूँ, जिन्होंने इस प्रकाशनके लिए समय-समय पर सत्परामर्श दिया है। श्री० पं० महादेवजी चतुर्वेदीका भी आभारी हूँ कि उन्होंने प्रूफ-संशोधनका भार स्वीकार करके प्रथम भागको शीघ्र प्रकाशित करनेमें सहयोग दिया है। शुद्ध और स्वच्छ मुद्रणके लिए वर्द्धमान मुद्रणालयका भी आभारी हूँ।

ऐ० पन्नालाल दि० जैन सरस्वती
२।२।७६

—हीरालाल सिद्धान्तशास्त्री

श्रावकाचार-संग्रह

की

विषय-सूची

पृ० सं०

१. **रत्नकरण्ड श्रावकाचार** १–१९

मंगलाचरण और सम्यग् धर्म-कथनकी प्रतिज्ञा १
सम्यग्दर्शन, आप्त और शास्त्रका स्वरूप १
गुरुका स्वरूप २
सम्यग्दर्शनके आठों अंगोंका स्वरूप २
तीन मूढताओंका और आठ मदोंका वर्णन ३
सम्यग्दर्शनकी महिमा ३–५
सम्यग्ज्ञान और चारों अनुयोगोंका स्वरूप ५–६
सम्यक्चारित्र और उसके भेदोंका स्वरूप ६
श्रावकके बारह व्रतोंका नाम-निर्देश ६
पाँच अणुव्रतोंका स्वरूप और उनके अतीचार ६–८
तीन गुणव्रत और उनके अतीचार ९
चार शिक्षाव्रत और उनके अतीचार ....
सल्लेखनाका स्वरूप और अतीचार तथा फल ....
धर्मका फल-वर्णन ....
ग्यारह प्रतिमाओंका वर्णन १६–१८
ग्रन्थका उपसंहार १८–१९

स्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षागत श्रावक-धर्म २०–२८

श्रावकके बारह भेदोंका वर्णन २०
दर्शन-श्रावकका वर्णन २१–२२
व्रत-श्रावकका विस्तृत वर्णन २२–२५
सामायिक व्रती श्रावकका वर्णन २६
प्रोषधव्रती श्रावकका वर्णन २६
सचित्त विरत श्रावकका वर्णन २६
रात्रि-भोजन-विरत श्रावकका वर्णन २७
ब्रह्मचारी श्रावकका वर्णन २७
आरम्भ-विरत श्रावकका वर्णन २७

परिग्रह-विरत श्रावकका वर्णन २७
अनुमति-विरत श्रावकका वर्णन २७
उद्दिष्ट आहार-विरत श्रावकका वर्णन २८

३. महापुराणान्तर्गत-श्रावक-धर्म २९–९८

भरतचक्रीका दिग्विजयसे लौटने पर अपनी सम्पत्तिके सदुपयोगका विचार २९
व्रतीजनोंकी परीक्षा और उनका सन्मान कर ब्राह्मणवर्णकी स्थापना ३०
नित्यमह आदि चार प्रकारकी पूजाओंका निरूपण ३१
चार प्रकारकी दत्तियोंका निरूपण ३१
वृत्ति-भेदसे चारों वर्णोंका निरूपण ३२
श्रावकके करने योग्य तीन क्रियाओंका वर्णन ३३
गर्भान्वय क्रियाओंके ५३ भेदोंका पृथक्-पृथक् वर्णन ३३–५६
दीक्षान्वय क्रियाओंके ८ भेदोंका पृथक्-पृथक् वर्णन ५७–६३
कर्त्रन्वय क्रियाके ७ भेदोंका विस्तृत वर्णन ६४–७४
गर्भाधानादि क्रियाओंके पूर्व आवश्यक कार्योंका निदेश ७५
उक्त क्रियाओंके समय बोले जाने वाले पीठिका मंत्रोंका वर्णन ७८
ऋषिमंत्रोंका वर्णन ७९–८४
गर्भाधान-मंत्र ८४
धृतिक्रिया-मंत्र ८५
मोदक्रिया-मंत्र ८५
प्रियोद्भव-मंत्र ८६
बहिर्यानक्रिया-मंत्र ८९
अन्नप्राशनक्रिया-मंत्र ८९
चौल कर्म-मंत्र ९०
लिपिसख्यान-मंत्र ९१
उपनीतिक्रिया-मंत्र ९१
उपनीति संस्कार वालेके बाह्य चिह्न ९२
व्रती द्विजोंके दश अधिकारोंका वर्णन ९४

४. पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय ९९–१२२

मंगलाचरण पूर्वक ग्रन्थोद्धारकी प्रतिज्ञा ९९
चिदात्मा पुरुषका स्वरूप ९९
पुरुषार्थकी सिद्धिका उपाय १००
सम्यग्दर्शनका आठ अंगोंके साथ स्वरूप-निरूपण १०१
सम्यग्ज्ञानका आठ अंगोंके साथ स्वरूप-निरूपण १०२
सम्यक् चारित्रका स्वरूप और भेद १०३
अहिंसा व्रतका स्वरूप १०३

हिंसाका विस्तृत विवेचन १०३
अष्ट मूलगुणोंका निरूपण १०५
देवता-अतिथि आदिके लिए जीव-घातका निषेध १०८
सत्य व्रतका वर्णन १०९
अचौर्यव्रतका वर्णन ११०
ब्रह्मव्रतका वर्णन ११०
परिग्रहत्याग व्रतका वर्णन १११
रात्रिभोजन त्याग व्रतका वर्णन ११२
तीन गुणव्रतोंका वर्णन ११३
चार शिक्षाव्रतोंका वर्णन ११४
सल्लेखनाका वर्णन ११७
सम्यक्त्व, व्रत, शील और सल्लेखनाके अतीचारोंका वर्णन ११८
बारह तपोंके यथाशक्ति करनेका उपदेश ११९
अनुप्रेक्षा और परीषह-जयका उपदेश १२०
रत्नत्रयधर्मकी महिमा और ग्रन्थका उपसंहार १२१

५: **यशस्तिलकचम्पूगत-उपासकाध्ययन** १२२–२६२
धर्मका स्वरूप १२३
विभिन्न-मताभिमत मोक्षके स्वरूपका प्रतिपादन और उनका निराकरण १२४–१३०
सम्यक्त्वका स्वरूप १३१
आप्तके स्वरूपका सयुक्तिक विस्तृत विवेचन १३२
ब्रह्मा, विष्णु और महेश आदिकी आप्तताका निराकरण १३३
आगमका स्वरूप और विषय १३७
जीवादि पदार्थोंका स्वरूप १४०
कर्म-बन्धके कारणोंका विवेचन १४२
लोकका स्वरूप १४२
लोक-प्रचलित मूढताओंका निराकरण १४३
सम्यग्दर्शनके दोषोंका वर्णन १४३
निशंकित अंगका वर्णन १४५
निःकांक्षित अंगका वर्णन १४५
निर्विचिकित्सा अंगका वर्णन १४६
अमूढदृष्टि अंगका वर्णन १४७
उपगूहन अंगका वर्णन १४७
स्थितिकरण अंगका वर्णन १४८
प्रभावना अंगका वर्णन १४९
वात्सल्य अंगका वर्णन १४९
सम्यग्दर्शन और उसके भेदोंका वर्णन १५०

सम्यग्दर्शनके २५ दोषोंका वर्णन १५३
सम्यग्ज्ञानका स्वरूप १५४
सम्यक्चारित्रका स्वरूप और भेद १५५
अष्ट मूलगुणोंका वर्णन १५६
श्रावकके बारह व्रतोंका वर्णन १५९
अहिंसाव्रतका वर्णन और रात्रिभोजनका निषेध १६०
सन्धानक एवं द्विदल वस्तु-भक्षणका निषेध १६१
मैत्री प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य भावनाका स्वरूप १६१
प्रायश्चित्तका विधान, वा प्रायश्चित्त देनेका अधिकारी १६३
अदत्तादानका निषेध एवं अचौर्याणुव्रतका स्वरूप १६४
सत्याणुव्रतका स्वरूप वर्णन १६५
ब्रह्मचर्याणुव्रतका स्वरूप वर्णन १६७
परिग्रह परिमाणाणुव्रतका स्वरूप वर्णन १६९
गुणव्रतोंका वर्णन १७०
शिक्षाव्रतोंका वर्णन १७१
सामायिक शिक्षाव्रतके अन्तर्गत देवपूजाका विस्तृत वर्णन १७२
अतदाकार पूजनके अन्तर्गत दर्शन, ज्ञान चारित्रभक्ति, अर्हत् सिद्ध आचार्य चैत्य और शान्तिभक्तिका वर्णन १७५
तदाकार पूजनके अन्तर्गत प्रस्तावना, पुराकर्म, स्थापना-स्तवन, अर्चन, स्तवन, जप, ध्यान, और श्रुतदेवताराधनाका वर्णन १८०
ध्यानके अन्तर्गत आज्ञाविचयादि धर्मध्यानोंका विस्तृत वर्णन १९३
प्रोषधोपवास शिक्षाव्रतका वर्णन २१३
भोगोपभोग शिक्षाव्रतका वर्णन २१४
अतिथिसंविभाग शिक्षाव्रतका वर्णन २१४
श्रुत-रक्षाके लिए श्रुतधरोंकी रक्षाका निर्देश २२१
ग्यारह प्रतिमाओंका संक्षिप्त वर्णन २२३
जितेन्द्रिय, श्रमण, क्षपण आदि नामोंकी सार्थकताका वर्णन २२३
सल्लेखनाका वर्णन २२८
गृहस्थके दैनिक षट् आवश्यकोंका वर्णन २२९
चार अनुयोगोंका वर्णन २३०
कषायोंका वर्णन और उनके जीतनेका उपदेस २३१
वैराग्य, भय और नियमके उपदेशपूर्वक ग्रन्थका उपसंहार २३४

६. **चारित्रसार-गत श्रावकाचार** २३५–२६२

मंगलाचरण और धर्मका स्वरूप २३५
श्रावककी ११ प्रतिमाओंका नाम-निर्देश २३५

दार्शनिक श्रावकका स्वरूप एवं सम्यक्त्व-माहात्म्य २३६
व्रतिक श्रावकका स्वरूप २३८
पंच अणुव्रत और उनके अतिचारोंका विस्तृत वर्णन २३८
सात शीलोंका सविचार विस्तृत वर्णन २४२
मद्य-मांसादिके भक्षण और द्यूतक्रीड़ाका निषेध २५१
खदिरसारके काक-मांस-भक्षण त्यागके माहात्म्यका वर्णन २५२
मद्यपानके दोष-दर्शन एवं यादव-विनाशका वर्णन २५४
सामायिकादि शेष प्रतिमाओंका वर्णन २५५
गृहस्थके इज्या, वार्ता, दत्ति, स्वाध्याय, संयम और तप इस षट् आर्य-कर्मोंका निरूपण २५८
साधुओंके ऋषि, यति, मुनि, अनगार भेदोंका वर्णन २५९
सल्लेखनाका सातिचार वर्णन २६०

७. अमितगति-श्रावकाचार २६३–४२१

पंच परमेष्ठि-स्मरण, सरस्वती-वन्दन २६३
मनुष्य भवकी महत्ताका निरूपण २६४
धर्मकी महत्ता बताकर उसे धारण करनेका उपदेश २६५
मिथ्यात्वके भेदोंका वर्णन कर उसे छोड़नेका उपदेश २७२
सम्यक्त्व-प्राप्तिकी योग्यता और प्रथमोपशम सम्यक्त्वकी प्राप्तिका क्रम-निरूपण २७५
सम्यक्त्वके शेष भेदोंका वर्णन २७७
सम्यक्त्वका माहात्म्य-निरूपण २७८
जीवादि सप्त तत्त्वोंका विस्तृत विवेचन २८१
आत्माके अस्तित्वकी सिद्धि २९१
सर्वज्ञ-सिद्धि २९६
ईश्वरके जगत्-कर्तव्यका खंडन २९९
अष्ट-मूलगुणोंका विस्तृत विवेचन ३०२
रात्रिभोजनके दोष दिखाकर उसके त्यागका उपदेश ३०७
श्रावकके बारह व्रतोंका वर्णन ३१२
अहिंसाणुव्रतका विस्तृत विवेचन ३१३
सत्याणुव्रतका विवेचन ३१७
अचौर्याणुव्रत और ब्रह्मचर्याणुव्रतका निरूपण ३१८
परिग्रह परिमाणाणुव्रतका निरूपण ३१९
दिग्व्रतादि तीनों गुणव्रतोंका वर्णन ३२०
सामायिकादि चारों शिक्षाव्रतोंका तथा सल्लेखनाका वर्णन ३२१
उक्त व्रतोंके, सम्यक्त्वके और सल्लेखनाके अतीचार ३२२
तीन शल्योंका विस्तृत वर्णन कर उनके त्यागका उपदेश ३२५

सम्यग्दर्शनके २५ दोषोंका वर्णन १५३
सम्यग्ज्ञानका स्वरूप १५४
सम्यक्चारित्रका स्वरूप और भेद १५५
अष्ट मूलगुणोंका वर्णन १५६
श्रावकके बारह व्रतोंका वर्णन १५९
अहिंसाव्रतका वर्णन और रात्रिभोजनका निषेध १६०
सन्धानक एवं द्विदल वस्तु-भक्षणका निषेध १६१
मैत्री प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य भावनाका स्वरूप १६१
प्रायश्चित्तका विधान, वा प्रायश्चित्त देनेका अधिकारी १६३
अदत्तादानका निषेध एवं अचौर्याणुव्रतका स्वरूप १६४
सत्याणुव्रतका स्वरूप वर्णन १६५
ब्रह्मचर्याणुव्रतका स्वरूप वर्णन १६७
परिग्रह परिमाणाणुव्रतका स्वरूप वर्णन १६९
गुणव्रतोंका वर्णन १७०
शिक्षाव्रतोंका वर्णन १७१
सामायिक शिक्षाव्रतके अन्तर्गत देवपूजाका विस्तृत वर्णन १७२
अतदाकार पूजनके अन्तर्गत दर्शन, ज्ञान चारित्रभक्ति, अर्हत् सिद्ध आचार्य चैत्य और शान्तिभक्तिका वर्णन १७५
तदाकार पूजनके अन्तर्गत प्रस्तावना, पुराकर्म, स्थापना-स्तवन, अर्चन, स्तवन, जप, ध्यान, और श्रुतदेवताराधनाका वर्णन १८०
ध्यानके अन्तर्गत आज्ञाविचयादि धर्मध्यानोंका विस्तृत वर्णन १९३
प्रोषधोपवास शिक्षाव्रतका वर्णन २१३
भोगोपभोग शिक्षाव्रतका वर्णन २१४
अतिथिसंविभाग शिक्षाव्रतका वर्णन २१४
श्रुत-रक्षाके लिए श्रुतधरोंकी रक्षाका निर्देश २२१
ग्यारह प्रतिमाओंका संक्षिप्त वर्णन २२३
जितेन्द्रिय, श्रमण, क्षपण आदि नामोंकी सार्थकताका वर्णन २२३
सल्लेखनाका वर्णन २२८
गृहस्थके दैनिक षट् आवश्यकोंका वर्णन २२९
चार अनुयोगोंका वर्णन २३०
कषायोंका वर्णन और उनके जीतनेका उपदेस २३१
वैराग्य, भय और नियमके उपदेशपूर्वक ग्रन्थका उपसंहार २३४

६. **चारित्रसार-गत श्रावकाचार** २३५–२६२

मंगलाचरण और धर्मका स्वरूप २३५
श्रावकके ११ प्रतिमाओंका नाम-निर्देश २३५

दार्शनिक श्रावकका स्वरूप एवं सम्यक्त्व-माहात्म्य २३६
व्रतिक श्रावकका स्वरूप २३८
पंच अणुव्रत और उनके अतिचारोंका विस्तृत वर्णन २३८
सात शीलोंका सविचार विस्तृत वर्णन २४२
मद्य-मांसादिके भक्षण और द्यूतक्रीड़ाका निषेध २५१
खदिरसारके काक-मांस-भक्षण त्यागके माहात्म्यका वर्णन २५२
मद्यपानके दोष-दर्शन एवं यादव-विनाशका वर्णन २५४
सामायिकादि शेष प्रतिमाओंका वर्णन २५५
गृहस्थके इज्या, वार्ता, दत्ति, स्वाध्याय, संयम और तप इस षट् आर्य-कर्मोंका निरूपण २५८
साधुओंके ऋषि, यति, मुनि, अनगार भेदोंका वर्णन २५९
सल्लेखनाका सातिचार वर्णन २६०

७. अमितगति-श्रावकाचार २६३–४२१

पंच परमेष्ठि-स्मरण, सरस्वती-वन्दन २६३
मनुष्य भवकी महत्ताका निरूपण २६४
धर्मकी महत्ता बताकर उसे धारण करनेका उपदेश २६५
मिथ्यात्वके भेदोंका वर्णन कर उसे छोड़नेका उपदेश २७२
सम्यक्त्व-प्राप्तिकी योग्यता और प्रथमोपशम सम्यक्त्वकी प्राप्तिका क्रम-निरूपण २७५
सम्यक्त्वके शेष भेदोंका वर्णन २७७
सम्यक्त्वका माहात्म्य-निरूपण २७८
जीवादि सप्त तत्त्वोंका विस्तृत विवेचन २८१
आत्माके अस्तित्वकी सिद्धि २९१
सर्वज्ञ-सिद्धि २९६
ईश्वरके जगत्-कर्तव्यका खंडन २९९
अष्ट-मूलगुणोंका विस्तृत विवेचन ३०२
रात्रिभोजनके दोष दिखाकर उसके त्यागका उपदेश ३०७
श्रावकके बारह व्रतोंका वर्णन ३१२
अहिंसाणुव्रतका विस्तृत विवेचन ३१३
सत्याणुव्रतका विवेचन ३१७
अचौर्याणुव्रत और ब्रह्मचर्याणुव्रतका निरूपण ३१८
परिग्रह परिमाणाणुव्रतका निरूपण ३१९
दिग्व्रतादि तीनों गुणव्रतोंका वर्णन ३२०
सामायिकादि चारों शिक्षाव्रतोंका तथा सल्लेखनाका वर्णन ३२१
उक्त व्रतोंके, सम्यक्त्वके और सल्लेखनाके अतीचार ३२२
तीन शल्योंका विस्तृत वर्णन कर उनके त्यागका उपदेश ३२५

ग्यारह प्रतिमाओंका वर्णन ३३१
श्रावकके लिए षट् आवश्यकोंके अवश्य कर्तव्यताका उपदेश ३३४
सामायिक, स्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग इन छहों
आवश्यकोंका विस्तृत विवेचन ३३६
सामायिकादि करते समय आसन, मुद्रा, आवर्त आदिका वर्णन ३३७
वन्दना-सम्बन्धी ३२ दोषोंका वर्णन ३४०
कायोत्सर्ग-सम्बन्धी ३२ दोषोंका वर्णन ३४२
दान, पूजा, शील और उपवासरूप चतुर्विध श्रावक धर्मका विस्तृत वर्णन ३४४
दान देनेके योग्य पात्रोंका और नहीं देने योग्य अपात्रोंका विस्तृत वर्णन ३५३
अभयदान आदि चारों दानोंका विस्तृत वर्णन ३६२
वसति-दान आदिके फलका वर्णन ३६६
भोगभूमिज मनुष्योंके सुखादिका वर्णन ३६८
कुपात्र और अपात्र दानका फल-वर्णन ३६९
सुपात्रदानका फल-वर्णन ३७०
तीर्थंकर जिनदेवका स्वरूप-वर्णन ३७२
सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधुका स्वरूप-वर्णन ३७४
जिन-पूजनके फलका वर्णन ३७५
शीलका वर्णन ३७५
द्यूतादि सप्त व्यसनोंका विस्तृत वर्णन ३७६
मौनके गुणोंका निरूपण ३८०
उपवासका विस्तृत विवेचन ३८२
श्रावकके कुछ विशेष गुणोंका वर्णन ३८४
दर्शन विनय आदि चारों प्रकारकी विनयका वर्णन ३८५
वैयावृत्यका विस्तृत विवेचन ३८९
प्रायश्चित्त और स्वाध्याय तपका वर्णन ३९०
चौदहवें परिच्छेदमें बारह भावनाओंका विस्तृत वर्णन ३९४
ध्यानके चारों भेदोंका स्वरूप ४०५
धर्म्यध्यानके दश भेदोंका वर्णन ४०७
पदस्थ ध्यानका विस्तृत वर्णन ४०८
विविध मंत्र-पदोंकी आराधना-विधिका वर्णन ४०९
पिण्डस्थ, रूपस्थ और अरूपस्थ ध्यानका वर्णन ४१३
बहिरात्माका स्वरूप बताकर अन्तरात्मा बनकर परमात्मा बननेका उपदेश ४१४
ग्रन्थकारकी प्रशस्ति ४२०
८. **वसुनन्दि-श्रावकाचार** ४२२–४८१
सम्यक्त्वका स्वरूप ४२२
जीवादि सात तत्त्वोंका स्वरूप ४२३

सम्यक्त्वके आठ अंग और उनमें प्रसिद्ध पुरुषोंका निर्देश ४२८
द्यूत आदि सप्त व्यसनोंका विस्तृत विवेचन ४२९
नरकगतिके दुःखोंका विस्तृत वर्णन ४३६
तिर्यंचगति और मनुष्यगतिके दुःखोंका वर्णन ४४०
देवगतिके दुःखोंका वर्णन ४४२
दर्शन प्रतिमाका वर्णन ४४३
व्रत प्रतिमाका वर्णन ४४४
पात्र, दाता, देय और दानविधिका वर्णन ४४६
दानसे फलका वर्णन ४४८
सल्लेखनाका वर्णन ४५१
सामायिक और प्रोषध प्रतिमाका वर्णन ४५१
सचित्तत्याग आदि छह प्रतिमाओंका स्वरूप-निरूपण ४५३
उद्दिष्टत्याग प्रतिमाका विस्तृत वर्णन ४५४
रात्रिभोजनके दोषोंका वर्णन ४५६
श्रावकके कुछ अन्य कर्तव्योंका निर्देश ४५६
विनयका वर्णन ४५७
वैयावृत्यका वर्णन ४५९
कायक्लेश तपका वर्णन ४६१
पंचमी व्रतका वर्णन ४६१
रोहिणी, अश्विनी, आदि अनेक व्रतोंका वर्णन ४६२
नाम और स्थापना पूजनका वर्णन ४६४
प्रतिमा-प्रतिष्ठाका विस्तृत वर्णन ४६५
द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावपूजाका वर्णन ४७०
पिण्डस्थ ध्यानका वर्णन ४७२
पदस्थ ध्यानका वर्णन ४७३
रूपस्थ और रूपातीत ध्यानका वर्णन ४७४
अष्टद्रव्यसे जिनपूजन करनेवाला स्वर्ग-सुख भोगकर और वहाँसे चयकर मनुष्य होकर कार्य क्षयकर मोक्ष प्राप्त करता है, इसका विस्तृत वर्णन ४७५
ग्रन्थकारकी प्रशस्ति ४८२

९. सावयधम्मदोहा ४८३–५०५

मंगलाचरण और श्रावकधर्मके कथनकी प्रतिज्ञा ४८३
मनुष्य भवकी दुर्लभता और देव-गुरुका स्वरूप ४८३
दर्शन प्रतिमाका स्वरूप ४८४
अष्टमूल गुण-पालनका उपदेश ४८५
सप्त व्यसनोंके दोष बताकर उनके त्यागनेका उपदेश ४८६

व्रत प्रतिमाका वर्णन ४८८
पात्र, कुपात्र और अपात्रको दान देनेका फल-वर्णन ४९०
दान देना ही गृहस्थ जीवनकी सफलता है ४९१
अपने लिए प्रतिकूल कार्य दूसरोंके लिए नहीं करना ही धर्मका मूल है ४९२
उपवासका महत्त्व बताकर उसे करनेकी प्रेरणा ४९३
एक एक इन्द्रियके विषयमें फँस कर दुःख पाने वालोंके दृष्टान्त देकर इन्द्रिय-विषयोंको जीतनेका उपदेश ४९४
क्रोधादि कषायोंके जीतनेका उपदेश ४९५
अन्यायका फल बताकर उसे छोड़नेका उपदेश ४९६
चारों गतियोंमें ले जानेवाले कर्म-बन्धके कारणोंका निरूपण ४९७
धर्म-धारण करनेके फलका निरूपण ४९८
जिनेन्द्रदेवके अभिषेक और पूजनका फल-निरूपण ४९९
जिन-बिम्ब और जिनालय निर्मापणका फल-वर्णन ५००
जिन-मन्दिरमें तीन लोकके चित्रादि लिखानेका फल-वर्णन ५०१
'अर्हं' आदि मंत्रोंके ध्यानका उपदेश ५०२
ग्रन्थका उपसंहार और इष्ट प्रार्थना ५०३
सावय धम्मदोहाका परिशिष्ट ५०४

रत्नकरण्डश्रावकाचार

नमः श्रीवर्धमानाय निर्धूतकलिलात्मने । सालोकानां त्रिलोकानां यद्विद्या दर्पणायते ।। १
देशयामि समीचीनं धर्म कर्मनिवर्हणम् । संसारदुःखतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे ।। २
सद्दृष्टि-ज्ञान-वृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः । यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः ।। ३
श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम् । त्रिमूढापोढमष्टाङ्गं सम्यग्दर्शनमस्मयम् ।। ४
आप्तेनोत्सन्नदोषेण सर्वज्ञेनाऽऽगमेशिना । भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत् ।। ५
क्षुत्पिपासाजरातङ्कजन्मान्तकभयस्मयाः । न रागद्वेषमोहाश्च यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते ।। ६
परमेष्ठी परंज्योतिर्विरागो विमलः कृती । सर्वज्ञोऽनादिमध्यान्तः सार्वः शास्तोपलाल्यते ।। ७
अनात्मार्थं विना रागैः शास्ता शास्ति सतो हितम् । ध्वनन् शिल्पिकरस्पर्शान्मुरजः किमपेक्षते ।
आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्टविरोधकम् । तत्त्वोपदेशकृत् सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम् ।।९

जिन्होंने अपनी आत्मासे,राग-द्वेषादिरूप पापमलको सर्वथा धो डाला है और जिनकी केवलज्ञानरूपी विद्या अलोकाकाश-सहित त्रिलोकोंको जानने के लिए दर्पण के समान है, ऐसे श्री वर्धमान स्वामीके लिए नमस्कार हो ।। १ ।। मैं (समन्तभद्र) कर्मों के नाश करने वाले उस यथार्थ धर्मका उपदेश करता हूँ, जो कि जीवोंको संसारके दुःखोंसे निकाल कर उत्तम सुखमें धारण करता है ।।२।। धर्मके ईश्वर तीर्थंकरादि देवोंने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको धर्म कहा है। इनके प्रतिपक्षी मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र संसारके कारण हैं ।। ३.।। सम्यग्दर्शन का स्वरूप—सत्यार्थ आप्त, आगम और गुरुका तीन मूढ़तासे रहित, आठ स्मय (मद) से रहित और आठ अङ्गसे सहित श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है ।। ४ ।। सत्यार्थ आप्त (देव) का लक्षण—जिसने राग-द्वेषादि दोषोंका विनाश कर दिया है, जो सर्व चराचर जगत्का जानने वाला सर्वज्ञ है और वस्तु-स्वरूपके प्रतिपादक आगमका स्वामी अर्थात् मोक्ष मार्गका प्रणेता है वही पुरुष नियमसे सच्चा आप्त होनेके योग्य है। अन्यथा आप्तपना हो नहीं सकता। अर्थात् जो वीतरागी, सर्वज्ञ और हितोपदेशी नहीं है, ऐसा पुरुष कभी सच्चा देव नहीं हो सकता है ।।५।। निर्दोष वीतरागी आप्त का लक्षण—जिसके भूख, प्यास, जरा, रोग, जन्म, मरण, भय, मद, राग, द्वेष, मोह और 'च' शब्द से सूचित चिन्ता, अरति, निद्रा, विस्मय, विषाद, प्रस्वेद और खेद ये दोष नहीं हैं, वह पुरुष वीतरागी आप्त कहा जाता है ।। ६ ।। ऐसे ही आप्तको परमेष्ठी, परंज्योति, वीतराग, विमल, कृती, सर्वज्ञ, आदि-मध्य-अन्तसे रहित, अनादि-अनन्त और सार्व (सबका हितैषी) शास्ता या मोक्षमार्गप्रणेता कहते हैं ।। ७ ।। वह शास्ता विना किसी अपने प्रयोजनके केवल निःस्वार्थ भावसे रागके विना सन्त जनोंको हितका उपदेश देता है । बजाने वाले शिल्पीके हाथके स्पर्शसे ध्वनि करता हुआ मृदंग किसी से क्या अपेक्षा रखता है ? ।।८।। भावार्थ—जैसे बजता हुआ मृदंग शिल्पीसे या अन्य किसीसे कोई अपेक्षा नहीं रखता है । इसी प्रकार वीतराग पुरुष भी भव्योंको उपदेश देते हुए किसीसे कुछ अपेक्षा नहीं रखते हैं। जैसे मृदंगका स्वभाव बजनेका है, वह बजाने वालेके हाथका निमित्त पाते ही बजने लगता है, इसी प्रकार शास्ताका स्वभाव उपदेश देनेका है, भव्य जीवोंका निमित्त पाते ही उसके द्वारा दिव्य उपदेश प्रकट होने लगता है। सत्यार्थ आगम (शास्त्र) का लक्षण—जो आप्तके द्वारा उपदिष्ट हो, वादी-प्रतिवादीके द्वारा जिसका उल्लंघन नहीं किया जा सके, प्रत्यक्ष और अनु-

विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः । ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते ॥१०
इदमेवेदृशं चैव तत्त्वं नान्यन्न चान्यथा । इत्यकम्पाऽऽयसाम्भोवत्सन्मार्गेऽसंशया रुचिः ॥११
कर्मपरवशे सान्ते दुःखैरन्तरितोदये । पापबीजे सुखेऽनास्था श्रद्धानाकांक्षणा स्मृता ॥१२
स्वभावतोऽशुचौ काये रत्नत्रयपवित्रिते । निर्जुगुप्सा गुणप्रीतिर्मता निर्विचिकित्सिता ॥१३
कापथे पथि दुःखानां कापथस्थेऽप्यसम्मतिः । असम्पृक्तिरनुत्कीर्त्तिरमूढा दृष्टिरुच्यते ॥१४
शुद्धं शुद्धस्य मार्गस्य बालाशक्तजनाश्रयाम् । वाच्यतां यत्प्रमार्जन्ति तद्वदन्त्युपगूहनम् ॥१५
दर्शनाच्चरणाद्वापि चलतां धर्मवत्सलैः । प्रत्यवस्थापनं प्राज्ञैः स्थितीकरणमुच्यते ॥१६
स्वयूथ्यान् प्रति सद्भावसनाथाऽपेतकैतवा । प्रतिपत्तिर्यथायोग्यं वात्सल्यमभिलप्यते ॥१७
अज्ञानतिमिरव्याप्तिमपाकृत्य यथायथम् । जिनशासनमाहात्म्यप्रकाशः स्यात्प्रभावना ॥१८
तावदञ्जनचौरोऽङ्गे ततोऽनन्तमती स्मृता । उद्दायनस्तृतीयेऽपि तुरीये रेवती मता ॥१९

मानादिक प्रमाणोंसे जिसमें कोई विरोध नहीं आता हो, जो प्रयोजन भूत तत्त्वोंका उपदेश करता हो, सर्व प्राणियोंका हितकारक हो और कुमार्गका विनाशक हो, उसे सत्यार्थ शास्त्र या आगम कहते हैं ॥९॥ सत्यार्थ गुरुका लक्षण—जो पंचेन्द्रियोंकी आशाके वशसे रहित हो, खेती-पशुपालन आदि आरम्भ से रहित हो, धन-धान्यादि परिग्रहसे रहित हो. ज्ञानाभ्यास, ध्यान-समाधि और तपश्चरणमें निरत हो, ऐसा तपस्वी निर्ग्रन्थ गुरु प्रशंसनीय होता है ॥१०॥ अब सम्यग्दर्शनके आठ अंगोंका वर्णन करते हुए सर्वप्रथम निःशंकित अंगका लक्षण कहते हैं—तत्त्व अर्थात् वस्तुका स्वरूप यही है, ऐसा ही है, इससे भिन्न नहीं और न अन्य प्रकार से संभव है, इस प्रकार लोह-निर्मित खड्ग आदि पर चढ़े हुए पानीके सदृश सन्मार्गमें संशय-रहित अकम्प अविचल रुचि या श्रद्धाको निःशंकित अंग कहते हैं ॥११॥ दूसरे निःकांक्षित अङ्गका लक्षण—संसारका सुख कर्मके अधीन है, अन्त-सहित है, जिसका उदय दुःखोंसे अन्तरित है, अर्थात्, सुख-काल के मध्यमें भी दुःखोंका उदय आता रहता है, और पापका बीज है, ऐसे इन्द्रियज सुखमें आस्था और श्रद्धा नहीं रखना, अर्थात् संसारके सुखकी आकांक्षा नहीं करना, यह निःकांक्षित अङ्ग माना गया है ॥१२॥ तीसरे निर्विचिकित्सा-अङ्गका लक्षण—स्वभावसे अपवित्र किन्तु रत्नत्रयके धारण करनेसे पवित्र ऐसे धार्मिक पुरुषों के मलिन शरीरको देखकर भी उसमें ग्लानि नहीं करना और उनके गुणोंमें प्रीति करना निर्विचिकित्सा अङ्ग माना गया है ॥१३॥ चौथे अमूढदृष्टि अंगका लक्षण—दुःखोंके कारणभूत कुमार्गमें और कुमार्ग पर स्थित पुरुष में मनसे सम्मति नहीं देना, कायसे सराहना नहीं करना और वचनसे प्रशंसा नहीं करना अमूढ़दृष्टि अंग कहा जाता है ॥१४॥ पांचवें उपगूहन अंगका लक्षण—स्वयं शुद्ध निर्दोष सन्मार्गकी बाल (अज्ञानी) और अशक्त जनोंके आश्रयसे होने वाली निन्दाको जो दूर करते हैं, उसे ज्ञानी जन उपगूहन अंग कहते हैं ॥१५॥ छठे स्थितीकरण अंगका लक्षण—सम्यग्दर्शन-से अथवा सम्यक्-चारित्रसे चलायमान होनेवाले लोगोंका धर्मवत्सल जनोंके द्वारा पुनः अवस्थापन करनेको प्राज्ञ पुरुष स्थितीकरण अंग कहते हैं ॥१६॥ सातवें वात्सल्य अंगका लक्षण—अपने साधर्मी समाजके प्रति सद्भावसहित, छल-कपट-रहित यथोचित स्नेहमयी प्रवृत्तिको वात्सल्य अंग कहते हैं ॥१७॥ आठवें प्रभावना अंगका लक्षण—अज्ञानरूप अन्धकारके प्रसारको यथासंभव उपायोंके द्वारा दूर करके जिन शासनके माहात्म्यको जगत्में प्रकाशित करना प्रभावना अंग है ॥१८॥ उपर्युक्त आठ अंगोंमें से प्रथम अङ्ग में अञ्जन चोर, दूसरे अंगमें अनन्तमती, तीसरे अंगमें

ततो जिनेन्द्रभक्तोऽन्यो वारिषेणस्ततः परः । विष्णुश्च वज्रनामा च शेषयोर्लक्षतां गतौ ॥२०
नाङ्गहीनमलं छेत्तु दर्शनं जन्मसन्ततिम् । न हि मन्त्रोऽक्षरन्यूनो निहन्ति विषवेदनाम् ॥२१
आपगासागरस्नानमुच्चयः सिकताऽश्मनाम् । गिरिपातोऽग्निपातश्च लोकमूढं निगद्यते ॥२२
वरोपलिप्सयाऽऽशावान् रागद्वेषमलीमसाः । देवता यदुपासीत देवतामूढमुच्यते ॥२३
सग्रन्थाऽऽरम्भहिंसानां संसारावर्तवर्तिनाम् । पाषण्डिनां पुरस्कारो ज्ञेयं पाषण्डिमोहनम् ॥२४
ज्ञानं पूजां कुलं जातिं बलमृद्धिं तपो वपुः । अष्टावाश्रित्य मानित्वं स्मयमाहुर्गतस्मयाः ॥२५
स्मयेन योऽन्यानत्येति धर्मस्थान् गर्विताशयः । सोऽत्येति धर्ममात्मीयं न धर्मो धार्मिकैर्विना ॥२६
यदि पापनिरोधोऽन्यसम्पदा किं प्रयोजनम् । अथ पापास्रवोऽस्त्यन्यसम्पदा किं प्रयोजनम् ।
सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातङ्गदेहजम् । देवा देवं विदुर्भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसम् ॥२८
श्वापि देवोऽपि देवः श्वा जायते धर्म-किल्बिषात् । कापि नाम भवेदन्या सम्पद्धर्माच्छरीरिणाम् ॥२९

उद्दायन राजा—चौथे अंगमें रेवती रानी पांचवें अंगमें जिनेन्द्रभक्त सेठ, छठे अंगमें वारिषेण राजकुमार, सातवें अंगमें विष्णुकुमारमुनि और आठवें अंगमें वज्रकुमारमुनि इस युगमें प्रसिद्धिको प्राप्त हुए हैं ॥१९-२०॥ उक्त आठ अंगोंमेंसे किसीभी अंगसे हीन सम्यग्दर्शन संसारकी परम्पराको छेदनेके लिए समर्थ नहीं है । जैसे कि एक अक्षरसे भी न्यून मंत्र विषकी वेदनाको नष्ट करनेके लिए समर्थ नहीं होता है । अतः आठों अंगोंके साथ ही सम्यग्दर्शनका धारण आवश्यक है ॥२१॥ अब तीन मूढ़ताओंमेंसे पहले लोकमूढ़ता कहते है-धर्म बुद्धिसे गंगादि नदियों और समुद्रमें स्नान करना, बालु और पत्थरोंका ऊँचा ढेर लगाना, पर्वतसे गिरना, अग्निमें प्रवेश करना, तथा च शब्दसे सूचित इसी प्रकारके अन्य कार्य-सूर्यको अर्घ चढ़ाना, संक्रान्तिके समय तिलदान करना आदिको लोकमूढ़ता कहा जाता है ॥२२॥ दूसरी देवमूढ़ताका लक्षण-आशा-तृष्णाके वशीभूत होकर वर पानेकी इच्छासे राग-द्वेषसे मलिन देवताओंकी जो उपासनाकी जाती है. वह देवमूढ़ता कही जाती है ॥ २३ ॥ तीसरी पाषण्डिमूढ़ताका लक्षण—परिग्रह, आरम्भ और हिंसासे युक्त, संसारके गोरखधन्धे रूप भंवरोंके मध्य पड़े हुए पाखण्डी लोगोंका आदर-सत्कार करना पाषण्डिमूढ़ता जानना चाहिए ॥२४॥ अब मदोंका वर्णन किया जाता हैं—ज्ञान, पुजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप और शरीर, इन आठ बातोंका आश्रय लेकर अभिमान करनेको गर्व-रहित आचार्य स्मय या मद कहते हैं ॥२५॥ अभिमान-युक्त चित्तवाला जो पुरुष मदसे अन्य धर्मात्मा जनोंका तिरस्कार करता है, वह अपने ही धर्मका अपमान करता है । क्योंकि धार्मिकजनोंके विना धर्म निराश्रित नहीं रह सकता है ॥ २६ ॥ सम्यग्दृष्टि विचारता है कि यदि पापके आस्रवका निरोध है, तो फिर मुझे अन्य सम्पदासे क्या प्रयोजन हैं । और यदि पापका आस्रव हो रहा है, तो भी मुझे अन्य सम्पत्तिसे क्या प्रयोजन हैं ॥ २७ ॥ भावार्थ—पापका निरोध होनेपर ऋद्धिबल आदि सम्पदा स्वयं प्राप्त होती हैं, अतः उसका अहंकार करना व्यर्थ है । और जब पाप का आस्रव हो रहा है, तब प्राप्त वैभवादिका अहंकार करनेपर भी उनका विनाश होगा और दुर्गतियोंमें गमन करना पड़ेगा, अतः उस दशामें भी अन्य सम्पदाओंका गर्व करना व्यर्थ है । गणधरदेव सम्यग्दर्शनसे संयुक्त चाण्डाल-पुत्रको भी भस्म (राख) से आच्छादित और अन्तरंगमें तेजसे युक्त अंगारके समान देव या आराध्य कहते हैं ॥ २८ ॥ धर्मके प्रभावसे कुत्ता भी देव हो जाता है और पापके उदयसे देव भी कुत्ता बन जाता है । इसलिए जीवोंके धर्मसे अन्य और कौन सी सम्पत्ति श्रेष्ठ हो सकती है ? नहीं हो

भयाशास्नेहलोभाच्च कुदेवाऽऽगमलिङ्गिनाम् । प्रणामं विनयं चैव न कुर्युःशुद्धदृष्टयः ॥३०
दर्शनं ज्ञान-चारित्रात्साधिमानमुपाश्नुते । दर्शनं कर्णधारं तन्मोक्षमार्गे प्रचक्ष्यते ॥३१
विद्या-वृत्तस्य सम्भूति-स्थिति-वृद्धि-फलोदयाः । न सन्त्यसति सम्यक्त्वे बीजाभावे तरोरिव ॥३२
गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान् । अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः ॥३३
न सम्यक्त्वसमं किञ्चित् त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि । श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम् ॥३४

सम्यग्दर्शनशुद्धा नारक-तिर्यङ्-नपुंसक-स्त्रीत्वानि ।
दुष्कुल-विकृताल्पायुर्दरिद्रतां च व्रजन्ति नाप्यव्रतिकाः ॥ ३५ ॥
ओजस्तेजो विद्यावीर्ययशोवृद्धिविजयविभवसनाथाः ।
महाकुला महार्था मानवतिलका भवन्ति दर्शनपूताः ॥ ३६ ॥
अष्टगुणपुष्टितुष्टा दृष्टिविशिष्टाः प्रकृष्टशोभाजुष्टाः ।
अमराप्सरसां परिषदि चिरं रमन्ते जिनेन्द्रभक्ताः स्वर्गे ॥ ३७ ॥
नवनिधि-सप्तद्वयरत्नाधीशाः सर्वभूमिपतयश्चक्रम् ।
वर्त्तयितुं प्रभवन्ति स्पष्टदृशः क्षत्रमौलिशेखरचरणाः ॥ ३८ ॥
अमरासुरनरपतिभिर्यमधरपतिभिश्च नूतपादाम्भोजाः ।
दृष्टया सुनिश्चितार्था वृषचक्रधरा भवन्ति लोकशरण्याः ॥ ३९ ॥

सकती है, अतः धर्म का ही आचरण करना चाहिए और अहंकार नहीं करना चाहिए । २९ ।। सम्यग्दृष्टि जीवोंको भय, आशा, स्नेह और लोभसे कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरुओंकी वन्दना और विनय नहीं करना चाहिए ।। ३० ।। सम्यग्दर्शनकी ज्ञान और चारित्रकी अपेक्षा प्रधानतासे उपासना की जाती है । क्योंकि सम्यग्दर्शनको मोक्षमार्गमें कर्णधार (खेवटिया) कहा जाता है ।। ३१ ।। जैसे बीजके अभावमें वृक्षकी उत्पत्ति स्थिति, वृद्धि और फलकी प्राप्ति असंभव है, उसी प्रकार सम्यक्त्वके अभावमें ज्ञान और चारित्रकी उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फलकी प्राप्ति नहीं होती है ।। ३२ ।। सम्यग्दर्शनका अवरोध करने वाले मोहसे अर्थात् दर्शन मोहनीय कर्मसे रहित गृहस्थ मोक्षमार्गपर अवस्थित है, किन्तु दर्शनमोहवाला मुनि मोक्षमार्गपर स्थित नहीं है । अतएव मोही मुनिसे निर्मोही गृहस्थ श्रेष्ठ है ।। ३३ ।। सम्यग्दर्शनके समान तीन काल और तीन लोकमें प्राणियोंकी कल्याण-कारक अन्य कोई वस्तु नहीं हैं और मिथ्यात्वके समान अन्य कोई अकल्याण-कारक नहीं है ।। ३४ ।। अव्रती भी शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव मरकर नारकी, तिर्यंच, नपुंसक और स्त्री पर्यायको प्राप्त नहीं होते हैं । तथा खोटे कुलको, विकल अंगको, अल्प आयुको और दरिद्रताको भी प्राप्त नहीं होते हैं ।। २५ ।। सम्यग्दर्शनसे पवित्र जीव यदि मनुष्योंमें उत्पन्न होते हैं, तो ओज (उत्साह), तेज (प्रताप), विद्या, वीर्य, यश, वृद्धि (उन्नति) विजय और वैभवसे संयुक्त, महान् कुलोंमें उत्पन्न होने वाले, महान् पुरुषार्थी, मानव-तिलक या मनुष्य-शिरोमणि होते हैं ।। ३६ ।। सम्यग्दशनसे विशिष्ट जिनेन्द्र भक्त पुरुष यदि स्वर्गमें उत्पन्न होते हैं तो अणिमा-महिमादि आठ ऋद्धि रूप गुणोंकी प्राप्तिसे सदा प्रमुदित और उत्कृष्ट शोभा से संयुक्त होकर देवों और अप्सराओंकी सभामें चिरकाल तक आनन्दका उपभोग करते हैं ।।३७।। निर्मल सम्यग्दृष्टि जीव नौ निधि और चौदह रत्नोंके स्वामी और सर्वभूमिके अधिपति होकर सुदर्शन चक्रको चलानेमें समर्थ होते हैं और नमस्कार करते हुए क्षत्रिय राजाओंके मुकुटोंकी

शिवमजरमरुजमक्षयमव्याबाधं विशोकभयशङ्कम् ।
काष्ठागतसुखविद्याविभवं विमलं भजन्ति दर्शनशरणाः ॥ ४० ॥
देवेन्द्रचक्रमहिमानममेयमानं राजेन्द्रचक्रमवनीन्द्रशिरोऽर्चनीयम् ।
धर्मेन्द्रचक्रमधरीकृतसर्वलोकं लब्ध्वा शिवं च जिनभक्तिरुपैति भव्यः ॥ ४१ ॥

इति श्रीस्वामिसमन्तभद्राचार्य-विरचिते रत्नकरण्डकाऽपरनाम्नि उपासकाध्ययने
सम्यग्दर्शनवर्णनं नाम प्रथममध्ययनम् ॥ १ ॥

अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं विना च विपरीतात् । निःसन्देहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः ॥४२
प्रथमानुयोगमर्थाख्यानं चरितं पुराणमपि पुण्यम् । बोधि-समाधिनिदानं बोधति बोधः समीचीनः॥ ४३
लोकालोकविभक्तेर्युगपरिवृत्तेश्चतुर्गतीनां च । आदर्शमिव तथामतिरवैति करणानुयोगं च ॥ ४४

मालाओंसे उनके चरण व्याप्त रहते हैं ॥ ३८ ॥ सम्यग्दर्शनके द्वारा जिन्होंने तत्त्वार्थका भली-भाँतिसे निश्चय किया है, ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव अमरपति (ऊर्ध्व लोकके स्वामी इन्द्र) असुरपति (अधो लोकके स्वामी धरणेन्द्र) नरपति (मनुष्यलोकके स्वामी चक्रवर्ती) और यमधरपतियों (संयम-धारक साधुओंके स्वामी गणधर देवों) से जिनके चरण-कमल पूजे जाते हैं, जो लोकको शरण देनेके योग्य हैं ऐसे धर्मचक्रके धारक तीर्थंकर होते हैं ॥ ३९ ॥ सम्यग्दर्शनकी शरण लेने वाले जीव अजर (जरा-रहित) अरुज (रोग-रहित) अक्षय (अविनाशी) अव्याबाध (बाधा-रहित) शोक-भय और शंकासे रहित, चरमसीमाको प्राप्त सुख और ज्ञानके वैभव वाले ऐसे निर्मल शिव (परम निःश्रेयसरूप मोक्ष)को प्राप्त होते हैं ॥ ४० ॥ इस प्रकार जिनेन्द्र देवकी भक्ति करनेवाला सम्यग्दृष्टि भव्य जीव अपरिमित प्रमाणवाली देवेन्द्र-समूह की महिमा को पाकर, मुकुटबद्ध राजाओंके शिरोंसे अर्चनीय राजेन्द्रचक्र चक्रवर्तीके पदको पाकर और सर्व लोकको अपना उपासक बनाने वाले धर्मेन्द्रचक्र रूप तीर्थंकर पदको पाकर अन्तमें शिवपदको प्राप्त होता है ॥ ४१ ॥

इस प्रकार स्वामिसमन्तभद्राचार्य-विरचित रत्नकरण्डक नामके उपासकाध्ययनमें
सम्यग्दर्शनका वर्णन करनेवाला प्रथम अध्ययन समाप्त हुआ ।

—: ० :—

सम्यग्ज्ञानका लक्षण—जो न्यूनतासे रहित, अधिकतासे रहित, सन्देहसे रहित और विपरीततासे रहित वस्तुस्वरूपको यथार्थ जानता है, उसे आगमके ज्ञाता पुरुष 'सम्यग्ज्ञान' कहते हैं ॥ ४२ ॥ यद्यपि सम्यग्ज्ञान के मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान ये पाँच भेद हैं, तथापि ग्रन्थकार तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिए उपयोगी समझकर श्रुतज्ञानके चार अनुयोगोंका वर्णन करते हुए सबसे पहले प्रथमानुयोगका स्वरूप कहते हैं—पुण्यरूप अर्थका व्याख्यान करने वाले चरितको, पुराणको तथा बोधि-समाधिके निधानभूत कथा-वर्णनको सम्यग्ज्ञान प्रथमानुयोग जानता है ॥ ४३ ॥ भावार्थ—एक पुरुषके कथानकको चरित्र कहते है । अनेक पुरुषोंके कथानकोंके वर्णन करनेको पुराण कहते हैं । आज तक नहीं प्राप्त हुए ऐसे सम्यग्दर्शनादि गुणोंकी प्राप्तिको बोधि कहते हैं और प्राप्त हुए रत्नत्रयकी भलिभाँतिसे रक्षा करते हुए उनकी उत्तरोत्तर वृद्धि करने को समाधि कहते हैं । धर्मध्यान और शुक्लध्यान भी समाधि कहलाते हैं । इस प्रकार पुण्य-वर्धक चरित और पुराणोंको, तथा धर्म-वर्धक बोधि-समाधिके वर्णन करनेवाले शास्त्रों

गृहमेध्यनगाराणां चारित्रोत्पत्ति-वृद्धि-रक्षाङ्गम् । चरणानुयोगसमयं सम्यग्ज्ञानं विजानाति ॥४५
जीवाजीवसुतत्त्वे पुण्यापुण्ये च बन्धमोक्षौ च । द्रव्यानुयोगदीपः श्रुतविद्याऽऽलोकमातनुते ॥ ४६

इति श्रीस्वामिसमन्तभद्राचार्य-विरचिते रत्नकरण्डकोऽपरनाम्नि उपासकाध्ययने
सम्यग्ज्ञानवर्णनं नाम द्वितीयमध्ययनम् ॥ २ ॥

मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसंज्ञानः । रागद्वेषनिवृत्त्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः ॥ ४७
रागद्वेषनिवृत्तेर्हिंसादिनिवर्तना कृता भवति । अनपेक्षितार्थवृत्तिः कः पुरुषः सेवते नृपतीन् ॥ ४८
हिंसानृतचौर्येभ्यो मैथुनसेवापरिग्रहाभ्यां च । पापप्रणालिकाभ्यो विरतिः संज्ञस्य चारित्रम् ॥ ४९
सकलं विकलं चरणं तत्सकलं सर्वसङ्गविरतानाम् । अनगाराणां विकलं सागाराणां ससङ्गानाम् ॥ ५०
गृहिणां त्रेधा तिष्ठत्यणु-गुण-शिक्षाव्रतात्मकं चरणम् । पञ्च त्रिचतुर्भेदं त्रयं यथासंख्यमाख्यातम् ॥५१
प्राणातिपात-वितथव्याहार-स्तेय-काम-मूर्छेभ्यः । स्थूलेभ्यः पापेभ्यो व्युपरमणमणुव्रतं भवति ॥ ५२

को प्रथमानुयोग कहते हैं। धर्मसे अनभिज्ञ पुरुषको सर्वप्रथम उपयोगी होनेसे इसे प्रथमानुयोग कहा जाता है। दूसरे करणानुयोगका स्वरूप—जो लोक और अलोकके विभागको, कालके परिवर्तनको और चारों गतियोंके वर्णनको दर्पणके समान जानता है, उसे सम्यग्ज्ञान करणानुयोग कहता है ॥ ४४ ॥ तीसरे चरणानुयोगका स्वरूप—गृहस्थ और मुनियोंके चारित्रको उत्पत्ति, वृद्धि और रक्षाके कारणभूत शास्त्रको सम्यग्ज्ञान चरणानुयोग कहता है ॥ ४४ ॥ जीव-अजीव तत्त्वको, पुण्य-पापको और बन्ध-मोक्षको प्रकाशित करनेवाला द्रव्यानुयोग रूप दीपक है, जो कि श्रुतज्ञान के प्रकाशको विस्तृत करता है ॥ ४६ ॥ भावार्थ—लोक युगपरिवर्तन आदिके वर्णन करनेको, करणानुयोग; मुनि-श्रावकके चारित्र वर्णन करनेको चरणानुयोग और षट् द्रव्य, सप्त तत्त्व एवं नव पदार्थों के वर्णन करनेको द्रव्यानुयोग कहते हैं।

इस प्रकार स्वामिसमन्तभद्राचार्यविरचित रत्नकरण्डक नामके उपासकाध्ययनमें
सम्यग्ज्ञानका वर्णन करने वाला दूसरा अध्ययन समाप्त हुआ।

—: ० :—

अब आचार्य सम्यक् चारित्रका वर्णन करते हैं—दर्शनमोहरूप अन्धकारके दूर होनेपर सम्यग्दर्शनके लाभसे जिसे सम्यग्ज्ञान प्राप्त हुआ है, ऐसा साधु पुरुष राग और द्वेषकी निवृत्तिके लिए चारित्रको स्वीकार करता है ॥ ४७ ॥ क्योंकि राग और द्वेषकी निवृत्तिसे हिंसा आदि पापोंकी निवृत्ति स्वतः हो जाती है। धनकी अपेक्षासे रहित ऐसा कौन पुरुष है, जो राजाओंकी सेवा करता हो? भावार्थ—धनकी इच्छा या रागके विना कोई किसीकी सेवा नहीं करता है, उसी प्रकार राग-द्वेषके विना कोई भी पुरुष हिंसा आदि पापोंको भी नहीं करता है ॥ ४८ ॥ सम्यक् चारित्रका स्वरूप—पापोंके आनेके द्वार-स्वरूप हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन-सेवन और परिग्रहसे विरक्त होना सम्यग्ज्ञानी पुरुषका चारित्र है, अर्थात् पाँच पापोंके परित्यागको सम्यक् चारित्र कहते हैं ॥ ४९ ॥ वह चारित्र दो प्रकारका है—सकलचारित्र और विकलचारित्र। सर्व प्रकारके परिग्रहसे रहित मुनिजनोंके सकलचारित्र होता है और परिग्रह-सहित गृहस्थोंके विकलचारित्र होता है ॥ ५० ॥ अब आचार्य विकलचारित्रका वर्णन करते हैं—गृहस्थोंका विकलचारित्र अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रतरूप है। ये तीनों यथा क्रमसे पाँच, तीन और चार भेदवाले कहे गये हैं ॥ ५१ ॥ अणुव्रतका स्वरूप—स्थूल प्राण-घातसे, स्थूल असत्य-भाषणसे, स्थूल चोरीसे, स्थूल

सङ्कल्पात् कृत-कारित-मननाद्योगत्रयस्य चरसत्त्वान्। न हिनस्ति यत्तदाहुः स्थूलवधाद्विरमणं निपुणाः५३
छेदन-बन्धन-पीडनमतिभारारोपणं व्यतीचाराः। आहारवारणापि च स्थूलवधाद्-व्युपरतेः पञ्च ॥ ५४

स्थूलमलीकं न वदति न परान् वादयति सत्यमपि विपदे।
यत्तद्वदन्ति सन्तः स्थूलमृषावादवैरमणम् ॥ ५५ ॥
परिवाद-रहोऽभ्याख्या पैशुन्यं कूटलेखकरणं च।
न्यासापहारितापि च व्यतिक्रमाः पञ्च सत्यस्य ॥ ५६ ॥
निहितं वा पतितं वा सुविस्मृतं वा परस्वमविसृष्टम्।
न हरति यन्न च दत्ते तदकृशचौर्यादुपारमणम् ॥ ५७ ॥
चौरप्रयोग-चौरार्थादान-विलोप-सदृशसम्मिश्राः।
हीनाधिकविनिमानं पञ्चास्तेये व्यतीपाताः ॥ ५८ ॥
न तु परदारान् गच्छति न परान् गमयति च पापभीतेर्यत्।
सा परदारनिवृत्तिः स्वदारसन्तोषनामापि ॥ ५९ ॥
अन्यविवाहाकरणानङ्गक्रीडाविटत्वविपुलतृषः।
इत्वरिकागमनं चास्मरस्य पञ्च व्यतीचाराः ॥ ६० ॥

काम-वनसे और स्थूल ममता-भावरूप मूर्च्छासे, इन पाँच स्थूल पापोंसे विरक्त होना, अर्थात् स्थूल पापोंका त्याग करना अणुव्रत कहलाता है ॥ ५२ ॥ अहिंसाणुव्रतका स्वरूप—मन वचन काय इन तीनों योगोंके संकल्पसे, कृत कारित और अनुमोदनासे जो त्रसजीवोंको नहीं मारता है, उसे धर्ममें निपुण ज्ञानियोंने स्थूल हिंसासे विरमणरूप अहिंसाणुव्रत कहा है ॥ ५३ ॥ इस अहिंसाणु व्रतके पाँच अतीचार (दोष) हैं—पशु-पक्षी आदि जीवोंके अंगोंका छेद करना, रस्सी आदिसे बाँधना, डंडे आदिसे पीड़ा देना, शक्तिसे अधिक भार लादना और उनके आहार (खान-पान) का रोक देना। ऐसे कार्य करनेसे अहिंसाणु व्रतमें दोष लगता है ॥ ५४ ॥ सत्याणु व्रतका स्वरूप—जो लोक-विरुद्ध, राज्य-विरुद्ध एवं धर्म-विघातक ऐसी स्थूल झूठ न तो स्वयं बोलता है और न दूसरोंसे बुलवाता है, तथा दूसरेकी विपत्तिके लिए कारणभूत सत्यको भी न स्वयं कहता है और न दूसरोंसे कहलवाता है, उसे सन्तजन स्थूल मृषावादसे विरमण अर्थात् सत्याणुव्रत कहते हैं ॥ ५५ ॥ इस सत्याणुव्रतके पाँच अतीचार हैं—दूसरेकी निन्दा करना, दूसरेकी एकान्त या गुप्त बातको प्रकट करना, चुगली खाना, नकली दस्तावेज आदि लिखना और दूसरेकी धरोहरके अपहरण करनेवाले वचन बोलना ॥ ५६ ॥ अचौर्याणुव्रतका स्वरूप—दूसरेकी रखी हुई, गिरी हुई, भूली हुई वस्तुको और विना दिये हुए धनको जो न तो स्वयं लेता है और न उठाकर दूसरेको देता है, उसे स्थूल चोरीसे विरक्त होने रूप अचौर्याणुव्रत कहते हैं ॥ ५७ ॥ इस अणुव्रतके भी पाँच अतीचार हैं—किसीको चोरीके लिए भेजना, चोरीकी वस्तुको लेना, राज्य-नियमोंका उल्लंघन करना, बहुमूल्य वस्तुमें समान रूपवाली अल्प मूल्यकी वस्तु मिलाकर बेचना और देनेके लिए कम और लेनेके लिए अधिक नाप-तौल करना ॥ ५८ ॥ ब्रह्मचर्याणुव्रतका स्वरूप—जो पापके भयसे पराई स्त्रियोंके पास न तो स्वयं जाता है और न दूसरोंको भेजता है, वह परदार-निवृत्ति अथवा स्वदारसन्तोष नामका ब्रह्मचर्याणुव्रत है ॥ ५९ ॥ इस ब्रह्मचर्यव्रतके भी पाँच अतीचार हैं—

धन-धान्यादिग्रन्थं परिमाय ततोऽधिकेषु निःस्पृहता।
परिमितपरिग्रहः स्यादिच्छापरिमाणनामापि ॥ ६१ ॥
अतिवाहनातिसंग्रह-विस्मय-लोभातिभारवहनानि।
परिमितपरिग्रहस्य च विक्षेपाः पञ्च लक्ष्यन्ते ॥ ६२ ॥
पञ्चाणुव्रतनिधयो निरतिक्रमणाः फलन्ति सुरलोकम्।
यत्रावधिरष्टगुणाः दिव्यशरीरं च लभ्यन्ते ॥ ६३ ॥
मातङ्गो धनदेवश्च वारिषेणस्ततः परः। नीली जयश्च सम्प्राप्ताः पूजातिशयमुत्तमम् ॥ ६४ ॥
धनश्री-सत्यघोषौ च तापसाऽऽरक्षकावपि। उपाख्येयास्तथा श्मश्रुनवनीतो यथाक्रमम् ॥ ६५ ॥
मद्य-मांस-मधुत्यागैः सहाणुव्रतपञ्चकम्। अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः ॥ ६६ ॥

इति श्रीस्वामिसमन्तभद्राचार्य-विरचिते रत्नकरण्डकाऽपरनाम्नि उपासकाध्ययने अणुव्रतवर्णनं नाम तृतीयमध्ययनम् ॥ ३ ॥

दूसरोंका विवाह कराना, काम-सेवनके अङ्गोंके सिवाय अन्य अङ्गोंसे काम-सेवन करना, अश्लील वचन या कामोत्तेजक वचन कहना, काम-सेवनकी अधिक तृष्णा रखना और व्यभिचारिणी स्त्रियोंके यहाँ गमन करना ॥ ६० ॥ परिग्रह परिमाणाणुव्रतका स्वरूप—धन-धान्य आदि परिग्रहका परिमाण करके उससे अधिकमें निःस्पृह रहना, परिमित परिग्रहव्रत है, इसीका दूसरा नाम इच्छापरिमाणव्रत भी है ॥ ६१ ॥ इस व्रतके भी पाँच अतीचार हैं—आवश्यकतासे अधिक वाहनों (रथ, घोड़े आदि सवारीके साधनों)को रखना, अधिक वस्तुओंका संग्रह करना, दूसरोंके लाभादिकको देखकर आश्चर्य करना, अधिक लोभ करना और घोड़े आदिको उनकी शक्तिसे अधिक जोतना, लादना, उन पर अधिक बोझा ढोना ॥ ६२ ॥ उपर्युक्त अतीचारोंसे रहित होकर धारण की गई पाँच अणुव्रतरूप निधियाँ देवलोकको फलती हैं, जहाँ पर कि अवधिज्ञान, अणिमादि आठ ऋद्धियाँ और दिव्यशरीर प्राप्त होता है ॥ ६३ ॥ अणुव्रतके धारण करनेवालोंमें अहिंसाणुव्रतमें मातंग चाण्डाल, सत्याणुव्रतमें धनदेव सेठ, अचौर्याणुव्रतमें वारिषेण राजकुमार, ब्रह्मचर्याणुव्रतमें नीलीबाई और परिग्रह परिमाणाणुव्रतमें जयकुमार उत्तम पूजाके अतिशयको प्राप्त हुए हैं ॥ ६४ ॥ हिंसा पापमें धनश्री सेठानी, झूठ पापमें सत्यघोष पुरोहित, चोरीमें तापस, कुशीलमें आरक्षक (कोटपाल) और परिग्रह पापमें श्मश्रुनवनीत प्रसिद्ध हुए हैं ॥ ६५ ॥ मद्य मांस और मधुके त्यागके साथ पाँच अणुव्रतोंके धारण करनेको उत्तम मुनियोंने गृहस्थोंके आठ मूलगुण कहे हैं ॥ ६६ ॥

इस प्रकार स्वामिसमन्तभद्राचार्य-विरचित रत्नकरण्डक नामवाले उपासकाध्ययनमें अणुव्रतोंका वर्णन करनेवाला यह तीसरा अध्ययन समाप्त हुआ।

—:०:—

दिग्व्रतमनर्थदण्डव्रतं च भोगोपभोगपरिमाणम्। अनुबृंहणाद् गुणानामाख्यान्ति गुणव्रतान्यार्याः ॥६७
दिग्वलयं परिगणितं कृत्वाऽतोऽहं बहिर्न यास्यामि। इति सङ्कल्पो दिग्व्रतमामृत्यणुपापविनिवृत्त्यै ॥६८
मकराकरसरिदटवीगिरिजनपदयोजनानि मर्यादाः। प्राहुर्दिशां दशानां प्रतिसंहारे प्रसिद्धानि ॥६९
अवधेर्बहिरणुपापप्रतिविरतेर्दिग्व्रतानि धारयताम्। पञ्चमहाव्रतपरिणतिमणुव्रतानि प्रपद्यन्ते ॥७०
प्रत्याख्यानतनुत्वान्मन्दतराश्चरणमोहपरिणामाः। सत्त्वेन दुरवधारा महाव्रताय प्रकल्प्यन्ते ॥७१
पञ्चानां पापानां हिंसादीनां मनोवचःकायैः। कृतकारितानुमोदैस्त्यागस्तु महाव्रतं महताम् ॥७२
ऊर्ध्वाधस्तात्तिर्यग्व्यतिपाताः क्षेत्रवृद्धिरवधीनाम्। विस्मरणं दिग्विरतेरत्याशाः पञ्च मन्यन्ते ॥७३
अभ्यन्तरं दिगवधेरपार्थकेभ्यः सपापयोगेभ्यः। विरमणमनर्थदण्डव्रतं विदुर्व्रतधराग्रण्यः ॥७४
पापोपदेशहिंसादानापध्यानदुःश्रुतीः पञ्च। प्राहुः प्रमादचर्यामनर्थदण्डानदण्डधराः ॥७५
तिर्यक्-क्लेशवणिज्याहिंसारम्भप्रलम्भनादीनाम्। कथाप्रसङ्गप्रसवः स्मर्तव्यः पाप उपदेशः ॥७६
परशुकृपाणखनित्रज्वलनायुधशृङ्गिशृंखलादीनाम्। वधहेतूनां दानं हिंसादानं ब्रुवन्ति बुधाः ॥७७

अब आचार्य गुणव्रतोंका स्वरूप कहते हैं—दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोगपरिमाण-व्रत इन तीनोंको पूर्वोक्त अष्टमूलगुणोंकी वृद्धि करनेसे आर्य पुरुष इन्हें गुणव्रत कहते हैं ॥ ६७ ॥ दिग्व्रतका स्वरूप—दिग्वलय अर्थात् दशों दिशाओंकी मर्यादा करके सूक्ष्म पापोंकी निवृत्तिके लिए 'मैं इस मर्यादासे बाहर नहीं जाऊँगा' इस प्रकारका मरण-पर्यन्तके लिए संकल्प करना दिग्व्रत है ॥६८॥ दसों दिशाओंके प्रतिसंहारमें अर्थात् दिग्व्रत ग्रहण करनेमें प्रसिद्ध समुद्र, नदी, अटवी, पर्वत, जनपद (देश) और योजनोंके परिमाणको मर्यादा जानना चाहिए। भावार्थ—जिस दिशामें जो पर्वत, समुद्र आदि प्रसिद्ध स्थान हो, उसको आश्रय लेकर और प्रसिद्ध स्थानके अभावमें योजनोंकी संख्याका नियम लेकर दिग्व्रतको ग्रहण करना चाहिए ॥६९॥ अब आचार्य दिग्व्रतको धारण करने-का फल बतलाते हैं—दिग्व्रतकी मर्यादाके बाहर सूक्ष्म पापोंकी भी निवृत्ति होनेसे दिग्व्रतको धारण करनेवाले श्रावकोंके पाँच अणुव्रत भी पाँच महाव्रतोंकी परिणतिको प्राप्त हो जाते हैं। क्योंकि स्थूल और सूक्ष्म पापोंके त्यागको ही महाव्रत कहते हैं ॥ ७० ॥ प्रत्याख्यानावरण कषायके कृश होनेसे अत्यन्त मन्दताको प्राप्त हुए चारित्र मोहके वे परिणाम—जिनकी सत्ताका निश्चय करना भी कठिन है—महाव्रतके लिए कल्पित किए जाते हैं ॥ ७१ ॥ महाव्रतका स्वरूप—हिंसादिक पाँचों पापोंका मन-वचन-कायसे और कृत कारित अनुमोदनासे त्याग करना महाव्रत है और यह महापुरुषोंके होता है ॥ ७२ ॥ दिग्व्रतके ये पाँच अतिचार माने जाते हैं—ऊर्ध्वदिशाकी मर्यादाका उल्लंघन करना, अधोदिशाकी मर्यादाका उल्लंघन करना, पूर्वादि तिर्यग्दिशाओंकी मर्यादाका उल्लंघन करना, मर्यादित क्षेत्रको वृद्धि कर लेना और मर्यादाओंको भूल जाना ॥७३॥ अनर्थदण्डव्रतका स्वरूप—दिशाओंकी मर्यादाके भीतर निरर्थक पाप-योगोंसे विरमण करनेको व्रतधारियोंमें अग्रणी गणधरादिने अनर्थदण्ड-व्रत कहा है ॥ ७४ ॥ पापोंके नहीं धारण करनेवाले निष्पाप आचार्योंने अनर्थदण्डके पाँच भेद कहे हैं—पापोपदेश, हिंसादान, अपध्यान, दुःश्रुति और प्रमादचर्या ॥ ७५ ॥ पापोपदेश अनर्थदण्डका स्वरूप—तिर्यञ्चोंको क्लेश पहुँचानेका—उन्हें बधिया करने आदिका उपदेश देना, तिर्यञ्चोंके व्यापार करनेका उपदेश देना, हिंसा, आरम्भ और दूसरोंको छल-कपटसे ठगनेकी कथाओंका प्रसंग उठाना, ऐसी कथाओंका बार-बार कहना, यह पापोपदेश नामका अनर्थदण्ड माना गया है ॥७६॥ हिंसादान-अनर्थदण्डका स्वरूप—हिंसाके कारणभूत फरसा, तलवार, कुदाली, आग, अस्त्र-शस्त्र, विष और सांकल आदिके देनेको ज्ञानी जन हिंसादान नामका अनर्थदण्ड कहते हैं ॥७७॥ अपध्यान-अनर्थदण्ड-

वधबन्धच्छेदादेर्द्वेषाद् रागाच्च परकलत्रादेः । आध्यानमपध्यानं शासति जिनशासने विशदाः ॥७८
आरम्भसङ्गसाहसमिथ्यात्वद्वेषरागमदमदनैः । चेतःकलुषयतां श्रुतिरवधीनां दुःश्रुतिर्भवति ॥७९
क्षितिसलिलदहनपवनारम्भं विफलं वनस्पतिच्छेदम् । सरणं सारणमपि च प्रमादचर्या प्रभाषन्ते ॥८०
कन्दर्पं कौत्कुच्यं मौखर्यमतिप्रसाधनं पञ्च । असमीक्ष्य चाधिकरणं व्यतीतयोऽनर्थदण्डकृद्विरतेः॥८१
अक्षार्थानां परिसंख्यानं भोगोपभोगपरिमाणम् । अर्थवतामप्यवधौ रागरतीनां तनूकृतये ॥८२
भुक्त्वा परिहातव्यो भोगो भुक्त्वा पुनश्च भोक्तव्यः। उपभोगोऽशनवसनप्रभृतिः पञ्चेन्द्रियो विषयः॥८३
त्रसहतिपरिहरणार्थं क्षौद्रं पिशितं प्रमादपरिहृतये। मद्यं च वर्जनीयं जिनचरणौ शरणमुपयातैः ॥८४
अल्पफलबहुविघातान्मूलकमार्द्राणि शृङ्गवेराणि । नवनीत-निम्बकुसुमं कैतकमित्येवमवहेयम् ॥८५
यदनिष्टं तद् व्रतयेद्यच्चानुपसेव्यमेतदपि जह्यात्। अभिसन्धिकृता विरतिर्विषयाद्योग्याद् व्रतं भवति॥८६
नियमो यमश्च विहितौ द्वेधा भोगोपभोगसंहारे । नियमः परिमितकालो यावज्जीवं यमो ध्रियते ॥८७

का स्वरूप—द्वेषसे किसी प्राणीके वध बन्ध और छेदनादिका चिन्तवन करना तथा रागसे परस्त्री आदिका चिन्तवन करना, इसे जिन शासनमें निपुण पुरुषोंने अपध्यान नामका अनर्थदण्ड कहा है ॥७८॥ दुःश्रुति-अनर्थदण्डका स्वरूप—आरम्भ, परिग्रह, साहस, मिथ्यात्व, द्वेष, राग, मद और काम भावके प्रतिपादन-द्वारा चित्तको कलुषित करनेवाले शास्त्रोंका सुनना दुःश्रुति नामका अनर्थदण्ड है ॥७९॥ प्रमादचर्या अनर्थदण्डका स्वरूप—प्रयोजनके विना भूमिका खोदना, पानीका ढोलना, अग्निका जलाना, पवनका चलाना और वनस्पतिका छेदन करना तथा निष्प्रयोजन स्वयं घूमना और दूसरोंको घुमाना, इत्यादि प्रमादयुक्त निष्फल कार्योंके करनेको ज्ञानीजन प्रमादचर्या नामका अनर्थदण्ड कहते हैं ॥ ८० ॥ उपर्युक्त पाँचों प्रकारके अनर्थदण्डोंके त्यागको अनर्थदण्डव्रत कहते हैं। उसके पाँच अतिचार इस प्रकार हैं—कन्दर्प (रागकी बहुलतासे युक्त हँसीमिश्रित अश्लील वचन बोलना), कौत्कुच्य (कायकी कुचेष्टा करना), मौखर्य (व्यर्थ बकवाद करना), अति प्रसाधन (आवश्यकतासे अधिक भोग-उपभोग वस्तुओंका संग्रह करना) और विना सोचे-विचारे कार्यको करना ॥ ८१ ॥ तीसरे भोगोपभोगपरिमाण गुणव्रतका स्वरूप—परिग्रहपरिमाणव्रतमें ली हुई मर्यादाके भीतर भी राग और आसक्तिके कृश करनेके लिए प्रयोजनभूत भी इन्द्रियोंके विषयोंको संख्याके सीमित करनेको भोगोपभोगपरिमाणव्रत कहते हैं ॥ ८२ ॥ पाँच इन्द्रियोंके विषयभूत जो भोजन-वस्त्र आदिक पदार्थ एक वार भोग करके छोड़ दिए जावें, वे भोग कहलाते हैं और जो एक वार भोग करके भी पुनः भोगने योग्य होते हैं, वे उपभोग कहलाते हैं। अर्थात् भोजनादि पदार्थ भोग हैं और वस्त्रादिक उपभोग हैं॥ ८३ ॥ जिनेन्द्रदेवके चरणोंकी शरणको प्राप्त होनेवाले पुरुषोंको त्रस जीवोंकी हिंसाके परिहारके लिए मांस और मधुको तथा प्रमादको दूर करनेके लिए मद्यको छोड़ देना चाहिए ॥८४॥ इसी प्रकार जिनके खानेमें शारीरिक लाभ अल्प है और त्रस-स्थावर जीवोंकी हिंसा अधिक है, ऐसे मूल, कन्द, गीला अदरक, मक्खन, नीमके फूल, केतकीके फूल, तथा इसी प्रकारके अन्य पदार्थ पंच उदुम्बर फल आदिका सेवन छोड़ देना चाहिये ॥८५॥ जो वस्तु शरीरके लिए अनिष्ट या हानिकारक हो उसका भी त्याग करे तथा जो कुलीन पुरुषोंके द्वारा सेवनके योग्य नहीं हो, उसे भी छोड़े। सेवनके योग्य भी विषयसे अभिप्रायपूर्वक जो त्याग किया जाता है, वह भी व्रत कहलाता है ॥८६॥ भोगोपभोग-परिमाणव्रतमें दो प्रकारसे त्यागका विधान किया गया है—नियमरूप और यमरूप। अल्पकालके लिए जो त्याग किया जाता है, उसे नियम कहते हैं और यावज्जीवनके लिए जो त्याग किया जाता है, उसे यम कहते हैं ॥ ८७ ॥ (अभक्ष्य और अनुपसेव्य वस्तुओंका तो जीवन

भोजनवाहनशयनस्नानपवित्राङ्गराग कुसुमेषु । ताम्बूलवसनभूषणमन्मथसङ्गीतगीतेषु ॥८८
अद्य दिवा रजनी वा पक्षो मासस्तथर्तुरयनं वा । इति कालपरिच्छित्त्या प्रत्याख्यानं भवेन्नियमः ॥८९
विषयविषतोऽनुपेक्षाऽनुस्मृतिरतिलौल्यमतितृषानुभवौ । भोगोपभोगपरिमाव्यतिक्रमाः पञ्च कथ्यन्ते ॥९०

इति श्रीस्वामिसमन्तभद्राचार्य-विरचिते रत्नकरण्डकापरनाम्नि उपासकाध्ययने
गुणव्रतवर्णनं नाम चतुर्थमध्ययनम् ।

देशावकाशिकं वा सामायिकं प्रोषधोपवासो वा । वैयावृत्यं शिक्षाव्रतानि चत्वारि शिष्टानि ॥९१
देशावकाशिकं स्यात्कालपरिच्छेदनेन देशस्य । प्रत्यहमणुव्रतानां प्रतिसंहारो विशालस्य ॥९२
गृहहारिग्रामाणां क्षेत्रनदीदावयोजनानां च । देशावकाशिकस्य स्मरन्ति सीम्नां तपोवृद्धाः ॥९३
संवत्सरमृतुरयनं मासचतुर्मासपक्षमृक्षं च । देशावकाशिकस्य प्राहुः कालावधिं प्राज्ञाः ॥९४
सीमान्तानां परतः स्थूलेतरपञ्चपापसंत्यागात् । देशावकाशिकेन च महाव्रतानि प्रसाध्यन्ते ॥९५
प्रेषणशब्दानयनं रूपाभिव्यक्ति-पुद्गलक्षेपौ । देशावकाशिकस्य व्यपदिश्यन्तेऽत्ययाः पञ्च ॥९६

भरके लिए ही त्यागरूप यम ही धारण करना चाहिये और जो भोग्य या सेव्य हैं ऐसे) भोजन, वाहन, शयन, स्नान, केशर-चन्दन आदिका विलेपन, पुष्प-धारण, सूँघन आदिमें तथा ताम्बूल, वस्त्र, आभूषण, काम-सेवन, संगीत और गीत-श्रावण आदि भोग्य और सेव्य पदार्थोंमें आजका दिन, रात, पक्ष, मास, ऋतु (दो मास), अयन (छह मास) और वर्ष आदि कालकी मर्यादाके साथ जो वस्तुका प्रत्याख्यान (त्याग) किया जाता है, वह नियम कहलाता है ॥८८-८९॥ भोगोपभोग-परिमाणव्रतके पाँच अतिचार इस प्रकार कहे गये हैं—विषयरूप विषके सेवनसे उपेक्षा नहीं होना, अर्थात् इन्द्रियोंके विषयसेवनमें आसक्ति बनी रहना, पूर्वमें भोगे हुए विषयोंका बार-बार स्मरण करना, वर्तमान विषयोंमें अतिलोलुपता रखना, भविष्यकालमें विषय-सेवनकी अतितृष्णा या गृद्धि रखना, और नियतकालमें भी भोगोपभोगकी वस्तुओंका अधिक मात्रामें अनुभव करना अर्थात् उन्हें अधिक भोगना । इन पाँचों प्रकारके अतिचारोंके सेवनसे व्रत मलिन एवं सदोष होता है ॥ ९० ॥

इस प्रकार स्वामिसमन्तभद्राचार्य-विरचित रत्नकरण्डक नामके उपासकाध्ययनमें
गुणव्रतोंका वर्णन करनेवाला चौथा अध्ययन समाप्त हुआ ।

—: ० :—

अब आचार्य शिक्षाव्रतोंका वर्णन करते हैं—जिनेन्द्रदेवने देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास और वैयावृत्य ये चार शिक्षाव्रत कहे हैं ॥ ९१ ॥ देशावकाशिकशिक्षाव्रतका स्वरूप—दिग्व्रतमें ग्रहण किये विशाल देशका कालकी मर्यादासे प्रतिदिन संकोच करना अणुव्रतधारी श्रावकों का देशावकाशिकव्रत है ॥९२॥ घर, मोहल्ला, ग्राम, खेत, नदी, वन और योजनोंकी मर्यादा करनेको वृद्ध तपस्वी जन देशावकाशिकव्रतकी सीमा बतलाते हैं। अर्थात् मैं अमुक समय तक अमुक देशसे बाहर नहीं जाऊँगा, ऐसा नियम करना देशावकाशिकव्रत है ॥९३॥ वर्ष, ऋतु, अयन, मास, चतुर्मास, पक्ष और नक्षत्रके आश्रयसे नियत प्रदेशमें रहनेके नियम करनेको ज्ञानी जन देशावकाशिकव्रतकी कालमर्यादा कहते हैं ॥९४॥ सीमाओंके अन्तसे परवर्ती क्षेत्रमें स्थूल और सूक्ष्म पाँचों पापोंके त्याग हो जानेसे देशावकाशिकव्रतके द्वारा महाव्रतोंका साधन किया जाता है ॥ ९५ ॥ देशावकाशिकव्रतके पाँच अतिचार इस प्रकार कहे गये हैं—देशव्रतकी सीमासे बाहर किसीको भेजना, किसीको शब्द सुनाना, किसीको बुलाना, अपना रूप दिखाकर संकेत करना और कंकर-पत्थर फेंककर दूसरेका

आसमयमुक्ति मुक्तं पञ्चाघानामशेषभावेन । सर्वत्र च सामयिकाः सामयिकं नाम शंसन्ति ॥९७
मूर्ध्वरुहमुष्टिवासोवन्धं पर्यङ्कबन्धनं चापि । स्थानमुपवेशनं वा समयं जानन्ति समयज्ञाः ॥९८
एकान्ते सामयिकं निर्व्याक्षेपे वनेषु वास्तुषु च । चैत्यालयेषु वापि च परिचेतव्यं प्रसन्नधिया ॥९९
व्यापार-वैमनस्याद् विनिवृत्यामन्तरात्मविनिवृत्या । सामयिकं बध्नीयादुपवासे चैकभुक्ते वा ॥१००
सामयिकं प्रतिदिवसं यथावदप्यनलसेन चेतव्यम् । व्रतपञ्चकपरिपूरणकारणमवधानयुक्तेन ॥१०१
सामयिके सारम्भाः परिग्रहा नैव सन्ति सर्वेऽपि । चेलोपसृष्टमुनिरिव गृही तदा याति यतिभावम् ॥१०२
शीतोष्णदंशमशकपरीषहमुपसर्गमपि च मौनधराः । सामयिकं प्रतिपन्ना अधिकुर्वीरन्नचलयोगाः ॥१०३
अशरणमशुभमनित्यं दुःखमनात्मानमावसामि भवम् । मोक्षस्तद्विपरीतात्मेति ध्यायन्तु सामयिके ॥१०४

ध्यान अपनी ओर आकर्पित करना । इन कार्योंको करनेसे सीमाके बाहर स्वयं नहीं जानेपर भी व्रतमें दोप लगता है ॥ ९६ ॥ अब सामायिक शिक्षाव्रतका वर्णन करते हैं—सामायिकका समय पूर्ण होने तक हिंसादि पाँचों भावोंका पूर्णरूपसे अर्थात् मन-वचन-काय और कृत कारित अनुमोदनासे त्याग करनेको आगमके ज्ञाता पुरुप सामायिक कहते हैं ॥९७॥ केशबन्धन, मुष्टिबन्धन, वस्त्रबन्धन, पर्यङ्कासनबन्धन, स्थान (खड़े रहना) और उपवेशन (बैठना) इनको सामायिकके जानकार सामायिकका समय जानते हैं ॥ ९८ ॥ **भावार्थ**—जिस प्रकार तीसरी प्रतिमाधारी श्रावकको कमसे कम दो घड़ी और अधिकसे अधिक छह घड़ी सामयिककालका निर्देश किया गया है, उस प्रकारका बन्धन बारहव्रतोंका अभ्यास करनेवाले गृहस्थके लिए नहीं है। गृहस्थ सामायिकका अभ्यास धीरे-धीरे अल्पकालसे प्रारम्भ करता है और उत्तरोत्तर समयको बढ़ाता जाता है। उसका मुख्य लक्ष्य आर्त्त और रौद्रध्यानसे तथा संक्लेशभावसे बचकर आत्मामें स्थिर होनेका है। प्रारम्भिक अभ्यासी-को जबतक किसी प्रकारकी आकुलता नहीं होती है, तभी तक वह सामायिकमें स्थिर होकर बैठ सकता है। सामायिक प्रारम्भ करनेके पूर्व वह शिर-केश चोटी आदिकी गाँठ लगाता है, पहिने और ओढ़े हुए वस्त्रकी गाँठ लगाता है, जिसका भाव यह है कि सामायिक करते समय वायुसे उड़कर ये मनको व्याकुल न करें। सामायिकमें बैठते हुए पद्मासनमें हाथोंकी मुट्ठीको बाँधता है अर्थात् दाहिनी हथेलीको बाईं हथेलीके ऊपर रखता है तथा कभी खड़े होकर भी सामायिक करता है। इन सबमें यही भाव निहित है कि जब तक मुझे बैठने या खड़े रहनेमें आकुलता नहीं होगी, तब तक मैं सामायिक करूँगा । इस प्रकार जबतक मेरे केशबन्ध आदि रहेंगे, तबतक मैं सामायिक करूँगा, ऐसी मर्यादाको सामायिकका काल जानना चाहिए। जहाँपर चित्तमें विक्षोभ उत्पन्न न हो ऐसे एकान्त स्थानमें, वनोंमें, वसतिकाओंमें अथवा चैत्यालयोंमें प्रसन्न चित्तसे सामायिककी वृद्धि करना चाहिए ॥९९॥ उपवास अथवा एकाशनके दिन गृहव्यापार और मनकी व्यग्रताको दूर करके अन्तरात्मामें उत्पन्न होनेवाले विकल्पोंकी निवृत्तिके साथ सामायिकका अनुष्ठान प्रारम्भ करे ॥ १०० ॥ पुनः आलस्य-रहित होकर सावधानीके साथ पाँचों व्रतोंकी पूर्णता करनेके कारणभूत सामायिकका प्रति-दिन अभ्यास बढ़ाना चाहिए ॥१०१॥ यतः सामायिककालमें आरम्भसहित सभी परिग्रह नहीं होते हैं, अतः उस समय गृहस्थ वस्त्रसे वेष्टित मुनिके समान मुनिपनेको प्राप्त होता है ॥१०२॥ सामायिकको प्राप्त हुए गृहस्थोंको चाहिए कि वे सामायिकके समय शीत, उष्ण और दंश-मशक आदि परिषहको तथा अकस्मात् आये हुए उपसर्गको भी मौन-धारण करते हुए अचलयोगी होकर अर्थात् मन-वचन-कायकी दृढ़ताके साथ सहन करें ॥१०३॥ सामायिकके समय श्रावकको ऐसा विचार करना चाहिए कि जिस संसारमें मैं रह रहा हूँ वह अशरण है, अशुभ है, अनित्य है, दुःखरूप है और मेरे आत्म-

वाक्कायमानसानां दुःप्रणिधानान्यनादरास्मरणे । सामयिकस्यातिगमाः व्यज्यन्ते पञ्च भावेन ॥१०५
पर्वण्यष्टम्यां च ज्ञातव्यः प्रोषधोपवासस्तु । चतुरभ्यवहार्याणां प्रत्याख्यानं सदिच्छाभिः ॥१०६
पञ्चानां पापानामलंक्रियाऽऽरम्भगन्धपुष्पाणाम् । स्नानाञ्जननस्यानामुपवासे परिहृतिं कुर्यात् ॥१०७
धर्मामृतं सतृष्णः श्रवणाभ्यां पिबतु पाययेद्वाऽन्यान् । ज्ञान-ध्यानपरो वा भवतूपवसन्नतन्द्रालुः ॥१०८
चतुराहारविसर्जनमुपवासः प्रोषधः सकृद्-भुक्तिः । स प्रोषधोपवासो यदुपोष्यारम्भमाचरति॥१०९
ग्रहणविसर्गाऽऽस्तरणान्यदृष्टमृष्टान्यनादरास्मरणे । यत्प्रोषधोपवासव्यतिलंघनपञ्चकं तदिदम्॥११०
दानं वैयावृत्यं धर्माय तपोधनाय गुणनिधये । अनपेक्षितोपचारोपक्रियमगृहाय विभवेन ॥१११
व्यापत्तिव्यपनोदः पदयोः संवाहनं च गुणरागात् । वैयावृत्यं यावानुपग्रहोऽन्योऽपि संयमिनाम् ॥११२
नवपुण्यैः प्रतिपत्तिः सप्तगुणसमाहितेन शुद्धेन । अपसूनारम्भाणामार्याणामिष्यते दानम् ॥११३

स्वरूपसे भिन्न है तथा मोक्ष इससे विपरीत स्वभाववाला है, अर्थात् शरणरूप है, शुद्धरूप है, नित्य है, सुखमय है और आत्मस्वरूप है। भावार्थ—संसार, देह और भोगोंसे उदासीन होनेके लिए अनित्य, अशरण आदि भावनाओंका तथा मोक्षप्राप्तिके लिए उसके नित्य शाश्वत सुखरूपका चिन्तवन करे ॥ १०४ ॥ इस सामायिक शिक्षाव्रतके ये पाँच अतिचार हैं—सामायिक करते समय वचनका दुरुपयोग करना, मनमें संकल्प-विकल्प करना, कायका हलन-चलन करना, सामायिकमें अनादर करना और सामायिक करना भूल जाना। इनको सामायिक करते समय नहीं करना चाहिये ॥ १०५ ॥ अब प्रोषधोपवास शिक्षाव्रतका वर्णन करते हैं—चतुर्दशी और अष्टमीके दिन सद्-भावनाओंके साथ चारों प्रकारके आहारोंके त्याग करनेको प्रोषधोपवास जानना चाहिए ॥ १०६ ॥ उपवासके दिन हिंसादिक पाँचों पापोंका, अलंकार, आरम्भ, गन्ध, पुष्प, स्नान, अंजन और सूँघनी आदिका परित्याग करे ॥१०७॥ उपवास करने वाले श्रावकको चाहिए कि वह तन्द्रा और आलस्य-से रहित होकर उपवास करते हुए अति उत्कण्ठाके साथ धर्मरूप अमृतको दोनों कानोंसे पान करे और दूसरोंको भी पिलावे तथा ज्ञान और ध्यानमें तत्पर रहे ॥१०८॥ चारों प्रकारके आहार-का त्याग करना उपवास कहलाता है और एक वार भोजन करनेको प्रोषध कहते हैं। इस प्रकार एकाशनरूप प्रोषधके साथ उपवास करनेको प्रोषधोपवास कहते हैं। इस प्रकारके प्रोषधोपवासको करके ही श्रावक गृहस्थीके आरम्भको करता है। अर्थात् प्रोषधोपवासके कालमें वह सर्व प्रकारके गृहारम्भसे रहित रहता है ॥ १०९ ॥ इस प्रोषधोपवासव्रतके उल्लंघन करनेवाले पाँच अतिचार इस प्रकार हैं—उपवासके दिन विना-देखे-शोधे किसी वस्तुका ग्रहण करना, विना देखे-शोधे मल-मूत्रादि-का उत्सर्ग करना, विना देखे-शोधे बिस्तरादिका बिछाना, उपवास करनेमें आदर नहीं करना और उपवास करना भूल जाना। अतः उपवासके दिन धर्म-साधन देख-शोधकर आदर और उत्साहके साथ सावधानीसे करे ॥ ११० ॥ अब आचार्य वैयावृत्य नामक चौथे शिक्षाव्रतका वर्णन करते हैं—गृहसे रहित अर्थात् गृहत्यागी, गुणनिधान, तपोधनको अपना धर्म पालन करनेके लिए उपचार (प्रतिदान) और उपकारकी अपेक्षासे रहित होकर विधिपूर्वक अपने विभवके अनुसार दान देनेको वैयावृत्य कहते हैं॥ १११ ॥ गुणानुरागसे संयमी पुरुषोंकी आपत्तियोंको दूर करना, उनके चरणोंका मर्दन करना (दावना) तथा इसी प्रकारकी और भी जो उनकी सेवा-टहल या सार-सँभाल की जाती है वह सब वैयावृत्य है ॥ ११२ ॥ पाँचसूनारूप पापकार्योंसे रहित आर्य पुरुषोंको नौ पुण्योंके साथ शुद्ध सप्त गुणसे संयुक्त श्रावकके द्वारा जो आहारादि देनेके रूपमें आदर-सत्कार किया जाता है, वह दान कहा जाता है ॥ ११३ ॥ **विशेषार्थ**—ओखली, चक्की, चौका-चूल्हा, जलघटी

गृहकर्मणापि निचितं कर्म विमार्ष्टि खलु गृहविमुक्तानाम् ॥
अतिथीनां प्रतिपूजा रुधिरमलं धावते वारि ॥ ११४
उच्चैर्गोत्रं प्रणतेर्भोगो दानादुपासनात् पूजा । भक्तेः सुन्दररूपं स्तवनात्कीर्तिस्तपोनिधिषु ॥११५
क्षितिगतमिव वटबीजं पात्रगतं दानमल्पमपि काले ।
फलति च्छायाविभवं बहुफलमिष्टं शरीरभृताम् ॥ ११६
आहारौषधयोरप्युपकरणावासयोश्च दानेन । वैयावृत्यं ब्रुवते चतुरात्मत्वेन चतुरस्राः ॥११७
श्रीषेण-वृषभसेने कौण्डेशः शूकरश्च दृष्टान्ताः । वैयावृत्यस्यैते चतुर्विकल्पस्य मन्तव्याः ॥११८
देवाधिदेवचरणे परिचरणं सर्वदुःखनिर्हरणम् । कामदुहि कामदाहिनि परिचिनुयादादृतो नित्यम्११९
अर्हच्चरणसपर्यामहानुभावं महात्मनामवदत् । भेकः प्रमोदमत्तः कुसुमेनैकेन राजगृहे ॥१२०
हरितपिधाननिधाने ह्यनादरास्मरणमत्सरत्वानि । वैयावृत्यस्यैते व्यतिक्रमाः पञ्च कथ्यन्ते ॥१२१

इति स्वामिसमन्तभद्राचार्यविरचिते रत्नकरण्डकापरनाम्नि उपासकाध्ययने
शिक्षाव्रतवर्णनं नाम पञ्चममध्ययनम् ।

और वुहारी, इन पाँचके आरम्भको पंचसूना कहते हैं। जो इनसे रहित है, वही पात्र कहलानेके योग्य है। साधुके आहारार्थ द्वारके आगे आने पर उन्हें पडिगाहना, ऊँचे आसनपर बैठाना, पाद-प्रक्षालन करना, अर्चन-पूजन करना, प्रणाम करना, मन शुद्ध रखना, वचन शुद्ध बोलना, काय शुद्ध रखना और भोजनकी शुद्धि रखना, ये नौ पुण्य हैं, जोकि नवधा भक्तिके नामसे प्रसिद्ध हैं। श्रद्धा, सन्तोष, भक्ति, विज्ञान, अलुब्धता, क्षमा और सत्य ये दाताके सात गुण होते हैं। इन गुणोंसे युक्त दाताको पंचसूनासे रहित साधुओंके लिए नवधा भक्तिसे आहारादिके देनेको दान कहते हैं। अब आचार्य दानका फल बतलाते हैं—गृहसे रहित अतिथिजनोंको पूजा-सत्कारके साथ दिया गया दान गृहस्थोंके गृह-कार्योंसे संचित पापकर्मको दूर कर देता है। जैसे कि जल रक्तको अच्छी तरह धो डालता है ॥ ११४ ॥ तपोनिधि साधुओंको नमस्कार करनेसे उच्च गोत्र, दान देनेसे भोग, उपासना करनेसे पूजा, भक्ति करनेसे सुन्दर रूप और स्तुति करनेसे कीर्त्ति प्राप्त होती है ॥ ११५ ॥ उत्तम भूमिमें बोये गये वटके छोटेसे भी बीजके समान पात्रमें दिया गया अल्प भी दान समय आनेपर प्राणियोंके छायारूप वैभवके साथ भारी मिष्ट फलको देता है ॥ ११६ ॥ वैयावृत्यके भेद और उनके देनेवालोंमें प्रसिद्ध पुरुषोंका वर्णन करते हैं—आहार, औषधि, उपकरण (ज्ञान-संयमके साधन शास्त्र, पीछी कमंडलु) और आवास (वसतिका) के दानसे वैयावृत्यको ज्ञानी जन चार प्रकारका कहते हैं ॥११७॥ इस चार भेदरूप वैयावृत्यके क्रमशः श्रीषेण राजा, वृषभसेना वणिक् पुत्री, कौण्डेशमुनि और सूकरको दृष्टान्त जानना चाहिए। अर्थात् ये चारों क्रमसे आहारादि दानोंके देनेवालोंमें सबसे अधिक प्रसिद्ध हुए हैं ॥ ११८ ॥ अब आचार्य बतलाते हैं कि वैयावृत्य करनेवाले गृहस्थको जिन-पूजन भी करना आवश्यक है—आदरपूर्वक, नित्य सर्वकामनाओंके पूर्ण करनेवाले और कामविकारके जलानेवाले देवाधिदेव श्रीजिनेन्द्र भगवान्‌की सर्व दुःखोंकी विनाशक परिचर्या अर्थात् पूजा-अर्चा भी करनी चाहिए ॥११९॥ राजगृह नगरमें अति प्रमोदको प्राप्त मेंढकने एक पुष्पके द्वारा पूजनके भावसे अरहन्तदेवके चरणोंकी पूजाके माहात्म्यको महात्मा पुरुषोंके आगे प्रकट किया है ॥ १२० ॥ इस वैयावृत्य शिक्षाव्रतके पाँच अतिचार इस प्रकार कहे गये हैं—हरित पत्रसे ढकी वस्तुको आहारमें देना, हरित पत्रपर रखी वस्तुको आहारमें देना, अनादरपूर्वक आहा-

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निष्प्रतीकारे। धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः ॥१२२
अन्तःक्रियाधिकरणं तपःफलं सकलदर्शिनः स्तुवते। तस्माद्यावद्विभवं समाधिमरणे प्रयतितव्यम् ॥१२३
स्नेहं वैरं सङ्गं परिग्रहं चापहाय शुद्धमनाः। स्वजनं परिजनमपि च क्षान्त्वा क्षमयेत् प्रियैर्वचनैः॥१२४
आलोच्य सर्वमेनः कृतकारितमनुमतं च निर्व्याजम्। आरोपयेन्महाव्रतमामरणस्थायि निःशेषम् ॥१२५
शोकं भयमवसादं क्लेदं कालुष्यमरतिमपि हित्वा। सत्त्वोत्साहमुदीर्य च मनः प्रसाद्यं श्रुतैरमृतैः ॥१२६
आहारं परिहाप्य क्रमशः स्निग्धं विवर्धयेत्पानम्। स्निग्धं च हापयित्वा खरपानं पूरयेत्क्रमशः ॥१२७
खरपानहापनामपि कृत्वा कृत्वोपवासमपि शक्त्या। पञ्चनमस्कारमनास्तनुं त्यजेत्सर्वयत्नेन ॥१२८
जीवितमरणाशंसे भयमित्रस्मृतिनिदाननामानः। सल्लेखनातिचाराः पञ्च जिनेन्द्रैः समादिष्टाः ॥१२९
निःश्रेयसमभ्युदयं निस्तीरं दुस्तरं सुखाम्बुनिधिम्। निष्पिबति पीतधर्मा सर्वैर्दुःखैरनालीढः ॥१३०

रादि देना, दान देनेको और दानविधिको भूल जाना तथा अन्य दाताके साथ मत्सर भाव रखना। इनका त्यागकर दान देना चाहिए ॥ १२१ ॥

इस स्वामिसमन्तभद्राचार्यविरचित रत्नकरण्डक नामवाले उपासकाध्ययनमें
शिक्षाव्रतोंका वर्णन करनेवाला पाँचवाँ अध्ययन समाप्त हुआ।

—: ० :—

अब आचार्य सल्लेखनाका वर्णन करते हैं—निष्प्रतीकार उपसर्ग, दुर्भिक्ष, बुढ़ापा और रोगके उपस्थित होनेपर धर्मकी रक्षाके लिए शरीरके परित्याग करनेको आर्य पुरुष सल्लेखना कहते हैं ॥ १२२ ॥ जीवनके अन्त समयमें संन्यासरूप क्रियाका आश्रय लेना ही जीवन भरकी तपस्याका फल है, ऐसा सर्वदर्शी भगवन्तोंने कहा है। इसलिए जबतक शक्ति रहे, तब तक समाधिमरण करनेमें प्रयत्न करते रहना चाहिए ॥१२३॥ सल्लेखना धारण करते हुए कुटुम्ब-मित्रादिसे स्नेह दूर कर, शत्रुजनोंसे वैर भाव हटाकर, बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहका परित्यागकर, शुद्ध मन होकर स्वजनों और परिजनोंको क्षमा करके प्रिय वचनोंके द्वारा उनसे भी क्षमा माँगे ॥१२४॥ पुनः जीवन-भरके कृत, कारित और अनुमोदित सर्वपापोंकी निश्छल भावसे आलोचना करके मरणपर्यन्त स्थिर रहनेवाले सर्व महाव्रतोंको धारण करे ॥१२५॥ इस प्रकार सल्लेखना स्वीकार करनेके पश्चात् शोक, भय, विषाद, क्लेश, कालुष्य और अरति भावको भी छोड़कर बल और उत्साहको प्रकटकर अमृतमय श्रुतके वचनोंसे मनको प्रसन्न रखे ॥१२६॥ साथ ही क्रमसे अन्नके आहारको घटाकर दुग्धादिरूप स्निग्धपानको बढ़ावे। पुनः क्रमसे स्निग्धपानको भी घटाकर छांछ-उष्णजल आदि खर-पानको बढ़ावे ॥ १२७ ॥ पुनः धीरे-धीरे खर-पानको घटाकर और अपनी शक्तिके अनुसार उपवासको भी करके पंचनमस्कार मंत्रको मनमें जपते और उसका चिन्तवन करते हुए सम्पूर्ण प्रयत्नके साथ सावधानीपूर्वक शरीरको छोड़े ॥ १२८ ॥ जिनेन्द्र देवोंने सल्लेखनाके ये पाँच अतिचार कहे हैं—सल्लेखना स्वीकार करनेके पश्चात् जीनेकी आकांक्षा करना, मरनेकी आकांक्षा करना, परीषह-उपसर्गादिसे डरना, मित्रोंका स्मरण करना और आगामी भवमें सुख-पानेके लिए निदान करना। इनसे रहित हो करके ही समाधिमरण करना चाहिए ॥१२९॥ अब आचार्य अतीचार-रहित सल्लेखना करनेका फल बतलाते हैं—जिसने रत्नत्रयरूप धर्मका पान किया है, ऐसा पुरुष सर्व दुःखोंसे रहित होकर उस निःश्रेयसरूप सुखके सागरका अनुभव करता है, जो निस्तीर है—जिसका अन्त नहीं है और जो अतिदुस्तर है—जिसका पाना अति कठिन है, ऐसे अहमिन्द्रादि पदरूप अभ्युदयका

जन्मजरामयमरणैः शोकैर्दुःखैर्भयैश्च परिमुक्तम् । निर्वाणं शुद्धसुखं निःश्रेयसमिष्यते नित्यम् ॥१३१
विद्यादर्शनशक्तिस्वास्थ्यप्रह्लादतृप्तिशुद्धियुजः । निरतिशया निरवधयो निःश्रेयसमावसन्ति सुखम् ॥१३२

काले कल्पशतेऽपि च गते शिवानां न विक्रिया लक्ष्या ।
उत्पातोऽपि यदि स्यात् त्रिलोकसम्भ्रान्तिकरणपटुः ॥ १३३
निःश्रेयसमधिपन्नास्त्रैलोक्यशिखामणिश्रियं दधते ।
निष्किट्टिकालिकाच्छविचामीकरभासुरात्मानः ॥ १३४

पूजार्थाऽऽज्ञैश्वर्यैर्बलपरिजनकामभोगभूयिष्ठैः । अतिशयितभुवनमद्भुतमभ्युदयं फलति सद्धर्मः ॥१३५

इति श्रीस्वामिसमन्तभद्राचार्यविरचिते रत्नकरण्डकापरनाम्नि उपासकाध्ययने
सल्लेखनावर्णनं नाम षष्ठमध्ययनम् ।

—: o :—

श्रावकपदानि देवैरेकादश देशितानि येषु खलु । स्वगुणाः पूर्वगुणैः सह सन्तिष्ठन्ते क्रमविवृद्धाः ॥१३६
सम्यग्दर्शनशुद्धः संसारशरीरभोगनिर्विण्णः । पञ्चगुरुचरणशरणो दर्शनिकस्तत्त्वपथगृह्यः ॥१३७
निरतिक्रमणमणुव्रतपञ्चकमपि शीलसप्तकं चापि । धारयते निःशल्यो योऽसौ व्रतिनां मतो व्रतिकः १३८

भी अनुभव करता है । अर्थात् सल्लेखना करनेवाला संसारके सर्व अभ्युदय सुखको भोगकर अन्तमें मोक्षके सुखको भोगता है ॥ १३० ॥ वह निःश्रेयस जन्म जरा मरण शोक दुःख और भयसे सर्वथा रहित हैं, नित्य और जहाँपर शुद्ध आत्मिक सुख है, उसीको निर्वाण मुक्ति और शिव आदि कहते हैं ॥ १३१ ॥ उस निःश्रेयसरूप मोक्षमें रहनेवाले सिद्ध भगवन्त अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त-वीर्य और अनन्तसुखरूप परम स्वास्थ्य, आनन्द, तृप्ति एवं शुद्धिसे संयुक्त रहते हैं, वे हीनाधिक भावसे रहित समान अनन्त गुणोंके धारक हैं और अनन्तकाल तक सुखपूर्वक उस निश्रेयसमें निवास करते हैं ॥ १३२ ॥ यदि तीनों लोकोंको उलट-पुलट करनेमें समर्थ कोई महान् उत्पात भी होवे, तो भी तथा सैकड़ों कल्पकालोंके बीत जानेपर भी मुक्त जीवोंके किसी प्रकारका विकार नहीं होता है ॥ १३३ ॥ उस निःश्रेयसको प्राप्त हुए जीव कीट और कालिमासे रहित स्वच्छ सुवर्णके समान देदीप्यमान आत्मस्वरूपके धारक होकर त्रैलोक्यके चूडामणिरत्नकी शोभाको धारण करते हैं ॥१३४॥ तथा वह समीचीन-सत्यधर्म पूजा, सम्पत्ति, आज्ञा, ऐश्वर्यसे तथा परिजन और मनोऽनुकूल भोगों-की अधिकतासे लोकातिशायी अद्भुत अभ्युदयको, अर्थात् स्वर्गादिके सांसारिक सुखोंको भी फलता है ॥ १३५ ॥

इस प्रकार स्वामि समन्तभद्राचार्यविरचित रत्नकरण्डकनामक उपासकाध्ययनमें
सल्लेखनाका वर्णन करनेवाला छठा अध्ययन समाप्त हुआ ।

—: o :—

अब आचार्य श्रावकके ग्यारह पद या प्रतिमाओंका वर्णन करते हैं—श्रीतीर्थंकर देवोंने श्रावकके ग्यारह पद कहे हैं, जिनमें निश्चयसे प्रत्येक पदके गुण अपनेसे पूर्ववर्ती गुणोंके साथ क्रमसे बढ़ते हुए रहते हैं ॥ १३६ ॥ पहले दार्शनिक पदका स्वरूप—जो अतीचार-रहित शुद्ध सम्यग्दर्शन का धारक है, संसार, शरीर और इन्द्रियोंके भोगोंसे विरक्त है, पंच परमेष्ठीके चरणोंकी शरणको प्राप्त है और जो तात्त्विक सन्मार्ग केग्रहण करनेका पक्ष रखता है, वह दार्शनिक श्रावक है ॥१३७॥ दूसरे व्रतिक पदका स्वरूप—जो पुरुष माया मिथ्यात्व और निदान इन तीन शल्योंसे रहित होकर

चतुरावर्त्तत्रितयश्चतुःप्रणामः स्थितो यथाजातः।
सामयिको द्विनिषद्यस्त्रियोगशुद्धस्त्रिसन्ध्यमभिवन्दी ॥ १३९
पर्वदिनेषु चतुर्ष्वपि मासे मासे स्वशक्तिमनिगुह्य। प्रोषधनियमविधायी प्रणधिपरः प्रोषधानशनः १४०
मूलफलशाकशाखाकरीरकन्दप्रसूनबीजानि। नामानि योऽत्ति सोऽयं सचित्तविरतो दयामूर्तिः १४१
अन्नं पानं खाद्यं लेह्यं नाश्नाति यो विभावर्याम्। स च रात्रिभुक्तिविरतः सत्त्वेष्वनुकम्पमानमनाः१४२

निरतीचार पांचों अणुव्रतोंको भी और तीन गुणव्रत चार शिक्षाव्रत रूप सातों शीलोंको भी धारण करता है, वह व्रतीजनोंके मध्यमें व्रतिक श्रावक कहलाता है ॥ १३८ ॥ तीसरे सामायिक पद-धारी श्रावकका स्वरूप—चार वार तीन तीन आवर्त्त और चार वार नमस्कार करने वाला, यथाजातरूपसे अवस्थित, ऊर्ध्व कायोत्सर्ग और पद्मासनका धारक, मन-वचन-काय इन तीनों योगों की शुद्धिवाला और प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल इन तीनों सन्ध्याओंमें वन्दना को करनेवाला सामायिकी श्रावक है ॥ १३९ ॥ इस श्लोक की व्याख्या करते हुए प्रभाचन्द्राचार्यने लिखा है कि एक एक कायोत्सर्ग करते समय 'णमो अरहंताणं' इत्यादि सामायिक दण्डक और 'थोस्सामिहं जिणवरे तित्थयरे केवली अणंतजिणे' इत्यादि स्तवदण्डक पढ़े जाते हैं। इन दोनों दण्डकों के आदि और अन्तमें तीन-तीन आवर्तों के साथ एक-एक नमस्कार करे। इस प्रकार वारह आवर्त और चार प्रणामोंका विधान जानना चाहिए। दोनों हाथोंको मुकुलित करके उन्हें प्रदक्षिणाके रूपमें घुमानेको आवर्त कहते हैं। वर्तमानमें सामायिक करनेके पूर्व चारों दिशाओंमें एक एक कायोत्सर्ग करके तीन तीन आवर्त करके नमस्कार करने की विधि प्रचलित है, पर उसका लिखित आगम आधार उपलब्ध नहीं है। प्रभाचन्द्राचार्य-रचित मुद्रित क्रियाकलापमें सामायिक दण्डक और स्तवदण्डक संकलित है, उनको वहाँ से जानना चाहिए। चारित्रसार और अनगारधर्मामृत आदि में उक्त विधि कुछ अन्तर से दृष्टिगोचर होती है। मूल श्लोकमें पठित 'यथाजातः' पद विशेषरूपसे विचारणीय है, क्योंकि इस पदका सीधा अर्थ जन्मकाल जैसी नग्नता का होता है। पूर्वमें वर्णित सामायिक शिक्षाव्रतमें इस पदका नहीं देना और इस तीसरी प्रतिमाके वर्णनमें उसका देना यह सूचित करता है कि तीसरी प्रतिमाधारीको नग्न होकरके सामायिक करना चाहिए। टीकाकार प्रभाचन्द्राचार्य 'यथाजात' पदका अर्थ बाह्य आभ्यन्तर परिग्रहकी चिन्तासे रहित ऐसा करते हैं। पर समन्तभद्रस्वामी तो इसकी सूचना 'सामायिके सारम्भाः परिग्रहा नैव सन्ति सर्वेऽपि चेलोपसृष्टमुनिरिव गृही तदा याति यतिभावम्' इस श्लोक (संख्या १०२) में सामायिक शिक्षाव्रतके वर्णनमें कर चुके हैं और उसे वस्त्र-वेष्टित मुनिके तुल्य बतला आये हैं। अतः इस तीसरी प्रतिमाके वर्णनमें 'यथाजात' पद देकर उन्होंने स्पष्ट रूपसे नग्न दिगम्बर वेषमें सामायिक करनेका विधान किया है। यतः सामायिकको एकान्तमें करनेका विधान है, अतः तीसरी प्रतिमाधारी के लिए वैसा करना संभव भी है। चौथे प्रोषध पदधारी श्रावक पदका स्वरूप—प्रत्येक मासके चारों ही पर्वदिनोंमें अपनी शक्तिको नहीं छिपाकर सावधान होकर प्रोषधोपवासको नियमपूर्वक करनेवाला प्रोषधोपवासी श्रावक कहलाता है ॥ १४० ॥ पाँचवें सचित्त विरत पदका स्वरूप—जो दयामूर्त्ति श्रावक कच्चे मूल, फल, शाक, शाखा (कोंपल) करीर (कैर) कन्द, फूल और बीजों को नहीं खाता है, वह सचित विरत पदका धारी श्रावक है ॥ १४१ ॥ छठे रात्रिभुक्तिविरत पदका स्वरूप—जो पुरुष प्राणियों पर दयार्द्र-चित्त होकर रात्रिमें अन्न, पान, खाद्य और लेह्य इन चारों ही प्रकारके आहारको नहीं खाता है, वह

मलबीजं मलयोनिं गलन्मलं पूतिगन्धि बीभत्सम् । पश्यन्नङ्गमनङ्गाद्विरमति यो ब्रह्मचारी सः १४३
सेवाकृषिवाणिज्यप्रमुखादारम्भतो व्युपारमति । प्राणातिपातहेतोर्योऽसावारम्भविनिवृत्तः ॥ १४४
बाह्येषु दशसु वस्तुषु ममत्वमुत्सृज्य निर्ममत्वरतः । स्वस्थः सन्तोषपरः परिचित्तपरिग्रहाद्विरतः१४५

अनुमतिरारम्भे वा परिग्रहे वैहिकेषु कर्मसु वा ।
नास्ति खलु यस्य समधीरनुमतिविरतः स मन्तव्यः ॥ १४६

गृहतो मुनिवनमित्वा गुरूपकण्ठे व्रतानि परिगृह्य । भैक्ष्याशनस्तपस्यन्नुत्कृष्टश्चेलखण्डधरः ॥ १४७
पापमरातिर्धर्मो बन्धुर्जीवस्य चेति निश्चिन्वन् । समयं यदि जानीते श्रेयोज्ञाता ध्रुवं भवति ॥१४८

येन स्वयं वीतकलङ्कविद्यादृष्टिक्रियारत्नकरण्डभावम् ।
नीतस्तमायाति पतीच्छयेव सर्वार्थसिद्धिस्त्रिषु विष्टपेषु ॥ १४९

रात्रिभुक्ति विरतश्रावक है ॥ १४२॥ सातवें ब्रह्मचारी श्रावक पदका स्वरूप-जो पुरुष मलका बीज, मलका आधार, मलको बहानेवाला, दुर्गन्धिसे युक्त और बीभत्स आकार वाले स्त्रीके अंगको देखकर अनंगसेवनसे विराम लेता है, अर्थात् स्त्री सेवनका सर्वथा त्याग करता है, वह ब्रह्मचारी श्रावक है ॥ १४३ ॥ आठवें आरम्भ विरत श्रावक पदका स्वरूप-जो जीवहिंसाके कारणभूत सेवा, कृषि, वाणिज्य आदि आरम्भसे निवृत्त होता है, वह आरम्भविनिवृत्तश्रावक कहा जाता है ॥ १४४॥ नवें परिग्रह विरत श्रावक-पदका स्वरूप-जो धन धान्यादि बाह्य दशों प्रकारकी वस्तुओंमें ममत्वको छोड़कर निर्ममत्व भावनामें निरत रहता है, मायाचार आदिको छोड़कर स्वस्थ (आत्मस्थ) रहता है और परम सन्तोषको धारण करता है, वह चित्तमें संसार रूपसे बसे हुए परिग्रहसे विरत श्रावक जानना चाहिए ॥ १४५ ॥ दशवें अनुमति विरत पदधारी श्रावकका स्वरूप-जिसके निश्चयसे गृहके कृषि आदि आरम्भमें, परिग्रहमें और इस लोक सम्बन्धी लौकिक कार्योंमें अनुमोदना नहीं है, वह समभाव का धारक अनुमतिविरत श्रावक मानना चाहिए ॥ १४६ ॥ ग्यारहवें उद्दिष्टविरत पदधारी श्रावक का स्वरूप-जो घरसे मुनियोंके निवास वाले वनमें जाकर और गुरुके समीप व्रतोंको ग्रहण करके भिक्षावृत्तिसे आहार ग्रहण करते हुए तपस्या करता है और वस्त्र-खण्डको धारण करता है, वह उत्कृष्ट श्रावक है ॥ १४७ ॥ यद्यपि ग्रन्थकारने इस पदके भेदोंको नहीं कहा है, तथापि 'चेलखण्ड-धर' पदसे लंगोटी रखने वाले और एक छोटा वस्त्र रखनेवाले ऐलक और क्षुल्लकका ग्रहण हो जाता है । ❀

ग्रन्थका उपसंहार

जीवका 'पाप शत्रु है, और धर्म बन्धु है,' ऐसा हृदयमें निश्चय करता हुआ पुरुष यदि समय (आगम) को जानता है', तो वह निश्चय से वह श्रेयो ज्ञाता अर्थात् आत्म कल्याणका जानकार है ॥ १४८ ॥

धर्मके फलका उपसंहार

जिस भव्य जीवने अपने आत्माको निर्दोष विद्या (सम्यग्ज्ञान)निर्दोष दृष्टि (सम्यग्दर्शन) और निर्दोष क्रिया (सम्यक्चारित्र) रूप रत्नोंके पिटारे या भाजनके रूपमें परिणत किया है,

---

❀ विशेष के लिए देखें—वसुनन्दिश्रावकाचारमें मेरी लिखी प्रस्तावना ।

सुखयतु सुखभूमिः कामिनं कामिनीव सुतमिव जननी मां शुद्धशीला भुनक्तु ।
कुलमिव गुणभूषा कन्यका सम्पुनीताज्जिनपतिपदपद्मप्रेक्षिणी दृष्टिलक्ष्मीः ॥ १५०

इति श्रीस्वामिसमन्तभद्राचार्यविरचिते रत्नकरण्डकापरनाम्नि उपासकाध्ययने
श्रावकपदवर्णनं नाम सप्तमाध्ययनं समाप्तम् ॥ ७ ॥

उसे तीनों लोकोंमें सर्व पुरुषार्थोंकी सिद्धि स्वयं प्राप्त होती है। जैसे कि स्वयं वरण करनेवाली कन्या योग्य पतिको स्वयं प्राप्त होती है ॥ १४९ ॥

अन्तिम मंगल

जिनेन्द्र देवके चरण-कमलोंको देखने वाली सुखों की भूमि ऐसी सम्यग्दर्शनरूपी दृष्टि लक्ष्मी मुझे उसी प्रकार सुखी करे, जिस प्रकार कि कामी पुरुषको उसकी कामिनी स्त्री सुखी करती है, वह दृष्टिलक्ष्मी शुद्ध शीलवाली जननीके समान मेरी रक्षा करे और वह दृष्टिलक्ष्मी मुझे उस प्रकारसे पवित्र करे, जैसे कि गुण-भूषित कन्या कुलको पवित्र करती है ॥ १५० ॥

इस प्रकार स्वामि समन्तभद्राचार्य-विरचित रत्नकरण्डक नामवाले उपासकाध्ययनमें
श्रावक के ग्यारह पदोंका वर्णन करनेवाला सातवां अध्ययन समाप्त हुआ।

स्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षागत श्रावकधर्म-वर्णन

जो जाणदि पच्चक्खं तियाल-गुण-पज्जएहिं संजुत्तं । लोयालोयं सयलं सो सव्वण्हू हवे देवो ।।१
जो ण हवदि सव्वण्हू ता को जाणदि अदिदियं अत्थं । इंदियणाणं ण मुणदि थूलं पि असेसपज्जायं ।।२
तेणुवइट्ठो धम्मो संगासत्ताण तह असंगाणं । पढमो बारहभेओ दहभेओ भासिओ विदिओ ।।३
सम्मद्दंसणसुद्धो रहिओ मज्जाइ-थूल-दोसेहिं । वयधारी सामाइउ पव्ववई पासुयाहारी ।।४
राईभोयणविरओ मेहुण-सारंभ-संगचत्तो य । कज्जाणुमोयविरओ उद्दिट्ठाहारविरदो य ।। ५
चदुगदिभव्वो सण्णी सुविसुद्धो जग्गमाण पज्जत्तो । संसारतडे णियडो णाणी पावेइ सम्मत्तं ।। ६
सत्तण्हं पयडीणं उवसमदो होदि उवसमं सम्मं । खयदो य होदि खइयं केवलिमूले मणुस्सस्स ।।७
अण-उदयादो छण्हं सजाइरूवेण उदयमाणाणं । सम्मत्तकम्म-उदये खयउवसमियं हवे सम्मं ।। ८
गिण्हदि मुंचदि जीवो वे सम्मत्ते असंखयाराओ । पढम कसाय विणासं देसवयं कुणदि उक्कस्सं ।।९
जो तच्चमणेयंतं णियमा सद्दहदि सत्तभंगेहिं । लोयाण पण्हवसदो ववहारपवत्तणट्ठं च ।। १०
जो आयरेण मण्णदि जीवाजीवादि णवविहं अत्थं । सुदणाणेण णएहि य सो सद्दिट्ठी हवे सुद्धो ।।११

जो त्रिकालवर्ती गुण-पर्यायों से संयुक्त समस्त लोक और अलोक को (और उनमें वर्तमान द्रव्योंको) प्रत्यक्ष जानता है, वह सर्वज्ञ देव है ।।१।। यदि सर्वज्ञ न होता, तो अतीन्द्रिय पदार्थको कौन जानता ? इन्द्रिय ज्ञान तो समस्त स्थूल पर्यायोंको भी नहीं जानता है ।। २ ।। उस त्रिलोक-त्रिकालज्ञ सर्वज्ञके द्वारा कहा हुआ धर्म दो प्रकारका है—एक तो परिग्रहासक्त गृहस्थोंका धर्म और दूसरा परिग्रह-रहित मुनियों का धर्म । पहला धर्म वारह भेदवाला और दूसरा धर्म दश भेद वाला कहा गया है ।। ३ ।। उनमें से गृहस्थ या श्रावक धर्म के वारह भेद इस प्रकार हैं—१. शंकादि दोषों से रहित शुद्धसम्यग्दृष्टि, २. मद्य-मांसादि-भक्षणरूप स्थूल दोपों से रहित सम्यग्दृष्टि, ३. व्रतधारी, ४. सामायिकव्रती,५.पर्वव्रती, ६. प्रासुकाहारी,७. रात्रि भोजनत्यागी,८. मैथुनत्यागी, ९. आरम्भत्यागी, १०. परिग्रहत्यागी,११. कार्यानुमोदविरत और १२. उद्दिष्ट-आहार-विरत ।।४-५।। अब श्रावकके प्रथम भेदका वर्णन करते हुए सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के योग्य जीवका वर्णन करते हैं—चारों गतियोंमें उत्पन्न हुआ भव्य संज्ञी विशुद्ध परिणामी जागता हुआ पर्याप्तक ज्ञानी जीव संसार-तटके निकट आने पर सम्यक्त्वको प्राप्त करता है।। ६।। दर्शनमोहनीय कर्म की मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति, तथा चारित्र मोह कर्म की अनन्तानुवंधी क्रोध, मान, माया और लोभ; इन सात प्रकृतियोंके उपशमसे उपशमसम्यक्त्व उत्पन्न होता है। तथा इन ही सातों प्रकृतियोंका केवलीके पादमूलमें क्षय करनेवाले मनुष्यके क्षायिकसम्यक्त्व उत्पन्न होता है।। ७ ।। उपर्युक्त सात प्रकृतियों में समान जातीय प्रकृतियोंके रूपसे उदय होने वाली छह प्रकृतियोंके अनुदयसे और सम्यक्त्वप्रकृतिके उदय होने पर क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है।। ८।। औपशमिक और क्षायोपशमिक ये दो सम्यक्त्व, प्रथम अनन्तानुवन्धी कपाय चतुष्कका विनाश अर्थात् विसंयोजन और देशव्रत इनको यह जीव उत्कर्षसे असंख्य वार ग्रहण करता और छोड़ता है ।। ९ ।। भावार्थ— उक्त चारोंको यह जीव अधिक से अधिक पल्यके असंख्यातवें भाग वार ग्रहण कर छोड़ सकता है। अब सम्यग्दृष्टि के तत्वश्रद्धान आदि परिणति का विशेष वर्णन करते हैं—जो लोगोंके प्रश्नों के

जो ण य कुव्वदि गव्वं पुत्त-कलत्ताइ सव्व-अत्थेसु ।
उवसमभावे भावदि अप्पाणं मुणदि तिणमेत्तं ॥ १२
विसयासत्तो वि सया सव्वारंभेसु वट्टमाणो वि । मोहविलासो एसो इदि सव्वं मण्णदे हेयं ॥ १३
उत्तमगुणगहणरओ उत्तमसाहूण विणयसंजुत्तो । साहम्मिय-अणुराई सो सद्दिट्ठी हवे परमो ॥१४
देहमिलियं पि जीवं णियणाणगुणेण मुणदि जो भिण्णं ।
जीवमिलियं पि देहं कंचुवसरिसं वियाणेदि ॥ १५
णिज्जियदोसं देवं सव्वजिवाणं दयावरं धम्मं । वज्जियगंथं च गुरुं जो मण्णदि सो हु सद्दिट्ठी ॥१६
दोससहियं पि देवं जीवहिंसाइसंजुदं धम्मं । गंथासत्तं च गुरुं जो मण्णदि सो हु कुद्दिट्ठी ॥ १७
ण य कोवि देदि लच्छी ण कोवि जीवस्स कुणदि उवयारं ।
उवयारं अवयारं कम्मं पि सुहासुहं कुणदि ॥ १८
भत्तीएँ पुज्जमाणो विंतरदेवोवि देदि जदि लच्छी । तो किं धम्मे कीरदि एवं चिंतेइ सद्दिट्ठी ॥१९
जं जस्स जम्मि देसे जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि ।
णादं जिणेणं णियदं जम्मं वा अहव मरणं वा ॥ २०
तं तस्स तम्मि देसे तेण विहाणेण तम्मि कालम्मि ।
को सक्कदि वारेदुं इन्दो वा अह जिणिंदो वा ॥ २१
एवं जो णिच्छयदो जाणदि दव्वाणि सव्वपज्जाए । सो सद्दिट्ठी सुद्धो जो संकदि सो हु कुद्दिट्ठी ॥२२

वशसे और व्यवहारको चलानेके लिए सप्तभंगी के द्वारा नियमसे अनेकान्तात्मक तत्त्वका श्रद्धान करता है, जो आदरके साथ जीव-अजीव आदि नौ प्रकारके पदार्थोको श्रुतज्ञानसे और नयोंसे भलीभाँति जानता है, वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि है ॥ १०-११ ॥ जो पुत्र-स्त्री आदि सर्व पदार्थोंमें गर्वको नहीं करता है, उपशमभावको भाता है और अपनेको तृण-समान समझता है, विषयोंमें आसक्त होता हुआ भी और सदा सर्व आरम्भोंमें प्रवृत्त होता हुआ भी जो 'यह मोहकर्मका विलास है' ऐसा समझकर सबको हेय मानता है, जो उत्तम गुणोंके ग्रहण करनेमें तत्पर रहता है, उत्तम साधुओंकी विनय करता है और साधर्मी जनों का अनुरागी है, वह परम सम्यग्दृष्टि है ॥ १२-१४ ॥ जो देहमें मिले हुए भी जीवको अपने ज्ञानगुणसे अर्थात् भेदविज्ञानसे भिन्न जानता है और जीवसे मिले हुए भी देहको सांप की कांचली के समान भिन्न जानता है, जो रागादि दोषोंके विजेता अरिहन्त को देव मानता है, सर्व जीवों पर दया करनेको परम धर्म मानता है और परिग्रह-के त्यागीको गुरु मानता है, वह निश्चयसे सम्यग्दृष्टि है ॥ १५-१६ ॥ जो दोष-सहित व्यक्तिको देव मानता है, जीव-हिंसादिसे संयुक्त कार्यको धर्म मानता है और परिग्रहमें आसक्त पुरुषको गुरु मानता है, वह निश्चयसे मिथ्यादृष्टि है ॥ १७ ॥ जो लोग हरि-हरादिकको लक्ष्मी-दाता मानकर पूजते हैं, उन्हें लक्ष्य करके आचार्य कहते हैं कि न तो कोई किसीको लक्ष्मी देता है और न कोई अन्य पुरुष जीवका उपकार ही करता है। पूर्वमें किये हुए शुभ और अशुभ कर्म ही जीवका उपकार और अपकार करते हैं ॥१८॥ यदि भक्तिसे पूजा गया व्यन्तर देव भी लक्ष्मी दे सकता है, तो फिर धर्म करने की क्या आवश्यकता है इस प्रकार सम्यग्दृष्टि अपने मनमें विचार करता है ॥१९॥ जिस जीव-के, जिस देशमें, जिस कालमें जिस प्रकारसे जो जन्म अथवा मरण जिन देवने नियत रूपसे जाना है, उस जीवके उसी देशमें, उसी कालमें और उसी प्रकारसे अवश्य होगा। उसे निवारण करनेके लिए इन्द्र अथवा जिनेन्द्र कौन समर्थ है ? अर्थात् कोई भी नहीं रोक सकता ॥ २०-२१ ॥ इस प्रकार जो

जो ण विजाणदि तच्चं सो जिणवयणे करेदि सद्दहणं ।
जं जिणवरेहिं भणियं तं सव्वमहं समिच्छामि ॥ २३

रयणाण महारयणं सव्वं जोयाण उत्तमं जोयं । रिद्धीण महारिद्धी सम्मत्तं सव्वसिद्धियरं ॥ २४
सम्मत्तगुणपहाणो देविंद-णरिंद-वंदिओ होदि । चत्तवओ वि य पावदि सग्गसुहं उत्तमं विविहं ॥२५
सम्माइट्ठी जीवो दुग्गदिहेदुं ण बंधदे कम्मं । जं बहुभवेसु बद्धं दुक्कम्मं तं पि णासेदि ॥ २६
बहुतससमण्णिदं जं मज्जं मंसादि णिंदिदं दव्वं । जो ण य सेवदि णियदं सो दंसणसावओ होदि ।२७

जो दिढचित्तो कीरदि एवं पि वयं णियाण-परिहीणो ।
वेरग्गभावियमणो सो वि य दंसणगुणो होदि ॥ २८

पंचाणुव्वयधारी गुणवय-सिक्खावएहिं संजुत्तो । दिढचित्तो समजुत्तो णाणी वयसावओ होदि ॥२९
जो वावरेइ सदओ अप्पाणसमं परं पि मण्णंतो । णिंदण-गरहणजुत्तो परिहरमाणो महारंभे ॥३०

तसघादं जो ण करदि मण-वय-काएहि णेव कारयदि ।
कुव्वंतं पि ण इच्छदि पढमवयं जायदे तस्स ॥ ३१
हिंसा-वयणं ण वयदि कक्कस-वयणं पि जो ण भासेदि ।
णिट्ठुर-वयणं पि तहा ण भासदे गुज्झ-वयणं पि ॥ ३२

निश्चय से सर्वद्रव्यों और सर्वपर्यायों को जानता है, वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि है और जो उनके अस्तित्व-में शंका करता है, वह मिथ्यादृष्टि है ॥ २२ ॥ जो तत्त्वको नहीं जानता है, किन्तु जिन-वचनमें श्रद्धान करता है कि जिनेन्द्रोंने जो कहा है, उस सबकी मैं श्रद्धा करता हूँ, ऐसा निश्चयवाला जीव भी सम्यग्दृष्टि है ॥ २३ ॥ सम्यग्दर्शन सर्व रत्नोंमें महारत्न है, सर्वयोगोंमें उत्तम योग है, सर्व ऋद्धियोंमें महाऋद्धि है और सर्व प्रकारकी सिद्धिका करने वाला है ॥ २४ ॥ सम्यक्त्व गुणकी प्रधानता वाला जीव देवेन्द्रों और नरेन्द्रोंसे वन्दनीय होता है और व्रत-रहित होने पर भी नाना प्रकारके उत्तम स्वर्गसुखको पाता है ॥ २५ ॥ सम्यग्दृष्टि जीव दुर्गतिके कारणभूत पापकर्म को नहीं बाँधता है और पूर्वके अनेक भवों में बंधा हुआ जो दुष्कर्म है, उसका भी नाश करता है ॥ २६ ॥ अब दूसरे दार्शनिक श्रावकका स्वरूप कहते हैं—जो सम्यक्त्वी जीव अनेक त्रसजीवोंसे भरे हुए मद्य-मांसादि निन्द्य द्रव्यका नियमसे सेवन नहीं करता है, वह दार्शनिक श्रावक है ॥ २७ ॥ जो दृढ़चित्त होकर उक्त एक भी व्रतका पालन करता है, निदानसे रहित है और वैराग्यसे जिसका मन भरा हुआ है, वह पुरुष दर्शन गुण वाला श्रावक है ॥ २८ ॥ अब तीसरे व्रतिक श्रावकका स्वरूप कहते हैं—जो ज्ञानी पांच अणुव्रतोंका धारक है, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतोंसे संयुक्त है, दृढ़चित्त है और समभावी है, वह व्रतिक श्रावक है ॥ २९ ॥ अब अहिंसाणुव्रतका स्वरूप कहते हैं—जो अपने समान दूसरेको भी मानता हुआ उनके साथ दया-सहित व्यवहार करता है, अपनी निन्दा और गर्हासे युक्त है, महान् आरम्भोंका परिहार करता हुआ जो त्रसजीवोंके घात-को मन वचन कायसे न स्वयं करता है, न दूसरोंसे कराता है और न करते हुए पुरुष की अनु-मोदना ही करता है, उसके पहला अहिंसाणुव्रत होता है ॥ ३०-३१ ॥ अब सत्याणुव्रत का स्वरूप कहते हैं—जो हिंसा करनेवाले वचन नहीं बोलता है, कर्कश वचन भी नहीं कहता है, तथा निष्ठुर वचन और दूसरे की गुप्त बात को भी प्रकट नहीं करता है, किन्तु सर्व जीवों को सन्तुष्ट करनेवाले हित मित प्रिय, एवं धर्म-प्रकाशक वचन बोलता है, वह दूसरे सत्याणुव्रत का धारक श्रावक है

हिद-मिदवयणं भासदि संतोसकरं तु सव्वजीवाणं।
धम्म-पयासणवयणं अणुव्वदी होदि सो विदिओ ॥ ३३

जो बहुमुल्लं वत्थुं अप्पयमुल्लेण णेव गिण्हेदि। वीसरियं पि ण गिण्हदि लाहे थोवे वि तूसेदि ॥३४
जो परदव्वं ण हरदि माया-लोहेण कोह-माणेण। दिढचित्तो सुद्धमई अणुव्वई सो हवे तिदिओ ॥३५
असुइमयं दुग्गंधं महिलादेहं विरज्जमाणो जो। रूवं लावण्णं पि य मणमोहण-कारणं मुणइ ॥३६

जो मण्णदि परमहिलं जणणी-बहिणी-सुआइ सारिच्छं।
मण-वयणे काएण वि बंभवई सो हवे थूलो ॥ ३७

जो लोहं णिहणित्ता संतोसरसायणेण संतुट्ठो। णिहणदि तिण्हा दुट्ठा मण्णंतो विणस्सरं सव्वं ॥३८

जो परिमाणं कुव्वदि धण-धण्ण-सुवण्ण-खित्तमाईणं।
उवओगं जाणित्ता अणुव्वदं पंचमं तस्स ॥ ३९

जह लोहणासणट्ठं संगपमाणं हवेइ जीवस्स। सव्वदिसाण पमाणं तह लोहं णासए णियमा ॥ ४०
जं परिमाणं कीरदि दिसाण सव्वाण सुप्पसिद्धाणं। उवओगं जाणित्ता गुणव्वदं जाण तं पढमं ॥४१

कज्जं किंपि ण साहदि णिच्चं पावं करेदि जो अत्थो।
सो खलु हवदि अणत्थो पंचपयारो वि सो विविहो ॥४२

परदोसाण वि गहणं परलच्छीणं समीहणं जं च। पर-इत्थी-अवलोओ पर-कलहालोयणं पढमं ॥४३

॥ ३२-३३ ॥ अब तीसरे अचौर्याणुव्रतका स्वरूप कहते हैं—जो बहुत मूल्यवाली वस्तुको अल्प मूल्यसे नहीं लेता है, दूसरे की भूली हुई भी वस्तुको नहीं ग्रहण करता है, जो अल्प लाभमें भी सन्तोष धारण करता है, जो पराये द्रव्यको, मायासे, लोभसे, क्रोधसे और मानसे अपहरण नहीं करता है, जो धर्ममें दृढ़ चित्त है और शुद्ध बुद्धिका धारक है, वह तीसरे अणुव्रतका धारी श्रावक है ॥ ३४-३५ ॥ अब चौथे ब्रह्मचर्याणुव्रतका स्वरूप कहते हैं—जो पुरुष स्त्रीके देहको अशुचिमय और दुर्गन्धित देखकर उससे विरक्त होता हुआ उनके रूप लावण्यको भी मनके मोहित करनेका कारण मानता है, और जो पराई स्त्रियोंको अपनी माता, बहिन और पुत्रीके सदृश मन, वचन, कायसे समझता है, वह स्थूल ब्रह्मचर्यव्रतका धारक श्रावक है ॥ ३६-३७ ॥ अब पाँचवें परिग्रह-परिमाणाणुव्रतका स्वरूप कहते हैं—जो पुरुष लोभको जीतकर सन्तोषरूप रसायनसे सन्तुष्ट रहता है और संसारकी सर्व वस्तुओंको विनश्वर मानता हुआ दुष्ट तृष्णाका विनाश करता है, तथा अपने उपयोगको जानकर आवश्यक धन धान्य सुवर्ण क्षेत्र आदि दश प्रकारके परिग्रहका परिमाण करता है, उसके पांचवां अणुव्रत होता है ॥ ३८-३९ ॥ अब तीन गुणव्रतोंमेंसे पहले दिग्व्रतनामक गुणव्रत का स्वरूप कहते हैं—जिस प्रकार लोभके नाश करनेके लिए जीवके परिग्रहका प्रमाण होता है, उसी प्रकार लोभका नाश करनेके लिए नियमसे सर्व दिशाओंका भी प्रमाण करना आवश्यक है। जो पुरुष उपयोगी जानकर सुप्रसिद्ध सभी दिशाओंमें जाने-आनेका जीवन भरके लिए परिमाण करता है, उसके प्रथम गुणव्रत जानना चाहिए ॥ ४०-४१ ॥ अब दूसरे अनर्थदण्डव्रत नामक गुणव्रतका स्वरूप कहते हैं—जो पदार्थ अपना कुछ भी कार्य नहीं साधता है, किन्तु नित्य ही पापको करता है, वह पदार्थ अनर्थ कहलाता है, वह अनर्थ दण्ड पांच प्रकारका है और प्रत्येक भेद अनेक रूप भेद है ॥ ४२ ॥ अन्य पुरुषके दोषोंको ग्रहण करना, दूसरे की लक्ष्मीका चाहना, परस्त्रीका अवलोकन करना और अन्यकी कलहको देखना, यह अपध्यान नामका प्रथम अनर्थ दण्ड है ॥ ४३ ॥ खेती

जो उवएसो दिज्जदि किसि-पसुपालण-वणिज्जपमुहेसु ।
पुरिसित्थी-संजोए अणत्थदंडो हवे विदिओ ॥४४
विहलो जो वावारो पुढवी-तोयाण अग्गि-वाऊणं ।
तह वि वणप्फदि-छेदो अणत्थदंडो हवे तिदिओ ॥४५
मज्जार पहुदि-धरणं आउह-लोहादिविक्कणं जं च ।
लक्खा-खलादिगहणं अणत्थदंडो हवे तुरियो ॥४६

जं सवणं सत्थाणं भंडण-वसियरण-कामसत्थाणं । परदोसाणं च तहा अणत्थदंडो हवे चरिमो ॥४७
एव पंचपयारं अणत्थदंडं दुहावहं णिच्चं । जो परिहरेदि णाणी गुणव्वदी सो हवे विदिओ ॥४८
जाणित्ता संपत्ती भोयण-तंवोल-वत्थमादीणं । जं परिपाणं कीरदि भोउवभोयं वयं तस्स ॥४९
जो परिहरेइ संतं तस्स वयं थुव्वदे सुरिंदो वि । जो मणलड्डु व भक्खदि तस्स वयं अप्पसिद्धियरं ॥५०
सामाइयस्य करणे खेत्तं कालं च आसणं विलओ । मण-वयण-कायसुद्धी णायव्वा हुंति सत्तेय ॥५१
जत्थ ण कलयलसद्दो वहुजणसंघट्टणं ण जत्थत्थि । जत्थ ण दंसादीया एस पसत्थो हवे देसो ॥५२
पुव्वण्हे मज्झण्हे अवरण्हे तिहिवि णालिया-छक्को । सामइयस्स कालो सविणय णिस्सेस-णिद्दिट्ठो ॥५३
वंधित्ता पज्जंकं अहवा उड्ढेण उब्भओ ठिच्चा । कालपमाणं किच्चा इंदियवावार-वज्जिदो होउ ॥५४

करनेका, पशु-पालनका और वाणिज्य आदि आरम्भ कार्योंका जो उपदेश दिया जाता है, तथा पुरुष और स्त्रीके विवाह आदिके रूपमें संयोग करने-करानेका कथन किया जाता है. वह दूसरा पापोपदेशनामका अनर्थदण्ड है ॥ ४४ ॥ पृथिवी, जल, अग्नि, और वायुका निष्फल व्यापार करना, तथा वनस्पतिका निष्प्रयोजन विच्छेद करना सो प्रमादचर्या नामका तीसरा अनर्थ दण्ड है ॥ ४५ ॥ बिल्ली-कुत्ता आदि मांस-भक्षी पशुओंका पालना, आयुध और लोहा आदिका वेचना, लाख और खली आदिका संग्रह करना यह हिंसादान नामका चौथा अनर्थ दण्ड है ॥ ४६ ॥ कुमार्ग-प्रतिपादक शास्त्रोंका सुनना, भंडन, वशीकरण और कामशास्त्रका सुनना, तथा अन्य पुरुषोंके दोषोंका सुनना, यह दुःश्रुतिनामका अन्तिम अर्थात् पांचवां अनर्थ दण्ड है ॥ ४७ ॥ ऐसे पांच प्रकारके दुःखदायक अनर्थ दण्डोंको जानकर जो ज्ञानी नित्य ही उनका परिहार करता है, वह दूसरे अनर्थदण्डत्याग नामक गुणव्रतका धारक श्रावक है ॥४८॥ अव तीसरे भोगोपभोगपरिमाण गुणव्रतका स्वरूप कहते हैं—जो पुरुष अपने वित्त और शक्तिके अनुसार भोजन, ताम्बूल आदि भोगोंवाली वस्त्र-भवन आदि उपभोगोंवाली वस्तुसम्पदाका परिणाम करता है, उसके भोगोपभोगपरिमाणनामक तीसरा गुण-व्रत होता है ॥ ४९ ॥ जो पुरुष घरमें विद्यमान भी भोग और उपभोगकी वस्तुका परित्याग करता है, उसके व्रतकी देवेन्द्र भी स्तुति-प्रशंसा करते हैं । और जो मनके लड्डू खाता है, उसका व्रत अल्प सिद्धिका करनेवाला होता है । ५० ॥ अव शिक्षाव्रतका वर्णन करते हुए उसके चार भेदोंमेंसे पहले सामायिक शिक्षाव्रतका स्वरूप कहते हैं—सामायिक करनेके लिए क्षेत्र, काल, आसन, विलय, मनःशुद्धि और वचनशुद्धि; और कायशुद्धि ये सातों ही बातें जाननेके योग्य हैं ॥ ५१ ॥ जहां पर कल-कल शब्द न होता हो, जहांपर बहुत जनोंका जमघट या आवागमन न हो, और न जहांपर डांस-मच्छर आदिक हों, ऐसा प्रशस्त स्थान सामायिक करनेके योग्य क्षेत्र है ॥ ५२ ॥ विनय-युक्त गणधरादिने पूर्वाह्ण, मध्याह्न और अपराह्ण इन तीन कालों छह-छह घड़ी काल सामायिकका कहा है ॥५३॥ पर्यंक आसनको बांधकर, अथवा सीधा खड़ा होकर कालका प्रमाण करके, इन्द्रियोंके

जिणवयणेयग्गमणो संवुडकाओ य अंजलिं किच्चा । स-सरूवे संलीणो वंदण-अत्थं विचिंतंतो ॥५५
किच्चा देसपमाणं सव्वं सावज्जवज्जिदो होउ । जो कुव्वदि सामइयं सो मुणिसरिसो हवे ताव ॥५६
ण्हाण-विलेवण-भूसण-इत्थीसंसग्ग-गंध-धूवादी । जो परिहरेदि णाणी वेरग्गाभूसणं किच्चा ॥ ५७
दोसु वि पव्वेसु सया उववासं एयभत्त-णिव्वियडी । जो कुणदि एवमाई तस्स वयं पोसहं विदियं॥५८
तिविहे पत्तम्मि सया सद्धाइगुणेहि संजुदो णाणी । दाणं जो देदि सयं णवदाणविहीहि संजुत्तो ॥५९
सिक्खावयं च तिदियं तस्स हवे सव्वसिद्धिसोक्खयरं । दाणं चउव्विहं पिय सव्वेदाणाण सारयरं ॥६०
भोयणदाणं सोक्खं ओसहदाणेण सत्थदाणं च । जीवाण अभयदाणं सुदुल्लहं सव्वदाणेसु ॥६१

भोयणदाणे दिण्णे तिण्णि वि दाणाणि होंति दिण्णाणि ।
भुक्ख-तिसाए वाही दिणे दिणे होंति देहीणं ॥ ६२

भोयणवलेण साहू सत्थं सेवेदि रत्ति-दिवसं पि । भोयणदाणे दिण्णे पाणा वि य रक्खिया होंति ॥६३
इह-परलोयणिरीहो दाणं जो देदि परमभत्तीए । रयणत्तए सुठविदो संघो सयलो हवे तेण ॥६४
उत्तमपत्तविसेसे उत्तमभत्तीएँ उत्तमं दाणं । एयदिणे वि य दिण्णं इंदसुहं उत्तमं देदि ॥६५

पुव्वपमाणकदाणं सव्वदिसाणं पुणो वि संवरणं ।
इंदियविसयाण तहा पुणो वि जो कुणदि संवरणं ॥६६

वासादिकयपमाणं दिणे दिणे लोह-कामसमणट्ठं । सावज्जवज्जणट्ठं तस्स चउत्थं वयं होदि ॥६७

व्यापारसे रहित होकर, जिन-वचनमें मनको एकाग्र करके, कायको संकोच कर, हाथकी अंजलि बाँधकर, अपने स्वरूपमें लीन होकर, अथवा वन्दनापाठके अर्थका चिन्तवन करता हुआ, देशका प्रमाण करके और सर्व सावद्य योगको छोड़कर जो श्रावक सामायिक करता है, वह उस समय (वस्त्र-वेष्टित) मुनिके सदृश होता है ॥ ५४–५६ ॥ अब दूसरे प्रोषधोपवास शिक्षाव्रतका वर्णन करते हैं—जो ज्ञानी श्रावक सदा ही अष्टमी और चतुर्दशी इन दोनों पर्वोंमें स्नान विलेपन भूषण स्त्री-संसर्ग गंध धूप आदिका परिहार करता है और वैराग्यरूप आभूषण धारण करके उपवास, एकाशन, अथवा निर्विकार नीरस भोजन आदिको करता है, उसके प्रोषधोपवास नामका दूसरा शिक्षाव्रत होता है ॥ ५७–५८ ॥ अब तीसरे अतिथि संविभाग शिक्षाव्रतका वर्णन करते हैं—जो श्रद्धा आदि गुणोंसे संयुक्त ज्ञानी पुरुष सदा तीन प्रकारके पात्रोंको नौ प्रकारकी दानविधिसे अर्थात् नवधाभक्तिसे संयुक्त होकर स्वयं दान देता है, उसके यह तीसरा शिक्षाव्रत होता है। यह चार प्रकारका दान सब दानोंमें सारभूत है और सब सुखोंका तथा सिद्धियोंका करनेवाला है ॥ ५९–६० ॥ औषधिदानके साथ भोजनदानसे सुख प्राप्त होता है। शास्त्रदान और जीवोंका अभयदान देना सर्वदानोंमें अति दुर्लभ हैं ॥ ६१ ॥ भोजनदानके देनेपर शेष तीनों ही दान दिये गये होते हैं। क्योंकि प्राणियोंको भूख और प्यासकी व्याधि दिन प्रतिदिन होती है ॥ ६२ ॥ भोजनके बलसे ही साधु रात-दिन शास्त्रका अभ्यास करता है और भोजनदानके देनेपर प्राण भी सुरक्षित रहते हैं ॥ ६३ ॥ जो पुरुष इस लोक और पर-लोकके फलकी इच्छासे रहित होकर परम भक्तिसे दान देता है, वह सर्वसंघको रत्नत्रय धर्ममें स्थापित करता है। उत्तम पात्रविशेषको उत्तम भक्तिसे एक दिन भी दिया उत्तम दान इन्द्रलोकके सुख-को देता है ॥ ६४–६५ ॥ अब चौथे देशावकाशिक शिक्षाव्रतको कहते हैं—जो पुरुष लोभ और काम विकारके शमन करनेके लिए तथा पापोंके छोड़नेके लिए वर्ष आदिका प्रमाण करके पूर्वमें किये हुए सर्व दिशाओंके प्रमाणको फिर भी संवरण करता है और इन्द्रियोंके भोग उपभोगरूप विषयोंका फिर भी दिन दिन संवरण करता है, उसके यह देशावकाशिक नामका चौथा शिक्षाव्रत होता है ॥६६-६७॥

बारस-वएहिं जुत्तो सल्लिहणं जो कुणेदि उवसंतो ।
सो सुरसोक्खं पाविय कमेण सोक्खं परं लहदि ॥६८

एक्कं पि वयं विमलं सद्दिट्ठी जइ कुणेदि दिढचित्तो । तो विविहरिद्धिजुत्तं इंदत्तं पावए णियमा ॥६९
जो कुणदि काउस्सग्गं बारस-आवत्त-संजुदो धीरो । णमणदुगं पि कुणंतो चदुप्पमाणो पसण्णप्पा ॥७०
चिंतंतो ससरूवं जिर्णाबिंबं अह व अक्खरं परमं । झायदि कम्मविवायं तस्स वयं होदि सामइयं॥७१

सत्तमि-तेरसि-दिवसे अवरण्हे जाइऊण जिणभवणे ।
किच्चा किरियाकम्मं उववासं चउविहं गहियं ॥७२

गिहवावारं चत्ता रत्तिं गमिऊण धम्मचिंताए । पच्चूसे उट्ठित्ता किरियाकम्मं च कादूण ॥७३
सत्थब्भासेण पुणो दिवसं गमिऊण वंदणं किच्चा । रत्तिं णेदूण तहा पच्चूसे वंदणं किच्चा ॥७४
पुज्जणविहिं च किच्चा पत्तं गहिऊण णवरि तिविहंपि । भुंजाविऊण पत्तं भुंजंतो पोसहो होदि ॥७५
एक्कं पि णिरारंभो उववासं जो करेदि उवसंतो । वहुभवसंचियकम्मं सो णाणी खवदि लीलाए॥७६
उववासं कुव्वंतो आरंभं जो करेदि मोहादो । सो णियदेहं सोसदि ण झाडए कम्मलेसं वि ॥७७

सच्चित्तं पत्त-फलं छल्ली मूलं च किसलयं वीयं ।
जो ण य भक्खदि णाणी सचित्तविरदो हवे सोदु ॥७८
जो ण य भक्खेदि सयं तस्स ण अण्णस्स जुज्जदे दाउं ।
भुत्तस्स भोजिदस्स हि णत्थि विसेसो जदो को वि ॥७९

जो श्रावक बारह व्रतोंको पालता हुआ जीवनके अन्तमें कषायोंको उपशान्त करता हुआ सल्लेखना करता है, वह स्वर्गके सुखको पाकरके क्रमसे मोक्षके परम सुखको प्राप्त करता है ॥६८॥ जो सम्यग्दृष्टि पुरुष दृढ़चित्त होकर यदि एक भी व्रतको निरतिचार निर्मल पालन करता है, तो वह भी नियमसे अनेक प्रकारकी ऋद्धियोंसे युक्त इन्द्रपदको पाता है ॥ ६९ ॥ अब सामायिकप्रतिमाका वर्णन करते हैं—जो धीर वीर श्रावक बारह आवर्त-सहित चार प्रणाम और दो नमस्कारोंको करता हुआ प्रसन्नचित्त होकर कायोत्सर्ग करता हैं, और उस समय अपने स्वरूपका, जिन-प्रतिविम्बका, अथवा परमेष्ठिके वाचक अक्षरोंका, अथवा कर्मोंके विपाक (फल) का चिन्तवन करता हुआ ध्यान करता है, उसके सामायिक प्रतिमारूप व्रत होता है ॥ ७०-७१ ॥ अब प्रोषधप्रतिमाका वर्णन करते हैं—सप्तमी और त्रयोदशीके दिन अपराह्णके समय जिन-मन्दिरमें जाकर आवश्यक क्रिया कर्म करके चार प्रकारका आहार त्यागकर उपवासको ग्रहण करे और घरके सब व्यापार-कार्योंको छोड़कर धर्मध्यानपूर्वक रात वितावे। पुनः प्रातःकाल उठकर और क्रिया कर्मको करके शास्त्राभ्यासके साथ दिन विताकर सामायिक-वन्दनादि करो पुनः धर्मध्यानपूर्वक रात विताकर उपाकालमें सामायिक-वन्दनादि करके और पूजन-विधान भी करके और यथावसर प्राप्त तीनों प्रकारके पात्रोंको पड़गाह करके उन्हें भोजन कराकर पीछे स्वयं भोजन करनेवाले श्रावकके प्रोषधप्रतिमारूप व्रत होता है ॥ ७२-७५ ॥ जो ज्ञानी उपशम भावको धारण करता हुआ आरम्भ-रहित एक भी उपवासको करता है, वह वहुत भवोंके संचित कर्मको लीलामात्रसे क्षय कर देता है ॥ ७६ ॥ किन्तु जो उपवास करते हुए मोहवश आरम्भिक कार्य करता है, वह केवल अपनी देहको सुखाता है, पर लेशमात्र भी कर्मकी वह निर्जरा नहीं करता ॥७७॥ अब सचित्त त्याग प्रतिमाका वर्णन करते हैं—जो ज्ञानी पुरुष सचित पत्र सचित्त फल, सचित्त छाल, सचित्त मूल, सचित्त कोंपल और सचित्त बीजको नहीं खाता है, वह

जो वज्जेदि सचित्तं दुज्जय जीहा विणिज्जिया तेण ।
दयभावो होदि कओ जिणवयणं पालियं तेण ॥८०
जो चउविहं पि भोज्जं रयणीए णेव भुंजदे णाणी ।
ण य भुंजावदि अण्णं णिसिविरओ सो हवे भोज्जो ॥८१
जो णिसिभुत्तिं वज्जदि सो उववासं करेदि छम्मासं । संवच्छरस्स मज्झे आरंभं चयदि रयणीए ॥८२
सव्वेसिं इत्थीणं जो अहिलासं ण कुव्वदे णाणी । मण-वाया-काएण य बंभवई सो हवे सदओ ॥८३
जो कय-कारय-मोयण-मण-वय-काएण मेहुणं चयदि । बंभपवज्जारूढो बंभवई सो हवे सदओ ॥८४
जो आरंभं ण कुणदि अण्णं कारयदि णेव अणुमण्णे । हिंसासंतट्ठमणो चत्तारंभो हवे सो हु ॥८५
जो परिवज्जइ गंथं अब्भंतर बाहिरं च साणंदो । पावं ति मण्णमाणो णिग्गंथो सो हवे णाणी ॥८६
बाहिरगंथविहीणा दलिद्दमणुवा सहावदो होंति । अब्भंतरगंथं पुण ण सक्कदे को वि छंडेदुं ॥८७
जो अणुमणणं ण कुणदि गिहत्थकज्जेसु पावमूलेसु । भवियव्वं भावंतो अणुमणविरओ हवे सो दु॥८८
जो पुण चिंतदि कज्जं सुहासुहं राय-दोससंजुत्तो । उवओगेण विहीणं स कुणदि पावं विणा कज्जं॥८९

सचित्तविरत प्रतिमाधारी श्रावक है । जो पुरुष जिस सचित्त वस्तुको स्वयं नहीं खाता है, उसे दूसरे को खानेके लिए देना योग्य नहीं है । क्योंकि खाने और खिलानेमें कोई अन्तर नहीं है ॥ ७८–७९ ॥ जिस पुरुषने सचित्त वस्तुके खानेका त्याग कर दिया है, उसने अपनी दुर्जय जिह्वाको जीत लिया है । उसने दयाभाव भी प्रकट किया और जिनेन्द्रदेवके वचनोंका भी पालन किया है ॥ ८० ॥ अब रात्रिभोजनत्यागप्रतिमाका वर्णन करते हैं—जो ज्ञानी पुरुष खाद्य (दाल-भात आदि) स्वाद्य (मिठाई आदि) लेह्य (अवलेह चटनी आदि) और पेय (पानी दूध आदि) इन चारों ही प्रकारके भोजनको रात्रिमें न स्वयं खाता है और न दूसरोंको खिलाता है, वह रात्रिभोजनविरतप्रतिमाधारी श्रावक है ॥ ८१ ॥ जो पुरुष रात्रि-भोजनका त्याग करता है, वह एक वर्षमे छह मास उपवास करता है क्योंकि वह रात्रिमें आरम्भका त्याग करता है ॥ ८२ ॥ अब ब्रह्मचर्यप्रतिमाका वर्णन करते हैं—जो ज्ञानी श्रावक मन, वचन और कायसे सभी प्रकारकी स्त्रियोंकी अभिलाषा नहीं करता, वह दयालु ब्रह्मचर्यव्रतका धारक है ॥ ८३ ॥ जो कृत कारित अनुमोदना, मन-वचन और कायसे मैथुन-सेवन छोड़ता है, वह ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्यप्रतिमारूढ़ दयालु श्रावक है ॥ ८४ ॥ भावार्थ—उक्त दोनों ही गाथाओंमें 'सदय' पद प्रयुक्त हुआ है, जिसका अभिप्राय यह है कि स्त्रीका सेवन करनेवाला पुरुष स्त्रीकी योनिमें उत्पन्न होनेवाले असंख्य सूक्ष्म त्रस-जन्तुओंका घात करता है और स्त्री-सेवनका त्यागी उनकी रक्षा करता है, अतः वह दयालु है । अब आरम्भत्याग प्रतिमाका वर्णन करते हैं—हिंसासे दुखित मनवाला जो श्रावक कृषि, व्यापारादि आरम्भ कार्यको न स्वयं करता है, न औरसे कराता है और न आरम्भ करनेवालोंको अनुमोदना ही करता है, वह आरम्भ त्याग प्रतिमाधारी श्रावक है ॥ ८५ ॥ अब परिग्रहत्यागप्रतिमाका वर्णन करते हैं—जो ज्ञानी पुरुष बाहिरी और भीतरी परिग्रहको पाप मानता हुआ प्रसन्नता पूर्वक उसे छोड़ता है, वह निर्ग्रन्थ परिग्रह-त्यागी है ॥ ८६ ॥ क्योंकि दरिद्र मनुष्य तो स्वभावसे ही बाहिरी परिग्रहसे रहित होते हैं । किन्तु भीतरी परिग्रहको छोड़नेके लिए कोई भी समर्थ नहीं होता है ॥८७॥ अब अनुमतित्यागप्रतिमाका वर्णन करते हैं—जो पुरुष पापमूलक गृहस्थीके कार्योंकी अनुमोदना नहीं करता है, किन्तु पुत्र-पौत्रादिका भविष्य उनके भवितव्यके अधीन है. ऐसी भावना करता हुआ गृहकार्योंसे उदासीन रहता है, वह अनुमति विरत प्रतिमाधारी है ॥ ८८ ॥ जो पुरुष राग-द्वेषसे संयुक्त होकर अपने उपयोग या प्रयोजनसे रहित शुभ-

जो णवकोडिविसुद्धं भिक्खायरणेण भुंजदे भोज्जं । जायणरहियं जोग्गं उद्दिट्ठाहार विरदो सो ॥९०
जो सावयवयसुद्धो अंते आराहणं परं कुणदि । सो अच्चुदम्हि सग्गे इंदो सुर-सेविदो होदि ॥९१

—:०:—

अशुभ कार्योका चिन्तवन करता है, वह कार्यके विना ही पापका संचय करता है ॥८९॥ अब उद्दिष्ट-त्यागप्रतिमाका वर्णन करते हैं—जो श्रावक (गृह-वास छोड़कर) भिक्षावृत्तिसे याचना-रहित, नव-कोटिसे विशुद्ध योग्य आहारको खाता है, वह उद्दिष्टाहार-विरत प्रतिमाका धारक है ॥ ९० ॥

अब आचार्य श्रावकधर्मके वर्णनका उपसंहार करते हुए अन्तिम सल्लेखना और उसके फलका वर्णन करते हैं—इस प्रकार जो पुरुष श्रावकके उपर्युक्त व्रतोंको अतीचार-रहित शुद्ध पालन करता हुआ जीवनके अन्तमें परम आराधना अर्थात् सल्लेखनाको धारण कर मरण करता है, वह अच्युत स्वर्गमें देवोंसे सेवित इन्द्र होता ॥ ९१ ॥

इस प्रकार स्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षा गत श्रावकधर्मका वर्णन समाप्त हुआ ।

महापुराणान्तर्गत-अष्टत्रिंशत्तमं पर्व

जयन्त्यखिलवाङ्मार्गगामिन्यः सूक्तयोऽर्हताम्, धूतान्धतमसा दीप्रा यास्त्विषोंऽशुमतामिव ॥१
सजीयाद्वृषभो मोहविषसुप्तमिदं जगात् । पटविद्येव यद्विद्या सद्यः समुदतिष्ठपत् ॥२
तं नत्वा परमं ज्योतिर्वृषभं वीरमन्वतः । द्विजन्मनामथोत्पत्तिं वक्ष्ये श्रेणिक भोः शृणु ॥३
भरतो भारतं वर्षं निर्जित्य सह पार्थिवैः । षष्ट्या वर्षसहस्रैस्तु दिशां निववृते जयात् ॥४
कृतकृत्यस्य तस्यान्तश्चिन्तेयमुदपद्यत । परार्थे सम्पदास्माकी सोपयोगा कथं भवेत् ॥५॥
महामहमहं कृत्वा जिनेन्द्रस्य महोदयम् । प्रीणयामि जगद्विश्वं विष्वक् विश्राणयन् धनम् ॥६
नानगारा वसून्यस्मत् प्रतिगृह्णन्ति निःस्पृहाः । सागारः कतमः पूज्यो धनधान्यसमृद्धिभिः ॥७
येऽणुव्रतधरा धीरा धौरेया गृहमेधिनाम् । तर्पणीयाहि तेऽस्माभिरीप्सितैर्वसुवाहनैः ॥८
इति निश्चित्य राजेन्द्रः सत्कर्तुमुचितानिमान् । परीचिक्षिपुराह्वास्त तदा सर्वान् महीभुजः ॥९
सदाचारैं निजैरिष्टैः अनुजीविभिरन्विताः । अद्यास्मदुत्सवे यूयं आयातेति पृथक् पृथक् ॥१०
हरितैरङ्कुरैः पुष्पैः फलैश्चाकीर्णमङ्गणम् । सम्राडचीकरत्तेषां परीक्षायै स्ववेश्मनि ॥११

समस्त भाषाओंमें परिणत होनेवाली, अज्ञानरूप गाढ़ अन्धकारका नाश करनेवाली और सूर्यकी किरणोंके समान उज्ज्वल प्रकाशवाली अर्हन्त भगवन्तों की सूक्तियाँ सदा जयवन्त रहें ॥१॥ मोह रूपी विषसे सुप्त (व्याप्त) इस समस्त जगत्को गारुडी विद्याके समान जिनकी विद्याने अति-शीघ्र जगाकर सावधान और स्वस्थ कर दिया, वे वृषभ भगवान् सर्वदा जयशील रहें ॥ २ ॥ गौतम स्वामी राजा श्रेणिकको सम्बोधन करते हुए कहते हैं कि हे श्रेणिक, मैं उन परम ज्योति वाले ऋषभ देवको तथा वीरनाथको नमस्कार कर अब द्विजन्मा ब्राह्मणों की उत्पत्तिकी कहूंगा, सो तू सावधान होकर सुन ॥ ३ ॥ ऋषभदेवके ज्येष्ठ पुत्र आदि चक्रवर्ती भरत महाराज राजाओंके साथ ही इस भारतवर्षको जीतकर साठ हजार वर्षमें दिग्विजय करके वापिस अयोध्याको लौटे ॥ ४ ॥ जब वे करनेके योग्य सभी राज-कार्योंको कर चुके, तब उनके हृदयमें यह चिन्ता उत्पन्न हुई कि दूसरोंके उपकारमें हमारी इस सम्पदाका सदुपयोग कैसे होवे ॥५॥ उनके चित्तमें विचार आया कि मैं जिनेद्र देवकी महान् उदयवाली 'महामह' नामक पूजा को करके और सर्व जगत्को अपना यह धन देता हुआ उसे प्रसन्न करूँ ॥ ६ ॥ परिग्रहकी इच्छा रहित निर्ग्रन्थ मुनिजन तो हम गृहस्थों से धन लेते नहीं हैं । फिर कौन सा सागार (गृहस्थ) धन-धान्यरूप समृद्धिके द्वारा पूज्य हैं ॥ ७ ॥ तब भरतके मनमें विचार उचित उदित हुआ कि जो मनुष्य अणुव्रतोंके धारक हैं, धीर वीर हैं, और गृहस्थोंमें अग्रणी या प्रमुख हैं, ऐसे पुरुष ही हमारे द्वारा अभीष्ट धन और वाहनों (गज-अश्वादि) के द्वारा दान देकर सन्तुष्ट करनेके योग्य हैं ॥ ८ ॥ इस प्रकार निश्चयकर परीक्षा करनेके इच्छुक भरतराज ने सत्कार करनेके योग्य उन गृहस्थोंको तथा सभी राजाओं को उस समय बुलवाया ॥ ९ ॥ और सबको यह सन्देश भेजा कि आपलोग अपने सदाचारी इष्ट बन्धुओं और परिजनोंके साथ आज हमारे उत्सवमें पृथक्-पृथक् आवें ॥ १० ॥ इधर सम्राट् भरतने उन लोगोंकी परीक्षाके लिए अपने राज-भवनके आंगनको हरे दूर्वा-अंकुरोंसे, पुष्पों और फलोंसे व्याप्त करा दिया ॥११॥ उन आमंत्रित व्यक्ति

तेष्वव्रता विना सङ्गात् प्राविक्षन् नृपमन्दिरम् । तानेकतःसमुत्सार्य शेषानाह्वययत् प्रभुः ॥१२
ते तु स्वव्रतसिद्धयर्थमीहमाना महान्वयाः । नैषुः प्रवेशनं तावद् यावदार्द्राङ्कुराः पथि ॥१३
सधान्यैर्हरितैः कीर्णमनाक्रम्य नृपाङ्गणम् । निश्चक्रमुः कृपालुत्वात् केचित् सावद्यभीरवः ॥१४
कृतानुबन्धना भूयश्चक्रिणः किल तेऽन्तिकम् । प्रासुकेन पथाऽन्येन भेजुःक्रान्त्वा नृपाङ्गणम् ॥१५
प्राक् केन हेतुना यूय नायाता पुनरागताः । केन ब्रूतेति पृष्टास्ते प्रत्यभाषन्त चक्रिणम् ॥१६
प्रवालपत्रपुष्पादेः पर्वणि व्यपरोपणम् । न कल्पतेऽद्य तज्जानां जन्तूनां नोऽनभिद्रुहाम् ॥१७
सन्त्येवानन्तशो जीवा हरितेष्वङ्कुरादिषु । निगोता इति सार्वज्ञं देवास्माभिः श्रुतं वचः ॥१८
तस्मान्नास्माभिराक्रान्तमद्यत्वे त्वद्-गृहाङ्गणम् । कृतोपहारमार्द्रैः फलपुष्पाङ्कुरादिभिः ॥१९
इति तद्वचनात् सर्वान् सोऽभिनन्द्य दृढव्रतान् । पूजयामास लक्ष्मीवान् दानमानादिसत्कृतैः ॥२०
तेषां कृतानि चिह्नानि सूत्रैः पद्माह्वयान्निधेः । उपात्तै र्ब्रह्मसूत्राह्वैरेकाद्येकादशान्तकैः ॥२१
गुणभूमिकृताद् भेदात् क्लृप्तयज्ञोपवीतिनाम् । सत्कारः क्रियते स्मैषामव्रताश्च बहिःकृताः ॥२२
अथ ते कृतसन्मानाः चक्रिणा व्रतधारिणः । भजन्तिस्म परं दार्ढ्यं लोकश्चैनानपूजयत् ॥२३
इज्यां वार्ता च दत्तिं च स्वाध्यायं संयमं तपः । श्रुतोपासकसूत्रत्वात् स तेभ्यः समुपादिशत् ॥२४

योंमें जो अव्रती थे, वे लोग किसी प्रकारका विचार किये विना राज-मन्दिर प्रविष्ट हो गये । तब भरत नरेशने उन्हें एक ओर हटा कर बाहिर खड़े हुए शेष लोगोंको बुलवाया ॥ १२ ॥ किन्तु उत्तम वंशवाले और अपने अहिंसाव्रतकी सिद्धि या सुरक्षा के इच्छुक उच्चकुलीन लोगोंने जब तक आनेके मार्गमें जलसे गीले और हरे अंकुर विद्यमान हैं, तब तक राज-मन्दिरमें प्रवेश करनेकी इच्छा नहीं की ॥ १३ ॥ और दयालु होनेसे कितने ही पाप-भीरू लोग हरे धान्योंसे व्याप्त राजभवनके आँगन का उल्लंघन किये विना ही वापिस लौट गये ॥ १४ ॥ पुनः भरतराजके द्वारा बहुत अनुनय-विनय किये जाने पर वापिस लौटे हुए वे लोग दूसरे प्रासुक (जीव-रहित अचित्त) मार्गसे राजाङ्गणका उल्लंघन कर चक्रवर्ती भरतके समीप पहुंचे ॥१५॥ तब चक्रवर्तीने उन लोगोंसे पूछा कि आप लोग पहले किस कारणसे नहीं आये थे और पुनः किस कारणसे आये ? तब उन लोगोंने चक्रवर्तीसे कहा ॥१६॥ आज पर्वके दिन हम लोग प्रवाल, पत्र, पुष्पादिक की, तथा उनमें उत्पन्न हुए और हमारा कुछ भी विघात नहीं करनेवाले जन्तुओंकी हिंसा नहीं करते हैं ॥ १७ ॥ हे देव, 'हरित अंकुरादिकमें अनन्त निगोदिया जीव होते हैं' ऐसा सर्वज्ञोक्त वचन हम लोगोंने सुना है ॥ १८ ॥ इसलिए अत्यन्त गीले फल, फूल और अंकुरादिसे शोभायमान किये गये आपके गृहाङ्गणको आज पर्व के दिन हम लोगोंने उल्लंघन नहीं किया है ॥१९॥ इस प्रकार उनके वचनोंसे प्रसन्न हुए उस श्रीमान् भरतराजने दान, मानादि सत्कारोंसे अभिनन्दन कर उन दृढ़व्रती लोगोंकी पूजा की ॥ २० ॥ तथा पद्म नामक निधिसे व्रत-चिह्न स्वरूप ब्रह्म सूत्र नामक सूत्रसे प्रथम प्रतिमाका आदि लेकर ग्यारहवीं प्रतिमा तक के श्रावकोंके एकको आदि लेकर ग्यारह तककी संख्यामें व्रत-परिचायक चिह्न किये । अर्थात् जो श्रावक जितनी प्रतिमाओंका धारक था, उसे उतने ही ब्रह्मसूत्र पहनाये ॥ २१ ॥ इस प्रकार श्रावक व्रतरूप गुणोंकी प्रतिमारूप भूमिके आधारके भेदसे उन व्रती श्रावकोंको यज्ञोपवीत पहनाकर चक्रवर्ती ने उनका सत्कार किया और जो अव्रती लोग थे, उन्हें बाहिर निकाल दिया ॥ २२ ॥ अथानन्तर चक्रवर्तीके द्वारा सन्मानको प्राप्त हुए वे व्रत-धारी लोग अपने अपने व्रतोंका और भी दृढ़ता से पालन करने लगे और अन्य लोग उनका आदर-सत्कार करने लगे ॥ २३ ॥ भरतराजने उपास-

कुलधर्मोऽयमित्येषामर्हत्पूजादिवर्णनम् । तदा भरतराजर्षिरन्वबोचदनुक्रमात् ॥२५
प्रोक्ता पूजार्हतामिज्या सा चतुर्धा सदार्चनम् । चतुर्मुखमहः कल्पद्रुमाख्याष्टाह्निकोपि च ॥२६
तत्र नित्यमहो नाम शश्वज्जिनगृहं प्रति । स्वगृहान्नीयमानाऽर्चा गन्धपुष्पाक्षतादिका ॥२७
चैत्यचैत्यालयादीनां भक्त्या निर्मापणं च यत् । शासनीकृत्य दानं च ग्रामादीनां सदार्चनम् ॥२८
याच पूजा मुनीन्द्राणां नित्यदानानुषङ्गिणी । स च नित्यमहो ज्ञेयो यथाशक्त्युपकल्पितः ॥२९
महामुकुटबद्धैश्च क्रियमाणो महामहः । चतुर्मुखः स विज्ञेयः सर्वतोभद्र इत्यपि ॥३०
दत्वा किमिच्छकं दानं सम्राड्भिर्यः प्रवर्त्यते । कल्पद्रुममहः सोऽयं जगदाशाप्रपूरणः ॥३१
आष्टाह्निको महः सार्वजनिको रूढ एव सः । महानैन्द्रध्वजोऽन्यस्तु सुरराजैः कृतो महः ॥३२
बलिस्नपनमित्यन्यस्त्रिसन्ध्यासेवया समम् । उक्तेष्वेव विकल्पेषु ज्ञेयमन्यच्च तादृशम् ॥३३
एवंविधविधानेन या महेज्या जिनेशिनाम् । विधिज्ञास्तामुशन्तीज्यां वृत्तिं प्राथमकल्पिकीम् ॥३४
वार्ता विशुद्धवृत्या स्यात् कृष्यादीनामनुष्ठितिः । चतुर्धा वर्णिता दत्तिः दया-पात्र-समान्वये ॥३५

काध्ययन नामक सातवें अंगसे उन व्रती लोगोंके लिए इज्या (पूज्या) वार्त्ता, दत्ति (दान) स्वाध्याय, संयम और तपका उपदेश दिया ॥ २४ ॥ पूजा आदि षट्कर्मोका पालन करना इन गृहस्थोंका कुलधर्म है, ऐसा विचार कर भरतराजर्षिने उस समय उन व्रती गृहस्थोंके लिए अनुक्रमसे अर्हत्पूजा आदि षट्कर्त्तव्योंका उपदेश दिया ॥ २५ ॥ भरतने बताया कि उपासकाध्ययन सूत्रमें अर्हन्तदेवकी पूजा चार प्रकारकी कही गई है—नित्यमह (सदार्पण), चतुर्मुख मह, कल्पद्रुम और आष्टाह्निक पूजा ॥२६॥ उनमेंसे प्रतिदिन अपने गृहसे जिनालयमें ले जाये गये गन्ध पुष्प, अक्षत आदिके द्वारा जिन भगवानकी पूजा करना नित्यमह कहलाता है ॥ २७ ॥ अथवा भक्तिसे जिन-बिम्ब और जिनालय आदिका निर्माण कराना, तथा उनके संरक्षणके लिए ग्राम आदिका राज्यशासनके अनुसार पंजीकरण करा करके दान देना भी नित्यमह कहलाता है ॥ २८ ॥ तथा अपनी शक्तिके अनुसार मुनीश्वरोंकी नित्य आहारादि दान देनेके साथ जो पूजाकी जाती है, वह भी नित्यमह जानना चाहिए ॥ २९ ॥ महामुकुटबद्ध राजाओंके द्वाराकी जानेवाली महापूजाको महामह कहते हैं । उसीके चतुर्मुख और सर्वतोभद्र नाम भी जानना चाहिए ॥ ३० ॥ चक्रवर्तियोंके द्वारा 'तुम लोग क्या चाहते हो' इस प्रकार अर्थी या याचक जनोंसे पूछ पूछ कर जगत्को आशाको पूर्ण करने वाला जो किमिच्छक दान दिया जाता है वह कल्पद्रुममह या कल्पवृक्षयज्ञ कहलाता है ॥ ३१ ॥ अष्टाह्निका पर्व में सर्व साधारण जनोंके द्वारा किया जानेवाला पूजन आष्टाह्निक मह कहलाता है, जो कि संसारमें प्रसिद्ध है । इन चार प्रकारके महों (पूजनों) के सिवाय इन्द्रोंके द्वारा की जानेवाली महान् पूजनको इन्द्रध्वजमह कहते हैं । (आजके युगमें प्रतिमाकी प्रतिष्ठाके निमित्त प्रतिष्ठाकारकोंके द्वारा जो पंचकल्याणक पूजन की जाती है उसे भी इन्द्रध्वज मह जानना चाहिए ।) ॥ ३२ ॥ इनके अतिरिक्त जो बलि (नैवेद्य) चढ़ाना, अभिषेक करना, आरती करना आदि कार्य तीनों संन्ध्याकालोंमें की जाने वाली सेवा-उपासनाके साथ किये जाते हैं, तथा इसी प्रकारके अन्य जो भी पूजा-आराधनाके कार्य गृहस्थों द्वारा प्रति दिन किये जाते हैं, उन सबको उपर्युक्त पूजनके भेदों में ही अन्तर्गत जानना चाहिए ॥ ३३ ॥ इस प्रकारके विधि-विधानसे जिनेन्द्रदेवकी जो महापूजाकी जाती है, उसे विधिवेत्ता आचार्य श्रावकके षट्कर्त्तव्योंमें सर्वप्रथमकी जानेवाली इज्या वृत्ति कहते हैं ॥ ३४ ॥ विशुद्ध प्रवृत्तिके साथ कृषि आदिक आजीविकाका अनुष्ठान करना वार्ता नामक गृहस्थका दूसरा कर्त्तव्य है । श्रावकका तीसरा कर्त्तव्य दत्ति अर्थात् दान देना है । वह दयादत्ति, पात्रदत्ति सम और अन्वयदत्ति

सानुकम्पमनुग्राह्ये प्राणिवृन्देऽभयप्रदा। त्रिशुद्ध्यनुगता सेयं दयादत्तिर्मता बुधैः ॥३६
महातपोधनायार्चा-प्रतिग्रहपुरःसरम्। प्रदानमशनादीनां पात्रदानं तदिष्यते ॥३७
समानायात्मनाऽन्यस्मै क्रियामन्त्रव्रतादिभिः। निस्तारकोत्तमायेह भूहेमाद्यतिसर्जनम् ॥३८
समानदत्तिरेषा स्यात् पात्रे मध्यमतामिते। समानप्रतिपत्त्यैव प्रवृत्ता श्रद्धयाऽन्विता ॥३९
आत्मान्वयप्रतिष्ठार्थं सूनवे यदशेषतः। समं समयवित्ताभ्यां स्ववर्गस्यातिसर्जनम् ॥४०
सैषा सकलदत्तिः स्यात् स्वाध्यायः श्रुतभावना। तपोऽनशनवृत्त्यादि संयमो व्रतधारणम् ॥४१
विशुद्धा वृत्तिरेषैषां षट्तयीष्टा द्विजन्मनाम्। योऽतिक्रामेदिमां सोऽज्ञो नाम्नैव न गुणै[1]द्विजः ॥४२
तपःश्रुतञ्च जातिश्च त्रयं ब्राह्मण्यकारणम्। तपश्रुताभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एव सः ॥४३
अपापोपहता वृत्तिः स्यादेषां जातिरुत्तमा। दत्तीज्याधीतिमुख्यत्वाद् व्रतशुद्ध्या सुसंस्कृता ॥४४
मनुष्यजातिरेकैव जातिनामोदयोद्भवा। वृत्तिभेदाहिताद्भेदाच्चातुर्विध्यमिहाश्नुते ॥४५

ब्राह्मणा व्रतसंस्कारात् क्षत्रियाः शस्त्रधारणात्।
वणिजोऽर्थार्जनान्न्याय्यात् शूद्रा न्यग्वृत्तिसंश्रयात् ॥४६

तपः श्रुताभ्यामेवातो जातिसंस्कार इष्यते। असंस्कृतस्तु यस्ताभ्यां जातिमात्रेण स द्विजः ॥४७

के भेदसे चार प्रकारकी वर्णन की गई है ॥ ३५ ॥ अनुग्रह करनेके योग्य-दयाके पात्र दीन प्राणिसमुदाय पर मन, वचन, कायकी निर्मलताके साथ अनुकम्पा पूर्वक उनके भय दूर करनेको विद्वान लोगों ने दयादत्ति कहा है ॥ ३६ ॥ महान् तपस्वी साधुजनोंके लिए प्रतिग्रह (पडिगाहन) आदि नवधा भक्ति पूर्वक आहार, औषध आदिका देना पात्रदत्ति कही जाती है ॥ ३७ ॥ क्रिया, मंत्र और व्रत आदिसे जो अपने समान है, ऐसे अन्य साधर्मी बन्धुके लिए और संसार-तारक उत्तम गृहस्थके लिए भूमि, सुवर्ण आदि देना समदत्ति है। तथा मध्यमपात्रमें समान सम्मानकी भावनाके साथ श्रद्धासे युक्त जो दान दिया जाता है, वह भी समानदत्ति है ॥ ३८-३९ ॥ अपने वंशको स्थिर रखनेके लिए पुत्रको कुलधर्म और धनके साथ जो कुटुम्ब-रक्षाका भार पूर्ण रूपसे समर्पण किया जाता है, उसे सकलदत्ति कहते हैं। श्रुतज्ञानकी भावना करना, अर्थात् शास्त्रोंका मनन-चिन्तन और पठन-पाठनादि करना स्वाध्याय कहलाता है। उपवास आदि करना तप है और व्रत-धारण करनेको संयम कहते हैं।४०-४१। यह ऊपर कही गयी छह प्रकारकी विशुद्ध वृत्ति द्विजन्मा-ब्रह्मसूत्रधारी गृहस्थोंको करना चाहिये। जो इनका उल्लंघन करे, वह अज्ञानी नामसे ही द्विज है, गुणोंसे द्विज नहीं समझना चाहिये ॥४२॥ तप, श्रुत और जाति ये तीन द्विज या ब्राह्मणपनेके कारण हैं। जो गृहस्थ तप और श्रुतसे रहित हैं, वह केवल जातिसे ब्राह्मण हैं। गुण या कर्मसे नहीं, ऐसा समझना चाहिये ॥ ४३ ॥ इन द्विजन्मा ब्राह्मणोंकी वृत्ति पापसे रहित है। इसलिए इनकी जाति उत्तम कहलाती है। तथा दान,पूजन,अध्ययन आदि कार्योंकी मुख्यतासे व्रतोंकी शुद्धि होनेके कारण वह ब्राह्मण जाति और भी सुसंस्कृत हो गई है, अर्थात् अच्छे संस्कारवाली बन गई है ॥ ४४ ॥ यद्यपि मनुष्यजातिनामक नामकार्यके उदयसे उत्पन्न हुई यह मनुष्य जाति एक ही है, तथापि आजीविकाके भेदसे प्राप्त हुई विभिन्नताके कारण वह संसारमें चार भेदोंको प्राप्त हो गई है ॥४५॥ व्रतोंके संस्कारसे ब्राह्मण, शास्त्रोंके धारण करनेसे क्षत्रिय, न्याय-पूर्वक अर्थके उपार्जन करनेसे वैश्य और निम्न वृत्तिका आश्रय लेनेसे मनुष्य शूद्र कहलाते हैं ॥४६॥ अतएव द्विजोंका जातिसंस्कार तप और श्रुतके अभ्याससे ही माना जाता है। जो द्विज इन दोनोंसे

१. ल० अ० गुणैर्द्विजः।

द्विर्जातो हि द्विजन्मेष्टः क्रियातो गर्भतश्च यः । क्रियामन्त्रविहीनस्तु केवलं नाम धारकः ॥४८
तदेषां जातिसंस्कारं द्रढयन्निति सोऽधिराट् । संप्रोवाच द्विजन्मभ्यः क्रियाभेदानशेषतः ॥४९
ताश्च क्रियास्त्रिधाऽऽम्नाताः श्रावकाध्यायसङ्ग्रहे । सद्दृष्टिभिरनुष्ठेया महोदर्काः शुभावहाः ॥५०
गर्भान्वयक्रियाश्चैव तथा दीक्षान्वयक्रियाः । कर्त्रन्वयक्रियाश्चेति तास्त्रिधैवं बुधैर्मताः ॥५१
आधानाद्यास्त्रिपञ्चाशत् ज्ञेया गर्भान्वयक्रियाः । चत्वारिंशदथाष्टौ च स्मृता दीक्षान्वयक्रियाः ॥५२
कर्त्रन्वयाक्रियाश्चैव सप्त तज्ज्ञैः समुच्चिताः । तासां यथाक्रमं नामनिर्देशोऽयमनूद्यते ॥५३
अङ्गानां सप्तमादङ्गाद् दुस्तरादर्णवादपि । श्लोकैरष्टाभिरुन्नेष्ये प्राप्तं ज्ञानलवं मया ॥५४
आधानं प्रीतिसुप्रीती धृतिर्मोदः प्रियोद्भवः । नामकर्मबहिर्याननिषद्याः प्राशनं तथा ॥५५
व्युष्टिश्च केशवापश्च लिपिसङ्ख्यानसङ्ग्रहः । उपनीतिर्व्रतं चर्या व्रतावतरणं तथा ॥५६
विवाहो वर्णलाभश्च कुलचर्या गृहीशिता । प्रशान्तिश्च गृहत्यागो दीक्षाद्यं जिनरूपता ॥५७
मौनाध्ययनवृत्तत्वं तीर्थकृत्त्वस्य भावना । गुरुस्थानाभ्युपगमोगणोपग्रहणं तथा ॥५८
स्वगुरुस्थानसंक्रान्तिः निस्सङ्गत्वात्मभावना । योग निर्वाण सम्प्राप्ति, योगनिर्वाण साधनम् ॥५९
इन्द्रोपपादाभिषेकौ विधिदानं सुखोदयः । इन्द्रत्यागावतारौ च हिरण्योत्कृष्टजन्मता ॥६०
मन्दरेन्द्राभिषेकश्च गुरुपूजोपलम्भनम् । यौवराज्यं स्वराज्यं च चक्रलाभो दिशाञ्जयः ॥६१
चक्राभिषेकसाम्राज्ये निष्क्रान्तिर्योगसम्महः । आर्हन्त्यं तद्विहारश्च योगत्यागोऽग्रनिर्वृतिः ॥६२
त्रयः पंचाशदेता हि मता गर्भान्वयक्रियाः । गर्भाधानादिनिर्वाणपर्यन्ताः परमागमे ॥६३

असंस्कृत है, वह जातिमात्रसे द्विज कहलाता है ॥ ४७ ॥ जिसका एक वार गर्भसे और दूसरी वार क्रियाओंके संस्कारसे जिसका जन्म हुआ है, वह द्विज कहलाता है। किन्तु जो क्रिया और मन्त्रसे रहित है, वह तो केवल नामधारक द्विज है, वास्तविक नहीं ॥ ४८ ॥ इसलिए इन द्विजोंके जाति-संस्कारोंको दृढ़ करते हुए उस सम्राट् भरतराजने उन द्विजोंके लिए वक्ष्यमाण प्रकारसे समस्त क्रिया-भेदोंको कहा ॥ ४९ ॥ श्रावकोंके उपासकाध्ययनसूत्रमें वे क्रियाएँ तीन प्रकारकी कही गयी हैं। सम्यग्दृष्टि गृहस्थोंको उन क्रियाओंका अवश्य पालन करना चाहिये, क्योंकि वे क्रियाएँ उत्तम फल-दायिनी और कल्याणकारिणी हैं ॥ ५० ॥ बुद्धिमान् लोगोंने वे क्रियाएँ तीन प्रकारकी कहीं हैं— गर्भान्वयक्रिया, दीक्षान्वयक्रिया और कर्त्रन्वयक्रिया ॥ ५१ ॥ गर्भाधान आदि तिरेपन गर्भान्वय-क्रियाएं जानना चाहिए। तथा दीक्षान्वयक्रियाएँ अड़तालीस मानी गई हैं॥ ५२ ॥ इनके अतिरिक्त क्रियाशास्त्रके वेत्ताओंने कर्त्रन्वयक्रियाएँ समुच्चयरूपसे सात कहीं हैं। अब आगे यथाक्रमसे उन क्रियाओंके भेदोंका नाम निर्देश किया जाता है ॥५३॥ श्रुतज्ञानके बारह अङ्गोंमें समुद्रसे भी दुस्तर सप्तम उपासकाध्ययन अङ्गसे मुझे जो लेशमात्रज्ञान प्राप्त हुआ है, उसके द्वारा मैं आठ श्लोकोंसे उन क्रिया-भेदोंको कहता हूँ—१. गर्भाधान, २. प्रीति, ३. सुप्रीति, ४. धृति, ५. मोद, ६. प्रियोद्भव, ७. नाम-कर्म, ८. बहिर्यान, ९. निषद्या, १०. प्राशन, ११. व्युष्टि, १२. केशवाप, १३. लिपिसंख्यानसंग्रह, १४. उप-नीति, १५. व्रतचर्या, १६. व्रतावतरण, १७. विवाह, १८. वर्णलाभ, १९. कुलचर्या, २०. गृहीशिता, २१. प्रशान्ति, २२. गृहत्याग, २३ दीक्षाद्य, २४. जिनरूपता, २५. मौनाध्ययनवृत्तत्व, २६. तीर्थकृत्वभावना, २७. गुरुस्थानाभ्युपगम, २८. गणोपग्रह, २९. स्वगुरुस्थानसंक्रान्ति, ३०. निःसंगत्वभावना ३१. योगनि-र्वाणसंप्राप्ति, ३२. योगनिर्वाणसाधन, ३३. इन्द्रोपपाद, ३४. अभिषेक, ३५. विधिदान, ३६. सुखोदय, ३७. इन्द्रत्याग, ३८. अवतार, ३९. हिरण्योत्कृष्टजन्मता, ४०. मन्दरेन्द्राभिषेक, ४१. गुरुपूजोपलम्भन, ४२.

अवतारो वृत्तलाभः स्थानलाभो गणग्रहः । पूजाराध्यपुण्ययज्ञौ दृढचर्योपयोगिता ॥६४
इत्युद्दिष्टाभिरष्टाभिरुपनीत्यादयः क्रियाः । चत्वारिंशत्प्रमायुक्ताः ताः स्युर्दीक्षान्वयक्रियाः ॥६५
तास्तु कर्त्रन्वया ज्ञेया याः प्राप्याः पुण्यकर्तृभिः । फलरूपतया वृत्ताः सन्मार्गाराधनस्य वै ॥६६
सज्जातिः सद्गृहित्वं च पारिव्राज्यं सुरेन्द्रता । साम्राज्यं परमार्हन्त्यं परनिर्वाणमित्यपि ॥६७
स्थानान्येतानि सप्त स्युः परमाणि जगत्त्रये । अर्हद्वागमृतास्वादात् प्रतिलभ्यानि देहिनाम् ॥६८
क्रियाकल्पोऽयमाम्नातो बहुभेदो महर्षिभिः । सङ्क्षेपतस्तु तल्लक्ष्म वक्ष्ये सञ्क्षिप्य विस्तरम् ॥६९
आधानं नाम गर्भादौ संस्कारो मंत्रपूर्वकः । पत्नीमृतुमतीं स्नातां पुरस्कृत्यार्हदिज्यया ॥७०
तत्रार्चनाविधौ चक्रत्रयं छत्रत्रयान्वितम् । जिनार्चामभितः स्थाप्यं समं पुण्याग्निभिस्त्रिभिः ॥७१
त्रयोऽग्न्योऽर्हद्गणभृच्छेषकेवलिनिर्वृतौ । ये हुतास्ते प्रणेतव्याः सिद्धार्चावेद्युपाश्रयाः ॥७२
तेष्वर्हदिज्याशेषांशैराहुतिर्मन्त्रपूर्विका । विधेया शुचिभिर्द्रव्यैः पुंस्पुत्रोत्पत्तिकाम्यया ॥७३
तन्मन्त्रास्तु यथाम्नायं वक्ष्यन्तेऽन्यत्र पर्वणि । सप्तधा पीठिकाजातिमन्त्रादिप्रविभागतः ॥७४
विनियोगस्तु सर्वासु क्रियास्वेषां मतो जिनैः । अव्यामोहादतस्तज्ज्ञैः प्रयोज्यास्त उपासकैः ॥७५

यौवराज्य, ४३. स्वराज्य, ४४. चक्रलाभ, ४५. दिग्विजय, ४६. चक्राभिषेक, ४७. साम्राज्य, ४८. निष्क्रान्ति, ४९. योगसम्मह, ५०. आर्हन्त्य, ५१. अर्हद्विहार, ५२. योगत्याग और ५३. अग्रनिर्वृत्ति। इस प्रकार गर्भाधानसे लेकर निर्वाणपर्यन्त तिरेपन क्रियाएँ परमागममें वर्णन की गई हैं ॥ ५४-६३ ॥ १. अवतार, २. वृत्तलाभ, ३. स्थानलाभ, ४. गणग्रह, ५. पूजाराध्य, ६. पुण्ययज्ञ, ७. दृढ़चर्या और ८. उपयोगिता इन आठ क्रियाओंके साथ पूर्वोक्त चौदहवीं उपनीति क्रियासे लेकर तिरेपनवीं निर्वाण क्रिया पर्यन्त चालीस क्रियाएँ मिलाकर कुल अड़तालीस दीक्षान्वय क्रियाएँ होती हैं ॥ ६४-६५ ॥ कर्त्रन्वयक्रियाएँ उन्हें जानना चाहिए जो पुण्यकार्य करनेवाले मनुष्योंको प्राप्त होनेके योग्य हैं और जो निश्चयसे सन्मार्गकी आराधनाके फलरूपसे प्रवृत्त होती हैं ॥ ६६ ॥ वे कर्त्रन्वयक्रियाएँ सात हैं—१. सज्जाति, २. सद्‌गृहित्व, ३. पारिव्राज्य, ४. सुरेन्द्रता, ५. साम्राज्य, ६. परमार्हन्त्य और ७. परमनिर्वाण। ये सातों ही तीनों लोकोंमें परमस्थान माने गये हैं और इनकी प्राप्ति प्राणियोंको अरहन्तदेवकी वाणीरूपी अमृतके आस्वादनसे अर्थात् जिन वाणीके अभ्याससे होती है ॥ ६७-६८ ॥ यद्यपि महान् ऋषियोंने इन सब क्रियाओंका विधान अनेक भेदवाला वर्णन किया है, तथापि मैं विस्तारको छोड़कर संक्षेपसे ही उन क्रियाओंका लक्षण कहूंगा ॥६९॥ रजस्वला पत्नीको चौथे दिन स्नान करके शुद्ध होनेके पश्चात् उसे आगे करके गर्भ-धारण करनेके पूर्व अरहन्तदेवकी पूजाके साथ मन्त्र-पूर्वक जो संस्कार किया जाता है, उसे आधान क्रिया कहते हैं ॥ ७० ॥ इस आधान क्रियाकी पूजामें जिन-प्रतिमाके दायीं ओर तीन चक्र, वायीं ओर तीन छत्र और सामने तीन प्रकारकी पुण्याग्निको स्थापित करे ॥७१॥ तीर्थंकर अर्हन्तदेवके निर्वाण होनेपर गणधर देवोंके निर्वाण होनेपर और सामान्य केवलियोंके निर्वाण होनेपर उनके अन्तिम संस्कारके समय जिन अग्नियोंमें हवन किया गया था उन तीनों पवित्र अग्नियोंको सिद्ध प्रतिमाकी वेदीके समीप तैयार करना चाहिए ॥ ७२ ॥ अर्हन्तदेवकी पूजा करनेके पश्चात् बचे हुए शेष द्रव्यांशसे, तथा अन्य पवित्र द्रव्योंके द्वारा उत्तम पुत्रके उत्पत्तिकी कामनासे मंत्रपूर्वक उक्त तीनों अग्नियोंमें आहुति देना चाहिए ॥७३॥ आहुति देनेके वे मन्त्र आगेके पर्वमें आम्नायके अनुसार कहे जावेंगे। वे पीठिकामन्त्र, जातिमन्त्र आदिके भेदसे सात प्रकारके हैं ॥ ७४ ॥ जिन भगवन्तोंने इन मन्त्रोंका प्रयोग सभी क्रियाओंमें बतलाया है, अतएव उस विषयके

गर्भाधानक्रियामेनां प्रयुज्यादौ यथाविधि। सन्तानार्थं विना रागाद् दम्पतिभ्यान्यवेयताम् ॥७६
(इति गर्भाधानम्)

गर्भाधानात् परं मासे तृतीये सम्प्रवर्तते। प्रीतिर्नाम क्रियाप्रीतैः याऽनुष्ठेया द्विजन्मभिः ॥७७
तत्रापि पूर्ववन्मन्त्रपूर्वा पूजा जिनेशिनाम्। द्वारि तोरणनिन्यासः पूर्णकुम्भौ च सम्मतौ ॥७८
तदादि प्रत्यहं भेरीशब्दो घण्टाध्वनान्वितः। यथाविभवमेवैतैः प्रयोज्यो गृहमेधिभिः ॥७९
(इति प्रीतिः)

आधानात् पंचमे मासि क्रिया सुप्रीतिरिष्यते। या सुप्रीतैः प्रयोक्तव्या परमोपासकव्रतैः ॥८०
तत्राप्युक्तो विधिः पूर्वः सर्वोऽर्हद्‌बिम्बसन्निधौ। कार्यो मन्त्रविधानज्ञैः साक्षीकृत्याग्निदेवताः ॥८१
(इति सुप्रीतिः)

धृतिस्तुसप्तमे मासि कार्या तद्वत् क्रियादरैः। गृहमेधिभिरव्यग्रमनोभिर्गर्भवृद्धये ॥८२ (इति धृतिः)
नवमे मास्यतोऽभ्यर्णे मोदो नाम क्रियाविधिः। तद्वदेवाहृतैः कार्यो गर्भपुष्टयै द्विजोत्तमैः ॥८३
तत्रेष्टो गात्रिकाबन्धो माङ्गल्यं च प्रसाधनम्। रक्षासूत्रविधानं च गर्भिण्या द्विजसत्तमैः ॥८४
(इति मोदः)

प्रियोद्भवः प्रसूतायां जातकर्मविधिः स्मृतः। जिनजातकमाध्याय प्रवर्त्यो यो यथाविधि ॥८५
अवान्तर विशेषोऽत्र क्रियामन्त्रादिलक्षणः। भूयात् समस्त्यसौज्ञेयो मूलोपासकसूत्रतः ॥८६(प्रियोद्भवः)
द्वादशाहात् परं नामकर्म जन्मदिनान्मतम्। अनुकूले सुतस्यास्य पित्रोरपि सुखावहे ॥८७

जाननेवाले श्रावकोंको व्यामोह (हठाग्रह) छोड़कर जिन मन्त्रोंका प्रयोग करना चाहिए ॥ ७५ ॥ इस गर्भाधान क्रियाको पहले विधिपूर्वक करके पीछे स्त्री और पुरुष विषयानुरागके विना केवल सन्तानकी प्राप्तिके लिए समागम करें ॥७६॥ इस यह पहली गर्भाधान क्रिया है। गर्भाधानके पश्चात् तीसरे मासमें प्रीति नामकी क्रिया की जाती है, जो प्रीतिको प्राप्त द्विजोंके द्वारा अनुष्ठान करनेके योग्य है ॥ ७७ ॥ इस क्रियामें भी पहलेके समान मंत्र-पूर्वक जिनेश्वरदेवकी पूजा करना चाहिये, तथा द्वारपर तोरण बाँधना चाहिए और दो जलसे भरे कलश स्थापन करना चाहिए ॥ ७८ ॥ उस दिनसे लेकर इन द्विज गृहस्थोंको प्रतिदिन अपने वैभवके अनुसार घण्टा और नगाड़े बजवाना चाहिये ॥ ७९ ॥ यह दूसरी प्रीतिक्रिया है। गर्भाधानसे पाँचवें मासमें सुप्रीति क्रिया की जाती है। इसे भी अतिप्रीतिको प्राप्त परम श्रावकोंको करना चाहिए ॥८०॥ इस क्रियामें भी पूर्वोक्त सर्वविधि अर्हद्-विम्बके समीप मंत्र-विधानके ज्ञाता गृहस्थोंको अग्नि और देवताकी साक्षी करके करना चाहिए ॥ ८१ ॥ यह तीसरी सुप्रीति क्रिया है। गर्भाधानसे सातवें मासमें आदर पूर्वक स्थिर चित्तवाले गृहस्थोंको पूर्वके समान ही गर्भकी वृद्धिके लिए धृति नामकी क्रिया करना चाहिए ॥ ८२ ॥ यह चौथी धृतिक्रिया है। इसके पश्चात् नवम मासके समीप आनेपर मोदनामक क्रियाविधि पूर्वके समान ही आदर युक्त उत्तम द्विज गृहस्थोंको गर्भकी पुष्टिके लिए करना चाहिए ॥८३॥ इस क्रियामें उत्तम द्विजोंको गर्भिणीके शरीरपर गात्रिका वन्ध करना चाहिए, अर्थात् मन्त्र-पूर्वक वीजाक्षर लिखना चाहिये, मंगलाचार करना चाहिए, गर्भिणीको आभूषण पहिराना चाहिए और उसकी रक्षाके लिए रक्षासूत्र बाँधना चाहिए ॥८४॥ यह पाँचवीं मोदक्रिया है। पुत्रके उत्पन्न होनेपर प्रियोद्भव नामकी क्रिया की जाती है। इसे जातकर्म विधि कहते हैं। इस क्रियाको जिन भगवान्‌का जन्मसमय स्मरण कर शास्त्रोक्त विधिसे करना चाहिए ॥८५॥ इस क्रियामें क्रियामंत्र आदि अवान्तर विशेष कार्य बहुत होते हैं, वे सब मूल उपासकाध्ययन. सूत्रसे जानना चाहिये ॥८६॥ यह छठी प्रियोद्भव क्रिया है। पुत्रके

यथाविभवमत्रेष्टं देवर्षिद्विजपूजनम् । शस्तं च नामधेयं तत् स्थाप्यमन्वयवृद्धिकृत् ॥ ८८
अष्टोत्तरसहस्राद्वा जिननामकदम्बकात् । घटपत्रविधानेन ग्राह्यमन्यतमं शुभम् ॥ ८९
(इति नामकर्म)

बहिर्यानं ततोद्वित्रैः मासैस्त्रिचतुरैरुत । यथानुकूलमिष्टेऽन्हि कार्यं तूर्यादिमङ्गलैः ॥ ९०
तत्रप्रभृत्यभीष्टं हि शिशोः प्रसववेश्मनः । बहिः प्रणयनं मात्रा धात्र्युत्सङ्गगतस्य वा ॥ ९१
तत्र बन्धुजनादर्थलाभो यः पारितोषिकः ।
स तस्योत्तरकालेऽर्प्यो धनं पित्र्यं यदाप्स्यति ॥ ९२ ॥ (इति बहिर्यानम्)

ततः परं निषद्यास्य क्रिया बालस्य कल्प्यते । तद्योगेतल्प आस्तीर्णे कृतमङ्गलसन्निधौ ॥ ९३
सिद्धार्चनादिकः सर्वो विधिः पूर्ववदत्र च ।
यतो दिव्यासनार्हत्वमस्य स्यादुत्तरोत्तरम् ॥ ९४ (इति निषिद्या)
गते मासपृथक्त्वे च जन्माद्यस्य यथाक्रमम् ।
अन्नप्राशनमाम्नातं पूजाविधिपुरःसरम् ॥ ९५ (इति अन्नप्राशनम्)

जन्म-दिनसे बारह दिनके बाद जो दिन पुत्रके अनुकूल हो, तथा माता-पिताको सुखदायक हो, उस दिन नामकर्मकी क्रिया की जाती है ॥ ८७ ॥ इस क्रियामें अपने वैभवके अनुसार अरहन्त देव और निर्ग्रन्थ गुरुओंकी पूजा और ब्राह्मणोंका यथोचित सत्कार करना चाहिए । तथा वंशकी वृद्धि करनेवाला कोई सुन्दर नाम बालकका रखना चाहिए ॥ ८८ ॥ अथवा जिनदेवके एक हजार आठ नामोंमेंसे घट-पत्रविधानसे कोई एक शुभ नाम रखना चाहिए ॥ ८९ ॥ भावार्थ-जिनेन्द्र देवके एक हजार आठ नामोंको कागजके अलग अलग टुकड़ों पर अष्टगंध या केशरसे सुवर्ण या अनारकी लेखनीसे लिखकर उनकी गोलियां बना लेवे । पुनः उन्हें एक घटमें भरकर पीत वस्त्र और नारियलसे ढक देवे । तदनन्तर एक कागज पर 'नाम' ऐसा शब्द लिखकर गोली बनावें और एक हजार सात कोरे कागजोंके टुकड़ोंकी भी गोलियाँ बनाकर उन सबको दूसरे घड़ेमें भरकर ढक देवे। तत्पश्चात् किसी छोटे अबोध बालक या बालिकासे दोनों घड़ोंमेंसे एक एक गोली निकलवा लें। जिस नामकी गोलीके साथ 'नाम' लिखी गोली निकले, वही नाम बालकका रखना चाहिए । यह घटपत्रविधि कहलाती है । यह सातवीं नामकर्म संस्कार क्रिया है । तत्पश्चात् दूसरे-तीसरे अथवा तीसरे चौथे मास में किसी शुभदिन तुरही आदि मांगलिक बाजोंको बजवाते हुए अपने अनुकूल वैभवके साथ बहिर्यान क्रिया करना चाहिए ॥ ९० ॥ जिस दिन यह क्रिया की जाय, उसी दिनसे माता अथवा धायकी गोदीमें बैठे हुए बालकका प्रसूतिगृहसे बाहिर ले जाना शास्त्र-सम्मत माना गया है ॥९१॥ इस क्रियाके करते समय उस बालकको बन्धुजनोंसे जो भी पारितोषिक (भेंट) रूपसे धनका लाभ हो, वह सब उसे उस समय समर्पित करना चाहिए, जब कि वह पिताका उत्तराधिकारी बन कर पिता के धनको प्राप्त करे । अर्थात् पिताके गृहवास छोड़ते समय देना चाहिए ॥ ९२ ॥ यह आठवीं बहिर्यानक्रिया है । तदनन्तर उस बालककी निषद्याक्रिया की जाती है । इस क्रियामें अन्य माँगलिक कार्योंके साथ बालकके योग्य बिछायी गयी शय्या पर उसे बैठाया जाता है । इस क्रियामें सिद्ध-पूजनादिक सर्व विधि पूर्वके समान ही करना चाहिए, जिससे कि उस बालकको उत्तरोत्तर दिव्य आसन पर बैठनेकी योग्यता प्राप्त हो ॥९३-९४॥ यह नवीं निषद्याक्रिया है । इस प्रकार यथा क्रमसे जन्म-दिनके पश्चात् सात-आठ मास व्यतीत होने पर जिनेन्द्रदेवकी पूजन आदि विधिपूर्वक बालक-

ततोऽस्य हायने पूर्णे व्युष्टिर्नाम क्रिया मता । वर्षवर्धनपर्यायशब्दवाच्या यथाश्रुतम् ॥ ९६
अत्रापि पूर्ववद्दानं जैनी पूजा च पूर्ववत् ।
इष्टबन्धुसमाह्वानं समाशादिश्च लक्ष्यताम् ॥ ९७ (इति व्युष्टिः)
केशवापस्तु केशानां शुभेऽह्नि व्यपरोपणम् । क्षौरेण कर्मणा देवगुरुपूजापुरःसरम् ॥ ९८
गन्धोदकार्द्रितान् कृत्वा केशान् शेषाक्षतोचितान् ।
मौण्ड्यमस्य विधेयं स्यात् सचूलं स्वाऽन्वयोचितम् ॥ ९९
स्नपनोदकधौताङ्गमनुलिप्तं सभूषणम् । प्रणमय्य मुनीन् पश्चाद् योजयेद् बन्धुनाशिषा ॥ १००
चौलाख्यया प्रतीतेयं कृत पुण्याहमङ्गला ।
क्रियास्यामादृतो लोको यतते परया मुदा ॥ १०१ (इति केशवापः)
ततोऽस्य पञ्चमे वर्षे प्रथमाक्षरदर्शने । ज्ञेयः क्रियाविधिर्नाम्ना लिपिसंख्यानसङ्ग्रहः ॥ १०२
यथाविभवमत्रापि ज्ञेयः पूजापरिच्छदः । उपाध्यायपदे चास्य मतोऽधीती गृहव्रती ॥ १०३
(इति लिपिसङ्ख्यानसङ्ग्रह)
क्रियोपनीतिर्नामास्य वर्षे गर्भाष्टमे मता । यत्रापनीतकेशस्य मौञ्जीसव्रतबन्धना ॥ १०४
कृतार्हत्पूजनस्यास्य मौञ्जीबन्धो जिनालये । गुरुसाक्षि विधातव्यो व्रतार्पणपुरस्सरम् ॥ १०५
शिखी सितांशुकः सान्तर्वासा निर्वेषविक्रियः । व्रतचिह्नं दधत्सूत्रं तदोक्तो ब्रह्मचार्यसौ ॥ १०६

को अन्न खिलाना चाहिए ॥९५॥ यह दशवीं अन्नप्राशन क्रिया है तत्पश्चात् बालकको एक वर्षका होनेपर व्युष्टि नामकी क्रिया की जाती है। इस क्रियाका शास्त्रानुसार दूसरा नाम वर्षवर्धन या वर्षगांठ है ॥ ९६ ॥ इस क्रियामें भी पूर्व क्रियाके समान दान देना चाहिए और पूर्ववत् ही जिनपूजा करना चाहिए। इस समय इष्ट बन्धुओंको बुलाना चाहिए और भोजनादि कराना चाहिए ॥९७॥ यह ग्यारहवीं व्युष्टि क्रिया है। तदनन्तर किसी शुभ दिन देव और गुरुकी पूजा बालकके केशोंका क्षौरकर्मसे अपनयन करावे। यह केशवाप क्रिया कहलाती है ॥ ९८ ॥ इस समय बालकके बालोंको गन्धोदकसे गीला कर और उन पर पूजनसे शेष रहे अक्षतोंको रखकर चोटी-सहित या अपने वंशकी पद्धतिके अनुसार मुंडवाना चाहिए ॥ ९९ ॥ पुनः स्नानके योग्य जलसे उसका शरीर धोवे, चन्दन आदिका लेप करे, भूषण पहिनावे और मुनि जनोंको नमस्कार कराकर पीछे बन्धुजनोंसे आशीष दिलावे ॥१००॥ यह चौलक्रिया नामसे प्रसिद्ध है। इस क्रियामें पुण्याह मंगल किया जाता है और कुटुम्बीजन परम हर्षके साथ आदर पूर्वक इसमें सम्मिलित होते हैं ॥ १०१ ॥ यह बारहवीं केशवाप क्रिया है। तत्पश्चात् पाँचवें वर्षमें बालकको सर्वप्रथम अक्षरोंका दर्शन करानेमें जो क्रियाविधि की जाती है, उसका 'लिपि संख्यान संग्रह' यह नाम जानना चाहिए। इसे करते समय अपनी सामर्थ्यके अनुसार पूजन-दान आदि करना चाहिए और जो अध्ययन करानेमें कुशल गृहस्थ विद्वान् हो, उसे बालकका उपाध्याय नियुक्त करे ॥१०२-१०३॥ यह तेरहवीं लिपिसंख्यान क्रिया है। तदनन्तर गर्भसे आठवें वर्षमें उस बालककी उपनीति (यज्ञोपवीतधारण) क्रिया होती है। इस क्रियामें केशोंका मुण्डन, व्रत-बन्धन और मौंजीबन्धन किया जाता है ॥ १०४ ॥ प्रथम ही बालकको जिनालयमें ले जाकर उससे अरहन्त देवकी पूजन करावे। पुनः गुरुकी साक्षी पूर्वक उसे व्रत दिलाकर मौंजी बंधन करना चाहिए। अर्थात् बालककी कमरमें मूंजकी रस्सी बांधे ॥१०५॥ जो शिखा (चोटी) से युक्त है, श्वेत वस्त्रका धोती और दुपट्टा धारण किये हैं, निर्विकार वेषका धारक है, ऐसा वह बालक

यथाविभवमत्रेष्टं देवर्षिद्विजपूजनम् । शस्तं च नामधेयं तत् स्थाप्यमन्वयवृद्धिकृत् ॥ ८८
अष्टोत्तरसहस्राद्वा जिननामकदम्बकात् । घटपत्रविधानेन ग्राह्यमन्यतमं शुभम् ॥ ८९
(इति नामकर्म)

बहिर्यानं ततोद्वित्रैः मासैस्त्रिचतुरैरुत । यथानुकूलमिष्टेऽन्हि कार्यं तूर्यादिमङ्गलैः ॥ ९०
तत्रप्रभृत्यभीष्टं हि शिशोः प्रसववेश्मनः । बहिः प्रणयनं मात्रा धात्र्युत्सङ्गगतस्य वा ॥ ९१

तत्र बन्धुजनादर्थलाभो यः पारितोषिकः ।
स तस्योत्तरकालेऽर्प्यो धनं पित्र्यं यदाप्स्यति ॥ ९२ ॥ (इति-बहिर्यानम्)

ततः परं निषद्यास्य क्रिया बालस्य कल्प्यते । तद्योगेतल्प आस्तीर्णे कृतमङ्गलसन्निधौ ॥ ९३

सिद्धार्चनादिकः सर्वो विधिः पूर्ववदत्र च ।
यतो दिव्यासनार्हत्वमस्य स्यादुत्तरोत्तरम् ॥ ९४ (इति निषिद्या)
गते मासपृथक्त्वे च जन्माद्यस्य यथाक्रमम् ।
अन्नप्राशनमाम्नातं पूजाविधिपुरःसरम् ॥ ९५ (इति अन्नप्राशनम्)

जन्म-दिनसे बारह दिनके बाद जो दिन पुत्रके अनुकूल हो, तथा माता-पिताको सुखदायक हो, उस दिन नामकर्मकी क्रिया को जाती है ॥ ८७ ॥ इस क्रियामें अपने वैभवके अनुसार अरहन्त देव और निर्ग्रन्थ गुरुओंकी पूजा और ब्राह्मणोंका यथोचित सत्कार करना चाहिए । तथा वंशकी वृद्धि करने-वाला कोई सुन्दर नाम बालकका रखना चाहिए ॥ ८८ ॥ अथवा जिनदेवके एक हजार आठ नामों-मेंसे घट-पत्रविधानसे कोई एक शुभ नाम रखना चाहिए ॥ ८९ ॥ भावार्थ-जिनेन्द्र देवके एक हजार आठ नामोंको कागजके अलग अलग टुकड़ों पर अष्टगंध या केशरसे सुवर्ण या अनारकी लेखनीसे लिखकर उनकी गोलियां बना लेवे । पुनः उन्हें एक घटमें भरकर पीत वस्त्र और नारियलसे ढक देवे । तदनन्तर एक कागज पर 'नाम' ऐसा शब्द लिखकर गोली बनावें और एक हजार सात कोरे कागजोंके टुकड़ोंकी भी गोलियाँ बनाकर उन सबको दूसरे घड़ेमें भरकर ढक देवे। तत्पश्चात् किसी छोटे अबोध बालक या बालिकासे दोनों घड़ोंमेंसे एक एक गोली निकलवा लें। जिस नामकी गोली-के साथ 'नाम' लिखी गोली निकले, वही नाम बालकका रखना चाहिए । यह घटपत्रविधि कह-लाती है । यह सातवीं नामकर्म संस्कार क्रिया है । तत्पश्चात् दूसरे-तीसरे अथवा तीसरे चौथे मास में किसी शुभदिन तुरही आदि मांगलिक बाजोंको बजवाते हुए अपने अनुकूल वैभवके साथ बहिर्यान क्रिया करना चाहिए ॥ ९० ॥ जिस दिन यह क्रिया की जाय, उसी दिनसे माता अथवा धायकी गोदीमें बैठे हुए बालकका प्रसूतिगृहसे बाहिर ले जाना शास्त्र-सम्मत माना गया है ॥९१॥ इस क्रियाके करते समय उस बालकको बन्धुजनोंसे जो भी पारितोपिक (भेंट) रूपसे धनका लाभ हो, वह सब उसे उस समय समर्पित करना चाहिए, जब कि वह पिताका उत्तराधिकारी बन कर पिता के धनको प्राप्त करे । अर्थात् पिताके गृहवास छोड़ते समय देना चाहिए ॥ ९२ ॥ यह आठवीं बहि-र्यानक्रिया है । तदनन्तर उस बालककी निपद्याक्रिया की जाती है । इस क्रियामें अन्य माँगलिक कार्योंके साथ बालकके योग्य बिछायी गयी शय्या पर उसे बैठाया जाता है । इस क्रियामें सिद्ध-पूजनादिक सर्व विधि पूर्वके समान ही करना चाहिए, जिससे कि उस बालकको उत्तरोत्तर दिव्य आसन पर बैठनेकी योग्यता प्राप्त हो ॥९३-९४॥ यह नवीं निपद्याक्रिया है । इस प्रकार यथा क्रमसे जन्म-दिनके पश्चात् सात-आठ मास व्यतीत होने पर जिनेन्द्रदेवकी पूजन आदि विधिपूर्वक बालक-

ततोऽस्य हायने पूर्णे व्युष्टिर्नाम क्रिया मता । वर्षवर्धनपर्यायशब्दवाच्या यथाश्रुतम् ॥ ९६
अत्रापि पूर्ववद्दानं जैनी पूजा च पूर्ववत् ।
इष्टबन्धुसमाह्वानं समाशादिश्च लक्ष्यताम् ॥ ९७ (इति व्युष्टिः)
केशवापस्तु केशानां शुभेऽह्नि व्यपरोपणम् । क्षौरेण कर्मणा देवगुरुपूजापुरःसरम् ॥ ९८
गन्धोदकार्द्रितान् कृत्वा केशान् शेषाक्षतोचितान् ।
मौण्ड्यमस्य विधेयं स्यात् सचूलं स्वाऽन्वयोचितम् ॥ ९९
स्नपनोदकधौताङ्गमनुलिप्तं सभूषणम् । प्रणमय्य मुनीन् पश्चाद् योजयेद् बन्धुताशिषा ॥ १००
चौलाख्यया प्रतीतेयं कृत पुण्याहमङ्गला ।
क्रियास्यामादृतो लोको यतते परया मुदा ॥ १०१ (इति केशवापः)
ततोऽस्य पञ्चमे वर्षे प्रथमाक्षरदर्शने । ज्ञेयः क्रियाविधिर्नाम्ना लिपिसंख्यानसङ्ग्रहः ॥ १०२
यथाविभवमत्रापि ज्ञेयः पूजापरिच्छदः । उपाध्यायपदे चास्य मतोऽधीती गृहव्रती ॥ १०३
(इति लिपिसङ्ख्यानसङ्ग्रह)
क्रियोपनीतिर्नामास्य वर्षे गर्भाष्टमे मता । यत्रापनीतकेशस्य मौञ्जीसव्रतबन्धना ॥ १०४
कृतार्हत्पूजनस्यास्य मौञ्जीबन्धो जिनालये । गुरुसाक्षि विधातव्यो व्रतार्पणपुरस्सरम् ॥ १०५
शिखी सितांशुकः सान्तर्वासा निर्वेषविक्रियः । व्रतचिह्नं दधत्सूत्रं तदोक्तो ब्रह्मचार्यसौ ॥ १०६

को अन्न खिलाना चाहिए ॥९५॥ यह दशवीं अन्नप्राशन क्रिया है तत्पश्चात् बालकको एक वर्षका होनेपर व्युष्टि नामकी क्रिया की जाती है। इस क्रियाका शास्त्रानुसार दूसरा नाम वर्षवर्धन या वर्षगांठ है ॥ ९६ ॥ इस क्रियामें भी पूर्व क्रियाके समान दान देना चाहिए और पूर्ववत् ही जिनपूजा करना चाहिए। इस समय इष्ट बन्धुओंको बुलाना चाहिए और भोजनादि कराना चाहिए ॥९७॥ यह ग्यारहवीं व्युष्टि क्रिया है। तदनन्तर किसी शुभ दिन देव और गुरुकी पूजा बालकके केशोंका क्षौरकर्मसे अपनयन करावे। यह केशवाप क्रिया कहलाती है ॥ ९८ ॥ इस समय बालकके बालोंको गन्धोदकसे गीला कर और उन पर पूजनसे शेष रहे अक्षतोंको रखकर चोटी-सहित या अपने वंशकी पद्धतिके अनुसार मुंडवाना चाहिए ॥ ९९ ॥ पुनः स्नानके योग्य जलसे उसका शरीर धोवे, चन्दन आदिका लेप करे, भूषण पहिनावे और मुनि जनोंको नमस्कार कराकर पीछे बन्धुजनोंसे आशीष दिलावे ॥१००॥ यह चौलक्रिया नामसे प्रसिद्ध है। इस क्रियामें पुण्याह मंगल किया जाता है और कुटुम्बीजन परम हर्षके साथ आदर पूर्वक इसमें सम्मिलित होते हैं ॥ १०१ ॥ यह बारहवीं केशवाप क्रिया है। तत्पश्चात् पाँचवें वर्षमें बालकको सर्वप्रथम अक्षरोंका दर्शन करानेमें जो क्रियाविधि की जाती है, उसका 'लिपि संख्यान संग्रह' यह नाम जानना चाहिए। इसे करते समय अपनी सामर्थ्य-के अनुसार पूजन-दान आदि करना चाहिए और जो अध्ययन करानेमें कुशल गृहस्थ विद्वान् हो, उसे बालकका उपाध्याय नियुक्त करे ॥१०२-१०३॥ यह तेरहवीं लिपिसंख्यान क्रिया है। तदनन्तर गर्भ-से आठवें वर्षमें उस बालककी उपनीति (यज्ञोपवीतधारण) क्रिया होती है। इस क्रियामें केशोंका मुण्डन, व्रत-बन्धन और मौंजीबन्धन किया जाता है ॥ १०४ ॥ प्रथम ही बालकको जिनालयमें ले जाकर उससे अरहन्त देवकी पूजन करावे। पुनः गुरुकी साक्षी पूर्वक उसे व्रत दिलाकर मौंजी बंधन-करना चाहिए। अर्थात् बालककी कमरमें मूंजकी रस्सी बाँधे ॥१०५॥ जो शिखा (चोटी) से युक्त है, श्वेत वस्त्रका धोती और दुपट्टा धारण किये हैं, निर्विकार वेषका धारक है, ऐसा वह बालक

चरणोचितमन्यच्च नामधेयं तदस्य वै। वृत्तिश्च भिक्षयाऽन्यत्र राजन्याद्धवैभवात् ॥१०७
सोऽन्तःपुरे चरेत् पात्र्यां नियोग इति केवलम्। तदग्रं देवसात्कृत्य ततोऽन्नं योग्यमाहरेत् ॥१०८
(इत्युपनीतिः)

व्रतचर्यामतो वक्ष्ये क्रियामस्योपविभ्रतः। कटचुरूरःशिरोलिङ्गमनूचानव्रतोचितम् ॥१०९
कटीलिङ्गं भवेदस्य मौञ्जी बन्ध्यात्त्रिभिर्गुणैः। रत्नत्रितयशुद्ध्यङ्गं तद्धि चिन्हं द्विजात्मनाम् ॥११०
तस्येष्टमूरुलिङ्गं च सुधौतसितशाटकम्। आर्हतानां कुलं पूतं विशालं चेति सूचने ॥ १११
उरोलिङ्गमथास्य स्याद् ग्रथितं सप्तभिर्गुणैः यज्ञोपवीतकं सप्तपरमस्थानसूचकम् ॥ ११२
शिरोलिङ्गञ्च तस्येष्टं परं मौण्डयमनाविलम्। मौण्डयं मनोवचःकायगतमस्योपबृंहयत् ॥ ११३
एवं प्रायेणलिङ्गेन विशुद्धं धारयेद् व्रतम्। स्थूलहिंसाविरत्यादिब्रह्मचर्योपबृंहितम् ॥ ११४
दन्तकाष्ठग्रहो नास्य न ताम्बूलं न चाञ्जनम्। न हरिद्रादिभिः स्नानं शुद्धस्नानं दिनं प्रति ॥११५
न खट्वाशयनं तस्य नान्याङ्गपरिघट्टनम्। भूमौ केवलमेकाकी शयीत व्रतशुद्धये ॥ ११६
यावद् विद्यासमाप्तिः स्यात् तावदस्ये दृशंव्रतम्। ततोऽप्यूर्ध्वं व्रतं तत् स्याद यन्मूलं गृहमेधिनाम् ॥११७
सूत्रमौपासिकं चास्य स्यादध्येयं गुरोर्मुखात्। विनयेन ततोऽन्यच्च शास्त्रमध्यात्मगोचरम् ॥११८

व्रतके चिह्नस्वरूप उस यज्ञोपवीतसूत्रको धारण करता हुआ उस समयसे ब्रह्मचारी कहा जाता है ॥१०६॥ उस समय उसके आचरणके योग्य अन्य भी नाम रखे जा सकते हैं। ऐश्वर्यशाली राजपुत्रों-को छोड़कर शेष सब ब्रह्मचारी भिक्षावृत्तिसे अपना निर्वाह करें। तथा जो राजपुत्र है, वह भी अन्तः-पुरमें जाकर माता आदिसे किसी पात्रमें भिक्षा माँगे, क्योंकि उस समय भिक्षा माँगनेका यह केवल नियोग है। भिक्षामें प्राप्त आहारका मुख्य भाग अरहन्तदेवको समर्पण कर शेष योग्य अन्नका स्वयं आहार करे ॥ १०७–१०८॥ यह चौदहवीं उपनीति क्रिया है। अब ब्रह्मचर्यव्रतके योग्य कटि, जाँघ, वक्षःस्थल और शिरके चिह्नको धारण करनेवाले उस ब्रह्मचारी बालकके धारण करने योग्य व्रत-चर्या नामकी क्रियाको कहते हैं ॥ १०९ ॥ तीन लड़ीवाली मूंजकी रस्सी कमरमें बाँधना कटिचिह्न है। यह मौंजी बन्धन रत्नत्रयकी विशुद्धिका अंग है और द्विज लोगोंका एक चिह्न है ॥११०॥ भली भाँतिसे धुली हुई श्वेत धोती धारण करना जाँघका चिह्न है। यह उज्ज्वल धोती अरहन्त देवोंके पवित्र और विशाल कुलकी सूचक है ॥१११॥ सात लड़का गूँथा हुआ यज्ञोपवीत वक्षःस्थलका चिह्न है। यह यज्ञोपवीत सात परमस्थानोंका सूचक है ॥ ११२ ॥ उस ब्रह्मचारीके शिरका चिह्न स्वच्छ उत्तम मुण्डन है। यह मुण्डन उसके मन, वचन और कायके मुण्डनको अर्थात् विषयोंकी अनासक्ति-को बढ़ानेवाला है ॥ ११३ ॥ प्रायः इस प्रकारके चिह्नोंसे विशुद्ध और ब्रह्मचर्य व्रतसे वृद्धिको प्राप्त हुए ऐसे स्थूलहिंसाविरति आदि अणुव्रत उसे धारण करना चाहिए ॥११४॥ यह ब्रह्मचारी न काठ-की दातुन करे, न ताम्बूल खावे, न आँखोंमें अंजन लगावे और न हल्दी आदिसे स्नान ही करे। किन्तु प्रतिदिन केवल शुद्ध जलसे स्नान करे ॥ ११५ ॥ उसे खाट या पलंग पर नहीं सोना चाहिए, न उसे दूसरेके शरीरसे अपना शरीर ही रगड़ना चाहिए। किन्तु अपने व्रतकी शुद्धिके लिए वह भूमिपर केवल अकेला ही सोवे ॥ ११६ ॥ जब तक इसका विद्याभ्यास सम्पूर्ण न हो, तब तक उसे इस प्रकारके व्रतोंका धारण करना आवश्यक है। विद्याभ्यास समाप्त होनेके पश्चात् उसे गृहस्थोंके वे प्रसिद्ध अष्ट मूलगुण धारण करना चाहिए ॥ ११७ ॥ इस ब्रह्मचारीको सर्वप्रथम गुरुके मुखसे विनयके साथ उपासकाध्ययनसूत्रका अध्ययन करना चाहिए। पुनः अध्यात्म विषयक अन्य भी शास्त्र

शब्दविद्याऽर्थशास्त्रादि चाध्येयं नास्य दुष्यति । सुसंस्कारप्रबोधाय वैयात्यख्यातयेऽपि च ॥११९
ज्योतिर्ज्ञानमथच्छन्दो ज्ञानं ज्ञानं च शाकुनम् । सङ्ख्याज्ञानमितीदं च तेनाध्येयं विशेषतः ॥१२०
(इति व्रतचर्या)

ततोऽस्याधीतविद्यस्य व्रतवृत्त्यवतारणम् । विशेषविषयं तच्च स्थितस्यौत्सर्गिके व्रते ॥ १२१
मधुमांसपरित्यागः पञ्चोदुम्बरवर्जनम् । हिंसादिविरतिश्चास्य व्रतं स्यात् सार्वकालिकम् ॥ १२२ ॥
व्रतावतरणं चेदं गुरुसाक्षी कृतार्चनम् वत्सराद् द्वादशादूर्ध्वमथवा षोडशात् परम् ॥ १२३
कृतद्विजार्चनस्यास्य व्रतावतरणोचितम् । वस्त्राभरणमाल्यादिग्रहणं गुर्वनुज्ञया ॥ १२४
शस्त्रोपजीविवर्ग्यश्चेद् धारयेच्छास्त्रमप्यदः । स्ववृत्तिपरिरक्षार्थं शोभार्थं चास्य तद्ग्रहः ॥ १२५
भोगब्रह्मव्रतादेवमवतीर्णो भवेत्तदा । कामब्रह्मव्रतं त्वस्य तावद्यावत्क्रियोत्तरा ॥ १२६
(इति व्रतावतरणम्)

ततोऽस्य गुर्वनुज्ञानादिष्टा वैवाहिकी क्रिया । वैवाहिके कुले कन्यामुचितां परिणेष्यतः ॥ १२७
सिद्धार्चनविधिंसम्यक् निर्वर्त्य द्विजसत्तमाः । कृताग्नित्रयसम्पूजाः कुर्युस्तत्साक्षितां क्रियाम् ॥१२८
पुण्याश्रमे क्वचित् सिद्धप्रतिमाभिमुखं तयोः । दम्पत्योः परया भूत्या कार्यः पाणिग्रहोत्सवः ॥१२९
वेद्यां प्रणीतसग्नीनां त्रयं द्वयमथैककम् । ततः प्रदक्षिणीकृत्य प्रसज्य विनिवेशनम् ॥१३०

पढ़ना चाहिए ॥११८॥ तत्पश्चात् संस्कारोंको जागृत करनेके लिए तथा विद्वत्ता प्राप्त करनेके लिए शब्द विद्या (व्याकरण) अर्थशास्त्र, न्यायशास्त्र आदिका अध्ययन उसके लिए दोषकारक नहीं है ॥ ११९ ॥ इसके पश्चात् उसे विशेष रूपसे ज्योतिर्ज्ञान, छन्दोज्ञान, शाकुनज्ञान, संख्याज्ञान, बढ़ानेके लिए तद्विषयक शास्त्रोंको भी पढ़ना चाहिए ॥ १२० ॥ यह पन्दरहवीं, व्रतचर्या क्रिया है। विद्याध्ययनके पश्चात् उसके व्रतावरण क्रिया की जाती है। इस क्रियामें वह औत्सर्गिक व्रतरूप मूलगुणोंमें स्थित रहते हुए अध्ययनके समयके लिए हुए विशेष व्रतोंका अवतरण या त्याग कर देता है ॥ १२१ ॥ उस समय उसके मधुत्याग, मांस-परित्याग, पंच उदुम्बर फल-भक्षण-परिहार और हिंसादि पापोंसे विरतिरूप सार्वकालिक औत्सर्गिक व्रत जन्मपर्यन्त रहते हैं ॥ १२२ ॥ यह व्रतावतरणक्रिया गुरुकी साक्षी पूर्वक भगवान्‌की पूजाकर बारह वर्षके बाद अथवा सोलह वर्षके पश्चात् करना चाहिए ॥ १२३ ॥ प्रथम ही द्विजोंका आदर-सत्कार करके व्रतावतरण क्रिया करना उचित है। तत्पश्चात् गुरुकी आज्ञा लेकर वस्त्र-आभूषण और माला आदिको धारण करना चाहिए ॥१२४॥ इसके पश्चात् वह बालक यदि शस्त्रोपजीवी क्षत्रिय वर्गका है, तो अपनी जीविकाकी रक्षाके लिए शस्त्रोंको भी धारण कर सकता है। अथवा केवल शोभाके लिए भी शस्त्र-धारण कर सकता है ॥ १२५ ॥ इस प्रकार इस क्रियाके समय तक भोग-उपभोगके परित्यागके साथ जो ब्रह्मचर्यव्रत ले रखा था, उसका उसके यद्यपि त्याग हो जाता है, तथापि जब तक आगेकी वैवाहिकी क्रिया सम्पन्न नहीं होती है, तब तक उसके विषय-सेवनके त्यागरूप ब्रह्मचर्य व्रत बना रहता हैं ॥ १२६ ॥ यह सोलहवीं व्रतावतरण क्रिया है। तदनन्तर जो विवाह करना चाहता है उसके गुरुकी अनुज्ञा लेकर विवाहके योग्य कुलमें उत्पन्न हुई योग्य कन्याके साथ विवाह करते समय वैवाहिकी क्रिया होती है ॥ १२७ ॥ उत्तम द्विजोंको चाहिए कि वे सर्वप्रथम भली भाँतिसे सिद्ध भगवान्‌की पूजन करके पुनः तीनों अग्नियोंको जतन करके उसकी साक्षीपूर्वक विवाहकी क्रियाको करें ॥१२८॥ किसी पुण्याश्रम या पवित्र स्थानपर सिद्धभगवान्‌की प्रतिमाके सम्मुख उन दम्पति बननेवाले वर-वधूको बड़ी विभूतिके साथ विवाहका उत्सव करना चाहिए ॥ १२९ ॥ विवाहके समय वेदी पर जो तीन, दो

पाणिग्रहणदीक्षायां नियुक्तं तद्वधूवरम् । आसप्ताहं चरेद् ब्रह्मव्रतं देवाग्निसाक्षिकम् ॥१३१
क्रान्त्वा स्वस्योचितां भूमिं तीर्थभूमीर्विहृत्य च । स्वगृहं प्रविशेद् भूत्या परया तद्वधूवरम् ॥१३२
विमुक्तकङ्कणं पश्चाद् स्वगृहे शयनीयकम् । अधिशय्य यथाकालं भोगाङ्गैरुपलालितम् ॥१३३
सन्तानार्थमृतावेव कामसेवां मिथो भजेत् । शक्तिकालव्यपेक्षोऽयं क्रमोऽशक्तेष्वतोऽन्यथा ॥१३४
(इति विवाहक्रिया ।)

एवं कृतविवाहस्य गार्हस्थ्यमनुतिष्ठतः । स्वधर्मानतिवृत्यर्थं वर्णलाभमतो ब्रुवे ॥१३५
ऊढभार्योऽप्ययं तावदस्वतन्त्रो गुरोर्गृहे । ततः स्वातन्त्र्यसिद्ध्यर्थं वर्णलाभोऽस्य वर्णितः ॥१३६
गुरोरनुज्ञया लब्धधनधान्यादिसम्पदः । पृथक्कृतालयस्यास्यै वृत्तिर्वर्णाप्तिरिष्यते ॥१३७
तदापि पूर्ववत्सिद्ध प्रतिमानर्चमग्रतः । कृत्वाऽस्योपासकान् मुख्यान् साक्षीकृत्यार्पयेद्धनम् ॥१३८
धनमेतदुपादाय स्थित्वाऽस्मिन् स्वगृहे पृथक् । गृहिधर्मस्त्वया धार्यः कृत्स्नो दानादिलक्षणः ॥१३९
यथाऽस्मत्पितृदत्तेन धनेनास्माभिरर्जितम् । यशोधर्मश्च तद्वत्त्वं यशोधर्मानुपार्जय ॥१४०
इत्येवमनुशिष्यैनं वर्णलाभे नियोजयेत् । सदारः सोऽपि तं धर्मं तथानुष्ठातुमर्हति ॥१४१
(इति वर्णलाभक्रिया)

लब्धवर्णस्य तस्येति कुलचर्यानुकीर्त्यते । सात्विज्यादत्तिवार्त्तादिलक्षणाप्राक्प्रपञ्चिता ॥१४२

अथवा एक अग्नि उत्पन्न करो है, उसकी प्रदक्षिणाएँ देकर वर-वधूको समीप ही बैठना चाहिए ॥ १३० ॥ इस पाणिग्रहण (विवाह) की दीक्षामें नियुक्त उन वर-वधूको देव और अग्निकी साक्षी पूर्वक सात दिन तक ब्रह्मचर्यव्रत धारण करना चाहिए ॥ १३१ ॥ पुनः अपने योग्य किसी देशमें परिभ्रमण कर, अथवा तीर्थभूमियों पर विहार करके वर और वधू परम विभूतिके साथ अपने घरमें प्रवेश करें ॥ १३२ ॥ तत्पश्चात् कंकण-बंधनसे विमुक्त हुए वे वर-वधू अपने घरमें भोगोपभोगके साधनोंसे सुशोभित शय्यापर योग्यकालमें शयन कर केवल सन्तान प्राप्तिके लिए ही ऋतुकालमें परस्पर काम-सेवन करें। काम-सेवनका यह क्रम शक्ति और समयकी अपेक्षा रखता है। अतः अशक्त स्त्री-पुरुषको इससे विपरीत करना चाहिए, अर्थात् ब्रह्मचर्यसे रहना चाहिए ॥१३३-१३४॥ यह सत्तरहवीं वैवाहिकी क्रिया है। इस प्रकारसे विवाह करनेवाले और गृहस्थ धर्मका पालन करने वाले पुरुषके लिए अपने धर्मका उल्लंघन न करे, इस कारण अब वर्णलाभ क्रियाको कहते हैं ॥ १३५ ॥ विवाहित भी यह पुरुष जब तक पिताके घरमें रहता है, तब तक वह स्वतंत्र नहीं है, अतः स्वतंत्रता-प्राप्त करनेके लिए यह वर्णलाभ क्रिया वर्णन की गई है ॥ १३६ ॥ पिताकी अनुज्ञासे जिसे धन-धान्यादि सम्पदाएँ प्राप्त हो गई हैं और रहनेके लिए जिसे आलय भी पृथक् मिल गया है, ऐसे पुरुषकी स्वतंत्र आजीविकामें लगनेको वर्णलाभ कहते हैं ॥ १३७ ॥ इस क्रियामें भी पूर्वके समान सर्वप्रथम सिद्धप्रतिमाकी पूजन करके पिता अन्य प्रमुख श्रावकोंको साक्षी बनाकर पुत्रको अपना धन अर्पण करे और कहे कि हे वत्स, तुम इस धनको लेकर इस अपने घरमें पृथक् रहो और तुम्हें दान-पूजा आदि करते हुए पूर्ण गृहस्थधर्म धारण करना चाहिए ॥ १३८-१३९ ॥ जिस प्रकार हमारे पिताके द्वारा दिये गये धनसे हमने यश और धर्मका उपार्जन किया है, उसी प्रकार तुम भी गृहस्थ धर्मको पालते हुए यश और धर्मका उपार्जन करो ॥ १४० ॥ इस प्रकारसे पुत्रको उचित शिक्षा देकर पिता उसे वर्णलाभमें नियुक्त करे, अर्थात् अपनी आजीविकाके उपार्जनके लिए स्वतंत्र कर देवे। पुनः उस पुत्रको भी अपनी स्त्रीके साथ पिता-द्वारा बतलाये गये मार्गसे गृहस्थधर्मका पालन करना चाहिए ॥ १४१ ॥ यह अठारहवीं वर्णलाभ क्रिया है। वर्णलाभ क्रियाके

विशुद्धा वृत्तिरस्यार्यषट्कर्मानुप्रवर्तनम् । गृहिणां कुलचर्येष्टा कुलधर्मोऽप्यसौ मतः ॥ १४३ ॥
(इति कुलचर्या क्रिया ।)

कुलचर्यामनुप्राप्तो धर्मे दार्ढ्यमथोद्वहन् । गृहस्थाचार्यभावेन संश्रयेत् स गृहीशिताम् ॥ १४४ ॥
ततो वर्णोत्तमत्वेन स्थापयेत् स्वां गृहीशिताम् । शुभवृत्तिक्रियामन्त्रविवाहैः सोत्तरक्रियैः ॥ १४५ ॥
अनन्यसदृशैरेभिः श्रुतवृत्तिक्रियादिभिः । स्वमुन्नतिं नयन्नेष तदाऽर्हति गृहीशिताम् ॥ १४६ ॥
वर्णोत्तमो महीदेवःसुश्रुतो द्विजसत्तमः । निस्तारको ग्रामपतिः मानार्हश्चेति मानितः ॥१४७॥
(इति गृहीशिता ।)

सोऽनुरूपं ततो लब्ध्वा सूनुमात्मभरक्षमम् । तत्रारोपितगार्हस्थ्यः सन् प्रशान्तिमतः श्रयेत् ॥१४८॥
विषयेष्वनभिष्वङ्गो नित्यस्वाध्यायशीलता । नानाविधोपवासैश्च वृत्तिरिष्टा प्रशान्तता ॥१४९॥
(इति प्रशान्तिः ।)

ततः कृतार्थमात्मानं मन्यमानो गृहाश्रमे । यदोद्यतो गृहत्यागे तदाऽस्यैष क्रियाविधिः ॥१५०॥
सिद्धार्चनां पुरस्कृत्य सर्वानाहूय सम्मतान् । तत्साक्षि सूनवे सर्वं निवेद्यातो गृहं त्यजेत् ॥१५१॥
कुलक्रमस्त्वया तात सम्पाल्योऽस्मत्परोक्षतः । त्रिधा कृतं च नो द्रव्यं त्वयेत्थं विनियोज्यताम् ॥१५२॥

द्वारा स्वतंत्र वृत्ति करनेवाले उस गृहस्थके लिए कुलचर्या नामकी क्रिया कही जाती है । पूजा, दत्ति, वार्ता आदि लक्षणवाली इस कुलचर्याका वर्णन पहले विस्तारसे कह आये हैं ॥१४२ ॥ विशुद्धरीतिसे आजीविका करना, तथा आर्य पुरुषोंके करने योग्य देवपूजा आदि षट् आवश्यक कर्मोंका पालना गृहस्थोंकी कुलचर्या मानी गई है और यही कुलधर्म कहलाता है ॥ १४३ ॥ यह उन्नीसवीं कुलचर्या है । तत्पश्चात् कुलचर्याको प्राप्त वह श्रावक धर्ममें दृढ़ताको धारण करता हुआ गृहस्थाचार्यके रूपसे गृहीशिताको स्वीकार करे, अर्थात् उसे गृहस्थाचार्य बनकर सब गृहस्थोंका स्वामी बनना चाहिए ॥ १४४ ॥ गृहस्थोंका स्वामी बननेके लिए यह आवश्यक है कि वह अपने आपको उत्तम वर्णवाला मान कर अपनेमें शुभ वृत्ति, क्रिया, मंत्र, विवाह आदि अनुत्तर या अनुपम क्रियाओंके द्वारा गृहीशिता स्थापित करे ॥१४५॥ अन्य गृहस्थोंमें नहीं पाई जानेवाली पवित्र वृत्ति, क्रिया और श्रुतज्ञानकी प्राप्ति आदिके द्वारा अपनी उन्नति करता हुआ यह गृहस्थ गृहीशिताको पानेके लिए योग्य होता है ॥ १४६ ॥ गृहीशिता, गृहस्थ-स्वामी, या गृहस्थाचार्यके पदको प्राप्त करनेवाला वह श्रावक वर्णोत्तम (तीनों वर्णोंमें श्रेष्ठ) महीदेव (भूदेव) सुश्रुत (उत्तम शास्त्रज्ञ) द्विजसत्तम (श्रेष्ठब्राह्मण) निस्तारक (संसारसे पार उतारनेवाला) ग्रामपति (नगर स्वामी) और सम्माननीय आदि नामोंके द्वारा लोगोंसे सम्मानको प्राप्त होता है ॥ १४७ ॥ यह बीसवीं गृहीशिता क्रिया है । तदनन्तर वह गृहस्थाचार्य अपने अनुरूप और अपने निजके गृह-भार सँभालनेमें समर्थ पुत्रको पाकरके उस पर गृहस्थीका भार समर्पण करता हुआ स्वयं परम शान्तिवृत्तिका आश्रय लेवे ॥ १४८ ॥ पंचेन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्ति नहीं रखना, नित्य स्वाध्याय करना और नाना प्रकारके उपवास करते हुए समय बिताना प्रशान्तवृत्ति कहलाती है ॥ १४९ ॥ यह इक्कीसवीं प्रशान्तिक्रिया है । इस प्रकार प्रशांतवृत्तिको पालन करता हुआ और गृहाश्रममें अपनेको कृतार्थ मानता हुआ वह श्रावक जब गृहत्यागके लिए उद्यत होता है, तब उसके यह कही जानेवाली गृहत्यागक्रिया होती है ॥ १५० ॥ इस क्रियामें सिद्ध-पूजाको सर्व प्रथम करके अपने सर्व इष्टजनोंको बुलाकर उनकी साक्षीपूर्वक अपने पुत्रके लिए सब कुछ समर्पण कर उसे घरका त्याग कर देना चाहिए ॥ १५१ ॥ उस समय अपने ज्येष्ठ

एकोंऽशो धर्मकार्येऽतो द्वितीयः स्वगृहव्यये । तृतीयः संविभागाय भवेत्त्वत्सह जन्मनाम् ॥१५३॥
पुत्र्यश्च संविभागार्हाः समं पुत्रैः समांशकैः । त्वं तु भूत्वा कुलज्येष्ठः सन्तति नोऽनुपालय ॥१५४॥
श्रुतवृत्तक्रियामन्त्रविधिज्ञस्त्वमतन्द्रितः । प्रपालय कुलाम्नायं गुरुं देवांश्च पूजयन् ॥१५५॥
इत्येवमनुशिष्य स्वं ज्येष्ठं सूनुमनाकुलः । ततो दीक्षामुपादातुं द्विजः स्वं गृहमुत्सृजेत् ॥१५६॥
(इति गृहत्यागः ।)

त्यक्तागारस्य सद्दृष्टेः प्रशान्तस्य ग्रहीशिनः । प्राग्दीक्षौपयिकात् कालादेकशाटकधारिणः ॥१५७॥
यत्पुरश्चरणं दीक्षाग्रहणं प्रतिधार्यते । दीक्षाद्यं नाम तज्ज्ञेयं क्रिया जातं द्विजन्मनः ॥१५८॥
(इति दीक्षाद्यम् ।)

त्यक्तचेलादिसङ्गस्य जैनीं दीक्षामुपेयुषः । धारणं जातरूपस्य यत्तत् स्याज्जिनरूपता ॥१५९॥
अशक्यधारणं चेदं जन्तूनां कातरात्मनाम् । जैनं निस्सङ्गतामुख्यं रूपं धीरैर्निषेव्यते ॥१६०॥
(इति जिनरूपता ।)

कृतदीक्षोपवासस्य प्रवृत्तेः पारणाविधौ । मौनाध्ययनवृत्तत्वमिष्टमाश्रुतनिष्ठितेः ॥१६१॥
वाचंयमो विनीतात्मा विशुद्धकरणत्रयः । सोऽधीयीत श्रुतं कृत्स्नमामूलाद्गुरुसन्निधौ ॥१६२॥
श्रुतं हि विधिनानेन भव्यात्मभिरुपासितम् । योग्यतामिह पुष्णाति परत्रापि प्रसीदति ॥१६३ ॥
(अत्र मौनाध्ययनवृत्तत्वम् ।)

पुत्रसे कहे—हे तात, हमारे परोक्षमें (पीछे) कुल-परम्परासे आया हुआ यह कुलधर्म तुम्हें भली भांतिसे पालन करना चाहिए। तथा मैंने अपने धनके जो तीन भाग किये हैं, उनका तुम्हें इस प्रकार विनियोग करना चाहिए—एक भाग तो धर्म-कार्यमें लगाना, दूसरा भाग अपने घरके कार्यों में व्यय करना और तीसरा भाग अपने सहजन्मा बन्धुओंको बराबर बाँट देना। पुत्रोंके साथ पुत्रियां भी समान भाग पानेके योग्य हैं। हे वत्स, तू कुलका ज्येष्ठ पुरुष है, यह ध्यानमें रख कर हमारी सन्तानका पालन करना ॥ १५२-१५४ ॥ हे पुत्र, तू शास्त्र, सदाचार, क्रिया, मंत्र, आदिकी विधिका वेत्ता है, अतः प्रमाद-रहित होकर देव और गुरुकी पूजा करते हुए कुल-परम्पराका विधिवत् पालन करना ॥ १५५ ॥ इस प्रकारसे अपने ज्येष्ठ पुत्रको भली-भाँतिसे अनुशासित करके निराकुल होकर जिनदीक्षा ग्रहण करनेके लिए वह द्विज अपना घर छोड़ देवे ॥ १५६ ॥ यह बाईसवीं गृहत्याग क्रिया है। इस प्रकार गृहका त्याग करनेवाले, सम्यग्दृष्टि, प्रशान्तचित्त, एक वस्त्र-धारी उस गृहस्थोंके स्वामीके जिनदीक्षाको ग्रहण करनेके पूर्व कालमें जिन व्रतोंको धारण किया जाता है, उन सब व्रत-क्रियाओंके समुदायको द्विजकी दीक्षाद्य क्रिया कहते हैं। भावार्थ—जिन-(मुनि-) दीक्षाके पूर्व क्षुल्लकके व्रत-धारण करनेका नाम दीक्षाद्यक्रिया है ॥१५७-१५८॥ यह तेईसवीं दीक्षाद्यक्रिया है। पुनः वस्त्र आदि सर्व परिग्रहका त्यागकर जैनीदीक्षाको प्राप्त होनेवाले उक्त पुरुषका यथाजात (नग्न-) रूप धारण करना जिनरूपता क्रिया है ॥ १५९ ॥ जिनका आत्मा कातर या दीन है, ऐसे मनुष्योंको इस जिनरूप मुद्राका धारण करना अशक्य है। निष्परिग्रहकी मुख्यतावाले इस जैन (दिगम्बर) रूपको धीर वीर पुरुष ही धारण करते हैं ॥१६०॥ यह चौबीसवीं जिनरूपता क्रिया है। जिसने दीक्षा धारणकर उपवास किया है, तथा विधिपूर्वक पारणा करनेमें प्रवृत्ति की है ऐसा वह साधु श्रुतके अभ्यास की समाप्ति पर्यन्त मौन धारणकर शास्त्रोंके अभ्यासमें संलग्न रहता है, इसे मौनाध्ययनवृत्ति कहते हैं ॥ १६१ ॥ वचन-संयमी, विनय-शील, मन-वचन-कायसे विशुद्ध उस साधुको गुरुके समीपमें रहकर आदिसे लेकर अन्त तक समस्त शास्त्रोंका अध्ययन करना चाहिये ॥१६२॥ इसप्रकारकी विधिसे भव्यात्माओंके द्वारा उपासना किया गया यह शास्त्रज्ञान इस भवमें योग्यताको

ततोऽधीताखिलाचारः शास्त्रादिश्रुतविस्तरः । विशुद्धाचरणोऽभ्यस्येत् तीर्थकृत्त्वस्य भावनाम् ॥१६४
सा तु षोडशधाऽऽम्नाता महाभ्युदयसाधिनी । सम्यग्दर्शनशुद्ध्यादिलक्षणा प्राक्प्रपञ्चिता ॥१६५॥
(इति तीर्थकृद्भावना ।)

ततोऽस्य विदिताशेषवेद्यस्य विजितात्मनः । गुरुस्थानाभ्युपगमः सम्मतो गुर्वनुग्रहात् ॥१६६॥
ज्ञानविज्ञानसम्पन्नः स्वगुरोरभिसम्मतः । विनीतो धर्मशीलश्च यः सोऽर्हति गुरोः पदम् ॥१६७॥
(गुरुस्थानाभ्युपगमः ।)

ततः सुविहितस्यास्य युक्तस्य गणपोषणे । गणोपग्रहणं नाम क्रियाम्नाता महर्षिभिः ॥१६८॥
श्रावकानार्यिकासङ्घं श्राविकाः संयतानपि । सन्मार्गे वर्तयन्नेष गणपोषणमाचरेत् ॥१६९॥
श्रुतार्थिभ्यः श्रुतं दद्यात् दीक्षार्थिभ्यश्च दीक्षणम् । धर्मार्थिभ्योऽपि सद्धर्मं स शश्वत् प्रतिपादयेत्॥१७०
सद्वृत्तान् धारयन् सूरिरसद्वृत्तान्निवारयन् । शोधयंश्च कृतादागोमलान् स विभृयाद् गणम् ॥१७१
(इति गणोपग्रहणम् ।)
गणपोषणमित्याविष्कुर्वन्नाचार्यसत्तमः । ततोऽयं स्वगुरुस्थानसंक्रान्तो यत्नवान् भवेत् ॥१७२॥
अधीतविद्यं तद्विद्यैरादृतं मुनिसत्तमैः । योग्यं शिष्यमथाहूय तस्मै स्वं भारमर्पयेत् ॥१७३

पुष्ट करता है और परभवमें प्रसन्न रखता है ॥ १६३ ॥ यह पचीसवीं मौनाध्ययनवृत्ति किया है। तदनन्तर जिसने समस्त आचार-शास्त्रोंका अध्ययन किया है, तथा शेष शास्त्रोंके अध्ययनसे जिसने समस्त श्रुतज्ञानका विस्तार प्राप्त कर लिया है और जिसका आचरण विशुद्ध है, ऐसा वह साधु तीर्थंकर पदको प्राप्त करनेवाली भावनाओंका अभ्यास करे ॥ १६४ ॥ महान् अभ्युदयकी साधक वे भावनाएँ सोलह कही गई हैं। सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि आदि उन सोलह भावनाओंका पहले विस्तारसे वर्णन किया गया है[1] ॥ १६५ ॥ यह छब्बीसवीं तीर्थकृद्-भावना नामकी क्रिया है। तदनन्तर जिसने समस्त विद्याएँ जान ली हैं और जिसने अपने आत्मापर विजय प्राप्तकर ली है, ऐसे उस साधुका गुरुके अनुग्रहसे गुरुका स्थान स्वीकार करना शास्त्र-सम्मत है ॥ १६६ ॥ क्योंकि जो ज्ञान और विज्ञानसे सम्पन्न हो, अपने गुरुको अभीष्ट हो, विनीत हो और धार्मिक स्वभाववाला हो, ऐसा साधु ही गुरुके पदको धारण करनेके योग्य होता है ॥ १६७ ॥ यह सत्ताईसवीं गुरुस्थानाभ्युपगम क्रिया है। तदनन्तर विधिपूर्वक साधुका आचार पालनेवाले और साधुगणोंके पालन-पोषणमें समुद्यत साधुके गणोपग्रहण नामकी क्रिया महर्षियोंने कही है ॥१६८॥ इस क्रियाके धारक आचार्यको चाहिये कि वह मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविकारूप चतुर्विध संघको सन्मार्गमें लगाते हुए समस्त गणका पोषण करे ॥ १६९ ॥ ऐसे आचार्यका कर्त्तव्य है कि वह शास्त्राध्ययनके इच्छुक जनोंको शास्त्राध्ययन करावे, दीक्षाके इच्छुक जनोंको दीक्षा देवे और धर्म-श्रवणके इच्छुक लोगोंको निरन्तर सद्-धर्मका उपदेश करे। वह आचार्य सदाचार धारण करनेवालोंको गणमें रखे, असद् आचरण करनेवालोंको गणसे दूर करे और अपराध या दोष करनेवालोंके दोषोंका शोधन करते हुए समस्त गणकी रक्षा करे ॥ १७०-१७१ ॥ यह अट्ठाईसवीं गणोपग्रहणक्रिया है। इस प्रकारसे गणका पोषण करता हुआ वह श्रेष्ठ आचार्य अपने गुरुका स्थान प्राप्त करनेके लिए प्रयत्नशील हो ॥ १७२ ॥ पुनः वह समस्त विद्याओंके अध्येता और विद्वान् श्रेष्ठ मुनियोंसे आदरको प्राप्त ऐसे किसी योग्य शिष्यको बुलाकर उसे अपने आचार्य पदके भारको सौंप देवे ॥ १७३ ॥ गुरुको अनुमतिसे वह शिष्य भी गुरुके स्थानपर अधिष्ठित होकर गुरुके

---

१. देखो महापुराण पर्व ११।

गुरोरनुमतात् सोऽपि गुरुस्थानमधिष्ठितः । गुरुवृत्तौ स्वयं तिष्ठन् वर्तयेदखिलं गणम् ॥१७४॥
(इति स्वगुरुस्थानावाप्तिः ।)

तत्रारोप्य भरं कृत्स्नं काले कस्मिश्चिदव्यथः । कुर्यादेकविहारी स निःसङ्गत्वात्मभावनाम् ॥१७५
निःसङ्गवृत्तिरेकाकी विहरन् स महातपाः । चिकीर्षुरात्मसंस्कारं नान्यं संस्कर्तुमर्हति ॥१७६॥
अपि रागं समुत्सृज्य शिष्यप्रवचनादिषु । निर्ममत्वैकतानः संश्चर्याशुद्धिं तदाऽऽश्रयेत् ॥१७७॥
(इति निःसङ्गत्वात्मभावना ।)

कृत्वैवमात्मसंस्कारं ततः सल्लेखनोद्यतः । कृतात्मशुद्धिरध्यात्मं योगनिर्वाणमाप्नुयात् ॥१७८॥
योगो ध्यानं तदर्थो यो यत्नः संवेगपूर्वकः । तमाहुर्योगनिर्वाणसंप्राप्तं परमं तपः ॥१७९॥
कृत्वा परिकरं योग्यं तनुशोधनपूर्वकम् । शरीरं कर्शयेद्दोषैः समं रागादिभिस्तदा ॥१८०॥
तदेतद्योगनिर्वाणं संन्यासे पूर्वभावना । जीविताशां मृतीच्छां च हित्वा भव्यात्मलब्धये ॥१८१॥
रागद्वेषौ समुत्सृज्य श्रेयोऽवाप्तौ च संशयम् । अनात्मीयेषु चात्मीयसङ्कल्पाद् विरमेत्तदा ॥१८२॥
नाहं देहो मनो नास्मि न वाणी न च कारणम् । तत्त्रयस्येत्यनुद्विग्नो भजेदन्यत्वभावनाम् ॥१८३॥
अहमेको न मे कश्चिन्नैवाहमपि कस्यचित् । इत्यदीनमनाः सम्यगेकत्वमपि भावदेत् ॥१८४॥

कर्त्तव्य और आचरणका स्वयं पालन करे और समस्त संघसे पालन करावे ॥ १७४ ॥ यह उनतीसवीं स्वगुरुस्थानावाप्ति क्रिया है। इसप्रकार सुयोग्य शिष्यपर अपने आचार्य पदका सम्पूर्ण भार सौंपकर किसी भी कालमें व्यथाको नहीं प्राप्त होनेवाला वह साधु अकेला विहार करता हुआ मेरा आत्मा सर्वपरिग्रहसे रहित है, ऐसी भावनाको करे ॥ १७५ ॥ पूर्ण अपरिग्रहवृत्तिवाला वह महा तपस्वी साधु केवल अपने आत्माका संस्कार करनेका इच्छुक होकर एकाकी विहार करे। वह अन्य साधुके संस्कारको करनेके योग्य नहीं है। अर्थात् उसे केवल आत्म-शुद्धिका ही प्रयत्न करना चाहिये, अन्यके उद्धारकी वह चिन्ता न करे ॥ १७६ ॥ उसे उस समय शिष्य और शास्त्र-प्रवचन आदि में भी रागको छोड़कर और एक मात्र निर्ममत्व-भावनामें निरत होकर अपने चर्याकी शुद्धिका आश्रय लेना चाहिये ॥ १७७ ॥ यह तीसवीं निःसंगत्वात्मभावना है। इसप्रकार आत्म-संस्कारको करके पुनः सल्लेखना धारण करनेके लिए उद्यत होकर आत्म-शुद्धि करते हुए वह साधु अध्यात्म-विषयक योगनिर्वाणको प्राप्त होवे ॥ १७८ ॥ योग नाम ध्यानका है, उसकी प्राप्तिके लिए संवेग-पूर्वक जो प्रयत्न किया जाता है, उस परमतपको योगनिर्वाण-सम्प्राप्ति कहते हैं ॥ १७९ ॥ उस समय उसे समाधिमरणके योग्य सर्वआवश्यक परिकर्म करके विरेचन, वस्तिकर्म आदिके द्वारा शरीर शोधनपूर्वक रागादि दोषोंके साथ अपने शरीरको कृश करना चाहिये ॥ १८० ॥ संन्यास धारण करनेके समय इस प्रकारकी पूर्व भावना करनेको योगानिर्वाण कहते हैं। इस समय उसे 'भव्य' इस नामकी प्राप्तिके लिए जीनेकी आशा और मरनेकी इच्छाको छोड़कर, तथा राग-द्वेषको दूरकर आत्म-कल्याणकी प्राप्तिमें संलग्न रहना चाहिये और अपनी आत्मासे भिन्न समस्त चेतन-अचेतन पदार्थोंमें आत्मीय संकल्पको छोड़ देना चाहिये ॥ १८१-१८२ ॥ उस समय उद्वेगसे रहित होकर परसे भिन्न केवल अन्यत्वभावनाका इसप्रकारसे चिन्तन करे—मैं देह नहीं हूँ, मन नहीं हूँ, वाणी या वचनरूप भी नहीं हूँ और न इन तीनोंके कारणरूप ही हूँ ॥ १८३ ॥ तथा एकत्व भावनाका इसप्रकार चिन्तवन करे—"मैं अकेला हूँ, न मेरा कोई है और न मैं किसीका हूँ" इस प्रकार दृढ़चित्त होकर अपने एकत्वकी भले प्रकार भावना करनी चाहिये ॥१८४॥ उस समय वह योगी नित्य एवं अनन्त सुखके

यतिमाधाय लोकाग्रे नित्यानन्तसुखास्पदे । भावयेद् योगनिर्वाणं स योगी योगसिद्धये ॥१८५॥
(इति निर्वाणसम्प्राप्तिः ।)

ततो निःशेषमाहारं शरीरं च समुत्सृजन् । योगीन्द्रो योगनिर्वाणसाधनायोद्यतो भवेत् ॥१८६॥
उत्तमार्थे कृतास्थानः संन्यस्ततनुरुद्धधीः । ध्यायन् मनोवचःकायान् बहिर्भूतान् स्वकान् स्वतः ॥१८७
प्रणिधाय मनोवृत्तिं पदेषु परमेष्ठिनाम् । जीवितान्ते स्वसात्कुर्याद् योगनिर्वाणसाधनम् ॥१८८॥
योगः समाधिर्निर्वाणं तत्कृता चित्तनिर्वृतिः । तेनेष्टं साधनं यत्तद् योगनिर्वाणसाधनम् ॥१८९॥
(इति योगनिर्वाणसाधनम् ।)

तथा योगं समाधाय कृतप्राणविसर्जनः । इन्द्रोपपादमाप्नोति गते पुण्ये पुरोगताम् ॥१९०॥
इन्द्राः स्युस्त्रिदशाधीशाः तेषूत्पादस्तपोवलात् । यः स इन्द्रोपपादः स्यात् क्रियाऽर्हन्मार्गसेविनाम् ॥१९१
ततोऽसौ दिव्यशय्यायां क्षणादापूर्णयौवनः । परमानन्दसाद्भूतो दीप्तो दिव्येन तेजसा ॥१९२॥
अणिमादिभिरष्टाभिः युतोऽसाधारणैर्गुणैः । सहजाम्बरदिव्यस्रङ् मणिभूषणभूषितः ॥१९३॥
दिव्यानुभावसंभूतप्रभावं परमुद्वहन् । वोबुध्यते तदाऽऽत्मीयमैन्द्रं दिव्यावधित्विषा ॥१९४॥
(इति इन्द्रोपपादक्रिया ।)

पर्याप्तमात्र एवायं प्राप्तजन्मावबोधनः । पुनरिन्द्राभिषेकेण योज्यतेऽमरसत्तमैः ॥१९५॥

धाम लोकके अग्रभाग (सिद्धस्थान) पर अपनी बुद्धिको लगाकर योगनिर्वाणकी भावना भावे । अर्थात् उस योगीको सर्व ओरसे अपना चित्त हटाकर एकमात्र मोक्ष-प्राप्तिकी ही भावना करना चाहिये ॥ १८५ ॥ यह इकतीसवीं योगनिर्वाणसम्प्राप्ति क्रिया है । तदनन्तर वह योगीन्द्र समस्त प्रकारके आहारको और शरीरको त्यागकर योगनिर्वाणके साधनके लिए समुद्यत होवे ॥ १८६ ॥ उत्तम मोक्ष पुरुषार्थमें आस्था रखनेवाला तथा संन्यास धारणकर देहसे आत्मबुद्धिको दूर करनेवाला वह योगिराज मन, वचन, कायको अपनेसे भिन्न चिन्तवन करता हुआ और पंचपरमेष्ठियोंके चरणोंमें अपनी मनोवृत्तिको निश्चल करके जीवनके अन्त समयमें योगनिर्वाणके साधनको आत्मसात् करे ॥१८७-१८८॥ योग नाम समाधिका है, उस समाधिके द्वारा चित्तकी जो निराकुलतारूप वृत्ति होती है, उसे निर्वाण कहते हैं । उस योगनिर्वाणके द्वारा जो इष्ट मोक्षका साधन होता है, उसे योगनिर्वाणसाधन कहते हैं ॥ १८९ ॥ यह बत्तीसवीं योगनिर्वाणसाधन क्रिया है । उपर्युक्त प्रकारसे मन-वचन-कायरूप योगोंका समाधान करके अपने प्राणोंका विसर्जनकर पुण्यके पुरोगामी होनेपर वह इन्द्रोंमें उत्पन्न करानेवाली इन्द्रोपपाद क्रियाको प्राप्त होता है ॥ १९० ॥ देवोंके स्वामी इन्द्र कहलाते हैं । तपोवलसे उनमें जो उपपाद (जन्म) होता है, उसे इन्द्रोपपाद कहते हैं । यह इन्द्रोपपाद क्रिया अर्हत्प्रणीत मोक्षमार्गका सेवन करनेवाले जीवोंके ही होती है ॥ १९१ ॥ समाधिसे मरणको प्राप्त हुआ वह योगिराज इन्द्रपदमें उत्पन्न होनेके पश्चात् उसी दिव्य उपपादशय्यापर क्षण भरमें पूर्ण युवावस्थाको प्राप्त हो जाता है और दिव्य तेजसे देदीप्यमान होता हुआ परम आनन्दमें निमग्न हो जाता है ॥ १९२ ॥ अणिमा महिमा आदि आठ असाधारण गुणोंसे संयुक्त होकर वह जन्मके साथ ही उत्पन्न हुए दिव्य वस्त्र, माला और मणिमय आभूषणों से विभूषित हो जाता है ॥ १९३ ॥ तब देवलोकके दिव्य माहात्म्य से उत्पन्न हुए महा प्रभावको धारण करता हुआ वह इन्द्र दिव्य अवधिज्ञानरूपी ज्योतिके द्वारा जान लेता है कि मैं इन्द्र पदमें उत्पन्न हुआ हूँ ॥ १९४ ॥ यह इन्द्रोपपाद नामकी तेतीसवीं क्रिया है । पर्याप्तियोंके पूर्ण होते ही जिसे अपने जन्मका ज्ञान प्राप्त हुआ है ऐसे

गुरोरनुमतात् सोऽपि गुरुस्थानमधिष्ठितः । गुरुवृत्तौ स्वयं तिष्ठन् वर्तयेदखिलं गणम् ॥१७४॥
(इति स्वगुरुस्थानावाप्तिः ।)

तत्रारोप्य भरं कृत्स्नं काले कस्मिश्चिदव्यथः । कुर्यादेकविहारी स निःसङ्गत्वात्मभावनाम् ॥१७५
निःसङ्गवृत्तिरेकाकी विहरन् स महातपाः । चिकीर्षुरात्मसंस्कारं नान्यं संस्कर्तुमर्हति ॥१७६॥
अपि रागं समुत्सृज्य शिष्यप्रवचनादिषु । निर्ममत्वैकतानः संश्चर्याशुद्धिं तदाऽऽश्रयेत् ॥१७७॥
(इति निःसङ्गत्वात्मभावना ।)

कृत्वैवमात्मसंस्कारं ततः सल्लेखनोद्यतः । कृतात्मशुद्धिरध्यात्मं योगनिर्वाणमाप्नुयात् ॥१७८॥
योगो ध्यानं तदर्थो यो यत्नः संवेगपूर्वकः । तमाहुर्योगनिर्वाणसंप्राप्तं परमं तपः ॥१७९॥
कृत्वा परिकरं योग्यं तनुशोधनपूर्वकम् । शरीरं कर्शयेद्दोषैः समं रागादिभिस्तदा ॥१८०॥
तदेतद्योगनिर्वाणं संन्यासे पूर्वभावना । जीविताशां मृतीच्छां च हित्वा भव्यात्मलब्धये ॥१८१॥
रागद्वेषौ समुत्सृज्य श्रेयोऽवाप्तौ च संशयम् । अनात्मीयेषु चात्मीयसङ्कल्पाद् विरमेत्तदा ॥१८२॥
नाहं देहो मनो नास्मि न वाणी न च कारणम् । तत्त्रयस्येत्यनुद्विग्नो भजेदन्यत्वभावनाम् ॥१८३॥
अहमेको न मे कश्चिन्नैवाहमपि कस्यचित् । इत्यदीनमनाः सम्यगेकत्वमपि भावदेत् ॥१८४॥

कर्त्तव्य और आचरणका स्वयं पालन करे और समस्त संघसे पालन करावे ॥ १७४ ॥ यह उनतीसवीं स्वगुरुस्थानावाप्ति क्रिया है। इसप्रकार सुयोग्य शिष्यपर अपने आचार्य पदका सम्पूर्ण भार सौंपकर किसी भी कालमें व्यथाको नहीं प्राप्त होनेवाला वह साधु अकेला विहार करता हुआ मेरा आत्मा सर्वपरिग्रहसे रहित है, ऐसी भावनाको करे ॥ १७५ ॥ पूर्ण अपरिग्रहवृत्तिवाला वह महा तपस्वी साधु केवल अपने आत्माका संस्कार करनेका इच्छुक होकर एकाकी विहार करे। वह अन्य साधुके संस्कारको करनेके योग्य नहीं है। अर्थात् उसे केवल आत्म-शुद्धिका ही प्रयत्न करना चाहिये, अन्यके उद्धारकी वह चिन्ता न करे ॥ १७६ ॥ उसे उस समय शिष्य और शास्त्र-प्रवचन आदि में भी रागको छोड़कर और एक मात्र निर्ममत्व-भावनामें निरत होकर अपने चर्याकी शुद्धिका आश्रय लेना चाहिये ॥ १७७ ॥ यह तीसवीं निःसंगत्वात्मभावना है। इसप्रकार आत्म-संस्कारको करके पुनः सल्लेखना धारण करनेके लिए उद्यत होकर आत्म-शुद्धि करते हुए वह साधु अध्यात्म-विषयक योगनिर्वाणको प्राप्त होवे ॥ १७८ ॥ योग नाम ध्यानका है, उसकी प्राप्तिके लिए संवेग-पूर्वक जो प्रयत्न किया जाता है, उस परमतपको योगनिर्वाण-सम्प्राप्ति कहते हैं ॥ १७९ ॥ उस समय उसे समाधिमरणके योग्य सर्वआवश्यक परिकर्म करके विरेचन, वस्तिकर्म आदिके द्वारा शरीर शोधनपूर्वक रागादि दोषोंके साथ अपने शरीरको कृश करना चाहिये ॥ १८० ॥ संन्यास धारण करनेके समय इस प्रकारकी पूर्व भावना करनेको योगानिर्वाण कहते हैं। इस समय उसे 'भव्य' इस नामकी प्राप्तिके लिए जीनेकी आशा और मरनेकी इच्छाको छोड़कर, तथा राग-द्वेषको दूरकर आत्म-कल्याणकी प्राप्तिमें संलग्न रहना चाहिये और अपनी आत्मासे भिन्न समस्त चेतन-अचेतन पदार्थोंमें आत्मीय संकल्पको छोड़ देना चाहिये ॥ १८१-१८२ ॥ उस समय उद्वेगसे रहित होकर परसे भिन्न केवल अन्यत्वभावनाका इसप्रकारसे चिन्तन करे—मैं देह नहीं हूँ, मन नही हूँ, वाणी या वचनरूप भी नहीं हूँ और न इन तीनोंके कारणरूप ही हूँ ॥ १८३ ॥ तथा एकत्व भावनाका इसप्रकार चिन्तवन करे—"मैं अकेला हूँ, न मेरा कोई है और न मैं किसीका हूँ" इस प्रकार दृढ़चित्त होकर अपने एकत्वकी भले प्रकार भावना करनी चाहिये ॥१८४॥ उस समय वह योगी नित्य एवं अनन्त सुखके

यतिमाधाय लोकाग्रे नित्यानन्तसुखास्पदे । भावयेद् योगनिर्वाणं स योगी योगसिद्धये ॥१८५॥
(इति निर्वाणसम्प्राप्तिः ।)

ततो निःशेषमाहारं शरीरं च समुत्सृजन् । योगीन्द्रो योगनिर्वाणसाधनायोद्यतो भवेत् ॥१८६॥
उत्तमार्थे कृतास्थानः संन्यस्ततनुरुद्धधीः । ध्यायन् मनोवचःकायान् बहिर्भूतान् स्वकान् स्वतः ॥१८७
प्रणिधाय मनोवृत्तिं पदेषु परमेष्ठिनाम् । जीवितान्ते स्वसात्कुर्याद् योगनिर्वाणसाधनम् ॥१८८॥
योगः समाधिर्निर्वाणं तत्कृता चित्तनिर्वृतिः । तेनेष्टं साधनं यत्तद् योगनिर्वाणसाधनम् ॥१८९॥
(इति योगनिर्वाणसाधनम् ।)

तथा योगं समाधाय कृतप्राणविसर्जनः । इन्द्रोपपादमाप्नोति गते पुण्ये पुरोगताम् ॥१९०॥
इन्द्राः स्युस्त्रिदशाधीशाः तेषूत्पादस्तपोबलात् । यः स इन्द्रोपपादः स्यात् क्रियाऽर्हन्मार्गसेविनाम् ॥१९१
ततोऽसौ दिव्यशय्यायां क्षणादापूर्णयौवनः । परमानन्दसाद्भूतो दीप्तो दिव्येन तेजसा ॥१९२॥
अणिमादिभिरष्टाभिः युतोऽसाधारणैर्गुणैः । सहजाम्बरदिव्यस्रङ्मणिभूषणभूषितः ॥१९३॥
दिव्यानुभावसंभूतप्रभावं परमुद्वहन् । बोबुध्यते तदाऽऽत्मीयमैन्द्रं दिव्यावधित्विषा ॥१९४॥
(इति इन्द्रोपपादक्रिया ।)

पर्याप्तमात्र एवायं प्राप्तजन्मावबोधनः । पुनरिन्द्राभिषेकेण योज्यतेऽमरसत्तमैः ॥१९५॥

धाम लोकके अग्रभाग (सिद्धस्थान) पर अपनी बुद्धिको लगाकर योगनिर्वाणकी भावना भावे । अर्थात् उस योगीको सर्व ओरसे अपना चित्त हटाकर एकमात्र मोक्ष-प्राप्तिकी ही भावना करना चाहिये ॥ १८५ ॥ यह इकतीसवीं योगनिर्वाणसम्प्राप्ति क्रिया है। तदनन्तर वह योगीन्द्र समस्त प्रकारके आहारको और शरीरको त्यागकर योगनिर्वाणके साधनके लिए समुद्यत होवे ॥ १८६ ॥ उत्तम मोक्ष पुरुषार्थमें आस्था रखनेवाला तथा संन्यास धारणकर देहसे आत्मबुद्धिको दूर करनेवाला वह योगिराज मन, वचन, कायको अपनेसे भिन्न चिन्तवन करता हुआ और पंचपरमेष्ठियोंके चरणोंमें अपनी मनोवृत्तिको निश्चल करके जीवनके अन्त समयमें योगनिर्वाणके साधनको आत्मसात् करे ॥१८७-१८८॥ योग नाम समाधिका है, उस समाधिके द्वारा चित्तकी जो निराकुलतारूप वृत्ति होती है, उसे निर्वाण कहते हैं। उस योगनिर्वाणके द्वारा जो इष्ट मोक्षका साधन होता है, उसे योगनिर्वाणसाधन कहते हैं ॥ १८९ ॥ यह बत्तीसवीं योगनिर्वाणसाधन क्रिया है। उपर्युक्त प्रकारसे मन-वचन-कायरूप योगोंका समाधान करके अपने प्राणोंका विसर्जनकर पुण्यके पुरोगामी होनेपर वह इन्द्रोंमें उत्पन्न करानेवाली इन्द्रोपपाद क्रियाको प्राप्त होता है ॥ १९० ॥ देवोंके स्वामी इन्द्र कहलाते हैं। तपोबलसे उनमें जो उपपाद (जन्म) होता है, उसे इन्द्रोपपाद कहते हैं। यह इन्द्रोपपाद क्रिया अर्हत्प्रणीत मोक्षमार्गका सेवन करनेवाले जीवोंके ही होती है ॥ १९१ ॥ समाधिसे मरणको प्राप्त हुआ वह योगिराज इन्द्रपदमें उत्पन्न होनेके पश्चात् उसी दिव्य उपपादशय्यापर क्षण भरमें पूर्ण युवावस्थाको प्राप्त हो जाता है और दिव्य तेजसे देदीप्यमान होता हुआ परम आनन्दमें निमग्न हो जाता है ॥ १९२ ॥ अणिमा महिमा आदि आठ असाधारण गुणोंसे संयुक्त होकर वह जन्मके साथ ही उत्पन्न हुए दिव्य वस्त्र, माला और मणिमय आभूषणों से विभूषित हो जाता है ॥ १९३ ॥ तब देवलोकके दिव्य माहात्म्य से उत्पन्न हुए महा प्रभावको धारण करता हुआ वह इन्द्र दिव्य अवधिज्ञानरूपी ज्योतिके द्वारा जान लेता है कि मैं इन्द्र पदमें उत्पन्न हुआ हूँ ॥ १९४ ॥ यह इन्द्रोपपाद नामकी तेतीसवीं क्रिया है। पर्याप्तियोंके पूर्ण होते ही जिसे अपने जन्मका ज्ञान प्राप्त हुआ है ऐसे

दिव्यसङ्गीतवादित्रमङ्गलोद्गीतिनिःस्वनैः। विचित्रैश्चाप्सरोनृत्तैः निवृत्तेन्द्राभिषेचनः ॥१९६॥
किरीटमुद्वहन् दीप्रं स्वसाम्राज्यैकलाञ्छनम्। सुरकोटिभिरारूढप्रमदैर्जयकारितः ॥१९७॥
स्रग्वी सदंशुको दीप्तः भूषितो दिव्यभूषणैः। ऐन्द्रविष्टरमारूढो महानेष महीयते ॥१९८॥
(इति इन्द्राभिषेकः।)
ततोऽयमानतानेतान् सत्कृत्य सुरसत्तमान्। पदेषु स्थापयन् स्वेषु विधिदाने प्रवर्तते ॥१९९॥
स्वविमानर्द्धिदानेन प्रीणितैर्विबुधैर्वृतः। सोऽनुभुङ्क्ते चिरं कालं सुकृती सुखमामरम् ॥२००॥
तदेतद्विधिदानेन्द्रसुखोदयविकल्पितम्। क्रियाद्वयं समाम्नातं स्वर्लोकप्रभवोचितम् ॥२०१॥
(इति विधिदानसुखोदयौ।)
प्रोक्तास्त्विन्द्रोपपादाभिषेकदानसुखोदयाः। इन्द्रत्यागाह्वयमधुना संप्रवक्ष्ये क्रियान्तरम् ॥२०२॥
किंचिन्मात्रावशिष्टायां स्वस्यामायुःस्थितौ सुरेट्। बुद्ध्वा स्वर्गावतारं स्वं सोऽनुशास्त्यमरानिति ॥२०३॥
भो भोः सुधाशना यूयमस्माभिः पालिताश्चिरम्। केचित् पित्रीयिताः केचित् पुत्रप्रीत्योपलालिताः॥ २०४
पुरोधोमन्त्र्यमात्यानां पदे केचिन्नियोजिताः। वयस्यपीठमर्दीयस्थाने दृष्टाश्च केचन ॥२०५॥
स्वप्राणनिर्विशेषञ्च केचित् त्राणाय सम्मताः। केचिन्मान्यपदे दृष्टाः पालकाः स्वर्निवासिनाम् ॥२०६

उस इन्द्रका उत्तम देवगण इन्द्राभिषेक करते हैं ॥ १९५ ॥ दिव्य संगीत, वादित्र और मंगल-गीतोंके शब्दोंसे और अप्सराओंके नाना प्रकारके नृत्योंसे इन्द्रका अभिषेक सम्पन्न होता है ॥ १९६ ॥ तदनन्तर वह अपने साम्राज्य के अद्वितीय चिह्न स्वरूप देदीप्यमान मुकुटको धारण करता है। उस समय आनन्दको प्राप्त करोड़ों देवगण उसका जय-जयकार करते हैं ॥ १९७ ॥ उस समय वह दिव्य मालाको और दिव्य उत्तम वस्त्रोंको धारणकर तथा देदीप्यमान दिव्य आभूषणोंसे विभूषित होकर इन्द्रासन पर आरूढ़ होकर महान् महिमाको प्राप्त होता है ॥ १९८ ॥ यह चौतीसवीं इन्द्राभिषेक क्रिया है। तदनन्तर नमस्कार करते हुए उन उत्तम देवोंको अपने-अपने पदों पर स्थापित करता हुआ वह इन्द्र विधिदान क्रियामें प्रवृत्त होता है, अर्थात् आज्ञानुसारी सर्व देवोंको अपने-अपने पदों पर नियुक्त करना ही विधिदान क्रिया कहलाती है ॥ १९९ ॥ अपने-अपने विमानोंकी ऋद्धियोंके देनेसे अति प्रसन्न हुए देवोंके द्वारा वेष्टित हुआ वह सौभाग्यशाली इन्द्र चिरकाल तक देव लोकके सुखोंको भोगता है ॥ २०० ॥ इस प्रकार स्वर्ग लोकमें किये जानेके योग्य ऐसी ये विधिदान और इन्द्र सुखोदय भेदवाली दो क्रियाएँ कही गयी हैं ॥ २०१ ॥ यह पैंतीसवीं विधिदान और छत्तीसवीं सुखोदय क्रिया है। इस प्रकार इन्द्रोपपाद, इन्द्राभिषेक, विधिदान और सुखोदय, ये इन्द्रसम्बन्धी चार क्रियाएँ कहीं। अब इन्द्रत्याग नामकी अन्य क्रियाको कहते हैं ॥ २०२ वह इंद्र अपनी आयुकी स्थितिके किंचिन्मात्र अवशिष्ट रह जाने पर अपना स्वर्गसे अवतरण जानकर देवलोकोंको इस प्रकारसे समझाता है ॥ २०३ ॥ भो-भो अमृत-भोजी देव लोगो, हमने तुम्हें चिरकाल तक पाला है, कितने ही देवोंको पिताके तुल्य माना है, कितने ही देवोंका पुत्रके समान प्रेमसे लालन-पालन किया है ॥ २०४ ॥ कितने ही देवों को पुरोहित, मंत्री और अमात्य के पद पर नियुक्त किया है, कितने ही देवोंको मैंने मित्र के समान देखा है और कितनों ही को अपने समान माना है ॥ २०५ ॥ कितने ही देवों को अपने प्राणों के समान मानकर उन्हें अपने शरीरकी रक्षाके लिए नियुक्त किया है और कितनों हीको स्वर्ग-निवासियोंकी रक्षाके लिए सम्मान्य

केचिच्चमूचरस्थाने केचिच्च स्वजनास्तथा। प्रजासामान्यमन्ये च केचिच्चानुचराः पृथक् ॥२०७॥
केचित् परिजनस्थाने केचिच्चान्तःपुरे चराः। काश्चिद् वल्लभिका देव्यो महादेव्यश्च काश्चन ॥२०८
इत्यसाधारणा प्रीतिर्मया युष्मासु दर्शिता। स्वामिभक्तिश्च युष्माभिर्मय्यसाधारणी धृता ॥२०९॥
साम्प्रतं स्वर्गभोगेषु गतो मन्देच्छतामहम्। प्रत्यासन्ना हि मे लक्ष्मीरद्यभूलोकगोचरा ॥२१०॥
युष्मत्साक्षि ततः कृत्स्नं स्वःसाम्राज्यं मयोज्झितम्। यश्चान्यो मत्समो भावी तस्मै सर्वं समर्पितम्॥२११
इत्यनुत्सुकतां तेषु भावयन्ननुशिष्य तान्। कुर्वन्निन्द्रपदत्यागं स व्यथां नैति धीरधीः ॥२१२॥
इन्द्रत्यागक्रिया सैषा तत्स्वर्भोगातिसर्जनम्। धीरास्त्यजन्त्यनायासादैश्यं तादृशमप्य हो ॥२१३॥

(इति इन्द्रत्यागः ।)

अवतारक्रियाऽस्यान्या ततः संपरिवर्तते। कृतार्हत्पूजनस्यान्ते स्वर्गादवतरिष्यतः ॥२१४॥
सोऽयं नृजन्मसंप्राप्त्या सिद्धिं द्रागभिलाषुकः। चेतः सिद्धनमस्यायां समाधत्ते सुराधिराट् ॥२१५॥
शुभैः षोडशभिः स्वप्नैः संसूचितमहोदयः। तदा स्वर्गावताराख्यां कल्याणीमश्नुते क्रियाम् ॥२१६॥

(इति इन्द्रावतारः ।)

ततोऽवतीर्णो गर्भेऽसौ रत्नगर्भगृहोपमे। जनयित्र्या महादेव्या श्रीदेवीभिर्विशोधिते ॥२१७॥

पद पर नियुक्त किया है ॥ २०६ ॥ कितने ही देवोंको सेनापतिके स्थान पर नियुक्त किया है और कितनों ही को अपने परिवारके लोगोंके समान समझा है। कितने ही देवोंको सामान्य प्रजाके समान माना और कितनों ही को पृथक् रूपसे अनुचर नियुक्त किया ॥ २०७ ॥ कितने ही देवोंको परिजनके समान कुटुम्बी माना और कितनों को ही अन्तःपुर-चारी बनाया। कितनी ही देवियोंको वल्लभिका माना और कितनी ही देवियोंको महादेवीके पद पर नियुक्त किया ॥ २०८ ॥ इस प्रकार से मैंने तुम लोगोंमें असाधारण प्रीति दिखाई और तुम लोगोंने भी मेरे पर असाधारण स्वामिभक्ति प्रकट की है ॥ २०९ ॥ इस समय स्वर्गके भोगोंमें मेरी इच्छा मन्द हो गयी है और निश्चय ही भू-लोक-सम्बन्धी लक्ष्मी मेरे समीप आ रही है ॥ २१० ॥ इसलिए आज तुम लोगोंकी साक्षीपूर्वक यह समस्त स्वर्गका साम्राज्य मैं छोड़ रहा हूँ और जो मेरे समान ही अन्य इन्द्र होने वाला है, उसके लिए यह सब समर्पण कर रहा हूँ ॥ २११ ॥ इस प्रकारसे उन सब देवोंमें अपनी अनुत्सुकता या उदासीनताकी भावना करता हुआ वह धीर-बुद्धिवाला इन्द्र उन सब देवोंको शिक्षा देकर इन्द्रपद-का त्याग करता हुआ किसी प्रकारकी व्यथाको नहीं प्राप्त होता है अर्थात् सहर्ष इन्द्र पदका त्याग करता है ॥ २१२ ॥ इस प्रकार उन स्वर्गीय भोगोंका परित्याग करना, यह इन्द्रत्याग क्रिया कह-लाती है। अहो, यह आश्चर्य है कि धीर वीर पुरुष अनायास ही उस प्रकारके भी परम ऐश्वर्यको सहज में ही छोड़ देते हैं ॥ २१३ ॥ यह सैंतीसवीं इन्द्रत्याग क्रिया है। तदनन्तर जीवन के अन्तमें अरहन्त देवकी पूजन करके स्वर्गसे अवतरित होने वाले उस इन्द्रके यह अन्य अवतार क्रिया प्रवृत्त होती है ॥ २१४ ॥ अभी तक इन्द्र पदका धारक मैं मनुष्यजन्म पाकर अतिशीघ्र सिद्धि (मुक्ति लक्ष्मी) का अभिलाषी हुआ हूँ, यह विचार कर वह देवों का अधिराज इन्द्र अपना चित्त सिद्ध भगवान्‌को नमस्कार करनेमें लगाता है ॥ २१५ ॥ तब वह इन्द्र शुभ सोलह स्वप्नोंके द्वारा (भावी माता-पिताको) अपना महान् उदय सूचित करता हुआ स्वर्गावतार नामकी कल्याणकारिणी क्रिया को प्राप्त होता है ॥ २१६ ॥ यह अड़तीसवीं इन्द्रावतार किया है। तदनन्तर वह इन्द्र जन्म देने वाली महादेवीके श्री ह्री आदि देवियोंके द्वारा संशोधित और रत्नोंके गर्भगृहके समान गर्भ में अव-

हिरण्यवृष्टिं धनदे प्राक् षण्मासान् प्रवर्षति। अन्वायान्त्यामिवानन्दात् स्वर्गसम्पदि भूतलम् ॥२१८॥
अमृतश्वसने मंदमवाति व्याप्तसौरभे। भूदेव्या इव निःश्वासे प्रक्लृप्ते पवनामरैः ॥२१९॥
दुन्दुभिध्वनिते मंद्रमुत्थिते पथि वार्मुचाम्। अकालस्तनिताशङ्कामतन्वति शिखण्डिनाम् ॥२२०॥
मन्दारस्रजमम्लानिममोदाहृतषट्पदाम्। मुञ्चत्सु गुह्यकाख्येषु निकायेष्वमृताशिनाम् ॥२२१॥
देवीषूपचरन्तीषु देवीं भुवनमातरम्। लक्ष्म्या समं समागत्य श्रीह्रीधीधृतिकीर्तिषु ॥२२२॥
कस्मिंश्चित् सुकृतावासे पुण्ये राजर्षिमंदिरे। हिरण्यगर्भो धत्तेऽसौ हिरण्योत्कृष्टजन्मताम् ॥२२३॥
हिरण्यसूचितोत्कृष्ट जन्यत्वात् स तथा श्रुतिम्। बिभ्राणां तां क्रियां धत्ते गर्भस्थोऽपि त्रिबोधभृत् ॥२२४

(इति हिरण्यजन्मता।)

विश्वेश्वरी जगन्माता महादेवी महासती। पूज्या सुमङ्गला चेति धत्ते रूढिं जिनाम्बिका ॥२२५॥
कुलाद्रिनिलया देव्यः श्रीह्रीधीधृतिकीर्तयः। समं लक्ष्म्या षडेताश्च सम्मता जिनमातृकाः ॥२२६॥
जन्मानंतरमायातैः सुरेन्द्रैर्मेरुमूर्द्धनि। योऽभिषेकविधिः क्षीरपयोधेः शुचिभिर्जलैः ॥२२७॥
मन्दरेन्द्राभिषेकोऽसौ क्रियाऽस्य परमेष्ठिनः। सा पुनः सुप्रतीतत्वाद् भूयो नेह प्रतन्यते ॥२२८॥

(इति मन्दरेन्द्राभिषेकः)

ततोऽविद्योपदेशोऽस्य स्वतन्त्रस्य स्वयंभुवः। शिष्यभावव्यतिक्रान्तिः गुरुपूजोपलम्भनम् ॥२२९॥

तीर्ण होता है ॥ २१७ ॥ गर्भ में आनेके छह मास पूर्व से ही कुवेर जननी के घर पर हिरण्यवृष्टि करता है, उस समय ऐसा जान पड़ता है मानो आनन्दसे स्वर्गकी सम्पदा ही भगवान्‌के साथ इस भूतल पर आ रही है ॥ २१८ ॥ उस समय अमृतके समान सुखदायक मन्द मन्द पवनके भूलोकमें व्याप्त होनेसे ऐसा जान पड़ता है मानों वायुकुमार देवोंके द्वारा निर्माण किया हुआ भूदेवीका निःश्वास ही है ॥ २१९ ॥ जब आकाशमें बजते हुए दुंदुभियोंकी गम्भीर ध्वनिके फैलने से असमयमें ही मयूरोंको मेघोंके गरजनेकी आशंका हो रही हो, जब यक्ष जातिके देवोंके समूह कभी नहीं मुरझानेवाली और सुगन्धिसे भौरोंको अपनी ओर आकृष्ट करनेवाली कल्पवृक्षोंके फूलोंकी मालाएँ आकाशसे बरसा रहे हों, एवं जब श्री, ह्री, बुद्धि, धृति और कीर्ति नामकी देवियाँ लक्ष्मीदेवीके साथ आकर जगन्माता महादेवीकी स्वयं सेवा-उपचारकर रही हों उस समय पुण्यके आवासवाले किसी पुण्यवान् राजर्षिके राजमन्दिरमें वे हिरण्यगर्भ भगवान् हिरण्योत्कृष्ट जन्मको धारण करते हैं ॥ २२०–२२३ ॥ जो गर्भमें रहते हुए भी मति, श्रुत, अवधि इन तीन ज्ञानके धारक हैं, ऐसे वे भगवान् हिरण्य (सुवर्ण) की वर्षासे जन्मकी उत्कृष्टता सूचित होनेके कारण 'हिरण्योत्कृष्टजन्म' इस सार्थक नामको धारण करनेवाली क्रियाको प्राप्त होते हैं ॥ २२४ ॥ यह उनतालीसवीं हिरण्योत्कृष्ट जन्मता क्रिया है। उस समय जिन भगवान्‌की माता विश्वेश्वरी, जगन्माता, महादेवी, महासती, पूज्या और सुमंगला इत्यादि नामोंको धारण करती है ॥२२५॥ कुलाचलोंपर रहनेवाली श्री, ह्री, बुद्धि, धृति, कीर्ति और लक्ष्मी ये छह देवियाँ जिनमातृका अर्थात् जिनभगवान्‌की माताकी सेविका मानी गई है ॥२२६॥ जिनभगवान्‌का जन्म होनेके अनन्तर स्वर्गलोकसे आये हुए सुरेन्द्रोंके द्वारा सुमेरुके शिखरपर क्षीरसागरके पवित्र जलसे जो भगवान्‌की जी अभिषेकविधि जाती है, वह उन परमेष्ठीकी मन्दरेन्द्राभिषेक क्रिया है। यह क्रिया सुविज्ञात होनेसे पुनः यहाँ पर नहीं कही जा रही है ॥२२७-२२८॥ यह चालीसवीं मन्दराभिषेक क्रिया है। तदनन्तर उस स्वतन्त्र स्वयम्भू भगवानको किसीके द्वारा विद्याओंका उपदेश नहीं दिया जाता है। वे किसी गुरुका शिष्यत्व स्वीकार किये बिना ही गुरुपदकी पूजाको प्राप्त होते हैं ॥ २२९ ॥ उस समय इन्द्र लोग आकर इस लोक-त्राता त्रिजगद्गुरुकी पूजा

तदेन्द्राः पूजयन्त्येनं त्रातारं त्रिजगद्गुरुम् । अशिक्षितोऽपि देवत्वं सम्मतोऽसीति विस्मिताः ॥२३०
(इति गुरुपूजनम् ।)

ततः कुमारकालेऽस्य यौवराज्योपलम्भनम् । पट्टबन्धोऽभिषेकश्च तदास्य स्यान्महौजसः ॥ २३१
(इति यौवराज्यम् ।)

स्वराज्यमधिराज्येऽभिषिक्तस्यास्याक्षितीश्वरैः । शासतः सार्णवामेनां क्षितिमप्रतिशासनाम् ॥२३२
(इति स्वराज्यम् ।)

चक्रलाभो भवेदस्य निधिरत्न समुद्भवे । निजप्रकृतिभिः पूजा साभिषेकाऽधिराडिति ॥२३३
(इति चक्रलाभः ।)

दिशाञ्जयः स विज्ञेयो योऽस्य दिग्विजयोद्यमः । चक्ररत्नं पुरस्कृत्य जयतः सार्णवां महीम् ॥२३४
(इति दिशाञ्जयः ।)

सिद्धदिग्विजयस्यास्य स्वपुरानुप्रवेशने । क्रिया चक्राभिषेकाह्वा साऽधुना सम्प्रकीर्त्यते ॥२३५
चक्ररत्नं पुरोधाय प्रविष्टः स्वनिकेतनम् । परार्ध्यविभवोपेतं स्वर्विमानापहासि यत् ॥२३६
तत्र क्षणमिवासीने रम्ये प्रमदमण्डपे । चामरैर्वीज्यमानोऽयं सनिर्झर इवाद्रिराट् ॥२३७
सम्पूज्य निधिरत्नानि कृतचक्रमहोत्सवः । दत्वा किमिच्छकं दानं मान्यान् सम्मान्य पार्थिवान् ॥२३८
ततोऽभिषेकमाप्नोति पार्थिवैर्महितान्वयैः । नान्दीतूर्येषु गम्भीरं प्रध्वनत्सु सहस्रशः ॥२३९
यथावदभिषिक्तस्य तिरीटारोपणं ततः । क्रियते पार्थिवैर्मुख्यैः चतुर्भिः प्रथितान्वयैः ॥२४०

करते हैं और विस्मित होते हुए कहते हैं कि हे देव, तुम किसीके द्वारा शिक्षित नहीं होनेपर भी सबके द्वारा गुरु रूपसे सम्मान्यको प्राप्त हुए हो ॥ २३० ॥ यह इकतालीसवीं गुरुपूजन क्रिया है। तदनन्तर कुमारकालके प्राप्त होनेपर उन्हें युवराजका पद प्राप्त होता है। उस समय उन महातेजस्वी भगवान्का पट्टबन्ध और अभिषेक किया जाता है ॥ २३१ ॥ यह बियालीसवीं यौवराज्य क्रिया है। तदनन्तर राजा लोग आकर इनको महाराजके पदपर स्थापित करके राज्याभिषेक करते हैं और भगवान् अन्यके शासनसे रहित इस समुद्रान्त पृथिवीका एकछत्र शासन करते हुए स्वराज्यको प्राप्त होते हैं ॥ २३२ ॥ यह तेतालीसवीं स्वराज्य प्राप्ति क्रिया है। तत्पश्चात् नौ निधियों और चौदह रत्नोंके प्राप्त होनेपर उनके चक्ररत्नकी प्राप्ति होती है। उस समय सारी प्रजा उन्हें राजाधिराज मानकर उनकी अभिषेकके साथ पूजा करती है ॥ २३३ ॥ यह चवालीसवीं चक्ररत्न क्रिया है। तदनन्तर चक्ररत्नको आगे करके सागरान्त समस्त पृथिवीको जीतनेवाले उन तीर्थंकर भगवान्का जो दिग्विजय करनेके लिए उद्यम होता है, उसे दिशांजय जानना चाहिए ॥ २३४ ॥ यह पैंतालीसवीं दिशांजय क्रिया है। जब तीर्थंकर भगवान् दिग्विजयको सिद्ध करके अपने नगरमें प्रवेश करते हैं, उस समय चक्राभिषेक नामकी क्रिया होती है, अब उसे कहते हैं ॥ २३५ ॥ वे चक्रवर्ती तीर्थंकर चक्ररत्नको आगे करके बहुमूल्य वैभवसे संयुक्त, स्वर्गके विमानोंका उपहास करनेवाले अपने राजभवनमें प्रवेश करते हैं ॥ २३६ ॥ वहाँ परमरम्य आनन्द मंडपमें विराजमान होनेपर जब उनके ऊपर चंवर ढुलाये जाते हैं उस समय वे निर्झरनोंसे युक्त पर्वतराज सुमेरुके सदृश प्रतीत होते हैं ॥ २३७ ॥ उस समय वे निधियों और रत्नोंकी पूजाकर चक्ररत्न पानेका महान् उत्सव करते हैं और किमिच्छक दान देकर माननीय राजाओंका सन्मान करते हैं ॥ २३८ ॥ तदनन्तर सहस्रों मांगलिक वादित्रोंकी गम्भीर ध्वनि होनेपर वे पूज्य कुलोत्पन्न राजाओंके द्वारा अभिषेकको प्राप्त होते हैं ॥ २३९ ॥ तदनन्तर यथाविधि अभिषिक्त उनके मस्तकपर प्रसिद्ध वंशवाले चार प्रमुख राजाओंके

महाभिषेकसामग्र्या कृतचक्राभिषेचनः। कृतमङ्गलनेपथ्यः पार्थिवैः प्रणितोऽभितः ॥२४१
तिरीटं स्फुटरत्नांशु जटिलीकृतदिग्मुखम्। दधानश्चक्रसाम्राज्यककुदं नृपपुङ्गवः ॥२४२
रत्नांशुच्छुरितं बिभ्रत् कर्णाभ्यां कुण्डलद्वयम्। यद्वाग्देव्याः समाक्रीडारथचक्रद्वयायितम् ॥२४३
तारालितरलस्थूलमुक्ताफलमुरोगृहे। धारयन् हारमाबद्धमिव मङ्गलतोरणम् ॥२४४
विलसद् ब्रह्मसूत्रेण प्रविभक्ततनून्नतिः। तटनिर्झरसम्पातरम्यमूर्तिरिवाद्रिपः ॥२४५
सद्रत्नकटकं प्रोच्चैः शिखरं भुजयोर्युगम्। द्राघिमश्लाघि बिभ्राणः कुलक्ष्माध्रद्वयायितम् ॥२४६
कटिमण्डलसंसक्तलसत्काञ्चीपरिच्छदः। महाद्वीप इवोपान्तरत्नवेदीपरिष्कृतः ॥२४७
मन्दारकुसुमामोदलग्नालिकुलझंकृतैः। किमप्यारब्धसङ्गीतमिव शेखरमुद्वहन् ॥२४८
तत्कालोचितमन्यच्च दधन्मङ्गलभूषणम्। स तदा लक्ष्यते साक्षाल्लक्ष्म्याः पुञ्ज इवोच्छिखः ॥२४९
प्रीताश्चाभिष्टुवन्त्येनं तदामी नृपसत्तमाः। विश्वजयो दिशाञ्जेता दिव्यमूर्तिर्भवानिति ॥२५०
पौराः प्रकृतिमुख्याश्च कृतपादाभिषेचनाः। तत्क्रमार्चनमादाय कुर्वन्ति स्वशिरोधृतम् ॥२५१
श्रीदेव्यश्च सरिद्देव्यो देव्यो विश्वेश्वरा अपि। समुपेत्य नियोगैः स्वैस्तदैनं पर्युपासते ॥२५२

(इति चक्राभिषेकः)

द्वारा मुकुट रक्खा जाता है ॥ २४० ॥ इसप्रकार महाभिषेककी सामग्रीसे जिनका चक्राभिषेक किया गया है, जिन्होंने मांगलिक वेश-भूषा धारण की है, जिन्हें सर्व ओरसे राजालोग नमस्कार कर रहे हैं ॥ २४१ ॥ जो स्फुरायमान रत्नोंकी किरणोंसे समस्त दिशाओंको व्याप्त करनेवाले, तथा चक्रवर्तीके साम्राज्यके चिह्नस्वरूप मुकुटको धारणकर रहे हैं, जो राजाओंमें सर्वश्रेष्ठ हैं ॥ २४२ ॥ जो दोनों कानोंमें रत्नोंकी किरणोंसे व्याप्त, तथा सरस्वतीके क्रीडा-रथके दोनों चक्रोंकी शोभाके समान प्रतीक होनेवाले दो कुण्डलोंको धारणकर रहे हैं ॥ २४३ ॥ जो वक्षस्थलरूप गृहके द्वारपर बँधे मांगलिक तोरणके समान प्रतीत होनेवाले और ताराओंकी पंक्तिके समान चंचल स्थूल मोतियोंवाले हारको धारण किये हुए हैं ॥२४४॥ शोभायमान ब्रह्मसूत्र (यज्ञोपवीत) से जिनके शरीरकी उच्चता प्रकट हो रही है, अत एव जो तटपर गिरते हुए निर्झरनोंसे सुरम्य मूर्त्ति सुमेरुगिरिके सदृश प्रतीत हो रहे हैं ॥ २४५ ॥ जो उत्तम रत्नमय कटक युक्त, उन्नत शिखरवाले विशाल एवं प्रशंसनीय भुजा-युगलको धारण करते हुए ऐसे प्रतीत होते हैं, मानों दो कुलाचलोंको ही धारणकर रहे हैं। क्योंकि कुलाचलोंके कटक भाग रत्न-जटित होते हैं, उनके शिखर उन्नत होते हैं, वे अतिदीर्घ और विशाल होते हैं ॥ २४६ ॥ कटि-मंडलपर सटी हुई शोभायमान करधनीको पहिने हुए वे भगवान् समीपवर्ती रत्नमय वेदिकासे घिरे हुए महाद्वीपसे मालूम पड़ते हैं ॥ २४७ ॥ मन्दारकल्पवृक्षके पुष्पोंकी सुगंधिसे आकृष्ट होकर संलग्न भौरोंके समूहकी झंकारोंसे कुछ संगीत-गान करते हुए के समान सुन्दर शेखरको धारण कर रहे हैं ॥ २४८ ॥ उस समय चक्राभिषेक-कालके उचित अन्य भी मांगलिक आभूषणोंको धारण करते हुए वे भगवान् उन्नत शिखावाले साक्षात् लक्ष्मीके पुंजके ही समान प्रतीत होते हैं ॥ २४९ ॥ उस समय अति प्रीतिको प्राप्त श्रेष्ठ राजा लोग उनकी इसप्रकार स्तुति करते हैं—भगवन् आप विश्वविजयी हैं, दिग्विजेता हैं और दिव्यमूर्त्ति हैं ॥ २५० ॥ पुर-वासी लोग तथा अन्य प्रमुख पदाधिकारी गण उनके चरणोंका अभिषेक करते हैं और उनके चरण-चर्चित जलको लेकर अपने अपने शिरोंपर धारण करते हैं ॥ २५१ ॥ उस समय श्री, ह्री आदि कुमारिका देवियाँ, गंगा-सिन्धु आदि सरिद्देवियाँ, तथा विश्वेश्वरा आदि अन्य अनेकों देवियाँ आ

चक्राभिषेक इत्येकः समाख्यातः क्रियाविधिः । तदनन्तरमस्य स्यात् साम्राज्याख्यं क्रियान्तरम् ॥२५३
अपरेद्युर्दिनारम्भे धृतपुण्यप्रसाधनः । मध्ये महानृपसभं नृपासनमधिष्ठितः ॥२५४
दीप्रैः प्रकीर्णकव्रातैः स्वर्धुनीसीकरोज्ज्वलैः । वारनारीकराधूतैर्वीज्यमानः समन्ततः ॥२५५
सेवागतैः पृथिव्यादिदेवतांशैः परिष्कृतः । धृतिप्रशान्तदीप्त्योजो निर्मलत्वोपमादिभिः ॥२५६
तान् प्रजानुग्रहे नित्यं समाधानेन योजयन् । सम्मानदानविश्रम्भैः प्रकृतीरनुरञ्जयन् ॥२५७
पार्थिवान् प्रणतान् यूयं न्यायैः पालयत प्रजाः । अन्यायेषु प्रवृत्ताश्चेद् वृत्तिलोपो ध्रुवं हि वः ॥२५८
न्यायश्च द्वितयो दुष्टनिग्रहः शिष्टपालनम् । सोऽयं सनातनः क्षात्रो धर्मो रक्ष्यः प्रजेश्वरैः ॥२५९
दिव्यास्त्रदेवताश्चामूराराध्याः स्यु विधानतः । ताभिस्तु सुप्रसन्नाभिरवश्यं भावुको जयः ॥२६०
राजवृत्तिमिमां सम्यक् पालयद्भिरतन्द्रितैः । प्रजासु वर्तितव्यं भो भवद्भिर्न्यायवर्त्मना ॥२६१
पालयेद्य इमं धर्मं स धर्मविजयी भवेत् । क्ष्मां जयेत् विजितात्मा हि क्षत्रियो न्यायजीविकः ॥२६२
इहैव स्याद् यशोलाभो भूलाभश्च महोदयः । अमुत्राभ्युदयावाप्तिः क्रमात् त्रैलोक्यनिर्जयः ॥२६३
इति भूयोऽनुशिष्यैतान् प्रजापालनसंविधौ । स्वयं च पालयत्येनान् योगक्षेमानुचिन्तनैः ॥२६४

अनुसार भगवान् की उपासना करती हैं ॥ २५२ ॥ यह छियालीसवीं चक्राभिषेक क्रिया है । इस प्रकार यह अद्वितीय चक्राभिषेक क्रियाकी विधि कही । अब इसके पश्चात् साम्राज्य नामकी अन्य क्रियाको कहते हैं ॥ २५३ ॥ दूसरे दिन प्रातःकाल वे चक्रवर्ती महाराज पवित्र अलंकारोंको धारण-कर महान् राजाओंकी सभाके मध्य भागमें अवस्थित राजसिंहासनपर विराजमान होते हैं ॥२५४॥ उस समय अति देदीप्यमान गंगानदीके जलकणोंके समान उज्ज्वल एवं वारवनिताओंके हाथोंसे सर्व ओर ढुलाये जाते हुए चँवरोंसे सुशोभित, तथा सेवाके लिए आये हुए धृति, प्रशान्ति, दीप्ति, ओज और निर्मलताके उत्पादक पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश आदि देवताओंके अंशोंसे अर्थात् उनके वैक्रियिक शरीरोंसे वेष्टित वे महाराज उन देवताओंको समाधान-पूर्वक सदा प्रजाके अनुग्रह करनेमें लगाते हैं और सन्मान, दान एवं विश्वास, धैर्य आदिको देकर प्रजाको प्रसन्न करते हैं॥२५५-२५७॥ उस समय नमस्कार करते हुए राजा-महाराजा लोगोंको सम्बोधन कर वे चक्रवर्ती सम्राट् उन्हें आदेश देते हैं कि तुम लोग न्यायपूर्वक प्रजाका पालन करो । यदि तुम्हारी अन्यायके कार्योंमें प्रवृत्ति होगी, तो तुम लोगोंकी वृत्तिका लोप निश्चयसे हो जायगा, अर्थात् तुम्हारा राज्य नष्ट हो जायगा ॥ २५८ ॥ न्याय दो प्रकारका होता है—एक तो दुष्टजनोंका निग्रह करना और दूसरा शिष्ट पुरुषोंका पालन करना । यह दो प्रकारका क्षत्रियोंका सनातन धर्म है । राजाओंको अच्छी तरहसे इस क्षात्रधर्मकी रक्षा करना चाहिए ॥२५९॥ अग्निवाण आदि दिव्य अस्त्रोंके अधिष्ठाता देवताओंकी भी विधिपूर्वक आराधना करनी चाहिये, क्योंकि आराधनासे अति प्रसन्न हुए देवताओंसे अवश्य-म्भावी विजय होती है ॥ २६० ॥ हे राजा लोगो, आप सब इस राजधर्मको प्रमाद-रहित होकर सम्यक् प्रकारसे पालन करते हुए प्रजाओंमें न्यायमार्गसे व्यवहार करें ॥ २६१ ॥ जो राजा इस राजधर्मका भलि-भाँतिसे पालन करता है, वह धर्मविजयी होता है, क्योंकि अपनी आत्मापर विजय पानेवाला और न्यायपूर्वक प्रजाका पालन करनेवाला क्षत्रिय ही इस पृथ्वीको जीत सकता है॥२६२॥ इसप्रकार न्यायपूर्वक राजधर्मके पालन करनेसे इस लोकमें यशका लाभ होता है, पृथिवीकी प्राप्ति होती है और महान् भाग्यका उदय होता है । तथा परलोकमें स्वर्गीय अभ्युदय की प्राप्ति होती है और अनुक्रमसे वह त्रैलोक्य-विजयी सिद्ध पदको प्राप्त करता है ॥ २६३ ॥ इस प्रकार वे महाराज प्रजा-पालन करने की विधिमें वार-वार उन राजाओंको शिक्षण देकर स्वयं योग और क्षेमका विचार

तदिदं तस्य साम्राज्यं नाम धर्म्यं क्रियान्तरम् । येनानुपालितेनायमिहामुत्र च नन्दति ॥२६५

(इति साम्राज्यम् ।)

एवं प्रजाः प्रजापालानपि पालयतश्चिरम् । काले कस्मिँश्चिदुत्पन्नबोधे दीक्षोद्यमो भवेत् ॥२६६
सैषा निष्क्रान्तिरस्येष्टा क्रिया राज्याद् विरज्यतः । लौकान्तिकामरैं भूँयो बोधितस्य समागतैः ॥२६७
कृतराज्यार्पणो ज्येष्ठे सूनौ पार्थिवसाक्षिकम् । सन्तानपालने चास्य करोतीत्यनुशासनम् ॥२६८
त्वया न्यायधनेनाङ्ग भवितव्यं प्रजाधृतौ । प्रजा कामदुघा धेनुः मता न्यायेन योजिता ॥२६९
राजवृत्तमिदं विद्धि यन्न्यायेन धनार्जनम् । वर्धनं रक्षणं चास्य तीर्थे च प्रतिपादनम् ॥२७०
प्रजानां पालनार्थं च मतं मत्यनुपालनम् । मतिर्हिता हितज्ञानमात्रिकामुत्रिकार्थयोः ॥२७१
ततः कृतेन्द्रियजयो वृद्धसंयोगसम्पदा । धर्मार्थशास्त्रविज्ञानात् प्रज्ञां संस्कर्तुमर्हसि ॥२७२
अन्यथा विमति भूँपो युक्तायुक्तानभिज्ञकः । अन्यथाऽन्यैः प्रणेयः स्यान्मिथ्याज्ञानलवोद्धतैः ॥२७३
कुलानुपालने चायं महान्तं यत्नमाचरेत् । अज्ञातकुलधर्मो हि दुर्वृत्तैर्दूषयेत् कुलम् ॥२७४
तथायमात्मरक्षायां सदा यत्नपरो भवेत् । रक्षितं हि भवेत् सर्वं नृपेणात्मनि रक्षिते ॥२७५

करते हुए उन राजाओंका पालन करते हैं ॥ २६४ ॥ भावार्थ-अप्राप्त वस्तुकी प्राप्ति करनेको योग कहते हैं और प्राप्त हुई वस्तुके संरक्षण करनेको क्षेम कहते हैं। इस प्रकार यह उनकी धर्म-युक्त साम्राज्य नामकी वह क्रिया है, जिसके कि पालन करनेसे यह जीव इस लोक और परलोक दोनोंही स्थानोंमें सदा आनन्द पाता है ॥ २६५ ॥ यह सैतालीसवीं साम्राज्य किया है। इस प्रकार प्रजा और प्रजा-पालकोंका चिरकाल तक पालन करते हुए किसी समय प्रबोधके प्रकट होने पर वे दीक्षा लेनेको उद्यमी होते हैं ॥ २६६ ॥ राज्यसे विरागको प्राप्त होनेवाले और ब्रह्मलोकसे आये हुए लौकान्तिक देवोंके द्वारा पुनरपि सम्बोधित उनकी यह निष्क्रान्ति नामक क्रिया मानी गई है ॥ २६७ ॥ उस समय वे महाराज, राजाओंकी साक्षीपूर्वक ज्येष्ठ पुत्र पर राज्यका भार समर्पण कर प्रजा-पालन करनेके लिए इस प्रकार शिक्षा देते हैं ॥ २६८ ॥ हे पुत्र, प्रजाके पालन करनेमें तू न्यायरूपी धनसे युक्त रहना, अर्थात् न्यायपूर्वक प्रजाका पालन करना; क्योंकि न्यायसे पालन की गई प्रजा मनोरथों को पूर्ण करनेवाली कामधेनु मानी गई है ॥ २६९ ॥ हे वत्स, तू इसे ही राजधर्म समझ कि न्यायसे धन उपार्जन करना, उसकी वृद्धि करना, उसका संरक्षण करना और स्थावर तीर्थ सिद्धक्षेत्र आदि तथा जंगमतीर्थ पात्र आदि में दान देना ॥ २७० ॥ प्रजाका पालन करनेके लिए सबसे पहले अपनी मति (वुद्धि) की रक्षा करना आवश्यक माना गया है। इस लोक और परलोक-सम्बन्धी पदार्थोंके विषयमें हित और अहितका ज्ञान होना ही मति या बुद्धि कहलाती है ॥ २७१ ॥ अतएव इन्द्रिय-विजयी होकर वृद्धजनोंकी संगतिरूप सम्पदाद्वारा धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्रके विशिष्ट ज्ञानसे तुम्हें अपनी बुद्धिको भलीभाँति सुसंस्कृत करना चाहिए ॥ २७२ ॥ यदि राजा अपनी बुद्धिको सुसंस्कृत नहीं बनायगा, तो वह योग्य-अयोग्यसे अनभिज्ञ रहकर विपरीत बुद्धिवाला हो जायगा और तब वह मिथ्याज्ञानके लेश मात्रसे उद्धत अन्य कुमार्गगामियोंके द्वारा कुमार्गगामी बना दिया जायगा ॥२७३॥ राजाओंका कुलकी मर्यादा पालन करनेके लिए महान् यत्न करना चाहिए, क्योंकि कुल धर्मसे अनभिज्ञ मनुष्य दुराचरणोंसे अपने कुलको दूषित कर देता है ॥ २७४ ॥ तथा राजाको अपनी आत्म-रक्षामें भी सदा प्रयत्नशील रहना चाहिए, क्योंकि राजाके द्वारा आत्म-रक्षा किये जाने पर ही सब सुरक्षित रह सकता है, अन्यथा नहीं ॥ २७५ ॥ अपनी रक्षा नहीं करनेवाले राजाका शत्रुओंसे, तथा

अपायो हि सपत्नेभ्यो नृपस्यारक्षितात्मनः । आत्मानुजीविवर्गाच्च क्रुद्धलुब्धविमानितात् ॥२७६
तस्माद् रसदतीक्ष्णादीनपायानरियोजितान् । परिहृत्य निजैरिष्टैः स्वं प्रयत्नेन पालयेत् ॥२७७
स्यात् समञ्जसवृत्तित्वमप्यस्यात्माभिरक्षणे । असमञ्जसवृत्तौ हि निजैरप्यभिभूयते ॥२७८
समञ्जसत्वमस्येष्टं प्रजास्वविषमेक्षिता । आनृशंस्यमवाग्दण्डपारुष्यादिविशेषितम् ॥२७९
ततो जितारिषड्वर्गः स्वां वृत्तिं पालयन्निमाम् । स्वराज्ये सुस्थितो राजा प्रेत्य चेह च नन्दति ॥२८०
समं समञ्जसत्वेन कुलमत्यात्मपालनम् । प्रजानुपालनं चेति प्रोक्ता वृत्तिर्महीक्षिताम् ॥२८१
ततः क्षात्रमिमं धर्मं यथोक्तमनुपालयन् । स्थितो राज्ये यशो धर्मं विजयं च त्वमाप्नुहि ॥२८२
प्रशान्तधीः समुत्पन्नबोधिरित्यनुशिष्य तम् । परिनिष्क्रान्तिकल्याणे सुरेन्द्रैरभिपूजितः ॥२८३
महादानमथो दत्वा साम्राज्यपदमुत्सृजन् । स राजराजो राजर्षिर्निष्क्रामति गृहाद् वनम् ॥२८४
धौरेयैः पार्थिवैः किञ्चित् समुत्क्षिप्तां महीतलात् । स्कन्धाधिरोपितां भूयः सुरेन्द्रैर्भक्तिनिर्भरैः ॥२८५
आरूढः शिबिकां दिव्यां दीप्तरत्नविनिर्मिताम् । विमानवसतिं भानोरिवाऽऽयातां महीतलम् ॥२८६
पुरस्सरेषु निःशेषनिरुद्धव्योमवीथिषु । सुरासुरेषु तन्वत्सु, सन्दिग्धार्कप्रभं नभः ॥२८७
अनूत्थितेषु सम्प्रीत्या पार्थिवेषु ससंभ्रमम् । कुमारमग्रतः कृत्वा प्राप्तराज्यं नवोदयम् ॥२८८

रुष्ट, लुब्ध एवं अपमानित अपने ही अनुजीवी वर्गसे विनाश हो जाता है ॥ २७६ ॥ इसलिए शत्रुओंके द्वारा याजित, प्रारम्भमें सुखद, किन्तु परिणाममें अति दुखद अपायोंको दूरकर अपने इष्ट जनोंके द्वारा प्रयत्नके साथ अपनी रक्षा करना चाहिए ॥ २७७ ॥ इसके अतिरिक्त राजाको अपनी रक्षा करनेमें समञ्जस्स वृत्तिवाला होना चाहिए, क्योंकि असमञ्जस वृत्तिवाला अपने स्वजनोंसे भी पराभव का प्राप्त होता है ॥ २७८ ॥ समस्त प्रजा पर पक्षपात-रहित समदृष्टि रखना, क्रूर-व्यवहार नहीं करना, कठोर वचन नहीं बालना और कठिन दण्ड नहीं देना आदि विशेषताओंसे युक्त समदर्शीपनाको समञ्जसवृत्ति कहते हैं ॥ २७९ ॥ इस प्रकार जो राजा काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य इन छह अन्तरंग शत्रुओंको जीतकर और अपनी उपर्युक्त समञ्जस राजवृत्तिको पालन करता हुआ अपने राज्यमें स्थिर रहता है, वह इस लोक ओर परलोकमें आनन्द को प्राप्त करता है ॥ २८० ॥ पक्षपात-रहित समञ्जसवृत्तिके साथ कुलकी मर्यादा पा लेना, वुद्धिकी रक्षा करना, अपनी रक्षा करना और प्रजाका भलिभाँतिसे पालन करना यह सब राजाओंकी वृत्ति कहलाती है ॥ २८१ ॥ अतएव हे पुत्र, इस क्षात्रधर्मको यथोक्त रीतिसे परिपालन करते हुए राज्यमें स्थिर होकर अपने यश, धर्म और विजय को प्राप्त करो ॥ २८२ ॥ इस प्रकारसे पुत्रको अनुशासित कर वे प्रशान्त वुद्धि और प्रबोधको प्राप्त भगवान् परिनिष्क्रमण कल्याणकके समय देवेन्द्रोंके द्वारा पूजे जाते हैं ॥ २८३ ॥ तदनन्तर महान् किमिच्छक दानको देकर और साम्राज्य पदको छोड़कर वे राजाधिराज राजर्षि वनको जानेके लिए घरसे निकलते हैं ॥ २८४ ॥ जिस पालकी पर भगवान् विराजमान होते हैं, उसे सर्व प्रथम मुख्य मुख्य राजा लोग महीतलसे उठाकर और अपने कंधों पर रखकर कुछ दूर ले जाते हैं, पुनः भक्तिसे भरे हुए इन्द्र लोग अपने कंधों पर रखकर ले चलते हैं ॥ २८५ ॥ जिस दिव्य पालकी पर भगवान् आरूढ़ होते हैं, वह देदीप्यमान रत्नों से निर्मित होती है, अतः महीतल पर आये हुए सूर्यके विमानके समान जान पड़ती है ॥ २८६ ॥ उस समय समस्त आकाश-मार्गको रोकते हुए और अपनी कान्तिसे आकाशमें सूर्यकी प्रभाका सन्देह उत्पन्न करते हुए सुर और असुर गण आगे चलते हैं ॥ २८७ ॥ राज्य को प्राप्त करनेसे नवीन भाग्योदयवाले कुमारको आगे करके आश्चर्य-चकित

अनुयायिनि तत्त्यागादिवमन्दीभवद्द्युतौ। निधीनां सह रत्नानां सन्दोहेऽर्घ्यणसंक्षये ॥२८९
सैन्ये च कृतसन्नाहे शनैः समनुगच्छति। मरुद्धूतध्वजव्रातनिरुद्धपवनाध्वनि ॥२९०
ध्वनत्सु सुरतूर्येषु नृत्यत्यप्सरसां गणे। गायन्तीषु कलक्वाणं किन्नरीषु च मङ्गलम् ॥२९१
भगवानभिनिष्क्रान्तः पुण्ये कस्मिँश्चिदाश्रमे। स्थितः शिलातले स्वस्मिँश्चेतसीवातिविस्तृते ॥२९२
निर्वाणदीक्षयात्मानं योजयन्नद्भुतोदयः। सुराधिपैः कृतानन्दर्माचतः परयेज्यया ॥२९३
योऽत्र शेषो विधिर्युक्तः केशपूजादिलक्षणः। प्रागेव स तु निर्णीतो निष्क्रान्तौ वृषभेशिनः ॥२९४
(इति निष्क्रान्तिः ।)

परिनिष्क्रान्तिरेषा स्यात् क्रिया निर्वाणदायिनी। अतः परं भवेदस्य मुमुक्षोर्योगसम्महः ॥२९५
यदायं त्यक्तबाह्यान्तस्सङ्गो निःसङ्गमाचरेत्। स दुश्चरं तपोयोगं जिनकल्पमनुत्तरम् ॥२९६
तदाऽस्य क्षपकश्रेणीमारूढस्योचिते पदे। शुक्ल ध्यानाग्निनिर्दग्धघातिकर्मघनाटवेः ॥२९७
प्रादुर्भवति निःशेषवहिरन्तर्मलक्षयात्। केवलाख्यं परं ज्योतिर्लोकालोकप्रकाशकम् ॥२९८
तदेतत्सिद्धसाध्यस्य प्रायुषः परमं महः। योगसम्मह इत्याख्यामनुधत्ते क्रियान्तरम् ॥२९९
ज्ञानध्यानसमायोगो योगो यस्तत्कृतो महः। महिमातिशयः सोऽयमाम्नातो योग सम्महः ॥३००
(इति योगसम्महः ।)

ततोऽस्य केवलोत्पत्तौ पूजितस्यामरेश्वरैः। बहि विभूतिरुद्भूता प्रातिहार्यादिलक्षणा ॥३०१

राजा लोग अति प्रीतिसे भगवान्‌के समीप अवस्थित रहते हैं ॥२८८॥ भगवान्‌के द्वारा त्यागी जानेसे मन्द कान्तिको प्राप्त हुई निधियोंका और रत्नोंका समूह उनके पीछे-पीछे आता है ॥ २८९ ॥ वायुके द्वारा उड़ती हुईं ध्वजाओंसे पवनका मार्ग (आकाश) अवरुद्ध करने वाली विशेष रूपसे सजी हुई सेना धीरे-धीरे उनके पीछे-पीछे चलती है ॥ २९० ॥ उस समय देव-दुन्दुभियोंके बजने पर, अप्सरा-गणके नृत्य करने पर, किन्नरियों द्वारा मांगलिक सुन्दर गीतोंके गाये जाने पर, भगवान् पालकीमें से निकलकर किसी पुण्यवान् आश्रममें अपने चित्तके समान अति विशाल शिलातल पर विराजमान होकर अपनी आत्माको निर्वाणकी दीक्षासे संयुक्त करते हैं, अर्थात् जिन-दीक्षा लेते हैं। उस समय उस अद्भुत उदयवाले भगवान्‌की इन्द्रलोग आनन्दके साथ उत्तम सामग्रीके द्वारा महान् पूजन करते हैं ॥ २९१-२९३ ॥ इस समय केशलुंच करना, पूजन करना आदि जो विधि कहनेसे शेष है, वह सब वृषभेश्वरकी दीक्षाके समय पहले ही वर्णन की जा चुकी है ॥ २९४ ॥ यह अड़तालीसवीं निष्क्रान्ति-क्रिया है यह निर्वाणको देनेवाली परिनिष्क्रान्ति क्रिया है। अब इसके पश्चात् उन मुमुक्षु भगवान्‌के योग-संग्रह नामकी क्रिया होती है ॥ २९५ ॥ जब वे भगवान् बाह्य और आभ्यन्तर सर्व परिग्रहको छोड़कर पूर्ण निःसंगताको धारण कर अति दुर्धर, जिनकल्पी अनुपम तपोयोगका आचरण करते हैं, तब क्षपकश्रेणी-पर आरूढ़ भगवान्‌के उचित गुणस्थानरूप पदमें शुक्लध्यान रूपी अग्निसे घातिया कर्मरूपी सघन अटवीके जला देने पर समस्त बहिरंग और अन्तरंग मलोंके क्षयसे लोकालोककी प्रकाशक केवलज्ञान नामकी परम ज्योति प्रगट होती है ॥ २९६-२९८ ॥ इस प्रकार साध्यको सिद्ध करनेवाले और परम तेजको प्राप्त हुए उन भगवान्‌के योगसम्मह नामकी एक और क्रिया होती है ॥२९९॥ ज्ञान और ध्यानके समायोगको योग कहते हैं और उस योगसे जो अतिशय महिमाशाली तेज प्रगट होता है, वह योगसम्मह कहलाता है ॥ ३०० ॥ यह उनंचासवीं योगसम्महक्रिया है। तदनन्तर केवल ज्ञानकी उत्पत्ति होने पर अमरेन्द्रोंके द्वारा पूजित उन तीर्थंकर भगवान्‌के प्रातिहार्यादि लक्षण वाली बाह्य विभूति प्रगट होती है ॥३०१॥ दिव्य आठ-प्रातिहार्योंका प्रगट होना, द्वादश प्रकारकी

प्रातिहार्याष्टकं दिव्यं गणो द्वादशधोदितः । स्तूपहर्म्यावलीसालवलयः केतुमालिका ॥३०२
इत्यादिकामिमां भूतिमद्भुतामुपबिभ्रतः । स्यादार्हन्त्यमिति ख्यातं क्रियान्तरमनन्तरम् ॥३०३
(इति आर्हन्त्यक्रिया ।)

विहारस्तु प्रतीतार्थो धर्मचक्रपुरस्सरः । प्रपञ्चितश्च प्रागेव ततो न पुनरुच्यते ॥३०४
(इति विहारक्रिया ।)

ततः परार्थसम्पत्त्यै धर्ममार्गोपदेशनैः । कृततीर्थविहारस्य योगत्यागः परा क्रिया ॥३०५
विहारस्योपसंहारः संहृतिश्च सभावनेः । वृत्तिश्च योगरोधार्था योगत्यागः स उच्यते ॥३०६
यच्च दण्डकपाटादिप्रतीतार्थं क्रियान्तरम् । तदन्तर्भूतमेवावस्ततो न पृथगुच्यते ॥३०७
(इति योगत्यागक्रिया ।)

ततो निरुद्धनिःशेषयोगस्यास्य जिनेशिनः । प्राप्तशैलेश्यवस्थस्य प्रक्षीणाघातिकर्मणः ॥ ३०८
क्रियाग्रनिर्वृतिर्नाम परनिर्वाणमापुषः । स्वभावजनितामूर्ध्वव्रज्यामास्कन्दतो मता ॥ ३०९
(इति अग्रनिर्वृतिः)

इति निर्वाणपर्यन्ताः क्रियागर्भादिकाः सदा । भव्यात्मभिरनुष्ठेयाः त्रिपञ्चाशत्समुच्चयात् ॥ ३१०
यथोक्तविधिनैताः स्युरनुष्ठेया द्विजन्मभिः । योऽप्यत्रान्तर्गतो भेदस्तं वक्ष्म्युत्तरपर्वणि ॥ ३११

शार्दूलविक्रीडितम्

इत्युच्चैर्भरताधिपः स्वसमये संस्थापयन् तान् द्विजान्—
सम्प्रोवाच कृती सतां बहुमता गर्भान्वयोत्थाः क्रियाः ।

सभाओंमें देव-मनुष्य और पशुगणका समवेत होना, स्तूप, हर्म्यावली, प्राकार-वलय और ध्वजमालिका आदि अद्भुत समवसरण विभूतिको धारण करनेवाले उन भगवान्‌के आर्हन्त्य नामसे प्रसिद्ध एक और क्रिया होती है ॥ ३०२-३०३ ॥ यह पचासवीं आर्हन्त्य क्रिया है । तत्पश्चात् धर्मचक्रको आगे करके भगवान्‌का जो विहार होता है, वह विहार नामकी क्रिया है । यह विहार जगत्प्रसिद्ध एवं सर्व विदित है, पहले ही विस्तारसे कहा जा चुका है, इसलिए उसे पुनः नहीं कहते हैं ॥ ३०४ ॥ यह इक्यावनवीं विहार क्रिया है । इस प्रकार धर्ममार्गके उपदेश द्वारा तीर्थ विहार करनेवाले अरहन्तके परम पुरुषार्थ मोक्षकी सम्प्राप्तिके लिए योगत्याग नामकी श्रेष्ठ क्रिया होती हैं ॥ ३०५ ॥ विहारका उपसंहार होना, सभाभूमि (समवसरण) का विघटना, और योग-निरोधके लिए प्रवृत्ति होना यह योगत्याग कहलाता है ॥ ३०६ ॥ दण्ड, कपाट आदि रूपसे प्रसिद्ध और सुप्रतीत केवलिसमुद्घात-रूप क्रिया है वह इसी योगत्याग क्रियाके अन्तर्गत है, अतः उसे पृथक् नहीं कह रहे हैं ॥ ३०७ ॥ यह बावनवीं योगत्याग क्रिया है । तदनन्तर समस्त योगोंका निरोध करनेवाले, शैलेशी अवस्थाको प्राप्त अघातिया कर्मोंके क्षय कर्त्ता उन जिनेश्वर देवके स्वभाव-जनित ऊर्ध्वगतिको प्राप्त होकर परम निर्वाणको प्राप्त करते हुए अग्रनिर्वृति नामकी क्रिया होती है ॥ ३०८-३०९ ॥ यह तिरपनवीं अग्रनि-र्वृति क्रिया है । इस प्रकार गर्भाधान क्रियासे लेकर निर्वाणपर्यन्त समुच्चयरूपसे सब क्रियाएँ तिरे-पन हैं । भव्यात्मा पुरुषोंको इनका सदा अनुष्ठान करना चाहिए ॥ ३१० ॥ द्विज लोगोंको उपर्युक्त विधिके अनुसार इन क्रियाओंका पालन करना चाहिए । इन क्रियाओंमें जो अन्तर्गत और भेद है, उसे आगेके पर्वमें कहेंगे ॥ ३११ ॥ इस प्रकार उन पुणवान् महाराज भरतने द्विजोंको स्वसमय अर्थात् जैनमार्गमें स्थापित करते हुए गर्भाधानसे लेकर निर्वाण-गमन तककी सज्जनोंको सम्मान्य

गर्भाद्याः परनिर्वृतिप्रगमनप्रान्तास्त्रिपञ्चाशतं
प्रारेभेऽथ पुनः प्रवक्तुमुचिता दीक्षान्वयाख्याः क्रियाः ॥३१२
यस्त्वेताः द्विजसत्तमैरभिमता गर्भादिकाः सत्क्रियाः,
श्रुत्वा सम्यगधीत्य भावितमतिर्जैनेश्वरे दर्शने ।
सामग्रीमुचितां स्वतश्च परतः सम्पादयन्नाचरेद्
भव्यात्मा स समग्रधीस्त्रिजगतोचूडामणित्वं भजेत् ॥३१३

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसङ्ग्रहे द्विजोत्पत्तौ गर्भान्वयक्रियावर्णनं नाम अष्टत्रिंशत्तमं पर्व ।

—: ० :—

तिरेपन गर्भान्वय क्रियाएँ कहीं । तत्पश्चात् कहनेके योग्य दीक्षान्वयाओंका कहना प्रारम्भ किया ॥ ३१२ ॥ श्रेष्ठ द्विजोंके द्वारा सन्मानीय इन गर्भाधानादि सत्-क्रियाओंको सुनकर और सम्यक् प्रकारसे उनका अध्ययन कर जो जिनेश्वरोक्त दर्शनमें अपनी बुद्धिको संलग्न करता है और उचित सामग्रीको प्राप्त कर दूसरोंसे आचरण करता हुआ स्वयं भी इनका आचरण करता है, वह भव्यात्मा पुरुष पूर्ण ज्ञानी होकर तीन लोकके चूड़ामणिपनेको प्राप्त होता है अर्थात् मोक्ष प्राप्तकर त्रिलोकके शिखर पर जा विराजता है ॥ ३१३ ॥

इस प्रकार भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराण संग्रहमें
द्विजोंकी उत्पत्ति और गर्भान्वय क्रियाओंका वर्णन करनेवाला
अड़तीसवाँ पर्व समाप्त हुआ ।

एकोनचत्वारिंशत्तमं पर्व

अथाब्रवीद् द्विजन्मेभ्यो मनुर्दीक्षान्वयक्रियाः । यास्ता निःश्रेयसोदर्काश्चत्वारिंशदथाष्ट च ॥१
श्रूयतां भो द्विजन्मानो वक्ष्ये नैःश्रेयसीः क्रियाः । अवतारादिनिर्वाणपर्यन्ता दीक्षितोचिताः ॥२
व्रताविष्करणं दीक्षा द्विधाम्नातं च तद्व्रतम् । महच्चाणु च दोषाणां कृत्स्नदेशनिवृत्तितः ॥३
महाव्रतं भवेत् कृत्स्नहिंसाद्यागोविवर्जितम् । विरतिः स्थूलहिंसादिदोषेभ्योऽणुव्रतं मतम् ॥४
तदुन्मुखस्य या वृत्तिः पुंसो दीक्षेत्यसौ मता । तामन्विता क्रिया या तु सा स्याद् दीक्षान्वया क्रिया ॥५
तस्यास्तु भेदसङ्ख्यानं प्राग्निर्णीतं षडष्टकम् । क्रियते तद्विकल्पनामधुना लक्ष्मवर्णनम् ॥६
तत्रावतारसंज्ञा स्यादाद्या दीक्षान्वयक्रिया । मिथ्यात्वदूषिते भव्ये सन्मार्गग्रहणोन्मुखे ॥७
स तु संसृत्य योगीन्द्रं युक्ताचारं महाधियम् । गृहस्थाचार्यमथवा पृच्छतीति विचक्षणः ॥८
ब्रूत यूयं महाप्रज्ञा मह्यं धर्ममनाविलम् । प्रायो मतानि तीर्थ्यानां हेयानि प्रतिभान्ति मे ॥९
श्रौतान्यपि हि वाक्यानि सम्मतानि क्रियाविधौ । न विचारसहिष्णूनि दुःप्रणीतानि तान्यपि ॥१०
इति पृष्ठवते तस्मै व्याचष्टे स विदांवरः । तथ्यं मुक्तिपथं धर्मं विचारपरिनिष्ठितम् ॥११
विद्धि सत्योद्यमाप्तीयं वचः श्रेयोऽनुशासनम् । अनाप्तोपज्ञमन्यत्तु वचो वाङ्मलमेव तत् ॥१२

अथानन्तर सोहलवें मनु भरतमहराजने उन द्विजोंके लिए अन्तमें मोक्ष फल देनेवाली अड-तालीस दीक्षान्वय क्रियाएँ कहना प्रारम्भ किया ॥१॥ वे बोले—हे द्विजो, मैं अवतारसे आदि लेकर निर्वाण तककी कल्याणकारिणी दीक्षान्वय क्रियाओंको कहता हूँ, सो सुनो ॥२॥ व्रतोंके धारण करनेको दीक्षा कहते हैं और वे व्रत हिंसादि दोषोंके सम्पूर्ण तथा एक देश त्याग करनेकी अपेक्षा महाव्रत और अणुव्रतके भेदसे दो प्रकारके माने गये हैं ॥३॥ सूक्ष्म और स्थूल सभी प्रकारके हिंसादि पापोंका त्याग करना महाव्रत कहलाता है और स्थूल हिंसादि दोषोंसे विरत होनेको अणुव्रत माना गया है ॥४॥ उन व्रतोंके ग्रहण करनेके लिए उन्मुख हुए पुरुषकी जो प्रवृत्ति होती हैं, वह दीक्षा कह-लाती है और उस दीक्षासे संयुक्त जो क्रियाएँ होती हैं, वे दीक्षान्वय-क्रियाएँ कही जाती हैं ॥५॥ उस दीक्षान्वयक्रियाके भेदोंकी संख्या अड़तालीस है, जिनका कि निर्णय पहले कर आये हैं। अब उन भेदोंके लक्षणोंका वर्णन करते हैं ॥६॥ उन दीक्षान्वय क्रियाओंमें पहली अवतार नामकी क्रिया है। मिथ्यात्वसे दूषित कोई भव्य पुरुष जब सन्मार्गको ग्रहण करनेके सन्मुख होता है, तब यह अवतार क्रिया की जाती है ॥७॥ प्रथम ही वह विचक्षण भव्यपुरुष योग्य आचरणवाले महान् बुद्धिशाली योगिराजके समीप जाकर, अथवा किसी गृहस्थाचार्यके समीप जाकर उनसे इस प्रकार पूछता है कि हे महाप्राज्ञ, आप मेरे लिए निर्दोष धर्मका स्वरूप कहिये, क्योंकि मुझे अन्य तीर्थिक लोगोंके मत प्रायः हेय प्रतीत होते हैं ॥८-९॥ धार्मिक क्रियाओंके करनेमें जो वेदोंके वाक्य प्रमाण माने जाते हैं, वे भी विचारको सहन नहीं कर सकते, अर्थात् ऊहापोह करने पर वे निःसार प्रतीत होते हैं, क्योंकि वे दुष्ट जनोंके द्वारा प्रणीत हैं ॥१०॥ इस प्रकार पूछनेवाले उस भव्यपुरुषके लिए विद्वानोंमें श्रेष्ठ वे योगिराज अथवा गृहस्थाचार्य सत्ययुक्त, विचारसे परिपूर्ण एवं मोक्षके मार्गस्वरूप धर्मका व्या-ख्यान करते हैं ॥११॥ वे कहते हैं—हे भव्य, तुम मोक्षका उपदेश देनेवाले आप्त-कथित वचनको ही सत्य वचन समझो। अन्य वचन जो आप्त-कथित नहीं हैं, वे तो केवल वचन-मल ही हैं, सत्य नहीं

विरागः सर्ववित् सार्वः सूक्तसूनृतपूतवाक् । आप्तः सन्मार्गदेशी यस्तदाभासास्ततोऽपरे ॥१३
रूपतेजोगुणस्थानध्यानलक्ष्मर्द्धिदत्तिभिः । कान्तता-विजयज्ञानदृष्टिवीर्यसुखामृतैः ॥१४
प्रकृष्टो यो गुणैरेभिः चक्रिकल्पाधिपादिसु । स आप्तः स च सर्वज्ञः स लोकपरमेश्वरः ॥१५
ततः श्रेयोऽर्थिना श्रेयं मतमाप्तप्रणेतृकम् । अव्याहतमनालीढपूर्वं सर्वज्ञमानिभिः ॥१६
हेत्वाज्ञायुक्तमद्वैतं दीप्तं गंभीरशासनम् । अल्पाक्षरमसन्दिग्धं वाक्यंस्वायंभुवं विदुः ॥१७
इतश्च तत्प्रमाणं स्याद् श्रुतमन्त्रक्रियादयः । पदार्थाः सुस्थितास्तत्र यतो नान्यमतोचिता ॥१८
यथाक्रममतो ब्रूमः तान्पदार्थान्प्रपञ्चतः । यैः सनिःकृष्यमाणाः स्युः दुःस्थिताः परसूक्तयः ॥१९
वेदः पुराणं स्मृतयः चारित्रं च क्रियाविधिः । मन्त्राश्च देवतालिङ्गमाहाराद्याश्च शुद्धयः ॥२०
एतेऽर्थाः यत्र तत्त्वेन प्रणीताः परमर्षिणा । स धर्मः स च सन्मार्गः तदाभासाः स्युरन्यथा ॥२१
श्रुतं सुविहितं वेदो द्वादशाङ्गमकल्मषम् । हिंसोपदेशि यद्वाक्यं न वेदोऽसौ कृतान्तवाक् ॥२२
पुराणं धर्मशास्त्रं च तत्स्यात् वधनिषेधि यत् । वधोपदेशि यत्तत्तु ज्ञेयं धूर्तप्रणेतृकम् ॥२३
सावद्यविरतिर्वृत्तम् आर्यषट्कर्मलक्षणम् । चातुराश्रम्यवृत्तं तु परोक्तमसदञ्जसा॥ २४

हैं ॥१२॥ जो वीतराग है, सर्ववेत्ता है, सब प्राणियोंका कल्याण करनेवाला है, सन्मार्गका उपदेशक है और जिसके वचन पूर्वापर विरोध-रहित, सत्य और पवित्र हैं, वह आप्त कहलाता है। उक्त लक्षणों से रहित सभी पुरुषोंको आप्ताभास या मिथ्याभाषी जानना चाहिए ॥१३॥ जो रूप, तेज, गुणस्थान, ध्यान, लक्षण, ऋद्धि, दान, सौन्दर्य, विजय, ज्ञान, दर्शन, वीर्य और सुखामृत इन गुणोंके द्वारा चक्रवर्ती और इन्द्रादिकोंसे भी उत्कृष्ट है, वही सर्वज्ञ है और वही सर्व लोकोंका परमेश्वर है ॥१४-१५॥ इसलिए कल्याणके चाहनेवाले लोगोंको इसी आप्त-प्रणीत मत का आश्रय लेना चाहिए, क्योंकि वह युक्तियोंसे अबाधित है और अपनेको सर्वज्ञ माननेवाले आप्ताभासियोंसे असंस्पृष्ट है, अर्थात् असर्वज्ञ लोग जिसका स्पर्श भी नहीं कर सके हैं ॥१६॥ जो युक्ति और आगमसे युक्त है, अद्वितीय है, जगत्प्रकाश है, गम्भीर शासनवाला है, अल्पअक्षर-संयुक्त है और असंदिग्ध है, ऐसे वचनको ही स्वयम्भू सर्वज्ञ-प्रणीत जानना चाहिए ॥१७॥ यतः सर्वज्ञ-प्रणीत मतमें शास्त्र, मंत्र, और क्रिया आदिक पदार्थ सुव्यवस्थित हैं और अन्य मतोंमें वे वैसे नहीं पाये जाते हैं, अतः सर्वज्ञ-प्रणीत मत ही प्रमाणभूत है ॥१८॥ हे भव्य, मैं यथाक्रमसे उन पदार्थोंका विस्तार-पूर्वक निरूपण करता हूँ, क्योंकि उन तत्त्वोंके साथ भली-भाँति सन्निकर्षको गई अर्थात् कसौटी पर-कसी गई पर-मतकी सूक्तियाँ दोष-युक्त प्रतीत होने लगती हैं ॥१९॥ जिस मतमें वेद, पुराण, स्मृति, चारित्र, क्रियाओंकी विधि, मंत्र, देवता, लिंग (वेष) और आहार आदिकी शुद्धि, इन पदार्थोंका यथार्थ रीतिसे परम-ऋषियोंने निरूपण किया है, वही धर्म है और वही सन्मार्ग है। जिन मतोंमें इससे अन्यथा कथन है, उन सबको धर्माभास और मार्गाभास जानना चाहिए ॥२०-२१॥ सदाचार-प्ररूपक, द्वादशाङ्गरूप निर्दोष श्रुतज्ञान ही सच्चा वेद (ज्ञान) है। जो वाक्य हिंसाका उपदेश देनेवाला है, वह वेद नहीं है, उसे तो यमराजके वाक्य ही समझना चाहिए ॥२२॥ पुराण और धर्मशास्त्र वे ही वाक्य माने जा सकते हैं, जो कि हिंसाके निषेध करनेवाले हों। जो पुराण या धर्मशास्त्र हिंसाके उपदेशक हैं, उन्हें तो धूर्तजनोंसे प्रणीत ही जानना चाहिए ॥२३॥ पापोंसे विरक्तिको चारित्र कहते हैं। वह चारित्र आर्यपुरुषोंके करने योग्य पूजा, वार्त्ता आदि षट्कर्मस्वरूप है। दूसरे मतावलम्बियोंके द्वारा कहा गया चार प्रकारके आश्रमरूप चारित्र तो निश्चयसे असत् ही है ॥२४॥ गर्भाधानसे लेकर निर्वाण तककी जो क्रियाएँ पहले कही गई हैं, वेही

क्रिया गर्भादिका यास्ता निर्वाणान्ताः पुरोदिताः । आधानादिश्मशानान्ता न ताः सम्यक् क्रियामता.२५
मन्त्रास्त एव धर्म्याः स्युः ये क्रियासु नियोजिताः । दुर्मन्त्रास्तेऽत्र विज्ञेया ये युक्ताः प्राणिमारणे ॥२६
विश्वेश्वरादयो ज्ञेया देवताः शान्तिहेतवः । क्रूरास्तु देवता हेया यासां स्याद्वृत्तिरामिषैः ॥२७
निर्वाणसाधनं यत् स्यात्तल्लिङ्गं जिनदेशितम् । एणाजिनादिचिह्नं तु कुलिंगं तद्विधैःकृतम् ॥२८
स्यान्निरामिषभोजित्वं शुद्धिराहारगोचरा । सर्वङ्कषास्तु ते ज्ञेया ये स्युरामिषभोजिनः ॥२९
अहिंसाशुद्धिरेषां स्याद् ये निःसङ्गा दयालवः । रताः पशुवधे ये तु न ते शुद्धा दुराशयाः ॥३०
कामशुद्धिर्मता तेषां विकामा ये जितेन्द्रियाः । सन्तुष्टाश्च स्वदारेषु शेषाः सर्वे विडम्बकाः ॥३१
इति शुद्धं मतं यस्य विचारपरिनिष्ठितम् । स एवाप्तस्तदुन्नीतो धर्मः श्रेयो हितार्थिनाम् ॥३२
श्रुत्वेति देशनां तस्माद् भव्योऽसौ देशिकोत्तमात् । सन्मार्गे मतिमाधत्ते दुर्मार्गरतिमुत्सृजन् ॥३३
गुरूर्जनयिता तत्त्वज्ञानं गर्भः सुसंस्कृतः । तदा तत्रावतीर्णोऽसौ भव्यात्मा धर्मजन्मना ॥३४
अवतारक्रियाऽस्यैषा गर्भाधानवदिष्यते । यतो जन्मपरिप्राप्तिरुभयत्र न विद्यते ॥३५

इत्यवतारक्रिया ।

ततोऽस्य वृत्तलाभः स्यात् तदैव गुरुपादयोः । प्रणतस्य व्रतव्रातं विधानेनोपसेदुषः ॥३६

इतिवृत्तलाभः

सच्ची क्रियाएं हैं । इनके अतिरिक्त गर्भसे लेकर श्मशान तककी जो क्रियाएँ अन्य लोगोंने कही हैं, वे सच्ची क्रियाएँ नहीं हैं ॥२५॥ जो गर्भाधानादि क्रियाओंमें प्रतिपादित उपयुक्तमंत्र हैं, वे ही धार्मिक मंत्र हैं। किन्तु जो प्राणियोंके मारनेमें प्रयुक्त मंत्र है, उन्हें तो दुर्मन्त्र ही समझना चाहिए ॥२६॥शान्ति करनेवालेविश्वके ईश्वर तीर्थंकर आदि ही सच्चे देवता समझना चाहिए । किन्तु जिनकी वृत्तिमांस से है, वे क्रूर देवता हैं, अतः उनका परित्याग करना चाहिए ।।२७।। जो साक्षात् निर्वाणका कारण है, ऐसा जिनोपदिष्ट निर्ग्रन्थपना ही सच्चा लिंग है। इसके अतिरिक्त मृग,व्याघ्र आदिके चर्म-चिह्नवाले लिंग तो कुलिंग ही हैं, क्योंकि वे कुलिंगियोंके द्वारा बनाये गये हैं ॥२८॥ मांस-रहित भोजन करना हीआहार-विषयक शुद्धि कहलाती है । जो मांस-भोजी हैं, उन्हें तो सर्व-भक्षी हिंसक या कषायी जानना चाहिए ॥२९॥ अहिंसा-शुद्धि उन्हीं पुरुषोंके होती है, जो परिग्रह-रहित और दयालु हैं । किन्तु जो पशु-वधमें तत्पर रहते हैं, वे दुष्ट अभिप्रायवाले शुद्ध नहीं हैं ॥३०॥ जो काम-विकारसे रहित जितेन्द्रिय पुरुष हैं और जो अपनी स्त्रियोंमें सन्तुष्ट हैं ऐसे मुनियों और गृहस्थोंके काम-विषयक शुद्धि मानी गई है। इनके अतिरिक्त शेष सर्व मनुष्य ब्रह्मचर्यकी विडम्बना करनेवाले हैं ॥३१॥ इस प्रकारके विचारोंसे परीक्षित किया गया जिसका मत शुद्ध हो, वही पुरुष आप्त कहलानेके योग्य है और उसीके द्वारा कहा हुआ धर्म हितके चाहनेवाले लोगोंको कल्याणकारी हो सकता है ॥ ३२ ॥ उत्तम उपदेशकसे इस प्रकारकी धर्म-देशनाको सुनकर वह भव्य पुरुष कुमार्गके प्रेमको छोड़ता हुआ सन्मार्गमें अपनी बुद्धिको लगाता है ॥ ३३ ॥ उस समय गुरु ही उसका जनक है और तत्त्वज्ञान ही सुसंस्कृत गर्भ है । वह भव्यात्मा धर्मरूप जन्मके द्वारा उस तत्त्वज्ञानरूपी गर्भमें अवतीर्ण होता है ॥ ३४ ॥ इस भव्य पुरुषकी यह अवतार क्रिया गर्भाधानके समान मानी जाती है, क्योंकि जन्मकी प्राप्ति न तो गर्भाधानक्रियामें है और न अवतार क्रियामें ही है ॥ ३५ ॥ भावार्थ—जीव सदा ही सत्-स्वरूप है अतः उसका कभी वस्तुतः जन्म होता ही नहीं है। यह पहली अवतार क्रिया है। तदनन्तर उसी समय गुरुके चरणोंमें नमस्कार कर विधिपूर्वक व्रतोंके समुदायको ग्रहण करने-वाले उस भव्यात्माके वृत्तलाभ नामकी क्रिया होती है ॥ ३६ ॥ यह दूसरी वृत्तलाभ क्रिया है।

ततः कृतोपवासस्य पूजाविधिपुरःसरः । स्थानलाभो भवेदस्य तत्रायमुचितो विधिः ॥३७
जिनालये शुचौ रङ्गे पद्ममष्टदलं लिखेत् । विलिखेद् वा जिनास्थानमण्डलं समवृत्तकम् ॥३८
श्लक्ष्णेन पिष्टचूर्णेन सलिलालोडितेन वा । वर्तनं मण्डलस्येष्टं चन्दनादिद्रवेण वा ॥३९
तस्मिन्नष्टदले पद्मे जैने वाऽऽस्थानमण्डले । विधिना लिखिते तज्ज्ञैर्विष्वग्विरचितार्चने ॥४०
जिनार्चाभिमुखं सूरिः विधिनैनं निवेशयेत् । तवोपासकदीक्षेयमिति मूर्ध्नि मुहुः स्पृशन् ॥४१
पञ्चमुष्टिविधानेन स्पृष्ट्वैनमधिमस्तकम् । पूतोऽसि दीक्षयेत्युक्त्वा सिद्धशेषा च लम्भयेत् ॥४२
ततः पञ्चनमस्कारपदान्यस्मा उपादिशेत् । मन्त्रोऽयमखिलात् पापात्त्वां पुनीतादितीरयन् ॥४३
कृत्वा विधिमिमं पश्चात् पारणाय विसर्जयेत् । गुरोरनुग्रहात् सोऽपि सम्प्रीतः स्वगृहं व्रजेत् ॥४४
इति स्थानलाभः ।

निर्दिष्टस्थानलाभस्य पुनरस्य गणग्रहः । स्यान्मिथ्यादेवताः स्वस्माद् विनिःसारयतो गृहात् ॥४५
इयन्तं कालमज्ञानात् पूजिताः स्थ कृतादरम् । पूज्यास्त्विदानीमस्माभिः अस्मत्समयदेवताः ॥४६
ततोऽपमृषितेनालमन्यत्र स्वैरमास्यताम् । इति प्रकाशमेवैतान् नीत्वाऽन्यत्र क्वचित्त्यजेत् ॥४७
गणग्रहः स एष स्यात् प्राक्तनं देवतागणम् । विसृज्यार्चयतः शान्ताः देवताः समयोचिताः ॥४८
इति ग्रहणक्रिया ।

पूजाराध्याख्ययाख्याता क्रियाऽस्य स्यादतः परा । पूजोपवाससम्पत्या शृण्वतोऽङ्गार्थसङ्ग्रहम् ॥४९
इति पूजाराध्यक्रिया ।

तत्पश्चात् जिसने उपवास किया है, ऐसे उस भव्य पुरुषके पूजाकी विधि-पूर्वक स्थानलाभ नामकी क्रिया होती है । इसमें यह वक्ष्यमाण विधि करना उचित है ॥३७॥ जिनालयमें किसी शुद्ध स्थान-पर अष्टदलवाले कमलको लिखे, अथवा गोल आकारवाले समवसरणके मंडलकी रचना करे ॥३८॥ इस कमलकी, अथवा समवसरण-मंडलकी रचना जलमें घोले हुए बारीक पिसे चूर्णसे अथवा घिसे हुए चन्दन-केशर आदिके रससे करना चाहिए ॥३९॥ मंडल-रचनाके जानकार लोगोंके द्वारा लिखित उस अष्टदल कमलकी, अथवा जैन आस्थानमंडल (समवसरण) की विधिपूर्वक पूजन हो जानेपर आचार्य उस भव्यपुरुषको जिनप्रतिमाके सन्मुख बिठावे और उसके मस्तकका बार-बार स्पर्श करता हुआ उससे कहे कि यह तेरी श्रावकदीक्षा है ॥४०-४१॥ पुनः पंचमुष्टि विधानसे उसके मस्तकका स्पर्शकर और 'तू इस दीक्षासे पवित्र हुआ' इसप्रकार कहकर पूजनसे शेष रहे अक्षत उसके मस्तकपर डाले ॥४२॥ तदनन्तर 'यह मन्त्र तुझे समस्त पापोंसे पवित्र करे' ऐसा कहकर उसे पञ्चनमस्कार मन्त्रका उपदेश देवे ॥४३॥ यह सब विधि करके आचार्य उसे पारणाके लिए विदा करे और वह भव्य भी उसके अनुग्रहसे अति प्रसन्न होता हुआ अपने घरको जावे ॥४४॥ यह तीसरी स्थानलाभ क्रिया है । जिसकी स्थानलाभ क्रिया अभी कही गई है, उस भव्यके मिथ्या देवताओंको अपने घरसे बाहर करते समय गणग्रह क्रिया होती है ॥४५॥ उस समय वह अभी तक घरमें स्थापित उन देव-ताओंसे कहे कि "मैंने इतने कालतक अज्ञानसे आदरपूर्वक तुम्हारी पूजा की; अब हमें हमारे ही मतके देवता पूज्य हैं, इसलिए क्रोध न करें और अपनी इच्छानुसार अन्यत्र रहें" इसप्रकार स्पष्ट कहकर और उन देवताओंको ले जाकर किसी अन्य स्थानपर छोड़ आवे ॥४६-४७॥ इसप्रकार पहले-के देवताओंका विसर्जनकर अपने मतके शान्त देवताओंकी पूजा करनेवाले उस भव्यकी यह गणग्रह क्रिया है ॥४८॥ यह चौथी गणग्रह क्रिया है । तदनन्तर जिनदेवकी पूजन करते और यथा-

ततोऽन्या पुण्ययज्ञाख्या क्रियापुण्यानुबन्धिनी। शृण्वतः पूर्वविद्यानामर्थं सब्रह्मचारिणः ॥५०

इति पुण्ययज्ञक्रिया।

तथाऽस्य दृढ़चर्या स्यात् क्रिया स्वसमयश्रुतम्। निष्ठाप्य शृण्वतो ग्रन्थान् बाह्यानन्यांश्च कांश्चन ॥५१

इति दृढचर्याक्रिया।

दृढ़व्रतस्य तस्यान्या क्रिया स्यादुपयोगिता। पर्वोपवासपर्यन्ते प्रतिमायोगधारणम् ॥५२

इति उपयोगिताक्रिया।

क्रियाकलापेनोक्तेन शुद्धिमस्योपबिभ्रतः। उपनीतिरनूचानयोग्यलिङ्गग्रहो भवेत् ॥५३
उपनीतिर्हि वेषस्य वृत्तस्य समयस्य च। देवतागुरुसाक्षि स्याद् विधिवत्प्रतिपालनम् ॥५४
शुक्लवस्त्रोपवीतादिधारणं वेष उच्यते। आर्यषट्कर्मजीवित्वं वृत्तमस्य प्रचक्षते ॥५५
जैनोपासकदीक्षा स्यात् समयः समयोचितम्। दधतो गोत्रजात्यादि नामान्तरमतः परम् ॥५६

इत्युपनीतिक्रिया।

ततोऽयमुपनीतः सन् व्रतचर्यां समाश्रयेत्। सूत्रमौपासकं सम्यगभ्यस्य ग्रन्थतोऽर्थतः ॥५७

इति व्रतचर्याक्रिया।

व्रतावतारणं तस्य भूयो भूषादिसङ्ग्रहः। भवेदधीतविद्यस्य यथावद् गुरुसन्निधौ ॥५८

इति व्रतावतरणक्रिया।

विवाहस्तु भवेदस्य नियुञ्जानस्य दीक्षया। सुव्रतोचितया सम्यक् स्वां धर्मसहचारिणीम् ॥५९

संभव उपवास करते हुए द्वादशाङ्गवाणी-प्रोक्त तत्त्वोंके अर्थको सुननेवाले उस भव्यके पूजाराध्य नामसे प्रसिद्ध क्रिया होती हैं ॥४९॥ यह पाँचवीं पूजाराध्य क्रिया है। तत्पश्चात् अपने सहाध्यायी बन्धुओंके साथ चौदह पूर्व विद्याओंका अर्थ सुननेवाले उस भव्यके पुण्यानुबन्धिनी पुण्ययज्ञ नामकी क्रिया होती है ॥५०॥ यह छठी पुण्ययज्ञ क्रिया है। इसप्रकार स्वसमयके शास्त्रोंका भली भाँतिसे अध्ययन करके परसमयके अन्य किन्हीं ग्रन्थोंको सुननेवाले उस नवदीक्षित पुरुषके दृढ़चर्या नामकी क्रिया होती है ॥५१॥ यह सातवीं दृढ़चर्या क्रिया है। तदनन्तर व्रतोंमें दृढ़ताको प्राप्त उस भव्यके आठवीं उपयोगिता क्रिया होती है। पर्वके दिन उपवासके अन्तमें रात्रिके समय प्रतिमायोगके धारण करनेको उपयोगिता कहते हैं ॥५२॥ यह आठवीं उपयोगिया क्रिया है। उपर्युक्त क्रिया-कलापके द्वारा शुद्धिको धारण करनेवाले उस भव्य जीवके उत्तम पुरुषोंके योग्य चिह्नको धारण करने रूप उपनीति क्रिया होती है ॥५३॥ देवता और गुरुकी साक्षीपूर्वक विधिके अनुसार अपने वेष, वृत्त (चारित्र) और समयका प्रतिपालन करना उपनीति क्रिया कहलाती है ॥५४॥ श्वेत वस्त्र और यज्ञोपवीत आदिको धारण करना वेष कहलाता है। देवपूजा आदि आर्योंके करने योग्य छह कर्मोंका पालन करना वृत्त कहा जाता है ॥५५॥ तदनन्तर शास्त्रानुसार गोत्र, जाति आदि दूसरे नाम धारण करनेवाले पुरुषके जो जैन उपासककी दीक्षा होती है, उसे समय कहते हैं ॥५६॥ यह नवमीं उपनीति क्रिया है। तदनन्तर यज्ञोपवीतको धारणकर यह भव्यपुरुष शब्द और अर्थ दोनों प्रकारसे भली-भाँति उपासकाध्ययन सूत्रका अभ्यासकर श्रावकव्रतोंको पालते हुए व्रतचर्याको धारण करे ॥५७॥ यह दशवीं व्रतचर्या क्रिया है। जब उक्त भव्य विद्या पढ़ना समाप्त करता है और गुरुके समीप विधिपूर्वक पुनः वस्त्र-आभूषणादिको ग्रहण करता है, तब उसके व्रतावतरण क्रिया होती है ॥५८॥ यह ग्यारहवीं व्रतावतरण क्रिया है। जब वह भव्य अपनी धर्मसहचारिणी स्त्रीको उत्तम व्रतोंके

पुनर्विवाहसंस्कारः पूर्वः सर्वोऽस्य सम्मतः सिद्धार्चनां पुरस्कृत्य पत्न्याः संस्कारमिच्छतः ॥६०
इति विवाहक्रिया।

वर्णलाभस्ततोऽस्य स्यात् सम्बन्धं संविधित्सतः समानाजीविभिर्लब्धवर्णैरन्यैरुपासकैः ॥६१
चतुरः श्रावकज्येष्ठादाहूयकृतसत्क्रियान्। तान ब्रूयादस्म्यनुग्राह्यो भवद्भिः स्वसमीकृतः ॥६२
यूयं निस्तारका देवब्राह्मणा लोकपूजिताः। अहं च कृतदीक्षोऽस्मि गृहीतोपासकव्रतः ॥६३
मया तु चरितो धर्मः पुष्कलो गृहमेधिनाम्। दत्तान्यपि च दानानि कृतं च गुरुपूजनम् ॥६४
अयोनिसंभवं जन्म लब्ध्वाहं गुर्वनुग्रहात्। चिरभावितमुत्सृज्य प्राप्तो वृत्तमभावितम् ॥६५
व्रतसिद्ध्यर्थमेवाहमुपनीतोऽस्मि साम्प्रतम्। कृतविद्यश्च जातोऽस्मि स्वधीतोपासकश्रुतः ॥६६
व्रतावतरणस्यान्ते स्वीकृताभरणोऽस्म्यहम्। पत्नी च संस्कृताऽऽत्मीया कृतपाणिग्रहा पुनः ॥६७
एवं कृतव्रतस्याद्य वर्णलाभो ममोचितः। सुलभः सोऽपि युष्माकमनुज्ञानात् सधर्मणाम् ॥६८
इत्युक्तास्ते च तं सत्यमेवमस्तु समञ्जसम्। त्वयोक्तं श्लाघ्यमेवैतत् कोऽन्यस्त्वत्सदृशो द्विजः ॥६९
युष्मादृशामलाभे तु मिथ्यादृष्टिभिरप्यमा। समानाजीविभिः कर्तुं सम्बन्धोऽभिमतो हि नः ॥७०
इत्युक्त्वैनं समाश्वास्य वर्णलाभेन युञ्जते। विधिवत् सोऽपि तं लब्ध्वा याति तत्समकक्षताम् ॥७१
इति वर्णलाभक्रिया।

योग्य श्रावककी दीक्षासे नियुक्त करता है, तव उसके विवाह नामकी क्रिया होती है ॥५९॥ अपनी पत्नीके संस्कारको चाहनेवाले उस भव्यका उसी स्त्रीके साथ सिद्ध भगवान्की पूजन पूर्वक पुनः विवाह-संस्कार करना आवश्यक माना गया है ॥६०॥ यह बारहवीं विवाह क्रिया है। तदनन्तर समान आजीविका करनेवाले वर्णलाभको प्राप्त अन्य श्रावकोंके साथ सम्बन्ध स्थापित करनेकी इच्छासे इस भव्यके वर्णलाभ नामकी क्रिया होती है ॥६१॥ इस क्रियाके करते समय वह भव्य चार प्रमुख श्रावकोंको वुलाकर और उनका आदर-सत्कारकर उनसे कहे कि आप लोग मुझे अपने समान बनाकर मेरेपर अनुग्रह करें ॥६२॥ आपलोग संसार तारक देव ब्राह्मण हैं, लोक-पूजित हैं और मैं उपासक व्रतधारक नवशिक्षित हूँ ॥६३॥ मैंने गृहस्थोंका धर्म भलीभाँति आचरण किया है, सर्व-प्रकारके दान भी दिये हैं और गुरुजनोंका पूजन भी किया है ॥६४॥ मैंने गुरुके अनुग्रहसे अयोनि-संभव (मातृयोनिके विना ही मन्त्र-संस्कारवाला) जन्म पाकर चिरकालसे पालन किया हुआ मिथ्यात्व आचरण छोड़कर पूर्व-अभावित इस सम्यक्चारित्रको पाया है ॥६५॥ व्रतोंको सिद्धिके लिये ही मैंने इससमय यह यज्ञोपवीत धारण किया है और श्रावकाचार पढ़कर तथा अन्य विद्याओंका अभ्यासकर विद्वत्ता भी प्राप्त की है ॥६६॥ व्रतावतरण क्रियाके पश्चात् ही मैंने आभूषण स्वीकार किये हैं, मैंने अपनी पत्नी भी संस्कार-युक्त की है और उसके साथ पुनः विवाह-संस्कार भी किया है ॥६७॥ इसप्रकारका व्रत-धारण करनेवाले मुझे इससमय वर्णलाभ करना उचित ही है और वह भी आप सव साधर्मीजनोंकी अनुज्ञासे सहजमें सुलभ है ॥६८॥ इसप्रकार कहनेपर वे देव ब्राह्मण कहें कि तुमने सत्य ही कहा है, तुम्हारा कथन समोचीन और प्रशंसनीय है। तुम्हारे सदृश अन्य कौन द्विज है ॥ ६९ ॥ आप जैसे साधर्मीजनोंके प्राप्त नहीं होनेपर हम लोगोंको समान आजीविका करनेवाले मिथ्यादृष्टियोंके साथ भी अपना विवाहादि सम्बन्ध करना पड़ता है ॥७०॥ इस प्रकार कह कर और उसे आश्वासन देकर वे लोग उसे वर्णलाभसे संयुक्त करते हैं और वह भव्य भी विधिपूर्वक वर्णलाभको पाकर उन श्रावकोंकी समानताको प्राप्त होता है ॥७१॥ यह तेर-

वर्णलाभोऽयमुद्दिष्टः कुलचर्याऽधुनोच्यते । आर्यषट्कर्मवृत्तिः स्यात् कुलचर्याऽस्य पुष्कला ॥७२

इति कुलचर्या ।

विशुद्धस्तेन वृत्तेन ततोऽभ्येति गृहीशिताम् । वृत्ताध्ययनसम्पत्त्या परानुग्रहणक्षमः ॥७३

प्रायश्चित्तविधानज्ञः श्रुतिस्मृतिपुराणवित् । गृहस्थाचार्यतां प्राप्तः तदा धत्ते गृहीशिताम् ॥७४

इति गृहीशिताक्रिया ।

ततः पूर्ववदेवास्य भवेदिष्टा प्रशान्तता । नानाविधोपवासादिभावनाः समुपेयुषः ॥७५

इति प्रशान्तताक्रिया ।

गृहत्यागस्ततोऽस्य स्याद् गृहवासाद् विरज्यतः । योग्यं सूनुं यथान्यायमनुशिष्य गृहोज्झनम् ॥७६

इति गृहत्यागक्रिया ।

त्यक्तागारस्य तस्यातस्तपोवनमुपेयुषः । एकशाटकधारित्वं प्राग्वद्दीक्षाद्यमिष्यते ॥७७

इति दीक्षाद्यक्रिया ।

ततोऽस्य जिनरूपत्वमिष्यते त्यक्तवाससः । धारणं जातरूपस्य युक्ताचाराद् गणेशिनः ॥७८

इति जिनरूपता ।

क्रियाशेषास्तु निःशेषाः प्रोक्ता गर्भान्वये यथा । तथैव प्रतिपाद्याः स्युः न भेदोऽस्त्यत्र कश्चन ॥७९

यस्त्वेतास्तत्त्वतो ज्ञात्वा भव्यः समनुतिष्ठति । सोऽधिगच्छति निर्वाणमचिरात्सुखसाद्भवन् ॥८०

इति दीक्षान्वयक्रिया ।

अथातः सम्प्रवक्ष्यामि द्विजाः कर्त्रन्वयक्रियाः । या प्रत्यासन्नमिष्टस्य भवेयुर्भव्यदेहिनः ॥८१

हवीं वर्णलाभ क्रिया है । यह वर्णलाभ क्रिया कही । अब कुलचर्या कहते हैं—आर्यपुरुषोंके करने योग्य कुलागत—देवपूजादि षट्कर्मोंका भली-भाँति पालन करना कुलचर्या कहलाती है ॥७२॥ यह चौदहवीं कुलचर्या क्रिया है । तदनन्तर उन गृहीत व्रतोंसे विशुद्ध हुआ वह श्रावक गृहीशिता क्रियाको प्राप्त होता है । जब वह चारित्र और विद्याध्ययनरूपी सम्पत्तिसे अन्यलोगोंके अनुग्रह करनेमें समर्थ हो जाता है, प्रायश्चित्त विधानका ज्ञाता और श्रुति, स्मृति एवं पुराणका वेत्ता बन जाता है, तब वह गृहस्थाचार्यके पदको प्राप्त होकर गृहीशिता क्रियाको धारण करता है ॥७३-७४॥ यह पन्द्रहवीं गृहीशिता क्रिया है । तत्पश्चात् नाना प्रकारके उपवास आदिकी भावनाओंको प्राप्त होनेवाले उस गृहस्थाचार्यके पूर्व-वर्णित प्रकारसे प्रशान्तता क्रिया मानी गई है ॥७५॥ यह सोलहवीं प्रशान्तता क्रिया है । तदन्तर गृह-वाससे विरक्त होनेवाले उस प्रशान्तबुद्धि श्रावकका योग्य पुत्रको न्याय्य नीतिके अनुसार शिक्षादेकर घरको छोड़ना गृहत्याग क्रिया है ॥७६॥ यह सत्तरहवीं गृहत्याग क्रिया है । इसके पश्चात् घरको छोड़कर तपोवनको प्राप्त होनेवाले उस भव्यका पहले किये गये वर्णनके समान एक वस्त्रको धारण कर क्षुल्लकके व्रतोंको पालना दीक्षाद्यक्रिया कहलाती है ॥७७॥ यह अठारहवीं दीक्षाद्यक्रिया है । तदन्तर वस्त्रका त्याग कर योग्य आचारवाले गणस्वामी आचार्यसे यथाजात दिगम्बररूपका धारण करना जिनरूपता क्रिया है ॥७८॥ यह उन्नीसवीं जिनरूपता क्रिया है । इससे आगेकी जानेवाली शेष समस्त क्रियाओंका जिस प्रकारसे गर्भान्वय क्रियाओंमें वर्णन किया है, उसी प्रकारसे करना आवश्यक है, क्योंकि इन आगेकी दीक्षान्वयक्रियाओंका उन गर्भान्वय क्रियाओंसे कोई भेद नहीं है ॥७९॥ जो भव्य इन क्रियाओंको यथार्थ रीतिसे जानकर उनका भली-भाँतिसे पालन करता है, वह शीघ्रही अनन्तसुखको आत्मसात् करता हुआ निर्वाणको प्राप्त होता है ॥८०॥ इस प्रकार दीक्षान्वय क्रियाओंका वर्णन पूर्ण हुआ । अब इससे आगे हे ब्राह्मणो, मैं उन कर्त्रन्वय

पुर्नाववाहसंस्कारः पूर्वः सर्वोऽस्य सम्मतः सिद्धार्चनां पुरस्कृत्य पत्न्याः संस्कारमिच्छतः ॥६०

इति विवाहक्रिया।

वर्णलाभस्ततोऽस्य स्यात् सम्बन्धं संविधित्सतः समानाजीविभिर्लब्धवर्णैरन्यैरुपासकैः ॥६१
चतुरः श्रावकज्येष्ठादाहूयकृतसत्क्रियान्। तान ब्रूयादस्म्यनुग्राह्यो भवद्भिः स्वसमीकृतः ॥६२
यूयं निस्तारका देवब्रह्मणा लोकपूजिताः। अहं च कृतदीक्षोऽस्मि गृहीतोपासकव्रतः ॥६३
मया तु चरितो धर्मः पुष्कलो गृहमेधिनाम्। दत्तान्यपि च दानानि कृतं च गुरुपूजनम् ॥६४
अयोनिसंभवं जन्म लब्ध्वाहं गुर्वनुग्रहात्। चिरभावितमुत्सृज्य प्राप्तो वृत्तमभावितम् ॥६५
व्रतसिद्धयर्थमेवाहमुपनीतोऽस्मि साम्प्रतम्। कृतविद्यश्च जातोऽस्मि स्वधीतोपासकश्रुतः ॥६६
व्रतावतरणस्यान्ते स्वीकृताभरणोऽस्म्यहम्। पत्नी च संस्कृताऽऽत्मीया कृतपाणिग्रहा पुनः ॥६७
एवं कृतव्रतस्याद्य वर्णलाभो ममोचितः। सुलभः सोऽपि युष्माकमनुज्ञानात् सधर्मणाम् ॥६८
इत्युक्तास्ते च तं सत्यमेवमस्तु समञ्जसम्। त्वयोक्तं श्लाघ्यमेवैतत् कोऽन्यस्त्वत्सदृशो द्विजः ॥६९
युष्मादृशामलाभे तु मिथ्यादृष्टिभिरप्यमा। समानाजीविभिः कर्तुं सम्बन्धोऽभिमतो हि नः ॥७०
इत्युक्त्वैनं समाश्वास्य वर्णलाभेन युञ्जते। विधिवत् सोऽपि तं लब्ध्वा याति तत्समकक्षताम् ॥७१

इति वर्णलाभक्रिया।

योग्य श्रावककी दीक्षासे नियुक्त करता है, तब उसके विवाह नामकी क्रिया होती है ॥५९॥ अपनी पत्नीके संस्कारको चाहनेवाले उस भव्यका उसी स्त्रीके साथ सिद्ध भगवान्‌की पूजन पूर्वक पुनः विवाह-संस्कार करना आवश्यक माना गया है ॥६०॥ यह बारहवीं विवाह क्रिया है। तदनन्तर समान आजीविका करनेवाले वर्णलाभको प्राप्त अन्य श्रावकोंके साथ सम्बन्ध स्थापित करनेकी इच्छासे इस भव्यके वर्णलाभ नामकी क्रिया होती है ॥६१॥ इस क्रियाके करते समय वह भव्य चार प्रमुख श्रावकोंको बुलाकर और उनका आदर-सत्कारकर उनसे कहे कि आप लोग मुझे अपने समान बनाकर मेरेपर अनुग्रह करें ॥६२॥ आपलोग संसार तारक देव ब्राह्मण हैं, लोक-पूजित हैं और मैं उपासक व्रतधारक नवशिक्षित हूँ ॥६३॥ मैंने गृहस्थोंका धर्म भलीभाँति आचरण किया है, सर्व-प्रकारके दान भी दिये हैं और गुरुजनोंका पूजन भी किया है ॥६४॥ मैंने गुरुके अनुग्रहसे अयोनि-संभव (मातृयोनिके बिना ही मन्त्र-संस्कारवाला) जन्म पाकर चिरकालसे पालन किया हुआ मिथ्यात्व आचरण छोड़कर पूर्व-अभावित इस सम्यक्‌चारित्रको पाया है ॥६५॥ व्रतोंकी सिद्धिके लिये ही मैंने इससमय यह यज्ञोपवीत धारण किया है और श्रावकाचार पढ़कर तथा अन्य विद्याओंका अभ्यासकर विद्वत्ता भी प्राप्त की है ॥६६॥ व्रतावतरण क्रियाके पश्चात् ही मैंने आभूषण स्वीकार किये हैं, मैंने अपनी पत्नी भी संस्कार-युक्त की है और उसके साथ पुनः विवाह-संस्कार भी किया है ॥६७॥ इसप्रकारका व्रत-धारण करनेवाले मुझे इससमय वर्णलाभ करना उचित ही है और वह भी आप सब साधर्मीजनोंकी अनुज्ञासे सहजमें सुलभ है ॥६८॥ इसप्रकार कहनेपर वे देव ब्राह्मण कहें कि तुमने सत्य ही कहा है, तुम्हारा कथन समीचीन और प्रशंसनीय है। तुम्हारे सदृश अन्य कौन द्विज है ॥ ६९ ॥ आप जैसे साधर्मीजनोंके प्राप्त नहीं होनेपर हम लोगोंको समान आजीविका करनेवाले मिथ्यादृष्टियोंके साथ भी अपना विवाहादि सम्बन्ध करना पड़ता है ॥७०॥ इस प्रकार कह कर और उसे आश्वासन देकर वे लोग उसे वर्णलाभसे संयुक्त करते हैं और वह भव्य भी विधिपूर्वक वर्णलाभको पाकर उन श्रावकोंकी समानताको प्राप्त होता है ॥७१॥ यह तेर-

वर्णलाभोऽयमुद्दिष्टः कुलचर्याऽधुनोच्यते । आर्यषट्कर्मवृत्तिः स्यात् कुलचर्याऽस्य पुष्कला ॥७२

इति कुलचर्या ।

विशुद्धस्तेन वृत्तेन ततोऽभ्येति गृहीशिताम् । वृत्ताध्ययनसम्पत्त्या परानुग्रहणक्षमः ॥७३

प्रायश्चित्तविधानज्ञः श्रुतिस्मृतिपुराणवित् । गृहस्थाचार्यतां प्राप्तः तदा धत्ते गृहीशिताम् ॥७४

इति गृहीशिताक्रिया ।

ततः पूर्ववदेवास्य भवेदिष्टा प्रशान्तता । नानाविधोपवासादिभावनाः समुपेयुषः ॥७५

इति प्रशान्तताक्रिया ।

गृहत्यागस्ततोऽस्य स्याद् गृहवासाद् विरज्यतः । योग्यं सूनुं यथान्यायमनुशिष्य गृहोज्झनम् ॥७६

इति गृहत्यागक्रिया ।

त्यक्तागारस्य तस्यातस्तपोवनमुपेयुषः । एकशाटकधारित्वं प्राग्वद्दीक्षाद्यमिष्यते ॥७७

इति दीक्षाद्यक्रिया ।

ततोऽस्य जिनरूपत्वमिष्यते त्यक्तवाससः । धारणं जातरूपस्य युक्ताचाराद् गणेशिनः ॥७८

इति जिनरूपता ।

क्रियाशेषास्तु निःशेषाः प्रोक्ता गर्भान्वये यथा । तथैव प्रतिपाद्याः स्युः न भेदोऽस्त्यत्र कश्चन ॥७९

यस्त्वेतास्तत्त्वतो ज्ञात्वा भव्यः समनुतिष्ठति । सोऽधिगच्छति निर्वाणमचिरात्सुखसाद्भवन् ॥८०

इति दीक्षान्वयक्रिया ।

अथातः सम्प्रवक्ष्यामि द्विजाः कर्त्रन्वयक्रियाः । या प्रत्यासन्ननिष्ठस्य भवेयुर्भव्यदेहिनः ॥८१

हवीं वर्णलाभ क्रिया है। यह वर्णलाभ क्रिया कही। अब कुलचर्या कहते हैं—आर्यपुरुषोंके करने योग्य कुलागत—देवपूजादि षट्कर्मोंका भली-भाँति पालन करना कुलचर्या कहलाती है ॥७२॥ यह चौदहवीं कुलचर्या क्रिया है। तदनन्तर उन गृहीत व्रतोंसे विशुद्ध हुआ वह श्रावक गृहीशिता क्रियाको प्राप्त होता है। जब वह चारित्र और विद्याध्ययनरूपी सम्पत्तिसे अन्यलोगोंके अनुग्रह करनेमें समर्थ हो जाता है, प्रायश्चित्त विधानका ज्ञाता और श्रुति, स्मृति एवं पुराणका वेत्ता बन जाता है, तब वह गृहस्थाचार्यके पदको प्राप्त होकर गृहीशिता क्रियाको धारण करता है ॥७३-७४॥ यह पन्द्रहवीं गृहीशिता क्रिया है। तत्पश्चात् नाना प्रकारके उपवास आदिकी भावनाओंको प्राप्त होनेवाले उस गृहस्थाचार्यके पूर्व-वर्णित प्रकारसे प्रशान्तता क्रिया मानी गई है ॥७५॥ यह सोलहवीं प्रशान्तता क्रिया है। तदन्तर गृह-वाससे विरक्त होनेवाले उस प्रशान्तबुद्धि श्रावकका योग्य पुत्रको न्याय्य नीतिके अनुसार शिक्षादेकर घरको छोड़ना गृहत्याग क्रिया है ॥७६॥ यह सत्तरहवीं गृहत्याग क्रिया है। इसके पश्चात् घरको छोड़कर तपोवनको प्राप्त होनेवाले उस भव्यका पहले किये गये वर्णनके समान एक वस्त्रको धारण कर क्षुल्लकके व्रतोंको पालना दीक्षाद्यक्रिया कहलाती है ॥७७॥ यह अठारहवीं दीक्षाद्यक्रिया है। तदन्तर वस्त्रका त्याग कर योग्य आचारवाले गणस्वामी आचार्यसे यथाजात दिगम्बररूपका धारण करना जिनरूपता क्रिया है ॥७८॥ यह उन्नीसवीं जिनरूपता क्रिया है। इससे आगेकी जानेवाली शेष समस्त क्रियाओंका जिस प्रकारसे गर्भान्वय क्रियाओंमें वर्णन किया है, उसी प्रकारसे करना आवश्यक है, क्योंकि इन आगेकी दीक्षान्वयक्रियाओंका उन गर्भान्वय क्रियाओंसे कोई भेद नहीं है ॥७९॥ जो भव्य इन क्रियाओंको यथार्थ रीतिसे जानकर उनका भली-भाँतिसे पालन करता है, वह शीघ्रही अनन्तसुखको आत्मसात् करता हुआ निर्वाणको प्राप्त होता है ॥८०॥ इस प्रकार दीक्षान्वय क्रियाओंका वर्णन पूर्ण हुआ। अब इससे आगे हे ब्राह्मणो, मैं उन कर्त्रन्वय

तत्र सज्जातिरित्याद्या क्रिया श्रेयोऽनुबन्धिनी । यासा वाऽऽसन्नभव्यस्य नृजन्मोपगमे भवेत् ॥८२
सनृजन्मपरिप्राप्तो दीक्षायोग्ये सदन्वये । विशुद्धं लभते जन्म सैषा सज्जातिरिष्यते ॥८३
विशुद्धकुलजात्यादि संपत्सज्जातिरुच्यते । उदितोदितवंशत्वं यतोऽभ्येति पुमान् कृती ॥८४
पितुरन्वयशुद्धिर्या तत्कुलं परिभाष्यते । मातुरन्वयशुद्धिस्तु जातिरित्यभिलप्यते ॥८५
विशुद्धिरुभयस्यास्य सज्जातिरनुर्वाणता । यत्प्राप्तौ सुलभा बोधिरयत्नोपनतैर्गुणैः ॥८६
सज्जन्मप्रतिलम्भोऽयमार्यावर्तविशेषतः । सत्यां देहादिसामग्र्यां श्रेयः सूते हि देहिनाम् ॥८७
शारीरजन्मना सैषा सज्जातिरुपवर्णिता । एतन्मूला यतः सर्वाः पुंसामिष्टार्थसिद्धयः ॥८८
संस्कारजन्मना चान्या सज्जातिरनुकीर्त्यते । यामासाद्य द्विजन्मत्वं भव्यात्मा समुपाश्नुते ॥८९
विशुद्धाकरसम्भूतो मणिः संस्कारयोगतः । यात्युत्कर्षं यथाऽऽत्मैवं क्रियामन्त्रैः सुसंस्कृतः ॥९०
सुवर्णधातुरथवा शुद्ध्येदासाद्य संस्क्रियाम् । यथा तथैव भव्यात्मा शुद्ध्यत्यासादितक्रियः ॥९१
ज्ञानजः स तु संस्कारः सम्यग्ज्ञानमनुत्तरम् । यदाथ लभते साक्षात् सर्वविन्मुखतः कृती ॥९२
तदैष परमज्ञानगर्भात् संस्कारजन्मना । जातो भवेद् द्विजन्मेति व्रतैः शीलैश्च भूषितः ॥९३
व्रतचिह्नं भवेदस्य सूत्रं मन्त्रपुरःसरम् । सर्वज्ञाज्ञाप्रधानस्य द्रव्यभावविकल्पितम् ॥९४
यज्ञोपवीतमस्य स्याद् द्रव्यतस्त्रिगुणात्मकम् । सूत्रमौपासिकं तु स्याद् भावारूढैस्त्रिभिर्गुणैः ॥९५

यदैव लब्धसंस्कारः परं ब्रह्माधिगच्छति । तदैनमभिनन्द्याशीर्वचोभिर्गणनायकाः ॥९६
लम्भयन्त्युचितां शेषां जैनीं पुष्पैरथाक्षतैः । स्थिरीकरणमेतद्धि धर्मप्रोत्साहनं परम् ॥९७
अयोनिसम्भवं दिव्यज्ञानगर्भसमुद्भवम् । सोऽधिगम्य परं जन्म तदा सज्जातिभाग्भवेत् ॥९८
ततोऽधिगतसज्जातिः सद्गृहित्वमसौ भजेत् । गृहमेधी भवन्नार्यषट्कर्माण्यनुपालयन् ॥९९
यदुक्तं गृहचर्यायामनुष्ठानं विशुद्धिमत् । तदाप्तविहितं कृत्स्नमतन्द्रालुः समाचरेत् ॥१००
जिनेन्द्राल्लब्धसज्जन्मा गणेन्द्रैरनुशिक्षितः । स धत्ते परमं ब्रह्मवर्चसं द्विजसत्तमः ॥१०१
तमेनं धर्मसाद्भूत श्लाघन्ते धार्मिकाः जनाः । परं तेज इव ब्राह्ममवतीर्णं महीतलम् ॥१०२
स यजन् याजयन् धीमान् यजमानैरुपासितः । अध्यापयन्नधीयानो वेदवेदाङ्गविस्तरम् ॥१०३
स्पृशन्नपि महीं नैव स्पृष्टो दोषैर्महीगतैः । देवत्वमात्मसात्कुर्यादिहैवाभ्यर्चितैर्गुणैः ॥१०४
नाणिमा महिमैवास्य गरिमैव न लाघवम् । प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं चेति तद्गुणाः ॥१०५
गुणैरेभिरुपारूढमहिमा देवसाद्भवम् । बिभ्रल्लोकातिगं धाम मह्यामेष महीयते ॥१०६
धर्म्यैराचरितैः सत्यशौचक्षान्तिदमादिभिः । देवब्राह्मणतां श्लाघ्यां स्वस्मिन् सम्भावयत्यसौ ॥१०७
अथ जातिमदावेशात् कश्चिदेनं द्विजब्रुवः । ब्रूयादेवं किमद्यैव देवभूयं गतो भवान् ॥१०८

द्विजका द्रव्यसूत्र है। तथा सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप भावात्मक तीन गुणोंवाला जो श्रावकधर्म रूप सूत्र है, वह भावसूत्र कहलाता है॥९५॥ जब यह भव्य जीव संस्कारोंको पाकर परम ब्राह्मणत्वको प्राप्त होता है, तब गण-नायक आचार्य-गण आशीर्वादात्मक वचनोंसे उसका अभिनन्दनकर श्रीजिनेन्द्र-देवकी पूजासे शेष रहे पुष्प अथवा अक्षतोंके द्वारा उसे आशिका ग्रहण कराते हैं। यह आशिका-ग्रहण एक प्रकारका धर्ममें स्थिरीकरण है और धर्म-पालन करनेमें उत्साह बढ़ानेवाला है॥९६-९७॥ इसप्रकार जब यह भव्य जीव अयोनिसंभव और दिव्यज्ञानरूप गर्भसे उत्पन्न हुए उत्कृष्ट जन्मको प्राप्त होता है, तब वह सज्जातिका धारक होता है॥९८॥ यह पहली सज्जाति क्रिया है। इसके पश्चात् सज्जातिको प्राप्त हुआ वह भव्य सद्-गृहस्थ होकर षट् आर्य कर्मोका परिपालन करता हुआ सद्-गृहित्व क्रियाको प्राप्त होता है॥९९॥ पहले गृहचर्यामें जो-जो सर्वज्ञोक्त कर्तव्यपालन करनेके लिए कह आए हैं, उन सबको उसे निर्दोषरीतिसे आलस्य-रहित होकर पालन करना चाहिए॥१००॥ इस प्रकार जिनेन्द्रदेवके प्रसादसे सज्जन्मको प्राप्त और गणाधीश आचार्योंसे अनुशासित वह श्रेष्ठ द्विज ब्रह्म तेजको धारण करता है॥१०१॥ धर्मको आत्मसात् करनेवाले उस द्विजको धार्मिक जन यह कहते हुए प्रशंसा करते हैं कि तू इस महीतलपर अवतीर्ण परमब्रह्म तेजके समान है॥१०२॥ वह बुद्धि-मान् स्वयं जिनेन्द्र देवका पूजन करते हुए अन्य लोगोंसे भी कराता है, स्वयं वेद-वेदांगके विस्तारको पढ़ता हुआ दूसरोंको भी पढ़ाता है और भूमिका स्पर्श करते हुए भी भूमिगत दोषोंसे स्पष्ट नहीं होता है इसप्रकार वह पूजनीय गुणोंके द्वारा इस लोकमें ही देवपनेको प्राप्त कर लेता है॥१०३-१०४॥ इस प्रकारसे देवत्वको प्राप्त करनेपर उनके अणिमाऋद्धि (छोटापन) नहीं है किन्तु महिमा ऋद्धि (बड़प्पन) है। उसके गरिमा ऋद्धि है, किन्तु लघिमा (लघुता) नहीं है। इसीप्रकार उसके प्राप्ति (रत्नत्रयका लाभ) प्राकाम्य (सर्वप्रियत्व) ईशित्व (सर्वस्वामित्व) और वशित्व (सबको वशमें करना) ये गुण भी उसमें रहते हैं॥१०५॥ इन देवोचित गुणोंके द्वारा महिमाको प्राप्त, लोकातिशायी तेजका धारक वह देवरूप भवको धारण करता हुआ इस भूमण्डल पर ही पूजा जाता है॥१०६॥ सत्य, शौच, क्षमा, इन्द्रिय-दमन आदि धर्मानुकूल आचरणोंसे वह अपनेमें प्रशंसनीय देवब्रह्मत्वको उत्पन्न करता है

तत्र सज्जातिरित्याद्या क्रिया श्रेयोऽनुबन्धिनी । यासा वाऽऽसन्नभव्यस्य नृजन्मोपगमे भवेत् ॥८२
सनृजन्मपरिप्राप्तौ दीक्षायोग्ये सदन्वये । विशुद्धं लभते जन्म सैषा सज्जातिरिष्यते ॥८३
विशुद्धकुलजात्यादि संपत्सज्जातिरुच्यते । उदितोदितवंशत्वं यतोऽभ्येति पुमान् कृती ॥८४
पितुरन्वयशुद्धिर्या तत्कुलं परिभाष्यते । मातुरन्वयशुद्धिस्तु जातिरित्यभिलप्यते ॥८५
विशुद्धिरुभयस्यास्य सज्जातिरनुवर्णिता । यत्प्राप्तौ सुलभा बोधिरयत्नोपनतैर्गुणैः ॥८६
सज्जन्मप्रतिलम्भोऽयमार्यावर्तविशेषतः । सत्यां देहादिसामग्र्यां श्रेयः सूते हि देहिनाम् ॥८७
शरीरजन्मना सैषा सज्जातिरुपवर्णिता । एतन्मूला यतः सर्वाः पुंसामिष्टार्थसिद्धयः ॥८८
संस्कारजन्मना चान्या सज्जातिरनुकीर्त्यते । यामासाद्य द्विजन्मत्वं भव्यात्मा समुपाश्नुते ॥८९
विशुद्धाकरसम्भूतो मणिः संस्कारयोगतः । यात्युत्कर्षं यथाऽऽत्मैवं क्रियामन्त्रैः सुसंस्कृतः ॥९०
सुवर्णधातुरथवा शुद्ध्येदासाद्य संस्क्रियाम् । यथा तथैव भव्यात्मा शुद्ध्यत्यासादितक्रियः ॥९१
ज्ञानजः स तु संस्कारः सम्यग्ज्ञानमनुत्तरम् । यदाथ लभते साक्षात् सर्वविन्मुखतः कृती ॥९२
तदैष परमज्ञानगर्भात् संस्कारजन्मना । जातो भवेद् द्विजन्मेति व्रतैः शीलैश्च भूषितः ॥९३
व्रतचिह्नं भवेदस्य सूत्रं मन्त्रपुरःसरम् । सर्वज्ञाज्ञाप्रधानस्य द्रव्यभावविकल्पितम् ॥९४
यज्ञोपवीतमस्य स्याद् द्रव्यतस्त्रिगुणात्मकम् । सूत्रमौपासिकं तु स्याद् भावारूढैस्त्रिभिर्गुणैः ॥९५

क्रियाओंको कहता हूँ, जो कि अतिनिकट भव्य प्राणीको प्राप्त होती हैं ॥ ८१ ॥ उन कर्त्रन्वय क्रियाओंमें कल्याण करनेवाली सबसे पहली क्रिया सज्जाति है, जो कि किसी आसन्न भव्यको मनुष्य जन्मकी प्राप्ति होनेपर होती है ॥८२॥ मनुष्यजन्मकी प्राप्ति होनेपर जब वह दीक्षाके योग्य उत्तम वंशमें विशुद्ध जन्म धारण करता है, तब उसके यह सज्जाति क्रिया कही जाती है ॥८३॥ विशुद्ध कुल और उत्तम जाति आदि सम्पदाके पानेको सज्जाति कहते हैं। इस सज्जातिसे ही पुण्यवान् पुरुष उत्तरोत्तर अभ्युदयवाले उत्तम वंशको प्राप्त होता है ॥८४॥ पिताके वंशकी जो शुद्धि है, वह कुल कहलाता है और माताके वंशकी शुद्धि जाति कही जाती है ॥८५॥ कुल और जाति इन दोनों की विशुद्धिको सज्जाति कहा गया है, इस सज्जातिके प्राप्त होनेपर अनायास प्राप्त हुए गुणोंके द्वारा रत्नत्रयरूप बोधिका पाना सुलभ हो जाता है ॥८६॥ आर्यावर्तमें जन्म लेनेकी विशेषतासे यह सज्जातित्वकी प्राप्ति शरीर आदि योग्य सामग्रीके मिलनेपर जीवोंके नानाप्रकारसे कल्याणोंको उत्पन्न करती है ॥८७॥ शरीरके जन्मके साथ ही यह सज्जाति वर्णन की गई है, क्योंकि पुरुषोंके समस्त इष्ट पदार्थोंकी सिद्धिका मूल कारण यही प्रथम सज्जाति है ॥८८॥ संस्काररूप जन्मसे उत्पन्न होनेवाली सज्जाति दूसरी है। उसे पाकर भव्यात्मा द्विजपनेको प्राप्त होता है ॥८९॥ जैसे विशुद्ध खानिमें उत्पन्न हुआ रत्न संस्कारके योगसे उत्कर्षको प्राप्त होता है, वैसे ही क्रिया और मंत्रोंसे सुसंस्कारको प्राप्त हुआ आत्मा भी परम उत्कर्षको प्राप्त होता है ॥९०॥ अथवा जिस प्रकार सुवर्णधातु अग्नि आदिके द्वारा संस्कारको प्राप्त होकर शुद्ध हो जाती है, उसीप्रकार भव्य जीव भी सत्-क्रियाओंको पाकर शुद्ध हो जाता है ॥९१॥ वह वास्तविक संस्कार ज्ञानसे उत्पन्न होता है और सबसे उत्कृष्ट ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। जब यह भाग्यशाली भव्य साक्षात् सर्वज्ञके मुखसे उस सम्यग्ज्ञानको प्राप्त करता है, उस समय वह परमज्ञानरूप गर्भसे संस्काररूपी जन्म लेकर उत्पन्न होता है और पंच अणुव्रत तथा सप्तशीलव्रतोंसे विभूषित होकर द्विज कहलाता है ॥९२-९३॥ सर्वज्ञदेवकी आज्ञाको प्रधान माननेवाले उस द्विजके मंत्र-पूर्वक यज्ञोपवीतसूत्रका धारण करना उसका व्रतचिह्न है। यह यज्ञोपवीतरूप सूत्र द्रव्य और भावके भेदसे दो प्रकारका है ॥९४॥ तीन लरका यज्ञोपवीत उस

यदैव लब्धसंस्कारः परं ब्रह्माधिगच्छति । तदैनमभिनन्द्याशीर्वचोभिर्गणनायकाः ॥९६
लम्भयन्त्युचितां शेषां जैनीं पुष्पैरथाक्षतैः । स्थिरीकरणमेतद्धि धर्मप्रोत्साहनं परम् ॥९७
अयोनिसम्भवं दिव्यज्ञानगर्भसमुद्भवम् । सोऽधिगम्य परं जन्म तदा सज्जातिभाग्भवेत् ॥९८
ततोऽधिगतसज्जातिः सद्गृहित्वमसौ भजेत् । गृहमेधी भवन्नार्यषट्कर्माण्यनुपालयन् ॥९९
यदुक्तं गृहचर्यायामनुष्ठानं विशुद्धिमत् । तदाप्तविहितं कृत्स्नमतन्द्रालुः समाचरेत् ॥१००
जिनेन्द्राल्लब्धसज्जन्मा गणेन्द्रैरनुशिक्षितः । स धत्ते परमं ब्रह्मवर्चसं द्विजसत्तमः ॥१०१
तमेनं धर्मसाद्भूतं श्लाघन्ते धार्मिका जनाः । परं तेज इव ब्राह्ममवतीर्णं महीतलम् ॥१०२
स यजन् याजयन् धीमान् यजमानैरुपासितः । अध्यापयन्नधीयानो वेदवेदाङ्गविस्तरम् ॥१०३
स्पृशन्नपि महीं नैव स्पृष्टो दोषैर्महीगतैः । देवत्वमात्मसात्कुर्यादिहैवाभ्यर्चितैर्गुणैः ॥१०४
नाणिमा महिमैवास्य गरिमैव न लाघवम् । प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं चेति तद्गुणाः ॥१०५
गुणैरेभिरुपारूढमहिमा देवसाद्भवम् । बिभ्रल्लोकातिगं धाम मह्यामेष महीयते ॥१०६
धर्म्यैराचरितैः सत्यशौचक्षान्तिदमादिभिः । देवब्राह्मणतां श्लाघ्यां स्वस्मिन् सम्भावयत्यसौ ॥१०७
अथ जातिमदावेशात् कश्चिदेनं द्विजब्रुवः । ब्रूयादेवं किमद्यैव देवभूयं गतो भवान् ॥१०८

द्विजका द्रव्यसूत्र है। तथा सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप भावात्मक तीन गुणोंवाला जो श्रावकधर्म रूप सूत्र है, वह भावसूत्र कहलाता है॥९५॥ जब यह भव्य जीव संस्कारोंको पाकर परम ब्राह्मणत्वको प्राप्त होता है, तब गण-नायक आचार्य-गण आशीर्वादात्मक वचनोंसे उसका अभिनन्दनकर श्रीजिनेन्द्र-देवकी पूजासे शेष रहे पुष्प अथवा अक्षतोंके द्वारा उसे आशिका ग्रहण कराते हैं। यह आशिका-ग्रहण एक प्रकारका धर्ममें स्थिरीकरण है और धर्म-पालन करनेमें उत्साह बढ़ानेवाला है॥९६-९७॥ इसप्रकार जब यह भव्य जीव अयोनिसंभव और दिव्यज्ञानरूप गर्भसे उत्पन्न हुए उत्कृष्ट जन्मको प्राप्त होता है, तब वह सज्जातिका धारक होता है॥९८॥ यह पहली सज्जाति क्रिया है। इसके पश्चात् सज्जातिको प्राप्त हुआ वह भव्य सद्-गृहस्थ होकर षट् आर्य कर्मोंका परिपालन करता हुआ सद्-गृहित्व क्रियाको प्राप्त होता है॥९९॥ पहले गृहचर्यामें जो-जो सर्वज्ञोक्त कर्तव्यपालन करनेके लिए कह आए हैं, उन सबको उसे निर्दोषरीतिसे आलस्य-रहित होकर पालन करना चाहिए॥१००॥ इस प्रकार जिनेन्द्रदेवके प्रसादसे सज्जन्मको प्राप्त और गणाधीश आचार्योंसे अनुशासित वह श्रेष्ठ द्विज ब्रह्म तेजको धारण करता है॥१०१॥ धर्मको आत्मसात् करनेवाले उस द्विजको धार्मिक जन यह कहते हुए प्रशंसा करते हैं कि तू इस महीतलपर अवतीर्ण परमब्रह्म तेजके समान है॥१०२॥ वह बुद्धि-मान् स्वयं जिनेन्द्र देवका पूजन करते हुए अन्य लोगोंसे भी कराता है, स्वयं वेद-वेदांगके विस्तारको पढ़ता हुआ दूसरोंको भी पढ़ाता है और भूमिका स्पर्श करते हुए भी भूमिगत दोषोंसे स्पष्ट नहीं होता है इसप्रकार वह पूजनीय गुणोंके द्वारा इस लोकमें ही देवपनेको प्राप्त कर लेता है॥१०३-१०४॥ इस प्रकारसे देवत्वको प्राप्त करनेपर उनके अणिमा ऋद्धि (छोटापन) नहीं है किन्तु महिमा ऋद्धि (बड़प्पन) है। उसके गरिमा ऋद्धि है, किन्तु लघिमा (लघुता) नहीं है। इसीप्रकार उसके प्राप्ति (रत्नत्रयका लाभ) प्राकाम्य (सर्वप्रियत्व) ईशित्व (सर्वस्वामित्व) और वशित्व (सबको वशमें करना) ये गुण भी उसमें रहते हैं॥१०५॥ इन देवोचित गुणोंके द्वारा महिमाको प्राप्त, लोकातिशायी तेजका धारक वह देवरूप भवको धारण करता हुआ इस भूमण्डल पर ही पूजा जाता है॥१०६॥ सत्य, शौच, क्षमा, इन्द्रिय-दमन आदि धर्मानुकूल आचरणोंसे वह अपनेमें प्रशंसनीय देवब्रह्मत्वको उत्पन्न करता है

त्वमामुष्यायणः किन्न किन्तेऽम्बाऽमुष्य पुत्रिका । येनैवमुन्नसो भूत्वा यास्यसत्कृत्यमद्विधान् ॥१०९
जातिः सैव कुलं तच्च सोऽसि योऽसि प्रगेतनः । तथापि देवतात्मानमात्मानं मन्यते भवान् ॥११०
देवतातिथिपित्रग्निकार्येष्वप्रयतो भवान् । गुरुद्विजातिदेवानां प्रणामाच्च पराङ्मुखः ॥१११
दीक्षां जैनीं प्रपन्नस्य जातः कोऽतिशयस्तव । यतोऽद्यापि मनुष्यस्त्वं पादचारी महीं स्पृशन् ॥११२
इत्युपारूढसंरम्भमुपालब्धः स केनचित् । ददात्युत्तरमित्यस्मै वचोभिर्युक्तिपेशलैः ॥११३
श्रूयतां भो द्विजम्मन्य त्वयाऽस्मद्दिव्यसम्भवः । जिनो जनयिताऽस्माकं ज्ञानं गर्भोऽतिनिर्मलः ॥११४
तत्रार्हतीं त्रिधा भिन्नां शक्तिं त्रैगुण्यसंश्रिताम् । स्वसात्कृत्य समुद्भूतां वयं संस्कारजन्मना ॥११५
अयोनिसम्भवास्तेन देवा एव न मानुषाः । वयं वयमिवान्येऽपि सन्ति चेद् ब्रूहि तद्विधान् ॥११६
स्वायम्भुवान्मुखाज्जाताः ततो देवद्विजा वयम् । व्रतचिह्नं च नः सूत्रं पवित्रं सूत्रदर्शितम् ॥११७
पापसूत्रानुगा यूयं न द्विजा सूत्रकण्ठकाः । सन्मार्गकण्टकास्तीक्ष्णाः केवलं मलदूषिताः ॥११८
शरीरजन्म संस्कारजन्म चेति द्विधा मतम् । जन्माङ्गिनां मृतिश्चैवं द्विधाम्नाता जिनागमे ॥११९
देहान्तरपरिप्राप्तिः पूर्वदेहपरिक्षयात् । शरीरजन्म विज्ञेयं देहभाजां भवान्तरे ॥१२०
तथालब्धात्मलाभस्य पुनः संस्कारयोगतः । द्विजन्मतापरिप्राप्तिर्जन्म संस्कारजं स्मृतम् ॥१२१

॥१०७॥ अब यदि अपनेको ब्राह्मण कहनेवाला कोई पुरुष इस देवब्राह्मणको जातिमदके आवेशसे इसप्रकार कहे कि क्या आप आज ही देवपनेको प्राप्त हो गये हैं ?॥१०८॥ क्या तू अमुक प्रसिद्ध पुरुषका पुत्र नहीं है और क्या तेरी माता अमुककी पुत्री नहीं है? जिससे कि तू इसप्रकार ऊँची नाक करके मेरे जैसे पुरुषोंका सत्कार किये बिना ही जाता है ॥१०९॥ यद्यपि तेरी जाति वही है, कुल वही है और तू भी वही है जो कि प्रातःकाल था, तथापि तू अपने आपको देवतारूप मान रहा है ॥११०॥ तू देवता, अतिथि, पितृगण और अग्नि-हवनादि कार्योंमें प्रयत्नशील नहीं है और गुरुः द्विजाति और देवोंको प्रणाम करनेसे भी विमुख है ॥१११॥ जैनी दीक्षाको प्राप्त हुए तेरे कौन-सा अतिशय उत्पन्न हो गया है ? तू तो अभी भी पृथ्वीका स्पर्श करनेवाला पादचारी मनुष्य ही है ॥११२॥ इसप्रकार अतिक्रोधित होकर कोई ब्राह्मण उपालंभ देवे, तो उसके लिये सुन्दर युक्तियोंसे भरे हुए वचनोंसे इसप्रकार उत्तर दे ॥११३॥ हे द्विजम्मन्य, (अपने आपको ब्राह्मण माननेवाले) तू मेरा दिव्य जन्म सुन, श्री जिनदेव ही हमारे जनयिता (जनक) हैं और ज्ञान ही अत्यन्त निर्मल गर्भ है ॥११४॥ उस गर्भमें उपलब्धि, उपयोग और संस्कार इन तीन गुणोंके आश्रित रहनेवाली जो रत्नत्रय स्वरूपा आर्हती शक्ति है, उसे आत्मसात् करके हम संस्काररूप जन्मसे उत्पन्न हुए हैं ॥११५॥ हमलोग अयोनिजन्मा हैं, अतः देव ही हैं, मनुष्य नहीं हैं । यदि हमारे सदृश और भी अयोनिजन्मा देव ब्राह्मण हों, तो तू उन्हें भी देवब्राह्मण ही कह ॥११६॥ हम लोग स्वयम्भू सर्वज्ञ-के मुखसे उत्पन्न हुए हैं, अतः हम देवद्विज ही हैं और हमारे व्रतोंका चिह्न यह शास्त्रोक्त पवित्र यज्ञोपवीत सूत्र है ॥११७॥ आपलोग तो केवल पापसूत्रों (कुशास्त्रों) के अनुयायी हैं, केवल कंठमें सूत्र धारण करनेसे द्विज नहीं कहला सकते हैं। वस्तुतः आपलोग केवल सन्मार्गके तीक्ष्ण कंटक हैं और मलोंसे दूषित हैं ॥११८॥ जीवोंका जन्म दो प्रकारका होता है, एक तो शरीरजन्म और दूसरा संस्कारजन्म । इसीप्रकार जिनागममें मरण भी दो प्रकारका माना गया है ॥११९॥ पूर्व देहके विनाशसे देहधारियोंके अन्यभवमें जो अन्य शरीरकी प्राप्ति होती है, उसे शरीरजन्म जानना चाहिए ॥१२०॥ इसीप्रकार क्रियाओंके संस्कारयोगसे आत्मलाभ करनेवाले जीवके जो द्विजपनाकी प्राप्ति

शरीरमरणं स्वायुरन्ते देहविसर्जनम् । संस्कारमरणं प्राप्तव्रतस्यागःसमुज्झनम् ॥१२२
यतोऽयं लब्धसंस्कारो विजहाति प्रगेतनम् । मिथ्यादर्शनपर्यायं ततस्तेन मृतो भवेत् ॥१२३
तत्र संस्कारजन्मेदमपापोपहतं परम् । जातं नो गुर्वनुज्ञानादतो देवद्विजा वयम् ॥१२४
इत्यात्मनो गुणोत्कर्षं ख्यापयन्न्यायवर्त्मना । गृहमेधी भवेत् प्राप्य सद्गृहित्वमनुत्तरम् ॥१२५
भूयोऽपि संप्रवक्ष्यामि ब्राह्मणान् सत्क्रियोचितान् । जातिवादावलेपस्य निरासार्थमतः परम् ॥१२६
ब्रह्मणोऽपत्यमित्येवं ब्राह्मणाः समुदाहृताः । ब्रह्मा स्वयम्भूर्भगवान् परमेष्ठी जिनोत्तमः ॥१२७
स ह्यादिपरमब्रह्मा जिनेन्द्रो गुणबृंहणात् । परं ब्रह्म यदायत्तमामनन्ति मुनीश्वराः ॥१२८
नैणाजिनधरो ब्रह्मा जटाकूर्चादिलक्षणः । यः कामगर्दभो भूत्वा प्रच्युतो ब्रह्मवर्चसात् ॥१२९
दिव्यमूर्तेर्जिनेन्द्रस्य ज्ञानगर्भादनाविलात् । समासादितजन्मानो द्विजन्मानस्ततो मताः ॥१३०
वर्णान्तःपातिनो नैते मन्तव्या द्विजसत्तमाः । व्रतमन्त्रादिसंस्कारसमारोपितगौरवाः ॥१३१
वर्णोत्तमानिमान् विद्मः क्षान्तिशौचपरायणान् । सन्तुष्टान् प्राप्तवैशिष्ट्यानक्लिष्टाचारभूषणान् ॥१३२
क्लिष्टाचाराः परे नैव ब्राह्मणाः द्विजमानिनः । पापारम्भरता शश्वदाहृत्य पशुघातिनः ॥१३३
सर्वमेधमयं धर्ममभ्युपेत्य पशुघ्नताम् । का नाम गतिरेषां स्याद् पापशास्त्रोपजीविनाम् ॥१३४
चोदनालक्षणं धर्ममधर्मं प्रतिजानते । ये तेभ्यः कर्मचाण्डालान् पश्यामो नापरान् भुवि ॥१३५

होती है, वह संस्कारज जन्म कहलाता है ॥१२१॥ अपनी आयुके अन्तमें देहका छूटना शरीर-मरण है और व्रतोंको प्राप्त पुरुषका पापोंको छोड़ना संस्कार-मरण है ॥१२२॥ संस्कारको प्राप्त हुआ पुरुष यतः पूर्वकी मिथ्यादर्शन पर्यायको छोड़ता है, अतः वह पूर्वपर्यायके त्यागकी अपेक्षा मरा हुआ ही जानना चाहिए ॥१२३॥ उन दोनों प्रकारके जन्मोंमेंसे पाप-रहित यह निर्दोष संस्कार जन्म हमें गुरुकी अनुज्ञासे प्राप्त हुआ है, अतः हम देवद्विज हैं ॥१२४॥ इसप्रकार न्यायमार्गसे अपने गुणोंका उत्कर्ष प्रकट करता हुआ वह देवद्विज अनुपम सद्-गृहीत्व पदको पाकर सद्-गृहस्थ होता है ॥१२५॥ अब मैं इससे आगे ब्राह्मणोंके जातिवादका मद दूर करनेके लिए सत्क्रियाओंके करने योग्य ब्राह्मणों-को और भी कथन करता हूँ ॥१२६॥ 'ब्रह्मणोऽपत्यं ब्राह्मणः' इस निरुक्तिके अनुसार ब्रह्माकी सन्तान को ब्राह्मण कहते हैं । जिनोत्तम परमेष्ठी स्वयम्भू भगवान् ब्रह्मा कहलाते हैं ॥१२७॥ वे श्री जिनेन्द्रदेव ही आदि परम ब्रह्मा हैं, क्योंकि वे ही आत्माके सम्यग्दर्शनादि गुणोंको बढ़ाते हैं । मुनी-श्वर-उत्कृष्ट ब्रह्म (ज्ञान) उन्हीं जिनेन्द्रदेवके अधीन मानते हैं ॥१२८॥ किन्तु मृगचर्मका धारक, दाढ़ी-जटादि रखनेवाला पुरुष ब्रह्मा नहीं माना जा सकता है, क्योंकि वह कामके वश गर्दभ-मुख बनकर ब्रह्मचर्यरूप तेजसे परिभ्रष्ट हुआ है ॥१२९॥ इसलिए दिव्यमूर्तिवाले जिनेन्द्रदेवके निर्मल ज्ञानरूप गर्भसे जन्म प्राप्त करनेवाले व्यक्ति ही द्विजन्मा माने गये हैं ॥१३०॥ व्रत और मंत्रादिके संस्कारोंसे गौरवको प्राप्त करनेवाले इन श्रेष्ठ देवब्राह्मणोंको वर्णके अन्तर्गत नहीं मानना चाहिए। अर्थात् ये सामान्य त्रिवर्णी जनोंसे उत्कृष्ट हैं ॥१३१॥ हम तो उन्हें ही वर्णोत्तम ब्राह्मण मानते हैं जो क्षमा-शौच आदि गुणोंमें परायण हैं, सन्तोषधारक हैं, और निर्दोष आचरणरूप आभूषणोंको धारण करनेसे विशिष्टताको प्राप्त हैं ॥१३२॥ किन्तु जो सदोष आचारवाले हैं, सदा पापारम्भमें निरत रहते हैं, और आग्रहपूर्वक पशुओंके घातक हैं, ऐसे द्विजाभिमानी लोग ब्राह्मण नहीं माने जा सकते हैं ॥१३३॥ सर्वहिंसामय धर्मको स्वीकार कर पशुओंके घातक और पापोपदेशी शास्त्रोंसे आजीविका करनेवाले इन द्विजाभिमानियोंकी मरकर न जाने कौन-सी गति होगी ? ॥१३४॥ पशु-यज्ञकी प्रेरणा

पार्थिवैर्दण्डनीयाश्च लुण्टाकाः पापपण्डिताः। तेऽमी धर्मजुषां बाह्या ये निघ्नन्त्यघृणाः पशून् ॥१३६
पशुहत्यासमारम्भात् क्रव्यादेभ्योऽपि निष्कृपाः। यद्युच्छ्रितिमुशन्त्येते हन्तैवं धार्मिका हताः ॥१३७
मलिनाचारिता ह्येते कृष्णवर्गे द्विजब्रुवाः। जैनास्तु निर्मलाचाराः शुक्लवर्गे मता बुधैः ॥१३८
श्रुतिस्मृतिपुरावृत्तवृत्तमन्त्रक्रियाश्रिता। देवतालिङ्गकामान्तकृता शुद्धिर्द्विजन्मनाम् ॥१३९
ये विशुद्धतरां वृत्तिं तत्कृतां समुपाश्रिताः। ते शुक्लवर्गे बोधव्याः शेषाः शुद्धेः वहिः कृता ॥१४०
तच्छुद्धचशुद्धी बोधव्ये न्यायान्यायप्रवृत्तितः। न्यायो दयार्द्रवृत्तित्वमन्यायः प्राणिमारणम् ॥१४१
विशुद्धवृत्तयस्तस्माज्जैना वर्णोत्तमा द्विजाः। वर्णान्तःपातिनो नैते जगन्मान्या इति स्थितम् ॥१४२

स्यादारेका च षट्कर्मजीविनां गृहमेधिनाम्।
हिंसादोषोऽनुसङ्गी स्याज्जैनानां च द्विजन्मनाम् ॥ १४३

इत्यत्र ब्रूमहे सत्यमल्पसावद्यसङ्गतिः। तत्रास्त्येव तथाप्येषां स्याच्छुद्धिः शास्त्रदर्शिताः ॥१४४
अपि चैषां विशुद्धयङ्गं पक्षश्चर्या च साधनम्। इति त्रितयमस्त्येव तदिदानीं विवृण्महे ॥१४५
तत्र पक्षो हि जैनानां कृत्स्नहिंसाविवर्जनम्। मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यैरुपबृंहितम् ॥१४६

करनेवाले अधर्मको ही जो धर्म मानते हैं, हम उनसे अन्य किसीको भी संसारमें कर्मचाण्डाल नहीं देखते हैं ॥१३५॥ जो निर्दय होकर पशुओंको मारते हैं, प्रजाको धर्मके बहाने लूटते हैं, पापरूपी कार्योंके पण्डित हैं, वे धर्मात्मा लोगोंसे बाह्य हैं, अतः वे राजाओंके द्वारा दण्डनीय हैं ॥१३६॥ पशु-हत्याके समारम्भकी अपेक्षा जो राक्षसोंसे भी अधिक निर्दयी हैं, यदि ऐसे ही पुरुष उत्कृष्ट माने जावेंगे, तो बड़े दुखके साथ कहना होगा कि इसप्रकार धर्मात्मा लोग व्यर्थ ही मारे गये ॥१३७॥ मलिन आचरण करनेवाले इन द्विजम्मन्य ब्राह्मणोंको विद्वानोंने कृष्णवर्गमें और निर्मल आचरण करने वाले जैन लोगोंको शुक्लवर्गमें माना है ॥१३८॥ भावार्थ—हिंसानुयायी ब्राह्मण पापवर्गी हैं और अहिंसाधर्मानुयायी ब्राह्मण पुण्यवर्गी हैं। द्विजन्मा ब्राह्मणोंकी शुद्धि श्रुति, स्मृति, पुराण, सदाचार, मंत्र और क्रियाओंके आश्रित है, तथा उत्तम देवताओंकी उपासना करनेसे उत्तम लिंग (वेष) को धारण करनेसे और कामदेवका अन्त करनेसे भी उनकी शुद्धि मानी गई है ॥१३९॥ जो लोग अति विशुद्ध श्रुति-स्मृति आदि धर्मशास्त्रोक्त वृत्तिको धारण करते हैं, उन्हें शुक्लवर्गमें समझना चाहिये। शेष जो मलिनाचारी पापोपदेशी हिंसक मनुष्य हैं, वे सब शुद्धि या शुक्लवर्गसे बहिष्कृत हैं, अर्थात् उन्हें कृष्णवर्गी मानना चाहिये ॥१४०॥ उन द्विजोंकी शुद्धि और अशुद्धि न्याय और अन्यायरूप प्रवृत्तिसे जाननी चाहिये। दयासे आर्द्र (भींजी या मृदु) प्रवृत्ति न्याय है और प्राणियोंका मारना अन्याय है ॥१४१॥ इस सर्व कथनसे यह बात निश्चित होती है कि विशुद्ध वृत्तिवाले जैन ही वर्णोत्तम द्विज हैं, अतः वे ही जगन्मान्य हैं। केवल वर्णान्तःपाती नहीं ॥१४२॥ भावार्थ—जो सदाचारी और अहिंसाधर्मके अनुयायी हैं, वे ही उत्तम ब्राह्मण हैं। केवल द्विज वर्णमें जन्म लेनेसे ही कोई उत्तम द्विज नहीं माना जा सकता। यहाँ यदि कोई यह आशंका करे कि असि मषी आदि षट् कर्मोंसे आजीविका करनेवाले गृहस्थोंके और जैन द्विजोंके भी हिंसाका दोष लग सकते हैं ? तो इसपर हम कहते हैं कि आपका कहना सत्य है, इन षट्कर्मोंको करते हुए गृहस्थोंके अल्पपापका समागम होता ही है, तथापि उनकी शुद्धि भी तो शास्त्रोंमें दिखाई गई है ॥१४३-१४४॥ उन गृहस्थोंके दोषोंकी विशुद्धिके तीन अंग हैं–पक्ष, चर्या और साधन। अब हम इन तीनोंका ही निरूपण करते हैं ॥१४५॥ मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और मध्यस्थ भावनाओंसे वृद्धिको प्राप्त हुआ समस्त हिंसाका परिहार जैनों-

चर्या तु देवतार्थं वा मन्त्रसिद्धयर्थमेव वा। औषधाहारक्लृप्त्यै वा न हिंस्यामीति चेष्टितम् ॥१४७
तत्राकामकृते शुद्धिः प्रायश्चित्तैर्विधीयते। पश्चाच्चात्मालयं सूनौ व्यवस्थाप्य गृहोज्झनम् ॥१४८
चर्यैषा गृहिणां प्रोक्ता जीवितान्ते तु साधनम्। देहाहारेहितत्यागात् ध्यानशुद्धयात्मशोधनम् ॥१४९
त्रिष्वेतेषु न संस्पर्शो वधेनार्हद्द्विजन्मनाम्। इत्यात्मपक्षनिक्षिप्तदोषाणां स्यान्निराकृतिः ॥१५०
चतुर्णामाश्रमाणां च शुद्धिः स्यादार्हते मते। चातुराश्रम्यमन्येषामविचारितसुन्दरम् ॥१५१
ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः। इत्याश्रमास्तु जैनानामुत्तरोत्तरशुद्धितः ॥१५२
ज्ञातव्याः स्युः प्रपञ्चेन सान्तर्भेदाः पृथग्विधाः। ग्रन्थगौरवभीत्या तु नात्रैतेषां प्रपञ्चना ॥१५३
सद्गृहित्वमिदं ज्ञेयं गुणैरात्मोपबृंहणम्। पारिव्राज्यमितो वक्ष्ये सुविशुद्धं क्रियान्तरम् ॥१५४
इतिसद्गृहित्वम्।

गार्हस्थ्यमनुपाल्यैवं गृहवासाद् विरज्यतः। यद्दीक्षाग्रहणं तद्धि पारिव्राज्यं प्रचक्षते ॥१५५
पारिव्राज्यं पारिव्राजो भावो निर्वाणदीक्षणम्। तत्र निर्ममता वृत्त्या जातरूपस्य धारणम् ॥१५६
प्रशस्ततिथिनक्षत्रयोगलग्नग्रहांशके। निर्ग्रंथाचार्यमाश्रित्य दीक्षा ग्राह्या मुमुक्षुणा ॥१५७
विशुद्धकुलगोत्रस्य सद्वृत्तस्य वपुष्मतः। दीक्षायोग्यत्वमाम्नातं सुमुखस्य सुमेधसः ॥१५८
ग्रहोपरागग्रहणे परिवेषेन्द्रचापयोः। वक्रग्रहोदये मेघपटलस्थगितेऽम्बरे ॥१५९

का पक्ष कहलाता है ॥१४६॥ देवताके लिए या मंत्रसिद्धिके लिए अथवा औषधि या आहार-निर्माणके लिए मैं किसी भी जीवकी हिंसा नहीं करूँगा, ऐसी प्रतिज्ञाकर अहिंसक आचरण करनेको चर्या कहते हैं ॥१४७॥ इस प्रतिज्ञामें यदि इच्छाके न रहनेपर भी प्रमादसे दोष लग जावे, तो प्रायश्चित्तसे उसकी शुद्धि की जाती है। पश्चात् पुत्रपर अपने सर्वकुटुम्बका भार छोड़कर गृहका त्याग किया जाता है ॥१४८॥ यह गृहस्थोंकी चर्या कही। जीवनके अन्तमें देह, आहार और सर्वप्रकारकी इच्छाओंका त्यागकर ध्यानकी शुद्धि-द्वारा आत्मशोधन करनेको साधन कहते हैं ॥१४९॥ पक्ष, चर्या और साधन इन तीनोंमें अर्हन्मतानुयायी द्विजोंका हिंसाके साथ संस्पर्श भी नहीं होता है, इसप्रकार हमारे जैन पक्षपर लगाये गये दोषों का निराकरण हो जाता है ॥१५०॥ चारों आश्रमोंकी शुद्धिता भी आर्हतमतमें ही है। अन्य लोगोंकी चतुराश्रमव्यवस्था तो अविचारितरम्य है, अर्थात् जब तक उसपर विचार नहीं किया जाता, तब तक ही सुन्दर प्रतीत होती है ॥१५१॥ ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और भिक्षुक, ये जैनोंके चार आश्रम उत्तरोत्तर शुद्धिसे प्राप्त होते हैं ॥१५२॥ ये चारों ही आश्रम अपने-अपने अन्तर्भेदोंसे अनेक प्रकारके हैं, उनका विस्तारके साथ ज्ञान प्राप्त करना चाहिए, किन्तु ग्रन्थ-गौरवके भयसे यहाँ उनका निरूपण नहीं किया जा रहा है ॥१५३॥ इसप्रकार सद्-गुणोंके द्वारा आत्माकी वृद्धि करना यह सद्-गृहित्व क्रिया है। अब इससे आगे परिव्राज्य नामकी अति विशुद्ध अन्य क्रिया को कहते हैं ॥१५४॥ यह दूसरी सद्गृहित्व क्रिया है। उपर्युक्त प्रकारसे गृहस्थ धर्मका विधिवत् परिपालन करके गृहवाससे विरक्त होनेवाले श्रावकका जो दीक्षाग्रहण करना है, वह पारिव्राज्य क्रिया है ॥१५५॥ परिव्राट् (गृहत्यागी) के निर्वाणदीक्षारूप भावको पारिव्राज्य कहते हैं। इस पारिव्राज्यक्रियामें निर्ममत्व वृत्तिसे जातरूप दिगम्बर वेषको धारण किया जाता है ॥१५६॥ मुमुक्षु श्रावकको शुभ तिथि, शुभ नक्षत्र, शुभ योग, शुभ लग्न और शुभ ग्रहांश (मुहूर्त) में निर्ग्रन्थ आचार्यके पास जाकरके दीक्षा ग्रहण करनी चाहिए ॥१५७॥ जिसका कुल और गोत्र विशुद्ध है, चरित्र उत्तम है, शरीर सुदृढ़ है, मुख सुन्दर है और जिसकी बुद्धि उत्तम है, ऐसे पुरुषके

नष्टाधिमासदिनयोः संक्रान्तौ हानिमत्तिथौ। दीक्षाविधिं मुमुक्षूणां नेच्छन्ति कृतबुद्धयः ॥१६०
सम्प्रदायमनादृत्य यस्त्विमं दीक्षयदधीः। स साधुभिर्बहिः कार्यो वृद्धात्यासादनारतः ॥१६१
तत्र सूत्रपदान्याहुः योगीन्द्राः सप्तविंशतिम्। यैर्निर्णीतैः भवेत्साक्षात् पारिव्राज्यस्य लक्षणम् ॥१६२
जातिर्मूर्त्तिश्च तत्रस्थं लक्षणं सुन्दराङ्गता। प्रभामण्डलचक्राणि तथाभिषवनाथते ॥१६३
सिंहासनोपधाने च छत्रचामरघोषणः। अशोकवृक्षनिधयो गृहशोभावगाहने ॥१६४
क्षेत्रज्ञाऽज्ञा सभाः कीर्तिर्वन्द्यता वाहनानि च। भाषाहारसुखानीति जात्यादिः सप्तविंशतिः ॥१६५
जात्यादिकानिमान् सप्तविंशतिं परमेष्ठिनाम्। गुणानाहुर्भजेद्दीक्षां स्वेषु तेष्वकृतादरः ॥१६६
जातिमानप्यनुत्सिक्तः सम्भजेदर्हतां क्रमौ। यतो जात्यन्तरे जात्यां याति जातिचतुष्टयीम् ॥१६७
जातिरैन्द्री भवेद्दिव्या चक्रिणां विजयाश्रिता। परमा जातिरार्हन्त्ये स्वात्मोत्था सिद्धिमीयुषाम् ॥१६८
मूर्त्यादिष्वपि नेतव्या कल्पनेयं चतुष्टयी। पुराणज्ञैरसम्मोहात् क्वचिच्च त्रितयी मता ॥१६९
कर्शयेन्मूर्त्तिमात्मीयां रक्षन्मूर्त्तीः शरीरिणाम्। तपोऽधितिष्ठेद् दिव्यादिमूर्त्तीराप्तुमना मुनिः ॥१७०
स्वलक्षणमनिर्देश्यं मन्यमानो जिनेशिनाम्। लक्षणान्यभिसन्धाय तपस्येत् कृतलक्षणः ॥१७१

ही दीक्षा ग्रहण करनेकी योग्यता मानी गई है ॥१५८॥ जिस दिन ग्रहोंका उपराग हो, सूर्य-चन्द्रका ग्रहण हो अथवा उनपर (परिवेष) मण्डल हो , इन्द्र-धनुष प्रकट हो रहा हो, वक्र या क्रूर ग्रहोंका उदय हो, आकाश मेघ-पटलसे आच्छादित हो, क्षयमास या अधिक मासका दिन हो, संक्रान्तिका समय हो, अथवा तिथिका क्षय हो, उस दिन ज्ञानियोने मुमुक्षुजनोंका दीक्षा विधान स्वीकार नहीं किया है, अर्थात् उक्त प्रकारके अवसरोंपर जिन-दीक्षा नहीं देना चाहिये ॥१५९-१६०॥ जो अज्ञानी इस दीक्षा-सम्प्रदायका अनादर करके किसी नवीन शिष्यको दीक्षा दे देता है, साधुजनोंको उसका बहिष्कार करना चाहिए, क्योंकि वह वृद्धजनोंकी आम्नायकी आसादना करनेमें तत्पर है ॥१६१॥ इस पारिव्रज्य क्रियामें योगीन्द्रोंने सत्ताईस सूत्रपद कहे हैं, जिनका कि निर्णय होनेपर पारिव्राज्यका साक्षात् स्वरूप प्रकट होता है ॥१६२॥ वे सत्ताईस सूत्र-पद इसप्रकार हैं—१. जाति, २. मूर्ति, ३. मूर्तिगत लक्षण, ४. अंग-सौन्दर्य, ५. प्रभा, ६. मंडल, ७. चक्र, ८. अभिषेक, ९. नाथता, १०. सिंहासन, ११. उपधान, १२. छत्र, १३. चामर, १४. घोषणा, १५. अशोकवृक्ष, १६. निधि, १७. गृह-शोभा, १८. अवगाहन, १९. क्षेत्रज्ञ, २०. आज्ञा, २१. सभा, २२. कीर्ति, २३. वन्दनीयता, २४. वाहन, २५. भाषा, २६. आहार और २७. सुख। ये जाति आदिक सत्ताईस सूत्रपद परमेष्ठियोंके गुण स्वरूप कहे गये हैं। इन सूत्रपदोंमें आदर करते हुए, तथा अपनी जाति, मूर्ति आदिमें आदर न करते हुए ही भव्य पुरुषको दीक्षा धारण करना चाहिये ॥१६३-१६६॥ दीक्षा-धारक उत्तम जातिका भी हो, तो भी उसे अहंकार छोड़कर अर्हन्तदेवोंके चरणोंकी सेवा करनी चाहिये जिससे कि दूसरे जन्ममें उत्पन्न होनेपर दिव्या, विजयाश्रिता, परमा और स्वात्मोत्था इन चार उत्तम जातियोंको प्राप्त हो ॥१६७॥ इन्द्रकी दिव्या जाति है, चक्रवर्त्तियोंकी विजयाश्रिता जाति है, अरहन्तोंकी परमा जाति है और सिद्धि (मुक्ति) को प्राप्त करनेवालोंकी स्वात्मोत्था जाति है ॥१६८॥ इन चारों गुण-विशेषोंकी कल्पना मूर्ति आदिक शेष पदोंमें भी पुराणज्ञोंको विना किसी व्यामोहके कर लेना चाहिए। किसी किसी पदमें तीन ही पदोंकी कल्पना मानी गई है ॥१६९॥ जो मुनि दिव्य आदि मूर्तियोंको प्राप्त करना चाहता है, वह अपनी मूर्तिको कृश करे और प्राणियोंकी मूर्तियोंकी रक्षा करता हुआ तपका आचरण करे ॥१७०॥ इसीप्रकार अनेक लक्षणोंको धारण करनेपर भी अपने लक्षणोंको उल्ले-

म्लापयन् स्वाङ्गसौन्दर्यं मुनिरुग्रं तपश्चरेत् । वाञ्छन्दिव्यादि सौन्दर्यमनिवार्यपरम्परम् ॥१७२
मलीमसाङ्गो व्युत्सृष्टस्वकायप्रभवप्रभः । प्रभोः प्रभां मुनिर्ध्यायन् भवेत् क्षिप्रं प्रभास्वरः ॥१७३
स्वं मणिस्नेहदीपादितेजोऽपास्य जिनं भजन् । तेजोमयमयं योगी स्यात्तेजोवलयोज्ज्वलः ॥१७४
त्यक्त्वाऽस्त्रवस्त्रशस्त्राणि प्राक्तनानि प्रशान्तिभाक् ।
जिनमाराध्य योगीन्द्रो धर्मचक्राधिपो भवेत् ॥१७५
त्यक्तस्नानादिसंस्कारः संश्रित्य स्नातकं जिनम् । मूर्ध्नि मेरोरवाप्नोति परं जन्माभिषेचनम् ॥१७६
स्वं स्वाम्यमैहिकं त्यक्त्वा परमस्वामिनं जिनम् । सेवित्वा सेवनीयत्वमेष्यत्येष जगज्जनैः ॥१७७
स्वोचितासनभेदानां त्यागात्त्यक्ताम्बरो मुनिः । सैंहं विष्टरमध्यास्य तीर्थप्रख्यापको भवेत् ॥१७८
स्वोपधानाद्यनादृत्य योऽभून्निरुपधिर्भुवि । शयानः स्थण्डिले बाहुमात्रार्पितशिरस्तटः ॥१७९
स महाभ्युदयं प्राप्य जिनो भूत्वाऽऽप्तसत्क्रियः । देवैर्विरचितं दीप्रमास्कन्दत्युपधानकम् ॥१८०
त्यक्तशीतातपत्राणसकलात्मपरिच्छदः । त्रिभिश्छत्रैः समुद्भासिरत्नैरुद्भासते स्वयम् ॥१८१
विविधव्यजनत्यागादनुष्ठिततपोविधिः । चामराणां चतुःषष्ठ्या वीज्यते जिनपर्यये ॥१८२
उज्झितानकसङ्गीतघोषः कृत्वा तपोविधिम् । स्याद्दुन्दुभिनिर्घोषैर्घुष्यमाणजयोदयः ॥१८३
उद्यानादिकृतां छायामपास्य स्वां तपो व्यधात् । यतोऽयमत एवास्य स्यादशोकमहाद्रुमः ॥१८४
स्वं स्वापतेयमुचितं त्यक्त्वा निर्ममतामितः । स्वयं निधिभिरभ्येत्य सेव्यते द्वारि दूरतः ॥१८५

स्वनीय नहीं मानता हुआ वह साधु जिनेश्वरोंके लक्षणोंका चिन्तवन कर तपश्चरण करे ॥१७१॥ अनिवार्यपरम्परावाले दिव्य सौंदर्य आदिका इच्छुक वह साधु अपने शरीरके सौंदर्यको मलिन करता हुआ उग्र तपश्चरण करे ॥१७२॥ अपने शरीरसे उत्पन्न हुई प्रभाका परित्यागकर मलिन अंगवाला वह साधु जिन प्रभुकी प्रभाका ध्यान करता हुआ शीघ्र ही महाप्रभाका धारक हो जाता है ॥१७३॥ जो योगी मणि, तैलदीपक आदिके समान अपने तेजको छोड़कर तेजोमय जिन भगवान्‌की सेवा करता है, वह भामंडलसे समुज्ज्वल होता है ॥१७४॥ जो परम शान्तिका धारक साधु गृहस्थावस्थावाले अस्त्र, शस्त्र और वस्त्रको छोड़कर जिनदेवकी आराधना करता है, वह धर्मचक्रका स्वामी होता है ॥१७५॥ जो मुनि स्नान आदि संस्कार छोड़कर स्नातक जिनदेवका आश्रय लेता है, वह सुमेरुके शिखरपर परमजन्माभिषेकसे प्राप्त होता है ॥१७६॥ जो मुनि अपने इस लोकसम्बन्धी स्वामित्वको छोड़कर परम स्वामी जिनदेव की सेवा करता है, वह जगत्‌के जीवों द्वारा सेवनीय होता है ॥१७७॥ जो मुनि नाना प्रकारके आसनोंको छोड़कर दिगम्बर होता है, वह सिंहासन पर बैठकर तीर्थका प्रस्थापक होता है ॥१७८॥ जो मुनि उपधान (तकिया) आदिका अनादर करके परिग्रहरहित होता है और केवल अपनी भुजापर शिरका किनारा रखकर पृथ्वीके नीचे-ऊँचे प्रदेशपर सोता है, वह स्वर्गादिके महान् अभ्युदयोंको पाकर जिन बनकर और जगत्‌से सत्कार प्राप्तकर देवोंसे रचित दीप्तिमान उपधानको पाता है ॥१७९-१८०॥ जो मुनि शीत और आतपसे रक्षा करनेवाले अपने छत्र आदि राजवैभवको छोड़ता है, वह प्रकाशमान रत्नवाले तीन छत्रोंसे स्वयं सुशोभित होता है ॥१८१॥ जो नानाप्रकारके वीजनोंके परित्याग-पूर्वक तपोविधिका अनुष्ठान करता है, वह जिन-पर्यायमें अर्थात् तीर्थंकर बननेपर चौसठ चंवरोंसे वीज्यमान होता है ॥१८२॥ जो वाद्य, संगीत आदिके शब्दोंको सुननेका त्यागकर विधिवत् तपको करता है, वह देव दुन्दुभियोंके निर्घोष-द्वारा जय-जयकाररूप घोषणाको प्राप्त होता है ॥१८३॥ जिसने अपने उद्यान आदिके वृक्षोंकी छायाको छोड़कर तप

नष्टाधिमासदिनयोः संक्रान्तौ हानिमत्तिथौ । दीक्षाविधिं मुमुक्षूणां नेच्छन्ति कृतबुद्धयः ॥१६०
सम्प्रदायमनादृत्य यस्त्विमं दीक्षयदधीः । स साधुभिर्बहिः कार्यो वृद्धात्यासादनारतः ॥१६१
तत्र सूत्रपदान्याहुः योगीन्द्राः सप्तविंशतिम् । यैर्निर्णीतैर्भवेत्साक्षात् पारिव्राज्यस्य लक्षणम् ॥१६२
जातिर्मूत्तिश्च तत्रस्थं लक्षणं सुन्दराङ्गता । प्रभामण्डलचक्राणि तथाभिषवनाथते ॥१६३
सिंहासनोपधाने च छत्रचामरघोषणः । अशोकवृक्षनिधयो गृहशोभावगाहने ॥१६४
क्षेत्रज्ञाऽऽज्ञा सभाः कीर्तिर्वन्द्यता वाहनानि च । भाषाहारसुखानीति जात्यादिः सप्तविंशतिः ॥१६५
जात्यादिकानिमान् सप्तविंशतिं परमेष्ठिनाम् । गुणानाहुर्भजेद्दीक्षां स्वेषु तेष्वकृतादरः ॥१६६
जातिमानप्यनुत्सिक्तः सम्भजेदर्हतां क्रमौ । यतो जात्यन्तरे जात्यां याति जातिचतुष्टयीम् ॥१६७
जातिरैन्द्री भवेद्दिव्या चक्रिणां विजयाश्रिता । परमा जातिरार्हन्त्ये स्वात्मोत्था सिद्धिमीयुषाम् ॥१६८
मूर्त्यादिष्वपि नेतव्या कल्पनेयं चतुष्टयी । पुराणज्ञैरसम्मोहात् क्वचिच्च त्रितयी मता ॥१६९
कर्शयेन्मूर्त्तिमात्मीयां रक्षन्मूर्त्तीः शरीरिणाम् । तपोऽधितिष्ठेद् दिव्यादिमूर्त्तीराप्तुमना मुनिः ॥१७०
स्वलक्षणमनिर्देश्यं मन्यमानो जिनेशिनाम् । लक्षणान्यभिसन्धाय तपस्येत् कृतलक्षणः ॥१७१

ही दीक्षा ग्रहण करनेकी योग्यता मानी गई है ॥१५८॥ जिस दिन ग्रहोंका उपराग हो, सूर्य-चन्द्रका ग्रहण हो अथवा उनपर (परिवेष) मण्डल हो , इन्द्र-धनुप प्रकट हो रहा हो, वक्र या क्रूर ग्रहोंका उदय हो, आकाश मेघ-पटलसे आच्छादित हो, क्षयमास या अधिक मासका दिन हो, संक्रान्तिका समय हो, अथवा तिथिका क्षय हो, उस दिन ज्ञानियोंने मुमुक्षुजनोंका दीक्षा विधान स्वीकार नहीं किया है, अर्थात् उक्त प्रकारके अवसरोंपर जिन-दीक्षा नहीं देना चाहिये ॥१५९-१६०॥ जो अज्ञानी इस दीक्षा-सम्प्रदायका अनादर करके किसी नवीन शिष्यको दीक्षा दे देता है, साधुजनोंको उसका बहिष्कार करना चाहिए, क्योंकि वह वृद्धजनोंकी आम्नायकी आसादना करनेमें तत्पर है ॥१६१॥ इस पारिव्रज्य क्रियामें योगीन्द्रोंने सत्ताईस सूत्रपद कहे हैं, जिनका कि निर्णय होनेपर पारिव्राज्यका साक्षात् स्वरूप प्रकट होता है ॥१६२॥ वे सत्ताईस सूत्र-पद इसप्रकार हैं—१. जाति, २. मूर्ति, ३. मूर्तिगत लक्षण, ४. अंग-सौन्दर्य, ५. प्रभा, ६. मंडल, ७. चक्र, ८. अभिषेक, ९. नाथता, १०. सिंहासन, ११. उपधान, १२. छत्र, १३. चामर, १४. घोषणा, १५. अशोकवृक्ष, १६. निधि, १७. गृहशोभा, १८. अवगाहन, १९. क्षेत्रज्ञ, २०. आज्ञा, २१. सभा, २२. कीर्ति, २३. वन्दनीयता, २४. वाहन, २५. भाषा, २६. आहार और २७. सुख । ये जाति आदिक सत्ताईस सूत्रपद परमेष्ठियोंके गुण स्वरूप कहे गये हैं । इन सूत्रपदोंमें आदर करते हुए, तथा अपनी जाति, मूर्ति आदिमें आदर न करते हुए ही भव्य पुरुषको दीक्षा धारण करना चाहिये ॥१६३-१६६॥ दीक्षा-धारक उत्तम जातिका भी हो, तो भी उसे अहंकार छोड़कर अर्हन्तदेवोंके चरणोंकी सेवा करनी चाहिये जिससे कि दूसरे जन्ममें उत्पन्न होनेपर दिव्या, विजयाश्रिता, परमा और स्वात्मोत्था इन चार उत्तम जातियोंको प्राप्त हो ॥१६७॥ इन्द्रकी दिव्या जाति है, चक्रवर्त्तियोंकी विजयाश्रिता जाति है, अरहन्तोंकी परमा जाति है और सिद्धि (मुक्ति) को प्राप्त करनेवालोंकी स्वात्मोत्था जाति है ॥१६८॥ इन चारों गुण-विशेषोंकी कल्पना मूर्ति आदिक शेष पदोंमें भी पुराणज्ञोंको बिना किसी व्यामोहके कर लेना चाहिए। किसी किसी पदमें तीन ही पदोंकी कल्पना मानी गई है ॥१६९॥ जो मुनि दिव्य आदि मूर्तियोंको प्राप्त करना चाहता है, वह अपनी मूर्तिको कृश करे और प्राणियोंकी मूर्तियोंकी रक्षा करता हुआ तपका आचरण करे ॥१७०॥ इसीप्रकार अनेक लक्षणोंको धारण करनेपर भी अपने लक्षणोंको उल्ले-

म्लापयन् स्वाङ्गसौन्दर्यं मुनिरुग्रं तपश्चरेत् । वाञ्छन्दिव्यादि सौन्दर्यमनिवार्यपरम्परम् ॥१७२
मलीमसाङ्गो व्युत्सृष्टस्वकायप्रभवप्रभः । प्रभोः प्रभां मुनिर्ध्यायन् भवेत् क्षिप्रं प्रभास्वरः ॥१७३
स्वं मणिस्नेहदीपादितेजोऽपास्य जिनं भजन् । तेजोमयमयं योगी स्यात्तेजोवलयोज्ज्वलः ॥१७४

त्यक्त्वाऽस्त्रवस्त्रशस्त्राणि प्राक्तनानि प्रशान्तिभाक् ।
जिनमाराध्य योगीन्द्रो धर्मचक्राधिपो भवेत् ॥१७५

त्यक्तस्नानादिसंस्कारः संश्रित्य स्नातकं जिनम् । मूर्ध्नि मेरोरवाप्नोति परं जन्माभिषेचनम् ॥१७६
स्वं स्वाम्यमैहिकं त्यक्त्वा परमस्वामिनं जिनम् । सेवित्वा सेवनीयत्वमेष्यत्येष जगज्जनैः ॥१७७
स्वोचितासनभेदानां त्यागात्त्यक्ताम्बरो मुनिः । सैंहं विष्टरमध्यास्य तीर्थप्रख्यापको भवेत् ॥१७८
स्वोपधानाद्यनादृत्य योऽभूमिरुपधिर्भुवि । शयानः स्थण्डिले बाहुमात्रार्पितशिरस्तटः ॥१७९
स महाभ्युदयं प्राप्य जिनो भूत्वाऽऽप्तसत्क्रियः । देवैर्विरचितं दीप्रमास्कन्दत्युपधानकम् ॥१८०
त्यक्तशीतातपत्राणसकलात्मपरिच्छदः । त्रिभिश्छत्रैः समुद्भासिरत्नैरुद्भासते स्वयम् ॥१८१
विविधव्यजनत्यागादनुष्ठिततपोविधिः । चामराणां चतुःषष्ट्या वीज्यते जिनपर्यये ॥१८२
उज्झितानकसङ्गीतघोषः कृत्वा तपोविधिम् । स्याद्दुन्दुभिनिर्घोषैर्घुष्यमाणजयोदयः ॥१८३
उद्यानादिकृतां छायामपास्य स्वां तपो व्यधात् । यतोऽयमत एवास्य स्यादशोकमहाद्रुमः ॥१८४
स्वं स्वापतेयमुचितं त्यक्त्वा निर्ममतामितः । स्वयं निधिभिरभ्येत्य सेव्यते द्वारि दूरतः ॥१८५

खनीय नहीं मानता हुआ वह साधु जिनेश्वरोंके लक्षणोंका चिन्तवन कर तपश्चरण करे ॥१७१॥ अनिवार्यपरम्परावाले दिव्य सौंदर्य आदिका इच्छुक वह साधु अपने शरीरके सौंदर्यको मलिन करता हुआ उग्र तपश्चरण करे ॥१७२॥ अपने शरीरसे उत्पन्न हुई प्रभाका परित्यागकर मलिन अंगवाला वह साधु जिन प्रभुकी प्रभाका ध्यान करता हुआ शीघ्र ही महाप्रभाका धारक हो जाता है ॥१७३॥ जो योगी मणि, तैलदीपक आदिके समान अपने तेजको छोड़कर तेजोमय जिन भगवान्‌की सेवा करता है, वह भामंडलसे समुज्ज्वल होता है ॥१७४॥ जो परम शान्तिका धारक साधु गृहस्थाव-स्थावाले अस्त्र, शस्त्र और वस्त्रको छोड़कर जिनदेवकी आराधना करता है, वह धर्मचक्रका स्वामी होता है ॥१७५॥ जो मुनि स्नान आदि संस्कार छोड़कर स्नातक जिनदेवका आश्रय लेता है, वह सुमेरुके शिखरपर परमजन्माभिषेकसे प्राप्त होता है ॥१७६॥ जो मुनि अपने इस लोकसम्बन्धी स्वा-मित्वको छोड़कर परम स्वामी जिनदेव की सेवा करता है, वह जगत्‌के जीवों द्वारा सेवनीय होता है ॥१७७॥ जो मुनि नाना प्रकारके आसनोंको छोड़कर दिगम्बर होता है, वह सिंहासन पर बैठकर तीर्थका प्रस्थापक होता है ॥१७८॥ जो मुनि उपधान (तकिया) आदिका अनादर करके परिग्रह-रहित होता है और केवल अपनी भुजापर शिरका किनारा रखकर पृथ्वीके नीचे-ऊँचे प्रदेशपर सोता है, वह स्वर्गादिके महान् अभ्युदयोंको पाकर जिन बनकर और जगत्से सत्कार प्राप्तकर देवोंसे रचित दीप्तिमान उपधानको पाता है ॥१७९-१८०॥ जो मुनि शीत और आतपसे रक्षा करनेवाले अपने छत्र आदि राजवैभवको छोड़ता है, वह प्रकाशमान रत्नवाले तीन छत्रोंसे स्वयं सुशोभित होता है ॥१८१॥ जो नानाप्रकारके बीजनोंके परित्याग-पूर्वक तपोविधिका अनुष्ठान करता है, वह जिन-पर्यायमें अर्थात् तीर्थंकर बननेपर चौसठ चंवरोंसे वीज्यमान होता है ॥१८२॥ जो वाद्य, संगीत आदि के शब्दोंको सुननेका त्यागकर विधिवत् तपको करता है, वह देव दुन्दुभियोंके निर्घोष-द्वारा जय-जय-काररूप घोषणाको प्राप्त होता है ॥१८३॥ जिसने अपने उद्यान आदिके वृक्षोंकी छायाको छोड़कर तप

गृहशोभां कृतारक्षां दूरीकृत्य तपस्यतः। श्रीमण्डपादिशोभास्य स्वतोऽभ्येति पुरोगताम् ॥१८६
तपोऽवगाहनादस्य गहनान्यधितिष्ठतः। त्रिजगज्जनतास्थानसहं स्यादवगाहनम् ॥१८७
क्षेत्रवास्तुसमुत्सर्गात् क्षेत्रज्ञत्वमुपेयुषः। स्वाधीनत्रिजगत्क्षेत्रमैश्यमस्योपजायते ॥१८८
आज्ञाभिमानमुत्सृज्य मौनमास्थितवानयम्। प्राप्नोति परमामाज्ञां सुरासुरशिरोधृताम् ॥१८९
स्वामिष्टभृत्यबन्ध्वादिसभामुत्सृष्टवानयम्। परमाप्तपदप्राप्तावध्यास्ते त्रिजगत्सभाम् ॥१९०
स्वगुणोत्कीर्तनं त्यक्त्वा त्यक्तकामो महातपाः। स्तुतिनिन्दासमो भूयः कीर्त्यते भुवनेश्वरैः ॥१९१
वन्दित्वा वन्द्यमर्हन्तं यतोऽनुष्ठितवांस्तपः। ततोऽयं वन्द्यते वन्द्यैरनिन्द्यगुणसन्निधिः ॥१९२
तपोऽयमनुपानत्कः पादचारी विवाहनः। कृतवान् पद्मगर्भेषु चरणन्यासमर्हति ॥१९३

वाग्गुप्तो हितवाग्वृत्या यतोऽयं तपसि स्थितः।
ततोऽस्य दिव्यभाषा स्यात् प्रीणयन्त्यखिलां सभाम् ॥१९४

अनाश्वान्नियताहारपारणोऽतप्त यत्तपः। तदस्य दिव्यविजयपरमामृततृप्तयः ॥१९५
त्यक्तकामसुखो भूत्वा तपस्यस्थाच्चिरं यतः। ततोऽयं सुखसाद्भूत्वा परमानन्दथुं भजेत् ॥१९६
किमत्र बहुनोक्तेन यद्यदिष्टं यथाविधम्। त्यजेन्मुनिरसंकल्पस्तत्तत्सूतेऽस्य तत्तपः ॥१९७

किया है, इसीकारणसे अरहन्त अवस्थामें उसे अशोक महावृक्ष प्राप्त होता है ॥१८४॥ जो अपने योग्य धनको छोड़कर निर्ममत्व भावको प्राप्त होता है, वह स्वयं आकर दूर समवसरण-द्वारपर खड़ी हुई निधियोंसे सेवित होता है ॥१८५॥ जो सर्व ओरसे सुरक्षित गृहकी शोभाको छोड़कर तपश्चरण करता है, उसके श्रीमण्डप (समवसरण) आदिकी शोभा अपने आप ही सम्मुख आती है ॥१८६॥ जो गहन वनोंमें निवासकर तपोंका अवगाहन करता है, उसके समवसरणमें तीन जगत्‌की जनताको स्थान देनेवाली अवगाहन शक्ति प्राप्त होती है ॥१८७॥ जो क्षेत्र-वास्तु आदिका परित्यागकर अपने शुद्ध आत्मरूप क्षेत्रज्ञताको प्राप्त करता है, उसके तीनों जगत्‌के क्षेत्रको स्वाधीन रखनेवाला परम ऐश्वर्य प्राप्त होता है ॥१८८॥ जो अपने आज्ञाभिमानको छोड़कर मौनको धारण करता है, वह सुर-असुरोंद्वारा शिरोधार्य परम आज्ञाको प्राप्त होता है ॥१८९। जो अपने इष्टसेवक-बंधु आदि की सभा-को छोड़कर तप करता है, वह परम आप्तपद प्राप्त होनेपर त्रिजगत् की सभा (समवसरण) में विराजमान होता है ॥१९०॥ जो अपने गुणोंकी प्रशंसा करना छोड़कर, इच्छा-रहित हो महान् तप-श्चरण करता है और अपनी स्तुति-निन्दामें समान रहता है, उसका यश भुवनके ईश्वर इन्द्रादिकों-द्वारा गाया जाता है ॥१९१॥ जिसने वन्दनीय अर्हन्तकी वन्दना करके तपका अनुष्ठान किया है, वह अनिन्द्य (प्रशंसनीय) गुणोंका भण्डार बनकर वन्दनीय गणधरादि देवोंके द्वारा वन्दना किया जाता है ॥१९२ ॥ जो पादत्राण (जूता) और वाहनका परित्यागकर और पादचारी बनकर तपश्चरण करता है, वह देव-स्थापित पद्मोंके मध्य भागपर पाद-न्यासके योग्य होता है ॥१९३॥ जो वचन गुप्तिको धारणकर, अथवा हितकारिणी वाणी बोलता हुआ तपमें स्थित रहता है, उसके समस्त सभा-को प्रसन्न करनेवाली दिव्यभाषा प्राप्त होती है ॥१९४॥ जो अनशन करके अथवा नियमित आहार और पारणाएँ करके तपको तपता है, उसके दिव्यतृप्ति, विजयतृप्ति, परमतृप्ति और अमृततृप्ति ये चारों ही तृप्तियाँ प्राप्त होती हैं ॥१९५॥ जो मुनि काम-जनित सुखको छोड़कर चिरकाल तक तपमें स्थित रहता है, वह सुखस्वरूप होकर परमानन्द पदको प्राप्त करता है ॥१९६॥ इस विषयमें बहुत कुछ कहनेसे क्या लाभ है! संक्षेपमें इतना ही समझना चाहिए कि जो मुनि संकल्प-रहित होकर जिस जिस प्रकारकी वस्तुका त्याग करता है, उसका तपश्चरण उसी प्रकारकी उत्तम वस्तुको उत्पन्न

प्राप्तोत्कर्षं तदस्य स्यात्तपश्चिन्तामणेः फलम् । यतोऽर्हज्जातिमूर्त्यादिप्राप्तिः सैषाऽनुवर्णिता ॥१९८
जैनेश्वरीं परामाज्ञां सूत्रोद्दिष्टां प्रमाणयन् । तपस्यां यदुपाधत्ते पारिव्राज्यं तदाञ्जसम् ॥१९९
अन्यैश्च बहुवाग्जाले निबद्धं युक्तिबाधितम् । पारिव्राज्यं परित्यज्य ग्राह्यं चेदमनुत्तरम् ॥२००

इतिपारिव्राज्यम् ।

या सुरेन्द्रपदप्राप्तिः पारिव्राज्यफलोदयात् । सैषा सुरेन्द्रता नाम क्रिया प्रागनुवर्णिता ॥२०१

इतिसुरेन्द्रता ।

साम्राज्यमाधिराज्यं स्याच्चक्ररत्नपुरःसरम् । निधिरत्नसमुद्भूतं भोगसम्पत्परम्परम् ॥२०२

इतिसाम्राज्यम् ।

आर्हन्त्यमर्हतो भावो कर्म चेति परा क्रिया । यत्र स्वर्गावतारादिमहाकल्याणसम्पदः ॥२०३
याऽसौ दिवोऽवतीर्णस्य प्राप्तिः कल्याणसम्पदाम् । तदार्हन्त्यमिति ज्ञेयं त्रैलोक्यक्षोभकारणम् ॥२०४

इत्यार्हन्त्यम् ।

भवबन्धनमुक्तस्य यावस्था परमात्मनः । परिनिर्वृत्तिरिष्टा सा परं निर्वाणमित्यपि ॥२०५
कृत्स्नकर्ममलापायात् संशुद्धिर्याऽन्तरात्मनः ।
सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः सा नाभावो न गुणोच्छिदा ॥२०६

इतिनिर्वृत्तिः ।

इत्यागमानुसारेण प्रोक्ताः कर्त्रन्वयक्रियाः । सप्तैताः परमस्थानसङ्गतिर्यत्र योगिनाम् ॥२०७
योऽनुतिष्ठत्यतन्द्रालुः क्रिया ह्येतास्त्रिधोदिताः । सोऽधिगच्छेत् परं धाम यत्सम्प्राप्तौ परं शिवम् ॥२०८

कर देता है ॥१९७॥ जिस तपश्चरणरूपी चिन्तामणिका फल परम उत्कर्षको प्राप्त कराना है और जिससे अर्हन्त देवको जाति और मूर्ति आदिकी प्राप्ति होती है, ऐसी इस पारिव्राज्य क्रियाका वर्णन किया ॥१९८॥ जो आगमोक्त जैनेश्वरी परम आज्ञाको प्रमाण मानता हुआ तपस्याको धारण करता है, उसीके वास्तविक पारिव्राज्य क्रिया होती है ॥१९९॥ अन्य लोगोंके द्वारा बहुतसे वचन जालमें निबद्ध और युक्तिसे बाधित पारिव्राज्यको छोड़कर इस जैनेश्वरीय अनुपम पारिव्राज्यको ग्रहण करना चाहिए ॥२००॥ इसप्रकार यह तीसरी पारिव्राज्य क्रिया है। पारिव्राज्य धारण करनेके फलोदयसे जो सुरेन्द्रपदकी प्राप्ति होती है, वही सुरेन्द्रता नामकी क्रिया है, जिसका पहले वर्णन किया जा चुका है ॥२०१॥ यह चौथी सुरेन्द्रता क्रिया है। जिसमें चक्ररत्नके साथ निधियों और रत्नोंसे उत्पन्न हुई भोगोपभोगरूप सम्पदाकी परम्परा प्राप्त होती है, ऐसा चक्रवर्तीका महान् राज्य साम्राज्य कहलाता है ॥२०२॥ यह पाँचवीं साम्राज्य क्रिया है। अर्हत्परमेष्ठीके भाव या कर्मरूप जो उत्कृष्ट क्रिया है, उसे आर्हन्त्य क्रिया कहते हैं। इस क्रियामें स्वर्गावतार आदि पंच महाकल्याणरूप सम्पदा प्राप्त होती है ॥२०३॥ स्वर्गसे अवतीर्ण तीर्थंकरके जो कल्याणरूप सम्पदाकी प्राप्ति होती है और त्रैलोक्यमें क्षोभका कारण है, उसे आर्हन्त्य क्रिया जाननी चाहिए ॥२०४॥ यह छठी आर्हन्त्य-क्रिया है। भवबन्धनसे मुक्त हुए परमात्माकी जो अवस्था होती है, उसे परिनिर्वृति कहते हैं, इसका दूसरा नाम परिनिर्वाण भी है ॥२०५॥ समस्त कर्ममलके दूर हो जानेसे जो अन्तरात्माकी शुद्धि होती है, उसे सिद्धि कहते हैं। वह अपने आत्मतत्त्वकी प्राप्तिरूप है। यह सिद्धि न अभावरूप है और न ज्ञानादि गुणोंके उच्छेदरूप है ॥२०६॥ यह सातवीं परिनिर्वृति क्रिया है। इसप्रकार आगम-के अनुसार ये सात कर्त्रन्वय क्रियाएँ कही गई हैं। इन क्रियाओंका पालन करनेसे योगियोंको परम

पुष्पिताग्रावृत्तम्

जिनमतविहितं पुराणधर्मं य इममनुस्मरति क्रियानिवद्धम् ।
अनुचरति च पुण्यधीः स भव्यो भवभयवन्धनमाशु निर्धुनाति ॥२०९
परमजिनपदानुरक्तधीः भजति पुमान् य इमं क्रियाविधिम् ।
स धुतनिखिलकर्मवन्धनो जननजरामरणान्तकृद् भवेत् ॥२१०

शार्दूलविक्रीडितम्

भव्यात्मा समवाप्य जातिमुचितां जातस्ततः सद्गृही ।
पारिव्राज्यमनुत्तरं गुरुमतादासाद्य यातो दिवम् ।
तत्रैन्द्रीं श्रियमाप्तवान् पुनरतश्च्युत्वा गतश्चक्रिताम् ।
प्राप्तार्हन्त्यपदः समग्रमहिमा प्राप्नोत्यतो निर्वृतिम् ॥२११

इत्यार्ष भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसङ्ग्रहे दीक्षाकर्त्रन्वय-
क्रियावर्णनं नाम एकोनचत्वारिंशत्तमं पर्व ॥३९॥

स्थानकी प्राप्ति होती है ॥२०७॥ जो भव्य अतन्द्रालु होकर इन तीनों प्रकारकी कही गई क्रियाओं-का अनुष्ठान करता है, वह उस परमधामको प्राप्त करता है, जिसके पानेपर परम शिव (सुख) प्राप्त होता है ॥२०८॥ जो पुण्यबुद्धि भव्यपुरुष इस जिनमत-कथित क्रियानिवद्ध पुरातन धर्मको सुनता है, स्मरण करता है और आचरण करता है, वह शीघ्र ही भवभयवन्धनको नष्ट कर देता है ॥२०९॥ परम जिन-पदोंमें अनुरक्त बुद्धिवाला जो पुरुष इस क्रियाविधिको पालता है, वह सकल कर्म-बन्धनसे रहित होकर जन्म, जरा और मरणका अन्त करता है ॥२१०॥ भव्यात्मा जीव प्रथम ही योग्य जाति पाकर सद्-गृहस्थ होता है, पुनः गुरुकी अनुज्ञासे उत्कृष्ट पारिव्राज्यको प्राप्तकर स्वर्ग-को जाता है। वहाँ पर इन्द्रकी लक्ष्मीको पाता है। तदनन्तर वहाँसे च्युत होकर चक्रवर्तीके पदको पाता है। पुनः अरहन्त पद पाकर समग्र महिमाका धारक होता है और तत्पश्चात् निर्वाणको प्राप्त होता है ॥२११॥

इसप्रकार भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रहमें दीक्षान्वय और
कर्त्रन्वयक्रियाओंका वर्णन करनेवाला यह उन्चालीसवाँ पर्व समाप्त हुआ।

चत्वारिंशत्तमं पर्व

अथातः सम्प्रवक्ष्यामि क्रियासूत्तरचूलिकाम् । विशेषनिर्णयो यत्र क्रियाणां तिसृणामपि ॥१
तत्रादौ तावदुन्नेष्ये क्रियाकल्पप्रक्लृप्तये । मन्त्रोद्धारं क्रियासिद्धिः मन्त्राधीना हि योगिनाम् ॥२
आधानादिक्रियारम्भे पूर्वमेव निवेशयेत् । त्रीणिच्छात्राणि चक्राणां त्रयं त्रींश्च हविर्भुजः ॥३
मध्येवेदि जिनेन्द्रार्चाः स्थापयेच्च यथाविधि । मन्त्रकल्पोऽयमाम्नातस्तत्र तत्पूजनाविधौ ॥४
नमोऽन्तो नीरजश्शब्दश्चतुर्थ्यन्तोऽत्र पठ्यताम् । जलेन भूमिबन्धार्थं परा शुद्धिस्तु तत्फलम् ॥५
(नीरजसे नमः)

दर्भास्तरणसम्बन्धस्ततः पश्चादुदीर्यताम् । विघ्नोपशान्तये दर्पमथनाय नमः पदम् ॥६
(दर्पमथनाय नमः)

गन्धप्रदानमन्त्रश्च शीलगन्धाय वै नमः । (शीलगन्धाय नमः)
पुष्पप्रदानमन्त्रोऽपि विमलाय नमः पदम् ॥७ (विमलाय नमः)
कुर्यादक्षतपूजार्थमक्षताय नमः पदम् । (अक्षताय नमः)
धूपार्घे श्रुतधूपाय नमः पदमुदाहरेत् ॥८ (श्रुतधूपाय नमः)
ज्ञानोद्योताय पूर्वं च दीपदाने नमः पदम् । (ज्ञानोद्योताय नमः)
मन्त्रः परमसिद्धाय नमः इत्यमृतोद्धृतौ ॥९ (परमसिद्धाय नमः)

अब इससे आगे क्रियाओंकी उत्तरचूलिका कहते हैं । इस उत्तरचूलिकामें तीनों प्रकारकी क्रियाओंका विशेष निर्णय किया जायगा ॥१॥ इस उत्तर चूलिकामें सर्वप्रथम क्रियाकल्पकी सिद्धिके लिए मंत्रोंका उद्धार किया जायगा, क्योंकि योगियोंके भी क्रियाकी सिद्धि मंत्रोंके अधीन मानी गई है ॥२॥ गर्भाधानादि क्रियाओंके आरम्भमें सबसे पहले तीन छत्र, तीन चक्र और तीनों अग्नियाँ स्थापित करना चाहिए ॥३॥ वेदीके मध्यभागमें विधिपूर्वक जिनेन्द्रदेवकी प्रतिमा स्थापन करनी चाहिए । गर्भाधानादि क्रियाओंके प्रारम्भमें छत्र, चक्र, अग्नि और जिन-पूजनके समय यह वक्ष्यमाण विधि मंत्रकल्प माना गया है ॥४॥ इन क्रियाओंके करते समय जलसे भूमि-शुद्धि करनेके लिए नीरजस् शब्दको चतुर्थी विभक्ति लगाकर अन्तमें 'नमः' पद बोलना चाहिए। अर्थात् 'नीरजसे नमः' (कर्म-रजसे रहित जिनेन्द्रदेवको नमस्कार हो ।) यह मंत्र बोलकर भूमिपर जल-सिंचन करे । इस मंत्रका फल भूमिकी परम शुद्धि है ॥५॥ तदनन्तर डाभका आसन ग्रहण करते हुए विघ्नोंकी उपशान्तिके लिए 'दर्पमथनाय नमः' (अहंकारके मथन करनेवाले जिनेन्द्रदेवको नमस्कार हो) यह पद बोलना चाहिए ॥६॥ भूमिको गन्ध-समर्पण करते हुए 'शीलगन्धाय नमः' (शीलरूप सुगन्धको धारण करनेवाले जिनेन्द्र देवको नमस्कार हो) यह मंत्र बोलना चाहिए। पुष्प-प्रदान करते समय 'विमलाय नमः' (मल-रहित जिनेन्द्रदेवको नमस्कार हो) यह मंत्र बोलना चाहिए ॥७॥ अक्षतसे पूजा करनेके लिए 'अक्षताय नमः' (क्षय-रहित जिनेन्द्रदेवको नमस्कार हो) यह मंत्र बोले । धूपसे पूजन करते समय 'श्रुतधूपाय नमः' (सर्वत्र सुने जानेवाले यशरूप गन्धके धारक जिनेन्द्रको नमस्कार हो) यह मंत्र बोले ॥८॥ दीप चढ़ाते समय 'ज्ञानोद्योताय नमः' (केवल ज्ञानरूप प्रकाशके धारक जिनेन्द्रदेवको नमस्कार हो) यह मंत्र बोले । अमृतमय नैवेद्यके चढ़ाते समय 'परम सिद्धाय नमः'

मन्त्रैरेभिस्तु संस्कृत्य यथावज्जगतीतलम् । ततोऽन्वक् पीठिकामन्त्रः पठनीयो द्विजोत्तमैः ॥१०

पीठिकामन्त्र :—सत्यजातपदं पूर्वं चतुर्थ्यन्तं नमः परम् ।
ततोऽर्हज्जातशब्दश्च तदन्तस्तत्परो मतः ॥११

ततः परमजाताय नम इत्यपरं पदम् । ततोऽनुपमजाताय नम इत्युत्तरं पदम् ॥१२
ततश्च स्वप्रधानाय नम इत्युत्तरो ध्वनिः । अचलाय नमः शब्दादक्षयाय नमः परम् ॥१३
अव्याबाधपदं चान्यदनन्तज्ञानशब्दनम् । अनन्तदर्शनानन्तवीर्यशब्दौ ततः पृथक् ॥१४
अनन्तसुखशब्दश्च नीरजः शब्द एव च । निर्मलाच्छेद्यशब्दौ च तथाऽभेद्याजरश्रुती ॥१५
ततोऽमरा प्रमेयोक्ती सागर्भावासशब्दने । ततोऽक्षोभ्याविलीनोक्ती परमादिर्घनध्वनिः ॥१६
पृथक्पृथगिमे शब्दास्तदन्तास्तत्परा मताः । उत्तराण्यनुसन्धाय पदान्येभिः पदैर्वदेत् ॥१७
आदौ परमकाष्ठेति योगरूपाय वाक्परम् । नमः शब्दमुदीर्यान्ते मन्त्रविन्मन्त्रमुद्धरेत् ॥१८

(सर्वोत्कृष्ट सिद्धपरमेष्ठीको नमस्कार हो) यह मंत्र बोले ॥९॥ इन मंत्रोंके द्वारा भूमितलको विधि-पूर्वक संस्कार-युक्त शुद्ध करके तत्पश्चात् उत्तम द्विजोंको वक्ष्यमाण पीठिकामंत्र पढ़ना चाहिए ॥१०॥ वे पीठिकामंत्र इस प्रकार हैं—पहले सत्यजात पदके अन्तमें चतुर्थी विभक्ति लगाकर अन्तमें 'नमः' पद बोले—'सत्यजाताय नमः' (सत्यरूप जन्मके धारक जिनेन्द्रके लिए नमस्कार हो) । पुनः अर्हज्जात शब्दके अन्तमें चतुर्थी विभक्तिके साथ 'नमः' पद बोले—'अर्हज्जाताय नमः' (पूज्य एवं प्रशंसनीय जन्मके धारक जिनेन्द्रके लिए नमस्कार हो) ॥११॥ तत्पश्चात् 'परमजाताय नमः' (उत्कृष्ट जन्मवाले जिनेन्द्रको नमस्कार हो) और 'अनुपमजाताय नमः' (अनुपम जन्मवाले जिनेन्द्रको नमस्कार हो) इन पदोंको बोले ॥१२॥ पुनः 'स्वप्रधानाय नमः' (स्वयं ही प्रधानताको प्राप्त जिनेन्द्रको नमस्कार हो), 'अचलाय नमः' (स्वरूपमें अचल रहनेवाले देवको नमस्कार हो), और 'अक्षयाय नमः' (अविनश्वर परमेश्वरको नमस्कार हो) इन पदोंको बोले ॥१३॥ तदनन्तर 'अव्याबाधाय नमः' (सर्व बाधाओंसे रहित देवको नमस्कार हो), 'अनन्त ज्ञानाय नमः' (अनन्त ज्ञानी देवको नमस्कार हो), 'अनन्त दर्शनाय नमः' (अनन्त दर्शनवाले देवको नमस्कार हो) और 'अनन्त-वीर्याय नमः' (अनन्त वीर्यके धारक देवको नमस्कार हो), इन पदोंको बोले ॥१४॥ पुनः 'अनन्त सुखाय नमः' (अनन्त सुखके धारक देवको नमस्कार हो), 'नीरजसे नमः' (कर्म-रजसे रहित देवको नमस्कार हो), 'निर्मलाय नमः' (पाप-मलसे रहित देवको नमस्कार हो), 'अच्छेद्याय नमः' (जिनका किसी प्रकारसे छेदन नहीं किया जा सके ऐसे देवको नमस्कार हो), 'अभेद्याय नमः' (किसी भी प्रकारसे भेदको नहीं प्राप्त होनेवाले देवको नमस्कार हो), और 'अजराय नमः' (वृद्धावस्थासे रहित देवको नमस्कार हो) इन पदोंको बोले ॥१५॥ तदनन्तर 'अमराय नमः' (मरणरहित देवको नमस्कार हो), 'अप्रमेयाय नमः' (अल्पज्ञानीके अगम्य देवको नमस्कार हो), 'अगर्भवासाय नमः' (गर्भ-वाससे रहित देवको नमस्कार हो), 'अक्षोभ्याय नमः' (कभी किसीके द्वारा क्षोभित नहीं होनेवाले देवको नमस्कार हो), 'अविलीनाय नमः' (कभी विलयको नहीं प्राप्त होनेवाले देवको नमस्कार हो) और 'परम घनाय नमः' (परम सघनताको प्राप्त देवके लिए नमस्कार हो) इन पदोंको बोले ॥१६॥ इस प्रकार श्लोक-पठित 'अव्याबाध' आदि शब्दोंके साथ चतुर्थी विभक्ति लगाते हुए अन्त में 'नमः' पदका प्रयोग करे। इसी प्रकार आगेके श्लोकोंमें कहे जानेवाले शब्दोंके साथ चतुर्थी विभक्ति लगाकर अन्तमें 'नमः' बोले ॥१७॥ पुनः मंत्रको जाननेवाला द्विज आदिमें 'परम-

लोकाग्रवासिने शब्दात्परः कार्यो नमो नमः । एवं परमसिद्धेभ्योऽर्हत्-सिद्धेभ्य इत्यपि ॥१९
एवं केवलिसिद्धेभ्यः पदाद् भूयोऽन्तकृत्पदात् । सिद्धेभ्य इत्यमुष्माच्च परम्परपदादपि ॥२०
अनादिपदपूर्वाच्च तस्मादेव पदात्परम् । अनाद्यनुपमादिभ्यः सिद्धेभ्यश्च नमो नमः ॥२१
इतिमन्त्रपदान्युक्त्वा पदानीमान्यतः पठेत् । द्विरुक्त्वाऽऽमन्त्र्य वक्तव्यं सम्यग्दृष्टिपदं ततः ॥२२
आसन्नभव्य शब्दश्च द्विर्वाच्यस्तद्वदेव हि । निर्वाणादिश्च पूजार्हः स्वाहान्तोऽग्नीन्द्र इत्यपि ॥२३
काम्यमन्त्रः—ततः स्वकाम्यसिद्ध्यर्थमिदं पदमुदाहरेत् ।

सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु तत्परम् ॥२४

अपमृत्युविनाशनं भवत्वन्तं पदं भवेत् । भवत्वन्तमतो वाच्यं समाधिमरणाक्षरम् ॥२५

चूर्णि :—सत्यजाताय नमः, अर्हज्जाताय नमः, परमजाताय नमः, अनुपमजाताय नमः, स्वप्रधानाय नमः, अचलाय नमः, अक्षयाय नमः, अव्याबाधाय नमः, अनन्तज्ञानाय नमः, अनन्तदर्शनाय नमः, अनन्तवीर्याय नमः, अनन्तसुखाय नमः, नीरजसे नमः, निर्मलाय नमः, अच्छेद्याय नमः, अभेद्याय नमः, अजराय नमः, अमराय नमः, अप्रमेयाय नमः, अगर्भवासाय नमः, अक्षोभ्याय नमः, अविलीनाय नमः, परमघनाय नमः, परमकाष्ठायोगरूपाय नमः, लोकाग्रवासिने नमो नमः, परमसिद्धेभ्यो नमो नमः, अर्हत्सिद्धेभ्यो नमो नमः, केवलिसिद्धेभ्यो नमो नमः, अन्तकृद्सिद्धेभ्यो नमो नमः, परम्परसिद्धेभ्यो नमः, अनादिपरम्परसिद्धेभ्यो नमो नमः, अनाद्यनुपमसिद्धेभ्यो नमो नमः ।

सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे आसन्नभव्य आसन्नभव्य निर्वाणपूजार्ह निर्वाणपूजार्ह, अग्नीन्द्र स्वाहा, सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु, अपमृत्युविनाशनं भवतु, समाधिमरणं भवतु ।

पीठिकामन्त्र एष स्यात् पदैरेभिः समुच्चितैः । जातिमन्त्रमितो वक्ष्ये यथाश्रुतमनुक्रमात् ॥२६

काष्ठ' और अन्तमें 'योगरूपाय' पदको जोड़कर अन्तमें नमः शब्दको बोले । अर्थात् 'परमकाष्ठयोगरूपाय नमः' (चरम सीमाको प्राप्त योगस्वरूपवाले देवको नमस्कार हो) ॥१८॥ इससे आगेके पदोंके अन्तमें 'नमो नमः' लगाकर बोलना चाहिए । यथा—'लोकाग्रवासिने नमो नमः' (लोक-शिखरपर निवास करनेवाले सिद्ध परमेष्ठीको बार-बार नमस्कार हो), 'परमसिद्धेभ्यो नमो नमः' (परम सिद्ध भगवन्तोंको बार-बार नमस्कार हो), 'अर्हत्सिद्धेभ्यो नमो नमः' (अरहन्त-सिद्धोंको बार-बार नमस्कार हो), 'केवलिसिद्धेभ्यो नमो नमः' (केवली सिद्धोंको बार-बार नमस्कार हो), 'अन्तकृत्सिद्धेभ्यो नमो नमः' (अन्तकृत् केवली होकर सिद्ध होनेवाले सिद्धोंको बार-बार नमस्कार हो), 'परम्परसिद्धेभ्यो नमो नमः' (परम्परासे हुए सिद्धोंको बार-बार नमस्कार हो), 'अनादिपरम्परसिद्धेभ्यो नमो नमः' (अनादि कालसे होनेवाले परम्परा-सिद्धोंको नमस्कार हो), 'अनाद्यनुपम सिद्धेभ्यो नमो नमः' (अनादि कालसे हुए उपमा-रहित सिद्धोंको बार-बार नमस्कार हो) । इन मंत्रोंको बोलकर वक्ष्यमाण पदोंको सम्बोधनरूपसे दो-दो बार उच्चारण कर पढ़ना चाहिए । यथा—"हे सम्यग्दृष्टे, हे सम्यग्दृष्टे, हे आसन्नभव्य, हे आसन्नभव्य, हे निर्वाणपूजार्ह, हे निर्वाणपूजार्ह", बोलकर अन्तमें 'अग्नीन्द्र स्वाहा' बोले । (इस मंत्रका अर्थ यह है—हे सम्यग्दृष्टि, हे निकट भव्य, हे निर्वाणपूजाके योग्य अग्निकुमार देवोंके इन्द्र, तेरे लिए यह हव्य द्रव्य समर्पण करता हूँ ।) ॥१९–२३॥ तदनन्तर अपनी इष्टसिद्धिके लिए यह काम्य मंत्र बोले—'सेवाफलं षट् परमस्थानं भवतु, अपमृत्युविनाशनं भवतु, समाधिमरणं भवतु' (मुझे इस सेवाके फलस्वरूप षट् परमस्थानोंकी प्राप्ति

सत्यजन्मपदं तान्तमादौ शरणमप्यतः । प्रपद्यामीति वाच्यं स्यादर्हज्जन्म पदं तथा ॥२७
अर्हन्मातृपदं तद्वत्त्वन्मर्हत्सुताक्षरम् । अनादिगमनस्येति तथाऽनुपमजन्मनः ॥२८
रत्नत्रयस्य शरणं प्रपद्यामीत्यतः परम् । बोद्ध्यन्तं च ततः सम्यग्दृष्टि द्वित्वेन योजयेत् ॥२९
ज्ञानमूर्तिपदं तद्वत्सरस्वतिपदं तथा । स्वाहान्तमन्ते वक्तव्यं काम्यमन्त्रश्च पूर्ववत् ॥३०

चूर्णि :—सत्यजन्मनः शरणं प्रपद्यामि, अर्हज्जन्मनः शरणं प्रपद्यामि, अर्हन्मातुः शरणं प्रपद्यामि, अर्हत्सुतस्य शरणं प्रपद्यामि, अनादिगमनस्य शरणं प्रपद्यामि, अनुपजन्मनः शरणं प्रपद्यामि, रत्नत्रयस्य शरणं प्रपद्यामि, हे सम्यग्दृष्टे, हे सम्यग्दृष्टे, हे ज्ञानमूर्त्ते, हे ज्ञानमूर्त्ते, हे सरस्वति, हे सरस्वति स्वाहा, सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु, अपमृत्युविनाशनं भवतु ।

जातिमन्त्रोऽयमाम्नातो जातिसंस्कार कारणम् । मन्त्रं निस्तारकादिं च यथाम्नायमितो ब्रुवे ॥३१,

निस्तारकमन्त्र :—स्वाहान्तं सत्यजाताय पदमादावनुस्मृतम् ।
तदन्तमर्हज्जाताय पदं स्यात्तदनन्तरम् ॥३२
ततः षट्कर्मणे स्वाहा पदमुच्चारयेत् द्विजः । स्याद्ग्रामयतये स्वाहा पदं तस्मादनन्तरम् ॥३३
अनादिश्रोत्रियायेति ब्रूयाद् स्वाहापदं ततः । तद्वच्च स्नातकायेति श्रावकायेति च द्वयम् ॥३४

हो, अपमृत्युका विनाश हो और समाधिमरण प्राप्त हो) ॥२४-२५॥ ऊपर कहे गये सर्व (पीठिका) मंत्रोंका संग्रह मूलमें दिया गया है। ये सब पीठिकामंत्र हैं। अब इससे आगे आगमानुसार अनुक्रमसे जाति मंत्र कहेंगे ॥२६॥ तान्त अर्थात् षष्ठी विभक्त्यन्त सत्यजन्म पदके आगे शरण और उसके आगे 'प्रपद्यामि' यह पद बोले, अर्थात् 'सत्यजन्मनः शरणं प्रपद्यामि' (मैं सत्यरूप जन्मके धारक अरहन्त देवकी शरणको प्राप्त होता हूँ), तदनन्तर 'अर्हज्जन्मनः शरणं प्रपद्यामि' (मैं अरहन्त पदके योग्य जन्म लेनेवालेकी शरणको प्राप्त होता हूँ) ॥२७॥ तत्पश्चात् अर्हन्मातृ पद, अर्हत्सुत पद, अनादि-गमन पद और अनुपम जन्म पदके आगे षष्ठी विभक्ति लगाकर 'शरणं प्रपद्यामि' पद लगावे। तद्यथा—'अर्हन्मातुः शरणं प्रपद्यामि' (अरहन्त देवकी माताके शरणको प्राप्त होता हूँ), 'अर्हत्सुतस्य शरणं प्रपद्यामि' (अरहन्त देवके पुत्रकी शरणको प्राप्त होता हूँ), 'अनादि गमनस्य शरणं प्रपद्यामि' (अनादि-अनन्त ज्ञानके धारककी शरणको प्राप्त होता हूँ), और 'अनुपम जन्मनः शरणं प्रपद्यामि' (अनुपम जन्मके धारककी शरणको प्राप्त होता हूँ) ॥२८॥ तदनन्तर 'रत्नत्रयस्य शरणं प्रपद्यामि' (रत्नत्रय धर्मकी शरणको प्राप्त होता हूँ) यह मंत्र बोले। पुनः सम्यग्दृष्टि, ज्ञानमूर्त्ति और सरस्वतीके सम्बोधन विभक्तिवाले पदोंको दो-दो बार बोलकर अन्तमें स्वाहा शब्दका उच्चारण करे। तद्यथा—'हे सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे, ज्ञानमूर्त्ते ज्ञानमूर्त्ते, सरस्वति सरस्वति स्वाहा (हे सम्यग्दृष्टि, ज्ञानमूर्त्ति सरस्वती देवि, मैं तेरे लिए यह हव्य समर्पण करता हूँ)। तत्पश्चात् काम्य मंत्र पूर्वके ही समान पढ़ना चाहिए ॥२९-३०॥ ऊपर कहे गये सर्व जाति मंत्रोंका संग्रह मूलमें दिया गया है। ये सब जाति मंत्र जाति संस्कारके कारण हैं। अब इससे आगे निस्तारक मंत्र कहते हैं ॥३१॥ उनमें सर्वप्रथम 'सत्य जाताय स्वाहा' (सत्यरूप जन्मवाले देवके लिए यह हव्य समर्पण करता हूँ) यह मन्त्र स्मरण किया गया है। पुनः 'अर्हज्जाताय स्वाहा' (अरहन्तरूप जन्म के धारक देवके लिए यह हव्य समर्पण करता हूँ) यह मन्त्र बोले ॥३२॥ पुनः 'षट्कर्मणे स्वाहा' (देवपूजादि षट्कर्म करनेवालेके लिए यह हव्य समर्पण करता हूँ), इस मन्त्रको द्विज उच्चारण करे। उसके पश्चात् 'ग्रामयतये स्वाहा' (ग्रामयतिके लिए यह हव्य समर्पण करता हूँ) यह मन्त्र बोले ॥३३॥ तदनन्तर

स्याद्देवब्राह्मणायेति स्वाहेत्यन्तमतः पदम् । सुब्राह्मणाय स्वाहान्तः स्वाहान्ताऽनुपमायगीः ॥३५
सम्यग्दृष्टिपदं चैव तथा निधिपतिश्रुतिम् । ब्रूयाद् वैश्रवणोक्ति च द्विःस्वाहेति ततः परम् ॥३६
काम्यमन्त्रमतो ब्रूयाद् पूर्ववन्मन्त्रविद् द्विजः । ऋषिमन्त्रमितो वक्ष्ये यथाऽऽहोपासकश्रुतिः ॥३७

चूर्णि :—सत्यजाताय स्वाहा, अर्हज्जाताय स्वाहा, षट्कर्मणे स्वाहा, ग्रामयतये स्वाहा, अनादि-श्रोत्रियाय स्वाहा, स्नातकाय स्वाहा, श्रावकाय स्वाहा, देवब्राह्मणाय स्वाहा, सुब्राह्मणाय स्वाहा, अनुपमाय स्वाहा, सम्यग्दृष्टे, सम्यग्दृष्टे निधिपते निधिपते वैश्रवण वैश्रवण स्वाहा, सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु अपमृत्यु विनाशनं भवतु, समाधिमरणं भवतु ।

ऋषिमन्त्र :—प्रथमं सत्यजाताय नमः पदमुदीरयेत् ।
गृह्णीयादर्हज्जाताय नमः शब्दं ततः परम् ॥३८
निर्ग्रन्थाय नमो वीतरागाय नम इत्यपि । महाव्रताय पूर्वं च नमः पदमनन्तरम् ॥३९
त्रिगुप्ताय नमो महायोगाय नम इत्यतः । ततो विविधयोगाय नम इत्यनुपठ्यताम् ॥४०
विविधर्द्धिपदं चास्मान्नमः शब्देन योजितम् । ततोऽङ्गधरं पूर्वञ्च पठेत् पूर्वधरध्वनिम् ॥४१
नमः शब्दपरौ चेतौ चतुर्थ्यन्त्यावनुस्मृतौ । ततो गणधरायेति पदं युक्तनमःपदम् ॥४२
परमर्षिभ्य इत्यस्मात्परं वाच्यं नमो नमः । ततोऽनुपमजाताय नमो नम इतीरयेत् ॥४३
सम्यग्दृष्टिपदं चान्ते बोध्यन्तं द्विरुदाहरेत् । ततो भूपतिशब्दश्च नागरोपपदः पतिः ॥४४

'अनादि श्रोत्रियाय स्वाहा' (अनादिकालिक श्रुत के अध्येताको यह हव्य समर्पण करता हूँ) । तदनन्तर 'स्नातकाय स्वाहा' (स्नातक अर्हन्तके लिए यह हव्य समर्पण करता हूँ), 'श्रावकाय स्वाहा' (श्रावकके लिए हव्य समर्पण करता हूँ), ये दो मन्त्र बोले ॥३४॥ तत्पश्चात् 'देवब्राह्मणाय स्वाहा' (देव ब्राह्मणके लिए हव्य समर्पण करता हूँ), 'सुब्राह्मणाय स्वाहा' (सुब्राह्मणके लिए हव्य समर्पण करता हूँ) और 'अनुपमाय स्वाहा' (अनुपम देवके लिए हव्य समर्पण करता हूँ) ये पद बोलना चाहिए ॥३५॥ तदनन्तर सम्यग्दृष्टि, निधिपति और वैश्रवण शब्दका दो दो बार सम्बोधन कर अन्तमें स्वाहा पद बोले । यथा—'सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे, निधिपते निधिपते, वैश्रवण वैश्रवण स्वाहा' (हे सम्यग्दृष्टि और निधियोंके स्वामी कुवेर, मैं तुम्हें यह हव्य समर्पण करता हूँ) ॥३६॥ तत्पश्चात् मन्त्रवेत्ता द्विज पूर्ववत् काम्यमन्त्र बोले । उपर्युक्त सर्व निस्तारकमन्त्रोंका संग्रह मूलमें दिया गया है । अब इससे आगे उपासकाध्ययनशास्त्रके अनुसार ऋषिमन्त्र कहता हूँ ॥३७॥ वे ऋषिमन्त्र इस प्रकार हैं—प्रथम ही 'सत्यजाताय नमः' (सत्यजन्मके धारक जिनदेवको नमस्कार हो) यह पद बोले । तत्पश्चात् 'अर्हज्जाताय नमः' (अर्हन्तरूप जन्मके धारक देवको नमस्कार हो), इस पदका उच्चारण करे ॥३८॥ तदनन्तर 'निर्ग्रन्थाय नमः' (निर्ग्रन्थगुरुको नमस्कार हो) 'वीतरागाय नमः' (वीतराग देवको नमस्कार हो), 'महाव्रताय नमः' (महाव्रत-धारी को नमस्कार हो), 'त्रिगुप्ताय नमः' (तीन गुप्तियोंके धारकको नमस्कार हो), 'महायोगाय नमः' (महान् योगके धारकको नमस्कार हो), और 'विविधयोगाय नमः' (अनेक प्रकारके योगोंके धारकको नमस्कार हो), ये मन्त्र पढ़ना चाहिए ॥३९-४०॥ पुनः विविधर्द्धि आदि शब्दोंको चतुर्थी विभक्तिके साथ 'नमः' पद बोले—'विविधर्द्धये नमः' (विविध ऋद्धियोंके धारकके लिए नमस्कार हो), तदनन्तर 'अंगधराय नमः' (अंगोंके पारगामीको नमस्कार हो) , 'पूर्वधराय नमः' (पूर्व-धारियोंको नमस्कार हो), और 'गणधराय नमः' (गणधरदेवके लिए नमस्कार हो ॥४१-४२॥ पुनः 'परमर्षिभ्यः' इस पदसे परे

द्विर्वाच्यौ ताविमौ शब्दौ बोधयन्तौ मन्त्रवेदिभिः। मन्त्रशेषोऽप्ययं तस्मादनन्तरमुदीर्यताम् ॥४५
कालश्रमणशब्दं च द्विरुक्त्वाऽऽमन्त्रणे ततः। स्वाहेति पदमुच्चार्य प्राग्वत्काम्यानि चोद्धरेत् ॥४६
चूर्णि :—सत्यजाताय नमः, अर्हज्जाताय नमः, निर्ग्रन्थाय नमः, वीतरागाय नमः, महाव्रताय नमः, त्रिगुप्ताय नमः, महायोगाय नमः, विविधयोगाय नमः, विविधर्द्धये नमः, अङ्गधराय नमः, पूर्वधराय नमः, गणधराय नमः, परमर्षिभ्यो नमो नमः, अनुपमजाताय नमो नमः, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे भूपते भूपते नगरपते नगरपते कालश्रमण कालश्रमण स्वाहा, सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु। अपमृत्युविनाशनं भवतु, समाधिमरणं भवतु।
मुनिमन्त्रोऽयमाम्नातो मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः। वक्ष्ये सुरेन्द्रमन्त्रं च यथा स्माहर्षभी श्रुतिः ॥४७
प्रथमं सत्यजाताय स्वाहेत्येतत्पदं पठेत्। ततः स्यादर्हज्जाताय स्वाहेत्येतत्परं पदम् ॥४८
ततश्च दिव्यजाताय स्वाहेत्येवमुदाहरेत्। ततो दिव्यार्चजाताय स्वाहेत्येतत्पदं पठेत् ॥४९
ब्रूयाच्च नेमिनाथाय स्वाहेत्येतदनन्तरम्। सौधर्माय पदं चास्मात्स्वाहोक्त्यन्तमनुस्मरेत् ॥५०
कल्पाधिपतये स्वाहापदं वाच्यमतः परम्। भूयोऽप्यनुचरायादि स्वाहाशब्दमुदीरयेत् ॥५१
ततः परम्परेन्द्राय स्वाहेत्युच्चारयेत्पदम्। सम्पेठदहमिन्द्राय स्वाहेत्येतदनन्तरम् ॥५२
ततः परमार्हताय स्वाहेत्येतत् पदं पठेत्। ततोऽप्यनुपमायेति पदं स्वाहापदान्वितम् ॥५३

'नमो नमः' पद कहना चाहिए। अर्थात् 'परमर्षिभ्यो नमो नमः' (परमऋषियोंको बार-बार नमस्कार हो)। तत्पश्चात् 'अनुपमजाताय नमोनमः' (अनुपम जन्मके धारक जिनदेवको नमस्कार हो) यह मन्त्र बोले ॥४३॥ अन्तमें मन्त्रवेत्ता लोग सम्बोधन विभक्त्यन्त सम्यग्दृष्टि, भूपति, नगरपति और कालश्रमण इन पदोंको दो-दो बार बोलकर अन्तमें स्वाहा पदका उच्चारण करें। यथा—'सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे, भूपते भूपते, नगरपते नगरपते, कालश्रमण कालश्रमण स्वाहा' (हे सम्यग्दृष्टि, भूपति, नगरपति, कालश्रमण, मैं तेरे लिए यह हव्य समर्पण करता हूँ।) पश्चात् पूर्ववत् काम्यमन्त्र पढ़े ॥४४-४६॥ उपर्युक्त सर्व ऋषिमन्त्रोंका संग्रह मूलमें दिया गया है। ये सर्वऋषिमन्त्र तत्त्वदर्शी ऋषियोंने कहे हैं। अब आगे ऋषभदेव-प्रणीत श्रुतिके अनुसार सुरेन्द्र मन्त्रों को कहता हूँ ॥४७॥ सर्वप्रथम ही 'सत्यजाताय स्वाहा' (सत्यजन्म लेनेवाले को हव्य समर्पण करता हूँ) यह मन्त्रपद बोले। तदनन्तर 'अर्हज्जाताय स्वाहा' अर्हन्तके योग्य जन्म लेनेवालेको हव्य समर्पण करता हूँ।) यह परम पद पढ़ना चाहिए ॥४८॥ पुनः 'दिव्यजाताय स्वाहा' (दिव्य जन्म लेनेवालेको हव्य समर्पण करता हूँ) यह पद बोले। पुनः 'दिव्यार्च्यजाताय स्वाहा' (दिव्य तेजःस्वरूप जन्म लेनेवालेको हव्य समर्पण करता हूँ) यह पद पढ़े ॥४९॥ तदनन्तर 'नेमिनाथाय स्वाहा' (नेमिनाथके लिए, अथवा धर्मचक्रकी धुरीके स्वामी जिनदेवके लिए हव्य समर्पण करता हूँ) यह मन्त्र बोले। इसके पश्चात् 'सौधर्माय स्वाहा' (सौधर्मेन्द्रके लिए हव्य समर्पण करता हूँ) इस पद का स्मरण करे ॥५०॥ पुनः 'कल्पाधिपतये स्वाहा' (स्वर्गके अधिपतिके लिए हव्य समर्पण करता हूँ) यह पद बोलना चाहिए। पुनः 'अनुचराय स्वाहा' (इन्द्र के अनुचरके लिए हव्य समर्पण करता हूँ) यह पद उच्चारण करे ॥५१॥ तत्पश्चात् 'परम्परेन्द्राय स्वाहा' (परम्परासे होनेवाले इन्द्रवर्गके लिए हव्य समर्पण करता हूँ) यह पद बोले। तदनन्तर 'अहमिद्राय स्वाहा' (अहमिन्द्रवर्गके लिए हव्य समर्पण करता हूँ) यह पद पढ़े ॥५२॥ पुनः 'परमार्हताय स्वाहा' (परम आर्हतके लिए हव्य समर्पण करता हूँ) यह पद पढ़े। तदनन्तर 'अनुपमाय स्वाहा' (उपमा-रहित देवके लिए हव्य समर्पण करता हूँ) यह

सम्यग्दृष्टिपदं चास्माद् बोध्यन्तं द्विरुदीरयेत् । तथा कल्पपतिं चापि दिव्यमूर्तिं च सम्पठेत् ।।५४
द्विर्वाच्यं वज्रनामेति ततः स्वाहेति संहरेत् । पूर्ववत् काम्यमन्त्रोऽपि पाठ्योऽस्यान्ते त्रिभिः पदैः ।।५५

चूर्णि :—सत्यजाताय स्वाहा, अर्हज्जाताय स्वाहा, दिव्यजाताय स्वाहा, नेमिनाथाय स्वाहा, सौधर्माय स्वाहा, कल्पाधिपतये स्वाहा, अनुचराय स्वाहा, परम्परेन्द्राय स्वाहा, अहमिन्द्राय स्वाहा, परमार्हताय स्वाहा, अनुपमाय स्वाहा, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे कल्पपते कल्पपते दिव्यमूर्ते दिव्यमूर्ते वज्रनामन् वज्रनामन् स्वाहा । सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु, अपमृत्युविनाशनं भवतु, समाधिमरणं भवतु—

सुरेन्द्रमन्त्र एषः स्यात् सुरेन्द्रस्यानुतर्पणम् । मन्त्रं परमराजादि वक्ष्यामीतो यथाश्रुतम् ।।५६
प्रागत्र सत्यजाताय स्वाहेत्येतत् पदं पठेत् । ततः स्यादर्हज्जाताय स्वाहेत्येतत्परं पदम् ।।५७
ततश्चानुपमेन्द्राय स्वाहेत्येतत्पदं मतम् । विजयार्च्यादिजाताय पदं स्वाहान्तमन्वतः ।।५८
ततोऽपि नेमिनाथाय स्वाहेत्येतत्पदं पठेत् । ततः परमराजाय स्वाहेत्येतदुदाहरेत् ।।५९
परमार्हताय स्वाहा पदमस्मात्परं पठेत् । स्वाहान्तमनुपायोक्तिरतो वाच्या द्विजन्मभिः ।।६०
सम्यग्दृष्टिपदं चास्माद् बोध्यन्तं द्विरुदीरयेत् । उग्रतेजः पदं चैव दिशाञ्जयपदं तथा ।।६१
नेम्यादिविजयं चैव कुर्यात् स्वाहापदोत्तरम् । काम्यमन्त्रं च तं ब्रूयात् प्राग्वदन्ते पदैस्त्रिभिः ।।६२

चूर्णिः—सत्यजाताय स्वाहा, अर्हज्जाताय स्वाहा, अनुपमेन्द्राय स्वाहा विजयार्च्यजाताय स्वाहा, नेमिनाथाय स्वाहा, परमराजाय स्वाहा, परमार्हताय स्वाहा, अनुपमाय स्वाहा, सम्यग्दृष्टे, सम्यग्दृष्टे उग्रतेजः उग्रतेजः दिशांजय दिशांजय नेमिविजय नेमिविजय स्वाहा, सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु, अपमृत्युविनाशनं भवतु, समाधिमरणं भवतु ।

पद बोले ।।५३।। तत्पश्चात् सम्बोधनान्त सम्यग्दृष्टि पद दो बार बोले, तथा कल्पपति और दिव्यमूर्ति पद भी सम्बोधनान्त दो-दो बार बोले । पुनः वज्रनामन् शब्द भी दो बार उच्चारण करे । यथा—'सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे, कल्पपते कल्पपते, दिव्यमूर्ते दिव्यमूर्ते, वज्रनामन् वज्रनामन् स्वाहा' (हे सम्यग्दृष्टि , हे स्वर्गाधिपति, हे दिव्यमूर्त्ति, हे वज्रनामन्, मैं तेरे लिए हव्य समर्पण करता हूँ) इस मंत्रके पश्चात् अन्तमें तीन पदों के द्वारा काम्यमन्त्र पढ़ना चाहिए ।।५४-५५।। इन सर्वमन्त्रों का संग्रह मूलमें दिया हुआ है । यह सुरेन्द्रको तृप्त करनेवाला सुरेन्द्रमन्त्र है । अब इससे आगे शास्त्रोंके अनुसार परमराजादिमन्त्र कहते हैं ।।५६।। इन मन्त्रोंमें सर्वप्रथम 'सत्यजाताय स्वाहा' (सत्य जन्मके धारण करनेवालेको हव्य समर्पण करता हूँ) यह पद पढ़े । पुनः 'अर्हज्जाताय स्वाहा' (अरहन्तपदके योग्य जन्म धारण करनेवालेको हव्य समर्पण करता हूँ । यह पद पढ़े ।।५७।। तत्पश्चात् 'अनुपमेन्द्राय स्वाहा' (अनुपम इन्द्रके लिए हव्य समर्पण करता हूँ) यह पद कहे । पुनः 'विजयार्च्यजाताय स्वाहा' (विजययुक्त पूज्यजन्मवाले को हव्य समर्पण करता हूँ) यह पद उच्चारण करे ।।५८।। तदनन्तर 'नेमिनाथाय स्वाहा' (नेमिनाथके लिए हव्य समर्पण करता हूँ) यह पद पढ़े । पुनः 'परमजाताय स्वाहा' (सर्वोत्तम जन्म-धारकके लिए हव्य समर्पण करता हूँ) यह पद बोले ।।५९।। इसके पश्चात् 'परमार्हताय स्वाहा' (परम आर्हताके लिए हव्य समर्पण करता हूँ) यह पद पढ़े । इसके पश्चात् 'अनुपमाय स्वाहा' (उपमारहित देव के लिए हव्य समर्पण करता हूँ) यह पद द्विजोंको बोलना चाहिए ।।६०।। तदनन्तर सम्बोधनान्त सम्यग्दृष्टि पद दो बार बोले; तथा उग्रतेजः पद, दिशांजय पद और नेमिविजय पद दो-दो बार बोलकर अन्तमें स्वाहा पदका उच्चारण करे ।

मन्त्रः परमराजादिर्मतोऽयं परमेष्ठिनाम् । परं मन्त्रमितो वक्ष्ये यथाऽऽह परमा श्रुतिः ॥६३
तत्रादौ सत्यजाताय नमः पदमुदीरयेत् । वाच्यं ततोऽर्हज्जाताय नमः इत्युत्तरं पदम् ॥६४
ततः परमजाताय नमः पदमुदाहरेत् । परमार्हतशब्दं च चतुर्थ्यन्तं नमः परम् ॥६५
ततः परमरूपाय नमः परमतेजसे । नम इत्युभयं वाच्यं पदमध्यात्मदर्शिभिः ॥६६
परमादिगुणायेति पदं चान्यन्नमोयुतम् । परमस्थानशब्दश्च चतुर्थ्यन्तो नमोऽन्वितः ॥६७
उदाहार्यं क्रमं ज्ञात्वा ततः परमयोगिने । नमः परमभाग्याय नम इत्युभयं पदम् ॥६८
परमर्द्धिपदं चान्यच्चतुर्थ्यन्तं नमः परम् । स्यात्परमप्रसादाय नम इत्युत्तरं पदम् ॥६९
स्यात्परमकाङ्क्षिताय नम इत्यत उत्तरम् । स्यात्परमविजयाय नमः इत्युत्तरं वचः ॥७०
स्यात्परमविज्ञानाय नमो वाक्तदनन्तरम् । स्यात्परमदर्शनाय नमः पदमतः परम् ॥७१
ततः परमवीर्याय पदं चास्मान्नमः परम् । परमादि सुखायेति पदमस्मादनन्तरम् ॥७२
सर्वज्ञाय नमो वाक्यमर्हते नम इत्यपि । नमो नमः पदं चास्मात्स्यात्परं परमेष्ठिने ॥७३

यथा—'सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे, उग्रतेजः उग्रतेजः, दिशांजय दिशांजय, नेमिविजय नेमिविजय स्वाहा' (हे सम्यग्दृष्टि, हे उग्रतेजोधारक, हे दिशाओंके जीतनेवाले, हे नेमिविजय, मैं तुम्हारे लिए हव्य समर्पण करता हूँ)। तत्पश्चात् पूर्वके समान ही तीन पदोंके द्वारा काम्यमंत्र बोले ॥६१-६२॥ इन परमराजादि मंत्रोंका संग्रह मूलमें दिया गया है। ये परमराजादि मंत्र माने गये हैं। अब आगे परमेष्ठियोंके अन्य मंत्र जिस प्रकारसे परमागममें कहे गये हैं, उसी प्रकारसे कहते हैं ॥६३॥ उनमेंसे सबके आदिमें 'सत्यजाताय नमः' (सत्यरूप जन्मवालेके लिए नमस्कार हो) यह पद बोले। तत्पश्चात् 'अर्हज्जाताय नमः' (अर्हन्तके योग्य जन्म-धारकके लिए नमस्कार हो) यह पद कहे ॥६४॥ तदनन्तर 'परमजाताय नमः' (उत्तम जन्म लेनेवालेके लिए नमस्कार हो) यह पद बोले। पुनः चतुर्थीविभक्त्यन्त परमार्हत शब्दके अन्तमें 'नमः' पद लगाकर 'परमार्हताय नमः' (परम आर्हतके लिए नमस्कार हो) यह मंत्र पढ़े ॥६५॥ पुनः 'परमरूपाय नमः' (उत्कृष्ट निर्ग्रन्थरूपके धारकको नमस्कार हो) और 'परमतेजसे नमः' (परम तेजस्वी देव को नमस्कार हो) ये दोनों मंत्रपद अध्यात्मदर्शी द्विजों को बोलना चाहिए ॥६६॥ पुनः नमः शब्दके साथ परमगुणाय, अर्थात् 'परमगुणाय नमः' (उत्तमगुणवालेके लिए नमस्कार हो) यह मंत्र कहे। तत्पश्चात् नमः पदके साथ चतुर्थीविभक्त्यन्त परमस्थान पद कहे, अर्थात् 'परमस्थानाय नमः' (मोक्षरूप परमस्थानके लिए नमस्कार हो) ॥६७॥ तदनन्तर मंत्रक्रम को जानकर 'परमयोगिने नमः' (परमयोगीके लिए नमस्कार हो) और 'परमभाग्याय नमः' (परमभाग्यशाली तीर्थंकर देवके लिए नमस्कार हो) इन दोनों मंत्रपदोंको बोले ॥६८॥ पुनः चतुर्थीविभक्त्यन्त परमर्द्धिपदके आगे नमः पद लगाकर 'परमर्द्धये नमः' (परमऋद्धि-धारकके लिए नमस्कार हो, और 'परमप्रसादाय नमः' (उत्तमप्रसन्नताके धारकके लिए नमस्कार हो) ये दो मंत्र पढ़े ॥६९॥ पुनः 'परमकांक्षिताय नमः' (परम आनन्द की आकांक्षा वाले को नमस्कार हो) और 'परमविजयाय नमः' (कर्मशत्रुओं पर परम विजय पानेवालेके लिए नमस्कार हो) ये दो मंत्र बोले ॥७०॥ तदनन्तर 'परमविज्ञानाय नमः' (परमविज्ञानशाली के लिए नमस्कार हो) और पुनः 'परमदर्शनाय नमः' (अनन्त दर्शन गुणवालेके लिए नमस्कार हो) ये पद पढ़े ॥७१॥ तत्पश्चात् 'परमवीर्याय नमः' (अनन्तबलशालीके लिए नमस्कार हो) और तदनन्तर 'परम सुखाय नमः' परमसुखके धारकको नमस्कार हो) ये मंत्र कहे ॥७२॥ पुनः 'सर्वज्ञाय नमः'

परमादिपदान्नेत्र इत्यस्माच्च नमो नमः । सम्यग्दृष्टिपदं चान्ते बोध्यन्तं द्विः प्रयुज्यताम् ॥७४
द्विः स्तां त्रिलोकविजयधर्ममूर्तिपदे ततः । धर्मनेमिपदं वाच्यं द्विः स्वाहेति ततः परम् ॥७५
काम्यमन्त्रमतो ब्रूयात्पूर्ववद्विधिवद्द्विजः । काम्यसिद्धिप्रधाना हि सर्वे मन्त्राः स्मृता बुधैः ॥७६

चूर्णि :—सत्यजाताय नमः, अर्हज्जाताय नमः, परमजाताय नमः परमार्हताय नमः, परमरूपाय नमः, परमतेजसे नमः, परमगुणाय नमः, परमस्थानाय नमः, परमयोगिने नमः, परमभाग्याय नमः, परमर्द्धये नमः, परमप्रसादाय नमः, परमकाङ्क्षिताय नमः, परमविजयाय नमः, परमविज्ञानाय नमः, परमदर्शनाय नमः, परमवीर्याय नमः, परमसुखाय नमः, सर्वज्ञाय नमः, अर्हते नमः, परमेष्ठिने नमोनमः, परमनेत्रे नमोनमः, सम्यग्दृष्टे, सम्यग्दृष्टे त्रिलोकविजय धर्ममूर्ते धर्ममूर्ते, धर्मनेमे धर्मनेमे स्वाहा । सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु, अपमृत्युविनाशनंभवतु, समाधिमरणं भवतु ।

एते तु पीठिकामन्त्राः सप्त ज्ञेया द्विजोत्तमैः । एतैः सिद्धार्चनं कुर्यादाधानादिक्रियाविधौ ॥७७
क्रियामन्त्रास्त एते स्युराधानादिक्रियाविधौ । सूत्रे गणधरोद्धार्ये यान्ति साधनमन्त्रताम् ॥७८
सन्ध्यास्वग्नित्रये देवपूजने नित्यकर्मणि । भवन्त्याहुतिमन्त्राश्च त एते विधिसाधिताः ॥७९
सिद्धार्चासन्निधौ मन्त्रान् जपेदष्टोत्तरं शतम् । गन्धपुष्पाक्षतार्घादिनिवेदनपुरःसरम् ॥८०
सिद्धविद्यस्ततो मन्त्रैरेभिः कर्म समाचरेत् । शुक्लवासाः शुचिर्यज्ञोपवीत्यव्यग्रमानसः ॥८१
त्रयोऽग्नयः प्रणेयाः स्युः कर्मारम्भे द्विजोत्तमैः । रत्नत्रितयसङ्कल्पादग्नीन्द्रमुकुटोद्भवाः ॥८२
तीर्थकृद्गणभृच्छेषकेवल्यन्तमहोत्सवे । पूजाङ्गत्वं समासाद्य पवित्रत्वमुपागताः ॥८३

(सर्वज्ञके लिए नमस्कार हो), 'अर्हते नमः' (अरहन्तदेवके लिए नमस्कार हो) और 'परमेष्ठिने नमो नमः' (परमेष्ठीके लिए बार-बार नमस्कार हो) ये मंत्र बोले ॥७३॥ तत्पश्चात् 'परमनेत्रे नमो नमः' (उत्तम नेताके लिए बार-बार नमस्कार हो), यह मंत्र बोले। पुनः सम्बोधनान्त सम्यग्दृष्टि पद दो बार प्रयोग करे ॥७४॥ इसी प्रकार त्रिलोकविजय, धर्ममूर्त्ति और धर्मनेमि पद भी चतुर्थीविभक्तिके साथ दो-दो बार बोलकर अन्तमें स्वाहा शब्द कहे। यथा—'सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे, त्रिलोकविजय त्रिलोकविजय, धर्ममूर्त्ते-धर्ममूर्त्ते, धर्मनेमे धर्मनेमे स्वाहा' (हे सम्यग्दृष्टि, हे त्रिलोकविजयी, हे धर्ममूर्त्ति, हे धर्मप्रवर्तक, मैं तेरे लिए यह हव्य समर्पण करता हूँ ॥७५॥ इसके पश्चात् द्विज विधिवत् पूर्वके समान काम्यमंत्र बोले, क्योंकि विद्वज्जनों ने सभी मंत्रोंको अभीष्ट सिद्धि-प्रधान माना है॥७६॥ इन सर्व परमेष्ठी मंत्रोंका संग्रह मूलमें दिया गया है। उत्तम ब्राह्मणोंको ये उपर्युक्त सात पीठिकामंत्र जानना चाहिए। गर्भाधानादि क्रियाओंकी विधि करते समय इन मंत्रोंसे सिद्ध भगवान्का पूजन करे ॥७७॥ गर्भाधानादि क्रियाओंकी विधि करनेमें ये पीठिकामंत्र क्रियामंत्र कहलाते हैं और गणधर-प्रतिपादित सूत्रमें ये ही साधनमंत्रपनेको प्राप्त हो जाते हैं ॥७८॥ विधिपूर्वक सिद्ध किये हुए ये ही मंत्र तीनों सन्ध्याओं के समय तीनों अग्नियोंमें देव-पूजनरूप नित्यकर्म करते समय आहुतिमंत्र कहे जाते हैं ॥७९॥ सिद्ध-प्रतिमाके समीप गन्ध, पुष्प, अक्षत, और अर्घ आदि समर्पण कर एक सौ आठ बार इन मंत्रोंका जप करना चाहिए ॥८०॥ तत्पश्चात् विद्याकी सिद्धिको प्राप्त, श्वेत वस्त्र और यज्ञोपवीतका धारक द्विज निराकुल चित्त होकर इन मंत्रोंके द्वारा अन्य क्रियाओंको करे ॥८१॥ गर्भाधानादि क्रियाओं के प्रारम्भ में उत्तम द्विज रत्नत्रयके संकल्प से अग्निकुमार देवोंके इन्द्रके मुकुटसे उद्भूत तीन अग्नियोंको उत्पन्न करे॥८२॥ ये तीनों ही महा अग्नियाँ तीर्थंकर, गणधर और

कुण्डत्रये प्रणेतव्यास्त्रय एते महाग्नयः । गार्हपत्याहवनीयदक्षिणाग्निप्रसिद्धयः ॥८४
अस्मिन्नग्नित्रये पूजां मन्त्रैः कुर्वन् द्विजोत्तमः । आहिताग्निरिति ज्ञेयो नित्येज्या यस्य सद्मनि ॥८५
हविष्पाके च धूपे च दीपोद्बोधनसंविधौ । वह्नीनां विनियोगः स्यादमीषां नित्यपूजने ॥८६
प्रयत्नेनाभिरक्ष्यं स्यादिदमग्नित्रयं गृहे । नैव दातव्यमन्येभ्यस्तेऽन्ये ये स्युरसंस्कृताः ॥८७
न स्वतोऽग्नेः पवित्रत्वं देवतारूपमेव वा । किन्त्वर्हद्दिव्यमूर्तीज्यासम्बन्धनात् पवनोऽनलः ॥८८
ततः पूजाङ्गतामस्य मत्वार्चन्ति द्विजोत्तमाः । निर्वाणक्षेत्रपूजावत्तत्पूजाऽतो न दुष्यति ॥८९
व्यवहारनयापेक्षा तस्येष्टा पूज्यता द्विजैः । जैनैरध्यवहार्योऽयं नयोऽद्यत्वेऽग्रजन्मभिः ॥९०
साधारणास्त्विमे मन्त्राः सर्वत्रैव क्रियाविधौ । यथा सम्भवमुन्नेष्ये विशेषविषयाश्च तान् ॥९१

गर्भाधानमन्त्रा :—

सज्जातिभागी भव सद्गृहिभागी भवेति च । पदद्वयमुदीर्यादौ पदानीमान्यतः पठेत् ॥९२
आदौ मुनीन्द्र भागीति भवेत्यन्ते पदं वदेत् । सुरेन्द्रभागी परमराज्यभागीति च द्वयम् ॥९३
आर्हन्त्यभागी भवति पदमस्मादनन्तरम् । ततः परमनिर्वाणभागी भव पदं भवेत् ॥९४
आधाने मन्त्र एष स्यात् पूर्वमन्त्रपुरःसरः । विनियोगश्च मन्त्राणां यथाम्नायं प्रदर्शितः ॥९५

चूर्णि :—सज्जातिभागी भव, सद्गृहिभागी भव, मुनीन्द्रभागी भव, सुरेन्द्रभागी भव, परमराज्यभागी भव, आर्हन्त्यभागी भव, परमनिर्वाण भागी भव। (आधान मन्त्रः)

सामान्यकेवलीके अन्तिम निर्वाणमहोत्सव में पूजाका अंग बनकर पवित्रता को प्राप्त हुई हैं ॥८३॥ गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि नाम से प्रसिद्ध तीनों अग्नियों को तीन कुण्डों में स्थापित करना चाहिए ॥८४॥ इन तीनों प्रकारकी अग्नियोंमें मंत्रोंके द्वारा पूजा करने वाला पुरुष द्विजोत्तम कहलाता है और जिसके घर इस प्रकारकी पूजा नित्य होती है वह आहिताग्नि या अग्निहोत्री ब्राह्मण जानना चाहिए ॥८५॥ नित्य पूजन करते समय इन तीनों प्रकारकी अग्नियोंका विनियोग क्रमशः नैवेद्यके पकानेमें, धूपखेनेमें और दीपक जलानेमें होता है ॥८६॥ बड़े प्रयत्नके साथ इन तीनों अग्नियोंकी घरमें रक्षा करे और जो क्रिया-संस्कारसे रहित हैं, ऐसे अन्य लोगों को यह अग्नि कभी नहीं देना चाहिए ॥८७॥ अग्निमें स्वतः पवित्रता नहीं है और न वह देवतारूप ही है। किन्तु अरहन्तदेवकी दिव्यमूर्त्तिकी पूजाके सम्बन्धसे अग्नि पवित्र मानी गई है ॥८८॥ अतएव द्विजोत्तम लोग इसे पूजाका अंग मानकर इसकी पूजा करते हैं और इसी कारणसे निर्वाणक्षेत्रकी पूजाके समान अग्निकी पूजा करनेमें कोई दोष नहीं है ॥८९॥ व्यवहारनय की अपेक्षा द्विजोंको अग्निकी पूज्यता इष्ट है, इसलिए द्विजन्मा जैनोंको यह नय आज के समयमें व्यवहार करनेके योग्य है ॥९०॥ ये ऊपर कहे हुए सर्वमंत्र सभी क्रियाविधिमें साधारण हैं। अब आगे विशेष क्रिया-विषयक मंत्रोंको यथासम्भव कहता हूँ ॥९१॥ गर्भाधान क्रियाके मंत्र इस प्रकार हैं—यह गर्भस्थ जीव 'सज्जाति भागी भव' (उत्तम जातिका धारण करनेवाला हो), 'सद्-गृहिभागी भव' (सद् गृहस्थ पदका धारक हो), पहले इन दोनों मंत्रपदोंको बोलकर तत्पश्चात् इन मंत्रपदोंको पढ़े ॥९२॥ प्रथम 'मुनीन्द्रभागी भव' (महामुनि-पदको प्राप्त करनेवाला हो) यह पद बोले। तत्पश्चात् 'सुरेन्द्रभागी भव' (इन्द्रपदका भोक्ता हो), तथा 'परमराज्यभावी भव' (उत्कृष्टराज्यका स्वामी हो) इन दो पदोंको बोले ॥९३॥ तदनन्तर 'आर्हन्त्यभागी भव' (अर्हन्तपदका धारक हो) यह पद पढ़े। तत्पश्चात् 'परमनिर्वाणभावी भव' (परम मोक्षका पानेवाला हो) यह पद बोले ॥९४॥ गर्भाधानक्रियामें पूर्वोक्त पीठिका मंत्रोंके साथ

स्यात्प्रीतिमन्त्रस्त्रैलोक्यनाथो भवपदादिकः । त्रैलोक्यज्ञानी भव त्रिरत्नस्वामी भवेत्ययम् ॥९६
चूर्णि :—त्रैलोक्यनाथो भव, त्रैलोक्यज्ञानी भव, त्रिरत्नस्वामी भव । (प्रीतिमन्त्रः)
मन्त्रोऽवतारकल्याणभागी भवपदादिकः । सुप्रीतौ मन्दरेन्द्राभिषेककल्याणवाक्परः ॥९७
भागी भव पदोपेतस्ततो निष्क्रांतिवाक्परः । कल्याणमध्यमो भागी भवेत्येतेन योजितः ॥९८
ततश्चार्हन्त्यकल्याणभागी भवपदान्वितः । ततः परमनिर्वाणकल्याणपदसङ्गतः ॥९९
भागी भवपदान्तश्च क्रमाद्वाच्यो मनीषिभिः । धृतिमन्त्रमितो वक्ष्ये प्रीत्या शृणुत भो द्विजाः ॥१००
चूर्णि :—अवतारकल्याणभागी भव, मन्दरेन्द्राभिषेककल्याणभागी भव, निष्क्रान्तिकल्याणभागी भव, आर्हन्त्यकल्याणभागी भव, परमनिर्वाणकल्याणभागी भव । (सुप्रीतिमन्त्रः)

धृतिक्रियामन्त्र :—

आधानमन्त्र एवात्र सर्वत्राहितदातृवाक् । मध्ये यथाक्रमं वाच्यो नान्यो भेदोऽत्र कश्चनः ॥१०१
चूर्णि :—सज्जातिदातृभागी भव, सद्गृहिदातृभागी भव, मुनीन्द्रदातृभागी भव, सुरेन्द्रदातृभागी भव परमराज्यदातृभागी भव, आर्हन्त्यपददातृभागी भव, परमनिर्वाणदातृभागी भव । (धृतिक्रियामन्त्रः)

मोदक्रियामन्त्र :—

मन्त्रो मोदक्रियायां च मतोऽयं मुनिसत्तमैः । पूर्वं सज्जातिकल्याणभागी भव पदं वदेत् ॥१०२
ततः सद्गृहिकल्याणभागी भव पदं पठेत् । ततो वैवाहकल्याणभागी भव पदं मतम् ॥१०३

इन मंत्रोंका उपयोग करे । मंत्रोंका यह विनियोग आम्नायके अनुसार दिखाया गया है ॥९५॥ गर्भाधानक्रियाके मंत्रोंका संग्रह मूलमें दिया हुआ है । अब प्रीतिक्रियाके मंत्र कहते हैं—यह गर्भस्थ शिशु 'त्रैलोक्यनाथो भव' (तीनों लोकोंका स्वामी हो), 'त्रैकाल्यज्ञानी भव' (तीनों कालोंका ज्ञानी हो) और 'त्रिरत्नस्वामी भव' (रत्नत्रयका स्वामी हो) ॥९६॥ इन प्रीतिमंत्रोंका संग्रह मूलमें दिया हुआ है । अब सुप्रीति क्रियाके मंत्र कहते हैं—यह गर्भस्थ बालक 'अवतारकल्याण भागी भव' (गर्भावतारकल्याणकका भोक्ता हो) 'मन्दरेन्द्राभिषेककल्याणभागी भव' (सुमेरुपर्वत पर इन्द्रोंके द्वारा जन्माभिषेक कल्याणकको प्राप्त करने वाला हो), 'निष्क्रान्तिकल्याणभागी भव' (निष्क्रमण कल्याणका स्वामी हो), 'आर्हन्त्यकल्याणभागी भव' (केवलकल्याणकका भोक्ता हो), और 'परमनिर्वाणकल्याणभागीभव' (उत्कृष्ट निर्वाणकल्याणकका धारक हो) ये मंत्र मनीषी जनोंको क्रमसे बोलना चाहिए॥९७-१००॥ सुप्रीति मंत्रोंका संग्रह मूलमें दिया गया है । अब आगे धृतिक्रियाके मंत्र कहेंगे, हे ब्राह्मणो, तुम लोग प्रीतिके साथ सुनो । गर्भाधानक्रियाके सर्व मंत्रोंके मध्यमें 'दातृ' शब्द यथाक्रमसे लगाकर बोलना चाहिए । इसके अतिरिक्त और कोई भेद नहीं है ॥१०१॥ यथा—'सज्जातिदातृभागी भव' यह गर्भस्थ पुत्र (उत्तम जातिको देनेवाला हो), 'सद्गृहिदातृभागी भव' (सद्-गृहस्थ पदका दाता हो), 'मुनीन्द्रदातृभागी भव' (महामुनिपदका दाता हो) सुरेन्द्रदातृभागी भव' (सुरेन्द्रपदका दाता हो) 'परमराज्यदातृभागी भव' (परमराज्यका दाता हो), 'आर्हन्त्यदातृभागी भव' (अरहन्त पदका दाता हो), 'परमनिर्वाणदातृभागी भव' (उत्कृष्ट निर्वाणपदका दाता हो) । धृतिक्रियामें इन मंत्रोंको बोले । सर्वमंत्रोंका संग्रह मूलमें दिया हुआ है । अब मोदक्रियाके मंत्र कहते हैं । उत्तम मुनियोंने मोदक्रियाके मंत्र इस प्रकार माने हैं—सर्वप्रथम 'सज्जातिकल्याणभागी भव' (सज्जातिके कल्याणका धारक हो) यह पद बोले ॥१०२॥ पुनः 'सद्-गृहिकल्याणभागी भव' (सद्-गृहस्थके कल्याण-

ततो मुनीन्द्रकल्याणभागी भव पदं स्मृतम् । पुनः सुरेन्द्रकल्याणभागी भव पदात्परम् ॥१०४
मन्दराभिषेककल्याणभागीति च भवेति च । तस्माच्च यौवराज्यादिकल्याणपदसंयुतम् ॥१०५
भागी भवपदं वाच्यं मन्त्रयोगविशारदैः । स्यान्महाराज्यकल्याणभागी भव पदं परम् ॥१०६
भूयः परमराज्यादिकल्याणोपहितं मतम् । भागी भवेत्यथार्हन्त्यकल्याणेन च योजितम् ॥१०७

चूर्णि :—सज्जातिकल्याणभागी भव, सद्गृहिकल्याणभागी भव, वैवाहकल्याणभागी भव, मुनीन्द्रकल्याणभागी भव, सुरेन्द्रकल्याणभागी भव, मन्दराभिषेककल्याणभागी भव, यौवराज्यकल्याणभागी भव, महाराज्यकल्याणभागी भव, परमराज्यकल्याणभागी भव, आर्हन्त्यकल्याणभागी भव। (मोदक्रियामन्त्रः)

प्रियोद्भवमन्त्र :—

प्रियोद्भवे च मन्त्रोऽयं सिद्धार्चनपुरःसरम् । दिव्यनेमिविजयाय पदात्परमनेमिवाक् ॥१०८
विजयायेत्यथार्हन्त्यनेम्यादिविजयाय च । युक्तो मन्त्राक्षरैरेभिः स्वाहान्तः सम्मतो द्विजैः ॥१०९

चूर्णि :—दिव्यनेमिविजयाय स्वाहा, परमनेमिविजयाय स्वाहा, आर्हन्त्यनेमिविजयाय स्वाहा। (प्रियोद्भवमन्त्रः)

जन्मसंस्कारमन्त्रोऽयमेतेनार्भकमादितः । सिद्धाभिषेकगन्धाम्बुसंसिक्तं शिरसि स्थितम् ॥११०
कुलजातिवयोरूपगुणैः शीलप्रजान्वयैः । भाग्याविधवतासौम्यमूर्तित्वैः समधिष्ठिता ॥१११
सम्यग्दृष्टिस्तवाम्बेयमतस्त्वमपि पुत्रकः । सम्प्रीतिमाप्नुहि त्रीणि प्राप्य चक्राण्यनुक्रमात् ॥११२

का धारक हो) यह पद पढ़े। पुनः 'वैवाहकल्याणभागी भव' (विवाहोत्सवका धारक हो) यह पद उच्चारण करे ॥१०३॥ तत्पश्चात् 'मुनीन्द्रकल्याणभागी भव' (महामुनि पदके कल्याणका धारक हो) यह पद बोले। तदनन्तर 'सुरेन्द्र कल्याण भागी भव' (इन्द्र पदके कल्याणका धारक हो) यह पद कहे ॥१०४॥ पुनः 'मन्दराभिषेक कल्याणभागी भव' (सुमेरु पर जन्माभिषेक कल्याणकको प्राप्त हो , तत्पश्चात् 'यौवराज्यकल्याणभागी भव' (युवराज पदके कल्याणका भागी हो) यह पद पढ़े ॥१०५॥ तदनन्तर मंत्रोंके प्रयोग करनेमें विशारद लोग 'महाराज्यकल्याणभागी भव' (महाराज पदके कल्याणकका भोक्ता हो) यह मंत्र बोलें ॥१०६॥ पुनः 'परमराज्यकल्याणभागी भव' (परमराज्यके कल्याणका भागी हो) यह पद पढ़े। तदनन्तर 'आर्हन्त्यकल्याणभागी भव' (अरहन्त पदके कल्याणकका भोक्ता हो) यह पद बोले ॥१०७॥ मोदक्रियाके सर्व मंत्रोंका संग्रह मूलमें दिया हुआ है। अब 'प्रियोद्भव क्रियाके मंत्र कहते हैं। 'प्रियोद्भव क्रियामें सिद्धोंकी पूजा करनेके पश्चात् इस प्रकार मंत्रोंको पढ़े—'दिव्यनेमिविजयाय स्वाहा' (दिव्यनेमिके द्वारा कर्म-शत्रुओंपर विजय पानेवालेके लिए यह हव्य समर्पण करता हूँ) 'परमनेमि विजयाय स्वाहा' (परमनेमिके द्वारा कर्म-शत्रुओं पर विजय पानेवालेके लिए हव्य समर्पण करता हूँ) और 'आर्हन्त्यनेमिविजयाय स्वाहा' (अरहन्त पदरूप नेमिके द्वारा कर्म-शत्रुओं पर विजय पाने वालेके लिए हव्य समर्पण करता हूँ इन मंत्रोंको बोलना द्विजोंके लिए आवश्यक माना गया है ॥१०८-१०९॥ मोदक्रियाके मंत्रोंका संग्रह मूलमें दिया हुआ है। अब जन्म-संस्कारके मंत्र कहते हैं—सर्वप्रथम सिद्ध-प्रतिमाका अभिषेक कर उस गन्धोदकसे उत्पन्न हुए बालकका अभिषिंचन कर मंत्र पढ़ते हुए शिर पर हाथ फेरे और कहे—यह तेरी माता कुल, जाति, वय, रूप आदि गुणोंसे विभूषित है, शीलवती है, उत्तम सन्तान उत्पन्न करनेवाली है, भाग्यवती है, सौभाग्यशालिनी है, सौम्य-शान्तमूर्ति है, और सम्यग्दृष्टि है। अतएव हे पुत्र, इस माताके सम्बन्धसे तू भी अनुक्रम से दिव्यचक्र, विजयचक्र और परमचक्र, इन तीनों चक्रोंको पाकर

इत्यङ्गानि स्पृशेदस्य प्रायः सारूप्ययोगतः । तत्राधायात्मसङ्कल्पं ततः सूक्तमिदं पठेत् ॥११३
अङ्गादङ्गात्सम्भवसि हृदयादपि जायसे । आत्मा वै पुत्र नामासि सजीव शरदः शतम् ॥११४
क्षीराज्यममृतं पूतं नाभावावर्ज्य युक्तिभिः । घातिञ्जयो भवेत्यस्य ह्रासयेन्नाभिनालकम् ॥११५
श्रीदेव्यो जात ते जातक्रियां कुर्वन्त्विति ब्रुवन् । तत्तनुं चूर्णवासेन शनैरुद्वर्त्य यत्नतः ॥११६
त्वं मन्दराभिषेकार्हो भवेति स्नपयेत्ततः । गन्धाम्बुभिश्चिरं जीव्या इत्याशास्याक्षतं क्षिपेत् ॥११७
नश्यात् कर्ममलं कृत्स्नमित्यास्येऽस्य सनासिके । घृतमौषधसांसिद्धमावपेन्मात्रया द्विज ॥११८
ततो विश्वेश्वरास्तन्यभागी भूया इतीरयन् । मातुस्तनमुपामन्त्र्य वदनेऽस्य समासजेत् ॥११९
प्राग्वर्णितमथानन्दं प्रीतिदानपुरःसरम् । विधाय विधिवत्तस्य जातकर्म समापयेत् ॥१२०
जरायुपटलं चास्य नाभिनालसमायुतम् । शुचौ भूमौ निखातायां विक्षिपेन्मन्त्रमापठन् ॥१२१
सम्यग्दृष्टिपदं बोध्ये सर्वमातेति चापरम् । वसुन्धरापदं चैव स्वाहान्तं द्विरुदाहरेत् ॥१२२
चूर्णि :—सम्यग्दृष्टे, सम्यग्दृष्टे सर्वमातः सर्वमातः वसुन्धरे वसुन्धरे स्वाहा ।
मन्त्रेणानेन सम्मन्त्र्य भूमौ सोदकमक्षतम् । क्षिप्त्वा गर्भमलं न्यस्तपञ्चरत्नतले क्षिपेत् ॥१२३
त्वत्पुत्रा इव मत्पुत्रा भूयासुश्चिरजीविनः । इत्युदाहृत्य सस्यार्हे तत्क्षेप्तव्यं महीतले ॥१२४

सत्प्रीति को प्राप्त हो ॥११०-११२॥ इस प्रकार आशीर्वाद देकर पिता उसके सर्व अंगोंका स्पर्श करे और फिर प्रायः अपने सदृश होनेसे उसमें अपना संकल्प कर अर्थात् 'यह मैं हो हूँ' ऐसा आरोपकर ये सुन्दर वाक्य कहे—हे पुत्र, तू मेरे प्रत्येक अंगसे उत्पन्न हुआ है और हृदयसे भी उत्पन्न हुआ है, अतः पुत्र-नामको धारण करनेवाला तू मेरा आत्मा ही है, तू सैकड़ों वर्षोंतक जीवित रह ॥११३-११४॥ तदनन्तर दूध और घी रूपी पवित्र अमृत उसकी नाभिपर डालकर 'घातिञ्जयो भव' (तू घातिया कर्मोंको जीतनेवाला हो) यह मंत्र पढ़कर सावधानीसे उसकी नाभिका नाल काटे ॥११५॥ तत्पश्चात् 'हे जात, श्रीदेव्यः ते जातक्रियां कुर्वन्तु' (हे पुत्र, श्री ह्री आदि देवियाँ तेरे जन्मक्रिया का उत्सव करें) यह कहते हुए धीरे-धीरे यत्नपूर्वक सुगन्धित चूर्णसे उस बालकके शरीरका उबटन करे और 'त्वं मन्दराभिषेकार्हो भव' (तू सुमेरु पर अभिषेक किये जानेके योग्य हो) यह मंत्र पढ़कर सुगन्धित जलसे उसे स्नान करावे । तदनन्तर 'चिरं जीव्याः' (तू चिरकाल तक जीवित रह) इस प्रकार आशीर्वाद देकर उस पर अक्षत क्षेपण करे॥११६-११७॥ तत्पश्चात् 'नश्यात् कर्ममलं कृत्स्नम्' (तेरे सर्व कर्म-मल नष्ट हों) यह मंत्र पढ़कर उसके मुख और नाकमें औषधि मिलाकर तैयार किया हुआ घी मात्राके अनुसार थोड़ा-सा डाले ॥११८॥ तत्पश्चात् 'विश्वेश्वरीस्तन्यभागी भूयाः' (तू तीर्थंकरकी माताके स्तनका दुग्ध-पान करनेवाला हो) यह कहता हुआ माताके स्तनको मंत्रित कर उसे बालकके मुखमें लगा देवे ॥११९॥ तदनन्तर पूर्व-वर्णित प्रकार से प्रीतिपूर्वक दान देते हुए उत्सव कर विधिवत् जातकर्म (जन्मकाल की क्रिया) समाप्त करे ॥१२०॥ उसके जरायु-पटलको नाभि-नालके साथ किसी पवित्र भूमिको खोदकर यह मंत्र पढ़ते हुए गाड़ देवे ॥१२१॥ (हे सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे, सर्वमातः सर्वमातः, वसुन्धरे वसुन्धरे स्वाहा' (हे सम्यग्दृष्टि सर्वकी माता वसुन्धरा, तुझे यह समर्पण करता हूँ ।) इस मंत्रसे मंत्रित कर उस भूमिमें जल और अक्षत डालकर पाँच प्रकार के रत्नों के नीचे वह गर्भ-मल (जरायुपटल और नाभिनाल) रख देना चाहिए ॥१२२-१२३॥ अथवा 'त्वत्पुत्रा इव मत्पुत्रा चिरञ्जीविनो भूयासुः' (हे वसुन्धरे, तेरे पुत्र कुल-पर्वतोंके समान मेरे पुत्र भी चिरजीवी हों) यह कहकर धान्योत्पत्तिके योग्य खेतमें उस गर्भ-मलको डाल देना

क्षीरवृक्षोपशाखाभिः उपहृत्य च भूतलम्। स्नाप्या तत्रास्य माताऽसौ सुखोष्णैर्मन्त्रितैर्जलैः ॥१२५
सम्यग्दृष्टिपदं बोध्यविषयं द्विरुदीरयेत्। पदमासन्न भव्येति तद्वद्विश्वेश्वरेत्यपि ॥१२६
तत ऊर्जितपुण्येति जिनमातृपदं तथा। स्वाहान्तो मन्त्र एषः स्यान्मातुः स्नानसंविधौ ॥१२७

चूर्णि :—सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे आसन्नभव्ये आसन्नभव्ये विश्वेश्वरे विश्वेश्वरे ऊर्जितपुण्ये ऊर्जितपुण्ये, जिनमातः जिनमातः स्वाहा।

यथा जिनाम्बिकापुत्रकल्याणान्यभिपश्यति। तथेयमपि मत्पत्नीत्यास्थयेमं विधिं भजेत् ॥१२८
तृतीयेऽहनि चानन्तज्ञानदर्शी भवेत्यमुम्। आलोकयेत्समुत्क्षिप्य निशि ताराङ्कितं नभः ॥१२९
पुण्याहघोषणापूर्वं कुर्याद दानं च शक्तितः। यथायोग्यं विदध्याच्च सर्वस्याभयघोषणाम् ॥१३०
जातकर्मविधिः सोऽयमाम्नातः पूर्वसूरिभिः। यथायोगमनुष्ठेयः सोऽद्यत्वेऽपि द्विजोत्तमैः ॥१३१
नामकर्मविधाने च मन्त्रोऽयमनुकीर्त्यते। सिद्धार्चनविधौ सप्तमन्त्राः प्रागनुवर्णिताः ॥१३२
ततो दिव्याष्टसहस्रनामभागी भवादिकम्। पदत्रितयमुच्चार्य मन्त्रोऽत्र परिवर्त्यताम् ॥१३३

चूर्णि :—दिव्याष्टसहस्रनामभागी भव, विजयाष्टसहस्रनामभागी भव, परमाष्टसहस्रनाम भागी भव।

शेषो विधिस्तु निःशेषप्रागुक्तो नोच्यते पुनः। बहिर्यानक्रियामन्त्रस्ततोऽयमनुगम्यताम् ॥१३४

चाहिए ॥१२४॥ तदनन्तर बड़, पीपल आदि क्षीरी (दूधवाले) वृक्षों की कोमल डालियोंसे पृथ्वीको शोभित कर और उस पर पुत्रकी माताको बिठाकर मंत्रित सुहाते उष्ण जलसे स्नान कराना चाहिए ॥१२५॥ माताको स्नान करानेका मंत्र यह है—प्रथम ही सम्बोधनान्त सम्यग्दृष्टि पद दो बार कहे, तदनन्तर आसन्नभव्या, विश्वेश्वरी, ऊर्जितपुण्या और जिनमाता इन पदोंको भी सम्बोधनान्त कर दो-दो बार बोले और अन्तमें स्वाहा शब्द कहे। अर्थात् 'सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे, आसन्नभव्ये आसन्नभव्ये, विश्वेश्वरि विश्वेश्वरि, ऊर्जितपुण्ये ऊर्जितपुण्ये जिनमातः जिनमातः स्वाहा' (हे सम्यग्दर्शनधारिणी, निकटभव्य, सर्वस्वामिनि, उत्कृष्ट पुण्यशालिनि जिनमाता, तू कल्याणकारिणी हो) यह मंत्र पुत्रकी माताको स्नान कराते समय बोलना चाहिए॥१२६-१२७॥ जिसप्रकार तीर्थंकरोंकी माता पुत्रके कल्याणकोंको देखती है, उसी प्रकार मेरी यह पत्नी भी देखे, इस आस्थाके साथ स्नानकी विधि करे॥१२८॥ तीसरे दिन रात्रिके समय 'अनन्तज्ञानदर्शी भव' (तू अनन्तज्ञान-दर्शी हो) यह मंत्र पढ़कर उस पुत्रको उठाकर ताराओं से व्याप्त आकाश दिखाना चाहिए ॥१२९॥ उसी दिन पुण्याहवाचनके साथ शक्तिके अनुसार दान करे और यथासंभव सब जीवोंके अभय-घोषणा करनी चाहिए॥१३०॥ पूर्वाचार्योंने यह जातकर्म या जन्मोत्सवकी विधि कही है। आजके समयमें भी ब्राह्मणोंको यथायोग्य यह विधि करना चाहिए ॥१३१॥ अब नाम कर्म की विधिके समय बोले जाने वाले मंत्रों को कहते हैं—नामसंस्कारके समय सिद्धोंकी पूजा करनेके लिए प्रयुक्त होनेवाले सप्तपीठिका मंत्र तो पूर्ववर्णित हो हैं। तत्पश्चात् 'दिव्याष्टसहस्रनामभागी भव' आदि तीन पदोंका उच्चारण कर मंत्र-परिवर्तन कर लेना चाहिए। अर्थात् 'दिव्याष्टसहस्रनामभागी भव' (दिव्य एक हजार आठ नामोंका धारक हो), 'विजयाष्टसहस्रनामभागी भव' (विजयरूप एक हजार आठ नामोंका धारक हो), 'परमाष्टसहस्रनामभागी भव' (अति उत्तम एक हजार आठ नामों का धारक हो) ये मन्त्र पढ़ना चाहिए॥१३२-१३३॥ मन्त्रों का संग्रह मूल में दिया गया है। नामसंस्कार की शेष समस्त विधि पहले कही जा

बहिर्यानक्रिया :—

तत्रोपनयननिष्क्रान्तिभागी भव पदात्परम् । भवेद् वैवाहनिष्क्रान्तिभागी भव पदं ततः ॥१३५
क्रमान्मुनीन्द्रनिष्क्रांतिभागी भव पदं वदेत् । ततः सुरेन्द्रनिष्क्रांतिभागी भव पदं स्मृतम् ॥१३६
मन्दराभिषेकनिष्क्रान्तिभागी भव पदं ततः । यौवराज्यमहाराज्यपदे भागी भवान्विते ॥१३७
निष्क्रान्तिपदमध्ये स्तां परराज्यपदं तथा । आर्हन्त्यराज्यनिष्क्रान्तिभागी भव शिखापदम् ॥१३८
पदैरेभिरयं मन्त्रस्तद्विद्भिरनुजप्यताम् । प्रागुक्तो विधिरन्यस्तु निषद्यामन्त्र उत्तरः ॥१३९

चूर्णि :—उपनयननिष्क्रान्तिभागी भव, वैवाहनिष्क्रान्तिभागी भव, मुनीन्द्रनिष्क्रान्तिभागी भव, सुरेन्द्रनिष्क्रान्तिभागी भव, मन्दराभिषेकनिष्क्रान्तिभागी भव, यौवराज्यनिष्क्रान्तिभागी भव, महाराज्यनिष्क्रान्तिभागी भव, परमराज्य निष्क्रान्तिभागी भव, आर्हन्त्यराज्यनिष्क्रान्तिभागी भव । (बहिर्यानमन्त्रः)

निषद्या—दिव्यसिंहासनपदाद्भागी भव पदं भवेत् । एवं विजयपरमसिंहासनपदद्वयात् ॥१४०

चूर्णि :—दिव्यसिंहासनभागी भव, विजयसिंहासनभागी भव । (इतिनिषद्यामन्त्रः)

अन्नप्राशनक्रिया :—

प्राशनेऽपि तथा मन्त्रं पदैस्त्रिभिरुदाहरेत् । तानि स्युर्दिव्यविजयाक्षीणामृतपदानि वै ॥१४१
भागी भव पदेनान्ते युक्तेनानुगतानि तु । पदैरेभिरयं मन्त्रः प्रयोज्यः प्राशने बुधैः ॥१४२

चुकी है, इसलिए उसे पुनः नहीं कहते हैं। अब इसके पश्चात् बहिर्यानक्रियाके मन्त्र इस प्रकार जानना चाहिये ॥१३४॥ उनमें सर्वप्रथम 'उपनयनिष्क्रान्ति भागीभव' (हे वत्स, तू उपनयन-संस्कारके लिए निष्क्रान्ति अर्थात् बाहिर निकलनेका भागी हो), वैवाहनिष्क्रान्ति भागीभव' (विवाहके लिए निष्क्रान्ति भागी हो), ये मंत्र पढ़े।॥१३५॥ तत्पश्चात् अनुक्रमसे 'मुनीन्द्रनिष्क्रान्तिभागी भव' (मुनिपदके लिए निष्क्रमणकल्याणका भागी हो) यह पद बोले। पुनः 'सुरेन्द्रनिष्क्रान्तिभागी भव' (सुरेन्द्रपदकी प्राप्तिके लिए निष्क्रमण करने वाला हो) यह पद स्मरणीय है ॥१३६॥ तदनन्तर 'मन्दराभिषेक-निष्क्रान्तिभागी भव' (सुमेरुपर जन्माभिषेकके लिए निष्क्रमणका भागी हो) यह मंत्र बोले। पुनः 'यौवराज्यनिष्क्रान्तिभागी भव' (युवराज पदके लिए निष्क्रमणका भागी हो)। तदनन्तर 'महाराज्यनिष्क्रान्तिभागी भव' (महाराज पदके लिए निष्क्रमण-भागी हो) तत्पश्चात् 'परमराज्य-निष्क्रान्तिभागी भव' (चक्रवर्ती पदके लिए निष्क्रमण भागी हो) पुनः 'आर्हन्त्यनिष्क्रान्तिभागी भव' (अरहन्त पदके लिए निष्क्रमण भागी हो।) यह अन्तिम शिखा पद बोले ॥१३७-१३८॥ इस प्रकार इन पदोंके द्वारा मंत्र-वेत्ता द्विज बहिर्यान क्रियाके मंत्रोंको पढ़े। शेष समस्त विधि पूर्वोक्त ही है। अब आगे निषद्यामंत्र कहते हैं ॥१३९॥ बहिर्यान क्रियाके मंत्रोंका संग्रह मूलमें दिया गया है। निषद्यामंत्र इस प्रकार हैं—'दिव्यसिंहासनभागी भव' (इन्द्रके दिव्य सिंहासनका भोक्ता हो) इसीप्रकार 'विजयसिंहासनभागी भव' (चक्रवर्तीके विजयसिंहासनका भोक्ता हो) और 'परम-सिंहासनभागी भव' (तीर्थंकरके परम सिंहासनका भोक्ता हो) इन मंत्रोंको बोले ॥१४०॥ उक्त मंत्रोंका संग्रह मूलमें दिया गया है। अब अन्नप्राशन क्रियाके मंत्र कहते हैं—अन्नप्राशन क्रिया के समय भी तीन पदोंके द्वारा मंत्रका उद्धार करे। वे पद दिव्यामृत, विजयामृत और अक्षीणामृत

क्षीरवृक्षोपशाखाभिः उपहृत्य च भूतलम् । स्नाप्या तत्रास्य माताऽसौ सुखोष्णैर्मन्त्रितैर्जलैः ॥१२५
सम्यग्दृष्टिपदं बोध्यविषयं द्विरुदीरयेत् । पदमासन्न भव्येति तद्वद्विश्वेश्वरेत्यपि ॥१२६
तत ऊर्जितपुण्येति जिनमातृपदं तथा । स्वाहान्तो मन्त्र एषः स्यान्मातुः स्नानसंविधौ ॥१२७

चूर्णि :—सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे आसन्नभव्ये आसन्नभव्ये विश्वेश्वरे विश्वेश्वरे ऊर्जितपुण्ये उर्जित-पुण्ये, जिनमातः जिनमातः स्वाहा ।

यथा जिनाम्बिकापुत्रकल्याणान्यभिपश्यति । तथेयमपि मत्पत्नीत्यास्थयेमं विधिं भजेत् ॥१२८
तृतीयेऽहनि चानन्तज्ञानदर्शी भवेत्यमुम् । आलोकयेत्समुत्क्षिप्य निशि ताराङ्कितं नभः ॥१२९
पुण्याहघोषणापूर्वं कुर्याद दानं च शक्तितः । यथायोग्यं विदध्याच्च सर्वस्याभयघोषणाम् ॥१३०
जातकर्मविधिः सोऽयमाम्नातः पूर्वसूरिभिः । यथायोगमनुष्ठेयः सोऽद्यत्वेऽपि द्विजोत्तमैः ॥१३१
नामकर्मविधाने च मन्त्रोऽयमनुकीर्त्यते । सिद्धार्चनविधौ सप्तमन्त्राः प्रागनुवर्णिताः ॥१३२
ततो दिव्याष्टसहस्रनामभागी भवादिकम् । पदत्रितयमुच्चार्य मन्त्रोऽत्र परिवर्त्यताम् ॥१३३

चूर्णि :—दिव्याष्टसहस्रनामभागी भव, विजयाष्टसहस्रनामभागी भव, परमाष्टसहस्रनाम भागी भव ।

शेषो विधिस्तु निःशेषप्रागुक्तो नोच्यते पुनः । बहिर्यानक्रियामन्त्रस्ततोऽयमनुगम्यताम् ॥१३४

चाहिए ॥१२४॥ तदनन्तर बड़, पीपल आदि क्षीरी (दूधवाले) वृक्षों की कोमल डालियोंसे पृथ्वीको शोभित कर और उस पर पुत्रकी माताको बिठाकर मंत्रित सुहाते उष्ण जलसे स्नान कराना चाहिए ॥१२५॥ माताको स्नान करानेका मंत्र यह है—प्रथम ही सम्बोधनान्त सम्यग्दृष्टि पद दो बार कहे, तदनन्तर आसन्नभव्या, विश्वेश्वरी, ऊर्जितपुण्या और जिनमाता इन पदोंको भी सम्बोधनान्त कर दो-दो बार बोले और अन्तमें स्वाहा शब्द कहे। अर्थात् 'सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे,आसन्नभव्ये आसन्नभव्ये, विश्वेश्वरि विश्वेश्वरि, ऊर्जितपुण्ये ऊर्जितपुण्ये जिनमातः जिनमातः स्वाहा' (हे सम्यग्दर्शनधारिणी, निकटभव्य, सर्वस्वामिनि, उत्कृष्ट पुण्यशालिनि जिनमाता, तू कल्याणकारिणी हो) यह मंत्र पुत्रकी माताको स्नान कराते समय बोलना चाहिए॥१२६-१२७॥ जिसप्रकार तीर्थंकरोंकी माता पुत्रके कल्याणकोंको देखती है, उसी प्रकार मेरी यह पत्नी भी देखे, इस आस्थाके साथ स्नानकी विधि करे।॥१२८॥ तीसरे दिन रात्रिके समय 'अनन्तज्ञानदर्शी भव' (तू अनन्तज्ञान-दर्शी हो) यह मंत्र पढ़कर उस पुत्रको उठाकर ताराओं से व्याप्त आकाश दिखाना चाहिए ॥१२९॥ उसी दिन पुण्याहवाचनके साथ शक्तिके अनुसार दान करे और यथासंभव सब जीवोंके अभय-घोषणा करनी चाहिए।॥१३०॥ पूर्वाचार्यों-ने यह जातकर्म या जन्मोत्सवकी विधि कही है। आजके समयमें भी ब्राह्मणोंको यथायोग्य यह विधि करना चाहिए ॥१३१॥ अब नाम कर्म की विधिके समय बोले जाने वाले मंत्रों को कहते हैं—नाम-संस्कारके समय सिद्धोंकी पूजा करनेके लिए प्रयुक्त होनेवाले सप्तपीठिका मंत्र तो पूर्ववर्णित ही हैं। तत्पश्चात् 'दिव्याष्टसहस्रनामभागी भव' आदि तीन पदोंका उच्चारण कर मंत्र-परिवर्तन कर लेना चाहिए। अर्थात् 'दिव्याष्टसहस्रनामभागी भव' (दिव्य एक हजार आठ नामोंका धारक हो), 'विजयाष्टसहस्रनामभागी भव' (विजयरूप एक हजार आठ नामोंका धारक हो), 'परमाष्टसहस्र-नामभागी भव' (अति उत्तम एक हजार आठ नामों का धारक हो) ये मन्त्र पढ़ना चाहिए॥१३२-१३३॥ मन्त्रों का संग्रह मूल में दिया गया है। नामसंस्कार की शेष समस्त विधि पहले कही जा

बहिर्यानक्रिया :—

तत्रोपनयननिष्क्रान्तिभागी भव पदात्परम् । भवेद् वैवाहनिष्क्रान्तिभागी भव पदं ततः ॥१३५
क्रमान्मुनीन्द्रनिष्क्रांतिभागी भव पदं वदेत् । ततः सुरेन्द्रनिष्क्रांतिभागी भव पदं स्मृतम् ॥१३६
मन्दराभिषेकनिष्क्रान्तिभागी भव पदं ततः । यौवराज्यमहाराज्यपदे भागी भवान्विते ॥१३७
निष्क्रान्तिपदमध्ये स्तां परराज्यपदं तथा । आर्हन्त्यराज्यनिष्क्रान्तिभागी भव शिखापदम् ॥१३८
पदैरेभिरयं मन्त्रस्तद्विद्भिरनुजप्यताम् । प्रागुक्तो विधिरन्यस्तु निषद्यामन्त्र उत्तरः ॥१३९

चूर्णि :—उपनयननिष्क्रान्तिभागी भव, वैवाहनिष्क्रान्तिभागी भव, मुनीन्द्रनिष्क्रान्तिभागी भव, सुरेन्द्रनिष्क्रान्तिभागी भव, मन्दराभिषेकनिष्क्रान्तिभागी भव, यौवराज्यनिष्क्रान्तिभागी भव, महाराज्यनिष्क्रान्तिभागी भव, परमराज्य निष्क्रान्तिभागी भव, आर्हन्त्यराज्यनिष्क्रान्तिभागी भव । (बहिर्यानमन्त्रः)

निषद्या—दिव्यसिंहासनपदाद्भागी भव पदं भवेत् । एवं विजयपरमसिंहासनपदद्वयात् ॥१४०

चूर्णि :—दिव्यसिंहासनभागी भव, विजयसिंहासनभागी भव । (इतिनिषद्यामन्त्रः)

अन्नप्राशनक्रिया :—

प्राशनेऽपि तथा मन्त्रं पदैस्त्रिभिरुदाहरेत् । तानि स्युर्दिव्यविजयाक्षीणामृतपदानि वै ॥१४१
भागी भव पदेनान्ते युक्तेनानुगतानि तु । पदैरेभिरयं मन्त्रः प्रयोज्यः प्राशने बुधैः ॥१४२

चुकी है, इसलिए उसे पुनः नहीं कहते हैं। अब इसके पश्चात् बहिर्यानक्रियाके मन्त्र इस प्रकार जानना चाहिये ॥१३४॥ उनमें सर्वप्रथम 'उपनयनिष्क्रान्ति भागीभव' (हे वत्स, तू उपनयन-संस्कारके लिए निष्क्रान्ति अर्थात् बाहिर निकलनेका भागी हो), वैवाहनिष्क्रान्ति भागीभव' (विवाहके लिए निष्क्रान्ति भागी हो), ये मंत्र पढ़े॥१३५॥ तत्पश्चात् अनुक्रमसे 'मुनीन्द्रनिष्क्रान्तिभागी भव' (मुनिपदके लिए निष्क्रमणकल्याणका भागी हो) यह पद बोले। पुनः 'सुरेन्द्रनिष्क्रान्तिभागी भव' (सुरेन्द्रपदकी प्राप्तिके लिए निष्क्रमण करने वाला हो) यह पद स्मरणीय है ॥१३६॥ तदनन्तर 'मन्दराभिषेक-निष्क्रान्तिभागी भव' (सुमेरुपर जन्माभिषेकके लिए निष्क्रमणका भागी हो) यह मंत्र बोले। पुनः 'यौवराज्यनिष्क्रान्तिभागी भव' (युवराज पदके लिए निष्क्रमणका भागी हो)। तदनन्तर 'महाराज्यनिष्क्रान्तिभागी भव' (महाराज पदके लिए निष्क्रमण-भागी हो) तत्पश्चात् 'परमराज्य-निष्क्रान्तिभागी भव' (चक्रवर्ती पदके लिए निष्क्रमण भागी हो) पुनः 'आर्हन्त्यनिष्क्रान्तिभागी भव' (अरहन्त पदके लिए निष्क्रमण भागी हो ।) यह अन्तिम शिखा पद बोले ॥१३७-१३८॥ इस प्रकार इन पदोंके द्वारा मंत्र-वेत्ता द्विज बहिर्यान क्रियाके मंत्रोंको पढ़े। शेष समस्त विधि पूर्वोक्त ही है। अब आगे निषद्यामंत्र कहते हैं ॥१३९॥ बहिर्यान क्रियाके मंत्रोंका संग्रह मूलमें दिया गया है। निषद्यामंत्र इस प्रकार हैं—'दिव्यसिंहासनभागी भव' (इन्द्रके दिव्य सिंहासनका भोक्ता हो) इसीप्रकार 'विजयसिंहासनभागी भव' (चक्रवर्तीके विजयसिंहासनका भोक्ता हो) और 'परम-सिंहासनभागी भव' (तीर्थंकरके परम सिंहासनका भोक्ता हो) इन मंत्रोंको बोले ॥१४०॥ उक्त मंत्रोंका संग्रह मूलमें दिया गया है। अब अन्नप्राशन क्रियाके मंत्र कहते हैं—अन्नप्राशन क्रिया के समय भी तीन पदोंके द्वारा मंत्रका उद्धार करे। वे पद दिव्यामृत, विजयामृत और अक्षीणामृत

चूर्णि :—दिव्यामृतभागी भव, विजयामृतभागी भव, अक्षीणामृतभागी भव।

व्युष्टि :—व्युष्टिक्रियाश्रितं मन्त्रमितो वक्ष्ये यथाश्रुतम्। तत्रोपनयनं जन्मवर्षवर्द्धनवाग्युतम्॥१४३
भागी भव पदं ज्ञेयमादौ शेषपदाष्टके। वैवाहनिष्ठशब्देन मुनिजन्मपदेन च॥१४४
सुरेन्द्रजन्मना मन्दराभिषेकपदेन च। यौवराज्यमहाराज्यपदाभ्यामप्यनुक्रमात्॥१४५
परमार्हन्त्यराज्याभ्यां वर्षवधनसंयुतम्। भागी भव पदं योज्यं ततो मन्त्रोऽयमुद्भवेत्॥१४६

चूर्णि :—उपनयन-जन्मवर्षवर्द्धनभागी भव, वैवाहनिष्ठवर्षवर्द्धनभागी भव, मुनीन्द्रजन्मवर्षवर्द्धनभागी भव, सुरेन्द्रजन्मवर्षवर्द्धनभागी भव, मन्दराभिषेकवर्षवर्द्धनभागी भव, यौवराज्यवर्षवर्द्धनभागी भव, महाराज्यवर्षवर्द्धनभागी भव, परमराज्यवर्षवर्द्धनभागी भव, आर्हन्त्यराज्यवर्षवर्द्धनभागी भव। (व्युष्टिक्रियामन्त्रः)

चौलकर्म :—

चौलकर्मण्यथो मन्त्रः स्याच्चोपनयनादिकम्। मुण्डभागी भवान्तं च पदमादावनुस्मृतम्॥१४७
ततो निर्ग्रन्थमुण्डादिभागी भव पदं परम्। ततो निष्क्रान्तिमुण्डादिभागी भव पदं परम्॥१४८

हैं। इनके अन्तमें 'भागी भव' इस पदके संयुक्त कर देनेसे वे तीन मंत्र बन जाते हैं। इन पदोंके द्वारा निर्मित मंत्रोंका प्रयोग बुधजन अन्न प्राशन क्रियाके समय करें॥१४१-१४२॥ वे मंत्र इस प्रकार हैं—'दिव्यामृतभागी भव' (इन्द्रके दिव्य अमृतका भोक्ता हो) 'विजयामृतभागी भव' (चक्रवर्तीके विजय अमृतका भोक्ता हो) और 'अक्षीणामृतभागी भव' (तीर्थंकरके अक्षीण अमृतका भोक्ता हो)। इन मंत्रोंका संग्रह मूलमें दिया गया है। अब यहाँसे आगे शास्त्रानुसार व्युष्टि-क्रियाके मंत्र कहते हैं—उनमें सर्वप्रथम 'उपनयन' पदकेआगे 'जन्मवर्षवर्धन' पद लगाकर 'भागी भव' पद लगाना चाहिए। तत्पश्चात् अनुक्रमसे वैवाहनिष्ठ, मुनीन्द्रजन्म, सुरेन्द्रजन्म, मन्दराभिषेक, यौवराज्य, महाराज्य, परमराज्य और आर्हन्त्यराज्य, इन शेष आठ पदोंके साथ 'वर्षवर्धन' और 'भागी भव' पद लगावे। तब व्युष्टिक्रियाके मंत्र इस प्रकार हो जाते हैं—'उपनयनवर्षवर्धनभागी भव' (उपनयनरूप जन्मके वर्षका बढ़ानेवाला हो), 'वैवाहनिष्ठवर्षवर्धनभागी भव' (विवाहक्रियाके वर्षका बढ़ानेवाला हो), 'मुनीन्द्रजन्मवर्षवर्धन भागी भव' (मुनिपदके जन्मरूप वर्षका बढ़ानेवाला हो) 'सुरेन्द्रजन्मवर्षवर्धनभागी भव' (इन्द्रपदके जन्मरूप वर्षका बढ़ानेवाला हो) 'मदराभिषेकवर्षवर्धन भागी भव (सुमेरुपर होनेवाले जन्माभिषेकके वर्षका बढ़ानेवाला हो), 'यौवराज्यवर्षवर्धनभागी भव' (युवराजपदके वर्षका बढ़ानेवाला हो)। 'महाराज्यवर्षवर्धन भागी भव' (महाराजपदके वर्षका बढ़ानेवाला हो) 'परमराज्यवर्षवर्धनभागी भव' (चक्रवर्ती पदके वर्षका बढ़ानेवाला हो), और आर्हन्त्यराज्यवर्षवर्धनभागी भव' (अर्हन्तपदके राज्यके वर्षका बढ़ानेवाला हो)॥१४३-१४६॥ उक्त सर्व मंत्रोंका संग्रह मूलमें दिया हुआ है। अब चौलक्रियाके मंत्र कहते हैं—आदिमें 'उपनयन' पद और अन्तमें 'मुण्डभागी भव' पद बोलने प्रथम मंत्र बनता है—'उपनयनमुण्डभागी भव' (उपनयन क्रियामें मुण्डनक्रियाको प्राप्त हो) यह चौलक्रियाका प्रथम मंत्र है।॥१४७॥ पुनः 'निर्ग्रन्थमुण्डभागी भव' (निर्ग्रन्थ जिनदीक्षा लेते समय मुण्डनको प्राप्त हो) यह दूसरा मंत्र है। तदनन्तर 'निष्क्रान्तिमुण्डभागी भव' (मुनि-

स्यात्परमनिस्तारककेशभागी भवेत्यतः । परमेन्द्रपदादिश्च केशभागी भवध्वनिः ॥१४९
परमार्हन्त्यराज्यादिकेशभागीति वाग्द्वयम् । भवेत्यन्तपदोपेतं मन्त्रोऽस्मिन्स्याच्छिखापदम् ॥१५०
शिखामेतेन मन्त्रेण स्थापयेद्विधिवद् द्विजः । ततो मन्त्रोऽयमाम्नातो लिपिसङ्ख्यानसङ्ग्रहे ॥१५१

चूर्णि :—उपनयनमुण्डभागी भव, निर्ग्रन्थमुण्डभागी भव, परमनिस्तारककेशभागी भव, परमेन्द्रकेशभागी भव, परमराज्यकेशभागी भव, आर्हन्त्यराज्यकेशभागी भव ।

(इतिचौलक्रियामन्त्रः)

शब्दपारभागी भव, अर्थपारभागी भव । पदशब्दार्थसम्बन्धपारभागी भवेत्यपि ॥१५२

चूर्णि :—शब्दपारगामी (भागी) भव, अर्थपारगामी (भागी) भव, शब्दार्थपारगामी (भागी) भव ।

(लिपिसङ्ख्यानमन्त्रः)

उपनीतक्रियामन्त्रं स्मरन्तीमं द्विजोत्तमाः । परमनिस्तारकादिलिङ्गभागी भवेत्यतः ॥१५३
युक्तं परमर्षिलिङ्गेन भागी भव पदं भवेत् । परमेन्द्रादिलिङ्गादिभागी भव पदं परम् ॥१५४
एवं परमराज्यादि परमार्हन्त्यादि च क्रमात् । युक्तं परमनिर्वाणपदेन च शिखापदम् ॥१५५

चूर्णि :—परमनिस्तारकलिङ्गभागी भव, परमर्षिलिङ्गभागी भव, परमेन्द्रलिङ्गभागी भव, परमराज्यलिङ्गभागी भव, परमार्हन्त्यलिङ्गभागी भव, परमनिर्वाणलिङ्गभागी भव ।

(इत्युपनीतिक्रियामन्त्रः)

मन्त्रेणानेन शिष्यस्य कृत्वा संस्कारमादितः । निर्विकारेण वस्त्रेण कुर्यादेनं सवाससम् ॥१५६

पदमें केशलुञ्चरूप मुण्डनको प्राप्त हो) यह तीसरा मंत्र है ॥१४८॥ तत्पश्चात् 'परमनिस्तारककेशभागी भव' (संसार-समुद्रसे पार उतारनेवाले आचार्यके केशोंको प्राप्त हो) यह चौथा मंत्र है । तदनन्तर 'परमेन्द्रकेशभागी भव' (इन्द्रपदके केशोंका धारक हो) यह पाँचवाँ मंत्र बोले ॥१४९॥ पुनः 'परमराज्यकेशभागी भव (चक्रवर्तीके केशोंको प्राप्त हो) यह छठा मंत्र है । और 'आर्हन्त्यराज्यकेशभागी भव' कैवल्य साम्राज्यवाले अरहन्तके केशोंका धारक हो) यह सातवाँ अन्तिम मंत्र है । द्विज इन मंत्रोंको बोलकर विधिपूर्वक शिरपर शिखा (चोटी) मात्र रखकर मुण्डन करावे । अब इससे आगे लिपिसंख्यानक्रियाके मंत्र कहते हैं ॥१५०-१५१॥ चौल क्रियाके मंत्रोंका संग्रह मूलमें दिया हुआ है । लिपिसंख्यान क्रियाके मंत्र—'शब्दपारभागी भव' (शब्दशास्त्रका पारगामी हो) 'अर्थपारभागी भव' (सर्व अर्थका पारगामी हो) और शब्दार्थसम्बन्धपारभागी भव (शब्द और अर्थके सम्बन्धका पारगामी हो) ये मंत्र लिपिसंख्यान क्रियाके समय बोले ॥१५२॥ उक्त मंत्रोंका संग्रह मूलमें दिया गया है । उत्तम द्विज उपनीति क्रियाके मंत्र इस प्रकार स्मरण करते हैं—'परम निस्तारकलिंगभागी भव' (हे वत्स, तू परम निस्तारक आचार्यका चिह्न-धारक हो) परमर्षिलिंगभागी भव' (परम ऋषिका चिह्नधारक हो) और 'परमेन्द्रलिंगभागी भव' (परम इन्द्रका चिन्हधारक हो) ये मंत्र बोले । पुनः क्रमसे परमराज्य, परमार्हन्त्य और परमनिर्वाण पदके साथ 'लिंगभागी भव' पद जोड़कर इस प्रकारसे मंत्र बोले 'परमराज्यलिंगभागी भव' (परमराज्यका चिह्न-धारक हो) 'परमार्हन्त्यलिंगभागी भव' (परम अर्हन्तपदका चिह्न-धारक हो) और 'परम निर्वाणलिंगभागी भव (परम निर्वाणका चिह्न-धारक हो) ॥१५३-१५५॥ इन मंत्रोंका संग्रह मूलमें दिया गया है । इन मंत्रोंसे प्रथम ही शिष्यका संस्कार कर उसे निर्विकार वस्त्रसे युक्त करे अर्थात् सादा वस्त्र पहि-

कौपीनाच्छादनं चैनमन्तर्वासिन कारयेत् । मौञ्जीबन्धमतः कुर्यादनुबद्धत्रिमेलकम् ॥१५७
सूत्रं गणधरैर्दृब्धं व्रतचिह्नं नियोजयेत् । मन्त्रपूतमतो यज्ञोपवीती स्यादसौ द्विजः ॥१५८
जात्येव ब्राह्मणः पूर्वमिदानीं व्रतसंस्कृतः । द्विर्जातो द्विज इत्येवं रूढिमास्तिघ्नुते गुणैः ॥१५९
देयान्यणुव्रतान्यस्मै गुरुसाक्षि यथाविधि । गुणशीलानुगैश्चैनं संस्कुर्याद् व्रतजातकैः ॥१६०
ततोऽतिबालविद्यादीन्नियोगादस्य निर्दिशेत् । दत्वोपासकाध्ययनं नामापि चरणोचितम् ॥१६१
ततोऽयं कृतसंस्कारः सिद्धार्चनपुरःसरम् । यथाविधानमाचार्यपूजां कुर्यादतः परम् ॥१६२
तस्मिन्दिने प्रविष्टस्य भिक्षार्थं जातिवेश्म सु । योऽर्थलाभः स देयः स्यादुपाध्यायाय सादरम् ॥१६३
शेषो विधिस्तु प्रावप्रोक्तस्तमनूनं समाचरेत् । यावत्सोऽधीतविद्यः सन् भजेत् स ब्रह्मचारिताम् ॥१६४
अथातोऽस्य प्रवक्ष्यामि व्रतचर्यामनुक्रमात् । स्याद्यत्रोपासकाध्यायः समासेनानु संहृतः ॥१६५
शिरोलिङ्गमुरोलिङ्गं लिङ्गंकट्यूरुसंश्रितम् । लिङ्गमस्योपनीतस्य प्राग्निर्णीतं चतुर्विधम् ॥१६६
तत्तु स्यादसिवृत्त्या वा मष्या कृष्या वणिज्यया । यथास्वं वर्तमानानां सद्दृष्टीनां द्विजन्मनाम् ॥१६७
कुतश्चित् कारणाद् यस्य कुलं सम्प्राप्तदूषणम् । सोऽपि राजादिसम्मत्या शोधयेत् स्वं यदा कुलम् ॥१६८
तदास्योपनयार्हत्वं पुत्रपौत्रादिसन्ततौ । न निषिद्धं हि दीक्षार्हे कुले चेदस्य पूर्वजाः ॥१६९

रावे ॥१५६॥ इसे वस्त्रके भीतर कौपीन (लंगोट) से आच्छादित करे और उसपर मूँजकी तीन लड़-वाली रस्सी बाँधे ॥१५७॥ तत्पश्चात् वह द्विज गणधर देवोंसे प्रतिपादित, व्रतोंका चिह्नस्वरूप मंत्रोंसे पवित्र किया हुआ यज्ञोपवीत पहिरावे। इसप्रकारसे यज्ञोपवीतधारण करनेवाला वह बालक द्विज हो जाता है ॥१५८॥ इसके पूर्व वह बालक जन्मसे ही द्विज था और अब व्रतोंसे संस्कृत होकर दूसरी बार उत्पन्न हुआ है, अतएव दोबार जन्म लेनेसे वह 'द्विज' इस प्रकारकी रूढ़िको गुणोंसे प्राप्त होता है ॥१५९॥ उस समय उस पुत्रके लिए यथाविधि गुरु-साक्षीपूर्वक पंच अणुव्रत देना चाहिए। तथा गुणव्रत और शिक्षाव्रतके अनुगामी व्रतोंके समूहसे उसका संस्कार करना चाहिए ॥१६०॥ तदनन्तर गुरु उसे उपासकाध्ययनसूत्र पढ़ाकर और चारित्रके योग्य उसका नाम रखकर वक्ष्यमाण अतिबालविद्या आदिका उपदेश देवे ॥१६१॥ इसप्रकारसे संस्कारको प्राप्त वह बालक पुनः सिद्धोंकी पूजा-पूर्वक यथाविधि आचार्यकी पूजा करे ॥१६२॥ उस दिन उस बालकको अपनी जातिवालोंके घरोंमें जाकर भिक्षा माँगना चाहिए। उस भिक्षामें जो कुछ अर्थ-लाभ हो, उसे आदर-पूर्वक उपाध्यायको दे (और स्वयं भिक्षासे प्राप्त आहारको खावे) ॥१६३॥ शेष पूर्वोक्त सर्वविधि पूर्णरूपसे करे। इसके अतिरिक्त जब तक वह विद्या पढ़े, तब तक पूर्ण ब्रह्मचर्यसे रहे ॥१६४॥ अब इससे आगे व्रतचर्याको अनुक्रमसे कहूँगा, जिसमें कि उपासकाध्ययनका संक्षेपसे संग्रह किया गया है ॥१६५॥ पूर्वोक्त प्रकारसे उपनीतसंस्कारवाले बालकको शिरका चिह्न मुण्डन, वक्षःस्थलका चिह्न यज्ञोपवीत कटिका चिह्न मौंजीबन्धन और जंघाका चिह्न श्वेत वस्त्र धारण करना चाहिए। इसका निर्णय पहले कर आये हैं ॥१६६॥ जो लोग अपनी योग्यताके अनुसार असि आदि शस्त्रोंके द्वारा मषी आदिसे लेखनकलाके द्वारा, कृषिके द्वारा और वाणिज्यके द्वारा अपनी आजीविका करते हैं ऐसे सम्यग्दृष्टि द्विजोंको यज्ञोपवीत आदि चारों प्रकारके चिह्न-धारण करना चाहिए ॥१६७॥ यदि कदाचित् किसी कारणसे जिस किसी उच्च वर्णी पुरुषका कुल दूषणको प्राप्त हो जाय तो वह भी राजा आदिकी सम्मतिसे जब अपने कुलको शुद्ध कर ले, तब यदि उसके पूर्वज लोग दीक्षा धारण करनेके योग्य कुलमें उत्पन्न हुए हों, तो उसके पुत्र-पौत्रादि सन्तानके लिए उपनयन संस्कारकी योग्यताका

अदीक्षार्हे कुले जाता विद्याशिल्पोपजीविनः। एतेषामुपनीत्यादिसंस्कारो नाभिसम्मतः ॥१७०
तेषां स्यादुचितं लिङ्गं स्वयोग्यव्रतधारिणाम्। एकशाटकधारित्वं संन्यासमरणावधि ॥१७१
स्यान्निरामिषभोजित्वं कुलस्त्रीसेवनव्रतम्। अनारम्भवधोत्सर्गो ह्यभक्ष्यापेयवर्जनम् ॥१७२
इति शुद्धतरां वृत्तिं व्रतपूतामुपेयिवान्। यो द्विजस्तस्य सम्पूर्णो व्रतचर्याविधिः स्मृतः ॥१७३
दशाधिकारास्तस्योक्ताः सूत्रेणौपासिकेन हि। तान्यथाक्रममुद्देशमात्रेणानुप्रचक्ष्महे ॥१७४
तत्रातिबालविद्याऽऽद्या कुलावधिरनन्तरम्। वर्णोत्तमत्वपात्रत्वे तथा सृष्ट्यधिकारिणा ॥१७५
व्यवहारेशिताऽन्या स्यादवध्यत्वमदण्ड्यता। मानार्हता प्रजासम्बन्धान्तरं चेत्यनुक्रमात् ॥१७६
दशाधिकारि वास्तूनि स्युरुपासकसङ्ग्रहे। तानीमानि यथोद्देशं सङ्क्षेपेण विवृण्महे ॥१७७
बाल्यात्प्रभृति या विद्याशिक्षोद्योगात् द्विजन्मनः। प्रोक्तातिबालविद्येति सा क्रिया द्विजसम्मता ॥१७८
तस्यामसत्यां मूढात्मा हेयादेयानभिज्ञकः। मिथ्याश्रुतिं प्रपद्येत द्विजन्मान्यैः प्रतारितः ॥१७९
बाल्य एव ततोऽभ्यस्येद् द्विजन्मौपासिकीं श्रुतिम्। स तया प्राप्तसंस्कारः स्वपरोत्तारको भवेत् ॥१८०
कुलावधिः कुलाचाररक्षणं स्याद् द्विजन्मनः। तस्मिन्नसत्यसौ नष्टक्रियोऽन्यकुलतां भजेत् ॥१८१
वर्णोत्तमत्वं वर्णेषु सर्वेष्वाधिक्यमस्य वै। तेनायं श्लाघ्यतामेति स्वपरोद्धारणक्षमः ॥१८२
वर्णोत्तमत्वं यद्यस्य न स्यान्न स्यात्प्रकृष्टता। अप्रकृष्टश्च नात्मानं शोधयेन्न परानपि ॥१८३

कहीं निषेध नहीं है ॥१६८-१६९॥ जो दीक्षाके अयोग्य कुलमें उत्पन्न हुए हैं और नृत्य-गान आदि विद्या एवं शिल्पसे अपनी आजीविका करते हैं, ऐसे पुरुषोंको उपनयन आदि संस्कार करनेकी आज्ञा नहीं है ॥१७०॥ किन्तु ऐसे लोग यदि अपनी योग्यताके अनुसार व्रत-धारण करें तो उनके योग्य चिह्न यह है कि वे संन्यास-मरण-पर्यन्त एक धोती धारण करें, निरामिष-भोजन करें, विवाहित कुलस्त्रीके ही सेवनका व्रत पालें, सांकल्पिक हिंसाका त्याग करें और अभक्ष्य वस्तुओंके भक्षणका एवं अपेय मद्यादिके पीनेका त्याग करें ॥१७१-१७२॥ इस प्रकार जो द्विज व्रतोंसे पवित्र, अतिशुद्ध वृत्तिको धारण करता है, उसके व्रतचर्याकी सम्पूर्ण विधि मानी गई है ॥१७३॥ व्रती द्विजोंके लिए उपासकाध्ययन सूत्रमें दश अधिकार कहे गये हैं, उन्हें अब आगे यथाक्रमसे नाम-निर्देशपूर्वक कहते हैं ॥१७४॥ उन अधिकारोंमें पहला अतिबालविद्या, दूसरा कुलावधि, तीसरा वर्णोत्तमत्व, चौथा पात्रत्व, पाँचवाँ सृष्टि-अधिकारिता, छठा व्यवहारेशिता, सातवाँ अवध्यत्व, आठवाँ अदण्डत्व, नवाँ मानार्हत्व और दशवाँ प्रजा-सम्बन्धान्तर है। उपासक संग्रहमें अनुक्रमसे ये दश अधिकार वस्तुएँ प्रतिपादित की गई हैं, उन सबका नाम-निर्देशके अनुसार संक्षेपसे वर्णन करते हैं ॥१७५-१७७॥ द्विजको बाल्य-कालसे जो विद्या सिखानेका उद्योग किया जाता है, उसे ब्राह्मण लोग अति बालविद्या नामकी क्रिया कहते हैं ॥१७८॥ इस अतिबालविद्याके अभावमें द्विज मूढ़ात्मा रहता है, उसे हेय उपादेयको ज्ञान नहीं हो पाता और वह द्विजाभिमानी द्विजाभासियोंसे प्रतारित होकर मिथ्याश्रुतिको प्राप्त हो जाता है ॥१७९॥ इसलिए द्विजोंको बाल्यकालमें ही उपासकाध्ययन शास्त्रका अभ्यास करना चाहिए, क्योंकि उपासाध्ययनके अभ्याससे संस्कारको प्राप्त हुआ द्विज स्व और परका तारनेवाला हो जाता है ॥१८०॥ अपने कुलके आचारका रक्षण करना द्विजकी कुलावधि क्रिया है। कुलके आचारका पालन नहीं करने पर द्विजकी समस्त क्रियाएँ नष्ट हो जाती हैं और वह अन्य कुलको प्राप्त हो जाता है ॥१८१॥ समस्त वर्णोंमें श्रेष्ठ होना ही द्विजकी वर्णोत्तम क्रिया है। इस वर्णोत्तम क्रियासे ही वह प्रशंसाको प्राप्त होता है और स्व-परके उद्धार करनेमें समर्थ होता है ॥१८२॥ यदि इसके वर्णोत्तमत्व नहीं हैं, तो उसके प्रकृष्टता

ततोऽयं शुद्धिकामः सन् सेवेतान्यं कुलिङ्गिनम् ।
कुब्रह्म वा ततस्तज्जान् दोषान् प्राप्नोत्यसंशयम् ॥१८४
प्रदानार्हत्वमस्येष्टं पात्रत्वं गुणगौरवात् । गुणाधिकोऽहि लोकेऽस्मिन् पूज्यः स्याल्लोकपूजितैः ॥१८५
ततो गुणकृतां स्वस्मिन् पात्रतां द्रढयेद्द्विजः । तदभावे विमान्यत्वात् ह्रियतेऽस्य धनं नृपैः ॥१८६
रक्ष्यः सृष्ट्यधिकारोऽपि द्विजैरुत्तमसृष्टिभिः । असद्दृष्टिकृतां सृष्टिं परिहृत्य विदूरतः ॥१८७
अन्यथा सृष्टिवादेन दुर्दृष्टेन कुदृष्टयः । लोकं नृपांश्च सम्मोह्य नयन्त्युत्पथगामिताम् ॥१८८
सृष्टयन्तरमतो दूरमपास्य नयतत्त्ववित् । अनादिक्षत्रियैः सृष्टां धर्मसृष्टिं प्रभावयेत् ॥१८९
तीर्थकृद्भिरियं सृष्टा धर्मसृष्टिः सनातनी । तां संश्रितान्नृपान्नेव सृष्टिहेतून् प्रकाशयेत् ॥१९०
अन्यथाऽन्यकृतां सृष्टिं प्रपन्नाः स्युर्नृपोत्तमाः । ततो नैश्वर्यमेषां स्यात्तत्रस्थाश्च स्युरार्हताः ॥१९१
व्यवहारेशितां प्राहुः प्रायश्चित्तादिकर्मणि । स्वतन्त्रतां द्विजस्यास्य श्रितस्य परमां श्रुतिम् ॥१९२
तदभावे स्वमन्यांश्च न शोधयितुमर्हति । अशुद्धः परतः शुद्धिमाभीप्सन्न्यक्कृतो भवेत् ॥१९३
स्यादवध्याधिकारेऽपि स्थिरात्मा द्विजसत्तमः । ब्राह्मणो हि गुणोत्कर्षान्नान्यतो वधमर्हति ॥१९४
सर्वः प्राणी न हन्तव्यो ब्राह्मणस्तु विशेषतः । गुणोत्कर्षापकर्षाभ्यां वधेपि द्वयात्मता मता ॥१९५

भी नहीं हो सकती। और जो उत्कृष्टताको प्राप्त नहीं है, वह न तो अपने आपको शुद्ध कर सकता है और न दूसरोंको ही शुद्ध कर सकता है ॥१८३॥ तब यह अपनी शुद्धिका इच्छुक होता हुआ अन्य कुलिंगियोंकी सेवा करता है, अथवा कुदेवोंकी सेवा करता है और उसके फलस्वरूप तज्जनित दोषोंको असन्दिग्ध रूपसे प्राप्त होता है ॥१८४॥ गुणोंके गौरवसे दान देनेके योग्य पात्रता भी इन्हीं द्विजोंमें मानी जाती है, क्योंकि इस लोकमें अधिक गुणवान् पुरुष लोक-पूजित जनोंके द्वारा भी पूजा जाता है ॥१८५॥ इसलिए द्विजको चाहिए कि वह अपने भीतर गुणोंके द्वारा उत्पन्न होनेवाली पात्रताको और भी दृढ़ करे, क्योंकि पात्रताके अभावमें लोक-सन्मान नहीं प्राप्त होता और उसके न होनेसे राजाओंके द्वारा उसका धन हरण कर लिया जाता है ॥१८६॥ आगे सृष्टयधिकारको कहते हैं—उत्तम सृष्टिवाले द्विजोंको अपने सृष्टिअधिकारकी रक्षा करनी चाहिए और मिथ्यादृष्टियोंके द्वारा चलाई गई धर्मसृष्टिको दूरसे ही त्यागना चाहिए ॥१८७॥ अन्यथा मिथ्यादृष्टिलोग दूषित सृष्टिवादसे लोगोंको और राजाओंको मोहितकर उन्हें कुपथगामी कर देंगे ॥१८८॥ अतएव अन्य मिथ्यादृष्टियों द्वारा प्रवर्तित सृष्टिको दूरसे ही छोड़कर नयतत्त्वज्ञ द्विज अनादिकालिक क्षत्रियवंशी तीर्थङ्करोंके द्वारा रचित धर्मसृष्टिकी प्रभावना करे ॥१८९॥ तथा इस धर्मसृष्टिका आश्रय लेनेवाले राजाओंसे सृष्टिके कारणोंके इसप्रकार कहे कि यह धर्मसृष्टि तीर्थंकरोंके द्वारा रचित है, अतः सनातनी है, अर्थात् अनादिकालसे चली आ रही है, अतः इसकी रक्षा करना आपका कर्त्तव्य है ॥१९०॥ यदि द्विज लोग राजाओंसे ऐसा नहीं कहेंगेतो वे नृपोत्तम अन्य लोगोंके द्वारा की हुई सृष्टिको मानने लगेंगे, जिससे उनका ऐश्वर्य नहीं रह सकेगा, तथा आर्हतमतानुयायी जैन लोग भी उसी धर्मको मानने लगेंगे ॥१९१॥ परमागमका आश्रय लेनेवाले द्विजोंको प्रायश्चित्तादि कार्योंमें जो स्वतंत्रता है, उसे ही व्यवहारेशिता कहते हैं ॥१९२॥ इस व्यवहारेशिताके अभावमें द्विज न अपने आपको शुद्ध करनेके लिए योग्य रहता है और न दूसरोंको ही शुद्ध कर सकता है तथा अन्यसे शुद्धिको चाहनेवाला अशुद्ध द्विज संसारमें तिरस्कारको प्राप्त होता है ॥१९३॥ गुणोंमें स्थिर रहनेवाला श्रेष्ठ द्विज अवध्याधिकारमें भी स्थित रहता है, क्योंकि गुणोंके उत्कर्षसे ब्राह्मण अन्य राजा आदिके द्वारा वधको प्राप्त नहीं होता, अर्थात् अवध्य रहता है ॥१९४॥ सभी प्राणी हन्तव्य नहीं हैं, अर्थात् किसी भी प्राणीको नहीं मारना चाहिए और

तस्मादवध्यतामेष पोषयेद् धार्मिके जने । धर्मस्य तद्धि माहात्म्यं तत्स्थो यन्नाभिभूयते ॥१९६
तदभावे च वध्यत्वमयमृच्छति सर्वतः । एवं च सति धर्मस्य नश्येत् प्रामाण्यमर्हताम् ॥१९७
ततः सर्वप्रयत्नेन रक्ष्यो धर्मः सनातनः । स हि संरक्षितो रक्षां करोति सचराचरे ॥१९८
स्याददण्ड्यत्वमप्येवमस्य धर्मे स्थिरात्मनः । धर्मस्थो हि जनोऽन्यस्य दण्डप्रस्थापने प्रभुः ॥१९९
तद्धर्मस्थीयमाम्नायं भावयन् धर्मदर्शिभिः । अधर्मस्थेषु दण्डस्य प्रणेता धार्मिको नृपः ॥२००
परिहार्यं यथा देवगुरुद्रव्यं हितार्थिभिः । ब्रह्मस्वं च तथा भूतं न दण्डार्हस्ततो द्विजः ॥२०१
युक्त्याऽनया गुणाधिक्यमात्मन्यारोपयन् वशी । अदण्ड्यपक्षे स्वात्मानं स्थापयेद्दण्डधारिणाम् ॥२०२
अधिकारे ह्यसत्यस्मिन् स्याद्दण्ड्योऽयं यथेतरः । ततश्च निस्स्वतां प्राप्तो नेहामुत्र च नन्दति ॥२०३

मान्यत्वमस्य सन्धत्ते मानार्हत्वं सुभावितम् ।
गुणाधिको हि मान्यः स्याद् वन्द्यः पूज्यश्च सत्तमैः ॥२०४

असत्यस्मिन्नमान्यत्वमस्य स्यात् सम्मतैर्जनैः । ततश्च स्थानमानादि लाभाभावात् पदच्युतिः ॥२०५
तस्मादयं गुणैर्यत्नादात्मन्यारोप्यतां द्विजैः । यत्नश्च ज्ञानवृत्तादिसम्पत्तिः सोज्झतां न तैः ॥२०६

खास तौरसे ब्राह्मणको नहीं मारे, क्योंकि गुणोंके उत्कर्ष और अपकर्षसे हिंसामें भी द्विरूपता मानी गई है ॥१९५॥ अतएव ब्राह्मण गुणोंके उत्कर्ष-द्वारा धार्मिक जनोंमें अपनी अवध्यताको पुष्ट करे। यह धर्मका ही माहात्म्य है कि जो अपने धर्ममें स्थित रहता है वह किसीके द्वारा अपमानित नहीं होता है ॥१९६॥ जो ब्राह्मण गुणोंके उत्कर्ष-द्वारा अपनी अवध्यताको सिद्ध नहीं करता है, प्रत्युत गुणोंके अपकर्षसे अपनी हीनताको प्रकट करता है, वह सभीसे वध्यताको प्राप्त होता है। और ऐसा होनेपर अरहन्त देवके इस जैन धर्मकी प्रामाणिकता नष्ट हो जायगी ॥१९७॥ इसलिए सर्वप्रकारके प्रयत्नोंसे इस सनातन धर्मकी रक्षा करनी चाहिए, क्योंकि भली-भाँतिसे संरक्षित धर्म ही इस चर (त्रस), अचर (स्थावर) प्राणियोंसे भरे जगत्‌में जीवकी रक्षा करता है ॥१९८॥ इसीप्रकार धर्ममें स्थिर रहनेवाले द्विजको अपने अदण्डत्वका भी अधिकार है, क्योंकि धर्मस्थ पुरुष ही दूसरे अपराधीको दण्ड देनेमें समर्थ हो सकता है ॥१९९॥ इसलिए धर्म-दर्शी लोगोंके द्वारा बतलायी गयी धर्मात्मा जनोंकी आम्नायका विचार करता हुआ धार्मिक राजा अधर्मस्थ लोगोंमें दण्डका प्रणेता माना गया है, अर्थात् धार्मिक राजा ही अधर्मियोंको दण्ड देनेका अधिकारी है ॥२००॥ जिस प्रकार अपना हित चाहनेवाले लोगोंको देव-द्रव्य और गुरु-द्रव्यका परिहार (त्याग) करना आवश्यक है, उसी प्रकार ब्राह्मणका धन भी त्याग करनेके योग्य है और इसीलिए ही द्विज दण्ड देनेके योग्य नहीं है ॥२०१॥ इस युक्तिसे अपनेमें अधिक गुणोंका आरोप करता हुआ वह जितेन्द्रिय ब्राह्मण दण्ड देनेके अधिकारी राजा आदि पुरुषोंके सम्मुख अपने आपको अदण्ड्य अर्थात् दण्ड न देनेके योग्य पक्षमें स्थापित करे ॥२०२॥ इस अदण्ड्य अधिकारके अभावमें अन्य पुरुषोंके समान ब्राह्मण भी दण्डनीय हो जायगा और उसके फलस्वरूप वह दरिद्रताको प्राप्त होकर न इस लोकमें ही सुखी रह सकेगा और न पर-लोकमें ही सुखी हो सकेगा ॥२०३॥ भलीभाँतिसे चिरकाल तक सुभावित सम्मानके योग्य आचरण ही ब्राह्मणको मान्यपना प्रदान करता है, क्योंकि अधिक गुणोंवाला पुरुष ही उत्तम पुरुषोंके द्वारा मान्य, वन्द्य और पूजनीय होता है ॥२०४॥ सम्मानके योग्य गुणोंके अभावमें इस द्विजको उत्तम पुरुषोंके द्वारा मान्यपना नहीं प्राप्त होगा और इस कारण उनसे स्थान, मान, आसनादिके न मिलनेसे वह ब्राह्मण अपने पदसे च्युत हो जावेगा। इसलिए द्विजको चाहिए कि वह यह मान्यत्वगुण बड़े यत्नसे अपने

स्यात् प्रजान्तरसम्बन्धे स्वोन्नतेरपरिच्युतिः । याऽस्य सोक्ता प्रजासम्बन्धान्तरं नामतो गुणः ॥२०७
यथा कालायसाविद्धं स्वर्णं याति विवर्णताम् । न तथाऽस्यान्यसम्बन्धे स्वगुणोत्कर्षविप्लवः ॥२०८
किन्तु प्रजान्तरं स्वेन सम्बद्धं स्वगुणानयम् । प्रापयत्यचिरादेव लोहधातुं यथा रसः ॥२०९
ततो महानयं धर्मप्रभावोद्योतको गुणः । येनायं स्वगुणैरन्यानात्मसात्कर्तुमर्हति ॥२१०

असत्यस्मिन् गुणेऽन्यस्मात् प्राप्नुयात् स्वगुणच्युतिम् ।
सत्येवं गुणवत्तास्य निष्कृष्येत द्विजन्मनः ॥२११

अतोऽतिबालविद्यादीन्नियोगान् दशधोदितान् । यथार्हमात्मसात्कुर्वन् द्विजः स्याल्लोकसम्मतः ॥२१२
गुणेष्वेव विशेषोऽन्यो यो वाच्यो बहुविस्तरः । स उपासकसिद्धान्तादधिगम्य प्रपञ्चतः ॥२१३
क्रियामन्त्रानुषङ्गेण व्रतचर्याक्रियाविधौ । दशाधिकारा व्याख्याताः सद्वृत्तैराहृता द्विजैः ॥२१४
क्रियामन्त्रास्त्विह ज्ञेया ये पूर्वमनुवर्णिताः । सामान्यविषयाः सप्त पीठिका मन्त्ररूढयः ॥२१५
ते हि साधारणाः सर्वक्रियासु विनियोगिनः । तत औत्सर्गिकानेतान् मन्त्रान् मन्त्रविदो विदुः ॥२१६

भीतर सम्पादन करे। ज्ञान और चारित्र आदिका धारण करना ही मान्यत्व गुण प्राप्त करनेका प्रयत्न कहलाता है, अतएव द्विजोंको ज्ञान और चारित्ररूपी सम्पत्ति कभी नहीं छोड़ना चाहिए ॥२०५-२०६॥ अब आगे ब्राह्मणका प्रजान्तर सम्बन्ध गुण कहते हैं—प्रजान्तर अर्थात् अन्य धर्मावलम्बियोंके साथ सम्बन्ध होनेपर भी अपनी उन्नतिसे च्युत नहीं होना ही ब्राह्मणका प्रजान्तरसम्बन्ध नामक गुण कहा गया है ॥२०७॥ जिस प्रकार काले लोहेके साथ मिला हुआ सुवर्ण विरूपताको प्राप्त हो जाता है, उस प्रकारसे अन्य पुरुषोंके साथ सम्बन्ध होनेपर भी इस ब्राह्मणके अपने गुणोंके उत्कर्षमें कोई विप्लव या बाधाका प्रादुर्भाव नहीं होता है, अर्थात् लोहे के सम्बन्धसे सोना तो खराब हो जाता है, पर उत्तम द्विजमें अन्य धर्मावलम्बियोंके साथ सम्बन्ध होनेपर भी कोई खराबी नहीं आती है ॥२०८॥ किन्तु जैसे रसायन अपने साथ सम्बन्ध रखनेवाले लोहेको शीघ्र ही अपने गुण प्राप्त करा देती है, अर्थात् सोना बना देती है, उसी प्रकार यह ब्राह्मण भी अपने साथ सम्बन्ध रखनेवाले अन्य पुरुषोंको शीघ्र ही अपने गुण प्राप्त करा देता है ॥२०९॥ इस लिए कहना चाहिए कि यह प्रजान्तर सम्बन्ध धर्मके प्रभावका उद्योत करनेवाला महान् गुण है, क्योंकि इसीके द्वारा यह द्विज अपने गुणों से अन्य लोगोंको आत्मसात् करनेके योग्य होता है, अर्थात् उन्हें अपने समान बना लेता है ॥२१०॥ इण गुणके अभावमें अन्य लोगोंके सम्बन्धसे यह अपने गुणोंसे च्युत हो सकता है और ऐसा होनेपर इस द्विजकी गुणवत्ता ही नष्ट हो जायगी ॥२११॥ अतएव अतिबालविद्या आदि जो दश प्रकारके अधिकार निरूपण किये हैं, उन्हें यथायोग्य रीतिसे आत्मसात् करनेवाला द्विज ही लोगोंका मान्य हो सकता है ॥२१२॥ इन गुणरूप दश अधिकारोंमें जो अन्य विशेष गुण बहुत विस्तारके साथ विवेचन करनेके योग्य हैं, उन्हें उपासकाध्ययनसिद्धान्तसे विस्तारके साथ जान लेना चाहिए ॥२१३॥ इस प्रकार व्रतचर्या नामक क्रियाकी विधिका वर्णन करते समय उस क्रियाके योग्य मंत्रोंके प्रसंगसे सदाचार-सम्पन्न द्विजोंके द्वारा आदरणीय दश अधिकारोंका निरूपण किया ॥२१४॥ इसप्रकरणमें जिनका वर्णन पहले किया गया है, उन्हें क्रियामंत्र जानना चाहिए और जो सात पीठिकामंत्र नामसे प्रसिद्ध हैं, उन्हें सर्व क्रियाओंमें प्रयोग किये जानेवाले सामान्य मंत्र जानना चाहिए ॥२१५॥ ये पीठिका नामवाले साधारण मंत्र सभी क्रियाओंमें काम आते हैं, अतः मंत्रवेत्ता विद्वान् उन्हें औत्स-

विशेषविषयाः मन्त्राः क्रियासूक्तासु दर्शिताः । इतः प्रभृति चाभ्यूह्यास्ते यथाम्नायमग्रजैः ॥२१७
मन्त्रानिमान् यथायोगं यः क्रियासु नियोजयेत् । स लोके सम्मतिं याति युक्ताचारो द्विजोत्तमः ॥२१८
क्रियामन्त्रविहीनास्तु प्रयोक्तॄणां न सिद्धये । यथा सुकृतसन्नाहाः सेनाध्यक्षा विनायकाः ॥२१९
ततो विधिममुं सम्यगवगम्य कृतागमैः । विधानेन प्रयोक्तव्याः क्रियामन्त्रपुरस्कृताः ॥२२०

वसन्ततिलकावृत्तम्

इत्थं स धर्मविजयी भरताधिराजो, धर्मक्रियासु कृतधीर्नृपलोकसाक्षि ।
तान् सुव्रतान् द्विजवरान् विनियम्य सम्यक्, धर्मप्रियः समसृजत् द्विजलोकसर्गम् ॥२२१

मालिनी

इति भरतनरेन्द्रात् प्राप्तसत्कारयोगा व्रतपरिचयचारूदारवृत्ताः श्रुताढ्याः ।
जिनवृषभमतानुव्रज्यया पूज्यमाना जगति बहुमतास्ते ब्राह्मणाः ख्यातिमीयुः ॥२२२
वृतस्थानथ तान् विधाय सभवानिक्ष्वाकुचूडामणिः,
जैने वर्त्मनि सुस्थितान् द्विजवरान् सम्मानयन् प्रत्यहम् ।
स्वं मेने कृतिनं मुदा परिगतां स्वां सृष्टिमुच्चैः कृतां,
पश्यन् कः सुकृती कृतार्थपदवीं नात्मानमारोपयेत् ॥२२३

गिक मंत्र कहते हैं ॥२१६॥ इनके अतिरिक्त जो विशेष मंत्र हैं, वे ऊपर कहीं हुई क्रियाओंमें बतला आये है ? अवव्रतचर्यासे आगेके जो मंत्र हैं, वे अग्रजन्मा द्विजोंको आम्नायकेअनुसार स्वयं ही समझ लेना चाहिए ॥२१७॥ जो इन मंत्रोकों क्रियाओंमें यथायोग्य रूपसे उपयोग करता है, वह योग्य आचरण करनेवाला उत्तम द्विज लोकमें सन्मानको प्राप्त होता है ॥२१८॥ जिस प्रकार अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित सेनाध्यक्ष विना नायक (स्वामी या राजा) के कुछ भी नहीं कर सकते हैं, उसी प्रकार मंत्र-विहीन क्रियाएँ भी प्रयोग करने वाले पुरुषों की किसी भी कार्य की सिद्धि करनेके लिये समर्थ नहीं हैं ॥२१९॥ इसलिए शास्त्रोंका अभ्यास करनेवाले द्विजोंको यह सब विधि भली भांतिसे जान-कर मंत्रोच्चारणके साथ सब क्रियाएं विधिपूर्वक करनी चाहिए ॥२२०॥ इस प्रकार उस धर्मविजयी धर्मप्रिय, कृतबुद्धि भरत महाराजने राजा लोगोंकी साक्षीपूर्वक सद्-वृत-धारक उत्तम द्विजोंको सम्यक् प्रकारसे नियमन करके ब्राह्मण लोगोंकी सृष्टि रचो' अर्थात् ब्राह्मणवर्ण की स्थापना की ॥२२१॥ इस प्रकार भरतनरेन्द्रसे सम्मान-सत्कार पानेवाले, व्रतोंके अभ्याससे सुन्दर आचारके धारक, शास्त्र-ज्ञानसे सम्पन्न, श्री वृषभजिनेन्द्रके मतानुसार धारण की गई दीक्षासे पूज्यमान वे ब्राह्मण जगत्में सर्वजनोंसे सम्मानको प्राप्त कर प्रसिद्धिको प्राप्त हुए ॥२२२॥ तदनन्तर इक्ष्वाकुकुल चूड़ामणि पूज्य वह सम्राट् भरत जैनमार्ग में सम्यक् प्रकार से अवस्थित और व्रतोंका भलीभांतिसे पालन करनेवाले उन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंकी सृष्टि करके प्रतिदिन उनका सम्मान करते हुए अपने आप-को धन्य मानने लगे, सो ठीक ही है, क्योंकि ऐसा कौन सुकृती है, जो आनन्दसे परिणत एवं उत्कृष्टताको प्राप्त अपनी सृष्टि को देखता हुआ अपने आपको कृतकृत्य न माने ? अर्थात् अपनी

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्य प्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसङ्ग्रहे द्विजोत्पत्ती क्रियामन्त्रानुवर्णनं नाम—चत्वारिंशत्तमं पर्व ॥४०॥

—: ० :—

सुन्दर कृतिको देखकर सभी लोग अपनेको कृतार्थ मानते हैं ॥२२३॥

इस प्रकार भगवज्जिनसेनाचार्य प्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराण संग्रहमें द्विजोंकी क्रिया मंत्रोंका वर्णन करनेवाला यह चालीसवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥४०॥

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

तज्जयति परं ज्योतिः समं समस्तैरनन्तपर्यायैः ।
दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र ॥१
परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥२
लोकत्रयैकनेत्रं निरूप्य परमागमं प्रयत्नेन । अस्माभिरुपोद्ध्रियते पुरुषार्थसिद्धयुपायोऽयम् ॥३
मुख्योपचारविवरणनिरस्तदुस्तरविनेयदुर्बोधाः । व्यवहार-निश्चयज्ञाःप्रवर्तयन्ते जगति तीर्थम् ॥४
निश्चयमिह भूतार्थं व्यवहारं वर्णयन्त्यभूतार्थम् । भूतार्थबोधविमुखः प्रायः सर्वोऽपि संसारः ॥५
अबुधस्य बोधनार्थं मुनीश्वरा देशयन्त्यभूतार्थम् ।
व्यवहारमेव केवलमवैति यस्तस्य देशना नास्ति ॥६
माणवक एव सिंहो यथा भवत्यनवगीतसिंहस्य ।
व्यवहार एव हि तथा निश्चयतां यात्यनिश्चयज्ञस्य ॥७
व्यवहार-निश्चयौ यः प्रबुध्य तत्त्वेन भवति मध्यस्थः ।
प्राप्नोति देशनायाः स एव फलमविकलं शिष्यः ॥८
अस्ति पुरुषश्चिदात्मा विवर्जितः स्पर्शगन्धरसवर्णैः ।
गुण-पर्ययसमवेतः समाहितः समुदयव्ययध्रौव्यैः ॥९

वह परं ज्योति सदा जयवन्ती रहे, जिसमें समस्त अनन्त पर्यायोंके साथ सर्व पदार्थोंकी माला दर्पण तलके समान प्रतिबिम्बित होती है ॥१॥ जो परमागमका बीज है, जन्मान्ध पुरुषोंकी हस्तिकल्पनाके विधानका निषेधक है और सकल नयोंके विषयभूत वस्तु-स्वभावोंका विरोध मथन करनेवाला है, ऐसे अनेकान्तवादको मैं नमस्कार करता हूँ ॥२॥ तीन लोक-गत पदार्थोंको देखनेके लिए अद्वितीय नेत्ररूप परमागमका निरूपण कर हमारे द्वारा प्रयत्नके साथ विद्वानोंके लिए यह पुरुषार्थसिद्धिका उपायरूप ग्रन्थ उद्धार किया जाता है ॥३॥ मुख्य और उपचारके विवरणसे शिष्यों-के अतिदुस्तर अज्ञानके दूर करने वाले व्यवहारनय और निश्चयनयके ज्ञाता पुरुष संसारमें धर्मतीर्थ-का प्रवर्तन करते हैं ॥४॥ विद्वान् लोग इन दोनों नयोंमेंसे निश्चयनयको भूतार्थ (यथार्थ) और व्यवहारनयको अभूतार्थ (अयथार्थ) कहते हैं। प्रायः सभी संसार यथार्थज्ञानसे विमुख है ॥५॥ मुनीश्वर लोक अज्ञ पुरुष को समझानेके लिए अभूतार्थ (व्यवहार) नयका उपदेश करते हैं। जो पुरुष केवल व्यवहारनयको ही साध्य जानता है, उसके लिए उपदेश नहीं हैं ॥६॥ जैसे सिंहके नहीं जाननेवाले पुरुषके लिए माणवक (बिलाव) ही सिंह है, उसी प्रकार निश्चयके नहीं जानने वाले पुरुषके व्यवहार ही निश्चयनयकी रूपताको प्राप्त होता है ॥७॥ जो पुरुष तात्त्विक रूपसे व्यवहार और निश्चयनयको जानकर मध्यस्थ रहता है, अर्थात् किसी एक नयका आग्रही नहीं होता, वह शिष्य ही भगवान्की देशनाके अविकल फलको प्राप्त करता है ॥८॥ यह पुरुष चेतनास्वरूप है, स्पर्श रस गन्ध वर्णसे रहित है, अपने गुण-पर्यायोंसे समवेत है और उत्पाद व्यय ध्रौव्यसे समाहित है ॥९॥ यह चेतन आत्मा अनादिकालकी परम्परासे अपने ज्ञान-पर्यायोंके द्वारा नित्य परिणमन करता

परिणममानो नित्यं ज्ञानविवर्त्तैरनादिसन्तत्या ।
परिणामानां स्वेषां स भवति कर्ता च भोक्ता च ॥१०
सर्वविवर्त्तोत्तीर्णं यदा स चैतन्यमचलमाप्नोति ।
भवति तदा कृतकृत्यः सम्यक्पुरुषार्थसिद्धिमापन्नः ॥११
जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये । स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन ॥१२
परिणममानस्य चितश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः ।
भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि ॥१३
एवमयं कर्मकृतैर्भावैरसमाहितोऽपि युक्त इव । प्रतिभाति बालिशानां प्रतिभासः स खलु भवबीजम् ॥१४
विपरीताभिनिवेशं निरस्य सम्यग् व्यवस्य निजतत्त्वम् ।
यत्तस्मादविचलनं स एव पुरुषार्थसिद्ध्युपायोऽयम् ॥१५
अनुसरतां पदमेतत् करम्बिताचार नित्यनिरभिमुखाः ।
एकान्तविरतिरूपा भवति मुनीनामलौकिकी वृत्तिः ॥१६
बहुशः समस्तविरतिं प्रदर्शितां यो न जातु गृह्णाति । तस्यैकदेशविरतिः कथनीयाऽनेन बीजेन ॥१७
यो यतिधर्ममकथयन्नुपदिशति गृहस्थधर्ममल्पमतिः ।
तस्य भगवत्प्रवचने प्रदर्शितं निग्रहस्थानम् ॥१८
अक्रमकथनेन यतः प्रोत्सहमानोऽतिदूरमपि शिष्यः ।
अपदेऽपि सम्प्रतृप्तः प्रतारितो भवति तेन दुर्मतिना ॥१९

हुआ अपने परिणामोंका कर्त्ता भी है और भोक्ता भी है ॥१०॥ जब यह सर्व विभावपर्यायोंसे उत्तीर्ण (पार) होकर अचल चैतन्यस्वरूपको प्राप्त करता है, तब वह सच्ची पुरुषार्थसिद्धिको पाकर कृत-कृत्य होता है ॥११॥ इस संसारमें जीवकृत रागादिरूप परिणामका निमित्तमात्र पाकर पुनः अन्य पुद्गल स्वयमेव ही कर्मरूपसे परिणत हो जाते हैं ॥१२॥ अपने चिदात्मक रागादि भावोंके द्वारा स्वयं ही परिणमन करने वाले उस चेतन आत्माके भी पौद्गलिक कर्म निमित्तमात्र ही होता है ॥१३॥ इस प्रकार यह आत्मा कर्म-कृत भावोंसे असंयुक्त होते हुए भी अज्ञानी जनोंको संयुक्तके समान प्रति-भासित होता है और उसका यह प्रतिभास ही निश्चयसे उसके संसारका—जन्म-मरणका—बीज है ॥१४॥ जब यह विपरीत अभिनिवेशको दूर कर और निज-स्वरूपको सम्यक् प्रकारसे निश्चय कर उससे अविचल होता है, तब यह वही जीवके अपने पुरुषार्थको सिद्ध करनेका उपाय है ॥१५॥ पुरुषार्थसिद्धिके इस पदका अनुसरण करनेवाले मुनिजनोंकी पापक्रिया-मिश्रित आचारसे सर्वदा पराङ्मुख और एकान्त विरति-(सर्वथा त्याग-) रूप अलौकिक वृत्ति होती है ॥१६॥ जो पुरुष अनेक बार उपदेश की गई समस्त विरतिको कदाचित् ग्रहण नहीं करता है, तो उसे इस बीज-(कारण-) से एक देशविरति कहना चाहिए ॥१७॥ जो अल्प बुद्धि पुरुष यति धर्मको नहीं कहता हुआ गृहस्थ धर्मका उपदेश देता है, उसका भगवत्प्रवचनमें निग्रहस्थान प्रदर्शित किया गया है । अर्थात् जो उप-देष्टा पहले मुनिधर्मका उपदेश न देकर श्रावक धर्मका उपदेश देता है, वह जिनागममें दण्डका पात्र कहा गया है ॥१८॥ क्योंकि मुनिधर्मको धारण करनेके लिए प्रोत्साहित हुआ भी शिष्य उस उप-देशकके अक्रमकथनसे अपद (हीन श्रावकपद) में ही सन्तुष्ट हो जाता है, अतः उस दुर्मतिके द्वारा वह अतिदूर तक (दीर्घकालके लिए) ठगा गया है ॥१९॥ इस प्रकार उस गृहस्थको भी सम्यग्दर्शन,

एवं सम्यग्दर्शनबोधचरित्रत्रयात्मको नित्यम् ।
तस्यापि मोक्षमार्गो भवति निषेव्यो यथाशक्तिः ॥२०
तत्रादौ सम्यक्त्वं समुपाश्रयणीयमखिलयत्नेन । तस्मिन् सत्येव यतो भवति ज्ञानं चरित्रं च ॥२१
जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्तव्यम् । श्रद्धानं विपरीताभिनिवेशविविक्तमात्मरूपं तत् ॥२२
सकलमनेकान्तात्मकमिदमुक्तं वस्तुजातमखिलज्ञैः ।
किमु सत्यमसत्यं वा न जातु शङ्केति कर्त्तव्या ॥२३
इह जन्मनि विभवादीनमुत्र चक्रित्व-केशवत्वादीन् ।
एकान्तवाददूषितपरसमयानपि च न काङ्क्षेत् ॥ २४
क्षुत्तृष्णाशीतोष्णप्रभृतिषु नानाविधेषु भावेषु । द्रव्येषु पुरीषादिषु विचिकित्सा नैव करणीया ॥२५
लोके शास्त्राभासे समयाभासे च देवताभासे । नित्यमपि तत्त्वरुचिना कर्त्तव्यममूढदृष्टित्वम् ॥२६
धर्मोऽभिवर्धनीयः सदाऽऽत्मनो मार्दवादिभावनया । परदोषनिगूहनमपि विधेयमुपबृंहणगुणार्थम् ॥२७
कामक्रोधमदादिषु चलयितुमुदितेषु वर्त्मनो न्यायात् ।
श्रुतमात्मनः परस्य च युक्त्या स्थितिकरणमपि कार्यम् ॥२८
अनवरतमहिंसायां शिवसुखलक्ष्मीनिबन्धने धर्मे ।
सर्वेष्वपि च सधर्मिषु परमं वात्सल्यमालम्ब्यम् ॥२९
आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रयतेजसा सततमेव । दानतपोजिनपूजाविद्यातिशयैश्च जिनधर्मः ॥३०

ज्ञान, चारित्ररूप रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग यथाशक्ति नित्य ही सेवनीय है ॥२०॥ इन तीनोंमेंसे आदिमें सर्व प्रकारके प्रयत्नसे सम्यग्दर्शन उत्तम रीतिसे अंगीकार करना चाहिए, क्योंकि उसके होने पर ही ज्ञान और चारित्र सम्यक्पनेको प्राप्त होते हैं ॥२१॥ जीव-अजीव आदि सात तत्त्वोंके यथार्थ स्वरूपका विपरीत अभिनिवेशसे रहित सदा ही श्रद्धान करना चाहिए, क्योंकि वह आत्माका स्वरूप है ॥२२॥ अब आचार्य सम्यक्त्वके आठ अंगोंका वर्णन करते हैं—१. निःशङ्कित अङ्ग—सर्वज्ञ देवोंके द्वारा यह समस्त वस्तु-समुदाय अनेक धर्मात्मक कहा गया है, सो क्या यह सत्य है, अथवा असत्य है, ऐसी शङ्का कदाचित् भी नहीं करना चाहिए ॥२३॥ २. निःकाङ्क्षित अङ्ग—इस जन्ममें ऐश्वर्य सम्पदा आदिकी और परभवमें चक्रवर्ती, नारायण आदिके पद पानेकी, तथा एकान्तवादसे दूषित अन्य मतोंकी भी आकांक्षा नहीं करना चाहिए ॥२४॥ ३. निर्विचिकित्सा अङ्ग—भूख-प्यास, शीत-उष्ण आदि नाना प्रकारके भावोंमें, तथा मल-मूत्रादि द्रव्योंमें ग्लानि नहीं करना चाहिए ॥२५॥ ४. लोकाचारमें, मिथ्याशास्त्रोंमें, मिथ्याधर्मोंमें और मिथ्यादेवताओंमें तत्त्वश्रद्धानी पुरुषको सदा ही मूढ़ता-रहित दृष्टि रखना चाहिए ॥२६॥ ५. उपगूहन अंग—मार्दव आदिकी भावनासे सदा ही आत्माके धर्मको बढ़ाना चाहिए। तथा आत्मगुणोंके बढ़ानेके लिए पराये दोषोंका उपगूहन भी करना चाहिए ॥२७॥ ६. स्थितिकरण अङ्ग—काम क्रोध मद आदि भावोंके उदय होनेपर न्यायमार्गसे चलते (डिगते) हुए अपने आपका और अन्य पुरुषका जिसप्रकार भी संभव हो, उस प्रकारकी युक्तिसे स्थितिकरण भी करना चाहिए ॥२८॥ ७. वात्सल्य अङ्ग—अहिंसामें, शिव-सुखरूप लक्ष्मी-प्राप्तिके कारणभूत रत्नत्रय धर्ममें और सभी साधर्मी जनोंमें परम वात्सल्यका आलम्बन करना चाहिए ॥२९॥ ८. प्रभावना अङ्ग—रत्नत्रयके तेजसे निरन्तर ही अपनी आत्माको प्रभावित करना चाहिए तथा दान तप जिन-पूजन और विद्याके अतिशयके द्वारा जिनधर्मकी प्रभावना करना चाहिए ॥३०॥

इत्याश्रितसम्यक्त्वैः सम्यग्ज्ञानं निरूप्य यत्नेन । आम्नाययुक्तियोगैः समुपास्यं नित्यमात्महितैः ॥३१
पृथगाराधनमिष्टं दर्शनसहभाविनोऽपि बोधस्य । लक्षणभेदेन यतो नानात्वं सम्भवत्यनयोः ॥३२
सम्यग्ज्ञानं कार्यं सम्यक्त्वं कारणं वदन्ति जिनाः । ज्ञानाराधनमिष्टं सम्यक्त्वानन्तरं तस्मात् ॥३३
कारणकार्यविधानं समकालं जायमानयोरपि हि । दीप-प्रकाशयोरिव सम्यक्त्वज्ञानयोः सुघटम् ॥३४
कर्त्तव्योऽध्यवसायः सदनेकान्तात्मकेषु तत्त्वेषु । संशयविपर्ययानध्यवसायविविक्तमात्मरूपं तत् ॥३५
ग्रन्थार्थोभयपूर्णं काले विनयेन सोपधानं च । बहुमानेन समन्वितमनिह्नवं ज्ञानमाराध्यम् ॥३६
विगलितदर्शनमोहैः समञ्जसज्ञानविदिततत्त्वार्थैः । नित्यमपि निःप्रकम्पैः सम्यक्चारित्रमालम्ब्यम् ॥३७
न हि सम्यग्व्यपदेशं चारित्रमज्ञानपूर्वकं लभते । ज्ञानान्तरमुक्तं चारित्राराधनं तस्मात् ॥३८

चारित्रं भवति यतः समस्तसावद्ययोगपरिहरणात् ।
सकलकषायविमुक्तं विशदमुदासीनमात्मरूपं तत् ॥३९

इस प्रकार जिन्होंने सम्यक्त्वका आश्रय लिया है, और जो आत्महितके इच्छुक हैं, उन पुरुषोंको आगमकी आम्नाय और प्रमाण नयरूप युक्तिके योगसे प्रयत्नके साथ वस्तुस्वरूपका विचारकर नित्य ही सम्यग्ज्ञानकी उपासना करना चाहिए ॥३१॥ सम्यग्दर्शनके साथही उत्पन्न होनेवाले सम्यग्ज्ञानकी आराधना पृथक् रूपसे ही करना चाहिए, क्योंकि लक्षणके भेदसे इन दोनोंमें भिन्नता है ॥३२॥ जिनदेवने सम्यक्त्वको कारण और सम्यग्ज्ञानको कार्य कहा है । अतः सम्यक्त्वके अनन्तर ज्ञानकी आराधना इष्ट है ॥३३॥ एक साथ उत्पन्न होनेवाले भी इन सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानमें दीपक और प्रकाशके समान कारण और कार्यका विधान भले प्रकार घटित होता है ॥३४॥ सद्-रूप अनेक धर्मात्मक तत्त्वोंमें संशय, विपर्यय और अनध्यवसायसे रहित अध्यवसाय अर्थात् जाननेका प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि यह सम्यग्ज्ञान आत्माका स्वरूप है ॥३५॥ मूलग्रन्थ, उसका अर्थ और इन दोनोंकी पूर्ण शुद्धिके साथ योग्यकालमें विनय, धारणा और बहुमानके साथ निह्नव-रहित होकर सम्यग्ज्ञानकी आराधना करना चाहिए ॥३६॥ भावार्थ—जैसे सम्यग्दर्शनकी आराधनाके निःशङ्कित आदि आठ अङ्ग बतलाये गये हैं, उसी प्रकार सम्यग्ज्ञानको आराधना करनेके भी ये आठ अङ्ग बतलाये गये हैं—१. ग्रन्थाचार, २. अर्थाचार, ३. उभयाचार, ४. कालाचार, ५. विनयाचार, ६. उपधानाचार, ७. बहुमानाचार और ८. अनिह्नवाचार। मूलग्रन्थके शब्दोंका शुद्ध उच्चारण एवं पठन-पाठन करना ग्रन्थाचार है। मूलग्रन्थके अर्थका शुद्ध अवधारण करना अर्थाचार है। मूल और उसका अर्थ, इन दोनोंका शुद्ध पठन-पाठन करना उभयाचार है। दिग्दाह, उल्कापात, सूर्य-चन्द्रग्रहण, सन्ध्याकाल आदि अस्वाध्यायके कालको छोड़कर स्वाध्यायके योग्य समयमें शास्त्रोंका पठन-पाठन करना कालाचार है। द्रव्य, क्षेत्र आदिकी शुद्धिपूर्वक विनयसे शास्त्राभ्यास करना विनयाचार है। शास्त्रके मूल एवं अर्थका बार-बार स्मरण करना और उसे विस्मरण नहीं होने देना उपधानाचार है। ज्ञानके उपकरण एवं गुरुजनोंका विनय करना बहुमानाचार है। जिस शास्त्र या गुरुसे ज्ञान प्राप्त किया हो, उसका नाम न छिपाना अनिह्नवाचार है। सम्यग्ज्ञानकी आराधनाके लिए इन आठ अङ्गोंका पालना आवश्यक है। जिनका दर्शनमोहकर्म दूर हो गया है, जिन्होंने सम्यग्ज्ञानके द्वारा तत्त्वार्थको भली-भाँतिसे जान लिया है और जो सदा ही निष्कम्प चित्त रहते हैं, ऐसे सम्यग्दृष्टि और सम्यग्ज्ञानी पुरुषोंको सम्यक् चारित्र धारण करना चाहिए ॥३७॥ यतः अज्ञानपूर्वक धारण किया गया चारित्र सम्यक् नाम नहीं पाता है, अतः सम्यग्ज्ञानकी प्राप्तिके पश्चात् चारित्रका आराधन करना कहा गया है ॥३८॥ यतः चारित्र

हिंसातोऽनृतवचनात्स्तेयादब्रह्मतः परिग्रहतः । कार्त्स्न्यैकदेशविरतेश्चारित्रं जायते द्विविधम् ॥४०

निरतः कार्त्स्न्यनिवृत्तौ भवति यतिः समयसारभूतोऽयम् ।
या त्वेकदेशविरतिर्निरतस्तस्यामुपासको भवति ॥४१

आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत् । अनृतवचनादिकेवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय ॥४२

यत्खलु कषाययोगात् प्राणानां द्रव्य-भावरूपाणाम् ।
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा ॥४३

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति । तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥४४

युक्ताचरणस्य सतो रागाद्यावेशमन्तरेणापि । न हि भवति जातु हिंसा प्राणव्यपरोपणादेव ॥४५

व्युत्थानावस्थायां रागादीनां वशप्रवृत्तायाम् । म्रियतां जीवो मा वा धावत्यग्रे ध्रुवं हिंसा ॥४६

यस्मात् सकषायः सन् हन्त्यात्मा प्रथममात्मनात्मानम् ।
पश्चाज्जायेत न वा हिंसा प्राण्यन्तराणां तु ॥४७

हिंसायामविरमणं हिंसापरिणमनमपि भवति हिंसा ।
तस्मात् प्रमत्तयोगे प्राणव्यपरोपणं नित्यम् ॥४८

सूक्ष्मापि न खलु हिंसा परवस्तुनिबन्धना भवति पुंसः ।
हिंसायतननिवृत्तिः परिणामविशुद्धये तदपि कार्या ॥४९

समस्त सावद्ययोगके परिहारसे उत्पन्न होता है, सकल कषायोंसे रहित होनेपर निर्मलता धारण करता है और सर्व पदार्थोंमें उदासीन रूप है, अतः वह आत्म-स्वरूप है ॥३९॥ यतः हिंसासे, असत्य-वचनसे, चोरीसे, कुशीलसे और परिग्रहसे सर्वदेश विरति होनेपर सकल चारित्र और एकदेश विरति होनेपर देशचारित्र होता है, अतः चारित्र दो प्रकारका है ॥४०॥ जो हिंसादि सर्व पापोंकी पूर्ण निवृत्तिमें निरत है, वह समयसारभूत साधु कहलाता है । और जो उक्त पापोंकी एकदेशनिवृत्तिमें निरत है, वह उपासक या श्रावक कहलाता है ॥४१॥ आत्माके शुद्ध परिणामोंके घात करनेके कारण होनेसे सभी पाप हिंसारूप ही हैं । किन्तु असत्यवचनादिक पापोंके भेद आचार्योंने केवल शिष्योंके समझानेके लिए ही कहे हैं ॥४२॥ जो कषायके योगसे द्रव्य और भावरूप प्राणोंका घात किया जाता है, वह निश्चितरूपसे हिंसा है ॥४३॥ रागादि भावोंका उत्पन्न नहीं होना ही अहिंसा है और उनका उत्पन्न होना ही हिंसा है, इतना ही जैन आगमका सार है ॥४४॥ प्रमाद-रहित होकर सावधानी-पूर्वक योग्य आचरण करनेवाले सन्तपुरुषके रागादि भावोंके आवेशके विना केवल प्राण-घात हो जानेसे वह कदाचित् भी हिंसा नहीं कहलाती है ॥४५॥ किन्तु प्रमाद-अवस्थामें रागादि भावोंके आदेशसे अयत्माचारी प्रवृत्ति होनेपर जीव मरे, या न मरे, किन्तु हिंसा निश्चयसे आगे ही दौड़ती है ॥४६॥ क्योंकि प्रमाद-परिणत जीव कषाय-सहित होकर पहले अपने द्वारा अपना ही घात करता है, भले ही पीछे अन्य प्राणियोंकी हिंसा हो, या न हो ॥४७॥ हिंसामें अविरत भाव हिंसा है और हिंसारूप परिणमन होना भी हिंसा है । इसलिए प्रमाद युक्त योग होने पर नित्य ही प्राणघातका सद्भाव है । अर्थात् जब तक जीवके प्रमत्त योग विद्यमान है, तब तक वह हिंसक ही है ॥४८॥ यद्यपि निश्चयसे जीवके परवस्तुनिमित्तक सूक्ष्म भी हिंसा नहीं होती है, तथापि परिणामोंकी विशुद्धि-के लिए हिंसाके आधारभूत असत्य भाषण, परिग्रह-संक्षरण आदि पापोंकी निवृत्ति करना चाहिए ॥४९॥ जो पुरुष वस्तुके यथार्थस्वरूप निश्चयको नहीं जानता हुआ निश्चयसे उसें ही अङ्गीकार

निश्चयमबुध्यमानो यो निश्चयतस्तमेव संश्रयते ।
नाशयति करणचरणं स हि करणालसो बालः ।।५०
अविधायापि हि हिंसां हिंसाफलभाजनं भवत्येकः ।
कृत्वाप्यपरो हिंसां हिंसाफलभाजनं न स्यात् ।।५१
एकस्याल्पा हिंसा ददाति काले फलमनल्पम् । अन्यस्य महाहिंसा स्वल्पफला भवति परिपाके ।।५२
एकस्य सैव तीव्रं दिशति फलं सैव मन्दमन्यस्य ।
व्रजति सहकारिणोरपि हिंसा वैचित्र्यमत्र फलकाले ।।५३
प्रागेव फलति हिंसा क्रियमाणा फलति फलति च कृतापि ।
आरभ्य कर्तुमकृतापि फलति हिंसानुभावेन ।।५४
एकः करोति हिंसां भवन्ति फलभागिनो बहवः । बहवो विदधति हिंसां हिंसाफलभुग् भवत्येकः ।।५५

करता है, वह अज्ञानी बाहिरी क्रियाओंमें आलसी होकर अपने करण-चरणरूप शुद्धोपयोगका घात करता है ।।५०।। भावार्थ—जो पुरुष केवल अन्तरंग भावरूप हिंसाको ही हिंसा मानकर बाहिरी हिंसादि पापोंका त्याग नहीं करता है, वह निश्चय और व्यवहार दोनों ही प्रकारकी अहिंसासे रहित है । कोई जीव हिंसाको नहीं करके भी हिंसाके फलका भागी होता है और दूसरा हिंसा करके भी हिंसाके फलका भागी नहीं होता ।।५१।। भावार्थ—जिसके परिणाम हिंसारूप हुए हैं, चाहे वह हिंसा-का कोई कार्य कर न सके, तो भी वह हिंसाके फलको भोगेगा । तथा जिस जीव के शरीरसे किसी कारण हिंसा तो हो गयी, किन्तु परिणामोंमें हिंसक भाव नहीं आया, तो वह हिंसा के फलका भोक्ता नहीं है । किसी जीवके तो की गयी थोड़ी-सी भी हिंसा उदय-कालमें बहुत फलको देती है और किसी जीवके बड़ी भारी भी हिंसा उदय-कालमें अल्प फलको देती है ।।५२।। भावार्थ—जो पुरुष किसी कारणवश बाह्य हिंसा तो थोड़ी कर सका हो, परन्तु अपने परिणामोंको हिंसा भावसे अधिक संक्लिष्ट रखनेके कारण तीव्र बन्ध कर चुका हो, ऐसे पुरुषके उसकी अल्प हिंसा भी फलकालमें अधिक ही बुरा फल देगी । किन्तु जो पुरुष परिणामोंमें हिंसाके अधिक भाव न रखकर अचानक द्रव्यहिंसा बहुत कर गया है, वह फलकालमें अल्पफलका ही भागी होगा । एक साथ दो व्यक्तियोंके द्वारा मिल करके की गयी भी हिंसा उदयकालमें विचित्रताको प्राप्त होती है । अर्थात् वही हिंसा एक के तीव्र फल देती है और दूसरेको मन्द फल देती है ।।५३।। भावार्थ—यदि दो पुरुष मिलकर किसी जीवकी हिंसा करें, तो उनमेंसे जिसके परिणाम तीव्र कषायरूप हुए हैं, उसे हिंसाका फल अधिक भोगना पड़ेगा और जिसके मन्दकषायरूप परिणाम रहे हैं, उसे अल्पफल भोगना पड़ेगा । कोई हिंसा करने के पहले ही फल देती है और कोई हिंसा करते हुए ही फल देती है, कोई हिंसा कर चुकने पर फल देती है और कोई हिंसा करनेका आरम्भ करके न करनेपर भी फल देती है । इस प्रकार हिंसा कषाय भावोंके अनुसार फल देती है ।।५४।। भावार्थ—किसी जीवने हिंसा करनेका विचार किया, परन्तु अवसर न मिलनेके कारण वह हिंसा न कर सका, उन कषाय-परिणामोंके द्वारा बँधे हुए कर्मोंका फल उदयमें आ गया, पीछे इच्छित हिंसा करनेको समर्थ हुआ, तो ऐसी दशामें हिंसा करनेसे पहले ही उस हिंसाका फल भोग लिया जाता है । इसी प्रकार किसी ने हिंसा करनेका विचार किया और उस विचार-द्वारा बांधे हुए कर्मोंके फलको उदयमें आनेकी अवधि तक वह उस हिंसाको करनेमें समर्थ हो सका, तो ऐसी दशामें हिंसा करते समय ही उसका फल भोगता है । कोई जीव पहले

कस्यापि दिशति हिंसा हिंसाफलमेकमेव फलकाले । अन्यस्य सैव हिंसा दिशत्यहिंसाफलं विपुलम् ॥५६
हिंसाफलमपरस्य तु ददात्यहिंसा तु परिणामे । इतरस्य पुनर्हिंसा दिशत्यहिंसाफलं नान्यत् ॥५७
इति विविधभङ्गगहने सुदुस्तरे मार्गमूढदृष्टीनाम् । गुरवो भवन्ति शरणं प्रबुद्धनयचक्रसञ्चाराः ॥५८
अत्यन्तनिशितधारं दुरासदं जिनवरस्य नयचक्रम् ।
खण्डयति धार्यमाणं मूर्धानं झटिति दुर्विदग्धानाम् ॥५९
अवबुध्य हिंस्य-हिंसक-हिंसा-हिंसाफलानि तत्त्वेन । नित्यमवगूहमानैः निजशक्त्या त्यज्यतां हिंसा ॥६०
मद्यं मांसं क्षौद्रं पञ्चोदुम्बरफलानि यत्नेन । हिंसाव्युपरतकामैर्मोक्तव्यानि प्रथममेव ॥६१

हिंसा करके पीछे उदयकाल में फल पाता है। कोई जीव हिंसा करने का आरम्भ करके भी किसी कारणवश उसे नहीं कर पाता है, तो भी आरम्भजनित बन्धका फल उसे अवश्य ही भोगना पड़ता है, अर्थात् हिंसा न करने पर भी हिंसाका फल प्राप्त होता है। इस प्रकार जीवोंको कषायरूप भावोंके अनुसार ही हिंसाका फल मिलता है। एक जीव हिंसाको करता है, परन्तु फल भोगनेके भागी बहुत होते हैं। इसी प्रकार किसी हिंसाको अनेक पुरुष करते हैं, किन्तु हिंसाके फलका भोक्ता एक ही पुरुष होता है ॥५५॥ भावार्थ—किसी जीवको मारते हुए देखकर जो दर्शक लोग हर्षका अनुभव करते हैं, वे सभी उस हिंसाके फलके भागी होते हैं। इसी प्रकार युद्ध आदिमें हिंसा करने वाले तो अनेक होते हैं; किन्तु उनको आदेश देनेवाला अकेला राजा ही उस हिंसाके फलको भोगता है। किसी पुरुषको तो हिंसा उदयकालमें एकही हिंसाके फलको देती है और किसी पुरुषको वही हिंसा अहिंसाके विपुल फलको देती है ॥५६॥ भावार्थ—किसी वनमें ध्यानस्थ साधुको कोई सिंह उन्हें खानेके लिए उनपर आक्रमण करता है। उसी समय कोई सूकर मुनिकी रक्षा करनेके भावसे उस सिंह पर आक्रमण करता है। दोनों आपस में लड़कर मरण को प्राप्त होते हैं। उनमें से सिंह तो मुनिको खानेके भावसे हिंसक है, अतः उसके फलसे नरकमें जाता है। पर सूकर मुनि-रक्षाके भावसे सिंहके साथ युद्ध करते और उसे मारते हुए भी अहिंसाके विशाल फलको पाता है, अर्थात् स्वर्गमें जाकर महाऋद्धिधारक देव होता है। किसी पुरुषकी अहिंसा उदयकालमें हिंसाके फलको देती है, तथा अन्य पुरुषकी हिंसा फलकालमें अहिंसाके फलको देती है, अन्य फलको नहीं ॥५७॥ भावार्थ—कोई जीव किसी जीवके बुरा करनेका यत्न कर रहा हो, परन्तु उस जीवके पुण्योदयसे कदाचित् बुराईके स्थान पर भलाई हो जावे, तो भी बुराईका यत्न करनेवाला उसके फलका भागी होवेगा। इसी प्रकार कोई डॉक्टर अच्छा करनेके लिए किसीका आपरेशन कर रहा हो और कदाचित् वह रोगी मर जाय, तो भी डॉक्टर अहिंसाभावके फलको ही प्राप्त होगा, हिंसाके फलको नहीं प्राप्त होगा। इस प्रकार अत्यन्त कठिन और अनेक भंगोंसे गहन वनमें मार्ग-मूढ दृष्टिवाले जनोंको विविध प्रकारके नयचक्र-संचारके जानकार गुरुजन ही शरण होते हैं ॥५८॥ भावार्थ—जिनोपदिष्ट विविधनयोंके आपेक्षिक कथनका रहस्य जानना नयोंके विशिष्ट ज्ञानी गुरुजनोंके बिना सम्भव नहीं है। जिनेन्द्रदेवका अत्यन्त तीक्ष्णधारवाला दुःसाध्य नयचक्र, उसे धारण करनेवाले अज्ञानी पुरुषोंके मस्तकको शीघ्रही खण्ड-खण्ड कर देता है ॥५९॥ भावार्थ—जैनदर्शनके नयोंका रहस्य अति गहन है। जो उसे समझे बिना उसका उपयोग करता है, वह अपना ही अहित कर बैठता है। आत्म-संरक्षण में सावधान पुरुषोंको तत्त्वतः हिंस्य हिंसक हिंसा और हिंसाके फलको जानकर अपनी शक्तिके अनुसार नित्य ही हिंसा छोड़ना चाहिए ॥६०॥ भावार्थ—जिनकी हिंसा की जाती है, उन जीवोंको हिंस्य कहते हैं। हिंसा करने वाले जीव हिंसक कहलाते हैं। प्राणियोंके प्राण-

मद्यं मोहयति मनो मोहितचित्तस्तु विस्मरति धर्मम् । विस्मृतधर्मा जीवो हिंसामविशङ्कमाचरति ॥६२
रसजानां च बहूनां जीवानां योनिरिष्यते मद्यम् । मद्यं भजतां तेषां हिंसा संजायतेऽवश्यम् ॥६३
अभिमानभयजुगुप्सा-हास्यरतिशोककामकोपाद्याः । हिंसायाःपर्यायाः सर्वेऽपि च सरकसन्निहिताः ॥६४
न विना प्राणिविघातान्मांसस्योत्पत्तिरिष्यते यस्मात् । मांसं भजतस्तस्मात् प्रसरत्यनिवारिता हिंसा॥६५

यदपि किल भवति मांसं स्वयमेव मृतस्य महिषवृषभादेः ।
तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रितनिगोतनिर्मथनात् ॥६६

आमास्वपि पक्वास्वपि विपच्यमानासु मांसपेशीषु । सातत्येनोत्पादस्तज्जातीनां निगोतानाम् ॥६७

आमां वा पक्वां वा खादति यः स्पृशति वा पिशितपेशीम् ।
स निहन्ति सततनिचितं पिण्डं बहुजीवकोटीनाम् ॥६८
मधुशकलमपि प्रायो मधुकर हिंसात्मकं भवति लोके ।
भजति मधु मूढधीको यः स भवति हिंसकोऽत्यन्तम् ॥६९

स्वयमेव विगलितं यो गृह्णीयाद्वा छलेन मधुगोलात् । तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रयप्राणिनां घातात् ॥७०
मधु मद्यं नवनीतं पिशितं च महाविकृतयस्ताः । वल्भ्यन्ते न व्रतिना तद्वर्णा जन्तवस्तत्र ॥७१

पीडनरूप क्रियाको हिंसा कहते हैं और हिंसासे प्राप्त होनेवाले नरकादिके दुःख हिंसाके फल हैं। हिंसाका त्याग करनेके इच्छुकजनोंको प्रथम ही प्रयत्नपूर्वक मद्य, मांस, मधु और पाँच उदुम्बर फलोंको छोड़ना चाहिए ॥६१॥ मदिरा मनको मोहित करती है, और मोहित-चित्त पुरुष धर्मको भूल जाता है। धर्मको भूला हुआ जीव पुनः निःशङ्क होकर हिंसाका आचरण करता है ॥६२॥ इसके अतिरिक्त मदिरा अनेक (असंख्य) रसज जीवोंकी योनि कही गई है, अतः मद्यका सेवन करने वाले जीवोंके द्वारा उन रसज जीवोंकी हिंसा अवश्य ही होती है ॥६३॥ अभिमान, भय, ग्लानि, हास्य, अरति, शोक, काम, क्रोध आदिक सभी विकारी भाव हिंसाके पर्यायवाची नाम हैं। ये सभी विकारी भाव मदिराके समीपवर्ती ही हैं। अर्थात् मदिरा पीने वाले पुरुषके ये सभी विकारी भाव उत्पन्न होते हैं ॥६४॥ अतः मद्य सर्वथा त्याज्य है। यतः प्राणिघात के बिना मांसकी उत्पत्ति संभव नहीं है, अतः मांसको सेवन करनेवाले पुरुषके अनिवार्यरूपसे हिंसा होती ही है ॥६५॥ और जो स्वयं ही मरे हुए भैंसे, बैल आदिका मांस है, उसके सेवन करनेमें भी उस मांसके आश्रित निगोदिया जीवोंके विनाशसे हिंसा होती है ॥६६॥ कच्ची, पक्की या पक रही मांसकी पेशियों (डालियों) में तज्जातीय निगोदिया जीवोंकी निरन्तर उत्पत्ति होती रहती है ॥६७॥ अतः जो जीव कच्ची या पकी मांस-पेशीको खाता है, अथवा स्पर्श भी करता है, वह अनेक कोटि जीवोंके निरन्तर संचित पिंडको मारता है। अतः मांस सर्वथा अभक्ष्य है ॥६८॥ इस लोकमें मधुका कण भी प्रायः मधु-मक्खियों की हिंसारूपही होता है, अतः जो मूढ़ बुद्धि पुरुष मधुको खाता है, वह अत्यन्त हिंसक है ॥६९॥ जो पुरुष मधुके छत्तेसे स्वयमेव गिरी हुई मधुको ग्रहण करता है, अथवा धुँआ आदि करके उन मधु-मक्खियोंको उड़ाकर छलसे मधुको निकालता है, उसमें भी मधु-छत्तेके भीतर रहने वाले छोटे-छोटे जीवोंके घातसे हिंसा होती ही है ॥७०॥ अतः मधु भी भक्षण करनेके योग्य नहीं है। मधु, मद्य, नवनीत (लोणी, मक्खन) और मांस ये चारों महा विकृतियाँ हैं, क्योंकि इन चारोंमें ही उसी वर्णवाले असंख्य जीव निरन्तर उत्पन्न होते रहते हैं। तथा ये सभी काम-क्रोधादि विकारोंको उत्पन्न करती हैं, अतः व्रती पुरुषको इनका भक्षण नहीं करना चाहिए ॥७१॥ ऊमर, कठूमर,

योनिरुदुम्बरयुग्मं प्लक्षन्यग्रोधपिप्पलफलानि । त्रसजीवानां तस्मात्तेषां तद्भक्षणे हिंसा ॥७२
यानि तु पुनर्भवेयुः कालोच्छिन्नत्रसाणि शुष्काणि । भजतस्तान्यपि हिंसा विशिष्टरागादिरूपा स्यात् ॥७३
अष्टावनिष्टदुस्तरदुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य । जिनधर्मदेशनाया भवन्ति पात्राणि शुद्धधियः ॥७४
धर्ममहिंसारूपं संश्रृण्वन्तोऽपि ये परित्यक्तुम् । स्थावरहिंसामसहास्त्रसहिंसां तेऽपि मुञ्चन्तु ॥७५
कृतकारितानुमननैर्वाक्कायमनोभिरिष्यते नवधा । औत्सर्गिकी निवृत्तिर्विचित्ररूपापवादिकी त्वेषा ॥७६
स्तोकेन्द्रियघाताद् गृहिणां सम्पन्नयोग्यविषयाणाम् । शेषस्थावरमारणविरमणमपि भवति करणीयम् ॥७७
अमृतत्वहेतुभूतं परममहिंसारसायणं लब्ध्वा । अवलोक्य बालिशानामसमञ्जसमाकुलैर्न भवितव्यम् ॥७८
सूक्ष्मो भगवद्धर्मो धर्मार्थं हिंसने न दोषोऽस्ति । इति धर्ममुग्धहृदयैर्न जातु भूत्वा शरीरिणो हिंस्याः ॥७९

पिलकर, वड़ और पीपलके फल त्रसजीवोंकी योनि हैं, इसलिए उनके भक्षणमें उनके भीतर रहने वाले त्रसजीवोंकी हिंसा होती है ॥७२॥ और सूखे हुए पाँचों उदुम्बरफल समय पाकर त्रस जीवोंसे रहितहो जाते हैं, उनको भी खानेवाले पुरुषके विशिष्ट रागादिरूप हिंसा होती है। (क्योंकि उक्त फलोंके सूखनेपर उनके भीतर रहनेवाले प्राणी भी उसीमें सूखकर मर जाते हैं और उन फलोंके खाने-पर उन मरे हुए त्रसजीवोंका शरीर भी खानेसे बचाया नहीं जा सकता है।) ॥७३॥ उपर्युक्त मद्य, मांस, मधु और पाँच उदुम्बर फल, आठों ही पदार्थ अनिष्ट दुस्तर पापोंके स्थान हैं, अतः इनको छोड़कर ही शुद्ध बुद्धिवाले पुरुष जिनधर्मकी देशनाके पात्र होते हैं ॥७४॥ जो मनुष्य 'अहिंसारूप धर्म है' इस बातको सुनते हुए भी सर्वप्रकारकी हिंसाके परित्यागके लिए असमर्थ हों, उन्हें भी कमसे कम त्रसहिंसाको छोड़ना ही चाहिए ॥७५॥ इस हिंसाकी औत्सर्गिक निवृत्ति कृत, कारित, अनुमोदनासे मन, वचन, कायके द्वारा नव प्रकारकी कही गई है। किन्तु अपवादरूप निवृत्ति अनेक रूप कही गई है ॥७६॥ भावार्थ—हिंसाको मनसे, वचनसे और कायसे न स्वयं करना, न दूसरोंसे कराना और न करते हुए जीवोंकी अनुमोदना करना यह औत्सर्गिक निवृत्ति है, क्योंकि इसमें नवकोटियोंसे हिंसाका त्याग किया गया है। यह सर्वप्रकारके आरम्भ-समारम्भके त्यागी मुनिजनोंके होती है। किन्तु जो नवकोटिसे हिंसाका परित्याग करनेमें असमर्थ हैं, उन गृहस्थोंके त्रियोगसे स्वयं हिंसा न करनेके रूपमें तीन प्रकारसे, तथा स्वयं न करने और न दूसरोंसे कराने रूप छह प्रकारसे जो हिंसाका त्याग होता है, अथवा अपने पद और परिस्थिति के अनुरूप यथासंभव प्रकारोंसे हिंसाका त्याग होता है, वह सब अपवादिकी निवृत्ति कहलाती है। प्राप्त हुए योग्य विषयोंके सेवन करने-वाले गृहस्थोंको थोड़ेसे एकेन्द्रिय जीवोंके घातके अतिरिक्त शेष स्थावर जीवोंके मारनेसे भी विरमण अवश्य करना चाहिए। अर्थात् प्राप्त भोगोपभोगोंके सेवनमें अपरिहार्य एकेन्द्रिय जीवोंकी हिंसाके सिवाय शेष सभी स्थावर हिंसाका परित्याग करना गृहस्थको आवश्यक है ॥ ७७ ॥ अमृतपद मोक्षके कारणभूत परम अहिंसाधर्मरूप रसायनको पाकरके अज्ञानी जनोंके असंगत व्यवहारको देखकर ज्ञानियोंको आकुल-व्याकुल नहीं होना चाहिए ॥ ७८ ॥ भावार्थ—किसी जीवको हिंसा करते हुए भी सुखसातारूप देखकर और स्वयंको अहिंसा धर्मका पालन करते हुए भी दुःखी देखकर, तथा मिथ्या दृष्टियों द्वारा हिंसा-धर्मका प्रचार करते हुए भी उनकी सुख-साता-की वृद्धिको देखकर ज्ञानी पुरुष मनमें आकुलताका अनुभव न करें, किन्तु उनके पापानुबन्धी पुण्यका उदय जानकर अपने धर्ममें स्थिर रहें। 'भगवत्प्रणीत धर्म सूक्ष्म है, धर्म-कार्यके लिए जीव-हिंसा करनेमें कोई दोष नहीं है', इस प्रकार धर्म-विमूढ़ हृदयवाले होकर मनुष्योंको कभी किसी प्राणीकी

धर्मो हि देवताभ्यः प्रभवति ताभ्यः प्रदेयमिह सर्वम् ।
इति दुर्विवेककलितां धिषणां प्राप्य न देहिनो हिंस्याः ॥८०
पूज्यनिमित्तं घाते छागादीनां न कोऽपि दोषोऽस्ति । इति संप्रधार्य कार्यं नातिथये सत्त्वसंज्ञपनम् ॥८१
बहुसत्त्वघातजनितादशनाद्वरमेकसत्त्वघातोत्थम् । इत्याकलय्य कार्यं न महासत्त्वस्य हिंसनं जातु ॥८२
रक्षा भवति बहूनामेकस्यैवास्य जीवहरणेन । इति मत्वा कर्त्तव्यं न हिंसनं हिंस्रसत्त्वानाम् ॥८३
बहुसत्त्वघातिनोऽमी जीवन्त उपार्जयन्ति गुरुपापम् ।
इत्यनुकम्पां कृत्वा न हिंसनीयाः शरीरिणो हिंस्राः ॥८४
बहुदुःखाः संज्ञपिताः प्रयान्ति त्वचिरेण दुःखविच्छित्तिम् ।
इति वासनाकृपाणीमादाय न दुःखिनोऽपि हन्तव्याः ॥८५
कृच्छ्रेण सुखावाप्तिर्भवन्ति सुखिनो हताः सुखिन एव । इति तर्कमण्डलाग्रः सुखिनां घाताय नादेयः ॥८६
उपलब्धिसुगतिसाधनसमाधिसारस्य भूयसोऽभ्यासात् ।
स्वगुरोः शिष्येण शिरो न कर्त्तनीयं सुधर्ममभिलषिता ॥८७
धनलवपिपासितानां विनेयविश्वासनाय दर्शयताम् ।
झटिति घटचटकमोक्षं श्रद्धेयं नैव खारपटिकानाम् ॥८८
दृष्ट्वा परं पुरस्तादशनाय क्षामकुक्षिमायान्तम् । निजमांसदानरभसादालभनीयो न चात्मापि ॥८९

हिंसा नहीं करनी चाहिए ॥ ७९ ॥ 'धर्म देवताओंसे प्रकट होता है, उनके लिए इस लोकमें सभी कुछ देनके योग्य है' इस प्रकारको दुर्विवेक-युक्त बुद्धिको धारण करके किसी भी प्राणीका घात नहीं करना चाहिए ॥ ८० ॥ 'अतिथि आदि पूज्य पुरुषके भोजनके निमित्त बकरे आदिके घात करनेमें कोई भी दोष नहीं है', ऐसा विचार करके अतिथिके लिए भी किसी प्राणीका घात नहीं करना चाहिए ॥ ८१ ॥ 'छोटे-छोटे बहुत प्राणियोंके घातसे उत्पन्न हुए भोजनकी अपेक्षा एक बड़े प्राणीके घातसे उत्पन्न हुआ भोजन उत्तम है' ऐसा विचार करके भी किसी बड़े प्राणीका घात कदाचित् भी नहीं करना चाहिए ॥ ८२ ॥ एक ही हिंसक प्राणीके मारनेसे बहुत प्राणियोंकी रक्षा होती है, ऐसा समझ करके भी सिंहादिक हिंस्रप्राणियोंकी हिंसा नहीं करनी चाहिए ॥ ८३ ॥ 'अनेक प्राणियोंके घातक ये सिंहादिक जीते हुए गुरु पापका उपार्जन करते हैं', ऐसी अनुकम्पा करके भी हिंसक प्राणियोंको नहीं मारना चाहिए ॥ ८४ ॥ 'बहुत दुःखोंसे पीड़ित प्राणी शीघ्र ही दुःखके विच्छेदको प्राप्त हो जावेंगे', इस प्रकारकी मिथ्या वासनारूपी कटारको लेकरके दुःखी भी प्राणियोंको नहीं मारना चाहिए ॥ ८५ ॥ 'सुखकी प्राप्ति कष्टसे होती है, अतएव मारे गये सुखी पुरुष परलोकमें भी सुखी ही उत्पन्न होंगे' ऐसा तर्करूप खड्ग सुखी जनोंके घात करनेके लिए नहीं ग्रहण करना चाहिए ॥ ८६ ॥ सुधर्मको अभिलाषा करनेवाले शिष्यको अधिक अभ्याससे सुगतिके साधनभूत समाधिसारको प्राप्त अपने गुरुका शिर नहीं काट देना चाहिए ॥८७॥ भावार्थ—'हमारे गुरुदेव अधिक काल तक योगके अभ्याससे समाधिमें निमग्न हैं, यदि इस समय इनका शिर काट दिया जाय, तो गुरु महाराज परम पदको प्राप्त करेंगे, ऐसी कुतर्क बुद्धिसे प्रेरित होकर यदि कोई शिष्य अपने गुरुका शिर काटेगा, तो गुरुका परम पद पाना तो सन्दिग्ध ही है, पर शिष्यको हिंसा पापका भागी होना निश्चित है । थोड़ेसे धनके प्यासे और शिष्योंको विश्वास उत्पन्न करनेके लिए नाना प्रकारकी रीतियाँ दिखलानेवाले खारपटिक लोगोंके शीघ्र ही घटके फूटनेसे चिड़ियाके मोक्षके समान मोक्षका भी श्रद्धान नहीं करना चाहिए ॥ ८८ ॥ भावार्थ—किसी समय भारतमें खारपटिक 'नामका एक

को नाम विशति मोहं नयभङ्गविशारदानुपास्य गुरून् ।
विदितजिनमतरहस्यः श्रयन्नहिंसां विशुद्धमतिः ॥ ९०

यदिदं प्रमादयोगादसदभिधानं विधीयते किमपि । तदनृतमपि विज्ञेयं तद्भेदाः सन्ति चत्वारः ॥९१
स्वक्षेत्रकालभावैः सदपि हि यस्मिन्निषिध्यते वस्तु । तत्प्रथममसत्यं स्यान्नास्ति यथा देवदत्तोऽत्र ॥९२
असदपि हि वस्तुरूपं यत्र परक्षेत्रकालभावैस्तैः । उद्भाव्यते द्वितीयं तदनृतमस्मिन् यथास्ति घटः ॥९३
वस्तु सदपि स्वरूपात् पररूपेणाभिधीयते यस्मिन् । अनृतमिदं च तृतीयं विज्ञेयं गौरिति यथाऽश्वः॥९४
गर्हितमवद्यसंयुतमप्रियमपि भवति वचनरूपं यत् । सामान्येन त्रेधा मतमिदमनृतं तुरीयं तु ॥९५
पैशुन्यहासगर्भं कर्कशमसमञ्जसं प्रलपितं च । अन्यदपि यदुत्सूत्रं तत्सर्वं गर्हितं गदितम् ॥९६
छेदनभेदनमारणकर्षणवाणिज्यचौर्यवचनादि । तत्सावद्यं यस्मात् प्राणिवधाद्याः प्रवर्तन्ते ॥९७
अरतिकरं भीतिकरं खेदकरं वैरशोककलहकरम् । यदपरमपि तापकरं परस्य तत्सर्वमप्रियं ज्ञेयम् ॥९८

मत प्रचलित था । उसकी मान्यता थी कि जैसे घड़ेमें बन्द चिड़िया घड़ेके फोड़ देनेसे छुटकारा पा जाती है, इसी प्रकार शरीरका घातकर देनेपर आत्मा भी शरीरबन्धनसे विमुक्त हो जाता है। ग्रन्थकार इसे लक्ष्यमें रखकर कहते हैं, कि इस प्रकार किसीको बन्धन-मुक्त होने या करनेकी भावनासे उसके शरीरका घात नहीं करना चाहिए और न इस प्रकारसे मोक्ष-प्राप्तिका श्रद्धान ही करना चाहिए । तथा, कृश उदरवाले किसी भूखे पुरुषको भोजनके लिए सामने आता हुआ देखकर अपने शरीरके मांसको दान करनेकी इच्छासे शीघ्रतापूर्वक अपने आपका भी घात नहीं करना चाहिए ॥ ८९ ॥ भावार्थ—कुछ लोग भूखे पुरुषको अपने शरीरके मांस-दानमें भारी पुण्य मानते हैं । उन्हें लक्ष्यमें रखकर कहा गया है कि उनका यह कृत्य भी पापरूप ही है । जिनदेवोपदिष्ट अनेक नयभेदोंके विशारद गुरुजनोंकी उपासना करके जिनमतके रहस्यको जाननेवाला और अहिंसाका आश्रय लेनेवाला ऐसा कौन विशुद्ध बुद्धि पुरुष है, जो उपर्युक्त प्रकारके मोहमें प्रवेश करेगा ? अर्थात् जैनधर्मके नयोंका ज्ञाता कोई भी पुरुष ऊपर कहे गये हिंसाके विविध प्रकारोंके मोहचक्रमें नहीं पड़ेगा ॥ ९० ॥ प्रमादके योगसे जो कुछ भी असत् कथन किया जाता है, वह सर्व असत्य जानना चाहिए । उस असत्यके चार भेद हैं ॥ ९१ ॥ जिस वचनमें अपने द्रव्य क्षेत्र काल भावसे विद्यमान भी वस्तु निषेधित की जाती है, वह प्रथम प्रकारका असत्य है । जैसे देवदत्तके होते हुए भी यह कहना कि 'देवदत्त यहाँ नहीं है' ॥ ९२ ॥ जिस वचनमें पर द्रव्य क्षेत्र काल भावसे अविद्यमान भी वस्तु-स्वरूप प्रकट किया जाता है, वह दूसरे प्रकारका असत्य है । जैसे घड़ेके नहीं होनेपर भी यह कहना कि यहाँपर घड़ा है ॥ ९३ ॥ जिस वचनमें अपने स्वरूप चतुष्टयसे विद्यमान भी वस्तु अन्य स्वरूपसे कही जाती है, वह तीसरे प्रकारका असत्य जानना चाहिए । जैसे—बैलको घोड़ा कहना ॥ ९४ ॥ और चौथे प्रकारका असत्य गर्हित, सावद्य और अप्रियरूपमें सामान्यसे तीन प्रकारका माना गया है ॥९५॥ जो वचन पिशुनता और हंसीसे मिश्रित हैं, कर्कश हैं, मिथ्याश्रद्धानरूप हैं, व्यर्थ की बकवादरूप हैं, तथा और भी जो इसी प्रकारके सूत्र-प्रतिकूल वचन हैं, वे सब गर्हित (निन्दित) वचन कहे गये हैं ॥९६॥ जिन वचनोंसे प्राणि-घात आदिकी प्रवृत्ति हो, ऐसे छेदन, भेदन, मारण, कर्षण, वाणिज्य और चोरी आदिके वचनोंको सावद्यवचन जानना चाहिए ॥९७॥ जो वचन अप्रीति-कारक, भय-जनक खेद-उत्पादक, वैर-वर्धक, शोक-कारक, कलह-कारक और दूसरेको सन्तापकारी हैं, उन सबको

सर्वस्मिन्नप्यस्मिन् प्रमत्तयोगैकहेतुकथनं यत् । अनृतवचनेऽपि तस्मान्नियतं हिंसा समवतरति ॥९९
हेतौ प्रमत्तयोगे निर्दिष्टे सकलवितथवचनानाम् । हेयानुष्ठानादेरनुवदनं भवति नासत्यम् ॥१००
भोगोपभोगसाधनमात्रं सावद्यमक्षमा-मोक्तुम् । ये तेऽपि शेषमनृतं समस्तमपि नित्यमेव मुञ्चन्तु ॥१०१
अवितीर्णस्य ग्रहणं परिग्रहस्य प्रमत्तयोगाद् यत् । तत्प्रत्येयं स्तेयं सैव च हिंसा वधस्य हेतुत्वात् ॥१०२
अर्था नाम य एते प्राणा एते बहिश्चराः पुंसाम् । हरति स तस्य प्राणान् यो यस्य जनो हरत्यर्थान्॥१०३
हिंसायाः स्तेयस्य च नाव्याप्तिः सुघटमेव सा यस्मात्। ग्रहणे प्रमत्तयोगो द्रव्यस्य स्वीकृतस्यान्यैः ॥१०४
नातिव्याप्तिश्च तयोः प्रमत्तयोगैककारणविरोधात्। अपि कर्मानुग्रहणे नीरागाणामविद्यमानत्वात्॥१०५
असमर्था ये कर्तुं निपानतोयादिहरणविनिवृत्तिम् । तैरपि समस्तमपरं नित्यमदत्तं परित्याज्यम् ॥१०६
यद्वेदरागयोगान्मैथुनमभिधीयते तद ब्रह्म । अवतरति तत्र हिंसा वधस्य सर्वत्र सद्भावात् ॥१०७
हिंस्यन्ते तिलनाल्यां तप्तायसि विनिहिते तिला यद्वत् । बहवो जीवा योनौ हिंस्यन्ते मैथुने तद्वत् ॥१०८
यदपि क्रियते किञ्चिन्मदनोद्रेकादनङ्गरमणादि । तत्रापि भवति हिंसा रागाद्युत्पत्तितन्त्रत्वात् ॥१०९

अप्रिय वचन जानना चाहिए ॥९८॥ इन उक्त सर्वप्रकारके वचनोंमें एक प्रमत्त योग ही कारण कहा गया है, अतः असत्य भाषणमें नियमसे हिंसा ही अवतरित होती है । भावार्थ–जहाँ कषाययुक्त वचन बोला जाय, वहां पर हिंसा अवश्य ही है ॥९९॥ यतः सर्व प्रकारके असत्य वचनोंका मूलकारण प्रमत्तयोग कहा गया है, अतः बुरे कार्यके छोड़ने और उत्तम कार्यके करनेके लिए बोले जाने वाले अप्रिय वचन असत्य नहीं हैं ॥१००॥ जो पुरुष भोग और उपभोगके साधनभूत सर्वप्रकारके सावद्य वचनोंको छोड़नेके लिए असमर्थ हैं, उन्हें भी शेष सर्वप्रकारके अनृत वचन तो नित्य छोड़ना ही चाहिए ॥ १०१ ॥ जो प्रमत्तयोगसे दूसरेके द्वारा नहीं दिये हुए धन-धान्यादि परिग्रहका ग्रहण करना, उसे चोरी जानना चाहिए, और यह चोरी भी हिंसा ही है; क्योंकि, वह भी दूसरोंके प्राण-घातका कारण है ॥ १०२ ॥ ये धन-धान्यादिक पदार्थ पुरुषोंके बाहिरी प्राण हैं, अतः जो मनुष्य जिसके धनादिकको हरण करता है, वह उसके प्राणोंको ही हरता है ॥ १०३ ॥ हिंसाके और चोरीके अव्याप्ति दोष नहीं है, क्योंकि अन्यके द्वारा स्वीकृत द्रव्यके ग्रहण करनेमें प्रमत्तयोग स्पष्टरूपसे पाया जाता है, अतः चोरी करनेमें हिंसा सुघट ही है ॥ १०४ ॥ तथा हिंसा और चोरीमें अतिव्याप्ति दोष भी नहीं है, क्योंकि वीतरागी पुरुषोंके कर्म-नोकर्म वर्गणाओंके ग्रहण करनेमें प्रमत्तयोग नहीं पाया जाता और प्रमत्तयोगरूप एक कारणके विरोधसे उनके हिंसाका दोष नहीं लगता, अतः कर्म-नोकर्म वर्गणाओंके ग्रहण करते हुए भी वीतरागी पुरुष चोरीके दोषसे रहित ही जानना चाहिए ॥ १०५ ॥ जो पुरुष अन्यके जलाशय-कूपादिसे जलादिके ग्रहण करनेकी निवृत्ति करनेके लिए असमर्थ हों, उन्हें भी अन्य सर्व प्रकारको अदत्त वस्तुओंका परित्याग नित्य ही करना चाहिए ॥ १०६ ॥ जो वेदनोकषायके रागयोगसे स्त्री-पुरुषों की मैथुन क्रिया होती है, वह अब्रह्म कहलाता है। इस मैथुनक्रियामें भी हिंसा अवतरित होती है, क्योंकि उसमें जीव-घात सर्वत्र पाया जाता है ॥ १०७ ॥ जिस प्रकार तिलोंकी नालीमें तपे लोहेके डालनेसे तिल जल-भुन जाते हैं, उसी प्रकार मैथुन समय स्त्रीकी योनिमें पुरुष-लिंगके प्रवेश करनेपर योनिस्थ बहुत जीव मरणको प्राप्त होते हैं ॥ १०८ ॥ इसके अतिरिक्त काम-विकारकी अधिकतासे अनंग क्रीड़ा आदि जो कुछ भी अवैध मैथुनके कार्य किये जाते हैं, उनमें भी रागादिकी उत्पत्तिके वशसे हिंसा होती ही है ॥ १०९ ॥ जो

ये निजकलत्रमात्रं परिहर्तुं शक्नुवन्ति न हि मोहात् । निःशेषशेषयोषिन्निषेवणं तैरपि न कार्यम् ॥११०
या मूर्च्छा नामेदं विज्ञातव्यः परिग्रहो ह्येषः । मोहोदयादुदीर्णो मूर्च्छा तु ममत्वपरिणामः ॥१११
मूर्च्छालक्षणकरणात् सुघटा व्याप्तिः परिग्रहत्वस्य । सग्रन्थो मूर्च्छावान् विनापि किल शेषसङ्गेभ्यः॥११२
यद्येवं भवति तदा परिग्रहो न खलु कोऽपि बहिरङ्गः ।
भवति नितरां यतोऽसौ धत्ते मूर्च्छानिमित्तत्वम् ॥११३
एवमतिव्याप्तिः स्यात्परिग्रहस्येति चेद्भवेन्नैवम् । यस्मादकषायाणां कर्मग्रहणे न मूर्च्छास्ति ॥११४
अतिसंक्षेपाद् द्विविधः स भवेदाभ्यन्तरश्च बाह्यश्च । प्रथमश्चतुर्दशविधो भवति द्विविधो द्वितीयस्तु॥११५
मिथ्यात्ववेदरागास्तथैव हास्यादयश्च षड् दोषाः । चत्वारश्च कषायाश्चतुर्दशाभ्यन्तरा ग्रन्थाः ॥११६
अथ निश्चित्तसचित्तौ बाह्यस्य परिग्रहस्य भेदौ द्वौ । नैषः कदापि सङ्गः सर्वोऽप्यतिवर्तते हिंसाम् ॥११७
उभयपरिग्रहवर्जनमाचार्याः सूचयन्त्यहिंसेति । द्विविधपरिग्रहवहनं हिंसेति जिनप्रवचनज्ञाः ॥११८

जीव मोहके उदयसे अपनी स्त्री मात्रको छोड़नेके लिए समर्थ नहीं है, उन्हें भी शेष समस्त स्त्रियों-का सेवन नहीं करना चाहिए ॥११०॥ मोहके उदयसे उत्पन्न हुआ ममत्वपरिणाम मूर्च्छा कहलाती है और यह जो मूर्च्छाभाव है, उसे ही परिग्रह जानना चाहिए ॥ १११ ॥ अतः जो पुरुष मूर्च्छावान् है, वह शेष बाह्य परिग्रहके बिना भी सग्रन्थ अर्थात् परिग्रही है; क्योंकि परिग्रहका मूर्च्छा लक्षण करनेसे उसमें परिग्रहकी व्याप्ति सुघटित होती है ॥ ११२ ॥ यदि ऐसा है, अर्थात् मूर्च्छा ही परिग्रह है, तो बहिरंग परिग्रह कोई भी पदार्थ नहीं माना जायगा ? इस शंकाका समाधान यह है कि यह बाह्य पदार्थरूप परिग्रह मूर्च्छाके निमित्तपनेको निरन्तर धारण करता है ॥११३॥ भावार्थ—परिग्रहके दो भेद शास्त्रोंमें कहे गये हैं—अन्तरंग परिग्रह और बाह्य परिग्रह। पर पदार्थोंमें ममतारूप मूर्च्छाका होना यह परिग्रहका लक्षण अन्तरंग परिणामोंसे सम्बन्ध रखता है, अतः बाह्य परिग्रहका उससे कोई सम्बन्ध नहीं है, यदि कोई ऐसी आशंका करे तो ग्रन्थकार उसका समाधान करते हैं कि मूर्च्छाकी उत्पत्तिमें धन्य-धान्यादि बाह्य पदार्थ ही निमित्त कारण होते हैं, अतएव कारणमें कार्यके उपचारसे बाह्य पदार्थोंमें भी 'मूर्च्छा परिग्रहः' यह लक्षण घटित हो जाता है। यदि कहा जाय कि बाह्य पदार्थका ग्रहण करना परिग्रह है, तब तो वीतरागी कषाय-रहित मुनियोंके कार्मणवर्गणाओंके ग्रहण करनेसे परिग्रहका उक्त लक्षण अतिव्याप्ति दोषको प्राप्त होता है। ग्रन्थकार इस आशंकाका समाधान करते हुए कहते हैं कि यतः कषाय-रहित जीवोंके कर्मवर्गणाओंके ग्रहण करनेमें मूर्च्छा नहीं है, अतः अतिव्याप्ति दोष नहीं प्राप्त होता ॥ ११४ ॥ यह परिग्रह अतिसंक्षेपसे दो प्रकारका है—आभ्यन्तर परिग्रह और बाह्य परिग्रह। इनमें प्रथम चौदह प्रकारका है और दूसरा दो प्रकारका है ॥११५॥ आभ्यन्तर परिग्रहके चौदह भेद इस प्रकार हैं—मिथ्यात्व, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसक वेदरूप रागभाव, तथा हास्यादि छह दोष, अर्थात् हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा और क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय॥११६॥ बाह्य परिग्रहके दो भेद हैं—सचित्त परिग्रह और अचित्त परिग्रह। दास-दासी, गाय-भैंस आदि सचित्त परिग्रह हैं और मकान, वर्तनादि अचित्त परिग्रह हैं। यह दोनों ही प्रकारका बाह्य परिग्रह कभी भी हिंसाका अतिक्रमण नहीं करता है, अर्थात् कोई भी परिग्रह किसी भी समय हिंसासे रहित नहीं है ॥ ११७ ॥ अतएव जिनागमके ज्ञाता आचार्यगण दोनों ही प्रकारके परिग्रहके त्यागको अहिंसा सूचित करते हैं और दोनों प्रकारके परिग्रहके धारण करनेको हिंसा कहते हैं ॥ ११८ ॥ क्रोधादि कषाय हिंसाके पर्यायरूप हैं, अतः अन्तरंग परिग्रहोंमें

हिंसापर्यायत्वात् सिद्धा हिंसान्तरङ्गसङ्गेषु । बहिरङ्गेषु तु नियतं प्रयातु मूर्च्छैव हिंसात्वम् ॥११९
एवं न विशेषःस्यादुन्दररिपुहरिणशावकादीनाम् । नैवं भवति विशेषस्तेषां मूर्च्छाविशेषेण ॥१२०
हरिततृणाङ्कुरचारिणि मन्दा मृगशावके भवति मूर्च्छा।
उन्दरनिकरोन्माथिनि मार्जारे सैव जायते तीव्रा ॥१२१
निर्बाधं संसिद्धयेत् कार्यविशेषो हि कारणविशेषात् । औधस्य-खण्डयोरिह माधुर्यप्रीतिभेद इव ॥१२२
माधुर्यप्रीतिः किल दुग्धे मन्दैव मन्दमाधुर्ये । सैवोत्कटमाधुर्ये खण्डे व्यपदिश्यते तीव्रा ॥१२३
तत्त्वार्थाश्रद्धाने निर्युक्तं प्रथममेव मिथ्यात्वम् । सम्यग्दर्शनचौराः प्रथमकषायाश्च चत्वारः ॥१२४
प्रविहाय च द्वितीयान् देशचरित्रस्य सन्मुखायातः । नियतं हि ते कषायाः देशचरित्रं निरुन्धन्ति ॥१२५
निजशक्त्या शेषाणां सर्वेषामन्तरङ्गसङ्गानाम् । कर्तव्यः परिहारो मार्दवशौचादिभावनया ॥१२६
बहिरङ्गादपि सङ्गाद्यस्मात्प्रभवत्यसंयमोऽनुचितः । परिवर्जयेदशेषं तमचित्तं वा सचित्तं वा ॥१२७
योऽपि न शक्यस्त्यक्तुं धनधान्यमनुष्यवास्तुवित्तादि । सोऽपि तनूकरणीयो निवृत्तिरूपं यतस्तत्त्वम् ॥१२८
रात्रौ भुञ्जानानां यस्मादनिवारिता भवति हिंसा । हिंसाविरतैस्तस्मात्त्यक्तव्या रात्रिभुक्तिरपि ॥१२९
रागाद्युदयपरत्वादनिवृत्तिर्नातिवर्तते हिंसा । रात्रिं दिवमाहरतः कथं हि हिंसा न संभवति ॥१३०

हिंसा स्वयं सिद्ध है। तथा बहिरंग परिग्रहोंमें मूर्च्छाभाव ही नियमसे हिंसापनेको प्राप्त होता है॥११९॥ यदि कहा जाय कि ममत्व परिणामका नाम मूर्च्छा है, तब तो उदर (मूषक) का शत्रु बिलाव और हरिणके बच्चों आदिमें कोई भेद नहीं रहेगा ? सो ऐसा नहीं समझना, क्योंकि उन दोनोंमें मूर्च्छाकी विशेषतासे बहुत भेद है॥१२०॥ देखो—हरे तृणाङ्कुरोंको चरनेवाले मृगके बच्चेमें मूर्च्छा बहुत मन्द होती है और चूहोंके समूहको मारकर खानेवाले बिलावमें वह मूर्च्छा अति तीव्र होती है। इसलिए दोनोंकी मूर्च्छा समान नहीं है॥ १२१॥ कारणकी विशेषतासे कार्यमें विशेषता निर्बाध रूपसे सिद्ध होती है। जैसे कि दूध और खांडमें मधुररसका प्रीतिभेद देखा जाता है॥ १२२॥ मन्द मधुर रसवाले दूधमें पीनेवाले पुरुषकी माधुर्यकी प्रीति मन्द होती है और अधिक माधुर्यवाली खांडके खानेमें वह माधुर्य-प्रीति तीव्र कही जाती है॥ १२३॥ तत्त्वार्थके अश्रद्धानमें कारण प्रथम ही मिथ्यात्व कहा गया है, तथा प्रथम कषाय-अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया और लोभरूप ये चार कषाय सम्यग्दर्शन-रूप रत्नकी चौर हैं॥१२४॥ अतः इनको छोड़कर सम्यग्दृष्टि पुरुष दूसरी अप्रत्याख्यानावरण कषायोंको भी त्याग करके देशचारित्रके सन्मुख आता है। क्योंकि ये अप्रत्याख्यानावरण कषाय नियमके देश-चारित्रका निरोध करती हैं, अर्थात् देशचारित्रको प्रकट नहीं होने देती हैं॥ १२५॥ अतएव अपनी शक्तिके अनुसार मार्दव, शौच, संयम आदि धर्मोंकी भावनासे शेष समस्त अन्तरंग परिग्रहोंका परिहार करना चाहिए॥ १२६॥ यतः बहिरंग भी परिग्रहसे अनुचित असंयम उत्पन्न होता है, अतः सचित्त और अचित्त सभी प्रकारका बहिरंग परिग्रह भी छोड़ देना चाहिए॥ १२७॥ जो पुरुष धन, धान्य, दासी,दासादिक मनुष्य और मकान सम्पदादिको छोड़नेके लिए समर्थ न हो, उसे भी संचित परिग्रहको कृश करना चाहिए, क्योंकि धर्मका तत्त्व तो निवृत्ति रूप ही है॥१२८॥ यतः रात्रिमें भोजन करने-वालोंके अनिवार्य रूपसे हिंसा होती है, अतः हिंसाके त्यागी जनोंको रात्रिभोजन करना भी त्यागना चाहिए॥ १२९॥ अनिवृत्ति अर्थात् अत्यागभाव रागादिक भावोंके उदयकी उत्कृष्टतासे होता है, इसलिए वह हिंसाका अतिक्रमण नहीं करता है, तो फिर जो पुरुष रातदिन आहार करता है, उसके हिंसा कैसे नहीं संभव है ? अर्थात् अहर्निशभोजी पुरुषके रागकी अधिकताके कारण अवश्य ही हिंसा

यद्येवं तर्हि दिवा कर्तव्यो भोजनस्य परिहारः। भोक्तव्यं तु निशायां नेत्थं नित्यं भवति हिंसा ॥१३१
नैवं वासरभुक्तेः भवति हि रागोऽधिको रजनिभुक्तौ। अन्नकवलस्य भुक्तेः भुक्ताविव मांसकवलस्य ॥१३२
अर्कालोकेन विना भुञ्जानः परिहरेत् कथं हिंसाम्।
अपि बोधितः प्रदीपे भोज्यजुषां सूक्ष्मजीवानाम् ॥१३३
किं वा बहुप्रलपितैरिति सिद्धं यो मनोवचनकायैः।
परिहरति रात्रिभुक्तिं सततमहिंसां स पालयति ॥१३४
इत्यत्र त्रितयात्मनि मार्गे मोक्षस्य ये स्वहितकामाः। अनुपरतं प्रयतन्ते प्रयान्ति ते मुक्तिमचिरेण ॥१३५
परिधय इव नगराणि व्रतानि किल पालयन्ति शीलानि।
व्रतपालनाय तस्माच्छीलान्यपि पालनीयानि ॥१३६
प्रविधाय सुप्रसिद्धैर्मर्यादां सर्वतोऽप्यभिज्ञानैः। प्राच्यादिभ्यो दिग्भ्यः कर्तव्या विरतिरविचलिता ॥१३७
इति नियमितदिग्भागे प्रवर्तते यस्ततो बहिस्तस्याः। सकलासंयमविरहाद्भवत्यहिंसाव्रतं पूर्णम् ॥१३८
तत्रापि च परिमाणं ग्रामापणभवनपाटकादीनाम्। प्रविधाय नियतकालं करणीयं विरमणं देशात् ॥१३९
इति विरतो बहुदेशात्तदुत्थहिंसाविशेषपरिहारात्। तत्कालं विमलमतिः श्रयत्यहिंसां विशेषेण ॥१४०
पापर्द्धिजयपराजयसङ्गरपरदारगमनचौर्याद्याः।
न कदाचनापि चिन्त्याः पापफलं केवलं यस्मात् ॥१४१

है ॥ १३०॥ यदि ऐसा है, तो दिनमें भोजनका परित्याग कर देना चाहिए और रात्रिमें भोजन करना चाहिए। इस प्रकारसे नित्य हिंसा नहीं होती है ॥ १३१ ॥ ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि दिनमें भोजनकी अपेक्षा रात्रि-भोजनमें रागकी अधिकता होती है। जैसे कि अन्नका ग्रास खानेवालेकी अपेक्षा मांसके ग्रासको खानेवालेके अधिक राग होता है ॥ १३२ ॥ सूर्यके प्रकाशके विना भोजनको करनेवाला मनुष्य हिंसाका परिहार कैसे कर सकेगा ? अर्थात् नहीं कर सकेगा। यदि दीपकको जला करके रात्रिमें भोजन करेगा, तो भोज्य पदार्थमें पड़े हुए सूक्ष्म जीवोंकी हिंसाको कैसे दूर कर सकेगा ॥ १३३ ॥ अधिक कहनेसे क्या लाभ है, जो पुरुष मन-वचन-कायसे रात्रि-भोजनका परित्याग करता है, वह सदा ही अहिंसा-धर्मका पालन करता है ॥ १३४ ॥ इस प्रकार रत्नत्रयात्मक मोक्षके मार्गमें जो आत्म-हितके इच्छुक पुरुष निरन्तर प्रयत्न करते हैं, वे शीघ्र ही मुक्तिको प्राप्त करते हैं ॥१३५॥ जैसे परिधि अर्थात् परिकोट-परिखा (कोट-खाई) नगरकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार शील व्रतोंकी रक्षा करते हैं। अतः ग्रहण किये गये अहिंसादि व्रतोंके परिपालनके लिए गुणव्रत और शिक्षाव्रतरूप सात शीलोंको भी पालन करना चाहिए ॥१३६॥ सुप्रसिद्ध सीमा-सूचक चिह्नोंके द्वारा सर्व ओर मर्यादाको करके पूर्वादिक दशों दिशाओंसे अविचलित (दृढ़) विरति (प्रतिज्ञा) करनी चाहिए ॥१३७॥ इस प्रकार मर्यादित दिशाओंके विभागमें ही जो पुरुष गमनागमन रूप प्रवृत्ति करता है, उस पुरुषके नियमित सीमाके बाहिर सकल असंयमभावके अभाव होनेसे अहिंसाव्रत पूर्णताको प्राप्त होता है। यह दिग्विरति नामक गुणव्रत है ॥१३८॥ उस दिग्व्रतमें भी ग्राम, आपण (बाजार) भवन और मोहल्ला आदिका नियत काल तक परिमाण करके शेष देशसे विरमण अर्थात् गमनागमनका त्याग करना चाहिए। यह देशविरति नामक गुणव्रत है ॥१३९॥ इस प्रकार बहुत प्रदेशसे विरत वह निर्मल बुद्धिवाला श्रावक उस नियमित कालमें उस मर्यादित क्षेत्रसे बाहिर उत्पन्न होनेवाली हिंसा-विशेषके परिहारसे विशेषतया अहिंसाको आश्रय करता है। अर्थात् नियतकाल तक मर्यादित क्षेत्रसे बाहिर गमनागमन न करनेसे वह वहाँ पर पूर्ण अहिंसाव्रती जैसा होता है ॥१४०॥ अब अनर्थदण्ड-

विद्यावाणिज्यमषीकृषिसेवाशिल्पजीविनां पुंसाम् । पापोपदेशदानं कदाचिदपि नैव वक्तव्यम् ॥१४२
भूखननवृक्षमोट्टनशाड्वलदलनाम्बुसेचनादीनि । निष्कारणं न कुर्याद्दलफलकुसुमोच्चयानपि च ॥१४३
असिधेनुविषहुताशनलाङ्गलकरवालकार्मुकादीनाम् ।
वितरणमुपकरणानां हिंसायाः परिहरेद्यत्नात् ॥१४४
रागादिवर्द्धनानां दुष्टकथानामबोधबहुलानाम् । न कदाचन कुर्वीत श्रवणार्जनशिक्षणादीनि ॥१४५
सर्वानर्थप्रथमं मथनं शौचस्य सद्म मायायाः । दूरात्परिहरणीयं चौर्यासत्यास्पदं द्यूतम् ॥१४६
एवंविधमपरमपि ज्ञात्वा मुञ्चत्यनर्थदण्डं यः । तस्यानिशमनवद्यं विजयमहिंसाव्रतं लभते ॥१४७
रागद्वेषत्यागान्निखिलद्रव्येषु साम्यमवलम्ब्य । तत्त्वोपलब्धिमूलं बहुशः सामायिकं कार्यम् ॥१४८
रजनीदिनयोरन्ते तदवश्यं भावनीयमविचलितम् ।
इतरत्र पुनः समये न कृतं दोषाय तद्गुणाय कृतम् ॥१४९
सामायिकश्रितानां समस्तसावद्ययोगपरिहारात् । भवति महाव्रतमेषामुदयेऽपि चरित्रमोहस्य ॥१५०
सामायिकसंस्कारं प्रतिदिनमारोपितं स्थिरीकर्तुम् । पक्षार्धयोर्द्वयोरपि कर्तव्योऽवश्यमुपवासः ॥१५१
मुक्तसमस्तारम्भः प्रोषधदिनपूर्ववासरस्यार्धे । उपवासं गृह्णीयान्ममत्वमपहाय देहादौ ॥१५२

विरति नामक तीसरे गुणव्रतका वर्णन करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि पापर्द्धि (आखेट-शिकार) जय, पराजय, संग्राम परस्त्रीगमन और चोरी आदिक करनेकी बात कभी भी नहीं चिन्तवन करना चाहिए, क्योंकि इनका केवल पाप ही फल है। अनर्थदण्डविरतिके पाँचभेदोंमेंसे यह प्रथम अपध्यानविरति है ॥१४१॥ विद्या, वाणिज्य, मषी, कृषि, सेवा और शिल्पसे आजीविका करनेवाले पुरुषोंको उनके करनेवाले पापके उपदेशरूपसे वचन कभी भी नहीं बोलना चाहिए। यह पापोपदेशविरति है ॥१४२॥ भूमि खोदना, वृक्ष मोड़ना, दुर्वा-घास रोंदना, जल सींचना, आग जलाना और बुझाना, तथा पत्र, फल, फूल तोड़ना आदि कार्य निष्प्रयोजन न करे। यह प्रमादचर्याविरति है ॥१४३॥ छुरी, धेनु, विष, अग्नि, हल, तलवार, धनुष-बाण आदि हिंसाके उपकरणोंका दूसरोंको देना प्रयत्नके साथ परित्याग करे। यह हिंसादानविरति है ॥ १४४ ॥ रागादिकी बढ़ानेवाली तथा अज्ञान-बहुल खोटी कथाओंका कभी भी श्रवण, अर्जन (संग्रह) और शिक्षण (सीखना-सिखाना) आदि न करे। यह दुःश्रुति-विरति है ॥१४५॥ जुआ सर्व अनर्थोमें प्रधान है, शौच (पवित्रता और सन्तोष) का नाशक है, माया-चारका घर है, चोरी और असत्यका स्थान है, उसे दूरसे ही परित्याग करना चाहिए ॥१४६॥ इसी प्रकारके अन्य भी अनर्थदण्डोंको जान करके जो श्रावक उनका त्याग करता है, उसका निर्दोष अहिंसा व्रत निरन्तर विजयको प्राप्त करता है ॥१४७॥ राग-द्वेषके त्यागसे सर्वद्रव्योंमें समस्तभावको अव-लम्बन कर आत्मतत्त्वकी प्राप्तिका मूलकारणभूत सामायिक बारंबार करना चाहिए ॥१४८॥ रात और दिनके अन्तमें अर्थात् प्रातःकाल और सायंकालमें मनकी चञ्चलताको रोककर यह सामायिक अवश्य ही करना चाहिए। दोनों सन्ध्याओंके सिवाय अन्य समयमें किया गया सामायिक दोषके लिए नहीं; अर्थात् दोष-कारक नहीं है, प्रत्युत वह गुणके लिए ही होता है ॥१४९॥ सामायिकका आश्रय करनेवाले पुरुषोंके अणुव्रत समस्त सावद्ययोगके परिहारसे चारित्र मोहके उदयमें भी महाव्रतपनेको प्राप्त होते हैं यह प्रथम सामायिक शिक्षाव्रत है ॥ १५० ॥ प्रतिदित धारण किये गये सामायिकरूप संस्कारको स्थिर करनेके लिए दोनों पक्षोंके अर्धभागमें अर्थात् अष्टमी और चतुर्दशीके दिन उपवास अवश्य ही करना चाहिए ॥१५१॥ प्रोषध (उपवास) दिनके पूर्व दिनार्धमें अर्थात् मध्याह्नकालमें

श्रित्वा विविक्तवसतिं समस्तसावद्ययोगमपनीय ।
सर्वेन्द्रियार्थविरतः कायमनोवचनगुप्तिभिस्तिष्ठेत् ॥१५३
धर्मध्यानासक्तो वासरमतिवाह्य विहितसान्ध्यविधिम् ।
शुचिसंस्तरे त्रियामां गमयेत्स्वाध्यायजितनिद्रः ॥१५४
प्रातः प्रोत्थाय ततः कृत्वा तात्कालिकं क्रियाकल्पम् । निर्वर्तयेद्यथोक्तं जिनपूजां प्रासुकैर्द्रव्यैः ॥१५५
उक्तेन ततो विधिना नीत्वा दिवसं द्वितीयरात्रिं च ।
अतिवाहयेत्प्रयत्नादर्धं च तृतीयदिवसस्य ॥१५६
इति यः षोडशयामान् गमयति परिमुक्तसकलसावद्यः ।
तस्य तदानीं नियतं पूर्णमहिंसाव्रतं भवति ॥१५७
भोगोपभोगहेतोः स्थावरहिंसा भवेत् किलामीषाम् ।
भोगपभोगोविरहाद्भवति न लेशोऽपि हिंसायाः ॥१५८
वाग्गुप्तेर्नास्त्यनृतं न समस्तादानविरहतः स्तेयम् ।
नाब्रह्म मैथुनमुचः सङ्गो नाङ्गेऽप्यमूर्च्छस्य ॥१५९
इत्थमशेषितहिंसः प्रयाति स महाव्रतित्वमुपचारात् ।
उदयति चरित्रमोहे लभते तु न संयमस्थानम् ॥१६०
भोगोपभोगमूला विरताविरतस्य नान्यतो हिंसा ।
अधिगम्य वस्तुतत्त्वं स्वशक्तिमपि तावपि त्याज्यौ ॥१६१

समस्त आरम्भसे विमुक्त होकर और शरीरादिमें ममत्वको छोड़कर उपवासको ग्रहण करे ॥१५२॥ पश्चात् एकान्त वसतिकाको आश्रय करके और समस्त सावद्ययोगको त्याग करके सर्व इन्द्रियोंके विषयोंसे विरत रहता हुआ मन-वचन-कायकी गुप्तियोंके साथ स्थित होवे ॥१५३॥ इस प्रकार धर्म-ध्यानमें संलग्न रहकर, आधे दिनको बिता कर और सन्ध्याकालीन विधिको करके पवित्र संस्तर पर स्वाध्यायसे निद्राको जीतता हुआ रात्रिको व्यतीत करे ॥ १५४ ॥ पुनः प्रातःकाल उठकर और तात्कालिक क्रियाकलापको करके प्रासुक द्रव्योंके द्वारा आगमोक्त विधिसे जिनदेवकी पूजनको करे ॥१५५॥ तदनन्तर पूर्वोक्त विधिसे शेष समस्त दिनको तथा दूसरी रात्रिको भी बिता करके तीसरे दिनके अर्धभागको प्रयत्नसे धर्मध्यानपूर्वक धर्मसाधन करते हुए बितावे ॥१५६॥ इस प्रकार जो गृहस्थ सर्वसावद्य कार्योंको छोड़कर सोलह पहरोंको बिताता है, उसके उस प्रोषधोपवासकालमें निश्चय करके पूर्ण अहिंसाव्रत होता है, यह दूसरा प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत है ॥१५७॥ भोग और उपभोगके कारणसे इन गृहस्थोंके स्थावर जीवोंकी हिंसा नियमसे होती है। किन्तु प्रोषधोपवासके समय भोग-उपभोगके सेवनके अभावसे हिंसाका लेश भी उनके नहीं होता है ॥१५८॥ उस समय वचनगुप्तिके पालनसे असत्य वचन भी नहीं हैं, समस्त अदत्तादानके अभावसे चोरी भी नहीं है, मैथुन-त्यागसे अब्रह्म भी नहीं है और शरीरमें मूर्च्छा-रहित होनेसे उस गृहस्थके परिग्रह भाव भी नहीं है ॥१५९॥ इस प्रकार सम्पूर्ण प्रकारकी हिंसाओंसे रहित वह श्रावक उस समय उपचारसे महाव्रती-पनेको प्राप्त होता है। किन्तु चारित्रमोहके कर्मके उदय होनेसे वह संयम स्थानको नहीं पाता है ॥ १६० ॥ भावार्थ-उपवासकालमें गृहस्थके उक्त विधिसे किसी भी प्रकारका पापकार्य नहीं होता है, अतः उसके अणुव्रत भी महाव्रत जैसे हो जाते हैं। अर्थात् उप-

विद्यावाणिज्यमषीकृषिसेवाशिल्पजीविनां पुंसाम् । पापोपदेशदानं कदाचिदपि नैव वक्तव्यम् ॥१४२
भूखननवृक्षमोट्टनशाड्वलदलनाम्बुसेचनादीनि । निष्कारणं न कुर्याद्दलफलकुसुमोच्चयानपि च ॥१४३

असिधेनुविषहुताशनलाङ्गलकरवालकार्मुकादीनाम् ।
वितरणमुपकरणानां हिंसायाः परिहरेद्यत्नात् ॥१४४

रागादिवर्द्धनानां दुष्टकथानामबोधबहुलानाम् । न कदाचन कुर्वीत श्रवणार्जनशिक्षणादीनि ॥१४५
सर्वानर्थप्रथमं मथनं शौचस्य सद्म मायायाः । दूरात्परिहरणीयं चौर्यासत्यास्पदं द्यूतम् ॥१४६
एवंविधमपरमपि ज्ञात्वा मुञ्चत्यनर्थदण्डं यः । तस्यानिशमनवद्यं विजयमहिंसाव्रतं लभते ॥१४७
रागद्वेषत्यागान्निखिलद्रव्येषु साम्यमवलम्ब्य । तत्त्वोपलब्धिमूलं बहुशः सामायिकं कार्यम् ॥१४८

रजनीदिनयोरन्ते तदवश्यं भावनीयमविचलितम् ।
इतरत्र पुनः समये न कृतं दोषाय तद्गुणाय कृतम् ॥१४९

सामायिकश्रितानां समस्तसावद्ययोगपरिहारात् । भवति महाव्रतमेषामुदयेऽपि चरित्रमोहस्य ॥१५०
सामायिकसंस्कारं प्रतिदिनमारोपितं स्थिरीकर्तुम् । पक्षार्धयोर्द्वयोरपि कर्तव्योऽवश्यमुपवासः ॥१५१
मुक्तसमस्तारम्भः प्रोषधदिनपूर्ववासरस्यार्धे । उपवासं गृह्णीयान्ममत्वमपहाय देहादौ ॥१५२

विरति नामक तीसरे गुणव्रतका वर्णन करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि पापर्द्धि (आखेट-शिकार) जय, पराजय, संग्राम परस्त्रीगमन और चोरी आदिक करनेकी बात कभी भी नहीं चिन्तवन करना चाहिए, क्योंकि इनका केवल पाप ही फल है। अनर्थदण्डविरतिके पाँचभेदोंमेंसे यह प्रथम अपध्यानविरति है ॥१४१॥ विद्या, वाणिज्य, मषी, कृषि, सेवा और शिल्पसे आजीविका करनेवाले पुरुषोंको उनके करनेवाले पापके उपदेशरूपसे वचन कभी भी नहीं बोलना चाहिए। यह पापोपदेशविरति है ॥१४२॥ भूमि खोदना, वृक्ष मोड़ना, दुर्वा-घास रोंदना, जल सींचना, आग जलाना और बुझाना, तथा पत्र, फल, फूल तोड़ना आदि कार्य निष्प्रयोजन न करे। यह प्रमादचर्याविरति है ॥१४३॥ छुरी, धेनु, विष, अग्नि, हल, तलवार, धनुष-बाण आदि हिंसाके उपकरणोंका दूसरोंको देना प्रयत्नके साथ परित्याग करे। यह हिंसादानविरति है ॥ १४४ ॥ रागादिकी बढ़ानेवाली तथा अज्ञान-बहुल खोटी कथाओंका कभी भी श्रवण, अर्जन (संग्रह) और शिक्षण (सीखना-सिखाना) आदि न करे। यह दुःश्रुति-विरति है ॥१४५॥ जुआ सर्व अनर्थोंमें प्रधान है, शौच (पवित्रता और सन्तोष) का नाशक है, मायाचारका घर है, चोरी और असत्यका स्थान है, उसे दूरसे ही परित्याग करना चाहिए ॥१४६॥ इसी प्रकारके अन्य भी अनर्थदण्डोंको जान करके जो श्रावक उनका त्याग करता है, उसका निर्दोष अहिंसा व्रत निरन्तर विजयको प्राप्त करता है ॥१४७॥ राग-द्वेषके त्यागसे सर्वद्रव्योंमें समस्तभावको अवलम्बन कर आत्मतत्त्वकी प्राप्तिका मूलकारणभूत सामायिक बारंवार करना चाहिए ॥१४८॥ रात और दिनके अन्तमें अर्थात् प्रातःकाल और सायंकालमें मनकी चञ्चलताको रोककर यह सामायिक अवश्य ही करना चाहिए। दोनों सन्ध्याओंके सिवाय अन्य समयमें किया गया सामायिक दोषके लिए नहीं; अर्थात् दोष-कारक नहीं है, प्रत्युत वह गुणके लिए ही होता है ॥१४९॥ सामायिकका आश्रय करनेवाले पुरुषोंके अणुव्रत समस्त सावद्ययोगके परिहारसे चारित्र मोहके उदयमें भी महाव्रतपनेको प्राप्त होते हैं यह प्रथम सामायिक शिक्षाव्रत है ॥ १५० ॥ प्रतिदित धारण किये गये सामायिकरूप संस्कारको स्थिर करनेके लिए दोनों पक्षोंके अर्धभागमें अर्थात् अष्टमी और चतुर्दशीके दिन उपवास अवश्य ही करना चाहिए ॥१५१॥ प्रोषध (उपवास) दिनके पूर्व दिनार्धमें अर्थात् मध्याह्नकालमें

श्रित्वा विविक्तवसतिं समस्तसावद्ययोगमपनीय ।
सर्वेन्द्रियार्थविरतः कायमनोवचनगुप्तिभिस्तिष्ठेत् ॥१५३
धर्मध्यानासक्तो वासरमतिवाह्य विहितसान्ध्यविधिम् ।
शुचिसंस्तरे त्रियामां गमयेत्स्वाध्यायजितनिद्रः ॥१५४
प्रातः प्रोत्थाय ततः कृत्वा तात्कालिकं क्रियाकल्पम् । निर्वर्तयेद्यथोक्तं जिनपूजां प्रासुकैर्द्रव्यैः ॥१५५
उक्तेन ततो विधिना नीत्वा दिवसं द्वितीयरात्रिं च ।
अतिवाहयेत्प्रयत्नादर्धं च तृतीयदिवसस्य ॥१५६
इति यः षोडशयामान् गमयति परिमुक्तसकलसावद्यः ।
तस्य तदानीं नियतं पूर्णमहिंसाव्रतं भवति ॥१५७
भोगोपभोगहेतोः स्थावरहिंसा भवेत् किलामीषाम् ।
भोगपभोगोविरहाद्भवति न लेशोऽपि हिंसायाः ॥१५८
वाग्गुप्तेर्नास्त्यनृतं न समस्तादानविरहतः स्तेयम् ।
नाब्रह्म मैथुनमुचः सङ्गो नाङ्गेऽप्यमूर्च्छस्य ॥१५९
इत्थमशेषितहिंसः प्रयाति स महाव्रतित्वमुपचारात् ।
उदयति चरित्रमोहे लभते तु न संयमस्थानम् ॥१६०
भोगोपभोगमूला विरताविरतस्य नान्यतो हिंसा ।
अधिगम्य वस्तुतत्त्वं स्वशक्तिमपि तावपि त्याज्यौ ॥१६१

समस्त आरम्भसे विमुक्त होकर और शरीरादिमें ममत्वको छोड़कर उपवासको ग्रहण करे ॥१५२॥ पश्चात् एकान्त वसतिकाको आश्रय करके और समस्त सावद्ययोगको त्याग करके सर्व इन्द्रियोंके विषयोंसे विरत रहता हुआ मन-वचन-कायकी गुप्तियोंके साथ स्थित होवे ॥१५३॥ इस प्रकार धर्म-ध्यानमें संलग्न रहकर, आधे दिनको बिता कर और सन्ध्याकालीन विधिको करके पवित्र संस्तर पर स्वाध्यायसे निद्राको जीतता हुआ रात्रिको व्यतीत करे ॥ १५४ ॥ पुनः प्रातःकाल उठकर और तात्कालिक क्रियाकलापको करके प्रासुक द्रव्योंके द्वारा आगमोक्त विधिसे जिनदेवकी पूजनको करे ॥१५५॥ तदनन्तर पूर्वोक्त विधिसे शेष समस्त दिनको तथा दूसरी रात्रिको भी बिता करके तीसरे दिनके अर्धभागको प्रयत्नसे धर्मध्यानपूर्वक धर्मसाधन करते हुए बितावे ॥१५६॥ इस प्रकार जो गृहस्थ सर्वसावद्य कार्योंको छोड़कर सोलह पहरोंको बिताता है, उसके उस प्रोषधोपवासकालमें निश्चय करके पूर्ण अहिंसाव्रत होता है, यह दूसरा प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत है ॥१५७॥ भोग और उपभोगके कारणसे इन गृहस्थोंके स्थावर जीवोंकी हिंसा नियमसे होती है। किन्तु प्रोषधोपवासके समय भोग-उपभोगके सेवनके अभावसे हिंसाका लेश भी उनके नहीं होता है ॥१५८॥ उस समय वचनगुप्तिके पालनसे असत्य वचन भी नहीं हैं, समस्त अदत्तादानके अभावसे चोरी भी नहीं है, मैथुन-त्यागसे अब्रह्म भी नहीं है और शरीरमें मूर्च्छा-रहित होनेसे उस गृहस्थके परिग्रह भाव भी नहीं है ॥१५९॥ इस प्रकार सम्पूर्ण प्रकारकी हिंसाओंसे रहित वह श्रावक उस समय उपचारसे महाव्रती-पनेको प्राप्त होता है। किन्तु चारित्रमोहके कर्मके उदय होनेसे वह संयम स्थानको नहीं पाता है ॥ १६० ॥ भावार्थ-उपवासकालमें गृहस्थके उक्त विधिसे किसी भी प्रकारका पापकार्य नहीं होता है, अतः उसके अणुव्रत भी महाव्रत जैसे हो जाते हैं। अर्थात् उप-

एकमपि प्रजिघांसुर्निहन्त्यनन्तान्यतस्ततोऽवश्यम् । करणीयमशेषाणां परिहरणमनन्तकायानाम् ॥१६२

नवनीतं च त्याज्यं योनिस्थानं प्रभूतजीवानाम् ।
यद्वापि पिण्डशुद्धौ विरुद्धमभिधीयते किञ्चित् ॥१६३

अविरुद्धा अपि भोगा निजशक्तिमपेक्ष्य धीमता त्याज्याः ।
अत्याज्येष्वपि सीमा कार्यैकदिवानिशोपभोग्यतया ॥१६४

पुनरपि पूर्वकृतायां समीक्ष्य तात्कालिकीं निजां शक्तिम् ।
सीमन्यन्तरसीमा प्रतिदिवसं भवति कर्तव्या ॥१६५

इति यः परिमितभोगैः सन्तुष्टस्त्यजति बहुतरान् भोगान् ।
बहुतरहिंसाविरहात्तस्याहिंसा विशिष्टा स्यात् ॥१६६

विधिना दातृगुणवता द्रव्यविशेषस्य जातरूपाय । स्वपरानुग्रहहेतोः कर्तव्योऽवश्यमतिथये भागः ॥१६७

संग्रहमुच्चस्थानं पादोदकमर्चनं प्रणामं च । वाक्कायमनःशुद्धिरेषणशुद्धिश्च विधिमाहुः ॥१६८

ऐहिकफलानपेक्षा क्षान्तिर्निष्कपटतानसूयत्वम् ।
अविषादित्वमुदित्वे निरहङ्कारित्वमिति हि दातृगुणाः ॥१६९

रागद्वेषासंयममदहुःखभयादिकं न यत्कुरुते । द्रव्यं तदेव देयं सुतपःस्वाध्यायवृद्धिकरम् ॥१७०

चारसे उन्हें महाव्रत कहा जा सकता है। किन्तु यतः उसके अभी संयमकी घातक प्रत्याख्यानावरण कषायका उदय है अतः निश्चयसे उसे महाव्रती या संयमस्थानका धारण नहीं कह सकते। देशव्रती श्रावकके भोग और उपभोग-मूलक ही हिंसा होती है, अन्य प्रकारसे नहीं। अतएव वस्तु-तत्त्व को जानकर अपनी शक्तिके अनुसार भोग और उपभोगका त्याग करना चाहिए ॥१६१॥ भोग और उपभोगके निमित्तसे एकभी कन्दमूलादि साधारणशरीर को घात करने की इच्छा वाला पुरुष उस शरीरमें रहने वाले अनन्त जीवों का घात करता है, इसलिए समस्त ही अनन्त कायिक वनस्पतियोंका सर्वथा परित्याग करना चाहिए ॥ १६२ ॥ बहुत जीवोंकी उत्पत्तिका स्थानभूत नवनीत (लोणी, मक्खन) भी त्याग करनेके योग्य है। तथा आहार को शुद्धिमें जो कोई भी वस्तु विरुद्ध (अग्राह्य या अभक्ष्य) कही गई है, उन सभी का त्याग करना चाहिए ॥१६३॥ जो भोग शास्त्र-विरुद्ध नहीं है, उन्हें भी बुद्धिमान् लोग अपनी शक्ति को देखकर त्याग करे। तथा जो भोगोपभोग सर्वदा के लिए त्याग नहीं किये जा सकते हैं उनसे सेवनमें भी एक दिन, रात्रि आदि की उपभोग्यतासे काल की सीमा करनी चाहिए ॥१६४॥ प्रथम की हुई सीमामें फिर भी तात्कालिक निज शक्ति को देखकरके सीमाके भीतर और भी अन्तर सीमा प्रति-दिन करनेके योग्य है ॥१६५॥ इस प्रकार जो गृहस्थ सीमित अल्प भोगोंसे सन्तुष्ट रहता हुआ अधि-कांश भोगोंको त्यागता है, उसके अधिकतर हिंसाके अभावसे अहिंसा विशेषताको प्राप्त होती है ॥१६६॥ यह भोगोपभोग नामक तीसरा शिक्षा व्रत है। दाताके गुणोंसे युक्त श्रावक को स्व-पर अनुग्रहके हेतु विधि पूर्वक यथाजातरूपधारी अतिथि साधुके लिए द्रव्यविशेष का संविभाग अवश्य करना चाहिए ॥१६७॥ अतिथि का संग्रह (प्रतिग्रह) करना, उच्चस्थान देना, पाद-प्रक्षालन करना, पूजन करना, प्रणाम करना, तथा वचनशुद्धि, कायशुद्धि, मनःशुद्धि और भोजनशुद्धि, इस नवधा भक्ति को आचार्योंने दान देने की विधि कहा है ॥१६८॥ इस लोक सम्बन्धी किसी भी प्रकारके फल की अपेक्षा न रखना, क्षमा धारण करना, निष्कपट भाव रखना, ईर्ष्या न करना, विषाद न करना, प्रमोद भाव रखना, और अहंकार न करना ये सातदाताके गुण को कहे गये हैं ॥१६९॥ जो वस्तु

पात्रं त्रिभेदमुक्तं संयोगो मोक्षकारणगुणानाम् ।
अविरतसम्यग्दृष्टिः विरताविरतश्च सकलविरतश्च ॥१७१
हिंसायाः पर्यायो लोभोऽत्र निरस्यते यतो दाने । तस्मादतिथिवितरणं हिंसाव्युपरमणमेवेष्टम् ॥१७२
गृहमागताय गुणिने मधुकरवृत्त्या परानपीडयते ।
वितरति यो नातिथये स कथं न हि लोभवान् भवति ॥१७३
कृतमात्मार्थं मुनये ददाति भक्तमिति भावितस्त्यागः ।
अरतिविषादविमुक्तः शिथिलितलोभो भवत्यहिंसैव ॥१७४
इयमेकैव समर्था धर्मस्वं मे मया समं नेतुम् ।
सततमिति भावनीया पश्चिमसल्लेखना भक्त्या ॥१७५
मरणान्तेऽवश्यमहं विधिना सल्लेखनां करिष्यामि ।
इति भावनापरिणतोऽनागतमपि पालयेदिदं शीलम् ॥१७६
मरणेऽवश्यम्भाविनि कषायसल्लेखनातनुकरणमात्रे ।
रागादिमन्तरेण व्याप्रियमाणस्य नात्मघातोऽस्ति ॥१७७
यो हि कषायाविष्टः कुम्भकजलधूमकेतुविषशस्त्रैः ।
व्यपरोपयति प्राणान् तस्य स्यात्सत्यमात्मवधः ॥१७८
नीयन्तेऽत्र कषाया हिंसाया हेतवो यतस्तनुताम् ।
सल्लेखनामपि ततः प्राहुरहिंसाप्रसिद्ध्यर्थम् ॥१७९

राग, द्वेष, असंयम, मद, दुःख और भय आदि को न करे और तप एवं स्वाध्याय की वृद्धि करे, वह द्रव्य अतिथि को देनेके योग्य है ॥१७०॥ जिसमें मोक्षके कारणभूत सम्यग्दर्शनादि गुणों का संयोग हो, वह पात्र कहलाता है। उसके तीन भेद कहे गये हैं—उनमें अविरत सम्यग्दृष्टि जघन्य पात्र है, देशविरत मध्यम पात्र है और सकलविरत साधु उत्तम पात्र है ॥१७१॥ यतः पात्र को दान देने पर हिंसा का पर्यायभूत लोभ दूर होता है, अतः अतिथि को दान देना हिंसा का परित्याग ही कहा गया है ॥१७२॥ जो गृहस्थ अपने घर पर आये हुए, गुणशाली, मधुकरी वृत्तिसे दूसरों को पीड़ा नहीं पहुँचाने वाले ऐसे अतिथिके लिए दान नहीं देता है, वह लोभवाला कैसे नहीं है ? अर्थात् अवश्य ही लोभी है ॥१७३॥ जो अपने लिए बनाये गये भोजन को मुनिके लिए देता है, अरति और और विषादसे विमुक्त है, और लोभ जिसका शिथिल हो रहा है, ऐसे गृहस्थ का भावयुक्त त्याग (दान) अहिंसा स्वरूप ही है ॥१७४॥ भावार्थ—अतिथिके लिए उपर्युक्त नवधाभक्तिसे दिया गया दान अहिंसा धर्म रूप ही है। यह अतिथि संविभाग नामक चौथा शिक्षाव्रत है। अब आचार्य सल्लेखना का निरूपण करते हैं—यह एक ही सल्लेखना मेरे धर्मरूपी धन को मेरे साथ ले जानेके लिए समर्थ है, इसलिए निरन्तर ही भक्तिसे अन्तिम (मारणान्ति की) सल्लेखना की भावना करना चाहिए ॥१७५॥ 'मरणके अन्तमें (मरते समय) मैं अवश्य ही विधिपूर्वक सल्लेखना को करूँगा', इस प्रकार की भावनासे परिणत श्रावक को अनागत भी यह सल्लेखनारूप शीलव्रत पालन करना चाहिए ॥१७६॥ अवश्यम्भावी मरणके समय कषायों को कृश करनेके साथ शरीरके कृश करनेमें व्यापार करने वाले पुरुष को समाधिमरण रागादि भावोंके नहीं होनेसे आत्मघातरूप नहीं है ॥१७७॥ हाँ, जो पुरुष कषायाविष्ट होकर कुम्भक (श्वास-निरोध) जल, अग्नि, विष और शस्त्रादिकोंसे प्राणों का घात करता है, उसका वह मरण सचमुच आत्मघात है ॥१७८॥ इस समाधिमरणमें यतः हिंसाके

इति यो व्रतरक्षार्थं सततं पालयति सकलशीलानि ।
वरयति पतिंवरेव स्वयमेव तमुत्सुका शिवपदश्रीः ॥१८०
अतिचाराः सम्यक्त्वे व्रतेषु शीलेषु पञ्च पञ्चेति ।
सप्ततिरमी यथोदितशुद्धिप्रतिबन्धिनो हेयाः ॥१८१
शङ्का तथैव काङ्क्षा विचिकित्सा संस्तवोऽन्यदृष्टीनाम् ।
मनसा च तत्प्रशंसा सम्यग्दृष्टेरतीचाराः ॥१८२
छेदनताडनवन्धाः भारस्यारोपणं समधिकस्य । पानान्नयोश्च रोधः पञ्चाहिंसाव्रतस्येति ॥१८३
मिथ्योपदेशदानं रहसोऽभ्याख्यानकूटलेखकृती । न्यासापहारवचनं साकारमन्त्रभेदश्च ॥१८४
प्रतिरूपव्यवहारः स्तेननियोगस्तदाहृतादानम् । राजविरोधातिक्रमहीनाधिकमानकरणे च ॥१८५
स्मरतीव्राभिनिवेशानङ्गक्रीडान्यपरिणयनकरणम् । अपरिगृहीतेतरयोर्गमने चेत्वरिकयोः पञ्च ॥१८६
वास्तुक्षेत्राष्टापदहिरण्यधनधान्यदासदासीनाम् । कुप्यस्य भेदयोरपि परिमाणातिक्रियाः पञ्च ॥१८७
ऊर्ध्वमधस्तात्तिर्यक्-व्यतिक्रमाः क्षेत्रवृद्धिराधानम् ।
स्मृत्यन्तरस्य गदिताः पञ्चेति प्रथमशीलस्य ॥१८८
प्रेषस्य संप्रयोजनमानयनं शब्दरूपविनिपातौ । क्षेपोऽपि पुद्गलानां द्वितीयशीलस्य पञ्चेति ॥१८९
कन्दर्पः कौत्कुच्यं भोगानर्थक्यमपि च मौखर्यम् । असमीक्षिताधिकरणं तृतीयशीलस्य पञ्चेति ॥१९०

कारणभूत कषाय क्षीणता को प्राप्त कराये जाते हैं, अतः आचार्योंने सल्लेखना को अहिंसा की सिद्धि के लिए ही कहा है ॥१७९॥ इस प्रकार जो गृहस्थ पुरुष अहिंसादि व्रतों की रक्षाके लिए निरन्तर सभी शीलव्रतों को पालता है, उसे शिवपदरूपलक्ष्मी उत्कण्ठित पतिंवरा कन्याके समान स्वयं ही वरण करती है ॥१८०॥ सम्यग्दर्शनमें, पांचों व्रतोंमें तथा सल्लेखना-सहित सातों शीलोंमें पांच-पांच अतिचार कहे गये हैं। वे सर्व मिलकर सत्तर होते हैं। ये अतीचार यथार्थ शुद्धिके प्रतिबन्धक हैं, अतः छोड़नेके योग्य हैं ॥१८१॥ जिनोक्ततत्त्वमें शंका करना, सांसारिक भोगों की आकांक्षा रखना, ग्लानि करना, मिथ्यादृष्टियों की वचनसे स्तुति करना और मनसे उनकी प्रशंसा करना, ये पांच सम्यग्दर्शनके अतीचार हैं ॥१८२॥ अपने अधीन मनुष्य-पशुओंके अंग छेदना, ताड़न करना, बांधना, अधिक भार का लादना और अन्न-पान का निरोध करना ये पांच अहिंसा व्रत के अतीचार हैं ॥१८३॥ मिथ्या उपदेश देना, स्त्री-पुरुषों की गुप्त बातों को कहता, झूठे लेख लिखना, धरोहरके अपहारक वचन कहना और साकार मंत्रभेद ये पांच सत्याणुव्रतके अतीचार हैं ॥१८४॥ प्रतिरूपक व्यवहार, स्तेन-प्रयोग, तदाहृतादान, विरुद्धराज्यातिक्रम, और हीनाधिकमानोन्मान, ये पांच अचौर्याणुव्रतके अतीचार हैं ॥१८५॥ कामतीव्राभिनिवेश, अनंगक्रीड़ा, अन्यविवाहकरण, अपरिगृहीत-इत्वरिकागमन और परिगृहीत-इत्वरिकागमन, ये पाँच ब्रह्मचर्याणुव्रतके अतीचार हैं ॥१८६॥ वास्तु-क्षेत्र, हिरण्य-सुवर्ण, धन-धान्य, दासी-दास और कुप्यके वस्त्र-भाजनरूप दोनों भेदों में भी स्वीकृत परिमाणका उल्लंघन करना, ये पांच परिग्रहपरिमाणुव्रतके अतीचार हैं ॥१८७॥ ऊर्ध्वातिक्रम, अधस्तात्-व्यतिक्रम, तिर्यक्-व्यतिक्रम, क्षेत्रवृद्धि और स्मृत्यन्तराधान, ये दिग्व्रतरूप प्रथम शीलके पांच अतीचार हैं ॥१८८॥ प्रेष्य-प्रयोग, आनयन, शब्दानुपात, रूपानुपात, और पुद्गलक्षेप, ये पांच देशव्रत-रूप द्वितीय शीलके अतीचार हैं ॥१८९॥ कन्दर्प, कौत्कुच्य, भोगानर्थक्य, मौखर्य और असमीक्षिताधिकरण, ये पांच अनर्थदंडव्रतरूप तृतीय शीलव्रतके अतीचार हैं ॥१९०॥ वचनदुःप्रणिधान, मनोदुः-

वचनमनःकायानां दुःप्रणिधानमनादरश्चैव । स्मृत्यनुपस्थानयुताः पञ्चेति चतुर्थशीलस्य ॥१९१

अनवेक्षिताप्रमार्जितमादानं संस्तरस्तथोत्सर्गः । स्मृत्यनुपस्थानमनादरश्च पञ्चोपवासस्य ॥१९२

आहारो हि सचित्तः सचित्तमिश्रः सचित्तसम्बन्धः ।
दुष्पक्वोऽभिषवोऽपि च पञ्चामी षष्ठशीलस्य ॥१९३

परदातृव्यपदेशः सचित्तनिक्षेपतत्पिधाने च । कालस्यातिक्रमणं मात्सर्यं चेत्यतिथिदाने ॥१९४

जीवितमरणाशंसे सुहृदनुरागःसुखानुबन्धश्च । सनिदानः पञ्चैते भवन्ति सल्लेखनाकाले ॥१९५

इत्येतानतिचारानपरानपि सम्प्रतर्क्य परिवर्ज्य ।
सम्यक्त्वव्रतशीलैरमलैःपुरुषार्थसिद्धिमेत्यचिरात् ॥१९६

चारित्रान्तर्भावात्तपोऽपि मोक्षाङ्गमागमे गदितम् ।
अनिगूहितनिजवीर्यैस्तदपि निषेव्यं समाहितस्वान्तैः ॥१९७

अनशनमवमौदर्यं विविक्तशय्यासनं रसत्यागः ।
कायक्लेशो वृत्तेः संख्या च निषेव्यमिति तपोबाह्यम् ॥१९८

विनयो वैयावृत्त्यं प्रायश्चित्तं तथैव चोत्सर्गः ।
स्वाध्यायोऽथ ध्यानं भवति निषेव्यं तपोऽन्तरङ्गमिति ॥१९९

जिनपुङ्गवप्रवचने मुनीश्वराणां यदुक्तमाचरणम् ।
सुनिरूप्य निजां पदवीं शक्तिं च निषेव्यमेतदपि ॥२००

इदमावश्यकषट्कं समतास्तववन्दना प्रतिक्रमणम् । प्रत्याख्यानं वपुषो व्युत्सर्गश्चेति कर्तव्यम् ॥२०१

प्रणिधान, कायदुःप्रणिधान, अनादर और स्मृत्यनुपस्थान, ये पांच सामायिकशिक्षाव्रतरूप चतुर्थ शीलव्रतके अतीचार हैं॥ १९१ ॥ अनवेक्षित-अप्रमार्जितादान अनवेक्षित-अप्रमार्जित संस्तर, अनवेक्षित-अप्रमार्जित-उत्सर्ग, स्मृत्यनुपस्थान और अनादर ये पाँच प्रोषधोपवास शिक्षाव्रतरूप पंचमशीलके अतीचार हैं ॥१९२॥ सचित्ताहार, सचित्तसमिश्र, सचित्तसम्बन्ध, दुष्पक्व और अभिषव आहार, ये पाँच भोगोपभोगपरिमाणशिक्षाव्रतरूप षष्ठ शीलके अतीचार हैं ॥१९३॥ परदातृ-व्यपदेश, सचित्तनिक्षेप, सचित्तपिधान, कालातिक्रमण और मात्सर्य, ये पांच अतिथिसंविभाग-शिक्षाव्रतरूप सप्तम शीलके अतीचार हैं ॥१९४॥ जीविताशंसा, मरणाशंसा, सुहृदनुराग, सुखानुबन्ध और निदान, ये पांच अतीचार सल्लेखना कालमें होते हैं ॥१९५॥ इन उपर्युक्त सत्तर अतीचारों को, तथा इसी प्रकारके संभव अन्य भी अतिचारों को स्वयं विचार करके छोड़ने वाला श्रावक निर्मल सम्यक्त्व, व्रत और शीलोंके द्वारा शीघ्र ही पुरुषार्थ की सिद्धि को प्राप्त होता है ॥१९६॥ चारित्रमें अन्तर्भाव होनेसे तपभी मोक्षका कारण आगममें कहा गया है, इसलिए आपने बल-वीर्यको नहीं छिपाकर सावधान-चित्त श्रावकोंको उस तपका भी सेवन करना चाहिए ॥१९७॥ वह तप दो प्रकारका है—बाह्य तप और अन्तरंग तप । इनमेंसे बाह्य तप छह प्रकारका है—अनशन, अवमोदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश । इन तपोंका यथाशक्ति सेवन करे ॥१९८॥ विनय, वैयावृत्त्य, प्रायश्चित्त, उत्सर्ग, स्वाध्याय और ध्यान ये छह अन्तरंग तप हैं, इनका भी आचरण करना चाहिए ॥१९९॥ जिनेश्वरदेवके प्रवचनमें मुनीश्वरोंका जो आचरण कहा गया है, उसे भी अपनी पदवी और शक्तिका भले प्रकारसे विचार करके पालन करना चाहिए ॥ २०० ॥ जिनागममें मुनियोंके छह आवश्यक कर्त्तव्य कहे गये हैं—सामायिक,

सम्यग्दण्डो वपुषः सम्यग्दण्डस्तथा च वचनस्य । मनसः सम्यग्दण्डो गुप्तीनां त्रितयमवगन्तव्यम् ॥२०२
सम्यग्गमनागमनं सम्यग्भाषा तथैषणा सम्यक् । सम्यग्ग्रहनिक्षेपौ व्युत्सर्गः सम्यगिति समितिः ॥२०३

धर्मः सेव्यः क्षान्तिर्मृदुत्वमृजुता च शौचमथ सत्यम् ।
आकिञ्चन्यं ब्रह्म त्यागश्च तपश्च संयमश्चेति ॥२०४

अध्रुवमशरणमेकत्वमन्यताऽशौचमास्रवो जन्म । लोकवृषबोधिसंवरनिर्जराः सततमनुप्रेक्षाः ॥२०५

क्षुत्तृष्णा हिममुष्णं नग्नत्वं याचनाऽरतिरलाभः ।
दंशो मशकादीनामाक्रोशो व्याधिदुःखमङ्गमलम् ॥२०६
स्पर्शश्च तृणादीनामज्ञानमदर्शनं तथा प्रज्ञा ।
सत्कारपुरस्कारः शय्या चर्या वधो निषद्या स्त्री ॥२०७

द्वाविंशतिरप्येते परिषोढव्या परीषहाः सततम् । संक्लेशमुक्तमनसा संक्लेशनिमित्तभीतेन ॥२०८

इति रत्नत्रयमेतत्प्रतिसमयं विकलमपि गृहस्थेन ।
परिपालनीयमनिशं निरत्ययां मुक्तिमभिलषता ॥२०९
बद्धोद्यमेन नित्यं लब्ध्वा समयं च बोधिलाभस्य ।
पदमवलम्ब्य मुनीनां कर्तव्यं सपदि परिपूर्णम् ॥२१०
असमग्रं भावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्मबन्धो यः ।
स विपक्षकृतोऽवश्यं मोक्षोपायो न बन्धनोपायः ॥२११

स्तवन, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग । गृहस्थको यथाशक्ति इन्हें भी करना चाहिए ॥२०१॥ मुनिजन तीन गुप्तियों को धारण करते हैं—मनोगुप्ति—मनका सम्यक् निग्रह, वचन गुप्ति—वचनका सम्यक् निरोध और कायगुप्ति—कायका सम्यक् नियमन । गृहस्थको भी यथाशक्ति मन-वचन-कायको वशमें रखना चाहिए ॥२०२॥ साधु पांच समितियोंका पालन करते हैं—ईर्या समिति—सावधानीपूर्वक गमनागमन करना, भाषासमिति—सम्यक् भाषा बोलना, एषणासमिति, आहार की शुद्धि रखना, आदाननिक्षेपणसमिति—देख-शोधकर उपकरणादिको लेना और रखना, तथा व्युत्सर्गसमिति—निर्जन्तु स्थानपर मल-मूत्रादिको क्षेपण करना । गृहस्थको भी उक्त सभी कार्योंमें यथासम्भव सावधानी रखना चाहिए ॥२०३॥ साधुजन उत्तमक्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य इन दश धर्मोको धारण करते हैं । श्रावक भी यथाशक्ति इनको धारण करें ॥२०४॥ अनित्य, अशरण, जन्म (संसार) एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्मभावना, इन बारह अनुप्रेक्षाओंका भी निरन्तर चिन्तवन करना चाहिए ॥२०५॥ मुनिजन इस बाईस परीषहोंको सदा सहन करते हैं—क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, नग्नता, याचना, अरति, अलाभ, दंशमशक, आक्रोश, रोग, मल, तृण-स्पर्श, अज्ञान, अदर्शन, प्रज्ञा, सत्कार पुरस्कार, शय्या, चर्या, वध, निषद्या और स्त्रीपरीषह । संसार-संक्लेशके निमित्तोंसे भयभीत श्रावकों संक्लेशसे विमुक्तचित्त होकर ये बाईस परीषह भी यथासंभव सदा सहन करना चाहिए ॥ २०६-२०८ ॥ इस प्रकार सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्ररूप यह रत्नत्रयधर्म निराबाध मुक्तिकी अभिलाषा रखनेवाले गृहस्थको विकल (एकदेश) रूपसे भी प्रतिसमय निरन्तर परिपालन करना चाहिए ॥ २०९ ॥ पुनः नित्य उद्यमशील गृहस्थोंको बोधिलाभका अवसर पाकर और मुनियोंका पद अवलम्बनकर इस रत्नधर्मको शीघ्रही परिपूर्ण करना चाहिए ॥ २१० ॥

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति । येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥ २१२
येनांशेन ज्ञानं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति । येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥ २१३
येनांशेन चरित्रं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति । येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥ २१४
योगात्प्रदेशबन्धः स्थितिबन्धो भवति तु कषायात् । दर्शनबोधचरित्रं न योगरूपं कषायरूपं च ॥२१५

दर्शनमात्मविनिश्चितिरात्मपरिज्ञानमिष्यते बोधः ।
स्थितिरात्मनि चारित्रं कुत एतेभ्यो भवति बन्धः ॥ २१६

सम्यक्चारित्राभ्यां तीर्थङ्कराहारकर्मणो बन्धः ।
योऽप्युपदिष्टः समये न नयविदां सोऽपि दोषाय ॥ २१७

सति सम्यक्त्वचरित्रे तीर्थङ्कराहार-बन्धकौ भवतः ।
योगकषायौ नासति तत्पुनरस्मिन्नुदासीनम् ॥ २१८

ननु कथमेवं सिद्धचति देवायुः प्रभृतिसत्प्रकृतिबन्धः ।
सकलजनसुप्रसिद्धो रत्नत्रयधारिणां मुनिवराणाम् ॥ २१९

रत्नत्रयमिह हेतुर्निर्वाणस्यैव भवति नान्यस्य । आस्रवति यत्तु पुण्यं शुभोपयोगोऽयमपराधः ॥२२०

अपूर्ण रत्नमय धर्मको धारण करनेवाले पुरुषके जो कर्म-बन्ध होता है, वह विपक्षी रागकृत है, रत्न-त्रय-कृत नहीं है, अतः वह परम्परया अवश्य ही मोक्षका उपाय है, कर्मबन्धनका उपाय नहीं है ॥२११॥ भावार्थ—एक देश या अपूर्ण रत्नत्रय धर्मके धारक सम्यग्दृष्टि पुरुषके शुभ भावके कारण जो पुण्य-बन्ध होता है, वह मिथ्यादृष्टिके समान संसारका कारण नहीं है, किन्तु परम्परासे मोक्षका ही कारण है। इस आत्माके जिस अंशसे सम्यग्दर्शन है, उस अंशसे उसके कर्मबन्ध नहीं है। किन्तु जिस अंश-से राग है, उस अंशसे इसके कर्म-बन्ध होता है॥२१२॥ जिस अंशसे सम्यग्ज्ञान है, उस अंशसे उसके कर्म-बन्ध नहीं है। किन्तु जिस अंशसे राग है, उस अंशसे इसके कर्म-बन्ध होता है ॥२१३॥ जिस अंश-से सम्यक्चरित्र है, उस अंशसे इसके कर्म-बन्ध नहीं है। किन्तु जिस अंशसे राग है, उस अंशसे इसके कर्म-बन्ध होता है ॥२१४॥ मन-वचन-कायके परिस्पन्दरूप योगसे प्रदेश बन्ध (और प्रकृति बन्ध) होता है, तथा कषायसे स्थितिबन्ध (और अनुभागबन्ध) होता है। सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र न योगरूप है और न कषायरूप है। (अतः रत्नत्रयधर्म-परिणाम जीवके किसी भी प्रकारका कर्म-बन्ध नहीं होता है ॥ २१५ ॥ आत्मस्वरूपका विनिश्चय सम्यग्दर्शन है, आत्मस्वरूपका परिज्ञान सम्यग्ज्ञान कहा जाता है और आत्मस्वरूपमें अवस्थान सम्यक्चारित्र है। फिर इन तीनोंसे कर्मबन्ध कैसे हो सकता है? अर्थात् रत्नत्रयसे कर्मबन्ध नहीं होता ॥२१६॥ आगममें जो सम्यग्दर्शनसे तीर्थंकर प्रकृतिका और सम्यक्चारित्रसे आहारक-प्रकृतिका कर्म-बन्ध कहा गया है, वह भी नय वेत्ताओं-को दोषके लिए नहीं है ॥२१७॥ क्योंकि सम्यक्त्व और चारित्रके होते हुए तज्जातीय योग और कषाय तीर्थंकर और आहारक प्रकृतिका बन्ध करनेवाले होते हैं; यदि तज्जातीय योग और कषाय नहीं होते हैं, तो सम्यक्त्व और चारित्र उन दोनों प्रकृतियोंके बन्धक नहीं होते हैं। वस्तुतः तीर्थंकर और आहारक प्रकृतिके बन्धके समय सम्यक्त्व और चारित्र तो उदासीन रूपसे ही रहते हैं ॥२१८॥ यहाँ कोई शंका करता है कि फिर रत्नत्रयधारक मुनिवरोंके सर्वजन-सुप्रसिद्ध यह देवायु आदिक पुण्य-प्रकृतियोंका बन्ध किस प्रकारसे सिद्ध होता है॥२१९॥ ग्रन्थकार उक्त शंकाका समा-

एकस्मिन् समवायादत्यन्तविरुद्धकार्ययोरपि हि ।
इह दहति घृतमिति यथा व्यवहारस्तादृशोऽपि रूढिमितः ॥२२१

सम्यक्त्वचरित्रबोधलक्षणो मोक्षमार्ग इत्येषः । मुख्योपचाररूपः प्रापयति परमपदं पुरुषम् ॥२२२

नित्यमपि निरुपलेपः स्वरूपसमवस्थितो निरुपघातः ।
गगनमिव परमपुरुषः परमपदे स्फुरति विशदतमः ॥ २२३

कृतकृत्यः परमपदे परमात्मा सकलविषयविषयात्मा ।
परमानन्दनिमग्नो ज्ञानमयो नन्दति सदैव ॥२२४

एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण । अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी ॥२२५

वर्णैः कृतानि चित्रैः पदानि तु पदैः कृतानि वाक्यानि ।
वाक्यैः कृतं पवित्रं शास्त्रमिदं न पुनरस्माभिः ॥२२६

धान करते हुए कहते हैं कि इस लोकमें रत्नत्रय तो निर्वाण (मोक्ष) का ही कारण है, अन्यका नहीं। रत्नत्रय-धारक मुनिवरोंके जो पुण्य प्रकृतियोंका आस्रव होता है वह उसके शुभोपयोगका अपराध है, रत्नत्रयका नहीं ॥२२०॥ एक वस्तुमें अत्यन्त विरुद्ध दो कार्योंके मिलापसे वैसा व्यवहार विरुद्ध भी रूढ़िको प्राप्त हो रहा है, जैसे कि 'घी जलाता है' यह व्यवहार लोकमें प्रचलित हो रहा है ॥२२१॥ भावार्थ—जैसे अग्नि दाहरूप कार्यमें कारण है और घी अदाहरूप कार्यमें कारण है, अर्थात् दाहका उपशामक है। किन्तु जब घी अग्निका संयोग पाकर उष्णताको प्राप्त होता है, तब यह कहा जाता है कि घी ने अमुक पुरुषको जला दिया। इसी प्रकार शुभोपयोग पुण्यबन्धरूप कार्यमें कारण है और रत्नत्रय मोक्षरूप कार्यमें कारण है। परन्तु जब गुणस्थानारोहणकी परिपाटीमें दोनों एकत्र मिलते हैं, तब व्यवहारसे यह कहा जाता है कि रत्नत्रय धारक पुरुषोंके देवायु आदिक पुण्य प्रकृतियोंका बन्ध होता है। यदि यथार्थमें रत्नत्रयको कर्म-बन्धका कारण माना जायगा, तो फिर मोक्षका सर्वथा अभाव ही हो जायगा। अतएव सम्यक्त्व-ज्ञान-चारित्र लक्षणवाला यह निश्चय और व्यवहाररूप रत्नत्रय ही मोक्षका मार्ग है और यही पुरुषको परम परमात्मपद प्राप्त कराता है अर्थात् मोक्ष-ले जाता है ॥२२२॥ उस परम सिद्ध पदमें यह परम पुरुष आत्मा आकाशके समान सदा ही कर्म-रजके लेपसे रहित, स्वरूपमें विराजमान, निरुपद्रव और निर्मलतम अवस्थाका धारक होकर सदा ही प्रकाशमान होता है ॥२२३॥ यह कृतकृत्य, सर्व पदार्थोंमें ज्ञाता, परमानन्दमें निमग्न ज्ञानशरीरी परमात्मा उस परमपद सिद्धलोकमें सदैव आनन्दित रहता है ॥२२४॥ जैसे दहीको मथनेवाली गोपी मथानीकी रस्सीको एक हाथसे खींचती है और दूसरे हाथसे उसे ढीली (शिथिल) करती है, उसी प्रकार यह अनेकान्तरूपी जैनी नीति वस्तु तत्त्वको एक धर्मसे आकर्षण करती हुई और दूसरे धर्मसे उसे शिथिल करती हुई सदा जयवन्ती रहती है ॥२२५॥ नाना प्रकारके वर्णों (अक्षरों) से पद बनते हैं, नाना पदोंसे वाक्य बनते हैं और नाना वाक्योंके द्वारा यह पवित्र शास्त्र रचा गया है। हमारे द्वारा कुछ भी नहीं किया गया है। यह कहकर ग्रंथकारने अपनी लघुता प्रकट की है ॥२२६॥

इति श्री अमृतचन्द्राचार्य-विरचित पुरुषार्थसिद्धयुपायः समाप्तः ।

यशस्तिलकचम्पूगत उपासकाध्ययन

षष्ठ आश्वास

धर्मात्किलैष जन्तुर्भवति सुखी जगति स च पुनर्धर्मः। किंरूपः किंभेदः किमुपायः किंफलश्च जायेत ॥१
यस्मादभ्युदयः पुंसां निःश्रेयसफलाश्रयः। वदन्ति विदिताम्नायास्तं धर्मं धर्मसूरयः ॥२
स प्रवृत्तिनिवृत्त्यात्मा गृहस्थेतरगोचरः। प्रवृत्तिर्मुक्तिहेतौ स्यान्निवृत्तिर्भवकारणात् ॥३
सम्यक्त्वज्ञानचारित्रत्रयं मोक्षस्य कारणम्। संसारस्य च मीमांस्यं मिथ्यात्वादिचतुष्टयम् ॥४
सम्यक्त्वं भावनामाहुर्युक्तियुक्तेषु वस्तुषु। मोहसन्देहविभ्रान्तिवर्जितं ज्ञानमुच्यते ॥५
कर्मादाननिमित्तायाः क्रियायाः परमं शमम्। चारित्रोचितचातुर्याश्चारुचारित्रमूचिरे ॥६
सम्यक्त्वज्ञानचारित्रविपर्ययपरं मनः। मिथ्यात्वं त्रिषु भाषन्ते सूरयः सर्ववेदिनः ॥७

अत्र दुरागमवासनाविलासिनीवासितचेतसां प्रवर्तितप्राकृतलोकानोकहोन्मूलनसमयस्रोतसां सदाचाराचरणचातुरीविदूरवर्तिनां परवादिनां मुक्तेरुपाये काये च बहुवृत्तयः खलु प्रवृत्तयः। तथा

धर्मसे यह प्राणी जगत्में सुखी होता है। उस धर्मका क्या स्वरूप है? कितने भेद हैं? तथा उसका क्या उपाय और क्या फल है ॥१॥ जिससे मनुष्योंको ऐसे अभ्युदयकी प्राप्ति होती है, जिसका फल मोक्ष है उसे आम्नायके ज्ञाता धर्माचार्य धर्म कहते हैं ॥२॥ वह धर्म प्रवृत्ति और निवृत्तिरूप है। मोक्षके कारणोंमें लगनेको प्रवृत्ति और संसारके कारणोंसे बचनेको निवृत्ति कहते हैं। वह धर्म गृहस्थ धर्म और मुनि धर्मके भेदसे दो प्रकारका है ॥३॥ अब प्रश्न यह है कि मुक्तिका कारण क्या है और संसारका कारण क्या है? तथा गृहस्थोंका धर्म क्या है और मुनियोंका धर्म क्या है? सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र मोक्षके कारण हैं। तथा मिथ्यादर्शन, अविरति, कषाय और योग संसारके कारण हैं ॥४॥ युक्तियुक्त वस्तुओंमें दृढ़ आस्थाका होना सम्यग्दर्शन है और मोह, सन्देह तथा भ्रमसे रहित ज्ञानका होना सम्यग्ज्ञान है ॥५॥ जिन कामोंके करनेसे कर्मोका बन्ध होता है उन कामोंके न करनेको चारित्रमें चतुर आचार्य सम्यक्चारित्र कहते हैं ॥६॥ तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके विषयमें विपरीत मानसिक प्रवृत्तिको सर्वविद् आचार्योंने मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र कहा है ॥७॥

अन्य मतवाले मुक्तिका स्वरूप तथा उपाय अलग-अलग बतलाते हैं। १. सैद्धान्तिक वैशेषिकोंका कहना है कि सशरीर का अशरीर परम शिवके द्वारा प्राप्त हुए मन्त्र-तन्त्र पूर्वक दीक्षा धारण करना और उनपर श्रद्धा मात्र रखना मोक्षका कारण है। २. तार्किक वैशेषिकोंका कहना है कि द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, समवाय, विशेष और अभाव इन सात पदार्थोंके साधर्म्य और वैधर्म्य मूलक ज्ञान मात्रसे मोक्ष होता है। ३. पाशुपतोंका कहना है कि तीनों समय प्रातः दोपहर और शामको भस्म लगाने, शिवलिंगकी पूजा करने, उसके सामने जलपात्र स्थापित करने, प्रदक्षिणा करने और आत्मदमन आदि क्रियाकाण्डमात्रके अनुष्ठानसे मोक्ष होता है। ४. कुलाचार्यकोंका कहना है कि

हि—'सकलनिष्कलाप्तप्राप्तमन्त्रतन्त्रापेक्षदीक्षालक्षणाच्छ्रद्धामात्रानुसरणान्मोक्षः' इति सैद्धान्तवैशेषिकाः, 'द्रव्यगुणकर्मसामान्यसमवायान्त्यविशेषाभावाभिधानानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्यावबोधतन्त्राज्ज्ञानमात्रात्' इति तार्किकवैशेषिकाः, 'त्रिकालभस्मोद्धूलनेज्यागडुकप्रदानप्रदक्षिणीकारणात्मविडम्बनादिक्रियाकाण्डमात्राधिष्ठानादनुष्ठानात्' इति पाशुपताः, 'सर्वेषु पेयापेयभक्ष्याभक्ष्यादिषु निःशङ्कचित्ताद् वृत्तात्' इति कुलाचार्यकाः। तथा च त्रिकमतोक्तिः—'मदिरामोदमेदुरवदनस्तरसरसप्रसन्नहृदयः सव्यपार्श्वविनिवेशितशक्तिः शक्तिमुद्रासनधरः स्वयमुमामहेश्वरायमाणः कृष्णया शर्वाणीश्वरमाराधयेदिति। प्रकृतिपुरुषयोर्विवेकमतेः ख्यातेः' इति सांख्याः, 'नैरात्म्यादिनिवेदितसंभावनातो भावनातः' इति दशबलशिष्याः, 'अङ्गाराञ्जनादिवत्स्वभावादेव कालुष्योत्कर्षप्रवृत्तस्य चित्तस्य न कुतश्चिद्विशुद्धचित्तवृत्तिः' इति जैमिनीयाः, 'सति धर्मिणि धर्माश्चिन्त्यन्ते ततः परलोकिनोऽभावात्परलोकाभावे कस्यासौ मोक्षः' इति समवाप्तसमस्तनास्तिकाधिपत्या बार्हस्पत्याः, 'परमब्रह्मदर्शनवशादशेषभेदसंवेदनाविद्याविनाशात्' इति वेदान्तवादिनः,

"नैवान्तस्तत्त्वमस्तीह न बहिस्तत्त्वमञ्जसा। विचारगोचरातीतेः शून्यता श्रेयसी ततः ॥८

इति पश्यतोहराः प्रकाशितशून्यतैकान्ततिमिराः शाक्यविशेषाः, तथा 'ज्ञानसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंस्काराणां नवसंख्यावसराणामात्मगुणानामत्यन्तोन्मुक्तिर्मुक्तिः' इति काणादाः। तदुक्तम्—

"बहिः शरीराद्यद्रूपमात्मनः संप्रतीयते। उक्तं तदेव मुक्तस्य मुनिना कणभोजिना" ॥९

'निराश्रयचित्तोत्पत्तिलक्षणो मोक्षक्षणः इति ताथागताः। तदुक्तम्—

निःशंक चित्तसे समस्त पीने योग्य, न पीने योग्य, खाने योग्य, न खाने योग्य पदार्थोंमें प्रवृत्ति करनेसे मोक्ष होता है। त्रिकमतमें लिखा है कि शरावकी सुगन्धसे मुखको सुवासित करके, मांसके स्वादसे हृदयको प्रसन्न करके और वाम पार्श्वमें स्त्री शक्तिको स्थापित करके योनि-मुद्रा आसनका धारक स्वयं ही शिव और पार्वती बनकर मदिराके द्वारा उमा और महेश्वरकी आराधना करे। ५. सांख्योंका कहना है कि प्रकृति और पुरुषके भेदज्ञानसे मोक्ष होता है। ६. बुद्धके शिष्योंका कहना है कि नैरात्म्य भावनाके अभ्याससे मोक्ष होता है। ७. जैमिनीयोंका मत है कि कोयले और अंजनकी तरह स्वभावसे ही कलुषित चित्तकी चित्तवृत्ति विशुद्ध नहीं हो सकती। अर्थात् जैसे कोयलेको घिसनेपर भी वह सफेद नहीं हो सकता, उसी प्रकार स्वभावसे ही मलिन चित्त विशुद्ध नहीं हो सकता। ८. नास्तिक शिरोमणि बृहस्पतिके अनुयायी चार्वाकोंका कहना है कि धर्मीके होनेपर ही धर्मोंका विचार किया जाता है। अतः परलोकमें जानेवाली किसी आत्माके न होनेसे जब परलोक ही नहीं है तब मोक्ष होता किसको है? अर्थात् जब आत्मा ही नहीं है तो मोक्षकी बात ही बेकार है। ९. वेदान्तियोंका मत है कि परम ब्रह्मका दर्शन होनेसे समस्त भेदज्ञानको करानेवाली अविद्याका नाश हो जाता है और उससे मोक्षकी प्राप्ति होती है। १०. दिखाई देनेवाले विश्वका भी निषेध करनेवाले शून्यतैकान्तवादी बौद्धविशेषोंका मत है कि न कोई अन्तस्तत्त्व आत्मा वगैरह है और न कोई वास्तविक बाहरी तत्त्व घटादिक ही है, दोनों ही विचारगोचर नहीं हैं, अतः शून्यता ही श्रेष्ठ है ॥८॥ ११. कणादके अनुयायियोंका मत है कि ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म और अधर्म, आत्माके इन नौ गुणोंका अत्यन्त अभाव हो जानेको ही मुक्ति कहते हैं। कहा भी है—"शरीरसे बाहर आत्माका जो स्वरूप प्रतीत होता है, कणाद मुनिने उसीको मुक्तात्माका स्वरूप कहा है ॥९॥

"दिशं न कांचिद्विदिशं न कांचिन्नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतः स्नेहक्षयात्केवलमेति शान्तिम् ॥१०
दिशं न कांचिद्विदिशं न कांचिन्नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
जीवस्तथा निर्वृतिमभ्युपेतः क्लेशक्षयात्केवलमेति शान्तिम्" ॥११

'बुद्धिमनोऽहंकारविरहादखिलेन्द्रियोपशमावहात्तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानं मुक्तिः' इति कापिलाः । 'यथा घटविघटने घटाकाशमाकाशीभवति तथा देहोच्छेदात्सर्वः प्राणी परब्रह्मणि लीयते' इति ब्रह्माद्वैतवादिनः ।

अज्ञातपरमार्थानामेवमन्येऽपि दुर्नयाः । मिथ्यादृशां न गण्यन्ते जात्यन्धानामिव द्विपे ॥१२
प्रायः संप्रति कोपाय सन्मार्गस्योपदेशनम् । निर्लूननासिकस्येव विशुद्धादर्शदर्शनम् ॥१३
दृष्टान्ताः सन्त्यसंख्येया मतिस्तद्वशवर्तिनी । किं न कुर्युर्महीं धूर्ता विवेकरहितामिमाम् ॥१४
दुराग्रहग्रहग्रस्ते विद्वान्पुंसि करोतु किम् । कृष्णपाषाणखण्डेषु मार्दवाय न तोयदः ॥१५
ईर्ते युक्तिं यदेवात्र तदेव परमार्थसत् । यद्भानुदीप्तिवत्तस्याः पक्षपातोऽस्ति न क्वचित् ॥१६
श्रद्धा श्रेयोऽर्थिनां श्रेयःसंश्रयाय न केवला । बुभुक्षितवशात्पाको जायेत किमुदम्बरे ॥१७
पात्रावेशादिवन्मन्त्रादात्मदोषपरिक्षयः । दृश्येत यदि को नाम कृती क्लिश्येत संयमैः ॥१८

---

१२. बौद्धोंका कहना है कि निराश्रय चित्तकी उत्पत्ति हो जाना ही मोक्ष है । कहा भी है—"जैसे दीपक बुझ जानेपर न किसी दिशाको चला जाता है, न किसी विदिशाको चला जाता है । न नीचे पृथ्वीमें समा जाता है और न ऊपर आकाशमें समा जाता है, किन्तु तेलके क्षय हो जानेसे शान्त हो जाता है । उसी तरह निर्वाणको प्राप्त हुआ जीव न किसी दिशाको जाता है, न किसी विदिशाको जाता है, न पृथ्वीमें समा जाता है और न ऊपर आकाशमें समा जाता है, किन्तु क्लेशोंके क्षय हो जानेसे शान्त हो जाता है" ॥१०–११॥ १३. बुद्धि, मन और अहंकारका अभाव हो जानेके कारण समस्त इन्द्रियोंके शान्त हो जानेसे पुरुषका अपने चैतन्य स्वरूपमें स्थित होना मोक्ष है, ऐसा कपिल ऋषिके अनुयायी मानते हैं । ब्रह्माद्वैतवादियोंका कहना है कि जैसे घटके फूट जानेपर घटसे रोका हुआ आकाश आकाशमें मिल जाता है, उसी तरह शरीरका विनाश हो जानेपर सब प्राणी परम ब्रह्ममें लीन हो जाते हैं । जिस तरह जन्मान्ध मनुष्य हाथीके विषयमें विचित्र कल्पनाएँ कर लेते हैं, उसी तरह परमार्थको न जाननेवाले मिथ्यामतवादियोंने अन्य भी अनेक मत कल्पित कर रखे हैं, उनकी गणना करना भी कठिन है ॥१२॥ [इस प्रकार मोक्षके विषयमें अन्य मतोंको बतला कर आचार्य विचारते हैं—] जैसे नकटे मनुष्यको स्वच्छ दर्पण दिखानेसे उसे क्रोध आता है, वैसे ही आजकल सन्मार्गका उपदेश भी प्रायः लोगोंके क्रोधका कारण होता है ॥१३॥ संसारमें दृष्टान्तोंकी कमी नहीं है, दृष्टान्तोंको सुनकर लोगोंकी बुद्धि उनके अधीन हो जाती है । ठीक ही है—धूर्त लोग इस विवेक शून्य पृथ्वीपर क्या नहीं कर सकते ॥१४॥ जो पुरुष दुराग्रह रूपी राहुसे ग्रस लिया गया है अर्थात् जो अपनी बुरी हठको पकड़े हुए है उस पुरुषको विद्वान् कैसे समझावें । मेघके बरसनेसे काले पत्थरके टुकड़ोंमें कोमलता नहीं आती ॥१५॥ फिर भी इस लोकमें जो वस्तु युक्तिसिद्ध हो वही सत्य है, क्योंकि सूर्यकी किरणोंकी तरह युक्ति भी किसीका पक्षपात नहीं करती ॥१६॥ [इस प्रकार मनमें विचार कर आचार्य यहाँसे उक्त मतान्तरोंका क्रमशः निराकरण करते हैं—] १. कल्याण चाहनेवालोंका कल्याण केवल श्रद्धा मात्रसे नहीं हो सकता । क्या भूख लगनेसे ही गूलर पक जाते

दीक्षाक्षणान्तरात्पूर्वं ये दोषा भवसंभवाः । ते पश्चादपि दृश्यन्ते तन्न सा मुक्तिकारणम् ॥१९
ज्ञानादवगमोऽर्थानां न तत्कार्यसमागमः । तर्षापकर्षयोगि स्याद्दृष्टमेवान्यथा पयः ॥२०
ज्ञानहीने क्रिया पुंसि परं नारभते फलम् । तरोश्छायेव किं लभ्या फलश्रीर्नष्टदृष्टिभिः ॥२१
ज्ञानं पङ्गौ क्रिया चान्धे निःश्रद्धे नार्थकृद्द्वयम् । ततो ज्ञानक्रियाश्रद्धात्रयं तत्पदकारणम् ॥२२

उक्तं च—

"हतं ज्ञानं क्रियाशून्यं हता चाज्ञानिनः क्रिया । धावन्नप्यन्धको नष्टः पश्यन्नपि च पङ्गुकः" ॥२३
निःशङ्कात्मप्रवृत्तेः स्याद्यदि मोक्षसमीक्षणम् । ठकसूनाकृतां पूर्वं पश्चात्कौलेष्वसौ भवेत् ॥२४
अव्यक्तनरयोर्नित्यं नित्यव्यापिस्वभावयोः । विवेकेन कथं ख्यातिं सांख्यमुख्याः प्रचक्षते ॥२५

हैं ? ॥१७॥ उचित व्यक्तिमें आगत भूतावेशकी तरह यदि मन्त्र पाठसे ही आत्माके दोषोंका नाश होता देखा जाता, तो कौन मनुष्य संयम धारण करनेका क्लेश उठाता ॥१८॥ दीक्षा धारण करने-से पहले जो सांसारिक दोष देखे जाते हैं, दीक्षा धारण करनेके बाद भी वे दोष देखे जाते हैं। अतः केवल दीक्षा भी मुक्तिका कारण नहीं है ॥१९॥ **भावार्थ**—पहले सैद्धान्त वैशेषिकोंका मत बतलाते हुए कहा है कि वे मन्त्र-तन्त्र पर्वक दीक्षा धारण करने और उनपर श्रद्धा मात्र रखनेसे मोक्ष मानते हैं। उसीकी आलोचना करते हुए आचार्य कहते हैं कि न केवल श्रद्धासे ही मोक्ष प्राप्त हो सकता है और न मन्त्र-तन्त्र पूर्वक दीक्षा धारण करनेसे ही मोक्ष प्राप्त हो सकता है। श्रद्धा तो मात्र रुचिको बतलाती है, किन्तु किसी चीजपर श्रद्धा हो जाने मात्रसे ही तो वह प्राप्त नहीं हो जाती। इसी तरह दीक्षा धारण कर लेने मात्रसे भी काम नहीं चलता, क्योंकि दीक्षा लेनेपर भी यदि सांसारिक दोषों-के विनाशका प्रयत्न न किया जाये तो वे दोष जैसे दीक्षा लेनेसे पहले देखे जाते हैं वैसे ही दीक्षा धारण करनेके बादमें भी देखे जाते हैं। यदि केवल श्रद्धा या दीक्षासे ही काम चल सकता होता तो संयम धारण करनेके कष्टोंको उठानेकी जरूरत ही नहीं रहती। अतः ये मोक्षके कारण नहीं माने जा सकते। [अब आचार्य बिना ज्ञानकी क्रियाको और बिना क्रियाके ज्ञानको व्यर्थ बतलाते हैं—] २. ३. ज्ञान-से पदार्थोंका बोध होता है, किन्तु उन्हें जानने मात्रसे उन पदार्थोंका कार्य होता नहीं देखा जाता। यदि ऐसा होता तो पानीके देखते ही प्यास बुझ जानी चाहिए ॥२०॥ तथा ज्ञानहीन पुरुषकी क्रिया फलदायी नहीं होगी। क्या अन्धे मनुष्य वृक्षकी छायाकी तरह उसके फलोंकी शोभाका आनन्द ले सकते हैं ? ॥२१॥ श्रद्धाहीन पंगुका ज्ञान और श्रद्धाहीन अन्धेकी क्रिया दोनों ही कार्यकारी नहीं हैं। अतः ज्ञान, चारित्र और श्रद्धा तीनों ही मिलकर मोक्षका कारण हैं ॥२२॥ कहा भी है—क्रिया-आचरणसे शून्य ज्ञान भी व्यर्थ है और अज्ञानीकी क्रिया भी व्यर्थ है। देखो, एक जंगलमें आग लगने-पर अन्धा मनुष्य दौड़-भाग करके भी नहीं बच सका, क्योंकि वह देख नहीं सकता था और लँगड़ा मनुष्य आगको देखते हुए भी न भाग सकनेके कारण उसीमें जल मरा ॥२३॥ [कौल मतवादियों-को आचार्य उत्तर देते हैं—] ४. यदि मद्य-मांस वगैरहमें निःशङ्क होकर प्रवृत्ति करनेसे मोक्षकी प्राप्ति हो सकती तो सबसे पहले तो ठगों और मांस बेचनेवाले कसाइयोंकी मुक्ति होनी चाहिए। उनके पीछे कौल मतवालोंकी मुक्ति होनी चाहिए ॥२४॥ [इस प्रकार केवल ज्ञान या केवल चारित्र-से मुक्तिकी प्राप्तिको असम्भव बतलाकर आगे आचार्य सांख्य मतकी आलोचना करते हैं—] ५. सांख्य मतमें प्रकृति और पुरुष दोनों व्यापक और नित्य माने गये हैं। ऐसी अवस्थामें उनमें भेद ग्रहण कैसे सम्भव है ? अर्थात् व्यापक और नित्य होनेसे प्रकृति और पुरुष दोनों सदा-

सर्वं चेतसि भासेत वस्तु भावनया स्फुटम् । तावन्मात्रेण मुक्तत्वे मुक्तिः स्याद्विप्रलम्भिनाम् ॥२६
तदुक्तम्—

"पिहिते कारागारे तमसि च सूचीमुखाग्रनिर्भेद्ये ।
मयि च निमीलितनयने तथापि कान्ताननं व्यक्तम्" ॥२७

स्वभावान्तरसंभूतिर्यत्र तत्र मलक्षयः । कर्तुं शक्यः स्वहेतुभ्यो मणिमुक्ताफलेष्विव ॥२८
"तदहर्जस्तनेहातो रक्षोदृष्टेर्भवस्मृतेः । भूतानन्वयनाज्जीवः प्रकृतिज्ञः सनातनः" ॥२९
भेदोऽयं यद्यविद्या स्याद्वैचित्र्यं जगतः कुतः । जन्ममृत्युसुखप्रायैर्विवर्तैर्मानवर्तिभिः ॥३०

से मिले हुए ही रहते हैं । तब उनमें भेद ग्रहणका कथन सांख्याचार्य कैसे करते हैं ॥२५॥ [पहले नैरात्म्य भावनासे मुक्ति माननेवाले एक मतका उल्लेख कर आये हैं, उसकी आलोचना करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं—] ६. भावनासे सभी वस्तु चित्तमें स्पष्ट रूपसे झलकने लगती है। यदि केवल उतनेसे ही मुक्ति प्राप्त होती है तो ठगोंकी भी मुक्ति हो जायेगी ॥२६॥ कहा भी है—"सब ओरसे बन्द जेलखानेमें अत्यन्त घोर अन्धकारके होते हुए और मेरे आँख बन्द कर लेनेपर भी मुझे अपनी प्रियाका मुख स्पष्ट दिखाई देता है" ॥२७॥ **भावार्थ**—आशय यह है कि भावना जैसी भाई जाती है वैसी ही वस्तु दिखाई देने लगता है । अतः केवल भावनाके बलपर यथार्थ वस्तुकी प्राप्ति नहीं हो सकती । [इस प्रकार नैरात्म्य भावनावादीको उत्तर देकर आचार्य जैमिनिके मतकी आलोचना करते हैं । जैमिनिका कहना है कि स्वभावसे ही कलुषित चित्तकी विशुद्धि नहीं हो सकती । इसका उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं—[७] जिस वस्तुमें स्वभावान्तर हो सकता है, उसमें अपने कारणोंसे मलका क्षय किया जा सकता है, जैसा कि मणि और मोतियोंमें देखा जाता है । अर्थात् मणि मोती वगैरह जन्मसे ही सुमैल पैदा होते हैं किन्तु बादको उनका मैल दूर करके उन्हें चमकदार बना लिया जाता है । इसी तरह अनादिसे मलिन आत्मासे भी कर्म-जन्य मलिनताको हटाकर उसे विशुद्ध किया जा सकता है ॥२८॥ [अब आत्मा और परलोकको न माननेवाले चार्वाकोंको उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं—] ८. उस दिनका पैदा हुआ बच्चा माताके स्तनोंको पीनेकी चेष्टा करता है, राक्षस वगैरह देखे जाते हैं. किसी-किसीको पूर्व जन्मका स्मरण भी हो जाता है, तथा आत्मामें पञ्च भूतोंका कोई भी धर्म नहीं पाया जाता। इन बातोंसे प्रकृतिका ज्ञाता जीव सनातन सिद्ध होता है॥२९॥ **भावार्थ**—आशय यह है कि चर्वाक आत्माको एक स्वतन्त्र द्रव्य नहीं मानता। उसका कहना है कि जैसे कई चीजोंके मिलानेसे शराब बन जाती है और उसमें मादकता उत्पन्न हो जाती है, उसी तरह पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पाँच भूतोंके मिलनेसे एक शक्ति उत्पन्न हो जाती है या प्रकट हो जाती है, उसे ही आत्मा कह देते हैं। जब वे पाँचों भूत बिछुड़ जाते हैं तो वह शक्ति भी नष्ट हो जाती है। अतः पञ्चभूतोंके सिवाय आत्मा कोई स्वतंत्र द्रव्य नहीं है। इसका निराकरण करते हुए आचार्य कहते हैं कि एक तो उसी दिनका जन्मा हुआ बच्चा माताके स्तनोंको पीनेकी चेष्टा करता हुआ देखा जाता है, और यदि उसके मुँहमें स्तन लगा दिया जाता है तो झट पीने लगता है। यदि बच्चेको पूर्व जन्मका संस्कार न होता तो पैदा होते ही उसमें ऐसी चेष्टा नहीं होनी चाहिए थी। यह सब पूर्व जन्मका संस्कार ही है। तथा राक्षस व्यन्तरादिक देव देखे जाते हैं जो अनेक बातें बतलाते हैं। पूर्व जन्मके स्मरणकी कई घटनाएँ सच्ची पाई गई हैं, तथा सबसे बड़ी बात तो यह है कि यदि चैतन्य भूतोंके मेलसे पैदा होता है तो उसमें भूतोंका धर्म पाया जाना

शून्यं तत्त्वमहं वादी साधयामि प्रमाणतः । इत्यास्थायां विरुध्येत सर्वशून्यत्ववादिता ॥३१
बोधो वा यदि वानन्दो नास्ति मुक्तौ भवोद्भवः । सिद्धसाध्यतयास्माकं न काचित्क्षतिरीक्ष्यते ॥३२
न्यक्षवीक्षाविनिर्मोक्षे मोक्षे किं मोक्षिलक्षणम् । न ह्यग्नावन्यदुष्णत्वाल्लक्ष्म लक्ष्यं विचक्षणैः ॥३३

किं च सदाशिवेश्वरादयः संसारिणो मुक्ता वा ? संसारित्वे कथमाप्तता ? मुक्तत्वे 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरस्तत्र निरतिशयं सर्वज्ञवीजम्' इति पतञ्जलिजल्पितम्'

"ऐश्वर्यमप्रतिहतं सहजो विरागस्तृप्तिर्निसर्गजनिता वशितेन्द्रियेषु ।
आत्यन्तिकं सुखमनावरणा च शक्तिर्ज्ञानं च सर्वविषयं भगवंस्तवैव" ॥३४

चाहिए था, क्योंकि जो वस्तु जिन कारणोंसे पैदा होती है उस वस्तुमें उन कारणोंका धर्म पाया जाता है, जैसे मिट्टीसे पैदा होनेवाले घड़ेमें मिट्टीपना रहता है, धागोंसे बनाये जाने वाले वस्त्रमें धागे पाये जाते हैं, किन्तु चैतन्यमें पंचभूतोंका कोई धर्म नहीं पाया जाता। पंचभूत तो जड़ होते हैं उनमें जानने-देखनेकी शक्ति नहीं होती, किन्तु चैतन्यमें जानने-देखनेकी शक्ति पाई जाती हैं। तथा यदि चैतन्य पंचभूतोंका धर्म है तो मोटे शरीरमें अधिक चैतन्य पाया जाना चाहिए था और दुबले शरीरमें कम। किन्तु इसके विपरीत कोई-कोई दुबले-पतले बड़े मेधावी और ज्ञानी देखे जाते हैं और स्थूल मनुष्य निर्बुद्धि होते हैं। तथा यदि चैतन्य पंचभूतोंका धर्म है तो शरीरका हाथ-पैर आदि कट जानेपर उसमें चैतन्यकी कमी हो जानी चाहिए; क्योंकि पंचभूत कम हो गये हैं किन्तु हाथ-पैर वगैरहके कट जानेपर भी मनुष्यके ज्ञानमें कोई कमी नहीं देखी जाती। इससे सिद्ध है कि चैतन्य पंचभूतोंका धर्म नहीं है बल्कि एक नित्य द्रव्य आत्माका ही धर्म है। अतः आत्मा एक स्वतन्त्र द्रव्य है। [अब आचार्य वेदान्तियोंके मतकी आलोचना करते हुए उनसे पूछते हैं—] ९. यदि यह भेद अविद्याजन्य है—अज्ञानमूलक है, तो क्यों कोई मरता है और कोई जन्म लेता है? कोई सुखी और कोई दुखी क्यों देखा जाता है? इस प्रकार संसारमें वैचित्र्य क्यों पाया जाता है॥३०॥ [अब आचार्य शून्यवादी बौद्धके मतकी आलोचना करते हैं—] १०. 'मैं शून्य तत्त्वको प्रमाणसे सिद्ध करता हूँ', ऐसी प्रतिज्ञा करनेपर सर्वशून्यवादका स्वयं विरोध हो जाता है ॥३१॥ **भावार्थ**—आशय यह है कि शून्यतावादी अपने मतकी सिद्धि यदि किसी प्रमाणसे करता है तो प्रमाणके वस्तु सिद्ध हो जानेसे शून्यतावाद सिद्ध नहीं हो सकता। और यदि विना किसी प्रमाणके ही शून्यतावादको सिद्ध मानता है तब तो दुनियामें ऐसी कोई वस्तु ही न रहेगी जिसे सिद्ध न किया जा सके। और ऐसी अवस्थामें विना प्रमाणके ही शून्यतावादके विरुद्ध अशून्यतावाद भी सिद्ध हो जायेगा। अतः सर्वशून्यतावाद भी ठीक नहीं है। [अब आचार्य मुक्तिमें आत्माके विशेष गुणोंका विनाश माननेवाले कणाद मतानुयायियोंकी आलोचना करते हैं—] ११. यदि आप यह मानते हैं कि मुक्तिमें सांसारिक सुख-दुःख नहीं है तो इसमें कोई हानि नहीं है, यह बात तो हमको भी इष्ट ही है। किन्तु यदि आत्माके समस्त पदार्थविषयक ज्ञानके विनाशको मोक्ष मानते हैं तो फिर मुक्तात्माका लक्षण क्या है? क्योंकि विद्वान् लोग वस्तुके विशेष गुणोंको ही वस्तुका कक्षण मानते हैं, जैसे आगका लक्षण उष्णता है, यदि आगकी उष्णता नष्ट हो जाये तो फिर उसका लक्षण क्या होगा? फिर तो आगका ही अभाव हो जायेगा; क्योंकि विशेष गुणोंके अभावमें गुणीका भी अभाव हो जाता है। अतः यदि मुक्तिमें आत्माके ज्ञानादि विशेष गुणोंका अभाव माना जायेगा तो आत्माका भी अभाव हो जायेगा ॥३२–३३॥ तथा आपके

इत्यवधूताभिधानं च न घटेत ।

अनेकजन्मसन्ततेर्यावदद्याक्षयः पुमान् । यद्यसौ मुक्त्यवस्थायां कुतः क्षीयेत हेतुतः ॥३५

बाह्ये ग्राह्ये मलापायात्सत्यस्वप्न इवात्मनः । तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽस्मिन्नवस्थानममानकम् ॥३६

न चायं सत्यस्वप्नोऽप्रसिद्धः स्वप्नाध्यायेऽतीव सुप्रसिद्धत्वात् । तथा हि—

"यस्तु पश्यति रात्र्यन्ते राजानं कुञ्जरं हयम् । सुवर्णं वृषभं गां च कुटुम्बं तस्य वर्धते" ॥३७

यत्र नेत्रादिकं नास्ति न तत्र मतिरात्मनि । तन्न युक्तमिदं यस्मात्स्वप्नमन्धोऽपि वीक्षते ॥३८

जैमिन्यादेर्नरत्वेऽपि प्रकृष्येत मतिर्यदि । पराकाष्ठाप्यतस्तस्याः क्वचित्खे परिमाणवत् ॥३९

सदाशिव ईश्वर आदिक संसारी हैं या मुक्त ? यदि संसारी हैं तो वे आप्त नहीं हो सकते । यदि मुक्त हैं तो 'क्लेश, कर्म, कर्मफलका उपभोग और उसके अनुरूप संस्कारोंसे रहित पुरुष विशेष ईश्वर है। उस ईश्वरमें सर्वज्ञताका जो बीज है वह अपनी चरम सीमाको प्राप्त है अर्थात् वह पूर्णज्ञानी है' । पतञ्जलिका यह कथन, और 'हे भगवन् ! आपमें अविनाशी ऐश्वर्य है, स्वाभाविक विरागता है, स्वाभाविक सन्तोष है, स्वभावसे ही आप इन्द्रियजयी हैं । आपमें ही अविनाशी सुख, निरावरण शक्ति और सब विषयोंका ज्ञान है ॥३४॥ अवधूताचार्यका यह कथन घटित नहीं हो सकता है। [इस प्रकार कणाद मतके अनुयायियोंकी आलोचना करके आचार्य बौद्धोंकी आलोचना करते हैं—] १२. यदि पुरुष अनेक जन्म धारण करनेपर भी आज तक अक्षय है, उसका विनाश नहीं हुआ तो मुक्ति प्राप्त होनेपर उसका विनाश किस कारणसे हो जाता है ? ॥३५॥ [अब आचार्य सांख्यमतकी आलोचना करते हैं—] १३. जैसे वात, पित्त आदिका प्रकोप न रहनेपर आत्माको सच्चा स्वप्न दिखाई देता है वैसे ही ज्ञानावरण कर्म रूपी मलके नष्ट हो जानेपर आत्मा बाह्य पदार्थोंको जानता है। अतः मुक्त हो जानेपर आत्मा अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है और बाह्य पदार्थोंको नहीं जानता यह कहना अप्रमाण है । यह भी अर्थ हो सकता है कि मलके नष्ट हो जाने पर आत्मा बाह्य पदार्थोंको जानता है । और तब अपने इस स्वरूपमें अनन्त काल तक अवस्थित रहता है ॥ ३६ ॥ यदि कहा जाय कि सच्चे स्वप्न होते ही नहीं हैं, किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि 'स्वप्नाध्याय'में सच्चे स्वप्न बतलाये हैं । जैसा कि उसमें लिखा है—'जो रात्रिके पिछले पहरमें राजा, हाथी, घोड़ा, सोना, बैल और गायको देखता है उसका कुटुम्ब बढ़ता है ॥ ३७ ॥ जहाँ नेत्रादिक इन्द्रियाँ नहीं होतीं, वहाँ आत्मामें ज्ञान भी नहीं होता, ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि अन्धे मनुष्यको भी स्वप्न दिखाई देता है ।।३८।। **भावार्थ**—सांख्य मुक्तात्मामें ज्ञान नहीं मानता, क्योंकि वहाँ इन्द्रियाँ नहीं होतीं । उसकी इस मान्यताका खण्डन करते हुए ग्रन्थकारका कहना है कि इन्द्रियोंके होनेपर ही ज्ञान हो और उनके नहीं होनेपर न हो ऐसा कोई नियम नहीं है । इन्द्रियोंके अभावमें भी ज्ञान होता देखा जाता है । स्वप्न दशामें इन्द्रियाँ काम नहीं करतीं फिर भी ज्ञान होता है और वह सच्चा निकलता है । अतः इन्द्रियोंके अभावमें भी मुक्तात्माको स्वाभाविक ज्ञान रहता ही है । [जैमिनिके मतके अनुयायी मीमांसक कहे जाते हैं । मीमांसक लोग सर्वज्ञको नहीं मानते । वे वेदको ही प्रमाण मानते हैं । उनके मतसे वेद ही भूत और भविष्यत्का भी ज्ञान करा सकता है । उनका कहना है कि मनुष्यकी बुद्धि कितना भी विकास करे किन्तु उसमें अतीन्द्रिय पदार्थोंको जाननेकी शक्ति कभी नहीं आ सकती । मनुष्य यदि अतीन्द्रिय पदार्थोंको जान सकता है तो केवल वेदके द्वारा ही जान सकता है । इसकी आलोचना करते हुए आचार्य कहते हैं—] आपके आप्त

शून्यं तत्त्वमहं वादी साधयामि प्रमाणतः । इत्यास्थायां विरुध्येत सर्वशून्यत्ववादिता ॥३१
बोधो वा यदि वानन्दो नास्ति मुक्तौ भवोद्भवः । सिद्धसाध्यतयास्माकं न काचित्क्षतिरीक्ष्यते ॥३२
न्यक्षवीक्षाविनिर्मोक्षे मोक्षे किं मोक्षिलक्षणम् । न ह्यग्नावन्यदुष्णत्वाल्लक्ष्म लक्ष्यं विचक्षणैः ॥३३

किं च सदाशिवेश्वरादयः संसारिणो मुक्ता वा ? संसारित्वे कथमाप्तता ? मुक्तत्वे 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरस्तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्' इति पतञ्जलिजल्पितम्'

"ऐश्वर्यमप्रतिहतं सहजो विरागस्तृप्तिर्निसर्गजनिता वशितेन्द्रियेषु ।
आत्यन्तिकं सुखमनावरणा च शक्तिर्ज्ञानं च सर्वविषयं भगवंस्तवैव" ॥३४

चाहिए था, क्योंकि जो वस्तु जिन कारणोंसे पैदा होती है उस वस्तुमें उन कारणोंका धर्म पाया जाता है, जैसे मिट्टीसे पैदा होनेवाले घड़ेमें मिट्टीपना रहता है, धागोंसे बनाये जाने वाले वस्त्रमें धागे पाये जाते हैं, किन्तु चैतन्यमें पंचभूतोंका कोई धर्म नहीं पाया जाता। पंचभूत तो जड़ होते हैं उनमें जानने-देखनेकी शक्ति नहीं होती, किन्तु चैतन्यमें जानने-देखनेकी शक्ति पाई जाती हैं। तथा यदि चैतन्य पंचभूतोंका धर्म है तो मोटे शरीरमें अधिक चैतन्य पाया जाना चाहिए था और दुबले शरीरमें कम। किन्तु इसके विपरीत कोई-कोई दुबले-पतले बड़े मेधावी और ज्ञानी देखे जाते हैं और स्थूल मनुष्य निर्बुद्धि होते हैं। तथा यदि चैतन्य पंचभूतोंका धर्म है तो शरीरका हाथ-पैर आदि कट जानेपर उसमें चैतन्यकी कमी हो जानी चाहिए; क्योंकि पंचभूत कम हो गये हैं किन्तु हाथ-पैर वगैरहके कट जानेपर भी मनुष्यके ज्ञानमें कोई कमी नहीं देखी जाती। इससे सिद्ध है कि चैतन्य पंचभूतोंका धर्म नहीं है बल्कि एक नित्य द्रव्य आत्माका ही धर्म है। अतः आत्मा एक स्वतन्त्र द्रव्य है। [अब आचार्य वेदान्तियोंके मतकी आलोचना करते हुए उनसे पूछते हैं—] ९. यदि यह भेद अविद्याजन्य है—अज्ञानमूलक है, तो क्यों कोई मरता है और कोई जन्म लेता है? कोई सुखी और कोई दुखी क्यों देखा जाता है? इस प्रकार संसारमें वैचित्र्य क्यों पाया जाता है॥३०॥ [अब आचार्य शून्यवादी बौद्धके मनकी आलोचना करते हैं—] १०. 'मैं शून्य तत्त्वको प्रमाणसे सिद्ध करता हूँ', ऐसी प्रतिज्ञा करनेपर सर्वशून्यवादका स्वयं विरोध हो जाता है ॥३१॥ **भावार्थ**—आशय यह है कि शून्यतावादी अपने मतकी सिद्धि यदि किसी प्रमाणसे करता है तो प्रमाणके वस्तु सिद्ध हो जानेसे शून्यतावाद सिद्ध नहीं हो सकता। और यदि बिना किसी प्रमाणके ही शून्यतावादको सिद्ध मानता है तब तो दुनियामें ऐसी कोई वस्तु ही न रहेगी जिसे सिद्ध न किया जा सके। और ऐसी अवस्थामें बिना प्रमाणके ही शून्यतावादके विरुद्ध अशून्यतावाद भी सिद्ध हो जायेगा। अतः सर्वशून्यतावाद भी ठीक नहीं है। [अब आचार्य मुक्तिमें आत्माके विशेष गुणोंका विनाश माननेवाले कणाद मतानुयायियोंकी आलोचना करते हैं—] ११. यदि आप यह मानते हैं कि मुक्तिमें सांसारिक सुख-दुःख नहीं है तो इसमें कोई हानि नहीं है, यह बात तो हमको भी इष्ट ही है। किन्तु यदि आत्माके समस्त पदार्थविषयक ज्ञानके विनाशको मोक्ष मानते हैं तो फिर मुक्तात्माका लक्षण क्या है? क्योंकि विद्वान् लोग वस्तुके विशेष गुणोंको ही वस्तुका कक्षण मानते हैं, जैसे आगका लक्षण उष्णता है, यदि आगकी उष्णता नष्ट हो जाये तो फिर उसका लक्षण क्या होगा? फिर तो आगका ही अभाव हो जायेगा; क्योंकि विशेष गुणोंके अभावमें गुणीका भी अभाव हो जाता है। अतः यदि मुक्तिमें आत्माके ज्ञानादि विशेष गुणोंका अभाव माना जायेगा तो आत्माका भी अभाव हो जायेगा ॥३२-३३॥ तथा आपके

इत्यत्रधूताभिधानं च न घटेत।
अनेकजन्मसन्ततेर्यावदद्याक्षयः पुमान्। यद्यसौ मुक्त्यवस्थायां कुतः क्षीयेत हेतुतः ॥३५
बाह्ये ग्राह्ये मलापायात्सत्यस्वप्न इवात्मनः। तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽस्मिन्नवस्थानममानकम् ॥३६
न चायं सत्यस्वप्नोऽप्रसिद्धः स्वप्नाध्यायेऽतीव सुप्रसिद्धत्वात्। तथा हि—
"यस्तु पश्यति रात्र्यन्ते राजानं कुञ्जरं हयम्। सुवर्णं वृषभं गां च कुटुम्बं तस्य वर्धते" ॥३७
यत्र नेत्रादिकं नास्ति न तत्र मतिरात्मनि। तन्न युक्तमिदं यस्मात्स्वप्नमन्धोऽपि वीक्षते ॥३८
जैमिन्यादेर्नरत्वेऽपि प्रकृष्येत मतिर्यदि। पराकाष्ठाप्यतस्तस्याः क्वचित्खे परिमाणवत् ॥३९

सदाशिव ईश्वर आदिक संसारी हैं या मुक्त ? यदि संसारी हैं तो वे आप्त नहीं हो सकते। यदि मुक्त हैं तो 'क्लेश, कर्म, कर्मफलका उपभोग और उसके अनुरूप संस्कारोंसे रहित पुरुष विशेष ईश्वर है। उस ईश्वरमें सर्वज्ञताका जो बीज है वह अपनी चरम सीमाको प्राप्त है अर्थात् वह पूर्णज्ञानी है'। पतञ्जलिका यह कथन, और 'हे भगवन्! आपमें अविनाशी ऐश्वर्य है, स्वाभाविक विरागता है, स्वाभाविक सन्तोष है, स्वभावसे ही आप इन्द्रियजयी हैं। आपमें ही अविनाशी सुख, निरावरण शक्ति और सब विषयोंका ज्ञान है ॥३४॥ अवधूताचार्यका यह कथन घटित नहीं हो सकता है। [इस प्रकार कणाद मतके अनुयायियोंकी आलोचना करके आचार्य बौद्धोंकी आलोचना करते हैं—] १२. यदि पुरुष अनेक जन्म धारण करनेपर भी आज तक अक्षय है, उसका विनाश नहीं हुआ तो मुक्ति प्राप्त होनेपर उसका विनाश किस कारणसे हो जाता है ? ॥३५॥ [अब आचार्य सांख्यमतकी आलोचना करते हैं—] १३. जैसे वात, पित्त आदिका प्रकोप न रहनेपर आत्माको सच्चा स्वप्न दिखाई देता है वैसे ही ज्ञानावरण कर्म रूपी मलके नष्ट हो जानेपर आत्मा बाह्य पदार्थोंको जानता है। अतः मुक्त हो जानेपर आत्मा अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है और बाह्य पदार्थोंको नहीं जानता यह कहना अप्रमाण है। यह भी अर्थ हो सकता है कि मलके नष्ट हो जाने पर आत्मा बाह्य पदार्थोंको जानता है। और तब अपने इस स्वरूपमें अनन्त काल तक अवस्थित रहता है ॥ ३६ ॥ यदि कहा जाय कि सच्चे स्वप्न होते ही नहीं हैं, किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि 'स्वप्नाध्याय'में सच्चे स्वप्न बतलाये हैं। जैसा कि उसमें लिखा है—'जो रात्रिके पिछले पहरमें राजा, हाथी, घोड़ा, सोना, बैल और गायको देखता है उसका कुटुम्ब बढ़ता है ॥ ३७ ॥ जहाँ नेत्रादिक इन्द्रियाँ नहीं होतीं, वहाँ आत्मामें ज्ञान भी नहीं होता, ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि अन्धे मनुष्यको भी स्वप्न दिखाई देता है ॥३८॥ भावार्थ—सांख्य मुक्तात्मामें ज्ञान नहीं मानता, क्योंकि वहाँ इन्द्रियाँ नहीं होतीं। उसकी इस मान्यताका खण्डन करते हुए ग्रन्थकारका कहना है कि इन्द्रियोंके होनेपर ही ज्ञान हो और उनके नहीं होनेपर न हो ऐसा कोई नियम नहीं है। इन्द्रियोंके अभावमें भी ज्ञान होता देखा जाता है। स्वप्न दशामें इन्द्रियाँ काम नहीं करतीं फिर भी ज्ञान होता है और वह सच्चा निकलता है। अतः इन्द्रियोंके अभावमें भी मुक्तात्माको स्वाभाविक ज्ञान रहता ही है। [जैमिनिके मतके अनुयायी मीमांसक कहे जाते हैं। मीमांसक लोग सर्वज्ञको नहीं मानते। वे वेदको ही प्रमाण मानते हैं। उनके मतसे वेद ही भूत और भविष्यत्का भी ज्ञान करा सकता है। उनका कहना है कि मनुष्यकी बुद्धि कितना भी विकास करे किन्तु उसमें अतीन्द्रिय पदार्थोंको जाननेकी शक्ति कभी नहीं आ सकती। मनुष्य यदि अतीन्द्रिय पदार्थोंको जान सकता है तो केवल वेदके द्वारा ही जान सकता है। इसकी आलोचना करते हुए आचार्य कहते हैं—] आपके आप्त

तुच्छाभावो न कस्यापि हानिर्दीपस्तमोऽन्वयी । धरादिषु धियो हानौ विश्लेषे सिद्धसाध्यता ॥४०
तदावृतिहृतौ तस्य तपनस्येव दीधितिः । कथं न शेमुषी सर्वं प्रकाशयति वस्तु यत् ॥४१
ब्रह्मैकं यदि सिद्धं स्यान्निस्तरङ्गं कुतश्च न । घटाकाशमिवाकाशे तत्रेदं लीयतां जगत् ॥४२
अथ मतम्—
एक एव हि भूतात्मा देहे देहे व्यवस्थितः । एकधानेकधा चापि दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥४३
तदयुक्तम् ।
एकः खेऽनेकधान्यत्र यथेन्दुर्वेद्यते जनैः । न तथा वेद्यते ब्रह्म भेदेभ्योऽन्यदभेदभाक् ॥४४
अलमतिविस्तरेण ।
आनन्दो ज्ञानमैश्वर्यं वीर्यं परमसूक्ष्मता । एतदात्यन्तिकं यत्र स मोक्षः परिकीर्तितः ॥४५
ज्वालोरुवूकबीजादेः स्वभावादूर्ध्वगामिता । नियता च यथा दृष्टा मुक्तस्यापि तथात्मनः ॥४६
तथाप्यत्र तदावासे पुण्यपापात्मनामपि । स्वर्गश्वभ्रागमो न स्यादलं लोकान्तरेण ते ॥४७

जैमिनि मनुष्य थे । फिर भी उनकी बुद्धि इतनी विकसित हो गई थी कि वे वेदको पूरी तरहसे जान सके । इसी तरह किसी पुरुषकी बुद्धिका विकास अपनी चरम सीमाको भी पहुँच सकता है । क्योंकि जिनकी हानि-वृद्धि देखी जाती है, उनका कहीं परम प्रकर्ष और परम अपकर्ष अर्थात् अति हानि और अति वृद्धि भी देखी जाती है । जैसे परिमाणका परम प्रकर्ष आकाशमें पाया जाता है ॥ ३९ ॥ यदि कहा जाय कि इस नियमके अनुसार तो किसीमें वुद्धिका सर्वथा अभाव भी हो सकता है तो इसका उत्तर यह है कि किसी भी वस्तुका तुच्छाभाव नहीं होता, अर्थात् वह पदार्थ एक दम नष्ट हो जाये और कुछ भी शेष न रहे, ऐसा नहीं होता । दीपक जब वुझ जाता है तो प्रकाश अन्धकार रूपमें परिवर्तित हो जाता है । तथा पृथिवी आदिमें वुद्धिकी अत्यन्त हानि देखी जाती है । क्योंकि पृथिवीकायिक आदि जीव पृथिवी आदि रूप पुद्‌गलोंको अपने शरीर रूपसे ग्रहण करता है और मरण होनेपर उन्हें छोड़ देता है । अतः जीवके वियुक्त हो जानेपर उन पृथिवी आदि रूप पुद्‌गलोंमें वुद्धिका सर्वथा अभाव हो जाता है । इसमें तो सिद्ध साध्यता है ॥ ४० ॥ अतः जैसे सूर्यके ऊपरसे आवरणके हट जानेपर उसकी किरणें समस्त जगत्‌को प्रकाशित करती हैं । वैसे ही वुद्धिके ऊपरसे कर्मोंका आवरण हट जाने पर वह समस्त जगत्‌को क्यों नहीं जान सकती, अवश्य जान सकती है ॥४१॥ [अब आचार्य ब्रह्माद्वैतकी आलोचना करते हैं—] १४. यदि केवल एक ब्रह्म ही है तो वह निस्तरंग—सांसारिक भेदोंसे रहित क्यों नहीं है अर्थात् यह लोक भिन्न क्यों दिखाई देता है । तथा जैसे घटके फूट जानेपर घटके द्वारा रोका गया आकाश आकाशमें मिल जाता है, वैसेही इस जगत्‌को भी उसी ब्रह्ममें मिल जाना चाहिए ॥ ४२ ॥ यदि कहा जाय कि जैसे चन्द्रमा एक होते हुए भी जलमें प्रतिबिम्ब पड़नेपर अनेक रूप दिखाई देता है उसी तरह एक ही ब्रह्म भिन्न-भिन्न शरीरोंमें पाया जानेसे अनेक रूप दिखाई देता है ॥ ४३ ॥ किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि जैसे चन्द्रमा आकाशमें एक और जलमें अनेक दिखाई देता है, वैसे भेदोंसे जुदा एक ब्रह्म ज्ञानगोचर नहीं होता ॥४४॥ अस्तु, अब इस प्रसंगको यहीं समाप्त करते हैं । जहाँपर आत्यन्तिक-चरम सीमाको प्राप्त अविनाशी सुख, ज्ञान, ऐश्वर्य, वीर्य और परम सूक्ष्मत्व आदि गुण पाये जाते हैं उसीको मोक्ष कहते हैं ॥ जैसे आगकी ज्वाला और एरण्डके बीज स्वभावसे ही ऊपरको जाते हैं, उसी प्रकार मुक्तात्मा भी स्वभावसे ही ऊपरको जाता है ॥ यदि यही माना जाये कि मुक्त होनेपर आत्मा यहीं रह जाता

अहो धर्माराधनैकमते वसुमतीपते, सम्यक्त्वं हि नाम नराणां महती खलु पुरुषदेवता। यत्सकृदेकमेव यथोक्तगुणप्रगुणतया संजातमशेषकल्मषकलुषधिषणतया नरकादिषु गतिषु, पुण्यदायुषामपि मनुष्याणां षट्सु तलपातालेषु, अष्टविधेषु व्यन्तरेषु, दशविधेषु भवनवासिषु, पञ्चविधेषु ज्योतिष्केषु, त्रिविधासु स्त्रीषु, विकलकरणेषु पृथ्वी-पयः-पावक-पवनकायिकेषु वनस्पतिषु च न भवति संभूतिहेतुः। सावधि विदधात्याजवंजवीभावं, नियमेन संपादयति कञ्चित्कालमुपलभ्यात्मनश्चार्वाचारित्रे, साधुसंपादनसारः संस्कार इव बीजेषु जन्मान्तरेऽपि न जहात्यात्मनोऽनुवृत्तिम्, सिद्धश्चिन्तामणिरिव च फलत्यसीमं कामितानि। व्रतानि पुनरोषधय इव फलपाकावसानानि पाथेयवन्नियतवृत्तीनि च। न च सिद्धरसवेधसंबन्धादुषर्बुधसंनिधानमात्रजन्मनि जाम्बुनद इवात्र पदार्थयाथात्म्यसमवगमात्मनोमननमात्रतन्त्रे निःशेषश्रुतश्रवणपरिश्रमः समाश्रयणीयः, न शरीरमायासयितव्यम्, न देशान्तरमनुसरणीयम्, नापि कालक्षेपकुक्षिरपेक्षितव्यः। तस्मादधिष्ठानमिव प्रासादस्य, सौभाग्यमिव रूपसम्पदः, प्राणितमिव भोगायतनोपचारस्य, मूलबलमिव विजयप्राप्तेः, विनीतत्वमिवाभिजात्यस्य, नयानुष्ठानमिव राज्यस्थितेरखिलस्यापि परलोकोदाहरस्य सम्यक्त्वमेव ननु प्रथमं कारणं गृणन्ति गरीयांसः। तस्य चेदं लक्षणम्—

है कहीं जाता नहीं है, तो पुण्यात्माओंका स्वर्गगमन और पापात्माओंका नरक गमन भी नहीं होगा। फिर तो परलोक की कथा ही व्यर्थ हो जाती है। अतः मुक्तात्माको ऊर्ध्वगामी मानना चाहिए॥ ४५-४७॥ [अब ग्रन्थकार सम्यक्त्वका माहात्म्य और स्वरूप बतलाते हैं—] धर्मप्रेमी राजन्! सम्यक्त्व मनुष्योंका एक महती पुरुष देवता है अर्थात् देवताकी तरह उनका रक्षक है। क्योंकि यदि अपने यथोक्त गुणोंसे समन्वित सम्यग्दर्शन एक वार भी प्राप्त हो जाता है तो समस्त पापोंसे कलुषित मति होनेके कारण जिन पुरुषोंने नरकादिक गतियोंमेंसे किसी एकको आयुका वन्ध कर लिया है उन मनुष्योंका नीचेके छह नरकोंमें, आठ प्रकारके व्यन्तरोंमें, दस प्रकारके भवनवासियोंमें, पाँच प्रकारके ज्योतिषी देवोंमें, तीन प्रकारकी स्त्रियोंमें, विकलेन्द्रियोंमें, पृथिवीकाय, जलकाय, तैजसकाय, वायुकाय और वनस्पतिकायमें जन्म नहीं होने देता। संसारको सान्त कर देता है। कुछ समयके पश्चात् उस आत्माके सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र अवश्य प्रकट हो जाते हैं। जैसे, बीजोंमें अच्छी तरहसे किया गया संस्कार बीजोंकी वृक्षरूप पर्यायान्तर होनेपर भी वर्तमान रहता है, उसी तरह सम्यक्त्व जन्मान्तरमें भी आत्माका अनुसरण करता है, उसे छोड़ता नहीं है। सिद्ध चिन्तामणिके समान असीम मनोरथोंको पूर्ण करता है। व्रत तो ओषधि वृक्षोंकी तरह (जो वृक्ष फलोंके पकनेके बाद नष्ट हो जाते हैं उन्हें ओषधि वृक्ष कहते हैं) मोक्षरूपी फलके पकने तक ही ठहरते हैं तथा कलेवाकी तरह नियत कालतक ही रहते हैं। (किन्तु सम्यक्त्व ऐसा नहीं है) पारे और अग्निके संयोगमात्रसे उत्पन्न होनेवाले स्वर्णकी तरह, पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपको जानकर उनमें मनको लगाने मात्रसे प्रकट होनेवाले सम्यक्त्वके लिए न तो समस्त श्रुतको सुननेका परिश्रम ही करना आवश्यक है, न शरीरको ही कष्ट देना चाहिए, न देशान्तरमें भटकना चाहिए और न कालकी ही अपेक्षा करनी चाहिए। अर्थात् सम्यक्त्वके लिए किसी कालविशेष या देश-विशेषकी आवश्यकता नहीं है। सब देशों और सब कालोंमें वह हो सकता है। इसलिए जैसे नींवको महलका, सौभाग्यको रूप-सम्पदाका, जीवनको शारीरिक सुखका, मूल बलको विजयका, विनम्रताको कुलीनताका, और नीति पालनको राज्यकी स्थिरताका मूलकारण माना जाता है वैसे

तुच्छाभावो न कस्यापि हानिर्दीपस्तमोऽन्वयी । धरादिषु धियो हानौ विश्लेषे सिद्धसाध्यता ॥४०
तदावृतिहतौ तस्य तपनस्येव दीधितिः । कथं न शेमुषी सर्वं प्रकाशयति वस्तु यत् ॥४१
ब्रह्मैकं यदि सिद्धं स्यान्निस्तरङ्गं कुतश्च न । घटाकाशमिवाकाशे तत्रेदं लीयतां जगत् ॥४२
अथ मतम्—
एक एव हि भूतात्मा देहे देहे व्यवस्थितः । एकधानेकधा चापि दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥४३
तदयुक्तम् ।
एकः खेऽनेकधान्यत्र यथेन्दुर्वेद्यते जनैः । न तथा वेद्यते ब्रह्म भेदेभ्योऽन्यद्भेदभाक् ॥४४
अलमतिविस्तरेण ।
आनन्दो ज्ञानमैश्वर्यं वीर्यं परमसूक्ष्मता । एतदात्यन्तिकं यत्र स मोक्षः परिकीर्तितः ॥४५
ज्वालोरुवूकबीजादेः स्वभावादूर्ध्वगामिता । नियता च यथा दृष्टा मुक्तस्यापि तथात्मनः ॥४६
तथाप्यत्र तदावासे पुण्यपापात्मनामपि । स्वर्गश्वभ्रागमो न स्यादलं लोकान्तरेण ते ॥४७

जैमिनि मनुष्य थे। फिर भी उनकी बुद्धि इतनी विकसित हो गई थी कि वे वेदको पूरी तरहसे जान सके। इसी तरह किसी पुरुषकी बुद्धिका विकास अपनी चरम सीमाको भी पहुँच सकता है। क्योंकि जिनकी हानि-वृद्धि देखी जाती है, उनका कहीं परम प्रकर्ष और परम अपकर्ष अर्थात् अति हानि और अति वृद्धि भी देखी जाती है। जैसे परिमाणका परम प्रकर्ष आकाशमें पाया जाता है ॥ ३९ ॥ यदि कहा जाय कि इस नियमके अनुसार तो किसीमें बुद्धिका सर्वथा अभाव भी हो सकता है तो इसका उत्तर यह है कि किसी भी वस्तुका तुच्छाभाव नहीं होता, अर्थात् वह पदार्थ एक दम नष्ट हो जाये और कुछ भी शेष न रहे, ऐसा नहीं होता। दीपक जब बुझ जाता है तो प्रकाश अन्धकार रूपमें परिवर्तित हो जाता है। तथा पृथिवी आदिमें बुद्धिकी अत्यन्त हानि देखी जाती है। क्योंकि पृथिवीकायिक आदि जीव पृथिवी आदि रूप पुद्गलोंको अपने शरीर रूपसे ग्रहण करता है और मरण होनेपर उन्हें छोड़ देता है। अतः जीवके वियुक्त हो जानेपर उन पृथिवी आदि रूप पुद्गलोंमें बुद्धिका सर्वथा अभाव हो जाता है। इसमें तो सिद्ध साध्यता है ॥ ४० ॥ अतः जैसे सूर्यके ऊपरसे आवरणके हट जानेपर उसकी किरणें समस्त जगत्‌को प्रकाशित करती हैं। वैसे ही बुद्धिके ऊपरसे कर्मोंका आवरण हट जाने पर वह समस्त जगत्‌को क्यों नहीं जान सकती, अवश्य जान सकती है ॥४१॥ [अब आचार्य ब्रह्माद्वैतकी आलोचना करते हैं—] १४. यदि केवल एक ब्रह्म ही है तो वह निस्तरंग—सांसारिक भेदोंसे रहित क्यों नहीं है अर्थात् यह लोक भिन्न क्यों दिखाई देता है। तथा जैसे घटके फूट जानेपर घटके द्वारा रोका गया आकाश आकाशमें मिल जाता है, वैसेही इस जगत्‌को भी उसी ब्रह्ममें मिल जाना चाहिए ॥ ४२ ॥ यदि कहा जाय कि जैसे चन्द्रमा एक होते हुए भी जलमें प्रतिबिम्ब पड़नेपर अनेक रूप दिखाई देता है उसी तरह एक ही ब्रह्म भिन्न-भिन्न शरीरोंमें पाया जानेसे अनेक रूप दिखाई देता है ॥ ४३ ॥ किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि जैसे चन्द्रमा आकाशमें एक और जलमें अनेक दिखाई देता है, वैसे भेदोंसे जुदा एक ब्रह्म ज्ञानगोचर नहीं होता ॥४४॥ अस्तु, अब इस प्रसंगको यहीं समाप्त करते हैं। जहाँपर आत्यन्तिक-चरम सीमाको प्राप्त अविनाशी सुख, ज्ञान, ऐश्वर्य, वीर्य और परम सूक्ष्मत्व आदि गुण पाये जाते हैं उसीको मोक्ष कहते हैं ॥ जैसे आगकी ज्वाला और एरण्डके बीज स्वभावसे ही ऊपरको जाते हैं, उसी प्रकार मुक्तात्मा भी स्वभावसे ही ऊपरको जाता है ॥ यदि यही माना जाये कि मुक्त होनेपर आत्मा यहीं रह जाता

अहो धर्माराधनैकमते वसुमतीपते, सम्यक्त्वं हि नाम नराणां महती खलु पुरुषदेवता। यत्सकृदेकमेव यथोक्तगुणप्रगुणतया संजातमशेषकल्मषकलुषधिषणतया नरकादिषु गतिषु, पुण्यदायुषामपि मनुष्याणां षट्सु तलपातालेषु, अष्टविधेषु व्यन्तरेषु, दशविधेषु भवनवासिषु, पञ्चविधेषु ज्योतिष्केषु, त्रिविधासु स्त्रीषु, विकलकरणेषु पृथ्वी-पयः-पावक-पवनकायिकेषु वनस्पतिषु च न भवति संभूतिहेतुः। सावधि विदधात्याजवंजवीभावं, नियमेन संपादयति कञ्चित्कालमुपलभ्यात्मनश्चार्वाचारित्रे, साधुसंपादनसारः संस्कार इव बीजेषु जन्मान्तरेऽपि न जहात्यात्मनोऽनुवृत्तिम्, सिद्धश्चिन्तामणिरिव च फलत्यसीमं कामितानि। व्रतानि पुनरोषधय इव फलपाकावसानानि पाथेयवन्नियतवृत्तीनि च। न च सिद्धरसवेधसंबन्धादुषर्बुधसंनिधानमात्रजन्मनि जाम्बुनद इवात्र पदार्थयाथात्म्यसमवगमान्मनोमननमात्रतन्त्रे निःशेषश्रुतश्रवणपरिश्रमः समाश्रयणीयः, न शरीरमायासयितव्यम्, न देशान्तरमनुसरणीयम्, नापि कालक्षेपकुक्षिरपेक्षितव्यः। तस्मादधिष्ठानमिव प्रासादस्य, सौभाग्यमिव रूपसम्पदः, प्राणितमिव भोगायतनोपचारस्य, मूलबलमिव विजयप्राप्तेः, विनीतत्वमिवाभिजात्यस्य, नयानुष्ठानमिव राज्यस्थितेरखिलस्यापि परलोकोदाहरस्य सम्यक्त्वमेव ननु प्रथमं कारणं गृणन्ति गरीयांसः। तस्य चेदं लक्षणम्—

है कहीं जाता नहीं है, तो पुण्यात्माओंका स्वर्गगमन और पापात्माओंका नरक गमन भी नहीं होगा। फिर तो परलोक की कथा ही व्यर्थ हो जाती है। अतः मुक्तात्माको ऊर्ध्वगामी मानना चाहिए॥ ४५-४७॥ [अब ग्रन्थकार सम्यक्त्वका माहात्म्य और स्वरूप बतलाते हैं—] धर्मप्रेमी राजन्! सम्यक्त्व मनुष्योंका एक महती पुरुष देवता है अर्थात् देवताकी तरह उनका रक्षक है। क्योंकि यदि अपने यथोक्त गुणोंसे समन्वित सम्यग्दर्शन एक बार भी प्राप्त हो जाता है तो समस्त पापोंसे कलुषित मति होनेके कारण जिन पुरुषोंने नरकादिक गतियोंमेंसे किसी एकको आयुका बन्ध कर लिया है उन मनुष्योंका नीचेके छह नरकोंमें, आठ प्रकारके व्यन्तरोंमें, दस प्रकारके भवनवासियोंमें, पाँच प्रकारके ज्योतिषी देवोंमें, तीन प्रकारकी स्त्रियोंमें, विकलेन्द्रियोंमें, पृथिवीकाय, जलकाय, तैजसकाय, वायुकाय और वनस्पतिकायमें जन्म नहीं होने देता। संसारको सान्त कर देता है। कुछ समयके पश्चात् उस आत्माके सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र अवश्य प्रकट हो जाते हैं। जैसे, बीजोंमें अच्छी तरहसे किया गया संस्कार बीजोंकी वृक्षरूप पर्यायान्तर होनेपर भी वर्तमान रहता है, उसी तरह सम्यक्त्व जन्मान्तरमें भी आत्माका अनुसरण करता है, उसे छोड़ता नहीं है। सिद्ध चिन्तामणिके समान असीम मनोरथोंको पूर्ण करता है। व्रत तो ओषधि वृक्षोंकी तरह (जो वृक्ष फलोंके पकनेके बाद नष्ट हो जाते हैं उन्हें ओषधि वृक्ष कहते हैं) मोक्षरूपी फलके पकने तक ही ठहरते हैं तथा कलेवाकी तरह नियत कालतक ही रहते हैं। (किन्तु सम्यक्त्व ऐसा नहीं है) पारे और अग्निके संयोगमात्रसे उत्पन्न होनेवाले स्वर्णकी तरह, पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपको जानकर उनमें मनको लगाने मात्रसे प्रकट होनेवाले सम्यक्त्वके लिए न तो समस्त श्रुतको सुननेका परिश्रम ही करना आवश्यक है, न शरीरको ही कष्ट देना चाहिए, न देशान्तरमें भटकना चाहिए और न कालकी ही अपेक्षा करनी चाहिए। अर्थात् सम्यक्त्वके लिए किसी कालविशेष या देश-विशेषकी आवश्यकता नहीं है। सब देशों और सब कालोंमें वह हो सकता है। इसलिए जैसे नींवको महलका, सौभाग्यको रूप-सम्पदाका, जीवनको शारीरिक सुखका, मूल बलको विजयका, विनम्रताको कुलीनताका, और नीति पालनको राज्यकी स्थिरताका मूलकारण माना जाता है वैसे ही महात्मा-

आप्तागमपदार्थानां श्रद्धानं कारणद्वयात् । मूढाद्यपोढमष्टाङ्गं सम्यक्त्वं प्रशमादिभाक् ॥४८॥
सर्वज्ञं सर्वलोकेशं सर्वदोषविवर्जितम् । सर्वसत्त्वहितं प्राहुराप्तमाप्तमतोचिताः ॥४९॥
ज्ञानवान्मृग्यते कश्चित्तदुक्तप्रतिपत्तये । अज्ञोपदेशकरणे विप्रलम्भनशङ्किभिः ॥५०॥
यस्तत्त्वदेशनाद्दुःखवार्धेरुद्धरते जगत् । कथं न सर्वलोकेशः प्रह्वीभूतजगत्त्रयः ॥५१॥
क्षुत्पिपासाभयं द्वेषश्चिन्तनं मूढतागमः । रागो जरा रुजा मृत्युः क्रोधः खेदो मदो रतिः ॥५२॥
विस्मयो जननं निद्रा विषादोऽष्टादश ध्रुवाः । त्रिजगत्सर्वभूतानां दोषाः साधारणा इमे ॥५३
एभिर्दोषैर्विनिर्मुक्तः सोऽयमाप्तो निरञ्जनः । स एव हेतुः सूक्तीनां केवलज्ञानलोचनः ॥५४
रागाद्वा द्वेषाद्वा मोहाद्वा वाक्यमुच्यते ह्यनृतन् । यस्य तु नैते दोषास्तस्यानृतकारणं नास्ति ॥५५
उच्चावचप्रसूतीनां सत्त्वानां सदृशाकृतिः । य आदर्श इवाभाति स एव जगतां पतिः ॥५६
यस्यात्मनि श्रुते तत्त्वे चारित्रे मुक्तिकारणे । एकवाक्यतया वृत्तिराप्तः सोऽनुमतः सताम् ॥५७
अत्यक्षेप्यागमात्पुंसि विशिष्टत्वं प्रतीयते । उद्यानमध्यवृत्तीनां ध्वनेरिव नगौकसाम् ॥५८

गण सम्यक्त्वको ही समस्त परलौकिक अभ्युन्नतिका अथवा मोक्षका प्रथम कारण कहते हैं । उस सम्यक्त्वका लक्षण इस प्रकार है—अन्तरंग और बहिरंग कारणोंके मिलनेपर आप्त (देव), शास्त्र और पदार्थोंका तीन मूढता रहित, आठ अङ्ग सहित जो श्रद्धान होता है, उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं, यह सम्यग्दर्शन प्रशम संवेग आदि गुणवाला होता है ॥४८॥ जो सर्वज्ञ है, समस्त लोकोंका स्वामी है, सब दोषोंसे रहित है और सब जीवोंका हितू है, उसे आप्त कहते हैं । चूँकि यदि अज्ञ मनुष्य उपदेश दे तो उससे ठगाये जानेकी शंका रहती है, इसलिए मनुष्य उपदेशके लिए ज्ञानी पुरुषको ही खोज करते हैं, क्योंकि उसके द्वारा कही गई बातोंपर विश्वास करनेके लिए किसी ज्ञानीको ही खोजा जाता है ॥४९-५०॥ [ऊपर आप्तको समस्त लोकोंका स्वामी बतलाया है । किन्तु जैनधर्ममें आप्तको न तो ईश्वरकी तरह जगत्का कर्ता हर्ता माना गया है और न उसे सुख-दुःखका देनेवाला ही माना गया है । ऐसी स्थितिमें यह शङ्का होना स्वाभाविक है कि आप्तको सब लोगोंका स्वामी क्यों बतलाया ? इसी बातको मनमें रखकर ग्रन्थकार कहते हैं—] जो तत्त्वोंका उपदेश देकर दुःखोंके समुद्रसे जगत्का उद्धार करता है, अत एव कृतज्ञतावश तीनों लोक जिसके चरणोंमें नत हो जाते हैं, वह सर्वलोकोंका स्वामी क्यों नहीं है ? ॥ ५१ ॥ भूख, प्यास, भय, द्वेष, चिन्ता, मोह, राग, बुढ़ापा, रोग, मृत्यु, क्रोध, खेद, मद, रति, आश्चर्य, जन्म, निद्रा और विषाद ये अठारह दोष संसारके सभी प्राणियोंमें पाये जाते हैं । जो इन दोषोंसे रहित है वही आप्त है । उसकी आँखें केवल ज्ञान हैं उसीके द्वारा वह चराचर विश्वको जानता है तथा वही सदुपदेशका दाता है। वह जो कुछ कहता है सत्य कहता है, क्योंकि रागसे, द्वेषसे या मोहसे झूठ बोला जाता है । किन्तु जिसमें ये तीनों दोष नहीं हैं, उसके झूठ बोलनेका कोई कारण नहीं है ॥५२-५५॥ विविध प्रकारके प्राणियोंकी आकृति समान होती है । किन्तु उनमेंसे जिसका आत्मा दर्पणके समान स्वच्छ हो वही जगत्का स्वामी है ॥५६॥ जिसकी आत्मामें, श्रुतिमें, तत्त्वमें और मुक्तिके कारणभूत चारित्रमें एकवाक्यता पाई जाती है अर्थात् जो जैसा कहता है वैसा ही स्वयं आचरण करता है और वैसी ही तत्त्वव्यवस्था भी उपलब्ध होती है, उसे सज्जन पुरुष आप्त मानते हैं ॥५७॥ [इस पर यह प्रश्न किया जा सकता है कि जिन पुरुषोंको आप्त माना जाता है वे तो गुजर चुके । हम कैसे जानें कि वे आप्त थे ? इसका उत्तर देते हुए ग्रन्थकार कहते हैं—] परोक्ष भी पुरुषकी विशिष्टता उसके द्वारा उपदिष्ट आगमसे जानी

स्वगुणैः श्लाघ्यतां याति स्वदोषैर्दूष्यतां जनः । रोषतोषौ वृथा तत्र कलधौतायसोरिव ॥५९
द्रुहिणाधोक्षजेशानशाक्यसूरपुरःसराः । यदि रागाद्यधिष्ठानं कथं तत्राप्तता भवेत् ॥६०
रागादिदोषसंभूतिर्ज्ञेयामीषु तदागमात् । असतः परदोषस्य गृहीतौ पातकं महत् ॥६१
अजस्तिलोत्तमाचित्तः श्रीरतः श्रीपतिः स्मृतः । अर्धनारीश्वरः शम्भुस्तथाप्येषां किलाप्तता ॥६२
वसुदेवः पिता यस्य सवित्री देवकी हरेः । स्वयं च राजधर्मस्थश्चित्रं देवस्तथापि सः ॥६३
त्रैलोक्यं जठरे यस्य यश्च सर्वत्र विद्यते । किमुत्पत्तिविपत्ती स्तः क्वचित्तस्येति चिन्त्यताम् ॥६४
कपर्दी दोषवानेव निःशरीरः सदाशिवः । अप्रामाण्यादशक्तेश्च कथं तत्रागमागमः ॥६५
परस्परविरुद्धार्थमीश्वरः पञ्चभिर्मुखैः । शास्त्रं शास्ति भवेत्तत्र कतमार्थविनिश्चयः ॥६६
सदाशिवकला रुद्रे यद्यायाति युगे युगे । कथं स्वरूपभेदः स्यात्काञ्चनस्य कलास्विव ॥६७
भैक्षनर्तननग्नत्वं पुरत्रयविलोपनम् । ब्रह्महत्याकपालित्वमेताः क्रीडाः किलेश्वरे ॥६८
सिद्धान्तेऽन्यत्प्रमाणेऽन्यदन्यत्काव्येऽन्यदीहिते । तत्त्वमाप्तस्वरूपं च विचित्रं शैवदर्शनम् ॥६९
एकान्तः शपथश्चैव वृथा तत्त्वपरिग्रहे । सन्तस्तत्त्वं न हीच्छन्ति परप्रत्ययमात्रतः ॥७०

जाती है। जैसे, बगीचेमें रहने वाले पक्षियोंकी आवाजसे उनकी विशिष्टताका भान होता है। अर्थात् पक्षियोंको विना देखे भी जैसे उनकी आवाजसे उनकी पहचान हो जाती है, वैसे ही आप्त पुरुषोंको विना देखे भी उनके शास्त्रोंसे उनकी आप्तताका पता चल जाता है ॥५८॥ सुवर्ण और लोहकी तरह मनुष्य अपने ही गुणोंसे प्रशंसा पाता है और अपने ही दोषोंसे बदनामी उठाता है। इसमें रोष और तोष करना अर्थात् अपने आप्तकी प्रशंसा सुनकर हर्षित होना और निन्दा सुनकर क्रुद्ध होना व्यर्थ है ॥ ५९ ॥ ब्रह्मा, विष्णु, महेश, बुद्ध और सूर्य आदिक देवता यदि रागादिक दोषोंसे युक्त हैं तो वे आप्त कैसे हो सकते हैं? और वे रागादि दोषोंसे युक्त हैं यह बात उनके शास्त्रोंसे ही जाननी चाहिए, क्योंकि जिसमें जो दोष नहीं हैं उसमें उस दोषको माननेमें बड़ा पाप है ॥६०-६१॥ देखो, ब्रह्मा तिलोत्तमामें आसक्त हैं, विष्णु लक्ष्मीमें लीन हैं और महेश तो अर्धनारीश्वर प्रसिद्ध ही हैं। आश्चर्य है, फिर भी इन्हें आप्त माना जाता है। विष्णुके पिता वसुदेव थे, माता देवकी थी, और वे स्वयं राजधर्मका पालन करते थे। आश्चर्य है, फिर भी वे देव माने जाते हैं। सोचनेकी बात है कि जिस विष्णुके उदरमें तीनों लोक बसते हैं और जो सर्वव्यापी है, उसका जन्म और मृत्यु कैसे हो सकते हैं? ॥६२-६४॥ महेशको अशरीरी और सदाशिव मानते हैं, और वह दोषोंसे भी युक्त है। ऐसी अवस्थामें न तो वह प्रमाण माना जा सकता है और न वह कुछ उपदेश ही दे सकता है; क्योंकि वह दोषयुक्त है और शरीरसे रहित है। तब उससे आगमकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है?, जब शिव पाँच मुखोंसे परस्परमें विरुद्ध शास्त्रोंका उपदेश देता है तो उनमेंसे किसी एक अर्थका निश्चय करना कैसे संभव है ॥६५-६६॥ कहा जाता है कि प्रत्येक युगमें रुद्रमें सदाशिवकी कला अवतरित होती है। किन्तु जैसे सुवर्ण और उसके टुकड़ोंमें कोई भेद नहीं किया जा सकता, वैसे ही अशरीरी सदाशिव और सशरीर रुद्रमें कैसे स्वरूपभेद हो सकता है ॥६७॥ भिक्षा माँगना, नाचना, नग्न होना, त्रिपुरको भस्म करना, ब्रह्महत्या करना और हाथमें खप्पर रखना ये सदाशिव ईश्वरकी क्रीड़ाएं हैं ॥६८॥ शैवदर्शनमें तत्त्व और आप्तका स्वरूप सिद्धान्त रूपमें कुछ अन्य है, प्रमाणित कुछ अन्य किया जाता है, काव्यमें कुछ अन्य है और व्यवहारमें कुछ अन्य है। शैवदर्शन भी बड़ा विचित्र है ॥ ६९ ॥ तत्त्वको स्वीकार करनेमें एकान्त और कसम खाना दोनों ही व्यर्थ हैं। विवेकशील पुरुष दूसरोंपर विश्वास करके तत्त्वको स्वीकार नहीं करते ॥ तपाने, काटने और कसौटीपर घिसनेसे जो

आप्तागमपदार्थानां श्रद्धानं कारणद्वयात् । मूढाद्यपोढमष्टाङ्गं सम्यक्त्वं प्रशमादिभाक् ॥४८॥
सर्वज्ञं सर्वलोकेशं सर्वदोषविवर्जितम् । सर्वसत्त्वहितं प्राहुराप्तमाप्तमतोचिताः ॥४९॥
ज्ञानवान्मृग्यते कश्चित्तदुक्तप्रतिपत्तये । अज्ञोपदेशकरणे विप्रलम्भनशङ्किभिः ॥५०॥
यस्तत्त्वदेशनाद्दुःखवार्धेरुद्धरते जगत् । कथं न सर्वलोकेशः प्रह्वीभूतजगत्त्रयः ॥५१॥
क्षुत्पिपासाभयं द्वेषश्चिन्तनं मूढतागमः । रागो जरा रुजा मृत्युः क्रोधः खेदो मदो रतिः ॥५२॥
विस्मयो जननं निद्रा विषादोऽष्टादश ध्रुवाः । त्रिजगत्सर्वभूतानां दोषाः साधारणा इमे ॥५३
एभिर्दोषैर्विनिर्मुक्तः सोऽयमाप्तो निरञ्जनः । स एव हेतुः सूक्तीनां केवलज्ञानलोचनः ॥५४
रागाद्वा द्वेषाद्वा मोहाद्वा वाक्यमुच्यते ह्यनृतम् । यस्य तु नैते दोषास्तस्यानृतकारणं नास्ति ॥५५
उच्चावचप्रसूतीनां सत्त्वानां सदृशाकृतिः । य आदर्श इवाभाति स एव जगतां पतिः ॥५६
यस्यात्मनि श्रुते तत्त्वे चारित्रे मुक्तिकारणे । एकवाक्यतया वृत्तिराप्तः सोऽनुमतः सताम् ॥५७
अत्यक्षेष्यागमात्पुंसि विशिष्टत्वं प्रतीयते । उद्यानमध्यवृत्तीनां ध्वनेरिव नगौकसाम् ॥५८

गण सम्यक्त्वको ही समस्त परलौकिक अभ्युन्नतिका अथवा मोक्षका प्रथम कारण कहते हैं। उस सम्यक्त्वका लक्षण इस प्रकार है—अन्तरंग और बहिरंग कारणोंके मिलनेपर आप्त (देव), शास्त्र और पदार्थोका तीन मूढता रहित, आठ अङ्ग सहित जो श्रद्धान होता है, उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं, यह सम्यग्दर्शन प्रशम संवेग आदि गुणवाला होता है ॥४८॥ जो सर्वज्ञ है, समस्त लोकोंका स्वामी है, सब दोषोंसे रहित है और सब जीवोंका हितू है, उसे आप्त कहते हैं। चूँकि यदि अज्ञ मनुष्य उपदेश दे तो उससे ठगाये जानेकी शंका रहती है, इसलिए मनुष्य उपदेशके लिए ज्ञानी पुरुषकी ही खोज करते हैं, क्योंकि उसके द्वारा कही गई बातोंपर विश्वास करनेके लिए किसी ज्ञानीको ही खोजा जाता है ॥४९-५०॥ [ऊपर आप्तको समस्त लोकोंका स्वामी बतलाया है। किन्तु जैनधर्ममें आप्तको न तो ईश्वरकी तरह जगत्का कर्ता हर्ता माना गया है और न उसे सुख-दुःखका देनेवाला ही माना गया है। ऐसी स्थितिमें यह शङ्का होना स्वाभाविक है कि आप्तको सब लोगोंका स्वामी क्यों बतलाया ? इसी बातको मनमें रखकर ग्रन्थकार कहते हैं—] जो तत्त्वोंका उपदेश देकर दुःखोंके समुद्रसे जगत्का उद्धार करता है, अत एव कृतज्ञतावश तीनों लोक जिसके चरणोंमें नत हो जाते हैं, वह सर्वलोकोंका स्वामी क्यों नहीं है ? ॥ ५१ ॥ भूख, प्यास, भय, द्वेष, चिन्ता, मोह, राग, बुढ़ापा, रोग, मृत्यु, क्रोध, खेद, मद, रति, आश्चर्य, जन्म, निद्रा और विषाद ये अठारह दोष संसारके सभी प्राणियोंमें पाये जाते हैं। जो इन दोषोंसे रहित है वही आप्त है। उसकी आँखें केवल ज्ञान हैं उसीके द्वारा वह चराचर विश्वको जानता है तथा वही सदुपदेशका दाता है। वह जो कुछ कहता है सत्य कहता है, क्योंकि रागसे, द्वेषसे या मोहसे झूठ बोला जाता है। किन्तु जिसमें ये तीनों दोष नहीं हैं, उसके झूठ बोलनेका कोई कारण नहीं है ॥५२-५५॥ विविध प्रकारके प्राणियोंकी आकृति समान होती है। किन्तु उनमेंसे जिसका आत्मा दर्पणके समान स्वच्छ हो वही जगत्का स्वामी है ॥५६॥ जिसकी आत्मामें, श्रुतिमें, तत्त्वमें और मुक्तिके कारणभूत चारित्रमें एकवाक्यता पाई जाती है अर्थात् जो जैसा कहता है वैसा ही स्वयं आचरण करता है और वैसी ही तत्त्वव्यवस्था भी उपलब्ध होती है, उसे सज्जन पुरुष आप्त मानते हैं ॥५७॥ [इस पर यह प्रश्न किया जा सकता है कि जिन पुरुषोंको आप्त माना जाता है वे तो गुजर चुके। हम कैसे जानें कि वे आप्त थे ? इसका उत्तर देते हुए ग्रन्थकार कहते हैं—] परोक्ष भी पुरुषकी विशिष्टता उसके द्वारा उपदिष्ट आगमसे जानी

स्वगुणैः श्लाघ्यतां याति स्वदोषैर्दूष्यतां जनः । रोषतोषौ वृथा तत्र कलधौतायसोरिव ॥५९
द्रुहिणाधोक्षजेशानशाक्यसूरपुरःसराः । यदि रागाद्यधिष्ठानं कथं तत्राप्तता भवेत् ॥६०
रागादिदोषसंभूतिर्ज्ञेयामीषु तदागमात् । असतः परदोषस्य गृहीतौ पातकं महत् ॥६१
अजस्तिलोत्तमाचित्तः श्रीरतः श्रीपतिः स्मृतः । अर्धनारीश्वरः शम्भुस्तथाप्येषां किलाप्तता ॥६२
वसुदेवः पिता यस्य सवित्री देवकी हरेः । स्वयं च राजधर्मस्थश्चित्रं देवस्तथापि सः ॥६३
त्रैलोक्यं जठरे यस्य यश्च सर्वत्र विद्यते । किमुत्पत्तिविपत्ती स्तः क्वचित्तस्येति चिन्त्यताम् ॥६४
कपर्दी दोषवानेष निःशरीरः सदाशिवः । अप्रामाण्यादशक्तेश्च कथं तत्रागमागमः ॥६५
परस्परविरुद्धार्थमीश्वरः पञ्चभिर्मुखैः । शास्त्रं शास्ति भवेत्तत्र कतमार्थविनिश्चयः ॥६६
सदाशिवकला रुद्रे यद्यायाति युगे युगे । कथं स्वरूपभेदः स्यात्काञ्चनस्य कलास्विव ॥६७
भैक्षनर्तननग्नत्वं पुरत्रयविलोपनम् । ब्रह्महत्याकपालित्वमेताः क्रीडाः किलेश्वरे ॥६८
सिद्धान्तेऽन्यत्प्रमाणेऽन्यदन्यत्काव्येऽन्यदीहिते । तत्त्वमाप्तस्वरूपं च विचित्रं शैवदर्शनम् ॥६९
एकान्तः शपथश्चैव वृथा तत्त्वपरिग्रहे । सन्तस्तत्त्वं न हीच्छन्ति परप्रत्ययमात्रतः ॥७०

जाती है। जैसे, बगीचेमें रहने वाले पक्षियोंको आवाजसे उनकी विशिष्टताका भान होता है। अर्थात् पक्षियोंको विना देखे भी जैसे उनकी आवाजसे उनकी पहचान हो जाती है, वैसे ही आप्त पुरुषोंको विना देखे भी उनके शास्त्रोंसे उनकी आप्तताका पता चल जाता है ॥५८॥ सुवर्ण और लोहकी तरह मनुष्य अपने ही गुणोंसे प्रशंसा पाता है और अपने ही दोषोंसे बदनामी उठाता है। इसमें रोष और तोष करना अर्थात् अपने आप्तकी प्रशंसा सुनकर हर्षित होना और निन्दा सुनकर क्रुद्ध होना व्यर्थ है ॥ ५९ ॥ ब्रह्मा, विष्णु, महेश, बुद्ध और सूर्य आदिक देवता यदि रागादिक दोषोंसे युक्त हैं तो वे आप्त कैसे हो सकते हैं? और वे रागादि दोषोंसे युक्त हैं यह बात उनके शास्त्रोंसे ही जाननी चाहिए, क्योंकि जिसमें जो दोष नहीं हैं उसमें उस दोषको माननेमें बड़ा पाप है ॥६०–६१॥ देखो, ब्रह्मा तिलोत्तमामें आसक्त हैं, विष्णु लक्ष्मीमें लीन हैं और महेश तो अर्धनारीश्वर प्रसिद्ध ही हैं। आश्चर्य है, फिर भी इन्हें आप्त माना जाता है। विष्णुके पिता वसुदेव थे, माता देवकी थी, और वे स्वयं राजधर्मका पालन करते थे। आश्चर्य है, फिर भी वे देव माने जाते हैं। सोचनेकी बात है कि जिस विष्णुके उदरमें तीनों लोक बसते हैं और जो सर्वव्यापी है, उसका जन्म और मृत्यु कैसे हो सकते हैं? ॥६२-६४॥ महेशको अशरीरी और सदाशिव मानते हैं, और वह दोषोंसे भी युक्त है। ऐसी अवस्थामें न तो वह प्रमाण माना जा सकता है और न वह कुछ उपदेश ही दे सकता है; क्योंकि वह दोषयुक्त है और शरीरसे रहित है। तब उससे आगमकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है?, जब शिव पाँच मुखोंसे परस्परमें विरुद्ध शास्त्रोंका उपदेश देता है तो उनमेंसे किसी एक अर्थका निश्चय करना कैसे संभव है ॥६५-६६॥ कहा जाता है कि प्रत्येक युगमें रुद्रमें सदाशिवकी कला अवतरित होती है। किन्तु जैसे सुवर्ण और उसके टुकड़ोंमें कोई भेद नहीं किया जा सकता, वैसे ही अशरीरी सदाशिव और सशरीर रुद्रमें कैसे स्वरूपभेद हो सकता है ॥६७॥ भिक्षा माँगना, नाचना, नग्न होना, त्रिपुरको भस्म करना, ब्रह्महत्या करना और हाथमें खप्पर रखना ये सदाशिव ईश्वरकी क्रीड़ाएं हैं ॥६८॥ शैवदर्शनमें तत्त्व और आप्तका स्वरूप सिद्धान्त रूपमें कुछ अन्य है, प्रमाणित कुछ अन्य किया जाता है, काव्यमें कुछ अन्य है और व्यवहारमें कुछ अन्य है। शैवदर्शन भी बड़ा विचित्र है ॥ ६९ ॥ तत्त्वको स्वीकार करनेमें एकान्त और कसम खाना दोनों ही व्यर्थ हैं। विवेकशील पुरुष दूसरोंपर विश्वास करके तत्त्वको स्वीकार नहीं करते ॥ तपाने, काटने और कसौटीपर घिसनेसे जो

दाहच्छेदकषाऽशुद्धे हेम्नि का शपथक्रिया। दाहच्छेदकषाशुद्धे हेम्नि का शपथक्रिया ॥७१
यद्दृष्टमनुमानं च प्रतीतिं लौकिकीं भजेत्। तदाहुः सुविदस्तत्त्वं रहः कुहकवर्जितम् ॥७२
निर्बीजतेव तन्त्रेण यदि स्यान्मुक्तताङ्गिनि। बीजवत्पावकस्पर्शः प्रणेयो मोक्षकांक्षिणि ॥७३
विषसामर्थ्यवन्मन्त्रात्क्षयश्चेदिह कर्मणः। तर्हि तन्मन्त्रमान्यस्य न स्युर्दोषा भवोद्भवाः ॥७४
ग्रहगोत्रगतोऽप्येष पूषा पूज्यो न चन्द्रमाः। अविचारिततत्त्वस्य जन्तोर्वृत्तिर्निरङ्कुशा ॥७५
द्वैताद्वैताश्रयः शाक्यः शङ्करानुकृतागमः। कथं मनीषिभिर्मान्यस्तरसासवसक्तधीः ॥७६

अथैवं प्रत्यवतिष्ठासवो—भवतां समये किल मनुजः सन्नाप्तो भवति तस्य चाप्ततातीव दुर्घटा संप्रति संजातजनवद्, भवतु वा, तथापि मनुष्यस्याभिलषिततत्त्वाववोधो न स्वतस्तथा-दर्शनाभावात्। परतश्चेत्कोऽसौ परः? तीर्थंकरोऽन्यो वा? तीर्थंकरश्चेत्तत्राप्येवं पर्यनुयोगे प्रकृत-मनुबन्धे। तस्मादनवस्था। तदभावमाप्तसद्भावं च वाञ्छद्भिः सदाशिवः शिवापतिर्वा तस्य तत्त्वोपदेशकः प्रतिश्रोतव्यः। तदाह पतञ्जलिः—"स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।" तथा हि।
अदृष्टविग्रहाच्छान्ताच्छिवात्परमकारणात्। नादरूपं समुत्पन्नं शास्त्रं परमदुर्लभम्" ॥७७

सोना अशुद्ध ठहरता है, उसके लिए कसम खाना बेकार है। तथा तपाने, काटने और कसौटीपर घिसनेसे जो सोना खरा निकलता है उसके लिए कसम खानेसे क्या लाभ? जो प्रत्यक्ष, अनुमान और लौकिक अनुभवसे ठीक प्रमाणित होता है, और गोप्यता तथा माया छलसे रहित होता है विद्वान् लोग उसीको यथार्थ तत्त्व मानते हैं ॥७०-७२॥ जैसे अग्निके स्पर्शसे बीज निर्बीज हो जाता है उसमें उत्पादन शक्ति नहीं रहती, वैसे ही यदि तंत्रके प्रयोगसे ही प्राणीकी मुक्ति हो जाती है तो मुक्ति चाहनेवाले मनुष्यको भी आगका स्पर्श करा देना चाहिए जिससे बीजकी तरह वह भी जन्म-मरणके चक्रसे छूट जाये ॥७३॥ जैसे, मंत्रके द्वारा विषकी मारणशक्तिको नष्ट कर दिया जाता है, वैसे ही मंत्रके द्वारा यदि कर्मोंका भी क्षय हो जाता है तो उन मंत्रोंके जो मान्य हैं उनमें सांसारिक दोष नहीं पाये जाने चाहिये ॥ ७४ ॥ [इस प्रकार शाक्त मतकी आलोचना करके ग्रन्थकार सूर्य पूजाकी आलोचना करते हैं] ग्रहोंके कुलका होनेपर भी यह सूर्य तो पूज्य हैं और चन्द्रमा पूज्य नहीं है? ठीक ही है जिस जीवने तत्त्वका विचार नहीं किया, उसकी वृत्ति निरंकुश होती है ॥७५॥ [अब बौद्ध मतकी आलोचना करते हैं] बौद्धमत एक ओर द्वैतवादी है अर्थात् संयम और भक्ष्या-भक्ष्य आदिका विचार करता है और दूसरी ओर अद्वैतवादी है, अर्थात् सर्व कुछ सेवन करनेकी छूट देता है। उसीके आगमका अनुकरण शंकराचार्यने किया है। ऐसा मद्य और मांसका प्रेमी मत बुद्धि-मानोंके द्वारा मान्य कैसे हो सकता है? ॥७६॥ [इस प्रकार अन्य मतोंकी समीक्षा करनेपर उन मतोंके अनुयायी कहते हैं—] आप जैनोंके आगममें मनुष्यको आप्त माना है। किन्तु उसका आप्त-पना किसी भी तरह नहीं बनता। आज भी लाखों-करोड़ों मनुष्य वर्तमान हैं, किन्तु उनमें कोई भी आप्त नहीं देखा जाता। यदि किसी तरह मनुष्यको आप्त मान भी लिया जाये तो उसे इष्ट तत्त्वका ज्ञान स्वयं तो नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा नहीं देखा जाता। यदि दूसरेसे ऐसा ज्ञान होता है तो वह दूसरा कौन है? तीर्थङ्कर है या अन्य कोई है? यदि तीर्थङ्कर है तो उसमें भी यही प्रश्न पैदा होता है। यदि तीर्थङ्करको इष्ट तत्त्वका ज्ञान किसी तीसरेके द्वारा होता है तो उस तीसरेको इष्ट तत्त्वका ज्ञान चौथेके द्वारा होगा और चौथेको इष्ट तत्त्वका ज्ञान पाँचवेंके द्वारा होगा। इस तरह अनवस्था दोष आ जाता है। अतः यदि अनवस्था दोषसे बचना चाहते हैं और साथ ही साथ आप्तका

तथाप्तेनैकेन भवितव्यम् । न ह्याप्तानामितरप्राणिवद् गणः समस्ति, संभवे वा चतुर्विंशतिरिति नियमः कौतस्कुत इति वन्ध्यास्तनंधयधैर्यव्यावर्णनमुदीर्णमोहार्णवविलयनं च परेषाम् । यतः—

वक्ता नैव सदाशिवो विकरणस्तस्मात्परो रागवान् द्वैविध्यादपरं तृतीयमिति चेत्तत्कस्य हेतोरभूत् ।
शक्त्या चेत्परकीयया कथमसौ तद्वानसंबंधतः संबंधोऽपि न जाघटीति भवतां शास्त्रं निरालम्बनम् ॥७८

'संबंधो हि सदाशिवस्य शक्त्या सह न भिन्नस्य संयोगः शक्तेरद्रव्यत्वात्, 'द्रव्ययोरेव संयोगः' इति यौगसिद्धान्तः । 'समवायलक्षणोऽपि न संबंधः शक्तेः पृथक्सिद्धत्वात्, 'अयुतसिद्धानां गुणगुण्यादीनां समवायसंबंधः' इति वैशेषिकमैतिह्यम् ।

तत्त्वभावनयोद्भूतं जन्मान्तरसमुत्थया । हिताहितविवेकाय यस्य ज्ञानत्रयं परम् ॥७९
दृष्टादृष्टमवैत्यर्थं रूपवन्तमथावधेः । श्रुतेः श्रुतिसमाश्रेयं क्वासौ परमपेक्षताम् ॥८०

न चैतदसार्वत्रिकम् । कथमन्यथा स्वत एव संजातषट्पदार्थावसायप्रसरे कणचरे वाराणस्यां

सद्भाव भी चाहते हैं तो तत्त्वके उपदेष्टा सदाशिव पार्वतीपतिको ही मानना चाहिये । पतञ्जलि ऋषिने भी कहा है—'वह पूर्वजोंका भी गुरु हैं, क्योंकि कालके द्वारा उनका नाश नहीं होता । और भी कहा है—"अशरीरी, शान्त और परम कारण शिवसे परमदुर्लभ नादरूप शास्त्रकी उत्पत्ति हुई ॥७७॥ तथा आप्त एक ही होना चाहिये । अन्य प्राणियोंके समूहकी तरह आप्तोंका समूह तो होता नहीं है । और यदि हो भी तो चौबीस संख्याका नियम कहाँसे आया ?' इस प्रकार दूसरे मतवालोंका उक्त कथन वन्ध्याके पुत्रके धैर्यकी प्रशंसा करनेके तुल्य व्यर्थ है, वे महान् मोहके समुद्रमें डूबे हुए हैं, क्योंकि—सदाशिव अशरीरी है अतः वह वक्ता नहीं हो सकता । और शिव यद्यपि सशरीर हैं मगर वह रागी हैं—पार्वतीके साथ रहते हैं, अतः उनका उपदेश प्रमाण नहीं माना जा सकता । यदि इन दोनोंके सिवाय किसी तीसरेको वक्ता मानते हो तो वह तीसरा किससे हुआ । यदि कहोगे कि शक्तिसे हुआ, तो शक्ति तो भिन्न है, भिन्न शक्तिसे वह शक्तिवान कैसे हो सकता है, क्योंकि उन दोनोंका कोई सम्बन्ध नहीं है । यदि सम्बन्ध मानोगे तो विचार करनेपर उनका कोई सम्बन्ध भी नहीं बनता है, अतः आपका शास्त्र निराधार ठहरता है क्योंकि उसका कोई वक्ता सिद्ध नहीं होता ॥ ७८ ॥ सदाशिवका शक्तिके साथ संयोग सम्बन्ध तो हो नहीं सकता, क्योंकि शक्ति द्रव्य नहीं है और 'संयोग सम्बन्ध द्रव्योंका ही होता है' ऐसा यौगोंका सिद्धान्त है । तथा समवाय सम्बन्ध भी नहीं हो सकता, क्योंकि शक्ति तो शिवसे पृथक् सिद्ध है—जुदी है और 'जो पृथक् सिद्ध नहीं हैं ऐसे गुण गुणी वगैरहका ही समवाय सम्बन्ध होता है' ऐसा वैशेषिकोंका मत है । [इस प्रकार सदाशिववादियोंके शास्त्रको निराधार बतलाकर ग्रन्थकार, मनुष्यको आप्त माननेमें जो आपत्ति की गई है, उनका निराकरण करते हैं—] पूर्वजन्ममें उत्पन्न हुई तत्त्व भावनासे, हित और अहितकी पहचान करनेके लिए उत्पन्न हुए जिसके तीन ज्ञान-मति, श्रुत और अवधि-दृष्ट और अदृष्ट अर्थको जानते हैं, उनमें भी अवधिज्ञान केवल रूपी पदार्थोंको ही जानता है और श्रुतज्ञान शास्त्रमें वर्णित विषयोंको जानता है । ऐसी अवस्थामें इष्ट तत्त्वको जाननेके लिए उसे दूसरेकी अपेक्षा ही क्या रहती है ? ॥७९-८०॥ [आगे कहते हैं—] और यह बात कि तीर्थङ्कर स्वयं ही इष्ट तत्त्वको जान लेते हैं, ऐसी नहीं है जिसे सब न मानते हों । यदि ऐसा नहीं है तो स्वतः ही छ पदार्थोंका ज्ञान होनेपर कणाद-ऋषिके प्रति वाराणसी नगरीमें उलूकका अवतार लेनेवाले महेश्वरका यह कथन कैसे संगत

महेश्वरस्योलूकसायुज्यसरस्येदं वचः संगच्छेत्—'ब्रह्मतुला नामेदं दिवौकसां दिव्यमद्भुतं ज्ञानं प्रादुर्भूतमिह त्वयि तद्वत्सं विधत्स्व विप्रेभ्यः।

उपाये सत्युपेयस्य प्राप्तेः का प्रतिबन्धिता। पातालस्थं जलं यन्त्रात्करस्थं क्रियते यतः ॥८१

अश्मा हेम जलं मुक्ता द्रुमो वह्निः क्षितिर्मणिः। तत्तद्धेतुतया भावा भवन्त्यद्भुतसंपदः ॥८२

सर्गावस्थितिसंहारग्रीष्मवर्षातुषारवत्। अनाद्यनन्तभावोऽयमाप्तश्रुतसमाश्रयः ॥८३

नियतं न बहुत्वं चेत्कथमेते तथाविधाः। तिथितारग्रहाम्भोधिभूभृत्प्रभृतयो मताः ॥८४

अनयैव दिशा चिन्त्यं सांख्यशाक्यादिशासनम्। तत्त्वागमाप्तरूपाणां नानात्वस्याविशेषतः ॥८५

जैनमेकं मतं मुक्त्वा द्वैताद्वैतसमाश्रयौ। मार्गौ समाश्रिताः सर्वे सर्वाभ्युपगमागमाः ॥८६॥

वामदक्षिणमार्गस्थो मन्त्रीतरसमाश्रयः। कर्मज्ञानगतो ज्ञेयः शंभुशाक्यद्विजागमः ॥८७॥

हो सकता है—'हे कणाद ! तुझे देवोंके ब्रह्मतुला नामके दिव्य ज्ञानकी प्राप्ति हुई है इसे विप्रोंको प्रदान कर।' साधन सामग्रीके मिलनेपर पाने योग्य वस्तुकी प्राप्तिमें रुकावट ही क्या हो सकती है? क्योंकि यंत्रके द्वारा पातालमें भी स्थित जल प्राप्त कर लिया जाता है ॥ ८१ ॥ पत्थरसे सोना पैदा होता है। जलसे मोती बनता है। वृक्षसे आग पैदा होती है और पृथ्वीसे मणि पैदा होती है। इस प्रकार अपने-अपने कारणोंसे अद्भुत सम्पदावाले पदार्थ उत्पन्न होते हैं। जैसे उत्पत्ति, स्थिति और विनाशकी परम्परा अनादि-अनन्त है, या ग्रीष्म ऋतु, वर्षा ऋतु और शीत ऋतुकी परम्परा अनादि अनन्त है, वैसे ही आप्त और श्रुतकी परम्परा भी प्रवाह रूपसे चली आती है, न उसका आदि है और न अन्त। आप्तसे श्रुत उत्पन्न होता है और श्रुतसे आप्त बनता है ॥८२-८३॥ [शैव मतवादीने यह आपत्ति की थी कि आप्त बहुतसे नहीं हो सकते और यदि हों भी तो चौबीसका नियम कैसे हो सकता है? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं—] यदि वस्तुओंका बहुत्व नियत न हो तो तिथि, तारा, ग्रह, समुद्र, पहाड़ आदि नियत क्यों माने गये हैं? अर्थात् जैसे ये बहुत हैं फिर भी इनकी संख्या नियत है उसी तरह जैन तीर्थङ्करोंकी भी चौबीस संख्या नियत है ॥८४॥ इसी प्रकारसे सांख्य और बौद्ध आदिके मतोंका भी विचार कर लेना चाहिये। क्योंकि उनमें भी तत्त्व, आगम और आप्तके स्वरूपोंमें भेद पाया जाता है ॥८५॥ एक जैनमतको छोड़कर शेष सभी मतवालोंने या तो द्वैतमतको अपनाया है या अद्वैत मतको अपनाया है। और उनके सभी आगम सभी मतोंके स्वीकार करनेवाले हैं, अर्थात् किसी एक निश्चित सिद्धान्तके प्रतिपादक नहीं हैं ॥८६॥ शैवमत, बौद्धमत और ब्राह्मण-मत वाममार्गी और दक्षिणमार्गी हैं, मंत्र तंत्र प्रधान भी हैं, तथा उसको न मानने वाले भी हैं और कर्मकाण्डी तथा ज्ञानकाण्डी हैं ॥८७॥ **भावार्थ**—शैवमत ब्राह्मणमत और बौद्धमतमें उत्तर कालमें वाममार्ग भी उत्पन्न हो गया था, और वह वाममार्ग मंत्र तंत्र प्रधान था तथा उसमें क्रियाकाण्डका ही प्राधान्य था। दक्षिण मार्ग न तो मंत्र तंत्र प्रधान था और न क्रियाकाण्डको ही विशेष महत्त्व देता था। शैवमतका तो वाममार्ग प्रसिद्ध है। बौद्धमतके महायान सम्प्रदायमेंसे तांत्रिक वाममार्गका उदय हुआ था। वैसे बुद्धके पश्चात् बौद्धमत हीनयान और महायान सम्प्रदायोंमें विभाजित हो गया था। इसीप्रकार वैदिक ब्राह्मणमत भी पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसाके भेदसे दो रूप हो गया था। पूर्व मीमांसा यज्ञ-यागादि कर्मकाण्ड प्रधान है, और उत्तर मीमांसा, जिसे वेदान्त भी कहते हैं, ज्ञान प्रधान है। [अब ग्रन्थकार मनुस्मृतिके दो पद्योंको देकर उसकी आलोचना करते हैं—]

यच्चैतत्—

'श्रुतिं वेदमिह प्राहुर्धर्मशास्त्रं स्मृतिर्मता। ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ ॥८८॥
ते तु यस्त्ववमन्येत हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः। स साधुभिर्बहिः कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः' ॥८९॥

तदपि न साधु। यतः।

समस्तयुक्तिनिर्मुक्तः केवलागमलोचनः। तत्त्वमिच्छन्न कस्येह भवेद्वादी जयावहः ॥९०
सन्तो गुणेषु तुष्यन्ति नाविचारेषु वस्तुषु। पादेन क्षिप्यते ग्रावा रत्नं मौलौ निधीयते ॥९१
श्रेष्ठो गुणैर्गृहस्थः स्यात्ततः श्रेष्ठतरो यतिः। यतेः श्रेष्ठतरो देवो न देवादधिकं परम् ॥९२
गेहिना समवृत्तस्य यतेरप्यधरस्थितेः। यदि देवस्य देवत्वं न देवो दुर्लभो भवेत् ॥९३
देवमादौ परीक्षेत पश्चात्तद्वचनक्रमम्। ततश्च तदनुष्ठानं कुर्यात्तत्र मतिं ततः ॥९४
येऽविचार्य पुनर्देवं वचि तद्वाचि कुर्वते। तेऽन्धास्तत्स्कन्धविन्यस्तहस्ता वाञ्छन्ति सद्गतिम् ॥९५
पित्रोः शुद्धौ यथाऽपत्ये विशुद्धिरिह दृश्यते। तथाप्तस्य विशुद्धत्वे भवेदागमशुद्धता ॥९६

[अब ग्रन्थकार मनुस्मृतिके दो पद्योंको देकर उसकी आलोचना करते हैं—] तथा (मनुस्मृति अ० २ श्लोक १०–११ में) जो यह कहा है—"श्रुतिको वेद कहते हैं और धर्मशास्त्रको स्मृति कहते हैं। उन श्रुति और स्मृतिका विचार प्रतिकूल तर्कोंसे नहीं करना चाहिये क्योंकि उन्हींसे धर्म प्रकट हुआ है। जो द्विज युक्ति शास्त्रका आश्रय लेकर श्रुति और स्मृतिका निरादर करता है, साधु पुरुषोंको उसका बहिष्कार करना चाहिये; क्योंकि वेदका निन्दक होनेसे वह नास्तिक है ॥८८–८९॥ यह भी ठीक नहीं है क्योंकि—जो मतावलम्बी समस्त युक्तियोंको छोड़कर केवल आगमके बलपर तत्त्वकी सिद्धि करना चाहता है वह किसको नहीं जीत सकता ? अर्थात् सभीको जीत लेगा ॥ ९० ॥ **भावार्थ**—मनुस्मृतिकारने श्रुति और स्मृतिमें युक्ति लगानेका निषेध किया है किन्तु जैनाचार्य कहते हैं कि युक्तिके बिना केवल आगमसे तत्त्वकी सिद्धि नहीं हो सकती। यदि केवल आगमसे ही तत्त्वकी सिद्धि मानी जायेगी तब तो ऐसा व्यक्ति सबको जीत लेगा। अथवा सभी धर्मवाले अपने-अपने आगमोंसे अपने-अपने तत्त्व सिद्ध कर लेंगे। अतः युक्तिसे नहीं घबराना चाहिए, जो बात विचार पूर्ण होती है उसे सब ही माननेको तैयार रहते हैं। सज्जन पुरुष गुणोंसे प्रसन्न होते हैं, अविचारित वस्तुओंसे नहीं। देखो, पत्थरको पैरसे ठुकराया जाता है और रत्नको मुकुटमें स्थापित किया जाता है। अतः जो गुणोंसे श्रेष्ठ है वह गृहस्थ है, गृहस्थसे भी श्रेष्ठ यति है और यतिसे श्रेष्ठ देव है। किन्तु देवसे श्रेष्ठ कोई नहीं है। जिसका आचरण गृहस्थके समान है और जो यतिसे भी नीचे स्थित है, ऐसे देवको भी यदि देव माना जाता है तो फिर देवत्व दुर्लभ नहीं रहता ॥९१–९३॥ [अब ग्रन्थकार आगम और तत्त्वकी मीमांसा करते हैं—] सबसे प्रथम देवकी परीक्षा करनी चाहिए, पीछे उसके वचनोंकी परीक्षा करनी चाहिए। तदनन्तर उसके अनुष्ठान (आचरण) की परीक्षा करनी चाहिए। तत्पश्चात् उसके माननेमें बुद्धि करे। जो लोग देवकी परीक्षा किये बिना उसके वचनोंका आदर करते हैं वे अन्धे हैं और उस देवके कन्धेपर हाथ रखकर सद्गति प्राप्त करना चाहते हैं। जैसे माता-पिताके शुद्ध होनेपर सन्तानमें शुद्धि देखी जाती है वैसे ही आप्तके विशुद्ध होनेपर ही आगममें शुद्धता हो सकती है। अर्थात् यदि आप्त निर्दोष होता है तो उसके द्वारा कहे गये आगममें भी कोई दोष नहीं पाया जाता। अतः पहले आप्त या देवकी परीक्षा करनी चाहिए,

वाग्विशुद्धापि दुष्टा स्याद् वृष्टिवत्पात्रदोषतः। वन्द्यं वचस्तदेवोच्चैस्तोयवत्तीर्थसंश्रयम् ॥९७
दृष्टेऽर्थे वचसोऽध्यक्षादनुमेयेऽनुमानतः। पूर्वापराविरोधेन परोक्षे च प्रमाणता ॥९८
पूर्वापरविरोधेन यस्तु युक्त्या च बाध्यते। मत्तोन्मत्तवचःप्रख्यः स प्रमाणं किमागमः ॥९९
हेयोपादेयरूपेण चतुर्वर्गसमाश्रयात्। कालत्रयगतानर्थान्गमयन्नागमः स्मृतः ॥१००
आत्मानात्मस्थितिर्लोको बन्धमोक्षौ सहेतुकौ। आगमस्य निगद्यन्ते पदार्थास्तत्त्ववेदिभिः ॥१०१
उत्पत्तिस्थितिसंहारसाराः सर्वे स्वभावतः। नयद्वयाश्रयादेते तरङ्गा इव तोयधेः ॥१०२
क्षयाक्षयैकपक्षत्वे बन्धमोक्षक्षयागमः। तात्त्विकैकत्वसद्भावे स्वभावान्तरहानितः ॥१०३

उसके बाद उसके वचनोंको प्रमाण मानना चाहिए ॥ ९४–९६ ॥ जैसे वर्षाका पानी समुद्रमें जाकर खारा हो जाता है या सांपके मुखमें जाकर विषरूप हो जाता है, वैसे ही पात्रके दोषसे विशुद्ध वचन भी दुष्ट हो जाता है। तथा जैसे तीर्थका आश्रय लेनेवाला जल पूज्य होता है वैसे ही जो वचन तीर्थङ्करोंका आश्रय ले लेता है अर्थात् उनके द्वारा कहा जाता है वही पूज्य होता है ॥ ९७ ॥ जो वचन ऐसे अर्थको कहता है जिसे प्रत्यक्षसे देखा जा सकता है, उस वचनकी प्रमाणता प्रत्यक्षसे सिद्ध हो जाती है। जो वचन ऐसे अर्थको कहता है जिसे अनुमानसे ही जाना जा सकता है उस वचनकी प्रमाणता अनुमानसे सिद्ध होती है। और जो वचन बिल्कुल परोक्ष वस्तुको कहता है, जिसे न प्रत्यक्षसे ही जाना जा सकता है और न अनुमानसे, पूर्वापरमें कोई विरोध न होनेसे उस वचनकी प्रमाणता सिद्ध होती है। अर्थात् यदि उस वचनके द्वारा कही गई बातें आपसमें कटती नहीं हैं, तो उस वचनको प्रमाण माना जाता है ॥९८॥ **भावार्थ**—शास्त्रोंमें बहुत सी ऐसी बातोंका भी कथन पाया जाता है जिनके विषयमें न युक्तिसे काम लिया जा सकता है और न प्रत्यक्षसे, ऐसे कथनको सहसा अप्रमाण भी नहीं कहा जा सकता। अतः उन शास्त्रोंकी अन्य बातें, जो प्रत्यक्ष और अनुमानसे जानी जा सकती हैं वे यदि ठीक ठहरती हैं और यदि उनमें परस्परमें विरोधी बातें नहीं कही गई हैं तो उन शास्त्रोंके ऐसे कथनको भी प्रमाण ही मानना चाहिए। जिस आगममें परस्परमें विरोधी बातोंका कथन है और युक्तिसे भी बाधा आती है, पागलके प्रलापके समान उस आगमको कैसे प्रमाण माना जा सकता है ॥९९॥

आगमका स्वरूप और विषय—जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थोंका अवलम्बन लेकर, हेय और उपादेय रूपसे त्रिकालवर्ती पदार्थोंका ज्ञान कराता है उसे आगम कहते हैं ॥१००॥ तत्त्वके ज्ञाताओंका कहना है कि आगममें जीव, अजीव, अवस्थान, लोक तथा अपने-अपने कारणोंके साथ बन्ध और मोक्षका कथन होता है ॥१०१॥ **भावार्थ**—जिसमें चारों पुरुषार्थोंका वर्णन करते हुए यह बतलाया गया हो कि क्या छोड़ने योग्य है और क्या ग्रहण करने योग्य है वही सच्चा आगम है। उस आगममें जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वोंका वर्णन रहता है।

प्रत्येक वस्तु उत्पाद-व्यय ध्रौव्यात्मक है—जैसे समुद्रमें लहरें उठती हैं, नष्ट भी होती हैं, फिर भी जलरूप सदा बना रहता है वैसे ही सभी पदार्थ द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे स्वभावसे ही उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यसे युक्त होते हैं ॥१०२॥ **भावार्थ**—जैनधर्ममें प्रत्येक वस्तुको प्रति समय उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यसे युक्त माना है अर्थात् प्रत्येक वस्तु प्रति समय उत्पन्न होती है, नष्ट होती है और स्थिर भी रहती है। इसपर यह प्रश्न होता है कि ये तीनों बातें तो

परस्परमें विरुद्ध हैं, अतः एक वस्तुमें एक साथ वे तीनों बातें कैसे हो सकती हैं, क्योंकि जिस समय वस्तु उत्पन्न होती है उस समय वह नष्ट कैसे हो सकती है और जिस समय नष्ट होती है उसी समय वह उत्पन्न कैसे हो सकती है। तथा जिस समय नष्ट और उत्पन्न होती है उस समय वह स्थिर कैसे रह सकती है? इसका समाधान यह है कि प्रत्येक वस्तु प्रति समय परिवर्तनशील है। संसारमें कोई भी वस्तु स्थिर नहीं है। उदाहरणके लिए बच्चा जब जन्म लेता है तो छोटा सा होता है, कुछ दिनोंके बाद वह बड़ा हो जाता है। उसमें जो बढ़ोतरी दिखाई देती है वह किसी खास समयमें नहीं हुई है, किन्तु बच्चेके जन्म लेनेके क्षणसे ही उसमें बढ़ोतरी प्रारम्भ हो जाती है और जब वह कुछ बड़ा हो जाता है तो वह बढ़ोतरी स्पष्ट रूपसे दिखाई देने लगती है। इसी तरह एक मकान सौ वर्षके बाद जीर्ण होकर गिर पड़ता है। उसमें यह जीर्णता किसी खास समयमें नहीं आई, किन्तु जिस क्षणसे वह बनना प्रारम्भ हुआ था उसी क्षणसे उसमें परिवर्तन होना प्रारम्भ हो गया था उसीका यह फल है जो कुछ समयके बाद दिखाई देता है। अन्य भी अनेक दृष्टान्त हैं जिनसे वस्तु प्रति समय परिवर्तनशील प्रमाणित होती है। इस तरह वस्तुके परिवर्तनशील होनेसे उसमें एक साथ तीन बातें होती हैं, पहली हालत नष्ट होती है, और जिस क्षणमें पहली हालत नष्ट होती है उसी क्षणमें दूसरी हालत उत्पन्न होती है। ऐसा नहीं है कि पहली हालत नष्ट हो जाये उसके बाद दूसरी हालत उत्पन्न हो। पहली हालतका नष्ट होना ही तो दूसरी हालतकी उत्पत्ति है। जैसे, कुम्हार मिट्टीको चाकपर रखकर जब उसे घुमाता है तो उस मिट्टीकी पहली हालत बदलती जाती है और नई-नई अवस्थाएँ उसमें उत्पन्न होती जाती हैं। पहली हालतका बदलना और दूसरीका बनना दोनों एक साथ होते हैं। यदि ऐसा माना जायेगा कि पहली हालत नष्ट हो चुकनेके बाद दूसरी हालत उत्पन्न होती है तो पहली हालतके नष्ट हो चुकने और दूसरी हालतके उत्पन्न होनेके बीचमें वस्तुमें कौन-सी हालत–दशा मानी जायेगी। घड़ा जिस क्षणमें फूटता है उसी क्षणमें ठीकरे पैदा हो जाते हैं। ऐसा नहीं है कि घड़ा पहले फूट जाता है पीछेसे उसके ठीकरे बन जाते हैं। घड़ेका फूटना ही ठीकरेका उत्पन्न होना है और ठीकरेका उत्पन्न होना ही घड़ेका फूटना है। अतः उत्पाद और विनाश दोनों एक साथ होते हैं—एक ही क्षणमें एक पर्याय नष्ट होती है और दूसरी पर्याय उत्पन्न होती है, और इनके उत्पन्न और नष्ट होने पर भी द्रव्य-मूलवस्तु कायम रहता है—न वह उत्पन्न होता है और न नष्ट। जैसे घड़ेके फूट जाने और ठीकरेके उत्पन्न हो जानेपर भी मिट्टी दोनों हालतोंमें बराबर कायम रहती है। अतः वस्तु प्रति समय उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त कहलाती है। वस्तुको देखनेकी दो दृष्टियाँ हैं—एक दृष्टिका नाम है द्रव्यार्थिक और दूसरीका नाम है पर्यायार्थिक। द्रव्यार्थिक नयकी दृष्टिसे वस्तु ध्रुव है, और पर्यायार्थिक नय की दृष्टिसे उत्पाद-व्ययशील है। यदि वस्तुको केवल प्रतिक्षण विनाशशील या केवल नित्य माना जायेगा तो बन्ध और मोक्षकी व्यवस्था नहीं बन सकेगी। क्योंकि सर्वथा एक रूप माननेपर उसमें स्वभावान्तर नहीं हो सकेगा ॥१०३॥ **भावार्थ**—वस्तुको उत्पाद विनाशशील न मानकर यदि सर्वथा क्षणिक ही माना जायेगा तो प्रत्येक वस्तु दूसरे क्षणमें नष्ट हो जायेगी। ऐसी अवस्थामें जो आत्मा बंधा है वह तो नष्ट हो जायेगा तब मुक्ति किसकी होगी? इसी तरह यदि वस्तुको सर्वथा नित्य माना जायेगा तो वस्तुमें कभी भी कोई परिवर्तन नहीं हो सकेगा। और परिवर्तन न होनेसे जो जिस रूपमें है वह उसी रूपमें बनी रहेगी। अतः बद्ध आत्मा सदा बद्ध ही बना रहेगा, अथवा कोई आत्मा बँधेगा ही नहीं; क्योंकि जब वस्तु सर्वथा नित्य है तो

ज्ञाता द्रष्टा महान् सूक्ष्मः कृतिभुक्त्योः स्वयं प्रभुः । भोगायतनमात्रोऽयं स्वभावादूर्ध्वगः पुमान् ॥१०४
ज्ञानदर्शनशून्यस्य न भेदः स्यादचेतनात् । ज्ञानमात्रस्य जीवत्वे नैकधीश्चित्रमित्रवत् ॥१०५
प्रेर्यते कर्म जीवेन जीवः प्रेर्येत कर्मणा । एतयोः प्रेरको नान्यो नौनाविकसमानयोः ॥१०६
मन्त्रवन्नियतोऽप्येषोऽचिन्त्यशक्तिः स्वभावतः । अतः शरीरतोऽन्यत्र न भावोऽस्य प्रमान्वितः ॥१०७
त्रसस्थावरभेदेन चतुर्गतिसमाश्रयाः । जीवाः केचित्तथान्ये च पञ्चमीं गतिमाश्रिताः ॥१०८
धर्माधर्मौ नभः कालो पुद्गलश्चेति पञ्चमः । अजीवशब्दवाच्याः स्युरेते विविधपर्ययाः ॥१०९
गतिस्थित्यप्रतीघातपरिणामनिबन्धनम् । चत्वारः सर्ववस्तूनां रूपाद्यात्मा च पुद्गलः ॥११०
अन्योन्यानुप्रवेशेन बन्धः कर्मात्मनो मतः । अनादिः सावसानश्च कालिकास्वर्णयोरिव ॥१११
प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशप्रविभागतः । चतुर्धा भिद्यते बन्धः सर्वेषामेव देहिनाम् ॥११२

आत्मा सदा एक रूप ही रहेगा, न वह कर्ता हो सकेगा और न भोक्ता। यदि उसे कर्ता भोक्ता माना जायेगा तो वह सर्वथा नित्य नहीं रहेगा। अतः प्रत्येक वस्तुको द्रव्यकी अपेक्षा नित्य और पर्यायकी अपेक्षा अनित्य मानना चाहिए।

आत्माका स्वरूप—आत्मा ज्ञाता और द्रष्टा है, महान् और सूक्ष्म है, स्वयं ही कर्ता और स्वयं ही भोक्ता है, अपने शरीरके बराबर है, तथा स्वभावसे ही ऊपरको गमन करनेवाला है॥ यदि आत्माको ज्ञान और दर्शनसे रहित माना जायेगा तो अचेतनसे उसमें कोई भेद नहीं रहेगा। अर्थात् जड़ और चेतन दोनों एक हो जायेंगे। और यदि ज्ञानमात्रको जीव माना जायेगा तो चित्र मित्रको तरह एक बुद्धि नहीं बनेगी॥ १०४-१०५॥ भावार्थ—जैसे चित्र और मित्र से दो भिन्न पुरुष हैं उन्हें एक नहीं माना जा सकता, उसी प्रकार ज्ञान और दर्शन गुणवाले जीवको भी केवल ज्ञानरूप ही नहीं माना जा सकता। जीव कर्मको प्रेरित करता है और कर्म जीवको प्रेरित करता है। इन दोनोंका सम्बन्ध नौका और नाविकके समान है। कोई तीसरा इन दोनोंका प्रेरक नहीं है॥ १०६॥ जैसे मंत्रमें कुछ नियत अक्षर होते हैं, फिर भी उसकी शक्ति अचिन्त्य होती है उसी तरह यद्यपि आत्मा शरीर-परिमाणवाला है, फिर भी वह स्वभावसे ही अचिन्त्य शक्तिवाला है, अतः शरीरसे अन्यत्र उसका अस्तित्व प्रमाणित नहीं है॥ १०७॥ त्रस और स्थावरके भेदसे जीव दो प्रकारके हैं; जो नरकगति, तिर्यञ्चगति मनुष्यगति, और देवगतिमें पाये जाते हैं। ये सब संसारी जीवोंके भेद हैं। और पञ्चम गतिको प्राप्त मुक्त जीव होते हैं॥ १०८॥ धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल ये पाँच अजीव द्रव्य कहलाते हैं। ये अनेक पर्यायोंवाले हैं॥ १०९॥ धर्मद्रव्य जीव और पुद्गलोंकी गतिमें निमित्त कारण है। अधर्म द्रव्य उनकी स्थितिमें निमित्त कारण है। आकाश सब वस्तुओंको स्थान देनेमें निमित्त है और काल सबके परिणमनमें निमित्त है। तथा जिसमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये चारों गुण पाये जाते हैं, उसे पुद्गल कहते हैं ॥११०॥ आत्मा और कर्मका अन्योन्यानुप्रवेशरूप बन्ध होता है अर्थात् आत्मा और कर्मके प्रदेश परस्परमें मिल जाते हैं। स्वर्ण और कालिमाके बन्धकी तरह यह बन्ध अनादि और सान्त होता है अर्थात् जैसे सोनेमें खानसे ही मैल मिला रहता है और बादमें मैलको दूर करके सोने को शुद्ध कर लिया जाता है वैसे ही जीव और कर्मका सम्बन्ध अनादि होने पर भी सान्त है,—उसका अन्त हो जाता है। यह बन्ध चार प्रकारका है—प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभाग बन्ध और प्रदेशबन्ध। यह चारों प्रकारका बन्ध सभी शरीरधारी जीवोंके होता है॥१११-११२॥ भावार्थ—

आत्मलाभं विदुर्मोक्षं जीवस्यान्तर्मलक्षयात् । नाभावो नाप्यचैतन्यं न चैतन्यमनर्थकम् ॥११३
बन्धस्य कारणं प्रोक्तं मिथ्यात्वासंयमादिकम् । रत्नत्रयं तु मोक्षस्य कारणं संप्रकीर्तितम् ॥११४
आप्तागमपदार्थानामश्रद्धानं विपर्ययः । संशयश्च त्रिधा प्रोक्तं मिथ्यात्वं मलिनात्मनाम् ॥११५
अथवा ।
एकान्तसंशयाज्ञानं व्यत्यासविनयाश्रयम् । भवपक्षाविपक्षत्वान्मिथ्यात्वं पञ्चधा स्मृतम् ॥११६
अव्रतित्वं प्रमादित्वं निर्दयत्वमतृप्तता । इन्द्रियेच्छानुवर्तित्वं सन्तः प्राहुरसंयमम् ॥११७
कषायाः क्रोधमानाद्यास्ते चत्वारश्चतुर्विधाः । संसारसिन्धुसंपातहेतवः प्राणिनां मताः ॥११८
मनोवाक्कायकर्माणि शुभाशुभविभेदतः । भवन्ति पुण्यपापानां बन्धकारणमात्मनि ॥११९
निराधारो निरालम्बः पवमानसमाश्रयः । नभोमध्यस्थितो लोकः सृष्टिसंहारवर्जितः ॥१२०
अथ मतम्—
नैव लग्नं जगत्क्वापि भूभूध्राम्भोधिनिर्भरम् । धातारश्च न युज्यन्ते मत्स्यकूर्माहिपोत्रिणः ॥१२१

प्रकृति शब्दका अर्थ स्वभाव है । कर्मोंमें ज्ञानादिको घातनेका जो स्वभाव उत्पन्न होता है, उसे प्रकृतिबन्ध कहते हैं । कर्मोंमें अपने अपने स्वभावको न त्यागकर जीवके साथ बँधे रहनेके कालकी मर्यादाके पड़नेको स्थितिबन्ध कहते हैं । उनमें फल देनेकी न्यूनाधिक शक्तिके होनेको अनुभाग बन्ध कहते हैं और न्यूनाधिक परमाणुवाले कर्मस्कन्धोंका जीवके साथ सम्बन्ध होनेको प्रदेशबन्ध कहते हैं । रागद्वेषादिरूप आभ्यन्तर मलके क्षय हो जानेसे जीवके स्व-स्वरूपकी प्राप्तिको मोक्ष कहते हैं । मोक्षमें न तो आत्माका अभाव ही होता है, न आत्मा अचेतन ही होता है और न वहाँ चैतन्य अनर्थक ही है । अर्थात् चेतन होने पर भी आत्मामें ज्ञानादिका अभाव नहीं होता है ॥ ११३ ॥ मिथ्यात्व असंयम आदिको बन्धका कारण कहा है । तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र रूप रत्नत्रयको मोक्षका कारण कहा है ॥११४॥ मलिन आत्माओंमें पाये जानेवाले मिथ्यात्वके तीन भेद हैं—१. देव, शास्त्र और उनके द्वारा कहे गये पदार्थोंका श्रद्धान न करना, २. विपर्यय और ३. संशय । अथवा मिथ्यात्वके पाँच भेद भी हैं—एकान्त मिथ्यात्व, संशय मिथ्यात्व, अज्ञान मिथ्यात्व, विपर्यय मिथ्यात्व और विनय मिथ्यात्व । ये पाँचों प्रकारका मिथ्यात्व संसारका कारण है ॥११५–११६॥ व्रतोंका पालन न करना, अच्छे कामोंमें आलस्य करना, निर्दय होना, सदा असन्तुष्ट रहना और इन्द्रियोंकी रुचिके अनुसार प्रवृत्ति करना इन सबको सज्जन पुरुष असंयम कहते हैं ॥११७॥ क्रोध, मान, माया और लोभके भेदसे कषाय चार प्रकारकी कही है । इनमेंसे प्रत्येकके चार चार भेद हैं—अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ; अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ; प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ तथा संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ । ये कषायें प्राणियोंको संसाररूपी समुद्रमें गिरानेमें कारण हैं ॥११८॥ मन वचन और कायकी क्रिया शुभ और अशुभके भेदसे दो प्रकारकी होती हैं । इनमेंसे शुभ क्रियाओंसे आत्माके पुण्यबन्ध होता है और अशुभ क्रियाओंसे पापबन्ध होता है ॥११९॥ [इस प्रकार बन्धके कारण बतलाकर ग्रन्थकार लोकका स्वरूप कहते हैं—] यह लोक निराधार है, निरालम्ब है–कोई इसे धारण किये हुए नहीं हैं, केवल तीन प्रकारकी वायुके सहारेसे आकाशके बीचोबीचमें यह ठहरा हुआ है । न इसकी कभी उत्पत्ति हुई है और न कभी विनाश ही होता है ॥१२०॥ जैनोंकी इस मान्यतापर दूसरे आक्षेप करते हुए कहते हैं—पृथ्वी, पहाड़, समुद्र आदिके भारसे लदा हुआ यह

एवमालोच्य लोकस्य निरालम्बस्य धारणे। कल्प्यते पवनो जैनैरित्येतत्साहसं महत् ॥१२२
यो हि वायुर्न शक्तोऽत्र लोष्टकाष्ठादिधारणे। त्रैलोक्यस्य कथं स स्याद्धारणावसरक्षमः ॥१२३
तदसत्।

ये प्लावयन्ति पानीयैर्विष्टपं सचराचरम्। मेघास्ते वातसामर्थ्यात्किं न व्योम्नि समासते ॥१२४
आप्तागमपदार्थेष्वपरं दोषमपश्यतः

अमज्जनमनाचामो नग्नत्वं स्थितिभोजिता। मिथ्यादृशो वदन्त्येतन्मुनेर्दोषचतुष्टयम् ॥१२५
तत्रैव समाधिः—

ब्रह्मचर्योपपन्नानामध्यात्माचारचेतसाम्। मुनीनां स्नानमप्राप्तं दोषे त्वस्य विधिर्मतः ॥१२६
संगे कापालिकात्रेयीचाण्डालशबरादिभिः। आप्लुत्य दण्डवत्सम्यग्जपेन्मन्त्रमुपोषितः ॥१२७
एकान्तरं त्रिरात्रं वा कृत्वा स्नात्वा चतुर्थके। दिने शुद्ध्यन्त्यसंदेहमृतौ व्रतगताः स्त्रियः ॥१२८
यदेवाङ्गमशुद्धं स्यादद्भिः शोध्यं तदेव हि। अङ्गुलौ सर्पदष्टायां न हि नासा निकृत्यते ॥१२९

जगत् किसीके भी आधार नहीं है, तथा मच्छ, कच्छप, वासुकीनाग और शूकर इसके धारणकर्ता हो नहीं सकते। ऐसा विचार करके जैन लोग इस निरालम्ब जगत्का धारणकर्ता वायुको मानते हैं। किन्तु यह उनका बड़ा साहस है, क्योंकि जो वायु हमारे देखनेमें ईंट पत्थर लकड़ी वगैरहका भी बोझ सम्हालनेमें असमर्थ है, वह तीनों लोकोंको धारण करनेमें कैसे समर्थ हो सकता है? ॥१२१-१२३॥ किन्तु उनका यह आक्षेप ठीक नहीं है, क्योंकि जो मेघ पानीके द्वारा चराचर जगत्को जलमय बना देते हैं, वे वायुके द्वारा ही क्या आकाशमें नहीं ठहरे रहते? ॥१२४॥ भावार्थ—आज कल तो हजारों टन बोझा लेजाने वाले वायुयान वायुके सहारे ही आकाशमें उड़ते हुए पाये जाते हैं। अतः वायुमें बड़ी शक्ति है और वही लोकको धारण करनेमें समर्थ है। मच्छ कछुवे आदिको जो पुराणोंमें पृथ्वीका आधार माना गया है वह विज्ञान सम्मत नहीं है। जैन आप्त, जैन आगम और उनके द्वारा कहे हुए पदार्थोंमें अन्य दोष न पाकर मिथ्यादृष्टि लोग जैन मुनियोंमें दोष लगाते हुए कहते हैं कि जैनोंके साधु स्नान नहीं करते, आचमन नहीं करते, नंगे रहते हैं और खड़े होकर भोजन करते हैं। इन दोषोंका समाधान इस प्रकार है ॥१२५॥ ब्रह्मचर्यसे युक्त और आत्मिक आचारमें लीन मुनियोंके लिए स्नानकी आवश्यकता नहीं है। हाँ, यदि कोई दोष लग जावे तो उसका विधान है। यदि मुनि हाथमें खोपड़ी लेकर माँगने वाले वाममार्गी कापालिकोंसे, रजस्वला स्त्रीसे, चाण्डाल और म्लेच्छ आदिसे छू जाये तो उसे स्नान करके, उपवास पूर्वक कायोत्सर्गके द्वारा मंत्रका जप करना चाहिए ॥१२६-१२७॥ भावार्थ—साधारणतः मुनिके लिए स्नान करनेका निषेध है; क्योंकि मुनि अखण्ड ब्रह्मचारी होते हैं तथा आरम्भ आदिसे दूर रहते हैं। हाँ, यदि ऊपर कही गई कोई अशुद्धि हो जाये तो वे स्नान करके बादको उसका प्रायश्चित्त करते हैं। जो स्त्रियाँ व्रताचरण करती हैं, वे ऋतुकालमें एकाशन अथवा तीन दिनका उपवास करके चौथे दिन स्नान करके निःसन्देह शुद्ध हो जाती हैं ॥१२८॥ [इस प्रकार मुनियोंके स्नान करनेका कारण बतलाकर ग्रन्थकार आचमन विधिकी आलोचना करते हैं—] शरीरका जो भाग अशुद्ध हो, जलसे उसीकी शुद्धि करनी चाहिए। अंगुलिमें साँपके काट लेनेपर नाकको नहीं काटा जाता है ॥१२९॥ अधोवायुका निस्सरण आदि करनेपर यदि मुखमें अपवित्रता मानते हो तो मुखके अपवित्र

निष्पन्दादिविधौ वक्त्रे यद्यपूतत्वमिष्यते । तर्हि वक्त्रापवित्रत्वे शौचं नारभ्यते कुतः ॥१३०
विकारे विदुषां द्वेषो नाविकारानुवर्तने । तन्नग्नत्वे निसर्गोत्थे को नाम द्वेषकल्मषः ॥१३१
नैष्किञ्चन्यमहिंसा च कुतः संयमिनां भवेत् । ते सङ्गाय यदीहन्ते वल्कलाजिनवाससाम् ॥१३२
न स्वर्गाय स्थितेर्भुक्तिर्न श्वभ्रायास्थितेः पुनः । किं तु संयमिलोकेऽस्मिन्सा प्रतिज्ञार्थमिष्यते ॥१३३
पाणिपात्रं मिलत्येतच्चेच्छक्तिश्च स्थितिभोजने । यावत्तावदहं भुञ्जे रहाम्याहारमन्यथा ॥१३४
अदैन्यासङ्गवैराग्यपरीषहकृते कृतः । अतएव यतीशानां केशोत्पाटनसद्विधिः ॥१३५
सूर्यार्घो ग्रहणस्नानं संक्रान्तौ द्रविणव्ययः । सन्ध्यासेवाग्निसत्कारो गेहदेहार्चनो विधिः ॥१३६
नदीनदसमुद्रेषु मज्जनं धर्मचेतसा । तरुस्तूपाग्रभक्तानां वन्दनं भृगुसंश्रयः ॥१३७
गोपृष्ठान्तनमस्कारस्तन्मूत्रस्य निषेवणम् । रत्नवाहनभूयक्षशस्त्रशैलादिसेवनम् ॥१३८

होनेपर अधोभागमें शौच क्यों नहीं करते हो ॥१३०॥ भावार्थ—ब्राह्मण धर्ममें विहित कर्म करनेसे पहले शरीरकी शुद्धिके लिए तीन बार हाथसे जलपान किया जाता है। इसे ही आचमन कहते हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि शरीरका जो भाग अशुद्ध हो जलसे उसीकी शुद्धि करनी चाहिए, जलपान कर लेनेसे अशुद्ध शरीर कैसे शुद्ध हो सकता है? यदि मुख अशुद्ध हो तो उसकी शुद्धि करनी चाहिए और यदि कोई दूसरा अंग अशुद्ध हो तो उसकी शुद्धि करनी चाहिए। सबकी शुद्धि जलपान मात्रसे तो नहीं हो सकती। अतः आचमन करना व्यर्थ है। [अब मुनियोंकी नग्नताका समर्थन करते हैं—] विद्वान् लोग विकारसे द्वेष करते हैं, अविकारतासे नहीं। ऐसी स्थितिमें प्राकृतिक नग्नतासे किस बातका द्वेष? यदि मुनिजन पहिरनेके लिए वल्कल, चर्म अथवा वस्त्रकी इच्छा रखते हैं तो उनमें नैष्किञ्चन्य—मेरा कुछ भी नहीं है ऐसा भाव तथा अहिंसा कैसे सम्भव है? अर्थात् वस्त्रादिककी इच्छा रखनेसे उससे मोह तो बना ही रहा तथा वस्त्रके धोने वगैरहमें हिंसा भी होती ही है ॥१३१-१३२॥ [अब मुनियोंके खड़े होकर आहार ग्रहण करनेका समर्थन करते हैं—] बैठकर भोजन करनेसे स्वर्ग नहीं मिलता और न खड़े होकर भोजन करनेसे नरकमें जाना पड़ता है। किन्तु मुनिजन प्रतिज्ञाके निर्वाहके लिए ही खड़े होकर भोजन करते हैं॥ मुनि भोजन प्रारम्भ करनेसे पूर्व यह प्रतिज्ञा करते हैं कि—'जबतक मेरे दोनों हाथ मिले हैं और मेरेमें खड़े होकर भोजन करनेकी शक्ति है तबतक मैं भोजन करूँगा अन्यथा आहारको छोड़ दूँगा। इसी प्रतिज्ञाके निर्वाहके लिए मुनि खड़े होकर भोजन करते है ॥१३३-१३४॥ [अब केशलोंचका समर्थन करते हैं—] अदीनता, निष्परिग्रहपना, वैराग्य और परीषहके लिए मुनियोंको केशलोंच करना बतलाया है ॥१३५॥ भावार्थ—मुनियोंके पास एक दमड़ी भी नहीं रहती, जिससे क्षौरकर्म करा सकें, यदि दूसरेसे माँगते हैं तो दीनता प्रकट होती है, पासमें छुरा वगैरह भी नहीं रख सकते। और यदि केश बढ़ाकर जटा रखते हैं तो उसमें जूँ वगैरह पड़ जाती हैं इसलिए वह हिंसाका कारण है। इसके विपरीत केशलोंच करनेमें न किसीसे कुछ माँगना पड़ता है, न कोई हिंसा होती है, प्रत्युत उससे वैराग्यभाव दृढ़ होता है और कष्टोंको सहनेकी क्षमता बढ़ती है, इसलिए मुनिगण केशलोंच करते हैं।

अब आचार्य लोकमें प्रचलित मूढ़ताओंका निषेध करते हैं—सूर्यको अर्घ देना, ग्रहणके समय स्नान करना, संक्रान्ति होनेपर दान देना, सन्ध्या वन्दन करना, अग्निकी पूजना, मकान और शरीरकी पूजा करना, धर्म मान कर नदियों और समुद्रमें स्नान करना, वृक्ष स्तूप और प्रथम ग्रासके नमस्कार करना, पहाड़की चोटीसे गिरकर मरना, गौके पृष्ठ भागको नमस्कार करना, उसका मूत्र

समयान्तरपाखण्डवेदलोकसमाश्रयम् । एवमादिविमूढानां ज्ञेयं मूढमनेकधा ॥१३९
वरार्थं लोकयात्रार्थमुपरोधार्थमेव वा । उपासनममीषां स्यात्सम्यग्दर्शनहानये ॥१४०
क्लेशायैव क्रियामीषु न फलावाप्तिकारणम् । यद्भवेन्मुग्धबोधानामूषरे कृषिकर्मवत् ॥१४१
वस्तुन्येव भवेद्भक्तिः शुभारम्भाय भाक्तिके । नह्यरत्नेषु रत्नाय भावो भवति भूतये ॥१४२
अदेवे देवताबुद्धिमव्रते व्रतभावनाम् । अतत्त्वे तत्त्वविज्ञानमतो मिथ्यात्वमुत्सृजेत् ॥१४३
तथापि यदि मूढत्वं न त्यजेत्कोऽपि सर्वथा । मिश्रत्वेनानुमान्योऽसौ सर्वनाशो न सुन्दरः ॥१४४
न स्वतो जन्तवः प्रेर्या दुरीहाः स्युर्जिनागमे । स्वत एव प्रवृत्तानां तद्योग्यानुग्रहो मतः ॥१४५
शङ्काकाङ्क्षाविनिन्दान्यश्लाघा च मनसा गिरा । एते दोषाः प्रजायन्ते सम्यक्त्वक्षतिकारणम् ॥१४६

पान करना, रत्न सवारी पृथ्वी यक्ष शस्त्र और पहाड़ आदि की पूजा करना, तथा धर्मान्तरके पाखण्ड, वेद और लोकसे सम्बन्ध रखनेवाली इस प्रकारकी अनेक मूढ़ताएँ जाननी चाहिएँ ॥ वरकी आशासे या लोक रिवाजके विचारसे या दूसरोंके आग्रहसे इन मूढ़ताओंका सेवन करनेसे सम्यग्दर्शनकी हानि होती है ॥ जिस प्रकार अज्ञजनोंको ऊसर भूमिमें खेती करनेसे केवल क्लेश ही उठाना पड़ता है, फल कुछ भी नहीं निकलता, उसी तरह इन मूढ़ताओंके करनेसे केवल क्लेश ही उठाना पड़ता है, फल कुछ भी नहीं निकलता ॥१३६–१४१॥ वस्तुमें की गई भक्ति ही शुभ कर्मका बन्ध कराती है। जो रत्न नहीं है उसे रत्न माननेसे कल्याण नहीं हो सकता ॥ अदेवको देव मानना, अव्रतको व्रत मानना और अतत्त्वको तत्त्व मानना मिथ्यात्व है अतः इसे छोड़ देना चाहिए। फिर भी यदि कोई इन मूढ़ताओंका सर्वथा त्याग नहीं करे (और सम्यक्त्वके साथ-साथ किसी मूढ़ताका भी पालन करे) तो उसे सम्यग्मिथ्यादृष्टि मानना चाहिए, क्योंकि सर्वनाश अच्छा नहीं। अर्थात् मिथ्यात्व सेवनके कारण उसके धर्माचरणका भी लोप कर देना अर्थात् उसे मिथ्यादृष्टि ही मानना ठीक नहीं है ॥१४२–१४४॥ भावार्थ—ऊपर जिन मूढ़ताओंका उल्लेख किया है, उनमेंसे बहुत-सी मूढ़ताएँ आज भी प्रचलित हैं, और लोग धर्म मानकर उन्हें करते हैं, किन्तु उनमें कुछ भी धर्म नहीं है। वे केवल धर्मके नामपर कमाने-खानेका आडम्बर मात्र हैं। ऐसी मूढ़ताओंसे सबको बचना चाहिए। किन्तु यदि कोई किसी कारणसे उन मूढ़ताओंको पूरी तरहसे नहीं त्याग देता और अपने धर्माचरणके साथ उन्हें भी किये जाता है तो उसे एकदम मिथ्यादृष्टि न मानकर सम्यक् मिथ्यादृष्टि माननेकी सलाह ग्रन्थकार देते हैं। वे उसके उस धर्माचरणका लोप नहीं करना चाहते, जो वह मूढ़ता पालते हुए भी करता है। ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रन्थकारके समयमें लोक-रिवाज या कामना-वश कुछ जैनोंमें भी मिथ्यात्वका प्रचार था और बहुतसे जैन उसे छोड़नेमें असमर्थ थे। शायद उन्हें एक दम मिथ्यादृष्टि कह देना भी उन्हें उचित नहीं जँचा, इसलिए सम्यङ् मिथ्यादृष्टि कह दिया है, वैसे तो मिथ्यात्वसेवी जैन भी मिथ्यात्वी ही माने गये हैं। जिन मनुष्योंकी चेष्टाएँ या इच्छाएँ अच्छी नहीं हैं उन्हें जिनागममें स्वयं प्रेरित नहीं करना चाहिए। अर्थात् ऐसे मनुष्योंको जैनधर्ममें लानेकी चेष्टा नहीं करनी चाहिए, किन्तु यदि वे स्वयं इधर आवें तो उनके योग्य अनुग्रह-साहाय्य कर देना चाहिए ॥१४५॥

[अब ग्रन्थकार सम्यग्दर्शनके दोष बतलाते हैं—] शङ्का, कांक्षा, विनिन्दा और मन तथा वचनसे मिथ्यादृष्टिकी प्रशंसा करना, ये दोष सम्यग्दर्शनकी हानिके कारण हैं ॥ १४६ ॥

अहमेको न मे कश्चिदस्ति त्राता जगत्त्रये । इति व्याधिव्रजोत्क्रान्तिभीतिं शङ्कां प्रचक्षते ॥१४७
एतत्तत्त्वमिदं तत्त्वमेतद्व्रतमिदं व्रतम् । एष देवश्च देवोऽयमिति शङ्कां विदुः पराम् ॥१४८
इत्थं शङ्कितचित्तस्य न स्याद्दर्शनशुद्धता । न चास्मिन्नीप्सितावाप्तिर्यथैवोभयवेदने ॥१४९
एष एव भवेद्देवस्तत्त्वमप्येतदेव हि । एतदेव व्रतं मुक्त्यै तदेव स्यादशङ्कधीः ॥१५०
तत्त्वे ज्ञाते रिपौ दृष्टे पात्रे वा समुपस्थिते । यस्य दोलायते चित्तं रिक्तः सोऽमुत्र चेह च ॥१५१
अन्तस्तत्त्वविहीनस्य वृथा व्रतसमुद्यमः । पुंसः स्वभावभीरोः स्यान्न शौर्यायायुधग्रहः ॥१५२
एकापि समर्थेयं जिनभक्तिर्दुर्गतिं निवारयितुम् । पुण्यानि च पूरयितुं दातुं मुक्तिश्रियं कृतिनः ॥१५३
उररीकृतनिर्वाहसाहसोचितचेतसाम् । उभौ कामदुघौ लोकौ कीर्तेश्चाल्पं जगत्त्रयम् ॥१५४
क्षत्रपुत्रोऽक्षविक्षिप्तः शिक्षिताहृश्यकज्जलः । अन्तरिक्षगतिं प्राप निःशङ्कोऽञ्जनतस्करः ॥१५५
स्यां देवः स्यामहं यक्षः स्यां वा वसुमतीपतिः । यदि सम्यक्त्वमाहात्म्यमस्तीतीच्छां परित्यजेत् ॥१५६
उदश्वितेव माणिक्यं सम्यक्त्वं भवजैः सुखैः । विक्रीणानः पुमान्स्वस्य वञ्चकः केवलं भवेत् ॥१५७
चित्ते चिन्तामणिर्यस्य यस्य हस्ते सुरद्रुमः । कामधेनुर्धने यस्य तस्य कः प्रार्थनाक्रमः ॥१५८

इनमेंसे पहले शंका दोषका वर्णन करते हैं—'मैं अकेला हूँ, तीनों लोकोंमें मेरा कोई रक्षक नहीं है।' इस प्रकार रोगोंके आक्रमणके भयको शंका कहते हैं॥ 'अथवा यह तत्त्व है या यह तत्त्व है?' 'यह व्रत है या यह व्रत है?' 'यह देव है कि यह देव है?' इस प्रकारके संशयको शंका कहते हैं। जिसका चित्त इस प्रकारसे शङ्कित—शङ्काकुल या भयभीत है उसका सम्यग्दर्शन शुद्ध नहीं है। तथा जैसे नपुंसक अपने मनोरथको पूरा नहीं कर सकता, वैसे ही उसे भी अभीष्टकी प्राप्ति नहीं हो सकती। 'यही देव है, यही तत्त्व हैं और इन्हीं व्रतोंसे मुक्ति प्राप्त हो सकती है। ऐसा जिसको दृढ़ विश्वास है वही मनुष्य निःशङ्क बुद्धिवाला है॥ किन्तु तत्त्वके जाननेपर, शत्रुके दृष्टि-गोचर होनेपर और पात्रके उपस्थित होनेपर जिसका चित्त डोलता है,—जो कुछ भी स्थिर नहीं कर सकता वह इस लोकमें भी खाली हाथ रहता है और परलोकमें भी खाली हाथ रहता है॥ १४७-१५१॥ 'आत्मज्ञानसे शून्य मनुष्यका व्रताचरणका प्रयास व्यर्थ है। ठीक ही है जो मनुष्य स्वभाव से ही डरपोक है, शस्त्र ग्रहण करनेसे उसमें शौर्य नहीं आ जाता॥ १५२॥

'अकेली एक जिन-भक्ति ही ज्ञानीके दुर्गतिका निवारण करनेमें, पुण्यका संचय करनेमें और मुक्ति रूपी लक्ष्मीको देनेमें समर्थ है॥ १५३॥ 'जो अपनी प्रतिज्ञाका निर्वाह करनेमें उचित साहस दिखलाते हैं, इस लोक और परलोकमें वे इच्छित वस्तुको पाते हैं, तथा उनके यशसे तीनों लोक चलायमान हो जाते हैं॥ १५४॥ अञ्जनचोर राजपुत्र था, किन्तु इन्द्रियोंकी विषयलालसाने उसे पागल कर दिया था। तब उसने अदृश्य होनेका अञ्जन बनाना सीख लिया। फिर वह निःशङ्क होकर विद्याधर बन गया। और मुक्त हो गया॥ १५५॥ [अब निष्कांक्षित अंगको बतलाते हैं—] यदि सम्यग्दर्शनमें माहात्म्य है तो 'मैं देव होऊँ', यक्ष होऊँ अथवा राजा होऊँ' इस प्रकारकी इच्छाको छोड़ देना चाहिए। जो सांसारिक सुखोंके बदलेमें सम्यक्त्वको बेच देता है वह छाछके बदलेमें माणिक्यको बेच देने-वाले मनुष्यके समान केवल अपनेको ठगता है॥ १५६-१५७॥ जिस सम्यग्दृष्टिके चित्तमें चिन्तामणि है, हाथमें कल्पवृक्ष है, धनमें कामधेनु है, उसको याचनासे क्या मतलब? जिसकी चित्तवृत्ति उचित स्थानको पाकर

उचिते स्थानके यस्य चित्तवृत्तिरनाकुला। तं श्रियः स्वयमायान्ति स्रोतस्विन्य इवाम्बुधिम् ॥१५९
तत्कुदृष्टयन्तरोद्भूतामिहामुत्र च संभवाम्। सम्यग्दर्शनशुद्धयर्थमाकांक्षां त्रिविधां त्यजेत् ॥१६०
हासात्पितुश्चतुर्थेऽस्मिन्व्रतेऽनन्तमतिः स्थिता। कृत्वा तपश्च निष्काङ्क्षा कल्पं द्वादशमाविशत् ॥१६१
तपस्तीव्रं जिनेन्द्राणां नेदं संवादमन्दिरम्। अदोऽपवादि चेत्येवं चेतः स्याद्विचिकित्सना ॥१६२
स्वस्यैव हि स दोषोऽयं यन्न शक्तः श्रुताश्रयम्। शीलमाश्रयितुं जन्तुस्तदर्थं वा निबोधितुम् ॥१६३
स्वतःशुद्धमपि व्योम वीक्षते यन्मलीमसम्। नासौ दोषोऽस्य किं तु स्यात्स दोषश्चक्षुराश्रयः ॥१६४
दर्शनाद्देहदोषस्य यस्तत्त्वाय जुगुप्सते। स लोहे कालिकालोकान्नूनं मुञ्चति काञ्चनम् ॥१६५
स्वस्यान्यस्य च कायोऽयं बहिश्छायामनोहरः। अन्तर्विचार्यमाणः स्यादौदुम्बरफलोपमः ॥१६६
तदैतिह्ये च देहे च याथात्म्यं पश्यतां सताम्। उद्वेगाय कथं नाम चित्तवृत्तिः प्रवर्तताम् ॥१६७
बालवृद्धगदग्लानान्मुनीनौद्दायनः स्वयम्। भजन्निर्विचिकित्सात्मा स्तुतिं प्रापत्पुरन्दरात् ॥१६८
अन्तर्दुरन्तसंचारं बहिराकारसुन्दरम्। न श्रद्दध्यात्कुदृष्टीनां मतं किम्पाकसन्निभम् ॥१६९
श्रुतिशाक्यशिवाम्नायः क्षौद्रमांसासवाश्रयः। यदन्ते मखमोक्षाय विधिरत्रैतदन्वयः ॥१७०

निराकुल हो जाती है, समुद्रमें नदियोंकी तरह लक्ष्मी उसे स्वयं प्राप्त होती है ॥ १५८-१५९ ॥ अतः सम्यग्दर्शनकी शुद्धिके लिए अन्य मिथ्या मतोंके सम्बन्धसे उत्पन्न होने वाली, तथा इस लोक और परलोक सम्बन्धी तीन प्रकारकी इच्छाओंको छोड़ देना चाहिए ॥ १६० ॥ अनन्तमतीने पिताके परिहाससे ब्रह्मचर्य व्रत धारण किया और उसमें स्थिर रही। फिर बिना किसी प्रकारकी इच्छाके तप करके बारहवें स्वर्गमें उत्पन्न हुई ॥ १६१ ॥ [अब निर्विचिकित्सा अंगको बतलाते हैं—] 'जिनेन्द्र भगवान्‌के द्वारा कहा गया यह उग्र तप प्रशंसनीय नहीं है, उसमें अनेक दोष हैं।' इस प्रकार चित्तमें सोचना विचिकित्सा कहलाती है। शास्त्रमें कहे गये शीलको पालने अथवा उसका आशय समझनेमें जो जीव असमर्थ है सो यह उसीका दोष है। स्वतः शुद्ध आकाश भी जो मलिन दिखाई देता है सो यह आकाशका दोष नहीं है किन्तु देखनेवालेकी आँखोंका दोष है। जो मनुष्य शरीरमें दोष देखकर उसके अन्दर बसनेवाली आत्मासे ग्लानि करता है, वह लोहेकी कालिमाको देखकर निश्चय ही सोनेको छोड़ता है। अर्थात् जैसे लोहेकी कालिमाका सोनेसे कोई सम्बन्ध नहीं है वैसे ही शरीरकी गन्दगीका आत्माके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः शरीरके गन्देपनको देखकर तपस्वी साधुकी आत्मासे घृणा नहीं करनी चाहिए। अपना शरीर हो या दूसरेका, वह बाहरसे ही मनोहर लगता है। उसके अन्दरकी हालतका विचार करनेपर तो वह उदुम्बरके फलके समान ही है। अतः इस परम्परागत उपदेश तथा इस शरीरके वास्तविक स्वरूपको जाननेवाले सज्जनोंकी चित्तवृत्ति (शरीरकी गन्दगीको देखकर) कैसे व्याकुल हो सकती है ? अर्थात् नहीं हो सकती ॥ १६२–१६७ ॥ बाल, वृद्ध और रोगसे पीड़ित मुनियोंकी स्वयं सेवा करनेवाला, निर्विचिकित्सा अंगका पालक, राजा उद्दायन इन्द्रके द्वारा प्रशंसित हुआ ॥१६८॥ [अब अमूढदृष्टि अङ्गको बतलाते हैं—] जिसके अन्दर बुराइयाँ भरी हैं किन्तु जो बाहरसे सुन्दर है, किम्पाकफलके समान ऐसे मिथ्यादृष्टियोंके मतपर श्रद्धा मत करो॥१६९॥ वैदिक मतमें मधुके प्रयोगका विधान है, (बौद्धमतमें) मांस-भक्षणका विधान है, और शैवमतमें मद्यपानका विधान है। इन आम्नायोंमें जो यज्ञ और

भूमिभस्मजटावोटयोगपट्टकटासनम् । मेखलाप्रोक्षणं मुद्रा वृषीदण्डः करण्डकः ॥१७१
शौचं मज्जनमाचामः पितृपूजानलार्चनम् । अन्तस्तत्त्वविहीनानां प्रक्रियेयं विराजते ॥१७२
को देवः किमिदं ज्ञानं किं तत्त्वं कस्तपःक्रमः । को वन्धः कश्च मोक्षो वा यत्त्रेदं न विद्यते ॥१७३
आप्तागमाविशुद्धत्वे क्रिया शुद्धापि देहिषु । नाभिजातफलप्राप्त्यै विजातिष्विव जायते ॥१७४
तत्संस्तवं प्रशंसां वा न कुर्वीत कुदृष्टिषु । ज्ञानविज्ञानयोस्तेषां विपश्चिन्न च विभ्रमेत् ॥१७५
जले तैलामिवैतिह्यं वृथा तत्र बहिर्द्युति । रसवत्स्यान्न यत्रान्तर्बोधो वेधाय धातुषु ॥१७६
आत्मनि मोक्षे ज्ञाने वृत्ते ताते च भरतराजस्य । ब्रह्मेति गीः प्रगीता न चापरो विद्यते ब्रह्मा ॥१७७
कादम्बताक्ष्यंगोसिंहपीठाधिपतिषु स्वयम् । आगतेष्वप्यभून्नैषा रेवती मूढतावती ॥१७८
उपगूहस्थितीकारौ यथाशक्तिप्रभावनम् । वात्सल्यं च भवन्त्येते गुणाः सम्यक्त्वसंपदे ॥१७९
क्षान्त्या सत्येन शौचेन मार्दवेनार्जवेन च । तपोभिः संयमैर्दानैः कुर्यात्समयबृंहणम् ॥१८०
सवित्रीव तनूजानामपराधं सधर्मसु । दैवप्रमादसंपन्नं निगूहेद् गुणसंपदा ॥१८१
अशक्तस्यापराधेन किं धर्मो मलिनो भवेत् । न हि भेके मृते याति पयोधिः पूतिगन्धिताम् ॥१८२
दोषं गूहति नो जातं यस्तु धर्मं न बृंहयेत् । दुष्करं तत्र सम्यक्त्वं जिनागमबहिस्थिते ॥१८३
मायासंयमिन्युत्सर्पे सूर्पे रत्नापहारिणि । दोषं निषूदयामास जिनेन्द्रो भक्तवावपरः ॥१८४

मोक्षकी विधियाँ है, उनमें भी उक्त वस्तुओंके सेवनका विधान आता है ॥ १७० ॥ नशा करना, भस्म रमाना, जटाजूट रखना, योगपट्ट, कटिसूत्र-धारण, यज्ञके लिए पशुवध करना, मुद्रा, कुशासन, दण्ड, पुष्प रखनेका पात्र, शौच, स्नान, आचमन, पितृतर्पण और अग्निपूजा, ये सब आत्मतत्त्वसे विमुख साधकोंकी प्रक्रिया है। कौन देव है ? तत्त्व क्या है, तपस्याका क्रम क्या है ? बन्ध किसे कहते हैं ? मोक्षका क्या स्वरूप है ? ये सब बातें वहाँ नहीं हैं ॥ १७१–१७३ ॥ यदि देव और शास्त्र निर्दोष न हों तो प्राणियोंकी शुद्ध क्रिया भी श्रेष्ठ फलको नहीं दे सकती। जैसे विजातियोंमें कुलीन सन्तानकी प्राप्ति नहीं होती। इसलिए मिथ्यादृष्टियोंकी मनसे प्रशंसा नहीं करनी चाहिए और न वचनसे स्तुति करनी चाहिए। तथा समझदार मनुष्योंको उनके ज्ञानादिकको देखकर भ्रममें नहीं पड़ना चाहिए ॥१७४–१७५॥ जहाँ धातुमें पारदकी तरह अन्तर्बोध चित्तके अन्दर नहीं भिदता, वहाँ जलमें तेल की तरह बाहर में ही प्रकाशमान शास्त्रज्ञान व्यर्थ ही होता है ॥१७६॥ आत्माको, मोक्षको, ज्ञानको, चारित्रको और भरतके पिता ऋषभदेवको ब्रह्मा कहते हैं। इनके सिवा और कोई ब्रह्मा नहीं है ॥१७७॥ 'ब्रह्मा, विष्णु, शिव और जिनके स्वयं पधारने पर भी रेवती रानी मूर्ख नहीं बनी, मूढ़ताको प्राप्त नहीं हुई ॥१७८॥ [अब उपगूहन अंगको बतलाते हैं—] उपगूहन, स्थितिकरण, शक्तिके अनुसार प्रभावना और वात्सल्य ये गुण सम्यक्त्व रूपी सम्पदाके लिए होते हैं ॥१७९॥ क्षमा, सत्य, शौच, मार्दव, आर्जव, तप, संयम और दानके द्वारा धर्मकी वृद्धि करनी चाहिए। तथा जैसे माता अपने पुत्रोंके अपराधको छिपाती है वैसे ही यदि साधर्मियोंमेंसे किसीसे दैववश या प्रमाद वश कोई अपराध बन गया हो तो उसे गुण-सम्पदासे छिपाना चाहिए। क्या असमर्थ मनुष्यके द्वारा की गई गल्तीसे धर्म मलिन हो सकता है ? मेढ़कके मर जानेसे समुद्र दुर्गन्धित नहीं हो जाता ॥ जो न तो दोषको ढाँकता है और न धर्मकी वृद्धि करता है, वह जिनागमका पालक नहीं है और उसे सम्यक्त्वकी प्राप्ति होना भी दुष्कर है ॥ १८०–१८३ ॥ 'मायाके नियंत्रणमें प्रवीण रत्नको चुरानेवाले सूर्पके दोषको जिनेन्द्र भक्त सेठने छिपाया' ॥ १८४ ॥ [अब स्थितिकरण अंग-

परीषहव्रतोद्विग्नमजातागमसङ्गमम् । स्थापयेद् भ्रस्यदात्मानं समयी समयस्थितम् ॥१८५
तपसः प्रत्यवस्यन्तं यो न रक्षति संयतम् । नूनं स दर्शनाद्बाह्यः समयस्थितिलङ्घनात् ॥१८६
नवैः संदिग्धनिर्वाहैर्विदध्याद् गणवर्धनम् । एकदोषकृते त्याज्यः प्राप्ततत्त्वः कथं नरः ॥१८७
यतः समयकार्यार्थो नानापञ्चजनाश्रयः । अतः संबोध्य यो यत्र योग्यस्तं तत्र योजयेत् ॥१८८
उपेक्षायां तु जायेत तत्त्वाद् दूरतरो नरः । ततस्तस्य भवो दीर्घः समयोऽपि च हीयते ॥१८९
विशुद्धमनसां पुंसां परिच्छेदपरात्मनाम् । किं कुर्वन्ति कृता विघ्नाः सदाचारखिलैः खलैः ॥१९०
सुदतीसंगमासक्तं पुष्पदन्तं तपस्विनम् । वारिषेणः कृतत्राणः स्थापयामास संयमे ॥१९१
चैत्यैश्चैत्यालयैर्ज्ञानैस्तपोभिर्विविधात्मकैः । पूजामहाध्वजाद्यैश्च कुर्यान्मार्गप्रभावनम् ॥१९२
ज्ञाने तपसि पूजायां यतीनां यस्त्वसूयते । स्वर्गापवर्गभूर्लक्ष्मीर्नूनं तस्याप्यसूयते ॥१९३
समर्थश्चित्तवित्ताभ्यामिहाशासनभासकः । समर्थश्चित्तवित्ताभ्यां स्वस्यामुत्र न भासकः ॥१९४
तद्दानज्ञानविज्ञानमहामहमहोत्सवैः । दर्शनद्योतनं कुर्यादैहिकापेक्षयोज्झितः ॥१९५
अन्तःसारशरीरेषु हितायैवाहितेहितम् । किं न स्यादग्निसंयोगः स्वर्णत्वाय तदश्मनि ॥१९६

को कहते हैं—] परीषह और व्रतसे घबराया हुआ तथा आगमके ज्ञानसे शून्य कोई साधर्मी भाई यदि धर्मसे भ्रष्ट होता हो तो सम्यग्दृष्टिको उसका स्थितिकरण करना चाहिए। जो तपसे भ्रष्ट होते हुए मुनिकी रक्षा नहीं करता है, आगमकी मर्यादाका उल्लंघन करनेके कारण वह मनुष्य नियमसे सम्यग्दर्शनसे रहित है ॥ १८५–१८६ ॥ जिनके निर्वाहमें सन्देह है ऐसे नये मनुष्योंसे भी संघको बढ़ाना चाहिए। केवल एक दोषके कारण तत्त्वज्ञ मनुष्यको छोड़ा नहीं जा सकता। क्योंकि धर्मका काम अनेक मनुष्योंके आश्रयसे चलता है। इसलिए समझा-बुझाकर जो जिसके योग्य हो उसे उसमें लगा देना चाहिए। उपेक्षा करनेसे मनुष्य धर्मसे दूर होता जाता है और ऐसा होनेसे उस मनुष्यका संसार सुदीर्घ होता है और धर्मकी भी हानि होती है ॥ १८७–१८९ ॥ 'सदाचारको बिगाड़नेवाले दुष्ट मनुष्योंके द्वारा किये गये विघ्न, विचारमें तत्पर विशुद्धमनवाले मनुष्योंका क्या कर सकते हैं? अर्थात् कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकते ॥ १९० ॥ 'वारिषेणने सुदतीमें आसक्त तपस्वी पुष्पदन्तकी रक्षा की और उसे संयममें लगाया ॥ १९१ ॥ [अब प्रभावना अंगको बतलाते हैं—] जिनबिम्ब और जिनालयोंकी स्थापनाके द्वारा, ज्ञानके द्वारा, तपके द्वारा तथा अनेक प्रकारकी महाध्वज आदि पूजाओंके द्वारा जैनधर्मकी प्रभावना करना चाहिये ॥ १९२ ॥ जो मुनियोंके ज्ञान, तप और पूजाकी निन्दा करता है, उनमें झूठा दोष लगाता है, स्वर्ग और मोक्ष लक्ष्मी भी नियमसे उससे द्वेष करती है। अर्थात् उसे न स्वर्गके सुखोंकी प्राप्ति होती है, और न मोक्ष ही मिलता है ॥ १९३ ॥ इस लोकसे बुद्धि और धनमें समर्थ होनेपर भी जो जिनशासनकी प्रभावना नहीं करता, वह बुद्धि और धनसे समर्थ होनेपर भी परलोकमें अपना कल्याण नहीं करता। अतः ऐहिक सुखकी इच्छा न करके दान, ज्ञान, विज्ञान और महापूजा आदि महोत्सवोंके द्वारा सम्यग्दर्शनका प्रकाश करना चाहिए ॥ १९४–१९५ ॥ 'जिनके अन्तरंगमें कुछ सार है उनका अहित चाहना भी हितके लिए होता है। देखो, स्वर्णपाषाणको आगमें तपानेसे क्या वह सोना नहीं हो जाता ॥ १९६ ॥

पुण्यं वा पापं वा यत्काले जन्तुना पुराचरितम् । तत्तत्समये तस्य हि सुखं च दुःखं च योजयति ॥१९७
ऊर्विलाया महादेव्याः पूतिकस्य महीभुजः । स्यन्दनं भ्रमयामास मुनिर्वज्रकुमारकः ॥१९८
अर्थित्वं भक्तिसंपत्तिः प्रियोक्तिः सत्क्रियाविधिः । सधर्मसु च सौचित्यकृतिर्वत्सलता मता ॥१९९
स्वाध्याये संयमे सङ्घे गुरौ सब्रह्मचारिणि । यथौचित्यं कृतात्मानो विनयं प्राहुरादरम् ॥२००
आधिव्याधिनिरुद्धस्य निरवद्येन कर्मणा । सौचित्यकरणं प्रोक्तं वैयावृत्यं विमुक्तये ॥२०१
जिने जिनागमे सूरौ तपःश्रुतपरायणे । सद्भावशुद्धिसंपन्नोऽनुरागो भक्तिरुच्यते ॥२०२
चातुर्वर्ण्यस्य संघस्य यथायोग्यं प्रमोदवान् । वात्सल्यं यस्तु नो कुर्यात्स भवेत्समयी कथम् ॥२०३
तद्व्रतैर्विद्यया वित्तैः शारीरैः श्रीमदाश्रयैः । त्रिविधातङ्कसंप्राप्तानुपकुर्वन्तु संयतान् ॥२०४
सन्नसंश्च समावेव यदि चित्तं मलीमसम् । यात्यशान्तेः क्षयं पूर्वः परश्चाशुभचेष्टितात् ॥२०५
स्वमेव हन्तुमीहेत दुर्जनः सज्जनं द्विषन् । योऽधितिष्ठेत्तुलामेकः किमसौ न व्रजेदधः ॥२०६
महापद्मसुतो विष्णुर्मुनीनां हास्तिने पुरे । बलिद्विजकृतं विघ्नं शमयामास वत्सलः ॥२०७
निसर्गोऽधिगमो वापि तदाप्तौ कारणद्वयम् । सम्यक्त्वभाक्पुमान्यस्मादल्पानल्पप्रयासतः ॥२०८
आसन्नभव्यताकर्महानिसंज्ञित्वशुद्धपरिणामाः । सम्यक्त्वहेतुरन्तर्बाह्योऽप्युपदेशकादिश्च ॥२०९

जीवने पूर्वजन्ममें जो पुण्य या पाप किया है, समय आनेपर वह उसे अवश्य सुख या दुःख देता है' ॥१९७॥ वज्रकुमार मुनिने राजा पूतिककी रानी महादेवी ऊर्विलाके रथका विहार कराया ॥१९८॥ [अब वात्सल्य अंगको कहते हैं—] धर्मात्मा पुरुषोंके प्रति उदार होना, उनकी भक्ति करना, मिष्ट वचन बोलना, आदर-सत्कार तथा अन्य उचित क्रियाएँ करना वात्सल्य है ॥१९९॥ स्वाध्याय, संयम, संघ, गुरु और सहाध्यायीका यथायोग्य आदर-सत्कार करनेको कृती पुरुष विनय कहते हैं ॥ २०० ॥ जो मानसिक या शारीरिक पीड़ासे पीड़ित हैं, निर्दोष विधिसे उनकी सेवा-शुश्रूषा करना वैयावृत्य कहा जाता है। यह वैयावृत्य मुक्तिका कारण है ॥ २०१ ॥ जिन-भगवान्में, जिन-भगवान्के द्वारा कहे हुए शास्त्रमें, आचार्यमें और तप और स्वाध्यायमें लीन मुनि आदिमें विशुद्ध भावपूर्वक जो अनुराग होता है उसे भक्ति कहते हैं ॥ २०२ ॥ जो हर्षित होकर चार प्रकारके संघमें यथायोग्य वात्सल्य नहीं करता वह धर्मात्मा कैसे हो सकता है ॥ २०३ ॥ इसलिए व्रतोंके द्वारा, विद्याके द्वारा, धनके द्वारा, शरीरके द्वारा और सम्पन्न साधनोंके द्वारा शारीरिक मानसिक और आगन्तुक रोगोंसे पीड़ित संयमीजनोंका उपकार करना चाहिए ॥ २०४ ॥—'यदि चित्त मलीन है तो सज्जन और दुर्जन दोनों समान हैं। उनमेंसे सज्जन तो अशान्तिके कारण नष्ट हो जाता है और दुर्जन बुरे कार्योंके करनेसे नष्ट हो जाता है। क्योंकि सज्जनसे द्वेष करनेवाला दुर्जन स्वयं अपने ही घातकी चेष्टा करता है। ठीक ही है जो अकेला ही तराजूमें बैठ जाता है वह नीचे क्यों नहीं जायेगा ॥ २०५–२०६ ॥

'महापद्म राजाके पुत्र धर्मप्रेमी विष्णुमुनिने हस्तिनागपुरमें बलिके द्वारा मुनियोंपर किया गया उपसर्ग दूर किया' ॥ २०७ ॥ सम्यग्दर्शन दो प्रकारसे होता है—एक तो परोपदेशके बिना स्वयं ही हो जाता है और दूसरे, परोपदेशसे होता है। क्योंकि किसी पुरुषको तो थोड़ा-सा प्रयत्न करनेसे ही सम्यक्त्वकी प्राप्ति हो जाती है और किसीको बहुत प्रयत्न करनेसे सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है

एतदुक्तं भवति—कस्यचिदासन्नभव्यस्य तन्निदानद्रव्यक्षेत्रकालभावभवसंपत्सेव्यस्य विधूतै-तत्प्रतिबन्धकान्धकारसम्बन्धस्याक्षिप्रशिक्षाक्रियालापनिपुणकरणानुबन्धस्य नवस्य भाजनस्येवासं-जातदुर्वासनागन्धस्य झटिति यथावस्थितवस्तुस्वरूपसंक्रान्तिहेतुतया स्फाटिकमणिदर्पणसगन्धस्य पूर्वभवसंभालनेन वा वेदनानुभवनेन वा धर्मश्रवणाकर्णनेन वार्हत्प्रतिनिधिनिध्यानेन वा महामहो-त्सवनिहालनेन वा महर्द्धिप्रभाचार्यवाहनेन वा नृपु नाकिपु वा तन्माहात्म्यसंभूतविभवसंभावनेन वान्येन वा केनचित्कारणमात्रेण विचारकान्तारेषु मनोविहारास्पदं खेदमनापद्य यदा जीवादिषु पदार्थेषु याथात्म्यसमवधानं श्रद्धानं भवति तदा प्रयोक्तुः सुकरक्रियत्वाल्लूयन्ते शालयः स्वयमेव, विनीयन्ते कुशलाशयाः स्वयमेव, इत्यादिवत्तन्निसर्गात्संजातमित्युच्यते। यदा त्वव्युत्पत्तिसंशीतिवि-पर्यस्तितसमधिकबोधस्याधिमुक्तियुक्तिसूक्तिसम्बन्धसविधस्य प्रमाणनयनिक्षेपानुयोगोपयोगावगाह्येषु समस्तेष्वैतिह्येषु परीक्षोपक्षेपादतिक्लिश्य निःशेषदुराशाविनिशाविनाशनांशुमरीचिश्चिरेण तत्त्वेषु रुचिः संजायते, तदा विधातुरायासहेतुत्वान्मया निर्मापितोऽयं सूत्रानुसारो हारो, मयेदं संपादितं रत्नरचनाधिकरणमाभरणमित्यादिवत्तदधिगमादाविर्भूतमित्युच्यते। उक्तं च—

अबुद्धिपूर्वापेक्षायामिष्टानिष्टं स्वदैवतः। बुद्धिपूर्वव्यपेक्षायामिष्टानिष्टं स्वपौरुषात् ॥२१०

द्विविधं त्रिविधं दशविधमाहुः सम्यक्त्वमात्महितमतयः।
तत्त्वश्रद्धानविधिः सर्वत्र च तत्र समवृत्तिः ॥२११

॥२०८॥ 'सम्यक्त्वके अन्तरंग कारण निकट भव्यता, ज्ञानावरणादिक कर्मोकी हानि, संज्ञीपना और शुद्ध परिणाम है; तथा बाह्य कारण उपदेश आदिक हैं' ॥२०९॥ आशय यह है कि जो कोई निकट भव्य है, सम्यग्दर्शनके योग्य द्रव्य क्षेत्र, काल, भाव और भवरूपी सम्पत्तिकी जिसे प्राप्ति हो गई है, उसमें किसी तरहकी रुकावट डालने वाला कोई प्रतिबन्धक नहीं रहा है, शिक्षा, क्रिया, बात-चीतको ग्रहण करनेमें निपुण पाँचों इन्द्रियों और मनसे जो युक्त है अर्थात् संज्ञी पंचेन्द्रिय है, नये बरतनकी तरह जिनमें दुर्वासनाकी गन्ध नहीं है, वस्तुका जैसा स्वरूप है वैसा ही स्वरूप दर्शानेके लिए जो स्फटिक मणिके दर्पणके समान स्वच्छ है, ऐसे जीवके पूर्वभवके स्मरणसे, कष्टोंके अनुभव-से, धर्मके श्रवणसे, जिनबिम्बके दर्शनसे, महामहोत्सवोंके अवलोकनसे, ऋद्धिधारी आचार्योंके दर्शन करनेसे, मनुष्यों तथा देवोंमें सम्यक्त्वके माहात्म्यसे उत्पन्न हुए विभवको देखनेसे या अन्य किसी कारणसे विचाररूपी वनमें मनको न भटका कर जब जीवादिक पदार्थोंमें ज्यों-का-त्यों श्रद्धान होता है तो उस सम्यग्दर्शनको निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं। क्योंकि जैसे धान्य कृषक द्वारा सुलभता-से स्वयं ही कट जाते हैं अथवा सदाशयी स्वयं ही विनीत हो जाते हैं उसी तरह उसमें कर्ताको श्रम करना नहीं पड़ता। और जब संशय, विपर्यय और अनध्यवसायसे ग्रस्त ज्ञानवाले मनुष्यके श्रद्धा, युक्ति और आगमके निकट होकर, प्रमाण, नय, निक्षेप और अनुयोगके द्वारा अवगाहन करनेके योग्य समस्त शास्त्रोंकी परीक्षा करनेका कष्ट उठाकर चिरकालके पश्चात् समस्त दुराशा-रूपी रात्रिके विनाशके लिए सूर्यकी किरणोंके समान तत्त्वरुचि उत्पन्न होती है, तो उसे अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं। क्योंकि जैसे मैंने यह हार बनाया है या मैंने यह रत्नखचित आभरण बनाया है, वैसे ही कर्ताके द्वारा विहित परिश्रमसे उत्पन्न हुए अधिगम-ज्ञानसे वह प्रकट होता है। कहा भी है—अबुद्धिपूर्वक प्रयत्नके विना अचानक जो इष्ट या अनिष्ट होता है वह अपने दैवसे होता है और बुद्धिपूर्वक प्रयत्न करनेसे जो इष्ट या अनिष्ट होता है वह अपने पौरुषसे होता है ॥ २१० ॥

सरागवीतरागात्मविषयत्वाद्द्विधा स्मृतम् । प्रशमादिगुणं पूर्वं परं चात्मविशुद्धिभाक् ॥२१२

यथा हि पुरुषस्य पुरुषशक्तिरियमतीन्द्रियाप्यङ्गनाजनाङ्गसंभोगेनापत्योत्पादनेन च विपदि धैर्यावलम्बनेन वा प्रारब्धवस्तुनिर्वहणेन वा निश्चेतुं शक्यते, तथात्मस्वभावतयातिसूक्ष्मयत्नमपि सम्यक्त्वरत्नं प्रशमसंवेगानुकम्पास्तिक्यैरेव वाक्यैराकलयितुं शक्यम् । तत्र—

यद्रागादिषु दोषेषु चित्तवृत्तिनिबर्हणम् । तं प्राहुः प्रशमं प्राज्ञाः समस्तव्रतभूषणम् ॥२१३
शारीरमानसागन्तुवेदनाप्रभवाद्भवात् । स्वप्नेन्द्रजालसङ्कल्पाद्भीतिः संवेग उच्यते ॥२१४
सत्त्वे सर्वत्र चित्तस्य दयार्द्रत्वं दयालवः । धर्मस्य परमं मूलमनुकम्पां प्रचक्षते ॥२१५
आप्ते श्रुते व्रते तत्त्वे चित्तमस्तित्वसंस्तुतम् । आस्तिक्यमास्तिकैरुक्तं मुक्तियुक्तिधरे नरे ॥२१६
रागरोषधरे नित्यं निव्रते निर्दयात्मनि । संसारो दीर्घसारः स्यान्नरे नास्तिकनीतिके ॥२१७
कर्मणां क्षयतः शान्तेः क्षयोपशमतस्तथा । श्रद्धानं त्रिविधं बोध्यं गतौ सर्वत्र जन्तुषु ॥२१८

दशविधं तदाह—

आत्महितैषी महापुरुषोंने सम्यग्दर्शनके दो, तीन और दश भेद बतलाये हैं । इन सभी भेदोंमें तत्त्वोंका श्रद्धान समान रूपसे पाया जाता है । अर्थात् तत्त्वोंका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शनका सामान्य लक्षण है । अतः सम्यग्दर्शनके जितने भी भेद हैं उन सभीमें तत्त्वोंका श्रद्धान होना आवश्यक है उसके बिना सम्यग्दर्शन हो ही नहीं सकता ॥ २११ ॥ सम्यग्दर्शन रागी आत्माओंको भी हो सकता है और वीतरागी आत्माओंके भी होता है इसलिए उसके दो भेद कर दिये गये हैं—एक सरागसम्यग्दर्शन और दूसरा वीतरागसम्यग्दर्शन। सरागसम्यग्दर्शन प्रशम आदि गुणरूप होता है और वीतरागसम्यग्दर्शन आत्मविशुद्धिरूप होता है ॥ २१२ ॥ जैसे पुरुषकी शक्ति यद्यपि अतीन्द्रिय है, इन्द्रियोंसे उसे नहीं देखा जा सकता, फिर भी स्त्रियोंके साथ संभोग करनेसे, सन्तानोत्पादनसे, विपत्तिमें धैर्य और प्रारम्भ किये गये कार्यको समाप्त करना आदि बातोंसे उसकी शक्तिका निश्चय किया जाता है, वैसे ही सम्यक्त्वरूपी रत्न भी आत्माका स्वभाव होनेके कारण यद्यपि बहुत सूक्ष्म है, फिर भी प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य आदिके द्वारा उसका निश्चय किया जा सकता है । [अब आस्तिक्य आदिका स्वरूप बतलाते हैं—] रागादिक दोषोंसे चित्तवृत्तिके हटनेको पण्डित-जन प्रशम कहते हैं । यह प्रशमगुण समस्त व्रतोंका भूषण है ॥ २१३ ॥ यह संसार शारीरिक, मानसिक, और आगन्तुक कष्टोंसे भरा है और स्वप्न या जादूगरके तमाशेकी तरह चञ्चल है । इससे डरना संवेग है ॥ २१४ ॥ सब प्राणियोंके प्रति चित्तका दयालु होना अनुकम्पा है । दयालु पुरुष इसे धर्मका परम मूल बतलाते हैं ॥ २१५ ॥ मुक्तिके लिए प्रयत्नशील पुरुषका चित्त आप्तके विषयमें, शास्त्रके विषयमें, व्रतके विषयमें और तत्त्वके विषयमें 'ये हैं' इस प्रकारकी भावनासे युक्त होता है उसे आस्तिक पुरुष आस्तिक्य कहते हैं । जो मनुष्य रागी और द्वेषी है, कभी व्रताचरण नहीं करता और न कभी उसकी आत्मामें दयाका भाव ही होता है उस नास्तिक धर्मवालेका संसारभ्रमण बढ़ता ही है ॥ २१६–२१७ ॥ सम्यग्दर्शनके तीन भेद भी हैं—औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक । जो सम्यग्दर्शन मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व और अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया लोभ इन सात प्रकृतियोंके उपशमसे होता है उसे औपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं । जो इन सात प्रकृतियोंके क्षयसे होता है उसे क्षायिक सम्यक्त्व कहते हैं । और जो इनके क्षयोपशमसे

आज्ञामार्गसमुद्भवमुपदेशात्सूत्रबीजसंक्षेपात् । विस्तारार्थाभ्यां भवमवपरमावादिगाढं च ॥२१९

अस्यायमर्थः—भगवदर्हत्सर्वज्ञप्रणीतागमानुज्ञासंज्ञा आज्ञा, रत्नत्रयविचारसर्गो मार्गः, पुराणपुरुषचरितश्रवणाभिनिवेश उपदेशः, यतिजनाचरणनिरूपणपात्रं सूत्रम्, सकलसमयदलसूचनाव्याजं बीजम्, आप्तश्रुतव्रतपदार्थसमासालापाक्षेपः संक्षेपः, द्वादशाङ्गचतुर्दशपूर्वप्रकीर्णविस्तीर्णश्रुतार्थसमर्थनप्रस्तारो विस्तारः, प्रवचनविषये स्वप्रत्ययसमर्थोऽर्थः, त्रिविधस्यागमस्य निःशेषतोऽन्यतमदेशावगाहालीढमवगाढम्, अवधिमनःपर्ययकेवलाधिकपुरुषप्रत्ययप्ररूढं परमावगाढम् ।

गृहस्थो वा यतिर्वापि सम्यक्त्वस्य समाश्रयः । एकादशविधः पूर्वश्चरमश्च चतुर्विधः ॥२२०

मायानिदानमिथ्यात्वशल्यत्रितयमुद्धरेत् । आर्जवाकाङ्क्षणाभावतत्त्वभावनकीलकैः ॥२२१

दृष्टिहीनः पुमानेति न यथा पदमीप्सितम् । दृष्टिहीनः पुमानेति न तथा पदमीप्सितम् ॥२२२

सम्यक्त्वं नाङ्गहीनं स्याद्राज्यवत्प्राज्यभूतये । ततस्तदङ्गसंगत्यामङ्गी निःसंगमीहताम् ॥२२३

होता है उसे क्षायोपशमिक कहते हैं । ये तीनों सम्यग्दर्शन सब गतियोंमें पाये जाते हैं ॥२१८॥ [अब सम्यक्त्वके दश भेद बतलाते हैं—] आज्ञासम्यक्त्व, मार्गसम्यक्त्व, उपदेशसम्यक्त्व, सूत्रसम्यक्त्व, बीजसम्यक्त्व, संक्षेपसम्यक्त्व, विस्तारसम्यक्त्व, अर्थसम्यक्त्व, अवगाढ़सम्यक्त्व और परमावगाढ़सम्यक्त्व ये सम्यक्त्वके दश भेद हैं ॥ २१९ ॥ इनका स्वरूप इस प्रकार है—भगवान् सर्वज्ञ अर्हन्तदेवके द्वारा उपदिष्ट आगमकी आज्ञाको ही प्रमाण मानकर जो श्रद्धान किया जाता है उसे आज्ञासम्यक्त्व कहते हैं । रत्नत्रय रूप मोक्षके मार्गका कथन सुनकर जो श्रद्धान हो उसे मार्गसम्यक्त्व कहते हैं । तीर्थङ्कर बलदेव आदि पुराणपुरुषोंके चरितको सुनकर जो श्रद्धान होता है उसे उपदेशसम्यक्त्व कहते हैं । मुनिजनोंके आचारका कथन करनेवाले आचाराङ्गसूत्रको सुनकर जो श्रद्धान होता है उसे सूत्रसम्यक्त्व कहते हैं । जिस पदमें सूचन रूपसे समस्त शास्त्रोंके अंश छिपे होते, हैं उसे बीज कहते हैं । बीज पदको समझकर सूक्ष्म तत्त्वोंके ज्ञानपूर्वक जो श्रद्धान होता है, उसे बीजसम्यक्त्व कहते हैं । संक्षेपसे आप्त, श्रुत, व्रत और पदार्थोंको जानकर उनपर जो श्रद्धान होता है उसे संक्षेपसम्यक्त्व कहते हैं । बारह अंगों, चौदह पूर्वो और अङ्गबाह्योंके द्वारा विस्तारसे तत्त्वार्थको सुनकर जो श्रद्धान होता है उसे विस्तारसम्यक्त्व कहते हैं । प्रवचनके वचनोंकी सहायताके बिना किसी अन्य प्रकारसे जो अर्थका बोध होकर श्रद्धान होता है उसे अर्थसम्यक्त्व कहते हैं । अङ्ग, पूर्व और प्रकीर्णक आगमोंके किसी एक देशका पूरी तरहसे अवगाहन करनेपर जो श्रद्धान होता है उसे अवगाढ़सम्यक्त्व कहते हैं । और अवधिज्ञान, मनः पर्ययज्ञान तथा केवलज्ञानके द्वारा जीवादि पदार्थोंको जानकर जो प्रगाढ़ श्रद्धान होता है उसे परमावगाढ़सम्यक्त्व कहते हैं । गृहस्थ हो या मुनि हो, सम्यग्दृष्टि अवश्य होना चाहिए । अर्थात् सम्यक्त्वके बिना न कोई श्रावक कहला सकता है और न कोई मुनि कहला सकता है । गृहस्थके ग्यारह प्रतिमारूप ग्यारह भेद हैं और मुनिके ऋषि, यति, मुनि और अनागर ये चार भेद हैं ॥ २२० ॥ सरलता रूपी कीलके द्वारा माया रूपी काँटेको निकालना चाहिए । इच्छाका अभाव रूपी कीलके द्वारा निदानरूपी काँटेको निकालना चाहिए और तत्त्वोंकी भावना रूपी कीलके द्वारा मिथ्यात्व रूपी काँटेको निकालना चाहिए ॥ २२१ ॥ जैसे दृष्टि अर्थात् आँखोंसे हीन पुरुष अपने इच्छित स्थान तक नहीं पहुँच सकता । वैसे ही दृष्टि अर्थात् सम्यग्दर्शनसे हीन पुरुष मुक्तिलाभ नहीं सकता ॥ २२२ ॥ जैसे राज्यके अंग मन्त्री सेनापति आदिके बिना राज्य समृद्धिशाली नहीं हो सकता, वैसे ही निःशङ्कित आदि अंगोंके बिना सम्यग्दर्शन भी उत्कृष्ट आभ्यान्तर और बाह्य विभूतिको नहीं दे सकता । इस-

विद्याविभूतिरूपाद्याः सम्यक्त्वरहिते कुतः । नहि बीजव्यपायेऽस्ति सस्यसम्पत्तिरङ्गिनि ॥२२४
चक्रिश्रीः संश्रयोत्कण्ठा नाकिश्रीर्दर्शनोत्सुका । तस्य दूरे न मुक्तिश्रीर्निर्दोषं यस्य दर्शनम् ॥२२५
मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ तथानायतनानि षट् । अष्टौ शङ्कादयश्चेति दृग्दोषाः पञ्चविंशतिः ॥२२६
निश्चयोचितचारित्रः सुदृष्टिस्तत्त्वकोविदः । अव्रतस्थोऽपि मुक्तिस्थो न व्रतस्थोऽप्यदर्शनः ॥२२७
बहिःक्रिया बहिष्कर्मकारणं केवलं भवेत् । रत्नत्रयसमृद्धेः स्यादात्मा रत्नत्रयात्मकः ॥२२८
विशुद्धवस्तुधीर्दृष्टिर्बोधः साकारगोचरः । अप्रसङ्गस्तयोर्वृत्तं भूतार्थनयवादिनाम् ॥२२९
अक्षाज्ज्ञानं रुचिर्मोहाद्देहाद् वृत्तं च नास्ति यत् । आत्मन्यस्मिञ्छिवीभूते तस्मादात्मैव तत्त्रयम् ॥२३०
नात्मा कर्म न कर्मात्मा तयोर्यन्महदन्तरम् । तदात्मैव तदा सत्ता वात्मा व्योमेव केवलम् ॥२३१
क्लेशाय कारणं कर्म विशुद्धे स्वयमात्मनि । नोष्णमम्बु स्वतः किन्तु तदौष्ण्यं वह्निसंश्रयम् ॥२३२
आत्मा कर्ता स्वपर्यायं कर्म कर्तृ स्वपर्यये । मिथो न जातु कर्तृत्वमपरत्रोपचारतः ॥२३३
स्वतः सर्वस्वभावेषु सक्रियं सचराचरम् । निमित्तमात्रमन्यत्तु वार्गतेरिव सारिणिः ॥२३४

लिए प्राणीको चाहिए कि सम्यग्दर्शनके अंगोंको प्राप्त करके निःसंग—निर्ग्रन्थ दिगम्बर हो जानेकी कामना करे ॥ २२३ ॥ सम्यक्त्वसे रहित प्राणीमें सम्यग्ज्ञान की विभूति आदिक कैसे हो सकते हैं ? बीजके अभावमें धान्य सम्पत्ति नहीं होती । जिसका सम्यग्दर्शन निर्दोष है, चक्रवर्तीकी विभूति उसका आलिंगन करनेके लिए उत्कण्ठित रहती है और देवोंकी विभूति उसके दर्शनके लिए उत्सुक रहती है । अधिक क्या, मोक्षलक्ष्मी भी उससे दूर नहीं है ॥ २२४-२२५ ॥ तीन मूढ़ताएँ, आठ मद, छह अनायतन और आठ शंका आदिक, ये सम्यग्दर्शनके पच्चीस दोष हैं ॥ २२६ ॥ स्वरूपाचरण चारित्रका धारक और तत्त्वोंका ज्ञाता सम्यग्दृष्टि व्रतोंका पालन नहीं करते हुए भी मुक्तिके मार्गमें स्थित है । किन्तु व्रतोंका पालन करते हुए भी जो सम्यग्दर्शनसे रहित है वह मुक्तिके मार्गमें स्थित नहीं है ॥ २२७ ॥ बाह्य क्रिया तो केवल बाह्य कर्मको ही कारण होती है । किन्तु रत्नत्रय रूपी समृद्धिका कारण तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रमय आत्मा ही है ॥२२८॥ निश्चय-नयवादियोंके मतमें अर्थात् निश्चयनयकी दृष्टिमें विशुद्ध आत्मस्वरूपमें रुचि होना निश्चय सम्यक्त्व है । विशुद्ध आत्माको साकार रूपसे जानना निश्चय सम्यग्ज्ञान है और उन सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके विषयोंमें भेद-बुद्धि न करके एकरूप होना, अर्थात् आत्मस्वरूपमें लीन होना निश्चय-चारित्र है ॥ २२९ ॥ इस आत्माके मुक्त हो जानेपर न तो इन्द्रियोंसे ज्ञान होता है, न मोहसे जन्य रुचि होती है और न शारीरिक आचरण होता है । अतः ज्ञान, दर्शन और चारित्र तीनों आत्म-स्वरूप ही हैं ॥ २३० ॥ [अब आत्मा और कर्मका सम्बन्ध कैसा है यह स्पष्ट करते हैं—] न आत्मा कर्म है और न कर्म आत्मा है; क्योंकि दोनोंमें बड़ा भारी अन्तर है । अतः मुक्तावस्थामें केवल आत्मा ही रहता है और वह शुद्ध आकाश की तरह है ॥ २३१ ॥ आत्मा स्वयं विशुद्ध है और कर्म उसके क्लेशका कारण है । जैसे जल स्वयं उष्ण नहीं होता, किन्तु आगके सम्बन्धसे उसमें उष्णता आ जाती है ॥ २३२ ॥ आत्मा अपनी पर्यायका कर्ता है और कर्म अपनी पर्यायका कर्ता है । उपचारके सिवाय दोनों परस्परमें एक दूसरेके कर्ता नहीं हैं । अर्थात् उपचारसे आत्माको कर्मका और कर्मको आत्माका कर्ता कहा जाता है परन्तु वास्तवमें दोनों अपनी-अपनी पर्यायोंके ही कर्ता हैं । समस्त चराचर विश्व स्वयं अपने स्वभावका कर्ता है, दूसरे तो उसमें निमित्तमात्र हैं । जैसे

जीवन्तु वा म्रियन्तां वा प्राणिनोऽमी स्वकर्मतः। स्वं विशुद्धं मनो हिंसन् हिंसकः पापभाग्भवेत् ॥२३५
शुद्धमार्गमतोद्योगः शुद्धचेतोवचोवपुः। शुद्धान्तरात्मसंपन्नो हिंसकोऽपि न हिंसकः ॥२३६
पुण्यायापि भवेद् दुःखं पापायापि भवेत्सुखम्। स्वस्मिन्नन्यत्र वा नीतमचिन्त्यं चित्तचेष्टितम् ॥२३७
सुखदुःखाविधातापि भवेत्पापसमाश्रयः। पेटीमध्यविनिक्षिप्तं वासः स्यान्मलिनं न किम् ॥२३८
वहिष्कार्यासमर्थेऽपि हृदि हृद्येव संस्थिते। परं पापं परं पुण्यं परमं च पदं भवेत् ॥२३९
प्रकुर्वाणः क्रियास्तास्ताः केवलं क्लेशभाजनः। यो न चित्तप्रचारज्ञस्तस्य मोक्षपदं कुतः ॥२४०
यज्जानाति यथावस्थं वस्तुसर्वस्वमञ्जसा। तृतीयं लोचनं नृणां सम्यग्ज्ञानं तदुच्यते ॥२४१
यष्टिवज्जनुषान्धस्य तत्स्यात्सुकृतचेतसः। प्रवृत्तिविनिवृत्त्यङ्गं हिताहितविवेचनात् ॥२४२
मतिर्जागर्ति दृष्टेऽर्थे दृष्टेऽदृष्टे तथागमः। अतो न दुर्लभं तत्त्वं यदि निर्मत्सरं मनः ॥२४३
यद्यर्थे दर्शितेऽपि स्याज्जन्तोः सन्तमसा मतिः। ज्ञानमालोकवत्तस्य वृथा रविरिपोरिव ॥२४४
ज्ञातुरेव स दोषोऽयं यदबाधेऽपि वस्तुनि। मतिर्विपर्ययं धत्ते यथेन्दौ मन्दचक्षुषः ॥२४५
ज्ञानमेकं पुनर्द्वेधा पञ्चधा चापि तद्भवेत्। अन्यत्र केवलज्ञानात्तत्प्रत्येकमनेकधा ॥२४६

जलमें स्वयं बहनेकी शक्ति है, किन्तु नाली उसके बहनेमें निमित्तमात्र है ॥ २३३–२३४ ॥ ये प्राणी अपने कर्मके उदयसे जीवें या मरें, किन्तु अपने विशुद्ध मनकी हिंसा करने वाला हिंसक है और इसलिए वह पापका भागी है। जो शुद्ध मार्गमें प्रयत्नशील है, जिसका मन, वचन और शरीर शुद्ध है, तथा जिसकी अन्तरात्मा भी शुद्ध है वह हिंसा करके भी हिंसक नहीं है ॥ २३५–२३६ ॥ अपनेको या दूसरेको सुख या दुःखका नहीं देने वाला भी मनुष्य पापका आश्रयवाला होता है। अर्थात् यदि उसका मन राग-द्वेषके प्रसारसे युक्त है, तो वह स्व-परको सुख-दुःख नहीं देने पर भी पापका आश्रय करता है। पेटीके भीतर रखा हुआ वस्त्र क्या मैला नहीं होता है? होता ही है ॥२३७-२३८॥ वाह्य क्रिया न करते हुए भी यदि चित्त चित्तमें ही लीन रहता है तो उत्कृष्ट पाप, उत्कृष्ट पुण्य और उत्कृष्ट पद मोक्ष प्राप्त हो सकता है। जो केवल वाह्य क्रियाओंको करनेका ही कष्ट उठाता रहता है और चित्तको चंचलताको नहीं समझता, उसे मोक्ष पद कैसे प्राप्त हो सकता है? ॥ २३९–२४० ॥ [अब सम्यग्ज्ञानका स्वरूप बतलाते हैं—] जो सब वस्तुओंको ठीक रीतिसे जैसाका-तैसा जानता है उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं। यह सम्यग्ज्ञान मनुष्योंका तीसरा नेत्र है॥ जैसे जन्मसे अन्धे मनुष्यको लाठी ऊँची-नीची जगहको बतलाकर उसे चलने और रुकनेमें मदद देती है वैसे ही सम्यग्ज्ञान हित और अहितका विवेचन करके धर्मात्मा पुरुपको हितकारक कार्योंमें लगाता है और अहित करनेवाले कामोंसे रोकता है ॥ २४१–२४२ ॥ मतिज्ञान तो इन्द्रियोंके विपयभूत पदार्थोंको ही जानता है। किन्तु शास्त्र (श्रुतज्ञान) इन्द्रियोंके विपयभूत और अतीन्द्रिय दोनों प्रकारके पदार्थोंका ज्ञान करता है। अतः यदि ज्ञाताका मन ईर्पा, द्वेप आदि दुर्भावोंसे रहित है तो उसे तत्त्वका ज्ञान होना दुर्लभ नहीं है ॥ २४३ ॥ यदि तत्त्वके जान लेनेपर भी मनुष्यकी वुद्धि अन्धकारमें रहती है तो जैसे उल्लूके लिए प्रकाश व्यर्थ होता है वैसे ही उस मनुष्यका ज्ञान भी व्यर्थ है। साफ स्पष्ट वस्तुमें भी वुद्धिका विपरीत होना ज्ञाताके ही दोपको वतलाता है। जैसे चन्द्रमाके विपयमें काच कामलादि रोगसे ग्रस्त नेत्रवाले मनुष्यको विपरीत ज्ञान होता है—एकके दो चन्द्रमा दिखायी देते हैं। यह ज्ञाताकी ही खरावी है, चन्द्रमाकी नहीं ॥ २४४–२४५ ॥ सामान्यसे ज्ञान एक है। प्रत्यक्ष परोक्षके भेदसे

अधर्मकर्मनिर्मुक्तिर्धर्मकर्मविनिर्मितिः । चारित्रं तच्च सागारानगारयतिसंश्रयम् ॥२४७
देशतः प्रथमं तत्स्यात्सर्वतस्तु द्वितीयकम् । चारित्रं चारुचारित्रविचारोचितचेतसाम् ॥२४८
देशतः सर्वतो वापि नरो न लभते व्रतम् । स्वर्गापवर्गयोर्यस्य नास्त्यन्यतरयोग्यता ॥२४९
तुण्डकण्डूहरं शास्त्रं सम्यक्त्वविधुरे नरे । ज्ञानहीने तु चारित्रं दुर्भगाभरणोपमम् ॥२५०
सम्यक्त्वात्सुगतिः प्रोक्ता ज्ञानात्कीर्तिरुदाहृता । वृत्तात्पूजामवाप्नोति त्रयाच्च लभते शिवम् ॥२५१
रुचिस्तत्त्वेषु सम्यक्त्वं ज्ञानं तत्त्वनिरूपणम् । औदासीन्यं परं प्राहुर्वृत्तं सर्वक्रियोज्झितम् ॥२५२
वृत्तमग्निरुपायो धीः सम्यक्त्वं च रसौषधिः । साधुसिद्धो भवेदेष तल्लाभादात्मपारदः ॥२५३
सम्यक्त्वस्याश्रयश्चित्तमभ्यासो मतिसम्पदः । चारित्रस्य शरीरं स्याद्वित्तं दानादिकर्मणः ॥२५४

इति श्री सोमदेवसूरि-विरचिते उपासकाध्ययने अपवर्गमहोदयो नाम षष्ठ आश्वासः ।

अथ सप्तम आश्वासः

पुनर्गुणमणिकटक वेकटकर्मेव माणिक्यस्य, सुधाविधानमिव प्रासादस्य, पुरुषकारानुष्ठानमिव दैवसम्पदः, पराक्रमावलम्बनमिव नीतिमार्गस्य, विशेषवेदित्वमिव सेव्यत्वस्य, व्रतं हि खलु

वह दो प्रकारका है। तथा मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यय और केवलज्ञानके भेदसे पाँच प्रकारका है। केवलज्ञानके सिवाय अन्य चार ज्ञानोंमें-से प्रत्येकके अनेक भेद हैं ॥ २४६ ॥ बुरे कामोंसे बचना और अच्छे कामोंमें लगना चारित्र है। वह चारित्र गृहस्थ और मुनिके भेदसे दो प्रकारका है। गृहस्थोंका चारित्र देशचारित्र कहा जाता है और मुनियोंका चारित्र सकल चारित्र कहा जाता है। जिनके चित्त सद्विचारोंसे युक्त हैं वे ही चारित्रका पालन कर सकते हैं। जिस मनुष्यमें स्वर्ग और मोक्षमें-से किसीको भी प्राप्त कर सकनेकी योग्यता नहीं है वह न तो देशचारित्र ही पाल सकता है और न सकलचारित्र ही पाल सकता है। जो मनुष्य सम्यग्दर्शनसे रहित है उसका शास्त्र-वाचन मुखकी खाज मिटानेका एक साधनमात्र है। और जो मनुष्य ज्ञानसे रहित है उसका चारित्र धारण करना विधवा स्त्री के आभूषण धारण करनेके समान है ॥ २४७-२५० ॥ सम्यग्दर्शनसे अच्छी गति मिलती है। सम्यग्ज्ञानसे संसारमें यश फैलता है। सम्यक्चारित्रसे सम्मान प्राप्त होता है और तीनोंसे मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥ २५१ ॥ तत्त्वोंमें रुचिका होना सम्यग्दर्शन है। तत्त्वोंका यथार्थ जानना सम्यग्ज्ञान है और समस्त क्रियाओंको छोड़कर अत्यन्त उदासीन हो जाना सम्यक्चारित्र है ॥ २५२ ॥ चारित्र अग्नि है, सम्यग्ज्ञान उपाय है और सम्यग्दर्शन परिपूर्ण औषधियोंके तुल्य है। इन सबके मिलनेपर आत्मारूपी पारदधातु अच्छी तरह सिद्ध हो जाता है ॥ २५३ ॥ भावार्थ—पारेको सिद्ध करनेके लिए रसायनशास्त्री उसमें अनेक औषधियोंके रसोंकी भावना दे-देकर आगपर तपाते हैं तब पारा सिद्ध हो जाता है वैसे ही आत्मारूपी पारदको सिद्ध करनेके लिए चारित्ररूपी अग्नि, सम्यग्ज्ञानरूपी उपाय और सम्यग्दर्शनरूपी औषधियाँ आवश्यक हैं। उनके मिलनेपर आत्मा सिद्ध अर्थात् मुक्त हो जाता है। सम्यग्दर्शनका आश्रय चित्त है। सम्यग्ज्ञानका आश्रय अभ्यास है। सम्यक्चारित्रका आश्रय शरीर है और दानादि कार्यका आश्रय धन है ॥ २५४ ॥

इस प्रकार श्री सोमदेव सूरि विरचित उपासकाध्ययनमें रत्नत्रयका स्वरूप बतलानेवाला छठा आश्वास समाप्त हुआ।

सम्यक्त्वरत्नस्योपबृंहकमाहुः । तच्च देशयतीनां द्विविधं मूलोत्तरगुणाश्रयणात् । तत्र—
मद्यमांसमधुत्यागः सहोदुम्बरपञ्चकैः । अष्टावेते गृहस्थानामुक्ता मूलगुणाः श्रुते ॥२५५
सर्वदोषोदयो मद्यान्महामोहकृतेर्मतः । सर्वेषां पातकानां च पुरःसरतया स्थितम् ॥२५६
हिताहितविमोहेन देहिनः किं न पातकम् । कुर्युः संसारकान्तारपरिभ्रमणकारणम् ॥२५७
मद्येन यादवा नष्टा नष्टा द्यूतेन पाण्डवाः । इति सर्वत्र लोकेऽस्मिन्सुप्रसिद्धं कथानकम् ॥२५८
समुत्पद्य विपद्येह देहिनोऽनेकशः किल । मद्यीभवन्ति कालेन मनोमोहाय देहिनाम् ॥२५९
मद्यैकबिन्दुसंपन्नाः प्राणिनः प्रचरन्ति चेत् । पूरयेयुर्न संदेहं समस्तमपि विष्टपम् ॥२६०
मनोमोहस्य हेतुत्वान्निदानत्वाच्च दुर्गतेः । मद्यं सद्भिः सदा त्याज्यमिहामुत्र च दोषकृत् ॥२६१
हेतुशुद्धेः श्रुतेर्वाक्यात्पीतमद्यः किलैकपात् । मांसमातङ्गिकासङ्गमकरोन्मूढमानसः ॥२६२
एकस्मिन्वासरे मद्यनिवृत्तेर्धूर्तिलः किल । एतद्दोषात्सहायेषु मृतेष्वापदनापदम् ॥२६३
स्वभावाशुचि दुर्गन्धमन्यापायं दुरास्पदम् । सन्तोऽदन्ति कथं मांसं विपाके दुर्गतिप्रदम् ॥२६४
कर्माकृत्यमपि प्राणी करोतु यदि चात्मनः । हन्यमानविधिर्न स्यादन्यथा वा न जीवनम् ॥२६५

जैसे शाणसे माणिक, चूनाकी सफेदी से मकान, पौरुष करनेसे दैव, पराक्रमसे नीति और विशेषज्ञतासे सेव्यपना चमक उठता है वैसे ही व्रत भी सम्यक्त्वरूपी रत्नको चमका देता है। गृहस्थोंके व्रत मूल गुण और उत्तर गुणके भेदसे दो प्रकारके होते हैं। आगममें पाँच उदुम्बर और मद्य, मांस तथा मधुका त्याग ये आठ मूल गुण गृहस्थोंके बतलाये हैं ॥ २५५ ॥ मद्य महामोहको करनेवाला है। सब बुराइयोंका मूल है और सब पापों का अगुआ है ॥ २५६ ॥ इसके पीनेसे मनुष्यको हित और अहितका ज्ञान नहीं रहता। और हित-अहितका ज्ञान न रहनेसे प्राणी संसार-रूपी जंगलमें भटकानेवाला कौन-सा पाप नहीं करते ? ॥२५७॥ सब लोकमें यह कथा प्रसिद्ध है कि शराब पीनेके कारण यादव बरबाद हो गये और जुआ खेलनेके कारण पाण्डव बरबाद हो गये ॥ २५८ ॥ जन्तु अनेक बार जन्म-मरण करके कालके द्वारा प्राणियोंका मन मोहित करनेके लिए मद्यका रूप धारण करते हैं ॥ २५९ ॥ मद्यकी एक बूँदमें इतने जीव रहते हैं कि यदि वे फैलें तो समस्त जगत्में भर जायें। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ २६० ॥ यतः मद्यपानसे मन हित अहितके विचारसे शून्य हो जाता है और वह दुर्गतिका कारण है, अतः इस लोक और परलोकमें बुराइयोंको पैदा करनेवाले मद्यका सज्जन पुरुषोंको सदाके लिए त्याग करना चाहिए ॥ २६१ ॥ "मद्यको उत्पन्न करने वाली वस्तुओंके शुद्ध होनेसे तथा वेदमें लिखा होनेसे मूढ़ एकपातने मद्य पी लिया और फिर उसने मांस भी खाया और भिल्लनीको भी भोगा" ॥ २६२ ॥ उक्त कथाके सम्बन्धमें एक श्लोक है, जिसका भाव इस प्रकार है—"जब कि मद्यपानके दोषसे अन्य साथी चोर मर गये तब एक दिनके लिए शराबका त्याग कर देनेसे धूर्तिल चोर बच गया" ॥२६३॥

मांस निषेध—मांस स्वभावसे ही अपवित्र है, दुर्गन्धसे भरा है, दूसरोंकी जान ले-लेनेपर तैयार होता है, तथा कसाईके घर-जैसे दुस्थानसे प्राप्त होता है और विपाककालमें दुर्गतिको देता है, ऐसे मांसको भले आदमी कैसे खाते हैं ? ॥ २६४ ॥ यदि जिस पशुको मांसके लिये हम मारते हैं, दूसरे जन्ममें वह हमें न मारे या मांसके बिना जीवन ही न रह सके तो प्राणी नहीं करने योग्य पशु-हत्या भले ही करे। किन्तु ऐसी बात नहीं है। मांसके बिना भी मनुष्योंका जीवन चलता ही

धर्माच्छर्मभुजां धर्मे किन्नु विद्वेषकारणम् । प्रार्थितार्थप्रदं द्वेष्टु को नामामरपादपम् ॥२६६
अल्पात्क्लेशात्सुखं सुष्ठु सुधीश्चेत्स्वस्य वाञ्छति । आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥२६७
स सुखं सेवमानोऽपि जन्मान्तरसुखाश्रयः । यः परानुपघातेन सुखसेवापरायणः ॥२६८
स पुमान्ननु लोकेऽस्मिन्नुदर्के दुःखवर्जितः । यस्तदात्वसुखासङ्गान्न मुह्येद्धर्मकर्मणि ॥२६९
स भूभारः परं प्राणी जीवन्नपि मृतश्च सः । यो न धर्मार्थकामेषु भवेदन्यसमाश्रयः ॥२७०
स मूर्खः स जडः सोऽज्ञः स पशुश्च पशोरपि । योऽश्नन्नपि फलं धर्माद्धर्मे भवति मन्दधीः ॥२७१
स विद्वान्स महाप्राज्ञः स धीमान्स च पण्डितः । यः स्वतो वान्यतो वापि नाधर्माय समीहते ॥२७२
तत्स्वस्य हितमिच्छन्तो मुञ्चन्तश्चाहितं मुहुः । अन्यमांसैः स्वमांसस्य कथं वृद्धिविधायिनः ॥२७३
यत्परत्र करोतीह सुखं वा दुःखमेव वा । वृद्धये धनवद्दत्तं स्वस्य तज्जायतेऽधिकम् ॥२७४
मद्यमांसमधुप्रायं कर्म धर्माय चेन्मतम् । अधर्मः कोऽपरः किं वा भवेद् दुर्गतिदायकम् ॥२७५
स धर्मो यत्र नाधर्मस्तत्सुखं यत्र नासुखम् । तज्ज्ञानं यत्र नाज्ञानं सा गतिर्यत्र नागतिः ॥२७६
स्वकीयं जीवितं यद्वत्सर्वस्य प्राणिनः प्रियम् । तद्वदेतत्परस्यापि ततो हिंसां परित्यजेत् ॥२७७

है ॥ २६५ ॥ धर्मसे सुख भोगनेवाले मनुष्य न जाने धर्मसे द्वेष क्यों करते हैं ? इच्छित वस्तुको देनेवाले कल्पवृक्षसे कौन द्वेष करता है ॥ २६६ ॥ यदि बुद्धिमान् पुरुष थोड़ेसे कष्टसे अच्छा सुख प्राप्त करना चाहता है तो जो काम उसे स्वयं बुरे लगें उन कामोंको दूसरोंके प्रति भी उसे नहीं करना चाहिए ॥ २६७ ॥ जो दूसरोंका घात न करके सुखका सेवन करता है वह इस जन्ममें भी सुख भोगता है और दूसरे जन्ममें भी सुख भोगता है ॥ २६८ ॥ [धर्मरत्नाकरके पाठके अनुसार दूसरा अर्थ, यह भी हो सकता कि] 'जो दूसरोंके घातके द्वारा सुख भोगनेमें तत्पर रहता है वह वर्तमानमें सुख भोगते हुए भी दूसरे जन्ममें दुःख भोगता है।' [आगेके श्लोक देखते हुए यही अर्थ विशेष उचित प्रतीत होता है]॥ जो मनुष्य तात्कालिक सुखोपभोगमें आसक्त होकर धर्म-कर्ममें मूढ़ नहीं हो जाता अर्थात् धर्म-कर्म करता रहता है, वह इस लोकमें और परलोकमें दुःख नहीं उठाता ॥ २६९ ॥ जो मनुष्य धर्म, अर्थ और काममें से एकका भी पालन नहीं करता, वह पृथ्वीका भार है और जीते हुए भी मृत है ॥ २७० ॥ तथा जो धर्मका फल भोगता हुआ भी धर्माचरण करनेमें आलस्य करता है वह मूर्ख है, जड़ है, अज्ञानी है और पशुसे भी गया बीता है ॥ २७१ ॥ और जो न स्वयं अधर्म करता है और न दूसरोंसे अधर्म कराता है वह विद्वान् है, बड़ा समझदार है, बुद्धिमान् है और पण्डित है ॥ २७२ ॥ जो अपना हित चाहते हैं और अहितसे बचते हैं वे दूसरोंके मांससे अपने मांसकी वृद्धि कैसे करते हैं ॥२७३॥ जैसे दूसरोंको दिया हुआ धन कालान्तरमें ब्याज के बढ़ जानेसे अपनेको अधिक होकर मिलता है वैसे ही मनुष्य दूसरेको जो सुख या दुःख देता है वह सुख या दुःख कालान्तरमें उसे अधिक होकर मिलता है। अर्थात् सुख देनेसे अधिक सुख मिलता है और दुःख देनेसे अधिक दुःख मिलता है ॥ २७४ ॥ यदि मद्य, मांस और मधुका सेवन करना धर्म है तो फिर अधर्म क्या है और कौन दुर्गतिका कारण है ? ॥ २७५ ॥ धर्म वही है जिसमें अधर्म नहीं है। सुख वही है जिसमें दुःख नहीं है। ज्ञान वही है जिसमें अज्ञान नहीं है और गति वही है जहाँसे लौटकर आना नहीं है ॥ २७६ ॥ जिस प्रकार सभी प्राणियोंको अपना जीवन प्रिय है उसी तरह दूसरोंको भी अपना जीवन प्रिय है। इसलिए हिंसाको छोड़ देना चाहिए ॥ २७७ ॥

मांसादिषु दया नास्ति न सत्यं मद्यपायिषु । आनृशंस्यं न मर्त्येषु मधूदुम्बरसेविषु ॥२७८
मक्षिकागर्भसंभूतबालाण्डकनिपीडनात् । जातं मधु कथं सन्तः सेवन्ते कललाकृति ॥२७९
उद्भ्रान्तार्भकगर्भेऽस्मिन्नण्डजाण्डकखण्डवत् । कुतो मधु मधुच्छत्रे व्याधलुब्धकजीवितम् ॥२८०
अश्वत्थोदुम्बरप्लक्षन्यग्रोधादिफलेष्वपि । प्रत्यक्षाः प्राणिनः स्थूलाः सूक्ष्माश्चागमगोचराः ॥२८१
मद्यादिस्वादिगेहेषु पानमन्नं च नाचरेत् । तदमत्रादिसंपर्कं न कुर्वीत कदाचन ॥२८२
कुर्वन्नव्रतिभिः सार्धं संसर्ग भोजनादिषु । प्राप्नोति वाच्यतामत्र परत्र च न सत्फलम् ॥२८३
दृतिप्रायेषु पानीयं स्नेहं च कुतुपादिषु । व्रतस्थो वर्जयेन्नित्यं योषितश्चाव्रतोचिताः ॥२८४
जीवयोगाविशेषेण मयमेषादिकायवत् । मुद्गमाषादिकायोऽपि मांसमित्यपरे जगुः ॥२८५
तदयुक्तम् । तदाह—
मांसं जीवशरीरं जीवशरीरं भवेन्न वा मांसम् । यद्वन्निम्बो वृक्षो वृक्षस्तु भवेन्न वा निम्बः ॥२८६
द्विजाण्डजनिहन्तॄणां यथा पापं विशिष्यते । जीवयोगाविशेषेऽपि तथा फलपलाशिनाम् ॥२८७
स्त्रीत्वपेयत्वसामान्याद्दारवारिवदीहताम् । एष वादी वदन्नेवं मद्यमातृसमागमे ॥२८८

जो मांस खाते हैं उनमें दया नहीं होती । जो शराब पीते हैं वे सच नहीं बोल सकते । और जो मधु और उदुम्बर फलोंका भक्षण करते हैं उनमें कोमलपन नहीं होता ॥ २७८ ॥ मधुमक्खियोंके अण्डोंके निचोड़नेसे पैदा हुए मधुका, जो रज और वीर्यके मिश्रणके समान कलल-आकृतिवाला है, सज्जन पुरुष कैसे सेवन करते हैं ? ॥ २७९ ॥ मधुका छत्ता व्याकुल शिशुके गर्भकी तरह है और अण्डेसे उत्पन्न होनेवाले जन्तुओंके समुदायवाला है । भील लोधी वगैरह हिंसक मनुष्य उसे खाते हैं । उसमें माधुर्य कहाँसे आया ? ॥ २८० ॥ पीपल, उदुम्बर जिसे जन्तुफल भी कहते हैं, पाकर और वट वृक्ष आदिके फलोंमें स्थूल जन्तु रहते हैं जो प्रत्यक्ष दिखायी देते हैं । इनके सिवाय सूक्ष्म जन्तु भी उनमें पाये जाते हैं जो शास्त्रोंके द्वारा जाने जा सकते हैं ॥ २८१ ॥ मद्य मांस वगैरहका सेवन करनेवाले लोगोंके घरोंमें खान-पान भी नहीं करना चाहिए । तथा उनके बरतनोंको कभी भी काममें नहीं लाना चाहिए ॥ २८२ ॥ जो मनुष्य मद्य आदिका सेवन करनेवाले पुरुषोंके साथ खान-पान करता है उसकी यहाँ निन्दा होती है और परलोकमें भी उसे अच्छे फलकी प्राप्ति नहीं होती ॥ २८३ ॥ व्रती पुरुषको चमड़ेकी मशकका पानी, चमड़ेके कुप्पोंमें रखा हुआ घी, तेल और मद्य, मांस आदिका सेवन करनेवाली स्त्रियोंको सदाके लिए छोड़ देना चाहिए ॥ २८४ ॥ कुछ लोगोंका कहना है कि मूँग, उड़द आदिमें और ऊँट, मेढ़ा वगैरहमें कोई अन्तर नहीं है क्योंकि जैसे ऊँट, मेढ़ा वगैरहके शरीरमें जीव रहता है वैसे ही मूँग उड़द आदिमें भी जीव रहता है । दोनों ही जीवके शरीर हैं । अतः जीवका शरीर होनेसे मूँग, उड़द वगैरह भी मांस ही हैं ॥ २८५ ॥ किन्तु उनका ऐसा कहना ठीक नहीं है । क्योंकि मांस जीवका शरीर है यह ठीक है । किन्तु जो जीवका शरीर है वह मांस होता भी है और नहीं भी होता । जैसे, नीम वृक्ष होता है किन्तु वृक्ष नीम होता भी है और नहीं भी होता ॥ २८६ ॥ तथा—जैसे ब्राह्मण और पक्षी दोनोंमें जीव है फिर भी पक्षीको मारनेकी अपेक्षा ब्राह्मणको मारनेमें अधिक पाप है । वैसे ही फल भी जीवका शरीर है और मांस भी जीवका शरीर है, किन्तु फल खानेवालेकी अपेक्षा मांस खानेवालेको अधिक पाप होता है ॥ २८७ ॥ तथा जिसका यह कहना है कि फल और मांस दोनों ही जीवका शरीर होनेसे बराबर हैं उसके लिए पत्नी और माता दोनों स्त्री होनेसे समान हैं और शराब तथा पानी

शुद्धं दुग्धं न गोर्मांसं वस्तुवैचित्र्यमीदृशम् । विषघ्नं रत्नमाहेयं विषं च विपदे यतः ॥२८९
हेयं पलं पयः पेयं समे सत्यपि कारणे । विषद्रोरायुषे पत्रं मूलं तु मृतये मतम् ॥२९०
शरीरावयवत्वेऽपि मांसे दोषो न सर्पिषि । जिह्वावन्न हि दोषाय पादे मद्यं द्विजातिषु ॥२९१
विधिश्चेत्केवलं शुद्धयै द्विजैः सर्वं निषेव्यताम् । शुद्धयै चेत्केवलं वस्तु भुज्यतां श्वपचालये ॥२९२
तद्द्रव्यदातृपात्राणां विशुद्धौ विधिशुद्धता । यत्संस्कारशतेनापि नाजातिर्द्विजतां व्रजेत् ॥२९३
तच्छाक्यसांख्यचार्वाकवेदवैद्यकपर्दिनाम् । मतं विहाय हातव्यं मांसं श्रेयोऽर्थिभिः सदा ॥२९४
यस्तु लौल्येन मांसाशी धर्मधीः स द्विपातकः । परदारक्रियाकारी मात्रा सत्रं यथा नरः ॥२९५
क्षुद्रमत्स्यः किलैकस्तु स्वयम्भूरमणोदधौ । महामत्स्यस्य कर्णस्थः स्मृतिदोषादधो गतः ॥२९६
उपकाराय सर्वस्य पर्जन्य इव धार्मिकः । तस्थानास्थानचिन्तेयं वृष्टिवन्न हितोक्तिषु ॥२९७
चण्डोऽवन्तिषु मातङ्गः पिशितस्य निवृत्तितः । अत्यल्पकालभाविन्याः प्रपेदे यक्षमुख्यताम् ॥२९८

अथ के ते उत्तरगुणाः—

अणुव्रतानि पञ्चैव त्रिप्रकारं गुणव्रतम् । शिक्षाव्रतानि चत्वारि गुणाः स्युर्द्वादशोत्तरे ॥२९९

दोनों पेय होनेसे समान हैं। अतः जैसे वह पानी और पत्नीका उपभोग करता है वैसे ही शराब और माताका भी उपभोग क्यों नहीं करता? ॥ २८८ ॥ गौका दूध शुद्ध है किन्तु गोमांस शुद्ध नहीं है। वस्तु वैचित्र्य ही इस प्रकार है। देखो, साँपकी मणिसे विष दूर होता है, किन्तु साँपका विष मृत्युका कारण है ॥ २८९ ॥ अथवा, मांस और दूधका एक कारण होनेपर भी मांस छोड़ने योग्य है और दूध पीने योग्य है। जैसे कारस्कर नामके विषवृक्षका पत्ता आयुवर्धक होता है और उसकी जड़ मृत्युका कारण होती है ॥ २९० ॥ और भी कहते हैं—मांस भी शरीरका हिस्सा है और घी भी शरीरका ही हिस्सा है फिर भी मांसमें दोष है, घीमें नहीं। जैसे ब्राह्मणोंमें जीभमें शरावका स्पर्श करनेमें दोष है पैरमें लगानेपर नहीं ॥ २९१ ॥ यदि विधिसे ही वस्तु शुद्ध हो जाती तो ब्राह्मणोंके लिए कोई वस्तु असेव्य रहती ही नहीं। और यदि केवल वस्तुकी शुद्धि ही अपेक्षित है तो चाण्डालके घरपर भी भोजन कर लेना चाहिए ॥ २९२ ॥ अतः द्रव्य, दाता और पात्र तीनोंके शुद्ध होनेपर ही शुद्ध विधि बनती है। क्योंकि सैकड़ों संस्कार करनेपर भी शूद्र ब्राह्मण नहीं हो सकता ॥ २९३ ॥ इसलिए जो अपना कल्याण चाहते हैं उन्हें बौद्ध, सांख्य, चार्वाक, वैदिक और शैवोंके मतोंकी परवाह न करके मांसका त्याग कर देना चाहिए ॥ २९४ ॥ जैसे जो परस्त्रीगामी पुरुष अपनी माताके साथ सम्भोग करता है वह दो पाप करता है, एक तो परस्त्री गमनका पाप करता है और दूसरे माताके साथ सम्भोग करनेका पाप करता है। वैसे ही जो मनुष्य धर्मबुद्धिसे लालसापूर्वक मांस भक्षण करता है वह भी डबल पाप करता है। एक तो वह मांस खाता है दूसरे धर्मका ढोंग रचकर उसे खाता है ॥ २९५ ॥ "स्वयंभूरमण समुद्रमें महामत्स्यके कानमें रहनेवाला तन्दुलमत्स्य बुरे संकल्पसे नरकमें गया ॥ २९६ ॥

'जैसे मेघ सबके उपकारके लिए है वैसे ही धार्मिक पुरुष भी सबके उपकारके लिए हैं। और जैसे स्थान और अस्थानका विचार किये बिना मेघ सर्वत्र बरसता है वैसे ही धार्मिक पुरुष भी हितकी बात कहनेमें स्थान और अस्थानका विचार नहीं करते ॥ २९७ ॥' "अवन्ति देशमें चण्ड नामका चाण्डाल बहुत थोड़ी देरके लिए मांसका त्याग कर देनेसे मरकर यक्षोंका प्रधान हुआ ॥ २९८ ॥" [अब श्रावकोंके उत्तरगुण बतलाते हैं—] पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार

हिंसास्तेयानृताब्रह्मपरिग्रहविनिग्रहाः । एतानि देशतः पञ्चाणुव्रतानि प्रचक्षते ॥३००
संकल्पपूर्वकः सेव्ये नियमो व्रतमुच्यते । प्रवृत्तिविनिवृत्ती वा सदसत्कर्मसंभवे ॥३०१
हिंसायामनृते चौर्यमब्रह्मणि परिग्रहे । दृष्टा विपत्तिरत्रैव परत्रैव च दुर्गतिः ॥३०२
यत्स्यात्प्रमादयोगेन प्राणिषु प्राणहापनम् । सा हिंसा रक्षणं तेषामहिंसा तु सतां मता ॥३०३
विकथाक्षकषायाणां निद्रायाः प्रणयस्य च । अभ्यासाभिरतो जन्तुः प्रमत्तः परिकीर्तितः ॥३०४
देवतातिथिपित्रर्थं मन्त्रौषधभयाय वा । न हिंस्यात्प्राणिनः सर्वानहिंसा नाम तद्व्रतम् ॥३०५
गृहकार्याणि सर्वाणि दृष्टिपूतानि कारयेत् । द्रवद्रव्याणि सर्वाणि पटपूतानि योजयेत् ॥३०६
आसनं शयनं मार्गमन्नमन्यच्च वस्तु यत् । अदृष्टं तन्न सेवेत यथाकालं भजन्नपि ॥ ३०७
दर्शनस्पर्शसंकल्पसंसर्गत्यक्तभोजिताः । हिंसनाक्रन्दनप्रायाः प्राशप्रत्यूहकारकाः ॥३०८
अतिप्रसङ्गहानाय तपसः परिवृद्धये । अन्तरायाः स्मृताः सद्भिर्व्रतबीजविनिक्रियाः ॥३०९
अहिंसाव्रतरक्षार्थं मूलव्रतविशुद्धये । निशायां वर्जयेद्भुक्तिमिहामुत्र च दुःखदाम् ॥३१०
आश्रितेषु च सर्वेषु यथावद्विहितस्थितिः । गृहाश्रमी समीहेत शारीरेऽवसरे स्वयम् ॥३११

शिक्षाव्रत ये बारह उत्तरगुण हैं ॥ २९९ ॥ हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रहका एक देश त्याग करनेको पाँच अणुव्रत कहते हैं ॥ ३०० ॥ सेवनीय वस्तुका संकल्पपूर्वक त्याग करना व्रत है। अथवा अच्छे कार्योंमें प्रवृत्ति और बुरे कार्योंसे निवृत्तिको व्रत कहते हैं ॥ ३०१ ॥ हिंसा करने, झूठ बोलने, चोरी करने, कुशील सेवन करने और परिग्रहका संचय करनेसे इसी लोकमें विपत्तियाँ आती देखी जाती हैं और परलोकमें भी दुर्गति होती है ॥ ३०२ ॥

अहिंसा—[अब अहिंसा धर्मका वर्णन करते हैं—] प्रमादके योगसे प्राणियोंके प्राणोंका घात करना हिंसा है और उनकी रक्षा करना अहिंसा है ॥ ३०३ ॥ जो जीव ४ विकथा, ४ कषाय, ५ इन्द्रियाँ, निद्रा और मोहके वशीभूत है उसे प्रमादी कहते हैं ॥ ३०४ ॥ देवताके लिए, अतिथिके लिए, पितरोंके लिए, मंत्रकी सिद्धिके लिए, औषधिके लिए, अथवा भयसे सब प्राणियोंकी हिंसा नहीं करनी चाहिए। इसे अहिंसाव्रत कहते हैं ॥ ३०५ ॥ घरके सब काम देख-भाल कर करना चाहिए। और पतली वस्तुओंको कपड़ेसे छानकर ही काममें लाना चाहिए। आसन, शय्या, मार्ग, अन्न और भी जो वस्तु हो, समयपर उसका उपयोग करते समय बिना देखे उपयोग नहीं करना चाहिए ॥ ३०६-३०७ ॥

भोजनके अन्तराय—ताजा चमड़ा, हड्डी, मांस, लोहू और पीब वगैरहका देखना, रजस्वला स्त्री, सूखा चमड़ा, कुत्ता वगैरहसे छू जाना, भोजनके पदार्थोंमें 'यह मांसकी तरह है' इस प्रकारका बुरा संकल्प हो जाना, भोजनमें मक्खी वगैरहका गिर पड़ना, त्याग की हुई वस्तुको खा लेना, मारने, काटने, रोने, चिल्लाने आदिकी आवाज सुनना, ये सब भोजनमें विघ्न पैदा करनेवाले हैं। अर्थात् उक्त अवस्थाओंमें भोजन छोड़ देना चाहिए ॥ ३०८ ॥ ये अन्तराय व्रतरूपी बीजकी रक्षाके लिए बाड़के समान हैं। इनके पालनेसे अतिप्रसङ्ग दोषकी निवृत्ति होती है और तपकी वृद्धि होती है ॥ ३०९ ॥

रात्रि-भोजन त्याग—अहिंसा व्रतकी रक्षाके लिए और मूलव्रतोंको विशुद्ध रखनेके लिए इस लोक और परलोकमें दुःख देनेवाले रात्रि-भोजनका त्याग कर देना चाहिए ॥ ३१० ॥ गृहस्थको चाहिए कि जो अपने आश्रित हों पहले उनको भोजन कराये पीछे स्वयं भोजन करे ॥ ३११ ॥

संधानं पानकं धान्यं पुष्पं मूलं फलं दलम् । जीवयोनि न संग्राह्यं यच्च जीवैरुपद्रुतम् ॥३१२
अमिश्रं मिश्रमुत्सर्गि कालदेशदशाश्रयम् । वस्तु किञ्चित्परित्याज्यमपीहास्ति जिनागमे ॥३१३
यदन्तःशुषिरप्रायं हेयं नालीनलादि तत् । अनन्तकायिकप्रायं वल्लीकन्दादिकं त्यजेत् ॥३१४
द्विदलं द्विदलं प्राश्यं प्रायेणानवतां गतम् । शिम्बयः सकलास्त्याज्याः साधिताः सकलाश्च याः ॥३१५
तत्राहिंसा कुतो यत्र वह्वारम्भपरिग्रहः । वञ्चके च कुशीले च नरे नास्ति दयालुता ॥३१६
शोकसन्तापसंक्रन्दपरिदेवनदुःखधीः । भवन्स्वपरयोर्जन्तुरसद्वेद्याय जायते ॥३१७
कषायोदयतीव्रात्मा भावो यस्योपजायते । जीवो जायेत चारित्रमोहस्यासौ समाश्रयः ॥३१८
मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थानि यथाक्रमम् । सत्त्वे गुणाधिके क्लिष्टे निर्गुणेऽपि च भावयेत् ॥३१९
कायेन मनसा वाचाऽपरे सर्वत्र देहिनि । अदुःखजननी वृत्तिर्मैत्री मैत्रीविदां मता ॥३२०
तपोगुणाधिके पुंसि प्रश्रयाश्रयनिर्भरः । जायमानो मनोरागः प्रमोदो विदुषां मतः ॥३२१
दीनाभ्युद्धरणे बुद्धिः कारुण्यं करुणात्मनाम् । हर्षामर्षोज्झिता वृत्तिर्माध्यस्थ्यं निर्गुणात्मनि ॥३२२
इत्थं प्रयतमानस्य गृहस्थस्यापि देहिनः । करस्थो जायते स्वर्गो नास्य दूरे च तत्पदम् ॥३२३

अचार, पानक, धान्य, फूल, मूल, फल और पत्तोंको जीवोंकी योनि होनेसे ग्रहण नहीं करना चाहिए। तथा जिसमें जीवोंका वास हो ऐसी वस्तु भी काममें नहीं लेनी चाहिए ॥ ३१२ ॥ जिनागममें कोई वस्तु अकेली त्याज्य वतलायी है, कोई वस्तु किसीके साथ मिल जानेसे त्याज्य हो जाती है। कोई सर्वदा त्याज्य होती है और कोई अमुक काल, अमुक देश और अमुक दशामें त्याज्य होती है ॥३१३॥ जिसके बीचमें छिद्र रहते हैं ऐसे कमलडण्डी वगैरह शाकोंको नहीं खाना चाहिए। और जो अनन्तकाय हैं, जैसे लता, सूरण आदि उन्हें भी नहीं खाना चाहिए ॥ ३१४ ॥ पुराने मूंग, उड़द, चना आदिको दलनेके वाद ही खाना चाहिए, विना दले सारा मूंग, सारा उड़द वगैरह नहीं खाना चाहिए। और जितनी सावित फलियाँ हैं चाहे वे कच्ची हों या आगपर पकायी गयी हों, उन्हें नहीं खाना चाहिए। उन्हें खोलकर शोधनेके वाद ही खाना चाहिए ॥ ३१५ ॥ जहाँ वहुत आरम्भ और वहुत परिग्रह है वहाँ अहिंसा कैसे रह सकती है? तथा ठग और दुराचारी मनुष्यमें दया नहीं होती ॥ ३१६ ॥ जो मनुष्य स्वयं शोक करता है तथा दूसरोंके शोकका कारण वनता है, स्वयं सन्ताप करता है तथा दूसरोंके संतापका कारण वनता है, स्वयं रोता है तथा दूसरोंको रुलाता या कलपाता है, स्वयं दुःखी होता है और दूसरोंको दुःखी करता है, वह असातावेदनीय कर्मका वन्ध करता है ॥ ३१७ ॥ जिसके कपायके उदयसे अति संक्लिष्ट परिणाम होते हैं वह जीव चारित्रमोहनीय कर्मका वन्ध करता है ॥ ३१८ ॥

मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य भावनाका स्वरूप—सव जीवोंसे मैत्री भाव रखना चाहिए। जो गुणोंमें अधिक हों उनमें प्रमोद भाव रखना चाहिए। दुःखी जीवोंके प्रति करुणा भाव रखना चाहिए। और जो निर्गुण हों, असभ्य और उद्धत हों उनके प्रति माध्यस्थ्य भाव रखना चाहिए ॥ ३१९ ॥ 'अन्य सव जीवोंको दुःख न हो' मन, वचन और कायसे इस प्रकारका वर्ताव करनेको मैत्री कहते हैं ॥ ३२० ॥ तप आदि गुणोंसे विशिष्ट पुरुषको देखकर जो विनयपूर्ण हार्दिक प्रेम उमड़ता है उसे प्रमोद कहते हैं ॥ ३२१ ॥ दयालु पुरुषोंकी गरीवोंका उद्धार करनेकी भावनाको कारुण्य कहते हैं। और उद्धत तथा असभ्य पुरुषोंके प्रति राग और द्वेषके न होनेको माध्यस्थ्य कहते हैं ॥ ३२२ ॥ जो प्राणी गृहस्थ होकर भी इस प्रकारका प्रयत्न करता है, स्वर्ग तो

हिंसास्तेयानृताब्रह्मपरिग्रहविनिग्रहाः । एतानि देशतः पञ्चाणुव्रतानि प्रचक्षते ॥३००
संकल्पपूर्वकः सेव्ये नियमो व्रतमुच्यते । प्रवृत्तिविनिवृत्ती वा सदसत्कर्मसंभवे ॥३०१
हिंसायामनृते चौर्यमब्रह्मणि परिग्रहे । दृष्टा विपत्तिरत्रैव परत्रैव च दुर्गतिः ॥३०२
यत्स्यात्प्रमादयोगेन प्राणिषु प्राणहापनम् । सा हिंसा रक्षणं तेषामहिंसा तु सतां मता ॥३०३
विकथाक्षकषायाणां निद्रायाः प्रणयस्य च । अभ्यासाभिरतो जन्तुः प्रमत्तः परिकीर्तितः ॥३०४
देवतातिथिपित्रर्थं मन्त्रौषधभयाय वा । न हिंस्यात्प्राणिनः सर्वानहिंसा नाम तद्व्रतम् ॥३०५
गृहकार्याणि सर्वाणि दृष्टिपूतानि कारयेत् । द्रवद्रव्याणि सर्वाणि पटपूतानि योजयेत् ॥३०६
आसनं शयनं मार्गमन्नमन्यच्च वस्तु यत् । अदृष्टं तन्न सेवेत यथाकालं भजन्नपि ॥ ३०७
दर्शनस्पर्शसंकल्पसंसर्गत्यक्तभोजिताः । हिंसनाक्रन्दनप्रायाः प्राशप्रत्यूहकारकाः ॥३०८
अतिप्रसङ्गहानाय तपसः परिवृद्धये । अन्तरायाः स्मृताः सद्भिर्व्रतबीजविनिक्रियाः ॥३०९
अहिंसाव्रतरक्षार्थं मूलव्रतविशुद्धये । निशायां वर्जयेद्भुक्तिमिहामुत्र च दुःखदाम् ॥३१०
आश्रितेषु च सर्वेषु यथावद्विहितस्थितिः । गृहाश्रमी समीहेत शारीरेऽवसरे स्वयम् ॥३११

शिक्षाव्रत ये बारह उत्तरगुण हैं ॥ २९९ ॥ हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रहका एक देश त्याग करनेको पाँच अणुव्रत कहते हैं ॥ ३०० ॥ सेवनीय वस्तुका संकल्पपूर्वक त्याग करना व्रत है। अथवा अच्छे कार्योंमें प्रवृत्ति और बुरे कार्योंसे निवृत्तिको व्रत कहते हैं ॥ ३०१ ॥ हिंसा करने, झूठ बोलने, चोरी करने, कुशील सेवन करने और परिग्रहका संचय करनेसे इसी लोकमें विपत्तियाँ आती देखी जाती हैं और परलोकमें भी दुर्गति होती है ॥ ३०२ ॥

अहिंसा—[अब अहिंसा धर्मका वर्णन करते हैं—] प्रमादके योगसे प्राणियोंके प्राणोंका घात करना हिंसा है और उनकी रक्षा करना अहिंसा है ॥ ३०३ ॥ जो जीव ४ विकथा, ४ कषाय, ५ इन्द्रियाँ, निद्रा और मोहके वशीभूत है उसे प्रमादी कहते हैं ॥ ३०४ ॥ देवताके लिए, अतिथिके लिए, पितरोंके लिए, मंत्रकी सिद्धिके लिए, औषधिके लिए, अथवा भयसे सब प्राणियोंकी हिंसा नहीं करनी चाहिए। इसे अहिंसाव्रत कहते हैं ॥ ३०५ ॥ घरके सब काम देख-भाल कर करना चाहिए। और पतली वस्तुओंको कपड़ेसे छानकर ही काममें लाना चाहिए। आसन, शय्या, मार्ग, अन्न और भी जो वस्तु हो, समयपर उसका उपयोग करते समय बिना देखे उपयोग नहीं करना चाहिए ॥ ३०६-३०७ ॥

भोजनके अन्तराय—ताजा चमड़ा, हड्डी, मांस, लोहू और पीव वगैरहका देखना, रजस्वला स्त्री, सूखा चमड़ा, कुत्ता वगैरहसे छू जाना, भोजनके पदार्थोंमें 'यह मांसकी तरह है' इस प्रकारका बुरा संकल्प हो जाना, भोजनमें मक्खी वगैरहका गिर पड़ना, त्याग की हुई वस्तुको खा लेना, मारने, काटने, रोने, चिल्लाने आदिकी आवाज सुनना, ये सब भोजनमें विघ्न पैदा करनेवाले हैं। अर्थात् उक्त अवस्थाओंमें भोजन छोड़ देना चाहिए ॥ ३०८ ॥ ये अन्तराय व्रतरूपी बीजकी रक्षाके लिए बाड़के समान हैं। इनके पालनेसे अतिप्रसङ्ग दोषकी निवृत्ति होती है और तपकी वृद्धि होती है ॥ ३०९ ॥

रात्रि-भोजन त्याग—अहिंसा व्रतकी रक्षाके लिए और मूलव्रतोंको विशुद्ध रखनेके लिए इस लोक और परलोकमें दुःख देनेवाले रात्रि-भोजनका त्याग कर देना चाहिए ॥ ३१० ॥ गृहस्थको चाहिए कि जो अपने आश्रित हों पहले उनको भोजन कराये पीछे स्वयं भोजन करे ॥ ३११ ॥

संधानं पानकं धान्यं पुष्पं मूलं फलं दलम्। जीवयोनि न संग्राह्यं यच्च जीवैरुपद्रुतम् ॥३१२
अमिश्रं मिश्रमुत्सर्गि कालदेशदशाश्रयम्। वस्तु किञ्चित्परित्याज्यमपीहास्ति जिनागमे ॥३१३
यदन्तःशुषिरप्रायं हेयं नालीनलादि तत्। अनन्तकायिकप्रायं वल्लीकन्दादिकं त्यजेत् ॥३१४
द्विदलं द्विदलं प्राश्यं प्रायेणानवतां गतम्। शिम्बयः सकलास्त्याज्याः साधिताः सकलाश्च याः ॥३१५
तत्राहिंसा कुतो यत्र बह्वारम्भपरिग्रहः। वञ्चके च कुशीले च नरे नास्ति दयालुता ॥३१६
शोकसन्तापसंक्रन्दपरिदेवनदुःखधीः। भवन्स्वपरयोर्जन्तुरसद्वेद्याय जायते ॥३१७
कषायोदयतीव्रात्मा भावो यस्योपजायते। जीवो जायेत चारित्रमोहस्यासौ समाश्रयः ॥३१८
मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थानि यथाक्रमम्। सत्त्वे गुणाधिके क्लिष्टे निर्गुणेऽपि च भावयेत् ॥३१९
कायेन मनसा वाचाऽपरे सर्वत्र देहिनि। अदुःखजननी वृत्तिर्मैत्री मैत्रीविदां मता ॥३२०
तपोगुणाधिके पुंसि प्रश्रयाश्रयनिर्भरः। जायमानो मनोरागः प्रमोदो विदुषां मतः ॥३२१
दीनाभ्युद्धरणे बुद्धिः कारुण्यं करुणात्मनाम्। हर्षामर्षोज्झिता वृत्तिर्माध्यस्थ्यं निर्गुणात्मनि ॥३२२
इत्थं प्रयतमानस्य गृहस्थस्यापि देहिनः। करस्थो जायते स्वर्गो नास्य दूरे च तत्पदम् ॥३२३

अचार, पानक, धान्य, फूल, मूल, फल और पत्तोंको जीवोंकी योनि होनेसे ग्रहण नहीं करना चाहिए। तथा जिसमें जीवोंका वास हो ऐसी वस्तु भी काममें नहीं लेनी चाहिए ॥ ३१२ ॥ जिनागममें कोई वस्तु अकेली त्याज्य बतलायी है, कोई वस्तु किसीके साथ मिल जानेसे त्याज्य हो जाती है। कोई सर्वदा त्याज्य होती है और कोई अमुक काल, अमुक देश और अमुक दशामें त्याज्य होती है ॥३१३॥ जिसके बीचमें छिद्र रहते हैं ऐसे कमलडण्डी वगैरह शाकोंको नहीं खाना चाहिए। और जो अनन्तकाय हैं, जैसे लता, सूरण आदि उन्हें भी नहीं खाना चाहिए ॥ ३१४ ॥ पुराने मूंग, उड़द, चना आदिको दलनेके बाद ही खाना चाहिए, बिना दले सारा मूंग, सारा उड़द वगैरह नहीं खाना चाहिए। और जितनी साबित फलियाँ हैं चाहे वे कच्ची हों या आगपर पकायी गयी हों, उन्हें नहीं खाना चाहिए। उन्हें खोलकर शोधनेके बाद ही खाना चाहिए ॥ ३१५ ॥ जहाँ बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह है वहाँ अहिंसा कैसे रह सकती है ? तथा ठग और दुराचारी मनुष्यमें दया नहीं होती ॥ ३१६ ॥ जो मनुष्य स्वयं शोक करता है तथा दूसरोंके शोकका कारण बनता है, स्वयं सन्ताप करता है तथा दूसरोंके संतापका कारण बनता है, स्वयं रोता है तथा दूसरोंको रुलाता या कलपाता है, स्वयं दुःखी होता है और दूसरोंको दुःखी करता है, वह असातावेदनीय कर्मका बन्ध करता है ॥ ३१७ ॥ जिसके कषायके उदयसे अति संक्लिष्ट परिणाम होते हैं वह जीव चारित्रमोहनीय कर्मका बन्ध करता है ॥ ३१८ ॥

मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य भावनाका स्वरूप—सब जीवोंसे मैत्री भाव रखना चाहिए। जो गुणोंमें अधिक हों उनमें प्रमोद भाव रखना चाहिए। दुःखी जीवोंके प्रति करुणा भाव रखना चाहिए। और जो निर्गुण हों, असभ्य और उद्धत हों उनके प्रति माध्यस्थ्य भाव रखना चाहिए ॥ ३१९ ॥ 'अन्य सब जीवोंको दुःख न हो' मन, वचन और कायसे इस प्रकारका बर्ताव करनेको मैत्री कहते हैं ॥ ३२० ॥ तप आदि गुणोंसे विशिष्ट पुरुषको देखकर जो विनयपूर्ण हार्दिक प्रेम उमड़ता है उसे प्रमोद कहते हैं ॥ ३२१ ॥ दयालु पुरुषोंकी गरीबोंका उद्धार करनेकी भावनाको कारुण्य कहते हैं। और उद्धत तथा असभ्य पुरुषोंके प्रति राग और द्वेषके न होनेको माध्यस्थ्य कहते हैं ॥ ३२२ ॥ जो प्राणी गृहस्थ होकर भी इस प्रकारका प्रयत्न करता है, स्वर्ग तो

पुण्यं तेजोमयं प्राहुः प्राहुः पापं तमोमयम् । तत्पापं पुंसि किं तिष्ठेद्दयादीधितिमालिनि ॥३२४
सा क्रिया कापि नास्तीह यस्यां हिंसा न विद्यते । विशिष्येते परं भावावत्र मुख्यानुषङ्गिकौ ॥३२५
अघ्नन्नपि भवेत्पापी निघ्नन्नपि न पापभाक् । अभिध्यानविशेषेण यथा धीवरकर्षकौ ॥३२६
कस्यचित्सन्निविष्टस्य दारान्मातरमन्तरा । वपुःस्पर्शाविशेषेऽपि शेमुषी तु विशिष्यते ॥३२७

तदुक्तम्—

"परिणाममेव कारणमाहुः खलु पुण्यपापयोः कुशलाः ।
तस्मात्पुण्योपचयः पापापचयश्च सुविधेयः" ॥३२८

वपुषो वचसो वापि शुभाशुभसमाश्रया । क्रिया चित्तादचिन्त्येयं तदत्र प्रयतो भवेत् ॥३२९
क्रियान्यत्र क्रमेण स्यात्कियत्स्वेव च वस्तुषु । जगत्त्रयादपि स्फारा चित्ते तु क्षणतः क्रिया ॥३३०

तथा च लोकोक्तिः—

"एकस्मिन्मनसः कोणे पुंसामुत्साहशालिनाम् । अनायासेन संमान्ति भुवनानि चतुर्दश" ॥३३१
भूपयःपवनाग्नीनां तृणादीनां च हिंसनम् । यावत्प्रयोजनं स्वस्य तावत्कुर्यादजन्तु यत् ॥३३२

उसके हाथमें है और मोक्ष भी दूर नहीं है ॥ ३२३ ॥ पुण्यको प्रकाशमय कहते हैं और पापको अन्धकारमय कहते हैं। दयारूपी सूर्यके होते हुए क्या पुरुषमें पाप ठहर सकता है ? ॥ ३२४ ॥ ऐसी कोई क्रिया नहीं है जिसमें हिंसा नहीं होती। किन्तु हिंसा और अहिंसाके लिए गौण और मुख्य भावोंकी विशेषता है ३२५ ॥ संकल्पमें भेद होनेसे धीवर नहीं मारते हुए भी पापी है और किसान मारते हुए भी पापी नहीं है ॥ ३२६ ॥ एक आदमी पत्नीके समीप बैठा है और एक आदमी माताके समीप बैठा है। दोनों ही नारीके अंगका स्पर्श करते हैं किन्तु दोनोंकी भावनाओंमें बड़ा अन्तर है ॥ ३२७ ॥ कहा भी है—'कुशल मनुष्य परिणामोंको ही पुण्य और पापका कारण बतलाते हैं। अतः पुण्यका संचय करना चाहिए और पापकी हानि करनी चाहिए' ॥ ३२८ ॥ मनके निमित्तसे ही शरीर और वचनकी क्रिया भी शुभ और अशुभ होती है। मनकी शक्ति अचिन्त्य है। है। इसलिए मनको ही शुद्ध करनेका प्रयत्न करो ॥ ३२९ ॥ शरीर और वचनकी क्रिया तो क्रमसे होती हैं और कुछ ही वस्तुओंको अपना विषय बनाती हैं। किन्तु मनमें तो तीनों लोकोंसे भी बड़ी क्रिया क्षण-भरमें हो जाती है। अर्थात् मन एक क्षणमें तीनों लोकोंके बारेमें सोच सकता है ॥ ३३० ॥ इसी विषयमें एक कहावत भी है—'उत्साही मनुष्योंके मनके एक कोनेमें बिना किसी प्रयासके चौदह भुवन समा जाते हैं' ॥ ३३१ ॥ भावार्थ—पहले बतला आये हैं कि जो काम अच्छे भावोंसे किया जाता है उसे अच्छा कहते हैं और जो काम बुरे भावोंसे किया जाता है उसे बुरा कहते हैं। अतः वचनकी और कायकी क्रिया तभी अच्छी कही जायेगी जब उसके कर्ताके भाव अच्छे हों। अच्छे इरादेसे बच्चोंको पीटना भी अच्छा है और बुरे इरादेसे उन्हें मिठाई खिलाना भी अच्छा नहीं है। अतः मनकी खराबी वचनकी और कायकी क्रिया खराब कही जाती है और मनकी अच्छाई से अच्छी कही जाती है। इसीलिए मनकी शक्तिको अचिन्त्य बतलाया है। मन एक ही क्षणमें दुनिया-भर की बातें सोच जाता है किन्तु जो कुछ वह सोच जाता है उसे एक क्षणमें न कहा जा सकता है और न किया जा सकता है। अतः मनका सुधार करना चाहिए। पृथ्वी, जल, हवा, आग और तृण आदिकी हिंसा उतनी ही करनी चाहिए जितनेसे अपना प्रयोजन

ग्रामस्वामिस्वकार्येषु यथालोकं प्रवर्तताम् । गुणदोषविभागेऽत्र लोक एव यतो गुरुः ॥३३३
दर्पेण वा प्रमादाद्वा द्वीन्द्रियादिविराधने । प्रायश्चित्तविधिं कुर्याद्यथादोषं यथागमम् ॥३३४
प्राय इत्युच्यते लोकस्तस्य चित्तं मनो भवेत् । एतच्छुद्धिकरं कर्म प्रायश्चित्तं प्रचक्षते ॥३३५
द्वादशाङ्गधरोऽप्येको न कृच्छ्रं दातुमर्हति । तस्माद्बहुश्रुताः प्राज्ञाः प्रायश्चित्तप्रदाः स्मृताः ॥३३६
मनसा कर्मणा वाचा यद्दुष्कृतमुपार्जितम् । मनसा कर्मणा वाचा तत् तथैव विहापयेत् ॥३३७
आत्मदेशपरिस्पन्दो योगो योगविदां मतः । मनोवाक्कायतस्त्रेधा पुण्यपापास्रवाश्रयः ॥३३८
हिंसनाब्रह्मचौर्यादि काये कर्माशुभं विदुः । असत्यासभ्यपारुष्यप्रायं वचनगोचरम् ॥३३९
मदेर्ष्यासूयनादि स्यात्मनोव्यापारसंश्रयम् । एतद्विपर्ययाज्ज्ञेयं शुभमेतेषु तत्पुनः ॥३४०
हिरण्यपशुभूमीनां कन्याशय्यान्नवाससाम् । दानैर्बहुविधैश्चान्यैर्न पापमुपशाम्यति ॥३४१
लङ्घनौषधसाध्यानां व्याधीनां बाह्यको विधिः । यथाकिञ्चित्करो लोके तथा पापोऽपि मन्यताम् ॥३४२
निहत्य निखिलं पापं मनोवाग्देहदण्डनैः । करोतु सकलं कर्म दानपूजादिकं ततः ॥३४३

हो ॥ ३३२ ॥ नागरिक कार्योंमें, स्वामीके कार्योंमें और अपने कार्योंमें लोकरीतिके अनुसार ही प्रवृत्ति करनी चाहिए, क्योंकि इन कार्योंकी भलाई और बुराईमें लोक ही गुरु है। अर्थात् लौकिक कार्योंको लोकरीतिके अनुसार ही करना चाहिए ॥ ३३३ ॥

प्रायश्चित्तका विधान—मदसे अथवा प्रमादसे द्वीन्द्रिय आदि त्रस जीवोंका घात हो जाने पर दोषके अनुसार आगममें बतलायी गयी विधिपूर्वक प्रायश्चित्त करना चाहिए ॥ ३३४ ॥ 'प्रायः' शब्दका अर्थ (साधु) लोक है। उसके मनको चित्त कहते हैं। अतः साधु लोगोंके मनको शुद्ध करनेवाले कामको प्रायश्चित्त कहते हैं ॥ ३३५ ॥ द्वादशांगका पाठी होनेपर भी एक व्यक्ति प्रायश्चित्त देनेका अधिकारी नहीं है। अतः जो बहुश्रुत अनेक विद्वान् होते हैं वे ही प्रायश्चित्त देते हैं ॥ ३३६ ॥ मनके द्वारा, वचनके द्वारा अथवा कायके द्वारा जो पाप किया है उसे मनके द्वारा, वचन के द्वारा अथवा कायके द्वारा ही छुड़वाना चाहिए ॥ ३३७ ॥ योगके ज्ञाता पुरुष आत्माके प्रदेशोंके हलन-चलनको योग कहते हैं। वह योग मन, वचन और कायके भेदसे तीन प्रकारका होता है और उसीके निमित्तसे पुण्यकर्म और पापकर्मका आस्रव होता है ॥ ३३८ ॥ हिंसा करना, कुशील सेवन करना, चोरी करना आदि कायसम्बन्धी अशुभ कर्म जानना चाहिए। झूठ बोलना, असभ्य वचन बोलना और कठोर वचन बोलना आदि वचनसम्बन्धी अशुभ कर्म जानना चाहिए ॥ ३३९ ॥ घमण्ड करना, ईर्ष्या करना, दूसरोंकी निन्दा करना आदि मनोव्यापार सम्बन्धी अशुभ कर्म हैं। तथा इससे विपरीत करनेसे काय, वचन और मन सम्बन्धी शुभ कर्म जानना चाहिए। अर्थात् हिंसा न करना, चोरी न करना, ब्रह्मचर्य पालन करना आदि कायिक शुभ कर्म हैं। सत्य और हित मित वचन बोलना आदि वचन सम्बन्धी शुभ कर्म हैं। अर्हन्त आदि की भक्ति करना, तपमें रुचि होना, ज्ञान और ज्ञानियोंकी विनय करना आदि मानसिक शुभ कर्म हैं ॥ ३४० ॥ सोना, पशु, जमीन, कन्या, शय्या, अन्न, वस्त्र तथा अन्य अनेक वस्तुओंके दान देनेसे पाप शान्त नहीं होता ॥ ३४१ ॥ जो रोग उपवास करने और औषधीका सेवन करनेसे दूर होते हैं जैसे उनके लिए केवल बाह्य उपचार व्यर्थ होता है वैसे ही पापके विषयमें भी समझना चाहिए। अर्थात् मन वचन और कायको वशमें किये बिना केवल बाह्य वस्तुका त्याग कर देने मात्रसे पाप रूपी रोग शान्त नहीं होता ॥ ३४२ ॥ इसलिए पहले मन, वचन और कायको वशमें करके समस्त पापके कारणोंको

आप्रवृत्तेर्निवृत्तिर्मे सर्वस्येति कृतक्रियः। संस्मृत्य गुरुनामानि कुर्यान्निद्रादिकं विधिम् ॥३४४
दैवादायुर्विरामे स्यात्प्रत्याख्यानफलं महत्। भोगशून्यमतः कालं नावहेदव्रतं व्रती ॥३४५
एका जीवदयैकत्र परत्र सकलाः क्रियाः। परं फलं तु पूर्वत्र कृषेश्चिन्तामणेरिव ॥३४६
आयुष्मान्सुभगः श्रीमान्सुरूपः कीर्तिमान्नरः। अहिंसाव्रतमाहात्म्यादेकस्मादेव जायते ॥३४७
पञ्चकृत्वः किलैकस्य मत्स्यस्याहिंसनात्पुरा। अभूत्पञ्चापदोऽतीत्य धनकीर्तिः पतिः श्रियः ॥३४८
अदत्तस्य परस्वस्य ग्रहणं स्तेयमुच्यते। सर्वभोग्यात्तदन्यत्र भावात्तोयतृणादितः ॥३४९
ज्ञातीनामत्यये वित्तमदत्तमपि संमतम्। जीवतां तु निदेशेन व्रतक्षतिरतोऽन्यथा ॥३५०
संक्लेशाभिनिवेशेन प्रवृत्तिर्यत्र जायते। तत्सर्वं रायि विज्ञेयं स्तेयं स्वान्यजनाश्रये ॥३५१
रिक्थं निधिनिधानोत्थं न राज्ञोऽन्यस्य युज्यते। यत्स्वस्यास्वामिकस्येह दायादो मेदिनीपतिः ॥३५२
आत्मार्जितमपि द्रव्यं द्वापरान्यथा भवेत्। निजान्वयादतोऽन्यस्य व्रती स्वं परिवर्जयेत् ॥३५३
मन्दिरे पदिरे नीरे कान्तारे धरणीधरे। तन्नान्यदीयमादेयं स्वापतेयं व्रताश्रयैः ॥३५४
पौतवन्यूनताधिक्ये स्तेनकर्म ततो ग्रहः। विग्रहे संग्रहोऽर्थस्यास्तेयस्यैते निवर्तकाः ॥३५५

दूर करो। फिर दान-पूजा आदि सब काम करो ॥ ३४३ ॥ रात्रिको जब सोओ तो सन्ध्याकालका कृतिकर्म करके यह प्रतिज्ञा करो कि जबतक मैं गार्हस्थिक कार्योंमें फिरसे न लगूँ तब तकके लिए मेरे सबका त्याग है। और फिर पञ्च नमस्कार मंत्रका स्मरण करके निद्रा आदि लेवे ॥ ३४४ ॥ क्योंकि दैववश यदि आयु समाप्त हो जाये तो त्यागसे बड़ा लाभ होता है। इसलिए व्रतीको चाहिए कि जिस कालमें वह भोग न करता हो उस कालको बिना व्रत के न जाने दे। अर्थात् उतने समय-के लिए भोगका व्रत ले ले ॥ ३४५ ॥ अकेली जीवदया एक ओर है और बाकीकी सब क्रियाएँ दूसरी ओर हैं। अर्थात् अन्य सब क्रियाओंसे जीवदया श्रेष्ठ है। अन्य सब क्रियाओंका फल खेती की तरह है और जीवदयाका फल चिन्तामणि रत्नकी तरह है—जो चाहो सो मिलता है। अकेले एक अहिंसा व्रतके प्रतापसे ही मनुष्य चिरजीवी, सौभाग्यशाली, ऐश्वर्यवान्, सुन्दर और यशस्वी होता है ॥ ३४६-३४७ ॥ पूर्व जन्ममें पाँच बार एक मछलीको न मारनेसे धनकीर्ति पाँच बार आपत्तिसे बचकर लक्ष्मीका स्वामी बना ॥ ३४८ ॥

अचौर्याणुव्रत—पानी, घास आदि जो वस्तु सबके भोगनेके लिए हैं उनके सिवाय शेष सब बिना दी हुई परवस्तुओंको ले लेना चोरी है ॥३४९॥ यदि कोई ऐसे कुटुम्बी मर जायें जिनका उत्तरा-धिकार हमें प्राप्त है तो उनका धन बिना दिये हुए भी लिया जा सकता है। किन्तु यदि वह जीवित हों तो उनकी आज्ञासे ही उनका धन लिया जा सकता है। उनकी जीवित अवस्थामें ही उनसे पूछे बिना उनका धन ले लेनेसे अचौर्याणुव्रतकी क्षति होती है ॥ ३५० ॥ अपना धन हो या दूसरोंका हो, जिसमें चोरीके भावसे प्रवृत्ति की जाती है तो वह सब चोरी ही समझना चाहिए ॥ ३५१ ॥ रिक्थ (जिसका स्वामी मर गया है, ऐसा धन) निधि और निधानसे प्राप्त हुआ धन राजाका होता है किसी दूसरेका नहीं। क्योंकि जिस धनका कोई स्वामी नहीं है उसका स्वामी राजा होता है ॥ ३५२ ॥ अपने द्वारा उपार्जित द्रव्यमें भी यदि संशय हो जाये कि यह मेरा है या दूसरेका, तो वह द्रव्य ग्रहण करनेके अयोग्य है अतः व्रतीको अपने कुटुम्बके सिवाय दूसरोंका धन नहीं लेना चाहिए ॥ ३५३ ॥ किसी मकानमें, मार्गमें, पानीमें, जंगलमें या पहाड़में रखा हुआ दूसरोंका धन अचौर्याणुव्रतीको नहीं लेना चाहिए ॥ ३५४ ॥ बाँट तराजूका कमती-बढ़ती रखना,

रत्नरत्नाङ्गरत्नस्त्रीरत्नाम्बरविभूतयः । भवन्त्यचिन्तितास्तेषामस्तेयं येषु निर्मलम् ॥३५६
परप्रमोषतोषेण तृष्णाकृष्णधियां नृणाम् । अत्रैव दोषसंभूतिः परत्रैव च दुर्गतिः ॥३५७
श्रीभूतिः स्तेयदोषेण पत्युः प्राप्य पराभवम् । रोहिदश्वप्रवेशेन दंशेरः सन्नधोगतः ॥३५८
अत्युक्तिमन्यदोषोक्तिमसभ्योक्तिं च वर्जयेत् । भाषेत वचनं नित्यमभिजातं हितं मितम् ॥३५९
तत्सत्यमपि नो वाच्यं यत्स्यात्परविपत्तये । जायन्ते येन वा स्वस्य व्यापदश्च दुरास्पदाः ॥३६०
प्रियशीलः प्रियाचारः प्रियकारी प्रियंवदः । स्यादानृशंसधीर्नित्यं नित्यं परहिते रतः ॥३६१
केवलिश्रुतसङ्घेषु देवधर्मतपःसु च । अवर्णवादवाञ्जन्तुर्भवेद्दर्शनमोहवान् ॥३६२
मोक्षमार्गं स्वयं जानन्नर्थिने यो न भाषते । मदापह्नवमात्सर्यैः स स्यादावरणद्वयी ॥३६३
मन्त्रभेदः परीवादः पैशून्यं कूटलेखनम् । मुधासाक्षिपदोक्तिश्च सत्यस्य ते विघातकाः ॥३६४
परस्त्रीराजविद्विष्टलोकविद्विष्टसंश्रयाम् । अनायकसमारम्भां न कथां कथयेद्बुधः ॥३६५
असत्यं सत्यगं किंचित्किंचित्सत्यमसत्यगम् । सत्यसत्यं पुनः किंचिदसत्यासत्यमेव च ॥३६६

चोरीका उपाय बतलाना, चोरीका माल खरीदना, देशमें युद्ध छिड़ जानेपर पदार्थोंका संग्रह कर रखना ये सब अचौर्याणुव्रतके दोष हैं ॥ ३५५ ॥ जो निर्दोष अचौर्याणुव्रतको पालते हैं उनको रत्न, सोना, उत्तम स्त्री, उत्तम वस्त्र आदि विभूतियाँ स्वयं प्राप्त होती हैं, उसके लिए उन्हें चिन्ता नहीं करनी पड़ती ॥ ३५६ ॥ जो मनुष्य दूसरोंकी वस्तुओंको चुराकर प्रसन्न होते हैं, तृष्णासे कलुषित बुद्धिवाले उन मनुष्योंमें इसी जन्ममें अनेक बुराइयाँ पैदा हो जाती हैं और दूसरे जन्ममें भी उनकी दुर्गति होती है ॥ ३५७ ॥ 'चोरीके दोषके कारण श्रीभूति राजाके द्वारा तिरस्कृत हुआ। और आगमें जलकर मर गया। फिर सर्पयोनिमें जन्म लेकर नरकगामी हुआ ॥ ३५८ ॥ [अब सत्य व्रतका वर्णन करते हैं—] किसी बातको बढ़ाकर नहीं कहना चाहिए, न दूसरेके दोषोंको ही कहना चाहिए और न असभ्य वचन ही बोलना चाहिए। किन्तु सदा हित-मित और सभ्य वचन ही बोलना चाहिए ॥ ३५९ ॥ किन्तु ऐसा सत्य भी नहीं बोलना, चाहिए, जिससे दूसरोंपर विपत्ति आती हो या अपने ऊपर दुर्निवार संकट आता हो ॥ ३६० ॥ मनुष्यको सदा प्रिय स्वभाववाला, प्रिय आचरणवाला, प्रिय करनेवाला, प्रिय बोलनेवाला, सदा दयालु और सदा दूसरोंके हितमें तत्पर होना चाहिए ॥ ३६१ ॥ जो जीव केवली, शास्त्र, संघ, देव, धर्म और तपमें मिथ्या दोष लगाता है, वह दर्शन मोहनीय कर्मका बन्ध करता है ॥ ३६२ ॥ जो मोक्षके मार्गको जानता हुआ भी, जो उसे जानने को इच्छुक है उसे भी नहीं बतलाता, वह अपने ज्ञानका घमण्ड करनेसे, ज्ञानको छिपानेसे तथा उसके सिवाय दूसरा कोई न जानने पावे, इस ईर्ष्या भावसे ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मका बन्ध करता है ॥ ३६३ ॥ संकेत आदि से दूसरेके मनकी बातको जानकर उसे दूसरोंपर प्रकट कर देना, दूसरेकी बदनामी फैलाना, चुगली खाना, जो बात दूसरेने नहीं कही या नहीं की, दूसरोंका दबाव पड़नेसे ऐसा उसने कहा या किया है इस प्रकारका झूठा लेख लिखना, और झूठी गवाही देना, ये सब काम सत्यव्रतके घातक हैं ॥ ३६४ ॥ समझदार मनुष्यको परायी स्त्रियोंकी कथा, राजविरुद्ध कथा, लोकविरुद्ध कथा और कपोलकल्पित व्यर्थ कथा नहीं कहनी चाहिए ॥ ३६५ ॥ वचन चार प्रकारका होता है। कोई वचन सत्यग असत्य होता है, कोई वचन असत्यग-सत्य होता है। कोई वचन सत्यग-सत्य होता है और कोई वचन असत्यग-

अस्येदमैदंपर्यम्—असत्यमपि किंचित्सत्यमेव, यथान्धांसि रन्धयति वयति वासांसीति। सत्यमप्यसत्यं किंचिद्यथार्धमासतमे दिवसे तवेदं देयमित्यास्थाय मासतमे संवत्सरतमे वा दिवसे ददातीति। सत्यसत्यं किंचिद्यद्वस्तु यद्देशकालाकारप्रमाणं प्रतिपन्नं तत्र तथैवाविसंवादः। असत्यासत्यं किंचित्स्वस्यासत्संगिरते कल्ये दास्यामीति।

तुरीयं वर्जयेन्नित्यं लोकयात्रा त्रये स्थिता। सा मिथ्यापि न गीर्मिथ्या या गुर्वादिप्रसादिनी ॥३६७
न स्तूयादात्मनात्मानं न परं परिवादयेत्। न सतोऽन्यगुणान् हिंस्यान्नासतः स्वस्य वर्णयेत् ॥३६८
तथा कुर्वन्प्रजायेत नीचैर्गोत्रोचितः पुमान्। उच्चैर्गोत्रमवाप्नोति विपरीतकृतेः कृती ॥३६९
यत्परस्य प्रियं कुर्यादात्मनस्तत्प्रियं हि तत्। अतः किमिति लोकोऽयं परःप्रियपरायणः ॥३७०
यथा यथा परेष्वेतच्चेतो वितनुते तमः। तथा तथात्मनाडीषु तमोधारा निविश्चति ॥३७१
दोषतोयैर्गुणग्रीष्मैः संगन्तॄणि शरीरिणाम्। भवन्ति चित्तवासांसि गुरूणि च लघूनि च ॥३७२
सत्यवाक्सत्यसामर्थ्याद्वचःसिद्धिं समश्नुते। वाणी चास्य भवेन्मान्या यत्र यत्रोपजायते ॥३७३

असत्य होता है ॥ ३६६ ॥ इसका यह अभिप्राय है कि कोई वचन असत्य होते हुए भी सत्य होता है, जैसे—'भात पकाता है, या कपड़ा बुनता है'। ये वचन यद्यपि असत्य हैं क्योंकि न भात पकाया जाता है और कपड़ा बुना जाता है किन्तु पके हुए को भात कहते हैं, और बुन जानेपर कपड़ा कहलाता है, फिर भी लोकव्यवहारमें ऐसा ही कहा जाता है इसलिए इस तरहके वचनोंको सत्य मानते हैं। इसी तरह कोई वचन सत्य होते हुए भी असत्य होता है। जैसे-किसीने वादा किया कि पन्द्रह दिनमें मैं तुम्हें अमुक वस्तु दे दूँगा। किन्तु पन्द्रवें दिन न देकर वह एक मासमें या एक वर्षमें देता है। यहाँ चूँकि उसने वस्तु दे दी इसलिए उसका कहना सत्य है किन्तु समयपर नहीं दी इसलिए सत्य होते हुई भी असत्य है। जो वस्तु जिस देशमें, जिस कालमें, जिस आकारमें और जिस प्रमाणमें जानी है उसको उसी रूपमें कहना सत्य-सत्य है। जो वस्तु अपने पास नहीं है उसके लिए ऐसा वचन देना कि मैं तुम्हें कल दूँगा असत्य-असत्य वचन है। इनमेंसे चौथे असत्य असत्य वचनको कभी नहीं बोलना चाहिए। क्योंकि लोकव्यवहार शेष तीन प्रकारके वचनोंपर ही स्थित है। जो वचन गुरुजनोंको प्रसन्न करनेवाला है, वह मिथ्या होते हुए भी मिथ्या नहीं है ॥ ३६७ ॥ न स्वयं अपनी प्रशंसा करनी चाहिए और न दूसरोंकी निन्दा करनी चाहिए। दूसरोंमें यदि गुण हैं तो उनका लोप नहीं करना चाहिए और अपनेमें यदि गुण नहीं हैं तो उनका वर्णन नहीं करना चाहिए कि मेरेमें ये गुण हैं ॥ ३६८ ॥ ऐसा करनेसे मनुष्य नीच गोत्रका बन्ध करता है, और उससे विपरीत करनेसे अर्थात् अपनी निन्दा और दूसरोंकी प्रशंसा करनेसे तथा दूसरोंमें गुण न होनेपर भी उनका वर्णन करनेसे और अपनेमें गुण होते हुए भी उनका कथन न करनेसे उच्चगोत्रका बन्ध करता है ॥ ३६९ ॥ जो दूसरोंका हित करता है वह अपना ही हित करता है फिर भी न जाने क्यों यह संसार दूसरोंका अहित करनेमें ही तत्पर रहता है ॥३७०॥ जैसे-जैसे यह चित्त दूसरोंके विषयमें अन्धकार फैलाता है वैसे-वैसे अपनी नाड़ियोंमें अन्धकारकी धाराको प्रवाहित करता है। अर्थात् दूसरोंका बुरा सोचनेसे अपना ही बुरा होता है ॥ ३७१ ॥ प्राणियोंके चित्तरूपी वस्त्र यदि दोषरूपी जलमें डाले जाते हैं तो भारी हो जाते हैं और यदि गुणरूपी ग्रीष्म ऋतुमें फैलाये जाते हैं तो हल्के हो जाते हैं ॥ ३७२ ॥ सत्यवादीको सदा सच बोलनेके कारण

तर्षेर्ष्यामर्षहर्षाद्यैर्मृषाभाषामनीषितः । जिह्वाच्छेदमवाप्नोति परत्र च गतिक्षतिम् ॥३७४
अल्पैरपि समर्थैः स्यात्सहायैर्विजयी नृपः । कार्यायान्तो हि कुन्तस्य दण्डस्त्वस्य परिच्छदः ॥३७५
न व्रतमस्थिग्रहणं शाकपयोमूलभैक्षचर्या वा । व्रतमेतदुन्नतधियामङ्गीकृतवस्तुनिर्वहणम् ॥३७६
अस्थाने बद्धकक्षाणां नराणां सुलभं द्वयम् । परत्र दुर्गतिर्दीर्घा दुष्कीर्तिश्चात्र शाश्वती ॥३७७
मृषोद्यादीनवोद्योगात्पर्वतेन समं वसुः । जगाम जगतीमूलं ज्वलदातङ्कपावकम् ॥३७८
वधूवित्तस्त्रियौ मुक्त्वा सर्वत्रान्यत्र तज्जने । माता स्वसा तनूजेति मतिर्ब्रह्म गृहाश्रमे ॥३७९
धर्मभूमौ स्वभावेन मनुष्यो नियतस्मरः । यज्जात्यैव पराजातिबन्धुलिङ्गिस्त्रियस्त्यजेत् ॥३८०
रक्ष्यमाणे हि वृंहन्ति यत्राहिंसादयो गुणाः । उदाहरन्ति तद्ब्रह्म ब्रह्मविद्याविशारदाः ॥३८१
मदनोद्दीपनैर्वृत्तैर्मदनोद्दीपनै रसैः । मदनोद्दीपनैः शास्त्रैर्मदमात्मनि नाचरेत् ॥३८२
हव्यैरिव हुतप्रीतिः पाथोभिरिव नीरधिः । तोषमेति पुमानेष न भोगैर्भवसंभवैः ॥३८३
विषवद्विषयाः पुंसामापाते मधुरागमाः । अन्ते विपत्तिफलदास्तत्सतामिह को ग्रहः ॥३८४

वचनकी सिद्धि प्राप्त होती है। जहाँ-जहाँ वह जो कुछ कहता है उसकी वाणीका आदर होता है ॥ ३७३ ॥ इसके विपरीत जो तृष्णा, ईर्ष्या, क्रोध या हर्ष वगैरह के वशीभूत होकर झूठ बोलता है उसकी जिह्वा कटवा दी जाती है और परलोकमें भी उसकी दुर्गति होती है ॥ ३७४ ॥ शक्तिशाली थोड़ेसे भी सहायकोंके द्वारा राजा विजयी होता है। जैसे भालेकी नोक ही अपना काम करती है, उसमें लगा डंडा तो उसका सहायक मात्र है ॥ ३७५ ॥ हड्डीका धारण करना, शाक, पानी, कन्द-मूलका लेना अथवा भिक्षा भोजन करना ये सब व्रत नहीं हैं। किन्तु स्वीकार की हुई वस्तुको निबाहना ही समझदार पुरुषोंका व्रत है ॥ ३७६ ॥ 'झूठी बातका दुराग्रह करनेवाले मनुष्योंके लिए दो चीज सुलभ हैं—परलोकमें दीर्घकाल तक दुर्गति और इस लोकमें स्थायी अपयश'। ॥ ३७७ ॥ इसके विषयमें एक श्लोक है—'झूठ बोलनेके दोषके कारण पर्वतके साथ वसु भी सातवें नरकको गया, जहाँ सदा संतापरूपी अग्नि जलती रहती है ॥ ३७८ ॥ अब ब्रह्मचर्याणुव्रतका वर्णन करते हैं— अपनी विवाहिता स्त्री और वित्त स्त्री के सिवाय अन्य सब स्त्रियोंको अपनी माता, बहिन और पुत्री मानना ब्रह्मचर्याणुव्रत है ॥ ३७९ ॥ विशेषार्थ—सब श्रावकाचारोंमें विवाहिताके सिवाय स्त्री मात्रके त्यागीको ब्रह्मचर्याणुव्रती बतलाया है। परनारी और वेश्या ये दोनों ही त्याज्य हैं। किन्तु पं० सोमदेवजीने अणुव्रतीके लिए वेश्याकी भी छूट दे दी है। न जाने यह छूट किस आधारसे दी गई है? धर्मभूमि आर्यखण्डमें स्वभावसे ही मनुष्य कम कामी होते हैं। अतः अपनी जातिकी विवाहित स्त्रीसे ही सम्बन्ध करना चाहिए और अन्य जातियोंकी तथा बन्धु-बान्धवोंकी स्त्रियोंसे और व्रती स्त्रियोंसे सम्बन्ध नहीं करना चाहिए ॥ ३८० ॥ जिसकी रक्षा करने पर अहिंसा आदि गुणोंमें वृद्धि होती है उसे ब्रह्मविद्यामें निष्णात विद्वान् ब्रह्म कहते हैं ॥ ३८१ ॥ अतः कामोद्दीपन करनेवाले कार्योंसे, कामद्दीपन करनेवाले रसोंके सेवनसे और कामोद्दीपन करनेवाले शास्त्रोंके श्रवण या पठनसे अपनेमें कामका मद नहीं लाना चाहिए ॥ ३८२ ॥ जैसे हवनकी सामग्रीसे अग्नि और जलसे समुद्र कभी तृप्त नहीं होते। वैसे ही यह पुरुष सांसारिक भोगोंसे कभी तृप्त नहीं होता ॥ ३८३ ॥ ये विषय विषके तुल्य हैं। जब आते हैं तो प्रिय लगते हैं किन्तु अन्तमें विपत्तिको ही लाते हैं। अतः सज्जनका इन विषयोंमें आग्रह कैसे हो सकता है।॥३८४॥

बहिस्तास्ताः क्रियाः कुर्वन्नरः संकल्पजन्मवान्। भावाभावेव निर्वाति क्लेशस्तत्राधिकः परम् ॥३८५
निकामं कामकामात्मा तृतीया प्रकृतिर्भवेत्। अनन्तवीर्यपर्यायस्तस्यानारतसेवने ॥३८६
सर्वा क्रियानुलोमा स्यात्फलाय हितकामिनाम्। अपरत्रार्थकामाभ्यां यत्तौ न स्तां तदर्थिषु ॥३८७
क्षयामयसमः कामः सर्वदोषोदयद्युतिः। उत्सूत्रे तत्र मर्त्यानां कुतः श्रेयः समागमः ॥३८८
देहद्रविणसंस्कारसमुपार्जनवृत्तयः। जितकामे वृथा सर्वास्तत्कामः सर्वदोषभाक् ॥३८९
स्वाध्यायध्यानधर्माद्याः क्रियास्तावन्नरे कुतः। इद्धे चित्तेन्धने यावदेष कामाशुशुक्षणिः ॥३९०
ऐदम्पर्यमतो मुक्त्वा भोगानाहारवद्भजेत्। देहदाहोपशान्त्यर्थमभिध्यानविहानये ॥३९१
परस्त्रीसंगमानङ्गक्रीडान्योपयमक्रियाः। तीव्रतारतिकैतव्य हन्युरेतानि तद् व्रतम् ॥३९२
मद्यं द्यूतमुपद्रव्यं तौर्यत्रिकमलंक्रियाः। मदो विटा वृथाटचेति दशधानङ्गजो गणः ॥३९३
हिंसनं साहसं द्रोहः पौरो भाग्यार्थदूषणे। ईर्ष्या वाग्दण्डपारुष्यकोपजः स्याद् गणोऽष्टधा ॥३९४
ऐश्वर्यौदार्यशौण्डीर्यधैर्यसौन्दर्यवीर्यताः। लभेताद्भुतसञ्चाराश्चतुर्थव्रतपूतधीः ॥३९५
अनङ्गानलसंलीढे परस्त्रीरतिचेतसि। सद्यस्का विपदो ह्यत्र परत्र च दुरास्पदाः ॥३९६

नाना प्रकार की बाह्य क्रियाओंको करता हुआ कामी मनुष्य रति सुखके मिलने पर ही सुखी होता है। किन्तु इसमें क्लेश ही अधिक होता है सुख तो नाम मात्र है ॥ ३८५ ॥ जो अत्यन्त कामासक्त होता है वह निरन्तर कामका सेवन करनेसे नपुंसक हो जाता है और जो निरन्तर ब्रह्मचर्यका पालन करता है वह अनन्त वीर्यका धारी होता है ॥ ३८६ ॥ जो अपना हित चाहते हैं उनकी सब अनुलोभ क्रियाएँ फलदायक होती हैं। किन्तु अर्थ और कामको छोड़कर। क्योंकि जो अर्थ और कामकी अभिलाषा करते हैं उन्हें अर्थ और कामकी प्राप्ति नहीं होती, अतः उन्हें अर्थ और कामकी प्राप्ति होने पर भी सदा असन्तोष ही रहता है ॥ ३८७ ॥ काम क्षय रोगके समान सब दोषों को उत्पन्न करता है। उसका आधिक्य होने पर मनुष्योंका कल्याण कैसे हो सकता है? ॥ ३८८ ॥ जिसने कामको जीत लिया उसका देहका संस्कार करना, धन कमाना आदि सभी व्यापार व्यर्थ हैं; क्योंकि काम ही इन सब दोषोंकी जड़ है ॥ ३८९ ॥ जबतक चित्तरूपी ईंधनमें यह कामरूपी आग धधकती है तबतक मनुष्य स्वाध्याय, ध्यान, धर्माचरण आदि क्रिया कैसे कर सकता है? ॥ ३९० ॥ अतः कामुकताको छोड़कर शारीरिक सन्तापकी शान्तिके लिए और विषयों-की चाहको कम करनेके लिए आहारके समान भोगोंका सेवन करना चाहिए ॥ ३९१ ॥ परायी स्त्रीके साथ संगम करना, काम सेवनके अंगोंसे भिन्न अंगोंमें कामक्रीड़ा करना, दूसरोंके लड़की-लड़कोंका विवाह कराना, कामभोगकी तीव्र लालसाका होना और विटत्व, ये बातें ब्रह्मचर्यव्रतको घातनेवाली हैं ॥ ३९२ ॥ शराब, जुआ, मांस, मधु, नाच, गाना और वादन, लिंगपर लेप वगैरह लगाना, शरीरको-सजाना, मस्ती, लुच्चापन और व्यर्थ भ्रमण, ये दस कामके अनुचर हैं ॥ ३९३ ॥ हिंसा, साहस, मित्रादिके साथ द्रोह, दूसरोंके दोष देखनेका स्वभाव, अर्थदोष अर्थात् न ग्रहण करने योग्य धनका ग्रहण करना, और देयधनको न देना, ईर्ष्या, कठोर वचन बोलना और कठोर दण्ड देना ये आठ क्रोधके अनुचर हैं ॥ ३९४ ॥ ब्रह्मचर्याणुव्रती अद्भुत ऐश्वर्य, अद्भुत उदारता, अद्भुत शूर-वीरता, अद्भुत धीरता, अद्भुत सौन्दर्य और अद्भुत शक्तिको प्राप्त करता है ॥ ३९५ ॥ जिसका कामरूपी अग्निसे वेष्टित चित्त पर-नारीसे रति करनेमें आसक्त है उसे इसी जन्ममें तत्काल विपत्तियां उठानी पड़ती हैं और परलोकमें भी कठोर विपत्तियोंका सामना करना पड़ता है ॥३९६॥

मन्मथोन्माथितस्वान्तःपरस्त्रीरतिजातधीः । कडारपिङ्गः संकल्पान्निपपात रसातले ॥३९७
ममेदमिति संकल्पो वाह्याभ्यन्तरवस्तुषु । परिग्रहो मतस्तत्र कुर्याच्चेतोनिकुञ्चनम् ॥३९८
क्षेत्रं धान्यं धनं वास्तु कुप्यं शयनमासनम् । द्विपदाः पशवो भाण्डं वाह्या दश परिग्रहाः ॥३९९
समिथ्यात्वास्त्रयो वेदा हास्यप्रभृतयोऽपि षट् । चत्वारश्च कषायाः स्युरन्तर्ग्रन्थाश्चतुर्दश ॥४००
अथवा—चेतनाचेतनासङ्गाद्द्विधा वाह्यपरिग्रहः । अन्तः स एक एव स्याद्भवहेत्वाशयाश्रयः ॥४०१
धनायाविद्धबुद्धीनामधनाः स्युर्मनोरथाः । न ह्यनर्थक्रियारम्भा धीस्तदर्थिषु कामधुक् ॥४०२
सहसंभूतिरप्येष देहो यत्र न शाश्वतः । द्रव्यदारकदारेषु तत्र काऽऽस्था महात्मनाम् ॥४०३
स श्रीमानपि निःश्रीकः स नरश्च नराधमः । यो न धर्माय भोगाय विनयेत धनागमम् ॥४०४
प्राप्तेऽर्थे ये न माद्यन्ति नाप्राप्ते स्पृहयालवः । लोकद्वयश्रितां श्रीणां त एव परमेश्वराः ॥४०५
चित्तस्य वित्तचिन्तायां न फलं परमेनसः । अस्थाने क्लिश्यमानस्य न हि क्लेशात्परं फलम् ॥४०६
अन्तर्वहिर्गते सङ्गे निःसङ्गं यस्य मानसम् । सोऽगण्यपुण्यसंपन्नः सर्वत्र सुखमश्नुते ॥४०७
वाह्यसङ्गरते पुंसि कुतश्चित्तविशुद्धता । सतुषे हि वहिर्धान्ये दुर्लभान्तर्विशुद्धता ॥४०८
सत्पात्रविनियोगेन योऽर्थसंग्रहतत्परः । लुब्धेषु स परं लुब्धः सहामुत्र धनं नयन् ॥४०९

कामसे पीड़ित और परस्त्री संभोगके लिए उत्सुक कडार-पिङ्ग परस्त्रीगमनके संकल्पसे नरकमें गया। ॥ ३९७ ॥ इसकी कथा मूल ग्रन्थसे अथवा प्रथमानुयोगसे जानना चाहिए।

[अव परिग्रह परिमाण व्रतको कहते हैं—] वाह्य और आभ्यन्तर वस्तुओंमें 'यह मेरी है' इस प्रकारके संकल्पको परिग्रह कहते हैं। उसके विषयमें चित्तवृत्तिको संकुचित करना चाहिए अर्थात् संकल्पको घटाकर परिग्रहका परिमाण करना चाहिए॥ ३९८ ॥ खेत, अनाज, धन, मकान, ताँबा-पीतल आदि धातु, शय्या, आसन, दास-दासी, पशु और भाजन ये दस बाह्य परिग्रह हैं॥ ३९९ ॥ मिथ्यात्व, पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद, हास्य, शोक, रति, अरति, भय, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया और लोभ ये चौदह अन्तरङ्ग परिग्रह हैं॥ ४०० ॥ अथवा—चेतन और अचेतनके भेदसे बाह्य परिग्रह दो प्रकारका है, और संसारके कारणभूत कर्माशयकी अपेक्षा अन्तरङ्ग परिग्रह एक ही प्रकारका है ॥ ४०१ ॥ जो धनकी वाञ्छा करते रहते हैं उनके मनोरथ सफल नहीं होते; क्योंकि वाञ्छा करने मात्रसे इच्छित वस्तुकी प्राप्ति नहीं होती ॥ ४०२ ॥ जहाँ साथ पैदा होनेवाला शरीर भी स्थायी नहीं है वहाँ शरीरसे भिन्न धन, स्त्री और पुत्रमें महात्माओंकी आस्था कैसे हो सकती है ? ॥ ४०३ ॥ वह मनुष्य धनी होकर भी गरीब है तथा मनुष्य होकर भी मनुष्योंमें नीच है जो धनको न धर्ममें लगाता है और न भोगता है ॥४०४॥ जो धनको पाकर मद नहीं करते और धनके न मिलनेपर उसकी इच्छा नहीं करते, वे ही इस लोक और परलोकमें लक्ष्मीके स्वामी होते हैं ॥ ४०५ ॥ मनमें धनकी चिन्ता करनेका फल पापके सिवाय और कुछ नहीं है। ठीक ही है अस्थानमें क्लेश करनेसे क्लेशके अतिरिक्त और क्या फल हो सकता है ॥ ४०६ ॥ अन्तरङ्ग और बाह्य परिग्रहमें जिसका मन अनासक्त है वह महान् पुण्यशाली सर्वत्र सुख भोगता है ॥ ४०७ ॥ जो पुरुष बाह्य परिग्रहमें आसक्त है उसका मन कैसे विशुद्ध हो सकता है ? ठीक ही है, जो धान्य तुष—छिलके सहित है उसके भीतरी भागका स्वच्छ पाया जाना दुर्लभ है॥ ४०८ ॥ भावार्थ—जव धानको कूटकर उसका छिलका अलग कर दिया जाता है तभी साफ चावल निकलता है। छिलकेके रहते हुए उसके अन्दरका चावल भी लाल ही रहता है। वैसे ही बाह्य परिग्रहमें आसक्त रहते हुए मनुष्यका मन स्वच्छ नहीं होता। जो सत्पात्रको दान देकर धन-

कृतप्रमाणाल्लोभेन धनादधिकसंग्रहः । पञ्चमाणुव्रतज्यानिं करोति गृहमेधिनाम् ॥४१०
यस्य द्वन्द्वद्वयेऽप्यस्मिन्निःस्पृहं देहिनो मनः । स्वर्गापवर्गलक्ष्मीणां क्षणात्पक्षे स दक्षते ॥४११
अत्यर्थमर्थकाङ्क्षायामवश्यं जायते नृणाम् । अघसंघचितं चेतः संसारावर्तवर्तगम् ॥४१२
षष्ठ्याः क्षितेस्तृतीयेऽस्मिल्लल्लके दुःखमल्लके । पेते पिण्याकगन्धेन धनायाविद्धचेतसा ॥४१३
दिग्देशानर्थदण्डानां विरतिस्त्रितयाश्रयम् । गुणव्रतत्रयं सद्भिः सागारयतिषु स्मृतम् ॥४१४
दिक्षु सर्वास्वधःप्रोर्ध्वदेशेषु निखिलेषु च । एतस्यां दिशि देशेऽस्मिन्नयत्येवं गतिर्मम ॥४१५
दिग्देशनियमादेवं ततो बाह्येषु वस्तुषु । हिंसालोभोपभोगादिनिवृत्तेश्चित्तयन्त्रणा ॥४१६
रक्षन्निदं प्रयत्नेन गुणव्रतत्रयं गृही । आज्ञैश्वर्यं लभेतैष यत्र यत्रोपजायते ॥४१७
आशादेशप्रमाणस्य गृहीतस्य व्यतिक्रमात् । देशव्रती प्रजायेत प्रायश्चित्तसमाश्रयः ॥४१८
शिखण्डिकुक्कुटश्येनबिडालव्यालबभ्रवः । विषकण्टकशस्त्राग्निकशापाशकरज्जवः ॥४१९

का संग्रह करनेमें तत्पर है, वह उस धनको परलोकमें अपने साथ ले जाता है। अतः वह लोभियों-में परम लोभी है ॥ ४०९ ॥ भावार्थ—जो अपने धनको सत्पात्रोंके लिए खर्च करता है वह असीम पुण्यका बन्ध करता है और उस पुण्यको, जो धन-प्राप्तिका मूल कारण है, वह अपने साथ परलोक-में ले जाता है। उसके प्रभावसे उसे उस जन्ममें भी धनका लाभ होता है। अतः ऐसा आदमी ही सच्चा धनका लोभी है। किन्तु जो धनको ही समेटकर रखता है—न उसे भोगता है और न किसीको देता है वह तो उसे यहीं छोड़ जाता है। अतः सत्पात्रमें धनको खरचना ही उत्तम है। और पुण्यरूपी धन ही सच्चा धन है। जितने धनका प्रमाण किया है, लोभमें आकर उससे अधिक-का संचय करना गृहस्थोंके परिग्रह परिमाणव्रतको हानि पहुँचाता है। अर्थात् यह उस व्रतका अतिचार है ॥ ४१० ॥ जिस प्राणीका मन अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग परिग्रहमें निस्पृह है वह क्षण-भरमें स्वर्ग और मोक्षकी लक्ष्मीका स्वामी बन जाता है ॥ ४११ ॥ धनकी बहुत अधिक तृष्णा होनेपर मनुष्योंका मन पापके भारसे दबकर संसाररूपी भँवरके गड्ढेमें चला जाता है ॥ ४१२ ॥ 'धनका भूखा पिण्याक गंध मरकर छठे नरकके लल्लक नामके तीसरे पाथड़े में गया ॥ ४१३ ॥ इसकी कथा मूल ग्रन्थसे अथवा प्रथमानुयोगसे जानना चाहिए।

अब गुणव्रतोंका वर्णन करते हैं—महापुरुषोंने दिग्विरति देशविरति और अनर्थदण्ड-विरतिके भेदसे गृहस्थ व्रतियोंके तीन गुणव्रत बतलाये हैं ॥ ४१४ ॥ "अमुक-अमुक दिशामें मैं अमुक-अमुक स्थान तक ही जाऊँगा" इस प्रकार जन्म पर्यन्तके लिए जो सब दिशाओंमें और ऊपर तथा नीचे जानेकी मर्यादाकी जाती है उसे दिग्विरतिव्रत कहते हैं। और दिग्विरतिके भीतर कुछ समयके लिए जो मर्यादा की जाती है कि मैं अमुक दिशामें अमुक देश तक ही जाऊँगा, उसे देशविरति व्रत कहते हैं ॥ ४१५ ॥ इस प्रकार दिशाओंका और देशका नियम कर लेनेसे उससे बाहरकी वस्तुओंमें लोभ, उपभोग और हिंसा आदिके भाव नहीं होते हैं और उसके न होनेसे चित्त संयत होता है ॥ ४१६ ॥ जो गृहस्थ प्रयत्न करके इन तीन गुणव्रतोंका पालन करता है वह जहाँ-जहाँ जन्म लेता है वहीं-वहीं उसे ऐश्वर्य और हुकूमत मिलती है ॥ ४१७ ॥ दिशा और देशके किये हुए प्रमाणका उल्लंघन करनेसे अर्थात् उससे बाहर चले जानेसे दिग्व्रती और देशव्रती प्रायश्चित्तका भागी होता है ॥ ४१८ ॥ [अब तीसरे अनर्थदण्डविरति व्रतको कहते हैं—] मोर, मुर्गा, बाज,

पापाख्यानाशुभाध्यानहिंसाक्रीडावृथाक्रियाः परोपतापपैशून्यशोकाक्रन्दनकारिता ॥४२०
वधवन्धनसंरोधहेतवोऽन्येऽपि चेदृशाः । भवन्त्यनर्थदण्डाख्याः संपरायप्रवर्धनात् ॥४२१
पोषणं क्रूरसत्त्वानां हिंसोपकरणक्रियाम् । देशव्रती न कुर्वीत स्वकीयाचारचारुधीः ॥४२२
अनर्थदण्डनिर्मोक्षादवश्यं देशतो यतिः । सुहृत्तां सर्वभूतेषु स्वामित्वं च प्रपद्यते ॥४२३
वञ्चनारम्भहिंसानामुपदेशात्प्रवर्तनम् । भाराधिक्याधिकक्लेशौ तृतीयगुणहानये ॥४२४

इति श्रीसोमदेवसूरिविरचित उपासकाध्ययने सच्चरित्रचिन्तामणिनाम सप्तम आश्वासः ।

अष्टम आश्वासः

आदौ सामायिकं कर्म प्रोषधोपासनक्रिया । सेव्यार्थनियमो दानं शिक्षाव्रतचतुष्टयम् ॥४२५
आप्तसेवोपदेशः स्यात्समयः समयार्थिनाम् । नियुक्तं तत्र यत्कर्म तत्सामायिकमूचिरे ॥४२६
आप्तस्यासन्निधानेऽपि पुण्यायाकृतिपूजनम् । तार्क्ष्यमुद्रा न किं कुर्याद्विषसामर्थ्यसूदनम् ॥४२७
अन्तःशुद्धिं बहिःशुद्धिं विदध्याद्देवतार्चने । आद्या दौश्चित्यनिर्मोक्षादन्या स्नानाद्यथाविधिः ॥४२८

बिलाव, साँप, नेवला, आदि हिंसक जन्तुओंका पालना, विष, काँटा, शस्त्र, आग, कोड़ा, जाल, रस्सा आदि हिंसाके साधन दूसरोंको देना, पापका उपदेश देना, आर्त और रौद्र ध्यानका करना, हिंसामयी खेल खेलना, व्यर्थ इधर-उधर भटकना, दूसरोंको कष्ट पहुँचाना, चुगली करना, रंज करना, रोना, अन्य भी इस प्रकारके कार्य जो दूसरोंके घातमें बाँधनेमें और रोक रखनेमें कारण हैं उन्हें अनर्थदण्ड कहते हैं; क्योंकि उनसे संसारकी वृद्धि होती है—बहुत समय तक संसारमें भटकना पड़ता है ॥ ४१९-४२१ ॥ अपने आचारका पालन करनेमें दक्ष देशव्रती श्रावकको हिंसक प्राणियोंका पोषण तथा हिंसाके उपकरणोंका दान नहीं करना चाहिए ॥ ४२२ ॥ ऊपर बतलाये हुए अनर्थदण्डोंको छोड़नेसे अणुव्रती श्रावक सब प्राणियोंका मित्र और स्वामी बन जाता है ॥ ४२३ ॥ उपदेशसे ठगी, आरम्भ, और हिंसाका प्रवर्तन करना, शक्तिसे अधिक बोझा लादना और दूसरोंको अधिक कष्ट देना आदि कर्म अनर्थदण्डव्रतको हानि पहुँचाते हैं, अर्थात् इस प्रकारके कामोंके करनेसे अनर्थदण्डव्रतमें दोष लगता है अतः ऐसे काम अणुव्रती श्रावकको नहीं करना चाहिए ॥ ४२४ ॥

इस प्रकार सोमदेव सूरि विरचित उपासकाध्ययनमें सच्चरित्रचिन्तामणि नामका सातवां आश्वास समाप्त हुआ ।

अष्टम आश्वास

[अब शिक्षाव्रतोंको कहते हैं —] सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोग-परिमाण और दान ये चार शिक्षाव्रत हैं ॥ ४२५ ॥ जिनेन्द्र भगवान्‌की पूजा करनेका जो उपदेश है उसे समय कहते हैं और उसमें उसके इच्छुकजनोंके जो-जो काम बतलाये गये हैं उन्हें सामायिक कहते हैं ॥ ४२६ ॥ जिनेन्द्र भगवान्के अभावमें उनकी प्रतिमाका पूजन करनेसे भी पुण्यबन्ध होता है। क्या गरुड़-मुद्रा विषकी शक्तिको दूर नहीं करती ? ॥ ४२७ ॥ देवपूजन करनेके लिए अन्तरङ्गशुद्धि और बहिरङ्गशुद्धि करनी चाहिए। चित्तसे बुरे विचारोंको दूर करनेसे अन्तरङ्गशुद्धि होती

संभोगाय विशुद्धयर्थं स्नानं धर्माय च स्मृतम् । धर्माय तद्भवेत् स्नानं यत्रामुत्रोचितो विधिः ॥४२९
नित्यस्नानं गृहस्थस्य देवार्चनपरिग्रहे । यतेस्तु दुर्जनस्पर्शात्स्नानमन्यद्विगर्हितम् ॥४३०
वातातपादिसंसृष्टे भूरितोये जलाशये । अवगाह्याचरेत्स्नानमतोऽन्यद्गालितं भजेत् ॥४३१
पादजानुकटिग्रीवाशिरःपर्यन्तसंश्रयम् । स्नानं पञ्चविधं ज्ञेयं यथादोषं शरीरिणाम् ॥४३२
ब्रह्मचर्योपपन्नस्य निवृत्तारम्भकर्मणः । यद्वा तद्वा भवेत्स्नानमन्त्यमन्यस्य तद्द्वयम् ॥४३३
सर्वारम्भविजृम्भस्य ब्रह्मजिह्मस्य देहिनः । अविधाय बहिःशुद्धिं नाप्तोपास्त्यधिकारिता ॥४३४
अद्भिः शुद्धिं निराकुर्वन्मन्त्रमात्रपरायणः । स मन्त्रैः शुद्धिभाङ् नूनं भुक्त्वा हृत्वा विहृत्य च ॥४३५
मृत्स्नयेष्टकया वापि भस्मना गोमयेन च । शौचं तावत्प्रकुर्वीत यावन्निर्मलता भवेत् ॥४३६
बहिर्विहृत्य संप्राप्तो नानाचम्य गृहं विशेत् । स्थानान्तरात्समायातं सर्वं प्रोक्षितमाचरेत् ॥४३७
आप्लुतः सप्लुतस्वान्तः शुचिवासोविभूषितः । मौनसंयमसम्पन्नः कुर्याद्देवार्चनाविधिम् ॥४३८
दन्तधावनशुद्धास्यो मुखवासोचिताननः । असंजातान्यसंसर्गः सुधीर्देवानुपाचरेत् ॥४३९
होमभूतबली पूर्वैरुक्तौ भक्तविशुद्धये । भुक्त्यादौ सलिलं सर्पिरूधस्यं च रसायनम् ॥४४०
एतद्विधिर्न धर्माय नाधर्माय तदक्रियाः । दर्भपुष्पाक्षतश्रोत्रवन्दनादिविधानवत् ॥४४१

है और विधिपूर्वक स्नान करनेसे बहिरङ्गशुद्धि होती है ॥ ४२८ ॥ संभोगके लिए, विशुद्धिके लिए और धर्मके लिए स्नान करना बतलाया है। जिसमें परलोकके योग्य विधि की जाती है वह स्नान धर्मके लिए होता है ॥ ४२९ ॥ देवपूजा करनेके लिए गृहस्थको सदाको स्नान करना चाहिए। और मुनिको दुर्जनसे छू जानेपर ही करना चाहिए। अन्य स्नान मुनिके लिए वर्जित है॥ ४३० ॥ जिस जलाशयमें खूब पानी हो और वायु, धूप आदि जिसे खूब लगती हो उसमें घुस करके स्नान करना उचित है, किन्तु अन्य जलाशयोंका पानी छानकर ही स्नानके काममें लाना चाहिए ॥ ४३१ ॥ स्नान पाँच प्रकारका होता है—पैर तक, घुटनों तक, कमर तक, गर्दन तक और सिर तक। इनमें-से मनुष्योंको दोषके अनुसार स्नान करना चाहिए॥ ४३२ ॥ जो ब्रह्मचारी है और सब प्रकारके आरम्भोंसे विरत है वह इनमें-से कोई-सा भी स्नान कर सकता है किन्तु अन्य गृहस्थोंको तो सिर या गर्दनसे ही स्नान करना चाहिए ॥ ४३३ ॥ जो सब प्रकारके आरम्भोंमें लगा रहता है और ब्रह्मचारी भी नहीं है, उसे बाह्य शुद्धि किये बिना देवोपासना करनेका अधिकार नहीं है ॥ ४३४ ॥ जो जलसे शुद्धिका निराकरण करता हुआ केवल मन्त्रपाठमें ही तत्पर रहता है, उसे भोजन करके, टट्टी जाकर और विहार करके निश्चय ही मन्त्रोंके द्वारा शुद्ध हो जाना चाहिये ॥ ४३५ ॥ अतः मिट्टीसे ईंटसे अथवा राखसे या गोबरसे तबतक सफाई करनी चाहिए जबतक निर्मलता न आ जाये ॥ ४३६ ॥ जब बाहरसे घूमकर आये तो बिना कुल्ला किये घरमें नहीं जाना चाहिए। दूसरी जगहसे आयी हुई सब वस्तुओंको पानी छिड़ककर ही काममें लाना चाहिए ॥ ४३७ ॥ स्नान करके, शुद्ध वस्त्र पहने और चित्तको वशमें करके मौन तथा संयमपूर्वक जिनेन्द्र देवकी पूजा करे ॥४३८॥ दातौनसे मुख शुद्ध करे और मुखपर वस्त्र लगाकर दूसरोंसे किसी तरहका सम्पर्क न रखकर जिनेन्द्र देवकी पूजा करे ॥ ४३९ ॥ पूर्व पुरुषोंने भोजनकी शुद्धिके लिए भोजन करनेसे पहले होम और भूतबलिका विधान किया है। भोजन करनेसे पहले होम पूर्वक अर्थात् प्राणियोंके उद्देश्यसे कुछ अन्न अलग निकालकर रख देना चाहिए। तथा भोजनके पहले पानी, घी और दूधके सेवनको रसायन कहा है। कुश, पुष्प, अक्षत, स्तवन, वन्दना आदिके विधानकी तरह उक्त विधि करनेसे

द्वौ हि धर्मौ गृहस्थानां लौकिकः पारलौकिकः। लोकाश्रयो भवेदाद्यः परः स्यादागमाश्रयः ॥४४२
जातयोऽनादयः सर्वास्तत्क्रियापि तथाविधाः। श्रुतिः शास्त्रान्तरं वास्तु प्रमाणं कात्र नः क्षतिः ॥४४३
स्वजात्यैव विशुद्धानां वर्णानामिह रत्नवत्। तत्क्रियाविनियोगाय जैनागमविधिः परम् ॥४४४
यद्भवभ्रान्तिनिर्मुक्तिहेतुधीस्तत्र दुर्लभा। संसारव्यवहारे तु स्वतःसिद्धे वृथागमः ॥४४५
सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः। यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रतदूषणम् ॥४४६

द्वये देवसेवाधिकृताः संकल्पिताप्तपूज्यपरिग्रहाः कृतप्रतिमापरिग्रहाश्च। संकल्पोऽपि दलफलोपलादिष्विव न समयान्तरप्रतिमासु विधेयः। यतः—

शुद्धे वस्तुनि संकल्पः कन्याजन इवोचितः। नाकारान्तरसंक्रान्ते यथा परपरिग्रहे ॥४४७

तत्र प्रथमान् प्रति समयसमाचारविधिमभिधास्यामः। तथा हि—

अर्हन्नतनुर्मध्ये दक्षिणतो गणधरस्तथा पश्चात्। श्रुतगीः साधुस्तदनु च पुरोऽपि दृगवगमवृत्तानि ॥४४८

भूर्जे फलके सिचये शिलातले सैकते क्षितौ व्योम्नि।
हृदये चैते स्थाप्याः समयसमाचारवेदिभिर्नित्यम् ॥४४९

रत्नत्रयपुरस्काराः पञ्चापि परमेष्ठिनः। भव्यरत्नाकरानन्दं कुर्वन्तु भुवनेन्दवः ॥४५०

न कोई धर्म होता है और न करनेसे न कोई अधर्म होता है। अर्थात्—ऊपर भोजनको शुद्धिके लिए जो क्रिया बतलायी है उसके करनेसे धर्म नहीं होता और न करनेसे अधर्म नहीं होता है ॥ ४४०-४४१ ॥ गृहस्थोंका धर्म दो प्रकारका होता है—एक लौकिक और दूसरा पारलौकिक। इनमें-से लौकिक धर्म लोकको रीतिके अनुसार होता है और पारलौकिक धर्म आगमके अनुसार होता है ॥ ४४२ ॥ सब जातियाँ अनादि हैं और उनकी क्रिया भी अनादि है। उसमें वेद अथवा अन्य शास्त्र प्रमाण रहो, उससे हमारी कोई हानि नहीं है ॥ ४४३ ॥ रत्नकी तरह जो वर्ण अपने जन्मसे ही विशुद्ध होते हैं उन्हें उनकी क्रियाओंमें लगानेके लिए जैनआगमोंका विधान ही उत्कृष्ट है ॥ ४४४ ॥ क्योंकि संसार-भ्रमणसे छूटनेके कारणोंमें मनको लगानेवाले ज्ञानका पाना लोकमें अतिदुर्लभ है। रहा लौकिक व्यवहार, वह तो स्वयं सिद्ध है उसको बतलानेके लिए किसी आगमकी आवश्यकता नहीं है ॥ ४४५ ॥ तथा सभी जैनधर्मानुयायियोंको वह लौकिक व्यवहार मान्य है जिससे उनके सम्यक्त्वमें हानि न आती हो और न उनके व्रतोंमें दूषण लगता हो ॥४४६॥ देवपूजाके दो रूप हैं—एक तो पुष्प आदिमें जिन भगवान्‌की स्थापना करके पूजा की जाती है और दूसरे, जिन-बिम्बोंमें जिन भगवान्‌की स्थापना करके पूजा की जाती है। किन्तु जिस प्रकार पुष्प फल या पाषाणमें स्थापना की जाती है उस तरह अन्य देव हरिहरादिककी प्रतिमामें जिन भगवान्‌की स्थापना नहीं करना चाहिए; क्योंकि जैसे शुद्ध कन्यामें ही पत्नीका संकल्प किया जाता है दूसरेसे विवाहितामें नहीं, वैसे ही शुद्ध वस्तुमें ही जिनदेवकी स्थापना करना उचित है, जो अन्यरूप हो चुकी है उसमें स्थापना करना उचित नहीं है ॥ ४४७ ॥ ऊपर जो दो प्रकारके पूजक कहे हैं उनमेंसे पुष्पादिकमें जिन भगवान्‌की स्थापना करके पूजा करनेवालोंके लिए पूजाविधि बतलाते हैं—पूजाविधिके ज्ञाताओंको सदा अर्हन्त और सिद्धको मध्यमें, आचार्यको दक्षिणमें, उपाध्यायको पश्चिममें, साधुको उत्तरमें और पूर्वमें सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको क्रमसे भोजपत्रपर, लकड़ीके पटियेपर, वस्त्रपर, शिलातलपर, रेत निर्मित भूमिपर, पृथ्वीपर, आकाशमें और हृदयमें स्थापित करना चाहिए ॥ ४४८-४४९ ॥ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूपी

नरोरगसुराम्भोजविरोचनरुचिश्रियम् । आरोग्याय जिनाधीशं करोम्यर्चनगोचरम् ॥४५१
प्रत्नकर्मविनिर्मुक्तान्नूत्नकर्मविवर्जितान् । यत्नतः संस्तुवे सिद्धान् रत्नत्रयमहीयसः ॥४५२
विचार्य सर्वमैतिह्यमाचार्यत्वमुपेयुषः । आचार्यवर्यानर्चामि संचार्य हृदयाम्बुजे ॥४५३
अपास्तैकान्तवादीन्द्रानपारागमपारगान् । उपाध्यायानुपासेऽहमुपायाय श्रुताप्तये ॥४५४
बोधापगाप्रवाहेण विध्यातानङ्गवह्नयः । विध्याराध्याङ्घ्रयः सन्तु साध्यबोध्याय साधवः ॥४५५
मुक्तिलक्ष्मीलतामूलं युक्तिश्रीवल्लरीवनम् । भक्तितोऽर्हामि सम्यक्त्वं भुक्तिचिन्तामणिप्रदम् ॥४५६
नेत्रं हिताहितालोके सूत्रं धीसौधसाधने । पात्रं पूजाविधेः कुर्वे क्षेत्रं लक्ष्म्याः समागमे ॥४५७
धर्म योगिनरेन्द्रस्य कर्मवैरिजयार्जने । शर्मकृत्सर्वसत्त्वानां धर्मधीर्वृत्तमाश्रये ॥४५८
जिनसिद्धसूरिदेशकसाधुश्रद्धानबोधवृत्तानाम् । कृत्वाष्टतयीमिष्टिं विदधामि ततः स्तवं युक्त्या ॥४५९

तत्त्वेषु प्रणयः परोऽस्य मनसः श्रद्धानमुक्तं जिनै-
रेतद्द्वित्रिदशप्रभेदविषयं व्यक्तं चतुर्भिर्गुणैः ।
अष्टाङ्गं भुवनत्रयार्चितमिदं मूढैरपोढं त्रिभि-
श्चित्ते देव दधामि संसृतिलतोल्लासावसानोत्सवम् ॥४६०

रत्नत्रयसे भूषित और जगत्के लिए चन्द्रमाके तुल्य पाँचों परमेष्ठी भव्य जीवरूपी समुद्रको आनन्दित करें ॥ ४५० ॥ तथा मैं आरोग्य-प्राप्तिके लिए मनुष्य, नाग और देवरूपी कमलोंके लिए सूर्यकी शोभाको धारण करनेवाले जिनेन्द्र देवकी पूजा करता हूँ ॥ ४५१ ॥ पुराने कर्मोंके बन्धनसे मुक्त हुए और नवीन कर्मोंके आस्रवसे रहित तथा रत्नत्रयसे महान् उन सिद्धोंका मैं यत्नपूर्वक स्तवन करता हूँ ॥ ४५२ ॥ समस्त शास्त्रोंका विचार करके आचार्य पदको प्राप्त हुए श्रेष्ठ आचार्योंको अपने हृदय-कमलमें विराजमान करके पूजा करता हूँ ॥ ४५३ ॥ प्रमुख एकान्तवादियोंको हरानेवाले और अपार श्रुत-समुद्रके पारगामी उपाध्याय परमेष्ठीकी मैं पुण्य और श्रुतकी प्राप्तिके लिए उपासना करता हूँ ॥ ४५४ ॥ ज्ञानरूपी नदीके प्रवाहसे जिन्होंने कामरूपी अग्निको बुझा दिया है और जिनके चरण विधिपूर्वक पूजनीय हैं, वे साधु आत्माकी साधनाके लिए होंवे ॥ ४५५ ॥ जो मुक्ति लक्ष्मीरूपी लताका मूल है, युक्ति लक्ष्मीरूपी बेलके लिए जलके तुल्य है और जिससे भोग सामग्री प्राप्त होती है उस चिन्तामणिको देनेवाले सम्यग्दर्शनकी मैं भक्तिपूर्वक पूजा करता हूँ ॥ ४५६ ॥ जो हित और अहितको देखनेमें नेत्रके समान है, बुद्धिरूपी महलको साधनेमें सूत्रके (जिससे नापकर मकान बनाया जाता है) समान है तथा लक्ष्मीके समागमके लिए क्षेत्रके समान है, उस सम्यग्ज्ञानको मैं पूजाविधिका पात्र बनाता हूँ अर्थात् उसकी मैं पूजा करता हूँ ॥४५७॥ जो योगीरूपी राजाके कर्मरूपी वैरियोंको जीतनेमें धनुषके समान है तथा सब प्राणियोंको सुख देने वाला है, मैं धर्म बुद्धिसे उस चारित्रकी शरण जाता हूँ ॥ ४५८ ॥ इस प्रकार अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रकी अष्टद्रव्यसे पूजन करके मैं इनका युक्तिपूर्वक स्तवन करता हूँ ॥४५९॥

[सबसे प्रथम सम्यग्दर्शनकी भक्ति इस प्रकार करे—] जिनेन्द्र देवने तत्त्वोंमें मनकी अत्यन्त रुचिको सम्यग्दर्शन कहा है । इस सम्यग्दर्शनके दो, तीन और दस भेद बतलाये हैं । तथा प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य गुणके द्वारा सम्यक्त्वकी पहचान होती है । उसके निःशंकित, निःकांक्षित आदि आठ गुण हैं । जो भुवनत्रयसे पूजित है, तीन प्रकारकी मूढ़तासे रहित है । हे देव ! संसार रूपी लताका अन्त करनेवाले और तीनों लोकोंमें पूज्य उस सम्यग्दर्शनको मैं अपने हृदयमें धारण

ते कुर्वन्तु तपांसि दुर्धरधियो ज्ञानानि सञ्चिन्वतां
वित्तं वा वितरन्तु देव तदपि प्रायो न जन्मच्छिदः ।
एषा येषु न विद्यते तव वचः श्रद्धावधानोद्धुरा
दुष्कर्माङ्कुरकुञ्जवज्रदहनद्योतावदाता रुचिः ॥४६१

संसाराम्बुधिसेतुबन्धमसमप्रारम्भलक्ष्मीवन-
प्रोल्लासामृतवारिवाहमखिलत्रैलोक्यचिन्तामणिम् ।
कल्याणाम्बुजषण्डसंभवसरः सम्यक्त्वरत्नं कृती
यो धत्ते हृदि तस्य नाथ सुलभाः स्वर्गापवर्गश्रियः ॥४६२

[इति दर्शनभक्तिः]

अत्यल्पायतिरक्षजा मतिरियं बोधोऽवधिः सावधिः
साश्चर्यः क्वचिदेव योगिनि स च स्वल्पो मनःपर्ययः ।
दुष्प्रापं पुनरद्य केवलमिदं ज्योतिः कथागोचरं
माहात्म्यं निखिलार्थगे तु सुलभे किं वर्णयामः श्रुते ॥४६३

यद्देवैः शिरसा धृतं गणधरैः कर्णावतंसीकृतं
न्यस्तं चेतसि योगिभिर्नृपवरैराघ्रातसारं पुनः ।
हस्ते दृष्टिपथे मुखे च निहितं विद्याधराधीश्वरै-
स्तत्स्याद्वादसरोरुहं मम मनोहंसस्य भूयान्मुदे ॥४६४

मिथ्यातमःपटलभेदनकारणाय स्वर्गापवर्गपुरमार्गनिबोधनाय ।
तत्तत्त्वभावनमनाः प्रणमामि नित्यं त्रैलोक्यमङ्गलकराय जिनागमाय ॥४६५

[इति ज्ञानभक्तिः]

करता हूँ ॥ ४६० ॥ हे देव ! जिनकी आपके वचनोंमें एकनिष्ठ श्रद्धापूर्ण निर्मल रुचि नहीं है, जो रुचि दुष्कर्म रूपी अंकुरोंके समूहको भस्म करनेके लिए वज्राग्निके प्रकाशकी तरह निर्मल है, वे दुर्बुद्धि कितनी ही तपस्या करें, कितना ही ज्ञानार्जन करें और कितना ही दान दें, फिर भी जन्म-परम्परा का छेदन नहीं कर सकते ॥ ४६१ ॥ हे नाथ ! संसार रूपी समुद्रके लिए सेतुबन्धके समान, क्रमसे उत्पन्न होने वाले रत्नत्रय रूपी वनके विकासके लिए अमृतके मेघके समान, तीनों लोकोंके लिए चिन्तामणि रत्नके समान और कल्याणरूपी कमल समूहकी उत्पत्तिके लिए तालाबके तुल्य, सम्यक्त्वरूपी रत्नको जो पुण्यात्मा हृदयमें धारण करता है उसे स्वर्ग और मोक्षरूपी लक्ष्मीकी प्राप्ति सुलभ है ॥ ४६२ ॥ इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाले मतिज्ञानका विषय बहुत थोड़ा है । अवधिज्ञान भी द्रव्य क्षेत्र, काल और भावकी मर्यादाको लेकर केवल रूपी पदार्थोंको ही विषय करता है । मनःपर्यय का भी विषय बहुत थोड़ा है और वह भी किसी मुनिके हो जाये तो आश्चर्य ही है । केवलज्ञान महान् है किन्तु उसकी प्राप्ति इस कालमें सुलभ नहीं है । एक श्रुतज्ञान ही ऐसा है जो समस्त पदार्थोंको विषय करता है और सुलभ भी है, उसकी हम क्या प्रशंसा करें ॥ ४६३ ॥ जिसे देवोंने सिरपर धारण किया, गणधरोंने अपने कानका भूषण बनाया, मुनियोंने अपने हृदयमें रखा, राजाओंने जिसका सार ग्रहण किया और विद्याधरोंके स्वामियोंने अपने हाथमें, आँखोंके सामने और मुखमें स्थापित किया वह स्याद्वादश्रुत रूपी कमल मेरे मानसरूपी हंसकी प्रसन्नताके लिए हो ॥ ४६४ ॥ आगममें कहे हुए तत्त्वोंकी मनमें भावना करता हुआ मैं मिथ्यात्व रूपी अन्धकारके पटलको दूर

ज्ञानं दुर्भगदेहमण्डनमिव स्यात्स्वस्य खेदावहं धत्ते साधु न तत्फलश्रियमयं सम्यक्त्वरत्नाङ्कुरः ।
कामं देव यदन्तरेण विफलास्तास्तास्तपोभूमयस्तस्मै त्वच्चरिताय संयमदमध्यानादिधाम्ने नमः ॥४६६
यच्चिन्तामणिरीप्सितेषु वसतिः सौरूप्यसौभाग्ययोः श्रीपाणिग्रहकौतुकं कुलबलारोग्यागमे संगमः ।
यत्पूर्वैश्चरितं समाधिनिधिभिर्मोक्षाय पञ्चात्मकं तच्चारित्रमहं नमामि विविधं स्वर्गापवर्गाप्तये ॥४६७
हस्ते स्वर्गसुखान्यतर्कितभवास्ताश्चक्रवर्तिश्रियो देवाः पादतले लुठन्ति फलति द्यौः कामितं सर्वतः ।
कल्याणोत्सवसम्पदः पुनरिमास्तस्यावतारालये प्रागेवावतरन्ति यस्य चरितैर्जैनैः पवित्रं मनः ॥४६८

[इति चारित्रभक्तिः

बोधोऽवधिः श्रुतमशेषनिरूपितार्थमन्तर्बहिःकरणजा सहजा मतिस्ते ।
इत्थं स्वतः सकलवस्तुविवेकबुद्धेः का स्याज्जिनेन्द्र भवतः परतो व्यपेक्षा ॥४६९
ध्यानावलोकविगलत्तिमिरप्रताने त्वां देव केवलमयीं श्रियमादधाने ।
आसीत्त्वयि त्रिभुवनं मुहुरुत्सवाय व्यापारमन्थरमिवैकपुरं महाय ॥४७०
छत्रं दधामि किमु चामरमुत्क्षिपामि हेमाम्बुजान्यथ जिनस्य पदेऽर्पयामि ।
इत्थं मुदामरपतिः स्वयमेव यत्र सेवापरः परमहं किमु वच्मि तत्र ॥४७१
त्वं सर्वदोषरहितः सुनयं वचस्ते सत्त्वानुकम्पनपरः सकलो विधिश्च ।
लोकस्तथापि यदि तुष्यति न त्वयीश कर्मास्य तन्ननु रवाविव कौशिकस्य ॥४७२

करनेवाले, स्वर्ग और मोक्ष नगरका मार्ग बतलानेवाले तथा तीनों लोकोंके लिए मंगलकारक जैन आगमको सदा नमस्कार करता हूँ ॥ ४६५ ॥ [इस प्रकार ज्ञानकी भक्ति करके फिर चारित्रकी भक्ति करे—] जिसके बिना अभागे मनुष्यके शरीरमें पहनाये गये भूषणोंकी तरह ज्ञान खेदका ही कारण होता है, तथा सम्यक्त्व रत्नरूपी वृक्ष ज्ञानरूपी फलकी शोभाको ठीक रीतिसे धारण नहीं करता और जिसके न होनेसे बड़े-बड़े तपस्वी भ्रष्ट हो गये, हे देव ! संयम, इन्द्रियनिग्रह और ध्यान आदिके आवास उस तुम्हारे चारित्रको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ४६६ ॥ जो इच्छित वस्तुओंको देनेके लिए चिन्तामणि है, सौन्दर्य और सौभाग्यका घर है, मोक्ष रूपी लक्ष्मीके पाणिग्रहणके लिए कंकण-बन्धन है और कुल, बल और आरोग्यका संगम स्थान है अर्थात् तीनोंके होनेपर ही चारित्र धारण करना संभव होता है, और पूर्वकालीन योगियोंने मोक्षके लिए जिसे धारण किया था, स्वर्ग और मोक्षकी प्राप्तिके लिए उस पाँच प्रकारके चारित्रको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ४६७ ॥ जिसका मन जैनाचारसे पवित्र है, स्वर्गके सुख उसके हाथमें हैं, चक्रवर्तीकी विभूतियाँ अकस्मात् उसे प्राप्त हो जाती हैं, देवता उसके पैरोंपर लोटते हैं, जिस दिशामें वह जाता है वही दिशा उसके मनोरथको पूर्ण करती है और जहाँ वह जन्म लेता है उसके जन्म लेनेसे पहिलेसे ही वहाँ कल्याणक उत्सव मनाये जाते हैं ॥ ४६८ ॥ [इस प्रकार चारित्र भक्तिको करके फिर अर्हन्त भक्तिको करे] हे जिनेन्द्र आपको जन्मसे ही अन्तरंग और बहिरंग इन्द्रियोंसे होनेवाला मतिज्ञान, समस्त कथित वस्तुओंको विषय करनेवाला श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान होता है, इस प्रकार आपको स्वतः ही सकल वस्तुओंका ज्ञान है तब परकी सहायताकी आपको आवश्यकता ही क्या है ? ॥ ४६९ ॥ हे देव ! ध्यानरूपी प्रकाशके द्वारा अज्ञानरूपी अन्धकारका फैलाव दूर होनेपर जब आपने केवलज्ञानरूपी लक्ष्मीको धारण किया तो तीनों लोकोंने अपना अपना काम छोड़कर एक नगरकी तरह महान् उत्सव किया ॥४७०॥ 'छत्र लगाऊँ या चमर ढोरूँ, अथवा जिनदेवके चरणोंमें स्वर्णकमल अर्पित करूँ' इस प्रकार जहाँ इन्द्र स्वयं ही हर्षित होकर सेवाके लिए तत्पर हैं वहाँ मैं क्या कहूँ ॥ ४७१ ॥ हे देव ! तुम सब दोषों-

पुष्पं त्वदीयचरणार्चनपीठसङ्गाच्चूडामणीभवति देव जगत्त्रयस्य ।
अस्पृश्यमन्यशिरसि स्थितमप्यतस्ते को नाम साम्यमनुशास्तु रवीश्वराद्यैः ॥४७३
मिथ्यामहान्धतमसावृतमप्रबोधमेतत्पुरा जगदभूद्भुवगर्तपाति ।
तद्देव दृष्टिहृदयाब्जविकासकान्तैः स्याद्वादरश्मिभिरथोद्धृतवांस्त्वमेव ॥४७४
पादाम्बुजद्वयमिदं तव देव यस्य स्वच्छे मनःसरसि संनिहितं समास्ते ।
तं श्रीः स्वयं भजति तं नियतं वृणीते स्वर्गापवर्गजननी च सरस्वतीयम् ॥४७५
[इत्यर्हद्भक्तिः]

सम्यग्ज्ञानत्रयेण प्रविदितनिखिलज्ञेयतत्त्वप्रपञ्चाः प्रोद्धूय ध्यानवातैः सकलमघरजःप्राप्तकैवल्यरूपाः ।
कृत्वा सत्त्वोपकारं त्रिभुवनपतिभिर्दत्तयात्रोत्सवा ये ते सिद्धाः सन्तु लोकत्रयशिखरपुरीवासिनः सिद्धये वः ॥४७६

दानज्ञानचरित्रसंयमनयप्रारम्भगर्भं मनः कृत्वान्तर्वहिरिन्द्रियाणि मरुतः संयम्य पञ्चापि च ।
पश्चाद्गीतविकल्पजालमखिलं श्रस्यत्तमःसंतति ध्यानं तत्प्रविधाय ये च मुमुचुस्तेभ्योऽपि बद्धोऽञ्जलिः ॥४७७

से रहित हो, तुम्हारे वचन सुनयरूप हैं—किसी वस्तुके विषयमें इतर दृष्टिकोणोंका निराकरण न करके विवक्षित दृष्टिकोणसे वस्तुका प्रतिपादन करते हैं। तथा तुम्हारे द्वारा बतलायी गयी सब विधि प्राणियोंके प्रति दयाभावसे पूर्ण है। फिर भी लोक यदि तुमसे सन्तुष्ट नहीं होते तो इसका कारण उनका कर्म है। जैसे उल्लूको सूर्यका तेज पसन्द नहीं है किन्तु इसमें सूर्यका दोष नहीं है बल्कि उल्लूके ही कर्मोंका दोष है ॥ ४७२ ॥ हे देव ! तुम्हारे चरणोंकी पूजाके पादपीठ-संसर्ग-मात्रसे फूल तीनों लोकोंके मस्तकका भूषण बन जाता है अर्थात् उस फूलको सब अपने सिरसे लगाते हैं। और दूसरोंके सिरपर भी रखा हुआ फूल अस्पृश्य माना जाता है। अतः अन्य सूर्य रुद्रआदि देवताओंसे तुम्हारी क्या समानता की जावे ॥ ४७३ ॥ हे देव ! पहले मिथ्यात्वरूपी गाढ़ अन्धकारसे आच्छादित होनेके कारण ज्ञानशून्य होकर यह जगत् संसाररूपी गढ़ेमें पड़ा हुआ था। उसका नेत्र-कमल और हृदय-कमलको विकसित करनेवाली स्याद्वादरूपी किरणोंके द्वारा तुमने ही उद्धार किया है ॥ ४७४ ॥ हे देव ! जिसके मनरूपी स्वच्छ सरोवरमें तुम्हारे दोनों चरणकमल विराजमान हैं उसके पास लक्ष्मी स्वयं आती है तथा स्वर्ग और मोक्षको देनेवाली यह सरस्वती नियमसे उसे वरण करती है ॥ ४७५ ॥ [इस प्रकार अर्हद्भक्तिको करके सिद्ध भक्ति को करे] जिन्होंने अपनी छद्मस्थ अवस्थामें मति, श्रुत और अवधिज्ञानके द्वारा सब ज्ञेय तत्त्वोंको विस्तारसे जाना, फिर ध्यानरूपी वायुके द्वारा समस्त पापरूपी धूलिको उड़ाकर केवलज्ञान प्राप्त किया; फिर इन्द्रादिकके द्वारा किये गये बड़े उत्सवके साथ सर्वत्र विहार करके जीवोंका उपकार किया, तीनों लोकोंके ऊपर विराजमान वे सिद्ध परमेष्ठी हम सबकी सिद्धिमें सहायक हों ॥ ४७६ ॥ मनको दान, ज्ञान, चारित्र, संयम आदिसे युक्त करके और अन्तरंग तथा बहिरंग इन्द्रियों और प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान इन पाँचों वायुओंका निरोध करके फिर अज्ञानरूपी अन्धकारकी परम्पराको नष्ट करनेवाले निर्विकल्प ध्यानको करके जो मुक्त हुए उन्हें भी मैं हाथ जोड़ता हूँ ॥४७७॥ **भावार्थ**—पहले जो तीर्थङ्कर होकर सिद्ध हुए उन्हें नमस्कार किया है। इसमें जो सामान्य जन सिद्ध हुए

इत्थं येऽत्र समुद्रकन्दरसरःस्रोतस्विनीभूनभो-द्वीपाद्रिद्रुमकाननादिषु धृतध्यानावधानर्द्धयः ।
कालेषु त्रिषु मुक्तिसंगमजुषः स्तुत्यास्त्रिभिर्विष्टपैस्ते रत्नत्रयमङ्गलानि ददतां भव्येषु रत्नाकराः ॥४७८

[इति सिद्धभक्तिः]

भौमव्यन्तरमर्त्यभास्करसुरश्रेणीविमानाश्रिताः स्वर्ज्योतिःकुलपर्वतान्तरधरारन्ध्रप्रबन्धस्थितीः ।
वन्दे तत्पुरपालमौलिविलसद्रत्नप्रदीपार्चिताः साम्राज्याय जिनेन्द्रसिद्धगणभृत्स्वाध्यायिसाध्वाकृतीः ॥४७९

[इति चैत्यभक्तिः]

समवसरणवासान् मुक्तिलक्ष्मीविलासान् सकलसमयनाथान् वाक्यविद्यासनाथान् ।
भवनिगलविनाशोद्योगयोगप्रकाशान् निरुपमगुणभावान् संस्तुवेऽहं क्रियावान् ॥४८०

[इति पञ्चगुरुभक्तिः]

भवदुःखानलशान्तिर्धर्मामृतवर्षजनितजनशान्तिः ।
शिवशर्मास्रवशान्तिः शान्तिकरः स्ताज्जिनः शान्तिः ॥४८१

[इति शान्तिभक्तिः]

मनोमात्रोचितायापि यः पुण्याय न चेष्टते । हताशस्य कथं तस्य कृतार्थाः स्युर्मनोरथाः ॥४८२
येषां तृष्णातिमिरभिदुरस्तत्त्वलोकावलोकात् पारेऽवारे प्रशमजलधेः संगवार्धेः परेऽस्मिन् ।
बाह्यव्याप्तिप्रसरविधुरश्चित्तवृत्तिप्रचारस्तेषामर्चाविधिषु भवतादद्वारिपूरः श्रिये वः ॥४८३

उन्हें नमस्कार किया है। इस प्रकार समुद्र, गुफा, तालाब, नदी, पृथ्वी, आकाश, द्वीप, पर्वत, वृक्ष और वन आदिमें ध्यान लगाकर जो अतीत कालमें मुक्त हो चुके, वर्तमानमें मुक्त हो रहे हैं और भविष्यमें मुक्त होंगे, तीनों लोकोंके द्वारा स्तुति करनेके योग्य वे भव्यशिरोमणि सिद्ध भगवन्त हमें सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूपी मङ्गलको देवें ॥ ४७८ ॥ [इस प्रकार सिद्धभक्ति समाप्त हुई।] [फिर चैत्य भक्ति करे--] भवनवासी और व्यन्तरों के निवासस्थानों में, मर्त्यलोकमें, सूर्य और देवताओं के श्रेणी विमानों में, स्वर्गलोकमें, ज्योतिषी देवों के विमानों में, कुलाचलों पर, पाताल लोक तथा गुफाओं में जो अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठीकी प्रतिमाएँ हैं, जिन्हें उन स्थानों के रक्षक अपने मुकुटों में जड़े हुए रत्नरूपी दीपकों से पूजते हैं, मैं साम्राज्यके लिए उन्हें नमस्कार करता हूँ ॥ ४७९ ॥ [इस प्रकार चैत्य भक्ति समाप्त हुई।] [फिर पञ्च गुरुओं की भक्ति करे—] समवशरणमें विराजमान अर्हन्तों को, मुक्तिरूपी लक्ष्मीसे आलिंगित सिद्धों को, समस्त शास्त्रों के पारगामी आचार्योंको, शब्दशास्त्रमें निपुण उपाध्यायों को और संसार रूपी बन्धनका विनाश करनेके लिए सदा उद्योगशील, योगका प्रकाश करनेवाले और अनुपम गुणवाले साधुओं को क्रिया कर्ममें उद्यत मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ४८० ॥ [इस पार पञ्चगुरुकी भक्ति कर के फिर शान्ति भक्ति करे—] संसारके दुःखरूपी अग्निको शान्त करने वाले, और धर्मामृतकी वर्षा करके जनतामें शान्ति करनेवाले तथा मोक्षसुखके विघ्नोंको शान्त—नष्ट कर देनेवाले शान्ति-नाथ भगवान् शान्ति करें ॥ ४८१ ॥ जो केवल मानसिक संकल्पसे होने योग्य पुण्यबन्धके लिए भी प्रयत्न नहीं करता, उस हताश मनुष्यके मनोरथ कैसे पूर्ण हो सकते हैं ? ॥ ४८२ ॥ [फिर आचार्य

दूरारूढे प्रणिधितरणावन्तरात्माम्बरेऽस्मिन्नास्ते येषां हृदयकमलं मोदनिस्पन्दवृत्तिः ।
तत्त्वालोकावगमगलितध्वान्तवन्धस्थितीनामिष्टिं तेषामहमुपनये पादयोश्चन्दनेन ॥४८४
येषामन्तस्तदमृतरसास्वादमन्दप्रचारे क्षेत्राधीशे विगतनिखिलारम्भसंभोगभावः ।
ग्रामोऽक्षाणामुदुषित इवाभाति योगीश्वराणां कुर्मस्तेषां कलमसदकैः पूजनं निर्ममाणाम् ॥४८५॥
देहारामेऽप्युपरतधियः सर्वसंकल्पशान्तेर्येषामूर्मिस्मयविरहिता ब्रह्मधामामृतामेः ।
आत्मात्मीयानुगमविगमाद् वृत्तयः शुद्धबोधास्तेषां पुष्पैश्चरणकमलान्यर्चयेयं शिवाय ॥४८६
येषामङ्गे मलयजरसैः संगमः कर्दमैर्वा स्त्रीविब्बोकैः पितृवनचिताभस्मभिर्वा समानः ।
मित्रे शत्रावपि च विषये निस्तरङ्गोऽनुषङ्गस्तेषां पूजाव्यतिकरविधावस्तु भूत्यै हविर्वः ॥४८७
योगाभोगाचरणचतुरे दीर्णकन्दर्पदर्पे स्वान्ते ध्वान्तोद्धरणसविधे ज्योतिरुन्मेषभाजि ।
संमोदेतामृतभृत इव क्षेत्रनाथोऽन्तरुच्चैर्येषां तेषु क्रमपरिचयात्स्याच्छ्रिये वः प्रदीपः ॥४८८
येषां ध्येयाशयकुवलयानन्दचन्द्रोदयानां बोधाम्भोधिः प्रमदसलिलैर्माति नात्मावकाशे ।
लब्ध्वाप्येतामखिलभुवनैश्वर्यलक्ष्मीं निरीहं चेतस्तेषामयमपचितौ श्रेयसे वोऽस्तु धूपः ॥४८९॥

भक्ति करे—] तत्त्वोंके यथार्थ प्रकाशसे तृष्णारूपी अन्धकारको दूरकर देनेवाला जिनकी चित्त-वृत्तिका प्रचार बाह्य बातोंमें नहीं होता और परिग्रहरूपी समुद्रके उस पार रहता है, तथा शान्ति-रूपी समुद्रके इस पार या उस पार रहता है। अर्थात् जिनकी चित्तवृत्ति परिग्रहकी भावनासे मुक्त हो चुकी है और शान्तिरूपी समुद्रमें सदा वास करती है, उन आचार्योंकी पूजा विधिमें अर्पित की गयी जलकी धारा तुम्हारा (हमारा) कल्याण करे ॥ ४८३ ॥ आत्मारूपी आकाशमें ध्यानरूपी सूर्यके अपनी उन्नत अवस्थाको पहुँचनेपर जिनका हृदयकमल हर्पसे निश्चल हो जाता है और तत्त्वोंके दर्शन तथा ज्ञानसे ज्ञानावरणादिक कर्मबन्धकी स्थिति गलने लगती है, उनके चरणोंमें चन्दन अर्पित करके मैं उनकी पूजा करता हूँ ॥ ४८४ ॥ अध्यात्मरूपी अमृत रसके पान करनेसे बाह्य बातोंमें आत्माकी गतिके मन्द पड़ जानेपर जिन योगीश्वरोंकी इन्द्रियोंका समूह समस्त आरम्भादिकको छोड़कर अन्यत्रगत प्रतीत होता है, उन मोहरहित आचार्योंकी हम अक्षतसे पूजा करते हैं ॥ ४८५ ॥ समस्त संकल्पोंके शान्त हो जानेके कारण जो शरीर रूप परिग्रहमें भी ममत्व भाव नहीं रखते, ब्रह्मधामरूपी अमृतकी प्राप्ति हो जानेके कारण जो भूख-प्यासकी पीड़ाको सहते हुए भी उसका गर्व नहीं करते, आत्मामें भी अपनेपनकी भावनाके न होनेसे जिनकी वृत्तियाँ शुद्ध ज्ञानरूप हैं, मोक्षकी प्राप्तिके लिए उनके चरण-कमलोंकी हम पुष्पसे पूजा करते हैं ॥ ४८६ ॥ जिनके शरीरमें लगाया गया चन्दनका लेप या कीचड़, स्त्रीका विलास या स्मशानकी राख, सब समान है, तथा मित्र और शत्रु दोनोंके ही विषयमें जो सम भाव रखते हैं अर्थात् मित्रको देखकर जिनका हृदय प्रेमसे उद्वेलित नहीं होता और न शत्रुको देखकर द्वेषसे भड़क उठता है, उनकी पूजाके लिए अर्पित किया गया नैवेद्य हमारी विभूतिका कारण हो ॥ ४८७ ॥ जिनका अन्तःकरण अनेक प्रकारके योगोंका पालन करनेमें दक्ष हो चुका है, तथा कामका मद भी जाता रहा है और मोह रूपी अन्ध-कार नष्ट होनेके करीब है, ज्ञानरूपी ज्योति प्रगट ही होना चाहती है, अतएव जिनका अन्तरात्मा चन्द्रमाकी तरह खूब आह्लाद युक्त है, उनके चरणोंमें अर्पित किया गया दीपक हमारी लक्ष्मीका कारण हो ॥४८८॥ ध्येयसे युक्त मनरूपी कुवलय (नीलकमल और पृथ्वीमण्डल) के लिए चन्द्रोदयके

चित्ते चित्ते विशति करणेष्वन्तरात्मस्थितेषु स्रोतस्यूते बहिरखिलतो व्याप्तिशून्ये च पुंसि।
येषां ज्योतिः किमपि परमानन्दसंदर्भगर्भं जन्मच्छेदि प्रभवति फलैस्तेषु कुर्मः सपर्याम् ॥४९०

वाग्देवतावर इवायमुपासकानामागामितत्फलविधाविव पुण्यपुञ्जः।
लक्ष्मीकटाक्षमधुपागमनैकहेतुः पुष्पाञ्जलिर्भवतु तच्चरणार्चनेन ॥४९१

[इत्याचार्यभक्तिः]

इदानीं ये कृतप्रतिमापरिग्रहास्तान्प्रति स्नपनार्चनस्तवजपध्यानश्रुतदेवताराधनविधीन् षट् प्रोदाहरिष्यामः। तथा हि—

श्रीकेतनं वाग्वनितानिवासं पुण्यार्जनक्षेत्रमुपासकानाम्।
स्वर्गापवर्गागमनैकहेतुं जिनाभिषेकाश्रयमाश्रयामि ॥४९२॥

भावामृतेन मनसि प्रतिलब्धशुद्धिः पुण्यामृतेन च तनौ नितरां पवित्रः।
श्रीमण्डपे विविधवस्तुविभूषितायां वेद्यां जिनस्य सवनं विधिवत्तनोमि ॥४९३

उदङ्मुखःस्वयं तिष्ठेत्प्राङ्मुखं स्थापयेज्जिनम्। पूजाक्षणे भवेन्नित्यं यमी वाचंयमक्रियः ॥४९४
प्रस्तावना पुराकर्म स्थापना संनिधापनम्। पूजा पूजाफलं चेति षड्विधं देवसेवनम् ॥४९५॥

यः श्रीजन्मपयोनिधिर्मनसि च ध्यायन्ति यं योगिनो
येनेदं भुवनं सनाथममरा यस्मै नमस्कुर्वते।
यस्मात्प्रादुरभूच्छ्रुतिः सुकृतिनो यस्य प्रसादाज्जना
यस्मिन्नैष भवाश्रयो व्यतिकरस्तस्यारभे स्नापनाम् ॥४९६॥

समान जिन आचार्योका ज्ञानरूपी समुद्र हर्षरूपी जलके द्वारा आत्मारूपी स्थानमें समाता नहीं है, इस समस्त लोककी ऐश्वर्य लक्ष्मीको प्राप्त करके भी जिनका चित्त निरीह है, उनकी पूजामें अर्पित की गयी धूप हमारे कल्याणके लिए हो ॥ ४८९ ॥ चित्तके चित्तमें और इन्द्रियोंके अन्तरात्मामें लीन हो जानेपर तथा इन्द्रियोंके पुंज स्वरूप पुरुषके समस्त बाह्य पदार्थोसे निर्विकल्प हो जाने पर जिनकी परमानन्दमयी कोई एक अनिर्वचनीय ज्योति जन्म-परम्पराका छेदन करनेमें समर्थ होती है उनकी हम फलोंसे पूजा करते हैं ॥ ४९० ॥ सरस्वती देवीके वरके समान और भविष्यमें प्राप्त होनेवाले फलके लिए पुण्य समूहके समान यह पुष्पाञ्जलि आचार्यचरणोंका पूजन करनेसे श्रावकोंकी लक्ष्मीके कटाक्षरूपी भ्रमरोंके आगमनका कारण हो ॥ ४९१ ॥ [इस प्रकार आचार्य भक्ति समाप्त हुई] अब जो प्रतिमामें स्थापना करके पूजन करते हैं उनके लिए अभिषेक, पूजन, स्तवन, जप, ध्यान और श्रुतदेवताका आराधन इन छह विधियोंको बतलाते हैं—मैं जिनभगवान्का अभिषेक करनेके लिए जिनबिम्बका सहारा लेता हूँ। जो जिनबिम्ब लक्ष्मीका घर है, सरस्वती देवीका निवास स्थान है, गृहस्थोंके पुण्य कमानेका क्षेत्र है और स्वर्ग तथा मोक्षको लानेका प्रमुख कारण है ॥ ४९२ ॥ शुभ भावरूपी जलसे मेरा मन शुद्ध है और पवित्र जलसे मेरा शरीर शुद्ध है अर्थात् मैंने शुद्ध जलसे स्नान किया है और मेरे मनमें शुभ भाव हैं। मैं श्रीमण्डपमें अनेक वस्तुओंसे विभूषित वेदीपर विधिपूर्वक जिन भगवान्का अभिषेक करता हूँ ॥ ४९३ ॥ ऐसी प्रतिज्ञा करके स्वयं उत्तर दिशाकी ओर मुँह करके खड़ा हो और जिनबिम्बका मुख पूर्व दिशाकी ओर करके उनकी स्थापना करे। तथा पूजाके समय सदा अपने मन, वचन और कायको स्थिर रखे ॥ ४९४ ॥ देवपूजनके छह प्रकार हैं—प्रस्तावना, पुराकर्म, स्थापना, सन्निधापन, पूजा और पूजाका फल ॥ ४९५ ॥ पहले प्रस्तावनाको कहते हैं—जो लक्ष्मीके जन्मके लिए सागरके समान है, योगीजन

वीतोपलेपवपुषो न मलानुषङ्गस्त्रैलोक्यपूज्यचरणस्य कुतः परोऽर्घ्यः ।
सोक्षामृते धृतधियस्तव नैव कामः स्नानं ततः कमुपकारमिदं करोतु ॥४९७
तथापि स्वस्य पुण्यार्थं प्रस्तुवेऽभिषवं तव । को नाम सूपकारार्थं फलार्थी विहितोद्यमः ॥४९८

[इति प्रस्तावना]

रत्नाम्बुभिः कुशकृशानुभिरात्तशुद्धौ भूमौ भुजङ्गमपतीनमृतैरुपास्य ।
कुर्मः प्रजापतिनिकेतनदिङ्मुखानि दूर्वाक्षतप्रसवदर्भविदर्भितानि ॥४९९॥
पाथःपूर्णान्कुम्भान्कोणेषु सुपल्लवप्रसूनार्चान् । दुग्धाब्धीनिव विदधे प्रवालमुक्तोल्वणांश्चतुरः ॥५००

[इति पुराकर्म]

यस्य स्थानं त्रिभुवनशिरःशेखराग्रे निसर्गात्तस्यामर्त्यक्षितिभृति भवेन्नाद्भुतं स्नानपीठम् ।
लोकानन्दामृतजलनिधेर्वारि चैतत्सुधात्वं धत्ते यत्ते सवनसमये तत्र चित्रीयते कः ॥५०१
तीर्थोदकैर्मणिसुवर्णघटोपनीतैः पीठे पवित्रवपुषि प्रविकल्पितार्घे ।
लक्ष्मीश्रुतागमनबीजविदर्भगर्भे संस्थापयामि भुवनाधिपतिं जिनेन्द्रम् ॥५०२

[इति स्थापना]

मनमें जिसका ध्यान करते हैं, जिसके द्वारा यह लोक सनाथ है, जिसे देवतागण नमस्कार करते हैं, जिससे श्रुत (आगम) का प्रादुर्भाव हुआ है, जिसके प्रसादसे मनुष्य पुण्यशाली होते हैं, तथा जिसमें ये सांसारिक दुःख-सुखादि नहीं हैं, उस जिनेन्द्रके अभिषेकको मैं प्रारम्भ करता हूँ ॥ ४९६ ॥ हे जिनेन्द्र ! शारीरिक मलसे रहित होनेके कारण आपका मैलसे कोई सम्बन्ध नहीं है, आपके चरण तीनों लोकोंके द्वारा पूज्य हैं, अतः दूसरा उससे भी उत्कृष्ट पूज्य कैसे हो सकता है ? आपका मन मोक्ष-रूपी अमृतके पानमें निमग्न है अतः आप कामसे भी दूर हैं, अतः यह स्नान आपका क्या उपकार कर सकता है ? अर्थात् स्नान या अभिषेकके तीन प्रयोजन हो सकते हैं, शारीरिक मलको दूर करना, जलार्चनके द्वारा पूज्यताका समावेश तथा गार्हस्थिक कामादि सेवनगत दोषोंकी विशुद्धि । किन्तु जिनेन्द्र देवका परम औदारिक शरीर मल रहित होता है, वे कामादिका भी सेवन नहीं करते हैं तथा तीनों लोक उनकी पूजा करते हैं अतः जल स्नानसे उन्हें कोई प्रयोजन नहीं रहता ॥४९७॥ फिर भी मैं अपने पुण्यसंचयके लिए आपके अभिषेकको आरम्भ करता हूँ । क्योंकि ऐसा कौन फलार्थी—फलका इच्छुक है जो सम्यक् उपकारके लिए प्रयत्न न करना चाहता हो ॥ ४९८ ॥ [इस प्रकार प्रस्तावना कर्म समाप्त हुआ । आगे पुराकर्मको कहते हैं] रत्न सहित जलसे तथा कुश और अग्निसे शुद्धकी गयी भूमिमें दुग्धसे नागेन्द्रोंको संतृप्त करके पूर्वादि दश दिशाओंको दूर्वा, अक्षत, पुष्प और कुशसे युक्त करता हूँ ॥ ४९९ ॥ वेदीके चारों कोनोंमें पल्लव और फूलोंसे सुशोभित, जलसे भरे हुए चार घटोंको स्थापित करता हूँ, जो मूँगे और मोतीसे युक्त होनेके कारण क्षीरसमुद्रके समान हैं ॥ ५०० ॥ जिस जिनेन्द्रका निवासस्थान स्वभावसे ही तीनों लोकोंके मस्तकके ऊपर लोकके अग्रभागमें है (क्योंकि प्रत्येक जीव स्वभावसे ऊर्ध्वगामी है अतः मुक्त होनेके पश्चात् लोकके अग्रभाग तक जाकर वहीं ठहर जाता है) अतः यदि उसका अभिषेक सुमेरु पर्वत पर हो तो उसमें आश्चर्य ही क्या है ? इसी प्रकार हे जिनेन्द्र ! तुम्हारे अभिषेकके समय लोगोंके आनन्दरूपी क्षीरसमुद्रका यह जल यदि अमृतपनेको प्राप्त होता है तो इसमें क्या आश्चर्य है ॥५०१॥ मणिजड़ित सोनेके घटोंसे लाये गये पवित्र जलसे जो शुद्ध किया गया है और फिर जिसे अर्घ दिया गया है तथा

सोऽयं जिनः सुरगिरिर्ननु पीठमेतदेतानि दुग्धजलधेः सलिलानि साक्षात् ।
इन्द्रस्त्वहं तव सवप्रतिकर्मयोगात्पूर्णा ततः कथमियं न महोत्सवश्रीः ॥५०३

[इति संनिधापनम्]

योगेऽस्मिन्नाकनाथ ज्वलन पितृपते नैगमेय प्रचेतो वायो रैदेश शेषोडुपसपरिजना यूयमेत्य ग्रहाग्र मन्त्रैर्भूः स्वः सुधाद्यैरधिगतवलयः स्वासु दिक्षूपविष्टाः क्षेपीयः क्षेमदक्षाः कुरुत जिनसवोत्साहि विघ्नशान्तिम् ॥५०:

दैवेऽस्मिन्विहितार्चने निनदति प्रारब्धगीतध्वनावातोद्यैः स्तुतिपाठमङ्गलरवैश्चानन्दिनि प्राङ्गणे मृत्स्नागोमयभूतिपिण्डहरितादर्भप्रसूनाक्षतैरम्भोभिश्च सचन्दनैर्जिनपतेर्नीराजनां प्रस्तुवे ॥५०५

पुण्यद्रुमश्चिरमयं नवपल्लवश्रीश्चेतः सरः प्रमदमन्दसरोजगर्भम् ।
वागापगा च मम दुस्तरतीरमार्गा स्नानामृतैर्जिनपतेस्त्रिजगत्प्रमोदैः ॥५०६

द्राक्षाखर्जूरचोचेक्षुप्राचीनामलकोद्भवैः । राजादनाम्रपूगोत्थैः स्नापयामि जिनं रसैः ॥५०७

आयुः प्रजासु परमं भवतात्सदैव धर्मावबोधसुरभिश्चिरमस्तु भूपः ।
पुष्टिं विनेयजनता वितनोतु कामं हैयंगवीनसवनेन जिनेश्वरस्य ॥५०८

येषां कर्मभुजङ्गनिर्विषविधौ बुद्धिप्रबन्धो नृणां येषां जातिजरामृतिव्युपरमध्यानप्रपञ्चाग्रहः ।
येषामात्मविशुद्धबोधविभवालोके सतृष्णं मनस्ते धारोष्णपयःप्रवाहधवलं ध्यायन्तु जैनं वपुः ॥५०९

जिसपर 'श्री ह्रीं' लिखा हुआ है, ऐसे सिंहासनपर तीनों लोकोंके स्वामी जिनेन्द्रदेवकी मैं स्थापना करता हूँ ॥ ५०२ ॥ [यही स्थापना है। अब सन्निधापनको कहते हैं—] यह जिनबिम्ब ही साक्षात् जिनेन्द्रदेव है, यह सिंहासन सुमेरुपर्वत है, घटोंमें भरा हुआ जल साक्षात् क्षीरसमुद्रका जल है और आपके अभिषेकके लिए इन्द्रका रूप धारण करनेके कारण मैं साक्षात् इन्द्र हूँ तब इस अभिषेक महोत्सवकी शोभा पूर्ण क्यों नहीं होगी ! ॥ ५०३ ॥ इस अभिषेक महोत्सवमें हे कुशलकर्ता इन्द्र, अग्नि, यम, नैऋति, वरुण, वायु, कुबेर और ईश तथा शेष चन्द्रमा आदि आठ प्रमुख ग्रह अपने-अपने परिवारके साथ आकर और 'भूः स्वः आदि मन्त्रोंके द्वारा बलि ग्रहण करके अपनी-अपनी दिशाओंमें स्थित होकर शीघ्र ही जिन अभिषेकके लिए उत्साही पुरुषोंके विघ्नोंको शान्त करें ॥ ५०४ ॥ इस आनन्दपूरित आँगनमें, जो बाजों और स्तुति पाठकोंके मांगलिक शब्दोंसे गूँज रहा है तथा जिसमें गीतोंकी ध्वनि हो रही है, मैं इस पूजित जिनबिम्बमें मिट्टी, गोबर, राख, दूर्वा, कुश, फूल, अक्षत, जल तथा चन्दनसे जिनभगवान्‌की नीराजना (आरती) करता हूँ ॥ ५०५ ॥ जिनभगवान्‌के तीनों लोकोंको हर्षित करनेवाले स्नानजलसे मेरा यह पुण्यरूपी वृक्ष चिरकाल तक नये पल्लवोंकी शोभाको धारण करे, चित्तरूपी तालाबमें हर्षरूपी कमल विकसित हो और मेरी वाणीरूपी नदीके तटका मार्ग दुस्तर हो—उसे कोई पार न कर सके ॥ ५०६ ॥ मैं दाख, खजूर, नारियल, ईख, प्राचीन आमलक (आँवला नामक फल) केला आम तथा सुपारीके रसोंसे जिनभगवान्‌का अभिषेक करता हूँ ॥ ५०७ ॥ जिनदेवके घृताभिषेकसे सदैव प्रजा दीर्घजीवी हो, राजा धर्मके ज्ञानसे सुवासित हो और भव्यजन खूब पुष्टिको प्राप्त हों ॥ ५०८ ॥ जिन मनुष्योंकी बुद्धिका विलास कर्मरूपी सर्पोंको निर्विष करनेमें संलग्न है, जिन मनुष्योंको जन्म, जरा, मरणको दूर करनेवाले ध्यानके विस्तारका आग्रह है तथा जिनका मन आत्माके विशुद्ध ज्ञानरूपी ऐश्वर्यको

जन्मस्नेहच्छिदपि जगतः स्नेहहेतुर्निसर्गात्पुण्योपाये मृदुगुणमपि स्तब्ध लब्धात्मवृत्तिः।
चेतोजाड्यं हरदपि दधि प्राप्तजाड्यस्वभावं जैनस्नानानुभवनविधौ मङ्गलं वस्तनोतु ॥५१०

एलालवङ्गकङ्कोलमालयागरुमिश्रितैः। पिष्टैः कल्कैः कषायैश्च जिनदेहमुपास्महे ॥५११

नन्द्यावर्तस्वस्तिकफलप्रसूनाक्षताम्बुकुशपूलैः। अवतारयामि देवं जिनेश्वरं वर्धमानैश्च ॥५१२

मद्भाविलक्ष्मीलतिकावनस्य प्रवर्धनावर्जितवारिपूरैः।
जिनं चतुर्भिः स्नपयामि कुम्भैर्नभःसदोधेनुपयोधराभैः ॥५१३

लक्ष्मीकल्पलते समुल्लसजनानन्दैः परं पल्लवैर्धर्मारामफलैः प्रकामसुभगस्त्वं भव्यसेव्यो भव।
बोधाधीश विमुञ्च संप्रति मुहुर्दुष्कर्मघर्मक्लमं त्रैलोक्यप्रमदावहैर्जिनपतेर्गन्धोदकैः स्नापनात् ॥५१४

शुद्धैर्विशुद्धबोधस्य जिनेशस्योत्तरोदकैः। करोम्यवभृथस्नानमुत्तरोत्तरसंपदे ॥५१५॥

अमृतकृतकर्णिकेऽस्मिन्निजाङ्कबीजे कलादले कमले। संस्थाप्य पूजयेयं त्रिभुवनवरदं जिनं विधिना ॥५१६

पुण्योपार्जनशरणं पुराणपुरुषं स्तवोचिताचरणम्। पुरुहूतविहितसेवं पुरुदेवं पूजयामि तोयेन ॥५१७

मन्दमदमदनदमनं मन्दरगिरिशिखरमज्जनावसरम्। कन्दमुमालतिकायाश्चन्दनचर्चाचितं जिनं कुर्वे॥५१८

देखनेके लिए लालायित है, वे धारोष्ण दूधके प्रवाहसे धवल हुए जिनेन्द्रदेवके शरीरका ध्यान करें ॥ ५०९ ॥ दही जगत् के जन्म स्नेहका छेद करनेवाला होनेपर भी स्वभावसे ही स्नेह (घी) का कारण है, पुण्यके साधनमें कोमलता युक्त होते हुए भी स्थिर होकर ही वह आत्मलाभ करता है, अर्थात् दही कोमल होता है और स्थिर होनेपर ही वह जमता है तथा चित्तकी जड़ताको हरनेवाला होते हुए भी स्वयं जडस्वभाव या जलस्वभाव है, ऐसा दही जिन भगवान्की अभिषेक विधिमें आपका मंगलकारक हो ॥ ५१० ॥ इलायची, लौंग, कङ्कोल, चन्दन और अगुरु मिले हुए चूर्णसे और पकाकर तैयार किये गये काढ़ेसे जिनदेवके शरीरकी उपासना करता हूँ ॥ ५११ ॥ नन्द्यवार्तक, स्वस्तिक, फल, फूल, अक्षत, जल और कुशसमूहसे तथा सकोरोंसे जिनेश्वरदेवकी अवतारणा करता हूँ ॥ ५१२ ॥ ऐसे जिनेन्द्र देवका मेरी भावी लक्ष्मीरूपी लताके वनको बढ़ानेवाले जलके पूरसे युक्त तथा कामधेनुके स्तनोंके तुल्य चार कलशोंसे अभिषेक करता हूँ ॥५१३॥ जिनभगवान्के तीनों लोकोंको आनन्द देनेवाले गन्धोदकके सिञ्चनसे हे लक्ष्मीरूपी कल्पलते ! तुम मनुष्योंके आनन्द-रूपी पल्लवोंसे उल्लासको प्राप्त होवो। हे धर्मरूपी उद्यान ! तुम फलोंसे अत्यन्त सुन्दर होकर भव्यजीवोंके सेवनीय बनो। और हे ज्ञानवान् आत्मा ! तुम अब दुष्कर्मरूपी घामके सन्तापको छोड़ो, अर्थात् बुरे कर्म करना छोड़ दो और बुरे कर्मोंके फलसे मुक्त हो जाओ ॥ ५१४ ॥ अधिकाधिक सम्पत्तिके लिए विशुद्ध ज्ञानी जिनेन्द्र भगवान्का तालाब आदिसे लाये गये शुद्ध जलसे मैं अन्तिम स्नान कराता हूँ ॥ ५१५ ॥ अमृत मयी कर्णिकावाले तथा अपने नामसे अंकित इस सोलह पांखुड़ीके कमलपर तीनों लोकोंको मनवांछित वर देनेवाले जिनेन्द्र भगवान्को विधिपूर्वक स्थापित करके पूजना चाहिए ॥ ५१६ ॥ जो पुण्यके कमानेके लिए आश्रयभूत हैं, पुराण पुरुष हैं, जिनका आचरण स्तुतिके योग्य है, और इन्द्रने जिनकी सेवा की थी, उन प्रथम तीर्थङ्कर आदिनाथकी मैं जलसे पूजा करता हूँ ॥५१७॥ जो अत्यधिक मदशाली कामका दमन करनेवाले हैं, सुमेरु पर्वतके शिखरपर जिनका अभिषेक हुआ है तथा जो यशरूपी बेलकी जड़ है उन जिनदेवकी चन्दनसे पूजा करता हूँ ॥ ५१८ ॥ दोषरूपी वृक्षोंके जङ्गलको जलानेवाले, उत्तम सुखकी उत्पत्तिके लिए मोक्षके समान तथा आगमरूपी दीपकके प्रकाशक जिनेन्द्रदेवकी सुगन्धित

भवमतरुगहनदहनं निकामसुखसंभवामृतस्थानम् ।
आगमदीपालोकं कलमभवैस्तन्दुलैर्भजामि जिनम् ॥५१९

स्मररसविमुक्तसूक्ति विज्ञानसमुद्रमुद्रिताशेषम्। श्रीमानसकलहंसं कुसुमशरैरर्चयामि जिननाथम्॥५२

अर्हन्तममितनीतिं निरञ्जनं मिहिरमाधिदावाग्नेः ।
आराधयामि हविषा मुक्तिस्त्रीरमितमानसमनङ्गम् ॥५२१

भक्त्यानतामराशयकमलवनारालतिमिरमार्तण्डम् ।
जिनमुपचरामि दीपैः सकलसुखारामकामदमकामम् ॥५२२

अनुपमकेवलवपुषं सकलकलाविलयवर्तिरूपस्थम् ।
योगावगम्यनिलयं यजामहे निखिलगं जिनं धूपैः ॥५२३

स्वर्गापवर्गसंगतिविधायिनं व्यस्तजातिमृतिदोषम् ।
व्योमचरामरपतिभिः स्मृतं फलैर्जिनपतिमुपासे ॥५२४

अम्भश्चन्दनतन्दुलोद्गमहविर्दीपैः सधूपैः फलै-
र्चित्वात्रिजगद्गुरुं जिनपतिं स्नानोत्सवानन्तरम् ।
तंस्तौमिप्रजपामि चेतसि दधे कुर्वे श्रुताराधनं
त्रैलोक्यप्रभवं च तन्महमहं कालत्रये श्रद्दधे ॥५२५

यज्ञैर्मुदावभृथभाग्भिरुपास्य देवं पुष्पाञ्जलिप्रकरपूरितपादपीठम् ।
श्वेतातपत्रचमरीरुहदर्पणाद्यैराराधयामि पुनरेनमिनं जिनानाम् ॥५२६ [इति पूजा]

तन्दुलोंसे पूजन करता हूँ ॥ ५१९ ॥ जिनकी सूक्तियाँ शृंगार रससे रहित हैं, जिन्होंने अपने ज्ञानरूपी समुद्रसे सबको आच्छादित किया है और जो लक्ष्मीरूपी मानसरोवरके राजहंस हैं, उन जिनेन्द्र-देवकी पुष्पोंसे पूजा करता हूँ ॥ ५२० ॥ अनन्तज्ञानशाली, निर्विकार, दुराशारूपी दावाग्नि (जङ्गलकी आग) के लिए मेघके समान, निराकार तथा जिनका मन मुक्तिरूपी स्त्रीमें लीन है, उन अर्हन्त देवकी नैवेद्यसे पूजा करता हूँ ॥ ५२१ ॥ भक्तिसे विनम्र हुए देवोंके चित्तरूपी कमल-वनका घोर अन्धकार दूर करनेके लिए जो सूर्यके समान हैं, और समस्त सुखोंके लिये उद्यानरूप तथा मनोरथको पूर्ण करनेवाले हैं उन कामरहित जिनेन्द्रदेवकी दीपोंसे पूजा करता हूँ ॥ ५२२ ॥ अनुपम केवलज्ञान ही जिनका शरीर है, समस्त भाव कर्मोंका विनाश हो जानेपर जो रूप रहता है उसी रूपमें जो स्थित हैं, जिनके स्थानको योगके द्वारा जाना जा सकता है और जो केवलज्ञानके द्वारा सर्वत्र व्यापक है, उन जिनदेवकी मैं धूपसे पूजा करता हूँ ॥५२३॥ जो स्वर्ग और मोक्षका दाता है, जन्म-मरणरूपी दोषोंसे रहित है, और विद्याधरों तथा देवोंके स्वामी जिनको स्मरण करते हैं, उन जिनेन्द्रदेवकी फलोंसे पूजा करता हूँ ॥५२४॥ अभिषेक समारोहके पश्चात् तीनों लोकोंके गुरु जिनेन्द्र-देवकी जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप और फलोंसे पूजा करके मैं उनका स्तवन करता हूँ, उन्हें चित्तमें धारण करता हूँ उनका नाम जपता हूँ शास्त्र की आराधना करता हूँ तथा तीनों लोकोंसे उत्पन्न हुए उनके ज्ञानरूपी तेजको मैं तीनों कालोंमें श्रद्धा करता हूँ ॥ ५२५ ॥ भावार्थ—अभिषेकके पश्चात् अष्टद्रव्यसे जिनेन्द्रदेव का पूजन करना चाहिए। तथा पूजन के पश्चात् उनका स्तवन, उनके नामका जप, ध्यान तथा शास्त्र स्वाध्याय करना चाहिए। पुष्पाञ्जलि के समूहसे जिनका पादपीठ—चरणों के पास का स्थान-भरा हुआ है उन जिनेन्द्र

भक्तिर्नित्यं जिनचरणयोः सर्वसत्त्वेषु मैत्री सर्वातिथ्ये मम विभववीर्बुद्धिरध्यात्मतत्त्वे ।
सद्विद्येषु प्रणयपरता चित्तवृत्तिः परार्थे भूयादेतद्भवति भगवन्धाम यावत्त्वदीयम् ॥५२८

प्रातर्विधिस्तव पदाम्बुजपूजनेन मध्याह्नसन्निधिरयं मुनिमाननेन ।
सायन्तनोऽपि समयो मम देव यायान्नित्यं त्वदाचरणकीर्तनकामितेन । ५२९

धर्मेषु धर्मनिरतात्मसु धर्महेतौ धर्मादवाप्तमहिमास्तु नृपोऽनुकूलः ।
नित्यं जिनेन्द्रचरणार्चनपुण्यधन्याः कामं प्रजाश्च परमां श्रियमाप्नुवन्तु ॥५३०

[इति पूजाफलम्]

आलस्याद्वपुषो हृषीकहरणैर्व्याक्षेपतो वात्मन-
श्चापल्यान्मनसो मतेर्जडतया मान्द्येन वाक्सौष्ठवे ।
यः कश्चित्तव संस्तवेषु समभूदेष प्रमादः स मे
मिथ्यास्तान्ननु देवताः प्रणयिनां तुष्यन्ति भक्त्या यतः ॥५३१

देवपूजामनिर्माय मुनीननुपचर्य च ।
यो भुञ्जीत गृहस्थः सन् स भुञ्जीत परं तमः ॥५३२

नमदमरमौलिमण्डलविलग्नरत्नांशुनिकरगगनेऽस्मिन् ।
अरुणायतेऽङ्घ्रियुगलं यस्य स जीयाज्जिनो देवः ॥५३३

देवकी अभिषेक पूर्वक पूजा से सहर्ष उपासना कर के मैं पुनः उनकी श्वेतछत्र, चमर दर्पण आदि मांगलिक द्रव्यों से आराधना करता हूँ ॥ ५२७ ॥ [इस प्रकार पूजा समाप्त हुई । आगे पूजाका फल बतलाते हैं—] हे भगवन् ! जबतक आपका परम पदरूप स्थान प्राप्त हो, तबतक सदा आपके चरणों में मेरी भक्ति रहे, सब प्राणियोंमें मेरा मैत्रीभाव रहे, मेरी ऐश्वर्यरत मति सबका आतिथ्य सत्कार करनेमें संलग्न हो, मेरी बुद्धि अध्यात्म तत्त्वमें लीन रहे, ज्ञानीजनों से मेरा स्नेह भाव रहे और मेरी चित्तवृत्ति सदा परोपकारमें लगी रहे ॥५२८॥ हे देव ! प्रातःकालीन विधि आपके चरण-कमलों की पूजासे सम्पन्न हो, मध्याह्न कालका समागम मुनियोंके आतिथ्य सत्कारमें बीते; तथा सायंकालका भी समय आपके चारित्रके कथन कामनामें व्यतीत हो ॥ ५२९ ॥ धर्मके प्रभावसे राज्यपदको प्राप्त हुआ राजा धर्मके विषयमें, धार्मिकोंके विषयमें और धर्मके हेतु चैत्यालय आदिके विषयमें सदा अनुकूल रहे—उनका अहित न करके संरक्षण करे । तथा प्रतिदिन जिनेन्द्रदेवके चरणोंकी पूजासे प्राप्त हुए पुण्यसे धन्य हुई जनता यथेच्छ उत्कृष्ट लक्ष्मीको प्राप्त करे ॥ ५३० ॥ शरीरके आलस्यसे या इन्द्रियोंके इधर-उधर लग जानेसे अथवा आत्माकी अन्यमनस्कतासे अथवा मनकी चपलतासे अथवा बुद्धिकी जड़तासे अथवा वाणीमें सौष्ठव (शुद्ध स्पष्ट उच्चारण) की कमीके कारण आपके स्तवनमें मुझसे जो कुछ प्रमाद हुआ है, वह मिथ्या हो । क्योंकि देवता तो अपने प्रेमियोंकी भक्तिसे सन्तुष्ट होते हैं ॥ ५३१ ॥ जो गृहस्थ होते हुए भी देवपूजा किये बिना तथा मुनियोंकी सेवा किये बिना भोजन करता है, वह महापापको खाता है ॥ ५३२ ॥ [पूजनके पश्चात् जिन भगवान्‌की स्तुति करना चाहिए । अतः स्तुति करते हैं—] नमस्कार करते हुए देवोंके मुकुटोंके समूहमें लगे हुए रत्नोंकी किरणोंके समूहरूपी इस आकाशमें जिनके चरणयुगल सन्ध्याकी लालीकी तरह प्रतीत होते हैं वे जिनदेव

सुरपतियुवतिश्रवसाममरतरुस्मेरमञ्जरीरुचिरम् ।
चरणनखकिरणजालं यस्य स जयताज्जिनो जगति ॥५३४

वर्णः—

दिविजकुञ्जरमौलिमन्दारमकरन्दस्पन्दकरविसरसारधूसरपदाम्बुज ।
वैदग्धीपरमपद प्राप्तवादजय विजितमनसिज ॥५३५

मात्रा—

यस्त्वाममितगुणं जिन कश्चित्सावधिबोधः स्तौति विपश्चित् ।
नूनमसौ ननु काञ्चनशैलं तुलयति हस्तेनाचिरकालम् ॥५३६
स्तोत्रे यत्र महामुनिपक्षाः सकलैतिह्याम्बुधिविधिदक्षाः ।
मुमुक्षुश्चिन्तामनवधिबोधास्तत्र कथं ननु माहग्बोधाः ॥५३७
तदपि वदेयं किमपि जिन त्वयि यद्यपि शक्तिर्नास्ति तथा मयि ।
यदियं भक्तिर्मां मौनस्थं देव न कामं कुरुते स्वस्थम् ॥५३८
सुरपतिविरचितसंस्तव दलिताखिलभव परमधामलब्धोदय ।
कस्तव जन्तुर्गुणगणमघहरचरण प्रवितनुतां हतनतभय ॥५३९
जय निखिलनिलिम्पालापकल्प जगतीस्तुतकीर्तिकलत्रतल्प ।
जय परमधर्महर्म्यावतार लोकत्रितयोद्धरणैकसार ॥५४०
जय लक्ष्मीकरकमलार्चिताङ्ग सारस्वतरसनटनाट्यरङ्ग ।
जय बोधमध्यसिद्धाखिलार्थ मुक्तिश्रीरमणीरतिकृतार्थ ॥५४१

जयवन्त हों ॥ ५३३ ॥ जिनके चरणोंके नखोंकी कान्तिका समूह देवांगनाओंके कानोंमें धारण की गयी कल्पवृक्षकी पुष्पित लताके संस्पर्शसे सुन्दर प्रतीत होता है, वे जिन भगवान् जगत्में जयवन्त हों ॥ ५३४ ॥ देवेन्द्रोंके मुकुटोंमें लगे हुए मन्दार पुष्पके परागसे जिनके चरण-कमल पाण्डुर हो गये हैं, जो पाण्डित्यके सर्वोत्कृष्ट स्थान हैं, जिन्होंने वादमें जयलाभ किया है, ऐसे काम-जेता हे जिनेन्द्र देव ! जयवन्त रहें ॥५३५॥ जो अल्पज्ञानी विद्वान् तुम्हारे अपरिमित गुणोंका स्तवन करता है, वह निश्चय ही जल्दीमें हाथसे सुमेरु पर्वतको तोलनेका प्रयत्न करता है ॥ ५३६ ॥ समस्त शास्त्ररूपी समुद्रकी विधिमें चतुर, असीम ज्ञानधारी महामुनि भी जिसका स्तवन करनेमें समर्थ नहीं हो सके, तो मेरे समान अल्पज्ञानी उसका स्तवन कैसे कर सकते हैं ॥५३७॥ हे जिन ! यद्यपि मेरेमें आपका स्तवन करनेकी शक्ति नहीं है, तथापि कुछ कहता हूँ क्योंकि मेरे मौन रहनेपर आपकी यह भक्ति मुझे स्वस्थ नहीं रहने देती ॥ ५३८ ॥ इन्द्रने जिसका स्तवन किया, जिसने समस्त संसार-परिभ्रमणको नष्ट कर दिया, मोक्षके साथ ही जिसने आत्मिक गुणोंको प्राप्त किया, जिसके चरण पापके नाशक हैं, और जिसने विनत मनुष्यके भयको नष्ट कर दिया है ऐसे हे जिनेन्द्रदेव ! कौन प्राणी आपके गुणसमूहका विस्तारसे कथन कर सकता है ॥ ५३९ ॥ हे समस्त देवोंकी स्तुतिके ग्रन्थरूप, और हे समस्त पृथिवीके द्वारा स्तुत कीर्तिरूपी स्त्रीके विश्रामके लिए शय्यारूप ! आपकी जय हो । हे परम धर्मरूपी महलके अवतार और हे तीनों लोकोंका उद्धार करनेमें समर्थ ! आपकी जय हो ॥ ५४० ॥ जिनका अङ्ग लक्ष्मीके कर-कमलोंसे पूजित है, जो सारस्वत रसरूपी नटके लिए रंगमंचके तुल्य हैं, जिनके केवलज्ञानमें समस्त पदार्थ प्रतिभासित हैं

नमदमरमौलिमन्दरतटान्तराजत्पदनखनक्षत्रकान्त।
विबुधस्त्रीनेत्राम्बुजविबोध मरकध्वजधनुरुद्धवनिरोध ॥५४२
बोधत्रयविदितविधेयतन्त्र का नामापेक्षा तव परत्र।
दधतः प्रबोधमसुभृज्जनस्य गुरुरस्ति कोऽपि किमिहारुणस्य ॥५४३
निजबीजबलान्मलिनापि महति धीः शुद्धि परमामभव भजति।
युक्तेः कनकाश्मा भवति हेम किं कोऽपि तत्र विवदेत नाम ॥५४४
परिमाणमिवातिशयेन वियति मतिरुच्चैर्नरि गुरुतामुपैति।
तद्भिन्नवेदिनिन्दा द्विजस्य विश्राम्यति चित्ते देव कस्य ॥५४५
कपिलो यदि वाञ्छति वित्तिमचिति सुरगुरुगीर्गुम्फेष्वेष पतति।
चैतन्यं बाह्यग्राह्यरहितमुपयोगि कस्य वद तत्र विदित ॥५४६
भूपवनवनानलतत्त्वकेषु धिषणो निगृणाति विभागमेषु।
न पुनर्विदि तद्विपरीतधर्मधाम्नि ब्रवीति तत्तस्य कर्म ॥५४७

तथा जो मुक्तिश्रीरूपी स्त्रीके साथ रमण करके कृतार्थ हो चुके हैं ऐसे हे जिनेन्द्र ! आपकी जय हो ॥ ५४१ ॥ नमस्कार करते हुए देवोंके मुकुटरूपी सुमेरुके प्रान्तभागमें जिनके पद नख चन्द्रमाकी भाँति शोभित होते हैं, जो देवांगनाओंके नेत्ररूपी कमलोंको विकसित करते हैं और जो कामदेवके धनुषके उत्सवको रोकते हैं ऐसे काम-विजेता हे जिनेन्द्र देव ! आप जयवन्त हों ॥ ५४२ ॥ हे जिन ! आपने मति, श्रुत और अवधिज्ञानके द्वारा जानने योग्य वस्तुओंको जान लिया है। इसलिए आपको किसी गुरुकी आवश्यकता नहीं हुई। ठीक ही है प्राणियोंको जगानेवाले सूर्यका भी क्या कोई गुरु है ? हे भवरहित ! महापुरुषोंकी मलिन बुद्धि भी अपने ज्ञान ध्यान आदिके बलसे अत्यन्त शुद्ध हो जाती है। उपायसे स्वर्णपाषाण स्वर्णरूप हो जाता है इसमें क्या किसीको विवाद है ? ॥ ५४३-५४४ ॥ [किन्तु मीमांसक किसी पुरुषका सर्वज्ञ होना स्वीकार नहीं करता। उसका कहना है कि मनुष्यकी बुद्धिमें कुछ विशेषता मानी जा सकती है किन्तु उसका यह मतलब नहीं है कि वह अतीत और अनागतको भी जान सके, उसे उत्तर देते हुए कहते हैं—] जैसे परिमाणका अतिशय आकाशमें पाया जाता है वैसे ही बुद्धिका अत्यन्त विकास मनुष्यमें होता है। इसलिए मीमांसकने जो सर्वज्ञकी आलोचना की है वह हे देव ! किसीके भी चित्तमें नहीं उतरती ॥५४५॥ भावार्थ—जिसमें उतार-चढ़ाव पाया जाता है उसका उतार-चढ़ाव कहीं अपनी अन्तिम सीमाको अवश्य पहुँचता है। जैसे परिमाण (माप) में उतार-चढ़ाव देखा जाता है अतः उसका अन्तिम उतार परमाणुमें पाया जाता है और अन्तिम चढ़ाव आकाशमें; परमाणुसे छोटी और आकाशसे बड़ी कोई वस्तु नहीं है। वैसे ही ज्ञान भी घटता-बढ़ता है किसीमें कम ज्ञान पाया जाता है और और किसीमें अधिक। अतः किसी मनुष्यमें ज्ञानका भी अन्तिम विकास अवश्य होना चाहिए और जिसमें उसका अन्तिम विकास होता है वही सर्वज्ञ है। यदि सांख्य अचेतन प्रकृतिमें ज्ञान मानता है तो यह तो चार्वाकके वचनोंका ही प्रतिपादन हुआ; क्योंकि चार्वाक पञ्चभूतसे आत्मा और ज्ञानकी उत्पत्ति मानता है। और यदि चैतन्य बाह्य वस्तुओंको नहीं जानता तो हे विश्वप्रसिद्ध देव ! आप बतलावें कि वह कैसे किसीके लिए उपयोगी हो सकता है ? ॥ ५४६ ॥ भावार्थ—सांख्य आत्मा मानता है और उसको चैतन्य स्वरूप भी स्वीकार करता है किन्तु चैतन्यको ज्ञान-दर्शनरूप

विज्ञानप्रमुखाः सन्ति विमुचि न गुणाः किल यस्य नयोऽत्र वाचि।
तस्यैव पुमानपि नैव तत्र दाहाद्दहनः क इहापरोऽत्र ॥५४८
धरणीधरधरणिप्रभृति सृजति ननु निपगृहादि गिरिशः करोति।
चित्रं तथापि यत्तद्वचांसि लोकेषु भवन्ति महायशांसि ॥५४९
पुरुषत्रयमबलासक्तमूर्त्ति तस्मात्परस्तु गतकायकीर्तिः।
एवं सति नाथ कथं हि सूत्रमाभाति हिताहितविषयमत्र ॥५५०
सोऽहं योऽभूवं बालवयसि निश्चिन्वन्क्षणिकमतं जहासि।
सन्तानोऽप्यत्र न वासनापि यद्यन्वयभावस्तेन नापि ॥५५१

नहीं मानता। उसके मतसे ज्ञान जड़ प्रकृतिका धर्म है। इसीसे मुक्तावस्थामें चैतन्यके रहनेपर भी वह ज्ञानका अस्तित्व नहीं मानता। इसी बातको लेकर ऊपर ग्रन्थकारने सांख्यमतकी आलोचना की है। चार्वाकगुरु बृहस्पति पृथ्वी, जल, अग्नि, और वायु तत्त्वसे ज्ञान बतलाता है किन्तु उनसे विरुद्ध धर्मवाले आत्मामें ज्ञान नहीं बतलाता। यह उस चार्वाकका महत्पाप है ॥ ५४७ ॥ भावार्थ—चार्वाक आत्मा नहीं मानता। उसका मत है कि पृथिवी जल आदि भूतोंके मिलनेसे एक शक्ति उत्पन्न हो जाती है जिसे लोग आत्मा कहते हैं और शरीरके नष्ट होनेपर उसके साथ ही वह शक्ति भी नष्ट हो जाती है। किन्तु पञ्चभूत और आत्माका स्वभाव बिलकुल अलग है। ऐसा नियम है कि जो जिससे उत्पन्न होता है उसके गुण उसमें पाये जाते हैं, मगर पञ्चभूतोंका एक भी गुण आत्मामें नहीं पाया जाता और जो गुण आत्मामें पाये जाते हैं उनकी गन्ध भी पञ्चभूतोंमें नहीं मिलती है। फिर भी ज्ञानको आत्माका गुण नहीं मानता और उसे पञ्चभूतका कार्य बतलाता है। उसका कथन ठीक नहीं है। जिस सांख्यका यह सिद्धान्त है कि मुक्त आत्मामें ज्ञानादिक गुण नहीं हैं उसके मतमें आत्मा भी नहीं ठहरता; क्योंकि जैसे बिना उष्ण गुणके अग्नि नहीं रह सकती वैसे ही ज्ञानादिक गुणोंके बिना आत्मा भी नहीं रह सकता ॥ ५४८ ॥ [इस प्रकार सांख्य मतकी आलोचना करके ईश्वरकी आलोचना करते हैं—] महेश्वर पृथ्वी, पर्वत आदि को तो बनाता है किन्तु मकान, घट आदि को नहीं बनाता। आश्चर्य है फिर भी उसके वचन लोकमें प्रसिद्ध हो रहे हैं ॥ ५४९ ॥ भावार्थ—आशय यह है कि यदि ईश्वर पृथ्वी, पर्वत आदि को बना सकता है तो घट, पट आदि को भी बना सकता है फिर उसके लिए कुम्हार और जुलाहे आदि की जरूरत नहीं होनी चाहिए। जैसे उसने मनुष्योंके लिए पृथ्वी आदि की सृष्टि की, वैसे ही वह इन चीजोंको क्यों नहीं बना देता। इससे मालूम होता है कि जगत्‌का कोई रचयिता नहीं है, आश्चर्य है कि फिर भी मनुष्य उसकी बातको माने जाते हैं। ब्रह्मा, विष्णु और महेश तो तिलोत्तमा, लक्ष्मी और गौरीमें आसक्त हैं तथा जो परम शिव हैं वह कायरहित है। हे नाथ! ऐसी स्थितिमें उनसे हित और अहितको बतलानेवाले सूत्रोंका उद्गम कैसे हो सकता है ॥ ५५० ॥ [इस प्रकार वैदिक मतकी आलोचना करके बौद्ध मतकी आलोचना करते हैं—] जो मैं बचपनमें था वही मैं हूं ऐसा निश्चय करनेसे क्षणिक मत नहीं ठहरता। यदि कहा जाये कि सन्तान या वासनासे ऐसी प्रतीति होती है कि मैं वही हूँ तो न तो सन्तान ही बनती है और न वासना ही सिद्ध होती है। यदि ऐसा मानते हो कि पूर्व क्षणका उत्तर क्षणमें अन्वय पाया जाता है तो आत्माको ही क्यों नहीं मान लेते। तथा इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाला निर्विकल्प ज्ञान तो विचारक नहीं है और जो सविकल्प

चित्तं न विचारकमक्षजनितमखिलं सविकल्पं स्वांशपतितम्।
उदितानि वस्तु नैव स्पृशन्ति शाक्याः कथमात्महितान्युशन्ति ॥५५२
अद्वैतं तत्त्वं वदति कोऽपि सुधियां धियमातनुते न सोऽपि।
यत्पक्षहेतुदृष्टान्तवचनसंस्थाः कुतोऽत्र शिवशर्मसदन ॥५५३
हेतावनेकधर्मप्रवृद्धिराख्याति जिनेश्वरतत्त्वसिद्धिम्।
अन्यत्पुनरखिलमतिव्यतीतमुद्भाति सर्वमुरुनयनिकेत ॥५५४
मनुजत्वपूर्वनयनायकस्य भवतो भवतोऽपि गुणोत्तमस्य।
ये द्वेषकलुषधिषणा भवन्ति ते जडजं मौक्तिकमपि रहन्ति ॥५५५

ज्ञान है वह निर्विकल्पके द्वारा गृहीत वस्तुमें ही प्रवृत्ति करता है। तथा वचन वस्तुको नहीं कहते। ऐसी स्थितिमें बौद्ध मतानुयायी कैसे आत्महितका कथन करते हैं ॥ ५५१-५५२ ॥ भावार्थ—बौद्ध क्षणिकवादी हैं। उनके मतसे प्रत्येक वस्तु क्षण-क्षणमें नष्ट होती है। किन्तु वस्तुके प्रथम क्षणके नाश हो जानेपर दूसरा क्षण और दूसरे क्षणके नष्ट हो जानेपर तीसरा क्षण उत्पन्न होता रहता है और इस तरहसे क्षण सन्तान चलती रहती है, ऐसा वे मानते हैं। किन्तु यदि वस्तुके पूर्व क्षण और उत्तर क्षणमें एकत्व नहीं माना जाता है तो वह सन्तान बन नहीं सकती और यदि एकत्व माना जाता है तो वस्तु स्थायी सिद्ध हो जाती है। उसी एकत्वके कारण बड़े होनेपर भी हमें बचपनकी बातोंकी स्मृति रहती है और हममें से प्रत्येक यह अनुभव करता है कि जो मैं बच्चा था वही मैं अब युवा या वृद्ध हूँ। यह तो हुई बौद्धके क्षणिकवादकी आलोचना। बौद्ध ज्ञानको निर्विकल्पक मानता है और उसे ही वस्तुग्राही कहता है। तथा निर्विकल्पकके बाद जो सविकल्पक ज्ञान होता है उसे अवस्तुग्राही कहता है। निर्विकल्पकका विषय क्षणिक निरंश वस्तु है जो बौद्धकी दृष्टिसे वास्तविक है और सविकल्पक स्थिर स्थूलाकार वस्तुको ग्रहण करता है जो उसकी दृष्टिसे अवास्तविक है। चूँकि शब्द भी स्थिर स्थूलाकार वस्तुको ही कहता है, निरंश वस्तुको वह कह ही नहीं सकता। अतः बौद्ध शब्दको भी अवस्तुग्राही मानता है, इसीलिए बौद्धमतमें शब्दको प्रमाण नहीं माना गया। ऐसी स्थितिमें जब निर्विकल्पक और सविकल्पक अविचारक हैं और शब्द वस्तुग्राही नहीं है तब बौद्ध मतमें हिताहितका विचार और उपदेश कैसे सम्भव हो सकता है? [अब अद्वैतवादकी आलोचना करते हैं—] हे शिव सुखके मन्दिर! जो अद्वैत तत्त्वका कथन करता है वह भी बुद्धिमानोंके विचारोंको प्रभावित नहीं करता; क्योंकि अद्वैतवादमें पक्ष, हेतु और दृष्टान्त आदि कैसे बन सकते हैं? अद्वैतकी सिद्धिके लिए हेतुको मान लेनेसे उसके साथमें हेतुके पक्षधर्मत्व सपक्ष-सत्त्व आदि अनेक धर्म मानने पड़ते हैं और उनके माननेसे जिनेश्वरके द्वारा कहे गये द्वैत तत्त्वको हो सिद्धि होती है-अद्वैतकी नहीं। अतः हे अनेकान्त नयके प्रणेता! तुम्हारे द्वारा कहे गये तत्त्वोंके सिवाय शेष सब बुद्धिसे परे प्रतीत होता है, वह बुद्धिको नहीं लगता ॥ ५५३-५५४ ॥ भावार्थ—अद्वैतवादी केवल एक ब्रह्म तत्त्व ही मानते हैं किन्तु बिना द्वैतके अद्वैतकी सिद्धि नहीं हो सकती; क्योंकि अद्वैतकी सिद्धि बिना प्रमाणके तो हो नहीं सकती और प्रमाण माननेसे अनुमान आदि प्रमाण मानने पड़ेंगे। तथा बिना पक्ष हेतु और दृष्टान्तके अनुमान नहीं होता और इन सबके माननेसे अद्वैत नहीं ठहरता। हे देव! आप गुणोंसे श्रेष्ठ हैं, फिर भी यतः आप अनेकान्त नयके नायक होनेसे पूर्व मनुष्य थे, अतः जिनलोगोंकी मति द्वेषसे कलुषित है वे मोतीको

नाप्तेषु बहुत्वं यः सहेत पर्यायविभूतिष्वपि महेत।
नूनं द्रुहिणादिषु दैवतेषु कं तस्य स्फुटति तथाविधेषु ॥५५६
दीक्षासु तपसि वचसि त्वयि नयदिहैवयं सकलगुणैरहीन।
तस्मादवैमि जगतां त्वमेव नाथोऽसि बुधोचितपादसेव ॥५५७
देव त्वयि कोऽपि तथापि विमुखचित्तो यदि विदलितमदनविशिख।
निन्द्यः स एव घूके दिवापि विहृशोनमुपालभते न कोऽपि ॥५५८
निष्किञ्चनोऽपि जगते न कानि जिन दिशसि निकामं कामितानि।
नैवात्र चित्रमथवा समस्ति वृष्टिः किमु खादिह नो चकास्ति ॥५५९
इति तदमृतनाथ स्मरशरमाथ त्रिभुवनपतिमतिकेतन।
मम दिश जगदीशप्रशमनिवेश त्वत्पदनुतिहृदयं जिन ॥ ५६०
अमरतरुणीनेत्रानन्दे महोत्सवचन्द्रमाः स्मरमदमयध्वान्तध्वंसे मतः परमोऽर्यमा।
अदयहृदयः कर्मारातौ नते च कृपात्मवानिति विसदृशव्यापारस्त्वं तथापि भवान्महान् ॥५६१
अनन्तगुणसंनिधौ नियतबोध संवन्निधौ श्रुताब्धिबुधसंस्तुते परिमितोक्तवृत्तस्थिते।
जिनेश्वर सतीदृशे त्वयि मयि स्फुटं तादृशे कथं सदृशनिश्चयं तदिदमस्तु वस्तुद्वयम् ॥५६२

इसलिए छोड़ देते हैं कि वह जड़ या जलसे पैदा हुआ है ॥ ५५५ ॥ हे पूज्य ! जिन्हें अनुक्रमसे होनेवाले बहुत आप्तोंको मान्यता सह्य नहीं है निश्चय ही अवतार रूप ब्रह्मादि देवताओंके सामने वे अपना सिर फोड़ते हैं। अर्थात् अनेक देवताओंको जब वे नहीं मानते और फिर भी ब्रह्मादिक देवताओं को सिर नवाते हैं अतः उनका उन्हें सिर नवाना सिर फोड़ना ही जैसा है ॥ ५५६ ॥ हे सकलगुणशाली ! आपके चारित्रमें, तपमें और वचनमें एकरूपता पायी जाती है अर्थात् जैसा आप कहते हैं वैसा ही आचरण भी करते हैं। इसलिए हे देवताओंसे पूजित चरण ! आप ही तीनों लोकोंके स्वामी हैं, ऐसा मैं मानता हूँ ॥ ५५७ ॥ कामके बाणोंको चूर्ण कर डालनेवाले हे देव ! फिर भी यदि कोई तुमसे विमुख रहता है तो वही निन्दाका पात्र है, क्योंकि दिनके समय उल्लूके अन्धे हो जानेपर कोई भी सूर्यको दोष नहीं देता ॥ ५५८ ॥ हे जिन ! आपके पास कुछ भी नहीं है फिर भी आप जगत्‌की किन इच्छित वस्तुओंको नहीं देते ? अर्थात् सभीको इच्छित वस्तु देते हैं। किन्तु इसमें कोई अचरजकी बात नहीं है, क्योंकि आकाशके पास कुछ भी नहीं है फिर भी क्या आकाशसे वर्षा होती नहीं देखी जाती ॥ ५५९ ॥ इसलिए हे मोक्षपति ! हे कामके नाशक ! हे तीनों लोकोंके स्वामियोंकी बुद्धिके धाम ! हे शान्तिके आगार ! हे जगत्‌के स्वामी जिनेन्द्रदेव ! मुझे अपने चरणोंमें नमस्कार भाव रखने वाला हृदय प्रदान करें अर्थात् मेरा हृदय सदा आपके चरणोंमें लीन रहे ॥ ५६० ॥ हे जिनदेव ! देवांगनाओंके नेत्रोंको आनन्दित करनेके लिए आप आनन्ददायक चन्द्रमा हैं और कामके मदरूपी अन्धकारको नष्ट करनेके लिए उत्कृष्ट सूर्य हैं। कर्मरूपी शत्रुके लिए आपके हृदयमें थोड़ी भी दया नहीं है किन्तु जो आपको नमस्कार करता है उस पर आप कृपालु हैं। इस प्रकार विपरीत आचरण करनेपर भी आप महान् हैं ॥ ५६१ ॥ आप अनन्त गुण युक्त हैं और मैं थोड़ेसे परिमित ज्ञानका स्वामी हूँ। श्रुतके समुद्र विद्वानोंने आपका स्तवन किया है और मेरे पास परिमित शब्द हैं और परिमित छन्द हैं। हे जिनेश ! आपमें और मुझमें इतने स्पष्ट अन्तरके होते हुए हम दोनों समान कैसे हो सकते हैं इसलिए मैं और आप

तदलमतुल त्वादृग्वाणीपथस्तवनोचिते त्वयि गुणगणापात्रैः स्तोत्रैर्जडस्य हि मादृशः ।
प्रणतिविषये व्यापारेऽस्मिन्पुनः सुलभे जनः कथमयमवागास्तां स्वामिन्नतोऽस्तु नमोऽस्तु ते ॥५६३

जगन्नेत्रं पात्रं निखिलविषयज्ञानमहसां महान्तं त्वां सन्तं सकलनयनीतिस्मृतगुणम् ।
महोदारं सारं विनतहृदयानन्दविषये ततो याचे नो चेद्भवसि भगवन्नार्थविमुखः ॥५६४

मनुजदिविजलक्ष्मीलोचनालोकलीलाश्चिरमिह चरितार्थास्त्वत्प्रसादात्प्रजाताः ।
हृदयमिदमिदानीं स्वामिसेवोत्सुकत्वात् सहवसतिसनाथं छात्रमित्रे विधेहि ॥५६५

सर्वाक्षरनामाक्षरमुख्याक्षराद्येकवर्णविन्यासात् । निगिरन्ति जपं केचिदहं तु सिद्धक्रमैरेव ॥५६६
पातालमर्त्यखेचरसुरेषु सिद्धक्रमस्य मन्त्रस्य । अधिगानात्संसिद्धेः समवाये देवयात्रायाम् ॥५६७

पुष्पैः पर्वभिरम्बुजबीजस्वर्णार्ककान्तरत्नैर्वा । निष्कम्पिताक्षवलयः पर्यङ्कस्थो जपं कुर्यात् ॥५६८
अङ्गुष्ठे मोक्षार्थी तर्जन्यां साधु बहिरिदं नयतु । इतरास्वङ्गुलिषु पुनर्बहिरन्तश्चैहिकापेक्षी ॥५६९
वचसा वा मनसा वा कार्यो जाप्यः समाहितस्वान्तैः । शतगुणमाद्ये पुण्यं सहस्रसंख्यं द्वितीये तु ॥५७०

दोनों दो वस्तु हैं ॥ ५६२ ॥ अतः हे अनुपम ! जब आप उस प्रकारके विद्वानोंके द्वारा स्तवन करनेके योग्य हैं, तो मुझ मूर्खका उन स्तवनोंसे, जो तुम्हारे गुणसमूहको छूते भी नहीं, आपका स्तवन करना व्यर्थ है । किन्तु स्तवन करना कठिन होते हुए भी आपको नमस्कार करना तो सरल है उसमें मैं मूक कैसे रह सकता हूँ । अतः हे स्वामिन् ! मैं आपको नमस्कार करता हूँ ॥ ५६३ ॥ हे भगवन् ! आप जगत्के नेत्र हैं, समस्त पदार्थोंके ज्ञानरूपी तेजके स्थान हैं, महान् हैं, समस्त शास्त्रोंमें आपके गुणोंका स्मरण किया गया है, विनत मनुष्योंके हृदयोंको आनन्द देनेके विषयमें आप महान् उदार हैं अतः मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ । आशा है आप याचकसे विमुख नहीं होंगे अर्थात् मेरी प्रार्थना पूरी करेंगे ॥ ५६४ ॥ भगवन् ! आपके प्रसादसे मानवीय और दैवीय लक्ष्मीके नेत्रोंके द्वारा मेरे देखे जानेकी शोभा तो बहुत काल हुआ तभी चरितार्थ हो चुकी है । अब तो मेरा हृदय आपकी सेवाके लिए उत्सुक है इसलिए अब मेरे हृदयको अपने निवाससे सनाथ करो—मेरे हृदयमें बसो ॥ ५६५ ॥ [अब जप करनेकी विधि बतलाते हैं—] जप विधि कोई 'णमो अरहंताणं' आदि पूरे नमस्कार मन्त्रसे जाप करना बतलाते हैं । कोई अरहन्त सिद्ध आदि पंच परमेष्ठीके नामाक्षरोंसे जप करना बतलाते हैं । कोई पंच परमेष्ठीके वाचक 'अ सि आ उ सा' इन मुख्य अक्षरोंसे जप करना बतलाते हैं । कोई 'ओं' अथवा 'अ' आदि एक अक्षरसे जप करना बतलाते हैं, किन्तु मैं (ग्रन्थकार) तो अनादि सिद्ध पञ्चनमस्कार मन्त्रसे ही जप करना बतलाता हूँ ॥ ५६६ ॥ पाताल लोकमें अर्थात् भवनवासी और व्यन्तर देवोंमें, मनुष्योंमें, विद्याधरोंमें वैमानिक देवोंमें, जनसमाजमें और देवयात्रामें सिद्धिदायक होनेसे पञ्चनमस्कारमन्त्रका सर्वत्र अति आदर है ॥ ५६७ ॥ पर्यङ्क आसनसे बैठकर, इन्द्रियोंको निश्चल करके पुष्पोंसे या अंगुलीके पर्वोंसे या कमलगट्टोंसे या सोने अथवा सूर्यकान्त मणिके दानोंसे अथवा रत्नोंसे नमस्कारमन्त्रका जप करना चाहिए ॥ ५६८ ॥ मोक्षके अभिलाषी जपकर्ताको अँगूठेपर मालाको रखकर अंगूठेके पास-वाली तर्जनी अंगुलीके द्वारा सम्यक् रीतिसे बाहरकी ओर जप करना चाहिए । और इस लोक-सम्बन्धी किसी शुभ कामनाकी पूर्तिके अभिलाषीको शेष अंगुलियोंके द्वारा बाहर या अन्दरकी ओर जप करना चाहिए ॥ ५६९ ॥ मनको स्थिर करके वचनसे या केवल मनसे जप करना चाहिए । बोल-बोलकर जप करनेसे सौगुना पुण्य होता है, किन्तु मन-ही-मनमें जप करनेसे हजारगुना पुण्य

नियमितकरणग्रामः स्थानासनमानसप्रचारज्ञः । पवनप्रयोगनिपुणः सम्यक्सिद्धो भवेदशेषज्ञः ॥५७१
इममेव मन्त्रमन्ते पञ्चत्रिंशत्प्रकारवर्णस्थम् । मुनयो जपन्ति विधिवत्परमपदावाप्तये नित्यम् ॥५७२
मन्त्राणामखिलानामयमेकः कार्यकृद्भवेत्सिद्धः । अस्यैकदेशकार्यं परे तु कुर्युर्न ते सर्वे ॥५७३
कुर्यात्करयोर्न्यासं कनिष्ठिकान्तः प्रकारयुगलेन । तदनु हृदाननमस्तककवचास्त्रविधिर्विधातव्यः ॥५७४
संपूर्णमतिस्पष्टं सनादमानन्दसुन्दरं जपतः । सर्वसमीहितसिद्धिर्निःसंशयमस्य जायेत ॥५७५

होता है ॥ ५७० ॥ जो अपनी इन्द्रियोंको वशमें कर लेता है और स्थान, आसन व मनके संचारको जानता है तथा श्वासोच्छ्वासके प्रयोगमें सिद्धहस्त होता है, वह सर्वज्ञ होकर सिद्ध पद प्राप्त करता है ॥ ५७१ ॥ भावार्थ—आशय यह है कि जपके लिए इन्द्रियोंको वशमें करना आवश्यक है, उसके बिना जपमें मन नहीं लग सकता और बिना मन लगाये जप हो भी नहीं सकता। क्योंकि यदि मुँहसे मन्त्र बोलते रहने और हाथोंसे गुरिया सरकाते रहनेपर भी मन कहीं और भटकता है तो वह जाप बेकार है। ऊपर जो मनसे और वचनसे जाप करना बतलाया है उसका यह मतलब नहीं है कि वचनसे किये जानेवाले जापमें मनको छुट्टी रहती है। मन तो हर हालतमें उसीमें लगा रहना चाहिए। किन्तु मनसे किये जानेवाले जापमें वचनका उच्चारण नहीं किया जाता और मन-ही-मनमें जप किया जाता है। अतः प्रत्येक प्रकारके जपके लिए इन्द्रियोंपर काबू होना आवश्यक है। दूसरे, स्थान कैसा होना चाहिए, आसन किस प्रकार लगाना चाहिए, मन्त्रोंमें मनका संचार किस प्रकार करना चाहिए—ये सब बातें भी जप करनेवालेको ज्ञात होनी चाहिए। तथा जप करते समय श्वासकी गति कैसी होनी चाहिए, कितने समयमें श्वास लेना चाहिए और कब छोड़ना चाहिए, इस क्रियाका अच्छा अभ्यास होना चाहिए। जो इन सब बातोंका अभ्यासी होकर जप करता है वह सच्चा ध्यानी बनकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है। मुनि भी मोक्षकी प्राप्तिके लिए इसी पैंतीस अक्षरोंके नमस्कारमन्त्रीको सदा विधिपूर्वक जपते हैं ॥ ५७२ ॥ यह अकेला ही सब मन्त्रोंका काम करता है किन्तु अन्य सब मन्त्र मिलकर भी इसका एक भाग भी काम नहीं करते ॥ ५७३ ॥ [जप प्रारम्भ करनेसे पूर्व सकलीकरण विधान] दोनो हाथोंकी अँगुलियोंपर अँगूठेसे लेकर कनिष्ठिका अंगुलीतक दो प्रकारसे मन्त्रका न्यास करना चाहिए। उसके पश्चात् हृदय, मुख और मस्तकका सकलीकरण विधि करना चाहिए ॥ ५७४ ॥ भावार्थ—'ॐ ह्रां णमो अरहंताणं ह्रां अंगुष्ठाभ्यां नमः, यह मन्त्र पढ़कर दोनों अंगूठोंको पानीमें डुबोकर शुद्ध करे। 'ॐ ह्रीं णमो सिद्धाणं ह्रीं तर्जनीभ्यां नमः इस मन्त्रको पढ़कर दोनों तर्जनी अँगुलियोंको शुद्ध करे 'ॐ ह्रूं णमो आयरियाणं ह्रूं मध्यमाभ्यां नमः' इस मन्त्रको पढ़कर दोनों बीचकी अंगुलियोंको शुद्ध करे। 'ॐ ह्रौं णमो उवज्झायाणं ह्रौं अनामिकाभ्यां नमः' इस मन्त्रको पढ़कर दोनों अनामिका अँगुलियोंको शुद्ध करे। 'ॐ ह्रः णमो लोए सव्वसाहूणं, ह्रः कनिष्ठिकाभ्यां नमः' इस मन्त्रको पढ़कर दोनों कनिष्ठिका अँगुलियोंको शुद्ध करे। फिर 'ॐ ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः' इस मन्त्रको पढ़ दोनों हथेलियोंको दोनों तरफसे शुद्ध करे। 'ॐ ह्रां णमो अरहंताणं ह्रां मम शीर्षं रक्ष रक्ष स्वाहा' इस मन्त्रको पढ़कर मस्तकपर पुष्प डाले। 'ॐ ह्री णमो सिद्धाणां ह्रीं मम वदनं रक्ष रक्ष स्वाहा' इस मन्त्रको पढ़कर अपने मुखपर पुष्प डाले। 'ॐ ह्रूं 'णमो आयरियाणं ह्रूं हृदयं रक्ष रक्ष स्वाहा' इस मन्त्रको पढ़कर छातीपर पुष्प डाले। 'ॐ ह्रौं णमो उवज्झायाणं ह्रौं मम नाभि रक्ष रक्ष स्वाहा' इस मंत्रको पढ़कर नाभिका स्पर्श करे। 'ॐ ह्रः णमो लोए सव्वसाहूणं

मन्त्रोऽयमेव सेव्यः परत्र मन्त्रे फलोपलम्भेऽपि। यद्यप्यग्रे विटपी फलति तथाप्यस्य सिच्यते मूलम्॥५७६
अत्रामुत्र च नियतं कामितफलसिद्धये परो मन्त्रः। नाभूदस्ति भविष्यति गुरुपञ्चकवाचकान्मन्त्रात्॥५७७
अभिलषितकामधेनौ दुरितद्रुमपावके हि मन्त्रेऽस्मिन्। दृष्टादृष्टफले सति परत्र मन्त्रे कथं सजतु ॥५७८

इत्थं मनो मनसि बाह्यमबाह्यवृत्ति कृत्वा हृषीकनगरं मरुतो नियम्य ।
सम्यग्जपं विदधतः सुधियः प्रयत्नाल्लोकत्रयेऽस्य कृतिनः किमसाध्यमस्ति ॥५७९॥

आदिध्यासुः परंज्योतिरीप्सुस्तद्धाम शाश्वतम् । इमं ध्यानविधिं यत्नादभ्यस्यतु समाहितः ॥५८०
तत्त्वचिन्तामृताम्भोधौ दृढमग्नतया मनः । बहिर्व्याप्तौ जडं कृत्वा द्वयमासनमाचरेत् ॥५८१
सूक्ष्मप्राणयमायामः सन्नसर्वाङ्गसंचरः । ग्रावोत्कीर्ण इवासीत ध्यानानन्दसुधां लिहन् ॥५८२
यदेन्द्रियाणि पञ्चापि स्वात्मस्थानि समासते । तदा ज्योतिः स्फुरत्यन्तश्चित्ते चित्तं निमज्जति ॥५८३
चित्तस्यैकाग्रता ध्यानं ध्यातात्मा तत्फलप्रभुः । ध्येयमात्मागमज्योतिस्तद्विधिर्देहयातना ॥५८४
तैरश्चमामरं मार्त्यं नाभसं भौममङ्गजम् । सहतु समधीः सर्वमन्तरायं द्वयातिगः ॥५८५

ह्रः मम पादौ रक्ष रक्ष स्वाहा' इस मंत्रको पढ़कर पैरोंपर पुष्प डाले । इस प्रकार यह सकलीकरण क्रिया मन्त्र जपनेसे पूर्व करना चाहिए । [नमस्कार मन्त्रके जपका फल तथा माहात्म्य—] जो आनन्दपूर्वक प्राणवायुके साथ सम्पूर्ण मन्त्रका अत्यन्त स्पष्ट जप करता है उसके सब मनोरथ पूर्ण होते हैं । इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥ ५७५ ॥ अन्य मन्त्रोंसे फल प्राप्ति होनेपर भी इसी नमस्कार-मन्त्रकी आराधना करनी चाहिए । क्योंकि यद्यपि वृक्षके ऊपरके भागमें फल लगते हैं फिर भी उसकी जड़ ही सींची जाती है । अर्थात् यह मन्त्र सब मन्त्रोंका मूल है इसलिए इसीकी आराधना करनी चाहिए ॥ ५७६ ॥ पंच परमेष्ठीके वाचक इस णमोकार मन्त्रके सिवाय इस लोक और पर-लोकमें इच्छित फलको नियमसे देनेवाला दूसरा मन्त्र न था, न है और न होगा ॥ ५७७ ॥ जब यह मन्त्र इच्छित वस्तुके लिए कामधेनु और पापरूपी वृक्षके लिए आगके समान है तथा दृष्ट और अदृष्ट फलको देता है तो अन्योंमें क्यों लगा जाये । अर्थात् इसी एक मन्त्रका जप करना उचित है ॥ ५७८ ॥ इस प्रकार मनको मनमें और इन्द्रियोंके समूहको आभ्यन्तरकी ओर करके तथा श्वासो-च्छ्वासका नियमन करके जो बुद्धिमान् प्रयत्नपूर्वक सम्यग् जप करता है उस कर्मठ व्यक्तिके लिए तीनों लोकोंमें कुछ भी असाध्य नहीं है ॥ ५७९ ॥ [अब ध्यानकी विधि बतलाते हैं—] जो अर्हन्त भगवान्का ध्यान करनेका इच्छुक है और उस स्थायी मोक्ष स्थानको प्राप्त करना चाहता है, उसे सावधान होकर प्रयत्नपूर्वक आगे बतलायी गयी ध्यानकी विधिका अभ्यास करना चाहिए ॥ ५८० ॥ तत्त्वचिन्तारूपी अमृतके समुद्रमें मनको ऐसा डुबा दो कि वह बाह्य बातोंमें एकदम जड़ हो और फिर पद्मासन या खड्गासन लगाओ ॥ ५८१ ॥ ध्यानरूपी आनन्दामृतका पान करते समय श्वासवायुको बहुत धीमेसे अन्दरकी ओर ले जाना चाहिए और बहुत धीमेसे बाहर निकालना चाहिए । तथा समस्त अंगोंका हलन-चलन एकदम बन्द होना चाहिए उस समय ध्यानी पुरुष ऐसा मालूम हो मानो कोई पत्थरकी मूर्ति है ॥ ५८२ ॥ जब पाँचों इन्द्रियाँ बाह्य व्यापारको छोड़कर आत्मस्थ हो जाती हैं और चित्त अन्तरात्मामें लीन हो जाता है तब अन्तरात्मामें ज्योतिका उदय होता है ॥ ५८३ ॥ चित्तकी एकाग्रताको ध्यान कहते हैं । आत्मा ध्याता यानी ध्यान करनेवाला है । वही ध्यानके फलका स्वामी है । आत्मा और श्रुतज्ञान ध्येय हैं, ध्यानमें उन्हींका चिन्तन किया जाता है और शरीर तथा इन्द्रियोंपर काबू रखना ध्यानका उपाय है ॥ ५८४ ॥ ध्यान करते समय

नाक्षमित्वमविघ्नाय न क्लीवत्वसमृत्यवे। तस्मादक्लिश्यमानात्मा परं ब्रह्मैव चिन्तयेत् ॥५८६
यत्रायमिन्द्रियग्रामो व्यासङ्गस्तेनाविप्लवम्। नाश्नुवीत तमुद्देशं भजेताध्यात्मसिद्धये ॥५८७
फल्गुजन्माप्ययं देहो यदलाबुफलायते। संसारसागरोत्तारे रक्ष्यस्तस्मात् प्रयत्नतः ॥५८८
नरेऽधीरे वृथा वर्म क्षेत्रेऽसस्ये वृतिर्वृथा। यथा तथा वृथा सर्वो ध्यानशून्यस्य तद्विधिः ॥५८९
बहिरन्तस्तमोवातैरस्पन्दं दीपवन्मनः। यत्तत्त्वालोकनोल्लासि तत्स्याद्ध्यानं सबीजकम् ॥५९०
निर्विचारावतारासु चेतःस्रोतःप्रवृत्तिषु। आत्मन्येव स्फुरन्नात्मा भवेद्ध्यानमबीजकम् ॥५९१

यदि कोई पशुकृत उपसर्ग उपस्थित हो जैसे सुकुमाल मुनिपर श्रृगालीने किया था, या देवकृत उपसर्ग उपस्थित हो, जैसे भगवान् पार्श्वनाथके ऊपर कमठके जीव व्यन्तरने किया था, या मनुष्य-कृत उपसर्ग उपस्थित हो जैसे पाण्डवोंपर उनके शत्रुओंने किया था, या आकाशसे अचानक बिजली, पानी और ओला बरसने लगे, या जमीन चुभने लगे अथवा शरीरमें ही कोई पीड़ा उत्पन्न हो जाये तो ध्यानी पुरुषको राग-द्वेष न करके सब प्रकारकी बाधाओंको शान्तिपूर्वक सहना चाहिए ॥५८५॥ ऐसे समय असहनशीलता दिखानेसे विघ्न दूर नहीं हो सकता और न कायरता दिखलानेसे जीवन ही बच सकता है। अतः किसी प्रकारका दुःख न मानकर परमात्माका ही ध्यान करना चाहिए ॥ ५८६ ॥ जहाँपर इन्द्रियोंको अन्य पदार्थमें आसक्तिरूपी चोरके द्वारा कोई बाधा प्राप्त न हो अर्थात् इन्द्रियाँ इधर-उधर न भटक कर अपनेमें ही आसक्त रहें, आत्माकी सिद्धिके लिए ऐसे ही स्थानपर ध्यान करना चाहिए ॥ ५८७ ॥ [यदि कोई यह सोचे कि यह शरीर तो अपना नहीं है और नष्ट होने वाला है। इसलिए इसे जल्दी नष्ट कर डालना चाहिए, तो उसके लिए कहते हैं—] यद्यपि इस शरीरका जन्म निरर्थक है फिर भी संसाररूपी समुद्रसे पार उतरनेके लिए यह तुम्बी के समान सहायक है। इसलिए प्रयत्नपूर्वक इसकी रक्षा करनी चाहिए ॥ ५८८ ॥ भावार्थ—यद्यपि तुम्बीका जन्म निरर्थक होता है, वह खाने आदिके योग्य नहीं होती फिर भी नदी आदि को पार करनेमें वह सहायक होती है, इस लिए लोग उसे नष्ट न करके पास रखते हैं। वैसे ही शरीर भी व्यर्थ है वह न होता तो आत्माको बारम्बार जन्म-मरणका दुःख क्यों उठाना पड़ता। फिर भी शरीरके बिना धर्म साधन नहीं हो सकता। ध्यानके लिए तो सुदृढ़ संहननवाले शरीरकी आवश्य-कता होती है। अतः उसे यों ही नष्ट नहीं कर डालना चाहिए, किन्तु उसकी रक्षा करनी चाहिए, परन्तु यदि वह रक्षा करनेपर भी न बच सकता हो तो उसकी चिन्ता नहीं करनी चाहिए। सारांश यह है कि धर्म सेवनके लिए शरीरको स्वस्थ बनाये रखना जरूरी है किन्तु धर्म खोकर शरीरको बनाये रखना मूर्खता है। जैसे कायर मनुष्यको कवच पहनाना व्यर्थ है और बिना धान्यके खेतमें बाड़ लगाना व्यर्थ है, वैसे ही जो मनुष्य ध्यान नहीं करता उसके लिए ध्यानकी सब विधि व्यर्थ है ॥ ५८९ ॥ [ध्यान दो प्रकारका होता है–एक सबीज ध्यान और दूसरा अबीज ध्यान। दोनोंका स्वरूप बतलाते हैं—] जैसे वायुरहित स्थानमें दीपककी लौ निश्चल रहती है वैसे ही जिस ध्यानमें मन अन्तरंग और बहिरंग चंचलतासे रहित होकर तत्त्वोंके चिन्तनमें लीन रहता है उसे सबीज ध्यान कहते हैं और मनमें किसी विचारके न होते हुए जब आत्मा-आत्मामें ही लीन होता है उसे निर्बीज ध्यान कहते हैं ॥ ५९०-५९१ ॥ भावार्थ—कर्मोंके क्षय होनेसे ही मोक्ष होता है। और कर्मोंका क्षय ध्यानसे होता है अतः जो मुमुक्षु हैं उन्हें ध्यानका अभ्यास अवश्य करना चाहिए। ध्यान करनेके लिए मोहका त्याग आवश्यक है; क्योंकि जिसका मन स्त्री पुत्र और धनादिमें आसक्त

है वह आत्माका ध्यान कैसे कर सकता है। इसलिए जो कामभोगसे विरक्त होकर और शरीरसे भी ममता छोड़कर निर्ममत्ववाला हो जाता है वही पुरुष ध्याता हो सकता है। ध्यान शुभ भी होता है और अशुभ भी होता है। वस्तुके यथार्थ स्वरूपका चिन्तन करना शुभ ध्यान है और मोहके वशीभूत होकर वस्तुके अयथार्थ स्वरूपका चिन्तन करना अशुभ ध्यान है। शुभ ध्यानसे स्वर्गादिकी प्राप्ति होती है और अशुभ ध्यानसे नरकादिकमें जन्म लेना पड़ता है। एक तीसरा ध्यान भी है जिसे शुद्ध ध्यान कहते हैं। रागादिके क्षीण हो जानेसे जब अन्तरात्मा निर्मल हो जाती है तब जो अपने स्वरूपकी उपलब्धि होती है वह शुद्ध ध्यान है। इस शुद्ध ध्यानसे ही स्वाभाविक केवलज्ञानलक्ष्मीकी प्राप्ति होती है। सारांश यह कि जीवके परिणाम तीन प्रकारके होते हैं—अशुभ, शुभ और शुद्ध। अतः अशुभसे अशुभ, शुभसे शुभ और शुद्धसे शुद्ध ध्यान होता है। आर्त और रौद्र ध्यान अशुभ होते हैं, अतः उन्हें नहीं करना चाहिए। धर्मध्यान शुभ है और शुक्ल ध्यान शुद्ध है। ये दो ही ध्यान करनेके योग्य हैं। इनमें पहले धर्म ध्यान ही किया जाता है। उसके लिए ध्यान करनेवालेको उत्तम स्थान चुनना चाहिए; क्योंकि अच्छे और बुरे स्थानका भी मनपर बड़ा प्रभाव पड़ता है। जहाँ दुष्ट लोग उपद्रव कर सकते हों, स्त्रियाँ विचरण करती हों वहाँ ध्यान नहीं करना चाहिए। तथा जहाँ तृण, काँटे, बाँबी, कंकड़, खुरदरे पत्थर, कीचड़, हाड़, रुधिर आदि हो वहाँ भी ध्यान नहीं करना चाहिए। सारांश यह है कि जहाँ किसी बाह्य निमित्तसे मनमें क्षोभ उत्पन्न हो सकता है वहाँ ध्यान नहीं हो सकता। इसलिए ध्यान करनेवालेको ऐसे स्थान त्याग देने चाहिए। सिद्धिक्षेत्र, तीर्थङ्करोंके कल्याणकोंसे पवित्र तीर्थस्थान, मन्दिर, वन, पर्वत, नदीका किनारा, गुफा आदि स्थान जहाँ किसी तरहका कोलाहल न हो, समस्त ऋतुओंमें सुखदायक हों, रमणीक हों, उपद्रवरहित हों, वर्षा, घाम, शीत और वायुके प्रबल झकोरोंसे रहित हों, ध्यान करनेके योग्य होते हैं। ऐसे शान्त स्थानोंमें काष्ठके तख्तेपर, शिलापर या भूमिपर अथवा बालूमें आसन लगाना चाहिए। पर्यंक आसन, अर्द्धपर्यङ्कासन, वज्रासन, वीरासन, सुखासन, कमलासन, और कायोत्सर्ग ये ध्यानके योग्य आसन माने गये हैं। इस समय चूँकि जीवोंके शरीर उतने दृढ़ और शक्तिशाली नहीं होते, इसलिए पर्यंकासन और कायोत्सर्ग ये दो आसन ही उत्तम माने जाते हैं। स्थान और आसन ध्यानकी सिद्धिमें कारण हैं। इनमें-से यदि एक भी ठीक न हो तो मन स्थिर नहीं हो पाता। ध्यानीको चाहिए कि वह चित्तको प्रसन्न करनेवाले किसी रमणीक स्थानमें जाकर पर्यंकासनसे ध्यान लगाके पालथी लगाकर दोनों हाथोंको खिले हुए कमलके समान करके अपनी गोदमें रखे। दोनों नेत्रोंको निश्चल, सौम्य और प्रसन्न बनाकर नाकके अग्र भागमें ठहरावे। भौंहें विकाररहित हों और दोनों होठ न तो बहुत खुले हों और न बहुत मिले हों। शरीर सीधा और लम्बा हो मानो दीवारपर कोई चित्राम बना है। ध्यानकी सिद्धि और मनकी एकाग्रताके लिए प्राणायाम भी आवश्यक माना जाता है। प्राणायाम वायुकी साधनाको कहते हैं। शरीरमें जो वायु होती है वह मुख नाक आदि के द्वारा आती जाती है। इसके कारण भी मन चंचल रहता है। जब वह वशमें हो जाती है तब मन भी वशमें हो जाता है। किन्तु जैनशास्त्रोंमें प्राणायामको चित्तशुद्धिका प्रबल साधन नहीं माना गया है; क्योंकि उसको हठपूर्वक करनेसे मन स्थिर होनेके बदले व्याकुल हो उठता है। अतः मोक्षार्थीके लिए प्राणायाम उपयुक्त नहीं है। किन्तु ध्यानके समय श्वासोच्छ्वासका मन्द होना आवश्यक है, जिससे उसके कारण ध्यानमें विघ्न न

पड़ सके। अतः ध्यान करनेके लिए इन्द्रियोंको वशमें करके और राग-द्वेषको दूर करके अपने मनको ध्यानके दस स्थानोंमेंसे किसी एक स्थान पर लगाना चाहिए। नेत्र, कान, नाकका अग्र भाग, सिर, मुख, नाभि, मस्तक, हृदय, तालु और दोनों भौंहोंका बीच—ये दस स्थान मनको स्थिर करनेके योग्य हैं। इनमें-से किसी एक स्थान पर मनको स्थिर करके ध्येयका चिन्तन करनेसे ध्यान स्थिर होता है। ध्यान करनेसे पहले ध्यानी को यह विचारना चाहिए कि देखो, कितने खेदकी बात है कि मैं अनन्त गुणोंका भण्डार होते हुए भी संसाररूपी वनमें कर्मरूपी शत्रुओंसे ठगाया गया। यह सब मेरा ही दोष है। मैंने ही तो इन शत्रुओंको पाल रखा है। यदि मैं रागादिक बन्धनोंमें बँधकर विपरीत आचरण न करता तो कर्मरूपी शत्रु प्रबल ही क्यों होते? अस्तु, अब मेरा रागरूपी ज्वर उतर चला है और मैं मोह नींदसे जाग गया हूं, अतः अब ध्यानरूपी तलवारकी धारसे कर्म-शत्रुओंको मारे डालता हूँ। यदि मैं अज्ञानको दूर करके अपनी आत्माका दर्शन करूँ तो कर्म-शत्रुओंको क्षणभरमें जलाकर राख कर दूँ तथा प्रबल ध्यानरूपी कुठारसे पापरूपी वृक्षोंको जड़मूलसे ऐसा काटूँ कि फिर इनमें फल ही न आ सके। किन्तु मैं मोहसे ऐसा अन्धा बना रहा कि मैंने अपनेको नहीं पहचाना। मेरा आत्मा परमात्मा है परंज्योतिरूप है, *जगत्में सबसे महान् है। मुझमें और परमात्मामें केवल इतना ही अन्तर है कि परमात्मामें अनन्त-*चतुष्टयरूप गुण व्यक्त हो चुके हैं और मेरेमें वे गुण शक्तिरूपसे विद्यमान हैं। अतः मैं उस परमात्म-स्वरूपकी प्राप्तिके लिए अपनी आत्माको जानना चाहता हूँ। न मैं नारकी हूँ, न तिर्यञ्च हूँ, न मनुष्य हूँ, और न देव हूँ, । ये सब कर्मजन्य अवस्थाएँ हैं। मैं तो सिद्धस्वरूप हूँ। अतः अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्तवीर्यका स्वामी होनेपर भी क्या मैं कर्मरूपी विषवृक्षोंको उखाड़ कर नहीं फेंक सकता? आज मैं अपनी शक्तिको पहचान गया हूँ और अब बाह्य पदार्थोंकी चाहको दूर करके आनन्दमन्दिरमें प्रवेश करता हूँ। फिर मैं कभी भी अपने स्वरूपसे नहीं डिगूँगा। ऐसा विचारकर दृढ़ निश्चयपूर्वक ध्यान करना चाहिए। जिसका ध्यान किया जाता है उसे ध्येय कहते हैं ध्येय दो प्रकारके होते हैं—चेतन और अचेतन। चेतन तो जीव है और अचेतन शेष पाँच द्रव्य हैं। चेतन ध्येय भी दो हैं—एक तो देहसहित अरिहन्त भगवान् हैं और दूसरे देहरहित सिद्ध भगवान् हैं। धर्मध्यानमें इन्हीं जीवाजीवादिक द्रव्योंका ध्यान किया जाता है। जो मोक्षार्थी हैं वे तो और सब कुछ छोड़कर परमात्माका ही ध्यान करते हैं। वे उसमें अपना मन लगाकर उसके गुणोंको चिन्तन करते-करते अपनेको उसमें एक रूप करके तल्लीन हो जाते हैं। 'यह परमात्माका स्वरूप ग्रहण करनेके योग्य हैं और मैं इनका ग्रहण करनेवाला हूँ, ऐसा द्वैत भाव तब नहीं रहता। उस समय ध्यानी मुनि अन्य सब विकल्पोंको छोड़कर उस परमात्मस्वरूपमें ऐसा लीन हो जाता है कि *ध्याता और ध्यानका विकल्प भी न रहकर ध्येय रूपसे एकता हो जाती है।* इस प्रकारके निश्चल ध्यानको सबीज ध्यान कहते हैं। इससे ही आत्मा परमात्मा बनता है और जब शुद्धोपयोगी होकर मुनि अपनी शुद्ध आत्माका ध्यान करता है तो उस ध्यानको निर्बीज ध्यान कहते हैं। यह चित्त अनन्त प्रभावशाली है किन्तु स्वभावसे ही पारेकी तरह चंचल है। जैसे आग के द्वारा पारा सिद्ध हो जाता है उसी तरह यदि यह आत्मज्ञानमें स्थिर होकर सिद्ध हो जाये तो इसके सिद्ध होनेसे तीनों लोकोंमें ऐसी कौन-सी वस्तु है जो सिद्ध यानी प्राप्त न हो ॥ ५९२ ॥ भावार्थ—पारा

निर्मनस्के मनोहंसे पुंहंसे सर्वतः स्थिरे । बोधहंसोऽखिलालोक्यसरोहंसः प्रजायते ॥५९३
यद्यप्यस्मिन्मनःक्षेत्रे क्रियां तां तां समादधत् । कंचिद्वेदयते भावं तथाप्यत्र न विभ्रमेत् ॥५९४
विपक्षे क्लेशराशीनां यस्मान्नैष विधिर्मतः । तस्मान्न विस्मयेतास्मिन् परंब्रह्म समाश्रितः ॥५९५
प्रभावैश्वर्यविज्ञानदेवतासंगमादयः । योगोन्मेषाद्भवन्तोऽपि नामी तत्त्वविदां मुदे ॥५९६
भूमौ जन्मेति रत्नानां यथा सर्वत्र नोद्भवः । तथात्मजमिति ध्यानं सर्वत्राङ्गिनि नोद्भवेत् ॥५९७
तस्य कालं वदन्त्यन्तर्मुहूर्तं मुनयः परम् । अपरस्पन्दमानं हि तत्परं दुर्धरं मनः ॥५९८
तत्कालमपि तद्ध्यानं स्फुरदेकाग्रमात्मनि । उच्चैः कर्मोच्चयं भिन्द्याद्वज्रं शैलमिव क्षणात् ॥५९९
कल्पैरप्यम्बुधिः शक्यश्चुलुकैर्नोच्चुलुम्पितुम् । कल्पान्तभूः पुनर्वातस्तं मुहुः शोषमानयेत् ॥६००
रूपे मरुति चित्ते च तथान्यत्र यथा विशन् । लभेत कामितं तद्वदात्मना परमात्मनि ॥६०१

स्वभावसे ही चंचल होता है, किन्तु यदि आगमें आँच देकर विधिपूर्वक उसे सिद्ध कर लिया जाये तो उसके सिद्ध होनेसे अनेक रससिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। वैसे ही चञ्चल मन यदि आत्म-स्वरूपमें स्थिर हो जाये तो फिर ऐसी कौन-सी सिद्धि है जो प्राप्त नहीं हो सकती। अतः मनको स्थिर करना आवश्यक है। यदि यह मनरूपी हंस अपना व्यापार छोड़ दे और आत्मरूपी हंस सर्वथा स्थिर हो जाये तो ज्ञानरूपी हंस इस समस्त ज्ञेयरूपी सरोवरका हंस बन जाये अर्थात् मन निश्चल होनेके साथ यदि आत्मा, आत्मामें सर्वथा स्थिर हो जाये तो विश्वको जाननेवाला केवल-ज्ञान प्रकट होता है ॥ ५९३ ॥ यद्यपि इस मनरूपी क्षेत्रमें अनेक क्रियाओंको करता हुआ मुनि किसी पदार्थको जान लेता है, फिर भी उसमें धोखा नहीं खाना चाहिए। क्योंकि विपक्षमें नाना क्लेशोंके रहते हुए ऐसा करना उचित नहीं है। अतः परब्रह्म परमात्मस्वरूपका आश्रय लेनेवालेको इस विषयमें आश्चर्य नहीं करना चाहिए ॥ ५९४-५९५ ॥ **भावार्थ**—आशय यह है कि मनोनिग्रह करनेसे यदि कोई छोटी-मोटी ऋद्धि या ज्ञान प्राप्त हो जाये तो मोक्षार्थी ध्यानीको उसीमें नहीं रम जाना चाहिए, क्योंकि उसका उद्देश्य इससे बहुत ऊँचा है। वह तो संसारके दुःखोंका समूल नाश करके परमात्मपदकी प्राप्तिके लिए योगी बना है, अतः उसे प्राप्त किये बिना उसे विश्राम नहीं लेना चाहिए और मामूली लौकिक ऋद्धिसिद्धिके चक्करमें नहीं पड़ जाना चाहिए। क्योंकि उसके प्राप्त हो जानेपर भी अनन्त क्लेश राशिसे छुटकारा नहीं हो सकता। यही आगे स्पष्ट करते हैं—ध्यानका प्रादुर्भाव होनेसे प्रभाव, ऐश्वर्य, विशिष्ट ज्ञान और देवताका दर्शन आदिकी प्राप्ति होनेपर भी तत्त्वज्ञानी इनसे प्रसन्न नहीं होते ॥ ५९६ ॥ जैसे भूमिसे रत्नोंकी उत्पत्ति होनेपर भी सब जगह रत्न पैदा नहीं होता, वैसे ही ध्यानके आत्मासे जन्य होनेपर भी सभी प्राणियोंकी आत्माओंमें ध्यान उत्पन्न नहीं होता ॥ ५९७ ॥ मुनिजन उस ध्यानका काल अन्तर्मुहूर्त बतलाते हैं. उतने काल तक मन निश्चिल रहता है इससे अधिक समय तक मनको स्थिर रखना अत्यन्त कठिन है ॥ ५९८ ॥ किन्तु आत्मामें इतने समयके लिए भी होनेवाला निश्चल ध्यान महान् कर्मसमूहका उसी प्रकार भेदन करता है जैसे वज्र क्षण भरमें पहाड़को चूर्ण कर डालता है ॥ ५९९ ॥ ठीक ही है सैकड़ों कल्पकालों तक चुल्लुओंके द्वारा समुद्रके जलको उछालने पर भी समुद्र खाली नहीं होता, किन्तु प्रलयकालीन वायु उसे शीघ्र ही सुखा डालती है ॥ ६०० ॥ जैसे किसी मूर्तिमें या चित्तमें या अन्य किसी बाह्य वस्तुमें मनको लगानेसे इष्ट वस्तुकी प्राप्ति होती है वैसे ही आत्माके द्वारा परमात्मामें मनको लगानेसे परमात्मपदकी प्राप्ति होती है ॥ ६०१ ॥ वैराग्य,

वैराग्यं ज्ञानसंपत्तिरसङ्गः स्थिरचित्तता । ऊर्मिस्मयसहत्वं च पञ्च योगस्य हेतवः ॥६०२
आधिव्याधिविपर्यासप्रमादालस्यविभ्रमाः । अलाभः सङ्गितास्थैर्यमेते तस्यान्तरायकाः ॥६०३
यः कण्टकैस्तुदत्यङ्गं यश्च लिम्पति चन्दनैः । रोषतोषाविविक्तात्मा तयोरासीत लोष्ठवत् ॥६०४
ज्योतिर्विन्दुःकलानादः कुण्डलीवायुसंचरः । मुद्रामण्डलचोद्यानि निर्बीजीकरणादिकम् ॥६०५

ज्ञान सम्पदा, निष्परिग्रहता, चित्तकी स्थिरता तथा भूख-प्यास, शोक-मोह, जन्ममृत्युको तथा मदको सहन करना ये पाँच बातें ध्यानमें कारण हैं ॥ ६०२ ॥ मानसिक पीड़ा, शारीरिक रोग अतत्त्वको तत्त्व मानना, तत्त्वको समझनेमें अनादर करना, तत्त्वको प्राप्त करके भी उसपर आचरण न करना, तत्त्व और अतत्त्वको समान मानना, अज्ञानवश तत्त्वको प्राप्ति न होना, योगके कारणोंमें मनको न लगाना, ये सब ध्यानके अन्तराय हैं ॥ ६०३ ॥ **भावार्थ**—ध्यान मनकी एकाग्रताके होनेसे होता है और मन एकाग्र तभी हो सकता है या अपनी ओर तभी लग सकता है जब संसार, शरीर और भोगोंसे विरक्ति हो, स्व और परके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान हो, पासमें थोड़ा-सा भी परिग्रह न हो, अन्यथा परिग्रहमें फँसे रहनेसे मन आत्मोन्मुख नहीं हो सकता, और चित्त भी स्थिर नहीं रह सकता । तथा भूख-प्यास वगैरहका कष्ट सहन करनेकी भी क्षमता होना जरूरी है, नहीं तो थोड़ा-सा भी कष्ट होनेसे मनके अस्थिर हो उठनेपर ध्यान कैसे हो सकता है ? इसी तरह यदि मनमें अहङ्कार उत्पन्न हो गया तब भी मन आत्मोन्मुख नहीं हो सकता । इसलिए ऊपर ध्यानके लिए पांच बातें आवश्यक बतलाई हैं और कुछ बातें ध्यानकी बाधक बतलायी हैं । यदि मनमें या शरीरमें कोई पीड़ा हुई तो ध्यान करना कठिन होता है इसी तरह प्रमादी और आलसी मनुष्य भी ध्यान नहीं कर सकता, क्योंकि ऐसे मनुष्य प्रायः आरामतलब होते हैं और आरामतलब आदमी कष्ट नहीं सह सकता । जो सन्देह और विपरीत ज्ञानसे ग्रस्त हैं, जिन्हें यही निश्चय नहीं है कि आत्मा परमात्मा बन सकता है या ध्यान परमात्मपदका कारण है वे योगी बनकर भी योगकी साधना नहीं कर सकते, क्योंकि उनके चित्तमें यह सन्देह बराबर काँटेकी तरह कसकता रहता है कि न जाने इससे कुछ होगा या नहीं, यह सब बेकार न हो आदि । जो किसी लौकिक वाञ्छासे ध्यान करते हैं यदि उनकी वह वाञ्छा पूरी न हुई तो उनका मन ध्यानसे विचलित हो जाता है, और जो परिग्रही और अस्थिर चित्त हैं उनका मन भी एकाग्र नहीं हो सकता । इसलिए ये सब बातें ध्यानमें विघ्न करनेवाली हैं । जो शरीरको काँटोंसे छेदे और जो शरीरपर चन्दनका लेप करे उन मनुष्योंपर रोष और प्रसन्नता न करके ध्यानी पुरुषको लोष्ठके समान होना चाहिए । अर्थात् जैसे लोढ़ेपर इन बातोंका कोई प्रभाव नहीं होता वैसे ध्यानीपर भी इन बातोंका कोई प्रभाव नहीं होना चाहिए और उसे दोनोंमें समबुद्धि रखनी चाहिए ॥ ६०४ ॥ अब अन्य मत सम्बन्धी ध्यानका वर्णन कर उसकी समीक्षा करते हैं—तान्त्रिकों की मान्यता है कि योगी पुरुष ज्योति (ओंकार) बिन्दु (पीत-शुभ्रादि वर्णवाली बिन्दु) कला (अर्धचन्द्र) नाद (अनुस्वारके ऊपर रेखा) कुण्डली (पिंगला, इला, सुषुम्ना) वायु-संचार (कुम्भक, रेचक, पूरक) मुद्रा (पद्मासन, वीरासन आदि) मण्डल (त्रिकोण, चतुष्कोण, वृत्ताकार आदि) इनके द्वाराकी जानेवाली क्रियाएं, निर्बीजीकरण (असंप्रज्ञात समाधि) में कारण हैं । इन्हें नाभिमें, नेत्रस्थानमें, ललाटपर, ब्रह्मग्रन्थि (आंतड़ियों के समूह) में, तालुमें,

नाभौ नेत्रे ललाटे च ब्रह्मग्रन्थौ च तालुनि । अग्निमध्ये रवौ चन्द्रे लूतातन्तौ हृदङ्कुरे ॥६०६
मृत्युञ्जयं यदन्तेषु तत्तत्त्वं किल मुक्तये । अहो मूढधियामेष नयः स्वपरवञ्चनः ॥६०७
कर्मण्यपि यदीमानि साध्यान्येवंविधैर्नयैः । अलं तपोजपाप्तेष्टिदानाध्ययनकर्मभिः ॥६०८

अग्निमध्य (नासिका-रन्ध्र) में, रवि (दक्षिणनाड़ो) में, चन्द्र (वामनाडी) में, लतातन्तु (जननेन्द्रिय) में, हृदयाङ्कुरमें अन्तिम मरण वेलाके समय जब किया जाता है, तब ध्यानी पुरुष मृत्युको जीत लेता है। अतः ये सब मुक्तिके लिए साधन स्वरूप हैं। आश्चर्य की बात है कि मूढ़ बुद्धि पुरुषोंको ठगनेके लिए लोगोंने यह स्व-पर-वंचक मार्ग प्ररूपण किया है॥ ६०५-६०७ ॥ भावार्थ—परमात्माको सब ज्योतियोंका ज्योतिस्वरूप जानकर उनके ज्योतिर्मय रूपको कल्पना करके ध्यानका अभ्यास करनेकी व्यवस्था हठयोगमें है। तन्त्रमतमें शिव, शक्ति और विन्दु ये तीन रत्न माने गये हैं। शुद्ध जगत्का उपादान विन्दु है। विन्दुका ही दूसरा नाम महामाया है। विन्दु क्षुब्ध होकर जिस प्रकार एक ओर शुद्ध देह, इन्द्रिय, भोग और भुवनके रूपमें परिणत होता है उसी प्रकार यही शब्दकी भी उत्पत्ति करता है। शब्द सूक्ष्म नाद, अक्षर-विन्दु और वर्ण भेदसे तीन प्रकारका है। निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या, शान्ति तथा शान्त्यतीत, ये कलाएँ विन्दुकी ही पृथक्-पृथक् अवस्था हैं। शान्त्यतीत रूप या परविन्दु समस्त कलाओंकी कारणावस्था या लयावस्था है। लययोगके ध्यानका नाम विन्दुध्यान है। तान्त्रिक मतमें षट्चक्रोंका अभ्यास हुए विना आत्मज्ञान नहीं होता। इडा और पिंगला नामक दो नाड़ियोंके मध्यमें जो सुषुम्ना नाड़ी है उसकी छह ग्रन्थियोंमें पद्मके आकारके छह चक्र संलग्न हैं। गुह्यस्थानमें, लिंगमूलमें, नाभिदेशमें, हृदयमें, कण्ठमें और दोनों भ्रूके बीचमें—इन छह स्थानोंमें छह चक्र विद्यमान हैं। ये छह चक्र सुषुम्ना नामकी छह ग्रन्थियोंके रूपमें प्रसिद्ध हैं। इन छह ग्रन्थियोंका भेदन करके जीवात्माका परमात्माके साथ संयोग किया जाता है। मनुष्य शरीरमें तीन लाख पचास हजार नाड़ियाँ हैं। उन सबमें सुषुम्ना नाड़ी प्रधान है। अन्य समस्त नाड़ियाँ इसी सुषुम्ना नाड़ीके आश्रयसे रहती हैं। इस सुषुम्ना नाड़ीके मध्यगत चित्रानाड़ीके मध्य सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर ब्रह्मरन्ध्र है। कुण्डलिनी शक्ति इसी ब्रह्मरन्ध्रके द्वारा मूलाधारसे सहस्रारमें गमन करती है। इसीसे इस ब्रह्म रन्ध्रको दिव्यमार्ग कहते हैं। इडा नाडी वाम भागमें स्थित होकर सुषुम्ना नाड़ीको प्रत्येक चक्रमें घेरती हुई दक्षिण नासापुटसे और पिंगल नाड़ी दक्षिण भागमें स्थित होकर सुषुम्ना नाड़ीको प्रत्येक चक्रमें परिवेष्टित करके बायें नासापुटसे आज्ञाचक्रमें मिलती है। इडा और पिंगला के बीच-बीचमें सुषुम्ना नाड़ीके छह स्थानोंमें छह शक्तियाँ और छह पद्म निहित हैं। कुण्डलिनीने कुण्डलित होकर सुषुम्ना नाडीके समस्त अंशको घेर रखा है। तथा अपने मुखमें अपनी पूँछको डालकर साढ़े तीन घेरे दिये हुए स्वयंभू लिंगको वेष्टित करके ब्रह्मद्वारका अवरोध कर सुषुम्नाके मार्गमें स्थित है। यह कुण्डलिनी सर्पका-सा आकार धारण करके जहाँ निद्रा ले रही है, उसी स्थानको मूलाधार चक्र कहते हैं। मूलाधार चक्रके ऊपर लिंगमूलमें षड्दल विशिष्ट स्वाधिष्ठान नामक चक्र है। स्वाधिष्ठान चक्रके ऊपर नाभिमूलमें मणिपूर नामक दशदलपद्म है। जो योगी इस चक्रमें ध्यान करते हैं उनकी कामनासिद्धि, दुःखनिवृत्ति और रोगशान्ति होती है, इसके द्वारा वे परदेहमें भी प्रवेश कर सकते हैं और अनायास ही कालको भी जीतनेमें समर्थ होते हैं। यह तन्त्रसाधकोंका मत है। इसी मतका निरूपण तथा निषेध ग्रन्थकारने श्लोक नम्बर ६०५-६०७ में किया है। यदि इस प्रकारके प्रपंचोंसे

योऽविचारितरम्येषु क्षणं देहार्तिहारिषु। इन्द्रियार्थेषु वश्यात्मा सोऽपि योगी किलोच्यते ॥६०९
यस्येन्द्रियार्थतृष्णापि जर्जरीकुरुते मनः। तन्निरोधभुवो धाम्नः स ईप्सीत कथं नरः ॥६१०
आत्मज्ञः संचितं दोषं यातनायोगकर्मभिः। कालेन क्षपयन्नेति योगी रोगी च कल्पताम् ॥६११
लाभेऽलाभे वने वासे मित्रेऽमित्रे प्रियेऽप्रिये। सुखे दुःखे समानात्मा भवेत्तद्ध्यानधीः सदा ॥६१२
परे ब्रह्मण्यनूचानो धृतिमैत्रीदयान्वितः। अन्यत्र सूनृताद्वाक्यान्नित्यं वाचंयमी भवेत् ॥६१३
संयोगे विप्रलम्भे च निदाने परिदेवने। हिंसायामनृते स्तेये भोगरक्षासु तत्परे ॥६१४
जन्तोरनन्तसंसारभ्रमैनोरथवर्त्मनी। आर्तरौद्रे त्यजेद्ध्याने दुरन्तफलदायिनी ॥६१५

ये काम हो सकते हैं तो जप-तप, देवपूजा, दान और शास्त्रपठन, आदि कर्म व्यर्थ ही हैं ॥ ६०८ ॥ कैसी विचित्र बात है कि जो विना विचारे सुन्दर प्रतीत होनेवाले और क्षण भरके लिए शारीरिक पीड़ाको हरनेवाले इन्द्रियोंके विषयोंमें फँसा हुआ है वह भी योगी कहा जाता है ॥ ६०९ ॥ इन्द्रियोंके विषयोंकी लालसा जिसके मनको सताती रहती है वह मनुष्य इन्द्रियोंके निरोधसे प्राप्त होनेवाले मोक्ष धामकी इच्छा ही कैसे कर सकता है ॥ ६१० ॥ रोगी भी अपनेको जानता है। योगी भी अपनी आत्माको जानता है। रोगी अपने शरीरमें संचित हुए दोषको समयसे उपवास आदिके कष्ट तथा औषधादिके द्वारा क्षय कर देता है और नीरोग हो जाता है। योगी भी अपनी आत्मामें संचित हुए दोषको परीषहसहन तथा ध्यानादिकके द्वारा समयसे क्षय कर देता है और मुक्तावस्थाको प्राप्त कर लेता है ॥ ६११ ॥ जो ध्यान करना चाहता है उसे सदा हानि और लाभमें, वन और घरमें, मित्र और शत्रुमें, प्रिय और अप्रियमें तथा सुख और दुःखमें समभाव रखना चाहिए ॥ ६१२ ॥ तथा परम आत्मतत्त्वका पूर्णज्ञान होनेके साथ-साथ धैर्य, मित्रता और दयासे युक्त होना चाहिए। और उसे सदा सत्य वचन ही बोलना चाहिए, अथवा मौनपूर्वक रहना चाहिए ॥ ६१३ ॥ **आर्त और रौद्रध्यानका स्वरूप तथा उनको त्यागनेका उपदेश**—संयोग, वियोग, निदान, वेदना, हिंसा झूठ, चोरी और भोगोंकी रक्षामें तत्परतासे होनेवाले आर्त और रौद्रध्यान बुरे फलों-को देनेवाले हैं और जीवको अनन्त संसारमें भ्रमण करानेवाले पापरूपी रथके मार्ग हैं। इनको त्याग देना चाहिए ॥ ६१४-६१५ ॥ भावार्थ—पहले ध्यानके तीन भेद बतलाकर आर्तध्यान और रौद्रध्यानको अशुभ ध्यान बतला आये हैं। यहाँ उन दोनों ध्यानोंका ही स्वरूप बतलाया है। आर्तध्यान चार प्रकारका होता है—एक, अनिष्ट वस्तुका संयोग हो जानेपर उससे छुटकारा पानेके लिए जो रात-दिन अनेक प्रकारके उपायोंका चिन्तन करना है उसे अनिष्टसंयोग नामका आर्तध्यान कहते हैं। जैसे किसीको कुरूपा कुलटा पत्नी मिल गयी या कर्कशा पत्नी मिल गयी तो कैसे यह मरे या कैसे इससे पिण्ड छूटे इस प्रकारका निरन्तर चिन्तन करते रहना प्रथम आर्तध्यान है। यदि किसी अप्रिय वस्तुका संयोग हो जाये तो उससे बचनेके लिए रात-दिनका कलपना छोड़कर ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि वह अपने अनुकूल हो जाये। दूसरा, इष्टवस्तुका वियोग हो जानेपर उसकी प्राप्तिके लिए जो रात-दिन चिन्तन करते रहना है उसे इष्टवियोग नामका आर्तध्यान कहते हैं। तीसरा, आगामी भोगोंकी प्राप्तिके लिए सतत चिन्ता करना निदान नामका आर्तध्यान है। चौथे, शरीरमें कोई पीड़ा हो जानेपर उसके दूर करनेके लिए जो रात-दिन चिन्तन करता है उसे वेदना नामका आर्तध्यान कहते हैं। आशय यह है कि किसी भी

बोध्यागमकपाटे ते मुक्तिमार्गार्गले परे। सोपाने श्वभ्रलोकस्य तत्त्वेक्षावृतिपक्ष्मणी ॥६१६
लेशतोऽपि मनो यावदेते समधितिष्ठतः। एष जन्मतरुस्तावदुच्चैः समधिरोहति ॥६१७
ज्वलन्नञ्जनमाधत्ते प्रदीपो न रविः पुनः। तथाशयविशेषेण ध्यानमारभते फलम् ॥६१८
प्रमाणनयनिक्षेपैः सानुयोगैर्विशुद्धधीः। मतिं तनोति तत्त्वेषु धर्मध्यानपरायणः ॥६१९
अरहस्ये यथा लोके सती काञ्चनकर्मणी। अरहस्यं तथेच्छन्ति सुधियः परमागमम् ॥६२०
यः स्खलत्यल्पबोधानां विचारेष्वपि मादृशाम्। स संसारार्णवे मज्जज्जन्त्वालम्बः कथं भवेत् ॥६२१
अहो मिथ्यातमः पुंसां युक्तिद्योते स्फुरत्यपि। यदन्धयति चेतांसि रत्नत्रयपरिग्रहे ॥६२२
आशास्महे तदेतेषां दिनं यत्रारतकल्मषाः। इदमेते प्रपश्यन्ति तत्त्वं दुःखनिवर्हणम् ॥६२३
अकृत्रिमो विचित्रात्मा मध्ये च त्रसराजिमान्। मरुत्त्रयीवृतो लोकः प्रान्ते तद्धामनिष्ठितः ॥६२४

प्रकारको मानसिक वेदनासे पीड़ित होकर जो बुरे संकल्प-विकल्प किये जाते हैं वह सब आर्तध्यान हैं। दूसरा अशुभ ध्यान रौद्रध्यान है। इसके भी चार प्रकार हैं—पहला, दूसरोंको सतानेमें, उनकी जान लेनेमें आनन्द मानना हिंसानन्दी नामका रौद्रध्यान है। दूसरा, झूठ बोलनेमें आनन्द मानना मृषानन्दी नामका रौद्रध्यान है। तीसरा, चोरी करनेमें आनन्द अनुभव करना, चौर्यानन्दी नामका रौद्रध्यान है। चौथा, विषय-भोगकी सामग्रीका संचय करनेमें आनन्द मानना विषयानन्दी नामका रौद्रध्यान है। ये दोनों ही प्रकारके ध्यान नहीं करने चाहिए। क्योंकि—ये दोनों अशुभ ध्यान ज्ञानकी प्राप्तिको रोकनेके लिए किवाड़के तुल्य हैं, मुक्तिके मार्गको बन्द करनेके लिए सांकलके तुल्य हैं, नरकलोकमें उतरनेके लिए सीढ़ीके तुल्य हैं और तत्त्वदृष्टिको ढाँकनेके लिए पलकोंके समान हैं॥ ६१६॥ जब तक मनमें ये दोनों अशुभ ध्यान लेशमात्र भी रहते हैं तब तक यह जन्मरूपी वृक्ष बराबर ऊँचा होता जाता है॥ ६१७॥ जैसे दीपक भी जलता है और सूर्य भी जलता है। किन्तु दीपकके जलनेसे काजल बनता है, सूर्यसे नहीं। वैसे ही ध्यान भी ध्यान करनेवालेके अच्छे या बुरे भावोंके अनुसार ही अच्छा या बुरा फल देता है॥ ६१८॥ [अब धर्मध्यानका वर्णन करते हैं—] जो निर्मल बुद्धि मनुष्य धर्मध्यान करता है वह प्रमाण, नय, निक्षेप और अनुयोगद्वारोंके साथ तत्त्वोंका चिन्तन करनेमें मनको लगाता है॥ ६१९॥ [धर्मध्यानके चार भेद हैं—आज्ञाविचय, अपायविचय, लोक या संस्थानविचय और विपाकविचय। इनमेंसे प्रत्येकका स्वरूप बतलाते हैं—] जैसे संसारमें सोनेके दो काम प्रकट रूपमें होते हैं—एक, उसे कसौटीपर कसा जाता है—दूसरे, उसे छैनीसे काटकर देखा जाता है। इन दो कामोंसे सोनेकी पहचान भलीभाँति हो जाती है। वैसे ही बुद्धिमान् मनुष्य परमागमको भी गूढ़तारहित ही पसन्द करते है। आशय यह हैं कि सोनेके समान परमागम भी ऐसा होना चाहिए जिसे सत्यकी कसौटीपर कसा जा सके। किन्तु जो आगम हमारे सरीखे अल्पज्ञानियोंके विचारोंकी कसौटीपर भी खरा नहीं उतरता, वह संसाररूपी समुद्रमें डूबते हुए जीवोंका सहारा कैसे हो सकता है॥ ६२०—६२१॥

अपायविचयका स्वरूप—आश्चर्य है कि युक्तिरूपी प्रकाशके फैले रहते भी मिथ्यात्वरूपी अन्धकार रत्नत्रयको ग्रहण करनेमें मनुष्योंके चित्तोंको अन्धा बनाता है। हम उस दिनकी आशा करते हैं जब ये मनुष्य पापोंको दूर करके दुःखोंसे छुड़ानेवाले तत्त्वको देख सकेंगे॥ ६२२--६२३॥

लोकविचयका स्वरूप—यह लोक अकृत्रिम है—इसे किसी ने बनाया नहीं है। तथा इसका स्वरूप भी विचित्र है—कोई मनुष्य दोनों पैर फैलाकर और दोनों हाथ दोनों कूल्होंपर रखकर खड़ा हो तो उसका जैसा आकार होता है वैसा ही आकार इस लोकका है। उसके बीचमें चौदह

रेणुवज्जन्तवस्तत्र तिर्यगूर्ध्वमधोऽपि च। अनारतं भ्रमन्त्येते निजकर्मानिलेरिताः ॥६२५
इति चिन्तयतो धर्म्यं यतात्मेन्द्रियचेतसः। तमांसि द्रवमायान्ति द्वादशात्मोदयादिव ॥६२६
भेदं विवर्जिताभेदमभेदं भेदवर्जितम्। ध्यायन्सूक्ष्मक्रियाशुद्धो निष्क्रियं योगमाचरेत् ॥६२७
विलीनाशयसम्बन्धः शान्तमारुतसंचयः। देहातीतः परंधाम कैवल्यं प्रतिपद्यते ॥६२८

राजू लम्बी और एक राजू चौड़ी त्रसनाली है। त्रसजीव उसी त्रसनालीमें रहते हैं। यह लोक चारों ओरसे तीन वातवलयोंसे घिरा हुआ है। उन वातवलयोंका नाम घनोदधिवातवलय, घनवातवलय और तनुवातवलय है। वलय कड़ेको कहते हैं। जैसे कड़ा हाथ या पैरको चारों ओरसे घेर लेता है वैसे ही ये तीन वायु भी लोकको चारों ओरसे घेरे हुए हैं। इसलिए उन्हें वातवलय कहते हैं। तथा लोकके ऊपर उसके अग्रभागमें सिद्ध स्थान है, जहाँ मुक्त हुए जीव सदा निवास करते हैं। इस प्रकार लोकके स्वरूपका चिन्तन करनेको लोकविचय या संस्थानविचय धर्मध्यान कहते हैं ॥६२४॥

विपाकविचयका स्वरूप—उस लोकके ऊपर नीचे और मध्यमें सर्वत्र अपने कर्मरूपी वायुसे प्रेरित होकर धूलिके समान जीव सदा भ्रमण करते रहते हैं। इस प्रकार कर्मोंके विपाक यानी उदय का चिन्तन करनेको विपाकविचय धर्मध्यान कहते हैं ॥६२५॥ **भावार्थ**—जैसे वायुके झोंकेसे धूलके कण उड़ते फिरते हैं वैसे ही अपने-अपने अच्छे या बुरे कर्मोंके प्रभावसे जीव भी तीनों लोकोंमें सदा भ्रमण करते रहते हैं। अपने-अपने उपार्जन किये हुए कर्मके फलका जो उदय होता है उसे विपाक कहते हैं। वह विपाक प्रतिक्षण होता रहता है और अनेक रूप होता है। उसका विचार करना विपाकविचय धर्मध्यान कहा जाता है। इस प्रकार अपनी इन्द्रियोंकी और चित्तको संयत करके जो धर्मध्यान करता है उसका अज्ञान ऐसा विलष्ट होता है जैसे सूर्यके उदयसे अन्धकार नष्ट होता है ॥६२६॥ [धर्मध्यानके बाद शुक्लध्यान होता है। अतः शुक्लध्यानका स्वरूप बतलाते हैं—] अभेदरहित भेद अर्थात् पृथक्त्ववितर्क और भेदरहित अभेद अर्थात् एकत्ववितर्क शुक्लध्यानको करके जीव सूक्ष्मक्रिया-प्रतिपाति नामक ध्यानको करता है और फिर क्रियानिवृत्ति नामक चौथे शुक्लध्यानको करता है। इसके करते ही आत्मासे समस्त कर्मोंका सम्बन्ध छूट जाता है। श्वासोच्छ्वास रुक जाता है और अशरीरी आत्मा परंधाम—मोक्षको प्राप्त करता है ॥६२७-६२८॥ **भावार्थ**—जो ध्यान क्रियारहित इन्द्रियातीत और अन्तर्मुख होता है उसे शुक्लध्यान कहते हैं। कषायरूपी मलके क्षय होनेसे अथवा उपशम होनेसे आत्माके परिणाम निर्मल हो जाते हैं और उन परिणामोंके होते हुए ही यह ध्यान होता है, इसलिए आत्माके शुचि गुणके सम्बन्धसे इसे शुक्लध्यान कहते हैं। उसके चार भेद हैं—पृथक्त्व-वितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और क्रिया निवृत्ति। इनमें-से पहलेके दो शुक्लध्यान उपशम श्रेणी या क्षपकश्रेणीवाले जीवोंके होते हैं और शेष दो शुक्लध्यान केवलज्ञानियोंके होते हैं। पहला शुक्लध्यान वितर्क वीचार और पृथक्त्वसहित होता है। इसमें पृथक्-पृथक् रूपसे श्रुतज्ञान और योग बदलता रहता है। इसलिए इसे पृथक्त्ववितर्क वीचार कहतेहैं। पृथक्त्व अनेकपनेको कहते हैं। वितर्क श्रुतज्ञानको कहते हैं और वीचार ध्येय, वचन और योगके संक्रमणको कहते हैं। जिस शुक्लध्यानमें ये तीनों बातें होती हैं उसे पहला शुक्लध्यान जानना चाहिए। दूसरा शुक्लध्यान वितर्कसहित वीचाररहित अतएव एकत्वविशिष्ट होता है। इस ध्यानमें ध्यानी मुनि एक द्रव्य अथवा एक पर्यायको एक योगसे चिन्तन करता है। इसमें अर्थ, वचन और योगका संक्रमण नहीं होता। इसलिए इसे एकत्व वितर्क कहते हैं। इस ध्यानसे घातिकर्म शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं और ध्यानी

प्रक्षीणोभयकर्माणं जन्मदोषैर्विवर्जितम् । लब्धात्मगुणमात्मानं मोक्षमाहुर्मनीषिणः ॥६२९
मार्गसूत्रमनुप्रेक्षाः सप्त तत्त्वं जिनेश्वरम् । ध्यायेदागमचक्षुष्मान्प्रसंख्यानपरायणः ॥६३०
जाने तत्त्वं यथैतिह्यं श्रद्दधे तदनन्यधीः । मुञ्चेऽहं सर्वमारम्भमात्मन्यात्मानमादधे ॥६३१
आत्मायं बोधिसंपत्तेरात्मन्यात्मानमात्मना । यदा सूते तदात्मानं लभते परमात्मना ॥६३२
ध्यातात्मा ध्येयमात्मैव ध्यानमात्मा फलं तथा । आत्मा रत्नत्रयात्मोक्तो यथायुक्तिपरिग्रहः ॥६३३
सुखामृतसुधासूतिस्तद्रवेरुदयाचलः । परं ब्रह्माहमत्रासे तमःपाशवशीकृतः ॥६३४
यदा चकास्ति मे चेतस्तद्ध्यानोदयगोचरम् । तदाहं जगतां चक्षुः स्यामादित्य इवातमाः ॥६३५
आदौ मध्वमधु प्रान्ते सर्वमिन्द्रियजं सुखम् । प्रातःस्नायिषु हेमन्ते तोयमुष्णमिवाङ्गिषु ॥ ६३६
यो दुरामयदुर्दृशो बद्धग्रासो यमोऽङ्गिनि । स्वभावसुभगे तस्य स्पृहा केन निवार्यते ॥६३७

मुनि सर्वज्ञ और सर्वदर्शी बन जाता है। उसके बाद आयु जब अन्तर्मुहूर्त प्रमाण शेष रहती है तब तीसरा शुक्लध्यान होता है। इसे करनेके लिए पहले केवली बादर काययोगमें स्थिर होकर बादर वचनयोग और बादर मनोयोगको सूक्ष्म करते हैं। फिर काययोगको छोड़कर वचनयोग और मनोयोगमें स्थिति करके बादर काययोगको सूक्ष्म करते हैं। पश्चात् सूक्ष्म काययोगमें स्थिति करके वचनयोग और मनोयोगका निग्रह करते हैं तब सूक्ष्मक्रिय नामक ध्यानको करते हैं। इसके बाद अयोगकेवली गुणस्थानमें योगका अभाव हो जानेसे आस्रवका निरोध हो जाता है। उस समय वे अयोगी भगवान् समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति शुक्लध्यानको ध्याते हैं। इस ध्यानमें श्वासोच्छ्वासका संचार ओर समस्तयोग तथा आत्माके प्रदेशोका हलन-चलन आदि क्रियाएँ नष्ट हो जाती हैं। इसलिए इसे समुच्छिन्नक्रिय या क्रियानिवृत्ति शुक्लध्यान कहते हैं। इसके प्रकट होनेपर अयोगकेवली गुणस्थानके उपान्त्य समयमें कर्मोकी ७२ प्रकृतियाँ नष्ट हो जाती हैं। अन्त समयमें बाकी बची १३ प्रकृतियाँ भी नष्ट हो जाती हैं और योगी सिद्धपरमेष्ठी बन जाता है। [शुक्लध्यानसे ही मोक्षकी प्राप्ति होती है, अतः मोक्षका स्वरूप बतलाते हैं—] जिसके द्रव्यकर्म और भावकर्म नष्ट हो गये हैं, अतएव जो जन्म, जरा, मृत्यु आदि दोषोंसे रहित है तथा अपने गुणोंको प्राप्त कर चुका है उस आत्माको बुद्धिमान् मनुष्य मोक्ष कहते हैं ॥६२९॥ शास्त्रद्रष्टा ध्यानी पुरुषको 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' इस सूत्रका बारह अनुप्रेक्षाओंका, सात तत्त्वोंका और जिनेन्द्र भगवान्का ध्यान करना चाहिए ॥ ६३० ॥ मैं आगमानुसार तत्त्वोंको जानता हूँ और एकाग्र मन होकर उनका श्रद्धान करता हूँ। तथा समस्त आरम्भको छोड़ता हूँ और अपनेमें अपनेको लगाता हूँ ॥ ६३१ ॥ जब यह ज्ञानरूप सम्पत्तिका स्वामी आत्मा आत्मासे आत्मामें आत्माको ध्यान करता है तब आत्माको परमात्मरूपसे पाता है ॥ ६३२ ॥ आत्मा ध्यान करनेवाला है, आत्मा ही ध्येय है, आत्मा ही ध्यान है और रत्नत्रयमयी आत्मा ही ध्यानका फल है। युक्तिके अनुसार उसको ग्रहण करना चाहिए ॥६३३॥ मैं सुखरूपी अमृतके लिए चन्द्रमा हूँ। तथा सुखरूपी सूर्यके लिए उदयाचल हूँ। मैं परब्रह्म स्वरूप हूँ किन्तु अज्ञानान्धकाररूपी जालमें फँसकर इस शरीरमें ठहरा हुआ हूँ ॥ ६३४ ॥ जब मेरे चित्तमें उस ध्यानका उदय होगा तब मैं अन्धकाररहित सूर्यके समान संसारका दृष्टा हो जाऊँगा ॥ ६३५ ॥ जितना भी इन्द्रियजन्य सुख है, वह प्रारम्भमें मीठा प्रतीत होता है किन्तु अन्तमें कटुक ही लगता है। जैसे जो लोग शीतऋतुमें प्रातःस्नान करते हैं उन्हें पानी उष्ण प्रतीत होता है ॥ ६३६ ॥ जो यमराज रोगसे ग्रस्त और देखनेमें असुन्दर प्राणीको खानेके लिए

जन्मयौवनसंयोगसुखानि यदि देहिनाम् । निर्विपक्षाणि को नाम सुधीः संसारमुत्सृजेत् ॥६३८
अनुयाचेत नायूंषि नापि मृत्युमुपाहरेत् । भृतो भृत्य इवासीत कालावधिमविस्मरन् ॥६३९
महाभागोऽहमद्यास्मि यत्तत्त्वरुचितेजसा । सुविशुद्धान्तरात्मासे तमःपारे प्रतिष्ठितः ॥६४०
तन्नास्ति यदहं लोके सुखं दुःखं च नाप्नवान् । स्वप्नेऽपि न मया प्राप्तो जैनागमसुधारसः ॥६४१
सम्यगेतत्सुधाम्भोधेर्बिन्दुमप्यालिहन्मुहुः । जन्तुर्न जातु जायेत जन्मज्वलनभाजनः ॥६४२
देवं देवसभासीनं पञ्चकल्याणनायकम् । चतुस्त्रिंशद्गुणोपेतं प्रातिहार्योपशोभितम् ॥६४३
निरञ्जनं जिनाधीशं परमं रमयाश्रितम् । अच्युतं च्युतदोषौघमभवं भवभृद्गुरुम् ॥६४४
सर्वसंस्तुत्यमस्तुत्यं सर्वेश्वरमनीश्वरम् । सर्वाराध्यमनाराध्यं सर्वाश्रयमनाश्रयम् ॥६४५
प्रभवं सर्वविद्यानां सर्वलोकपितामहम् । सर्वसत्त्वहितारम्भं गतसर्वमसर्वगम् ॥६४६
नम्रामरकिरीटांशुपरिवेषनभस्तले । भवत्पादद्वयद्योतिनखनक्षत्रमण्डलम् ॥६४७
स्तूयमानमनूचानैर्ब्रह्मोद्यैर्ब्रह्मकामिभिः । अध्यात्मागमवेधोभिर्योगिमुख्यैर्महर्द्धिभिः ॥६४८

तैयार रहता है, स्वभावसे ही सुन्दर मनुष्यमें उसकी रुचिको कौन हटा सकता है ? ॥ ६३७ ॥ यदि प्राणियोंके जन्म, यौवन, संयोग और सुखके विपक्षी मृत्यु, बुढ़ापा, वियोग और दुःख न होते तो कौन बुद्धिमान् संसारको छोड़ता ? ॥ ६३८ ॥ अतः न तो आयुकी याचना करना चाहिए कि मैं और अधिक दिनों तक जीता रहूँ, और न मृत्युको बुलाना चाहिए कि मैं जल्दी मर जाऊँ। किन्तु अपने जीवनकी अवधिको न भूलकर वेतन पानेवाले नौकरकी तरह रहना चाहिए ॥ ६३९ ॥ आज मैं बड़ा भाग्यशाली हूँ; क्योंकि तत्त्वरुचिरूपी तेजसे मेरा अन्तरात्मा सुविशुद्ध हो गया है और मैं मिथ्यात्वरूपी अन्धकारको पार कर चुका हूँ ॥ ६४० ॥ संसारमें ऐसा कोई सुख और दुःख नहीं है जो मैंने नहीं भोगा। किन्तु जैनागमरूपी अमृतका पान मैंने स्वप्नमें भी नहीं किया ॥ ६४१ ॥ इस अमृतके सागरकी एक बूँदको भी बार-बार आस्वादन करनेवाला प्राणी फिर कभी भी जन्मरूपी अग्निका पात्र नहीं बनता ॥ ६४२ ॥ [अब अर्हन्तदेवका ध्यान करनेकी प्रेरणा करते हैं—] समवसरणमें विराजमान, पाँच कल्याणकोंके नायक, चौंतीस अतिशयोंसे युक्त, आठ प्रातिहार्योंसे सुशोभित, घातियाकर्मरूपी मलसे रहित, उत्कृष्ट अन्तरंग और बहिरंग लक्ष्मीसे वेष्टित, जिनश्रेष्ठ, आत्म स्वरूपसे कभी च्युत न होनेवाले, दोषसमूहसे रहित, संसारातीत किन्तु संसारी प्राणियोंके गुरु, स्वयं सबके द्वारा स्तुति करनेके योग्य, किन्तु जिनके लिए कोई भी स्तुति-योग्य नहीं, स्वयं सबके स्वामी किन्तु जिनका स्वामी कोई नहीं, सबके आराध्य किन्तु जिनका कोई आराध्य नहीं, सबके आश्रय किन्तु जिनका कोई आश्रय नहीं, समस्त विद्याओंके उत्पत्तिस्थान, सब लोकोंके पितामह, सब प्राणियोंके हितू, सबके ज्ञाता, स्वशरीर प्रमाण, नमस्कार करते हुए देवोंके मुकुटोंके किरण-जालरूपी आकाशमें जिनके दोनों चरणोंके प्रकाशमान नख नक्षत्रमण्डलके समान प्रतीत होते हैं, ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मको पानेके इच्छुक अध्यात्म शास्त्रके रचयिता ऋद्धिधारी ऋषिगण, जिनकी स्तुति करते हैं, उन रूपरहित किन्तु सबका निरूपण करनेवाले, स्वयं शब्दरूप न होते हुए भी शब्द यानी आगमके द्वारा कहे जानेवाले, स्पर्शगुणसे रहित किन्तु ध्यानके द्वारा स्पृष्ट, रस गुणसे रहित किन्तु सरस उपदेशके दाता, गन्ध गुणसे रहित किन्तु गुणोंकी सुगन्धसे विशिष्ट, इन्द्रियोंके सम्बन्धसे रहित किन्तु इन्द्रियोंके विषयोंके प्रकाशक, आनन्दरूपी धान्यकी उत्पत्तिके लिए पृथ्वीको तृष्णा रूपी अग्निकी लपटोंको शान्त करनेके लिए पानी, दोषरूपी धूलिको हटानेके लिए वायु, पापरूपी

नीरूपं रूपिताशेषमशब्दं शब्दनिष्ठितम् । अस्पर्शं योगसंस्पर्शमरसं सरसागमम् ॥६४९
गुणैः सुरभितात्मानमगन्धगुणसंगमम् । व्यतीतेन्द्रियसंबन्धमिन्द्रियार्थावभासकम् ॥६५०
भुवमानन्दसस्यानामम्भस्तृष्णानलार्चिषाम् । पवनं दोषरेणूनामग्निमेनोवनीरुहाम् ॥६५१
यजमानं सदर्थानां व्योमालेपादिसंपदाम् । भानुं भव्यारविन्दानां चन्द्रं मोक्षामृतश्रियाम् ॥६५२
अतावकगुणं सर्वं त्वं सर्वगुणभाजनः । त्वं सृष्टिः सर्वकामानां कामसृष्टिनिमीलनः ॥६५३
खसुप्तदीपनिर्वाणेऽप्राकृते वा त्वयि स्फुटम् । खसुप्तदीपनिर्वाणं प्राकृतं स्याज्जगत्त्रयम् ॥६५४
त्रयीमार्गं त्रयीरूपं त्रयीमुक्तं त्रयीपतिम् । त्रयीव्याप्तं त्रयीतत्त्वं त्रयीचूडामणिस्थितम् ॥६५५
जगतां कौमुदीचन्द्रं कामकल्पावनीरुहम् । गुणचिन्तामणिक्षेत्रं कल्याणागमनाकरम् ॥६५६
प्रणिधानप्रदीपेषु साक्षादिव चकासतम् । ध्यायेज्जगत्त्रयार्चार्हमर्हन्तं सर्वतो मुखम् ॥६५७
आहुस्तस्मात्परं ब्रह्म तस्मादैन्द्रं पदं करे । इमास्तस्मादयत्नाप्याश्चक्राङ्का क्षितिपश्रियः ॥६५८
यं यमध्यात्ममार्गेषु भावमस्मयमत्सराः । तत्पदाय दधत्यन्तः स स तत्रैव लीयते ॥६५९
अनुपायानिलोद्भ्रान्तं पुंस्तरूणां मनोदलम् । तद्भूमाविव भज्येत लीयमानं चिरादपि ॥६६०

वृक्षोंको जलानेके लिए अग्नि, आकाशकी तरह निर्लिप्त रहना आदि उत्तमोत्तम सम्पत्तियोंके दाता, भव्यरूपी कमलोंके विकासके लिए सूर्य, मोक्षरूपी अमृतके लिए चन्द्रमा, अलौकिक गुणशाली, समस्त गुणोंके भाजन, सब मनोरथोंको पूर्ण करनेवाले, कामविकारको दूर करनेवाले, नैयायिक मतमें निर्वाणका स्वरूप आकाशकी तरह माना गया है क्योंकि मुक्त अवस्थामें आत्माके विशेष गुणोंका उच्छेद हो जाता है। सांख्य मतमें निर्वाणका स्वरूप सोये हुए मनुष्यकी तरह माना गया है क्योंकि मुक्तावस्थामें ज्ञान नहीं रहता, बौद्ध मतमें दीपकके निर्वाणकी तरह आत्माका निर्वाण माना गया है किन्तु अर्हन्त भगवान्में तीनों प्रकारके निर्वाण अपने प्राकृत स्वरूपमें विद्यमान हैं। राग-द्वेष और मोहसे रहित होनेके कारण वे प्रायः आकाशको तरह शून्य है, ध्यानमें लीन होनेके कारण सुप्त हैं और दीपकी तरह केवलज्ञानके द्वारा समस्त पदार्थोंके प्रकाशक हैं, रत्नत्रय जिनका मार्ग है, सत्ता, सुख और चैतन्यसे विशिष्ट होनेके कारण जो त्रयीरूप हैं, राग-द्वेष और मोहसे मुक्त हैं, स्वर्गलोक, मर्त्यलोक और पाताललोकके स्वामी हैं, तीनों लोकोंको जान लेनेके कारण तीनों लोकोंमें व्याप्त हैं, अथवा सदा रहनेसे तीनों कालोंमें व्याप्त हैं, उत्पाद, व्यय और ध्रौव्ययुक्त हैं, तीनों लोकोंके शिखरपर विराजमान हैं तथा जगत्के लिए पूर्णिमासीके चन्द्रमा हैं, इच्छित वस्तुके लिए कल्पवृक्ष हैं, गुणरूपी चिन्तामणिके स्थान, कल्याणकी प्राप्तिके लिए खनि, तीनों लोकोंसे पूजनीय और ध्यानरूपी दीपकोंके प्रकाशमें साक्षात् चमकनेवाले अर्हन्त भगवान्का ध्यान करना चाहिए ॥ ६४३–६५७ ॥ उन अर्हन्तका ध्यान करनेसे परब्रह्मकी प्राप्ति होती है, उनका ध्यान करनेसे इन्द्रपद तो हाथमें ही समझना चाहिए। तथा चक्रवर्तीकी विभूति भी बिना प्रयत्नके प्राप्त हो जाती है ॥ ६५८ ॥ मान और ईर्षासे रहित पुरुष अध्यात्म-मार्गमें अपने अन्तःकरणमें अर्हन्तपदकी प्राप्तिके लिए जो-जो भाव रखते हैं वह-वह भाव उसीमें लीन हो जाता है ॥ ६५९ ॥ पुरुषरूपी वृक्षोंका मनरूपी पत्ता मोक्षके लिए जो उपायरूप नहीं है ऐसे मिथ्यादर्शन आदि रूप वायुसे सदा चंचल बना रहता है। किन्तु अर्हन्तरूपी भूमिमें पहुँचकर वह मनरूपी पत्ता टूटकर उसीमें चिरकालके लिए लीन हो जाता है ॥ ६६० ॥ **भावार्थ**—पुरुष एक वृक्ष है और मन उसका पत्ता है। जैसे वायुसे पत्ता सदा हिलता रहता है वैसे ही नाना प्रकारके सांसारिक धन्धोंमें

ज्योतिरेकं परं वेषः करीषाश्मसमित्समः। तत्प्राप्त्युपायदिङ्मूढा भ्रमन्ति भवकानने ॥६६१
परापरपरं देवमेवं चिन्तयतो यतेः। भवन्त्यतीन्द्रियास्ते ते भावा लोकोत्तरश्रियः ॥६६२
व्योमच्छायानरोत्सङ्गि यथामूर्तमपि स्वयम्। योगयोगात्तथात्माऽयं भवेत्प्रत्यक्षवीक्षणः ॥६६३
न ते गुणा न तज्ज्ञानं न सा दृष्टिर्न तत्सुखम्। यद्योगद्योतने न स्यादात्मन्यस्ततमश्चये ॥६६४
देवं जगत्त्रयीनेत्रं व्यन्तराद्याश्च देवताः। समं पूजाविधानेषु पश्यन् दूरं व्रजेदधः ॥६६५
ताः शासनाधिरक्षार्थं कल्पिताः परमागमे। अतो यज्ञांशदानेन माननीयाः सुदृष्टिभिः ॥६६६
तच्छासनैकभक्तीनां सुदृशां सुव्रतात्मनाम् स्वयमेव प्रसीदन्ति ताः पुंसां सपुरन्दराः ॥६६७
तद्धामबद्धकक्षाणां रत्नत्रयमहीयसाम्। उभे कामदुधे स्यातां द्यावाभूमी मनोरथैः ॥६६८
कुर्यात्तपो जपेन्मन्त्रान्नमस्येद्वापि देवताः। सस्पृहं यदि तच्चेतो रिक्तः सोऽमुत्र चेह च ॥६६९
ध्यायेद्वा वाङ्मयं ज्योतिर्गुरुपञ्चकवाचकम् एतद्धि सर्वविद्यानामधिष्ठानमनश्वरम् ॥६७०

फँसे रहनेके कारण मनुष्यका मन भी सदा चंचल बना रहता है। किन्तु जब मनुष्य मोक्षके उपाय में लगकर अपने मनको स्थिर करनेका प्रयत्न करता है और अर्हन्तका ध्यान करता है तो उसका मन उसीमें लीन होकर उसे अर्हन्त बना देता है और तब मनरूपी पत्ता टूटकर गिर पड़ता है क्योंकि अर्हन्त अवस्थामें भाव मन नहीं रहता। जैसे आग एक है किन्तु कण्डा, पत्थर और लकड़ीके रूपमें वह विभिन्न आकार धारण कर लेती है। वैसे ही आत्मा एक है किन्तु स्त्री, नपुंसक और पुरुषके वेषमें वह तीन रूप प्रतीत होती है। उस आग या आत्माकी प्राप्तिके उपायोंसे अनजान मनुष्य संसाररूपी जंगलमें भटकते फिरते हैं॥ ६६१ ॥ इस प्रकार जो मुनि पर और अपरसे भी श्रेष्ठ श्री अर्हन्तदेवका ध्यान करता है उसके बड़े उच्च अलौकिक भाव होते हैं जिन्हें हम इन्द्रियोंसे नहीं जान सकते॥ ६६२ ॥ जैसे आकाश स्वयं अमूर्तिक है फिर भी पुरुषकी छायाके संसर्गसे शून्य आकाशमें भी पुरुषका दर्शन होता है वैसे ही यद्यपि आत्मा अमूर्तिक है फिर भी ध्यानके सम्बन्धसे उसका प्रत्यक्ष दर्शन हो जाता है॥ ६६३ ॥ न ऐसे कोई गुण हैं, न कोई ज्ञान है, न ऐसी कोई दृष्टि है और न ऐसा कोई सुख है जो अज्ञान आदि रूप अन्धकारके समूहका नाश हो जानेपर ध्यानसे प्रकाशित आत्मामें न होता हो। अर्थात् ध्यानके द्वारा आत्मामें अज्ञानरूप अन्धकारके नष्ट हो जानेपर ज्ञानादि सभी गुण प्रकाशित हो जाते हैं॥ ६६४ ॥ [कुछ व्यन्तरादिक देवता जिनशासनके रक्षक माने जाते हैं। कुछ लोग उनकी भी पूजा करते हैं। उसके विषयमें ग्रन्थकार बतलाते हैं—] जो श्रावक तीनों लोकोंके द्रष्टा जिनेन्द्र देवको और व्यन्तरादिक देवताओंको पूजाविधानमें समान रूपसे मानता है अर्थात् दोनोंकी समान रूपसे पूजा करता है वह नरकगामी होता है ॥ ६६५ ॥ परमागममें जिनशासनकी रक्षाके लिए उन शासन-देवताओंकी कल्पना की गयी है अतः पूजाका एक अंश देकर सम्यग्दृष्टियोंको उनका सम्मान करना चाहिए॥ ६६६ ॥ जो व्रती सम्यग्दृष्टि जिनशासनमें अचल भक्ति रखते हैं उनपर वे व्यन्तरादिक देवता और उनके इन्द्र स्वयं ही प्रसन्न होते हैं॥ ६६७ ॥ जो रत्नत्रयके धारक मोक्षधामकी प्राप्तिके लिए कमर कस चुके हैं, भूमि और आकाश दोनों ही उनके मनोरथोंको पूर्ण करते हैं॥ ६६८ ॥ तप करो, मन्त्रोंका जाप करो अथवा देवोंको नमस्कार करो, किन्तु यदि चित्तमें सांसारिक वस्तुओंकी चाह है कि हमें यह मिल जाये तो वह इस लोकमें भी खाली हाथ रहता है और परलोकमें भी खाली हाथ रहता है ॥ ६६९ ॥ अथवा पञ्चपरमेष्ठीके वाचक मंत्रका ध्यान

ध्यायन् विन्यस्य देहेऽस्मिन्निदं मन्दिरमुद्रया । सर्वनामादिवर्णार्हं वर्णाद्यन्तं सबीजकम् ॥६७१
तपःश्रुतविहीनोऽपि तद्ध्यानाविद्धमानसः । न जातु तमसां स्रष्टा तत्तत्त्वरुचिदीप्रधीः ॥६७२
अधीत्य सर्वशास्त्राणि विधाय च तपः परम् । इमं मन्त्रं स्मरन्त्यन्ते मुनयोऽनन्यचेतस. ॥६७३
मन्त्रोऽयं स्मृतिधाराभिश्चित्तं यस्याभिवर्षति । तस्य सर्वे प्रशाम्यन्ति क्षुद्रोपद्रवपांसवः ॥६७४
अपवित्रः पवित्रो वा सुस्थितो दुःस्थितोऽपि वा । भवत्येतत्स्मृतिर्जन्तुरास्पदं सर्वसंपदाम् ॥६७५
उक्तं लोकोत्तरं ध्यानं किञ्चिल्लौकिकमुच्यते । प्रकीर्णकप्रपञ्चेन दृष्टादृष्टफलाश्रयम् ॥६७६
पञ्चमूर्तिमयं बीजं नासिकाग्रे विचिन्तयन् । निधाय संगमे चेतो दिव्यज्ञानमवाप्नुयात् ॥६७७
यत्र तत्र हृषीकेऽस्मिन्निदधीताचलं मनः । तत्र तत्र लभेतायं बाह्यग्राह्याश्रयं सुखम् ॥६७८
स्थूलं सूक्ष्मं द्विधा ध्यानं तत्त्वबीजसमाश्रयम् । आद्येन लभते कामं द्वितीयेन परं पदम् ॥६७९
पद्ममुत्थापयेत्पूर्वं नाडीं संचालयेत्ततः । मरुच्चतुष्टयं पश्चात्प्रचारयतु चेतसि ॥६८०

करना चाहिए; क्योंकि यह मंत्र सब विद्याओंका अविनाशी स्थान है ॥ ६७० ॥ जिसमें पञ्च नमस्कार मंत्रके पाँचों पदोंके प्रथम अक्षर सन्निविष्ट हैं ऐसे 'अर्हं' इस मन्त्रको इस शरीरमें स्थापित करके मन्दिर मुद्राके द्वारा ध्यान करनेवाला मनुष्य तप और श्रुतसे रहित होनेपर भी कभी अज्ञानका जनक नहीं होता; क्योंकि उसकी बुद्धि उस तत्त्वमें रुचि होनेसे सदा प्रकाशित रहती है ॥ ६७१-६७२ ॥ सब शास्त्रोंका अध्ययन करके तथा उत्कृष्ट तपस्या करके मुनिजन अन्त समय मन लगाकर इसी मन्त्रका ध्यान करते हैं ॥ ६७३ ॥ यह मन्त्र जिसके चित्तमें स्मृतिरूपी धाराओंके द्वारा बरसता है अर्थात् जो बारम्बार अपने चित्तमें इस मन्त्रका स्मरण करता है, उसके छोटे-मोटे सब उपद्रवरूपी धूल शान्त हो जाती है ॥ ६७४ ॥ अपवित्र या पवित्र, ठीक तरहसे स्थित या दुःस्थित जो प्राणी इस मन्त्रका स्मरण करता है उसे सब सम्पत्तियाँ प्राप्त होती हैं ॥ ६७५ ॥ अलौकिक ध्यानका वर्णन हो चुका । अब उसकी चूलिकाके रूपमें दृष्ट और अदृष्ट फलके दाता लौकिक ध्यानका कुछ वर्णन करते हैं ॥ ६७६ ॥ नाकके अग्र भागमें दृष्टको स्थिर करके और मनको भौंहोंके बीचमें स्थापित करके जो पंचपरमेष्ठीके वाचक 'ओं' मन्त्रका ध्यान करता है वह दिव्य ज्ञानको प्राप्त करता है ॥ ६७७ ॥ जिस-जिस इन्द्रियमें यह मनको स्थिर करता है, इसे उस-उस इन्द्रियमें बाह्य पदार्थोंके आश्रयसे होनेवाला सुख प्राप्त होता है ॥ ६७८ ॥ ध्यानके दो भेद हैं—एक स्थूलध्यान, दूसरा सूक्ष्मध्यान । स्थूलध्यान किसी तत्त्वका साहाय्य लेकर होता है और सूक्ष्मध्यान बीजपदका साहाय्य लेकर होता है । स्थूलध्यानसे इच्छित वस्तुकी प्राप्ति होती है और सूक्ष्मध्यानसे उत्तम पद मोक्ष प्राप्त होता है ॥ ६७९ ॥ पहले नाभिमें स्थित कमलका उत्थापन करे । फिर नाडीका संचालन करे । फिर जो पृथ्वी, अग्नि, वायु और जल ये चार वायुमण्डल स्थित हैं उनको आत्मामें प्रचारित करे ॥ ६८० ॥ **भावार्थ**—योग अथवा ध्यानके आठ अंग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि । ध्यानकी सिद्धि और अन्तरात्माकी स्थिरताके लिए प्राणायामको भी प्रशंसनीय बतलाया है । प्राणायामके तीन भेद हैं—पूरक, कुम्भक और रेचक । नासिकाके द्वारा वायुको अन्दरकी ओर ले जाकर शरीरमें पूरनेको पूरक कहते हैं । उस पूरक वायुको स्थिर करके नाभिकमलमें घड़ेकी तरह भरकर रोके रखनेका नाम कुम्भक है । और फिर उस वायुको यत्नपूर्वक धीरे-धीरे बाहर निकालनेको रेचक कहते हैं। इसके अभ्याससे मन स्थिर होता है। मनमें संकल्पविकल्प नहीं उठते, और कषायोंके साथ विषयोंकी चाह भी घट जाती है । प्राणायामके

दीपहस्तो यथा कश्चित्किंचिदालोक्य तं त्यजेत् । ज्ञानेन ज्ञेयमालोक्य पश्चात्तं ज्ञानमुत्सृजेत् ॥६८१
सर्वपापास्रवे क्षीणे ध्याने भवति भावना । पापोपहृतबुद्धीनां ध्यानवार्ताऽपि दुर्लभा ॥६८२
दधिभावगतं क्षीरं न पुनः क्षीरतां व्रजेत् । तत्त्वज्ञानविशुद्धात्मा पुनः पापैर्न लिप्यते ॥६८३
मन्दं मन्दं क्षिपेद्वायुं मन्दं मन्दं विनिक्षिपेत् । न क्वचिद्वार्यते वायुर्न च शीघ्रं प्रमुच्यते ॥६८४
रूपं स्पर्शं रसं गन्धं शब्दं चैव विदूरतः । आसन्नमिव गृह्णन्ति विचित्रा योगिनां गतिः ॥६८५
दग्धे बीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नाङ्कुरः । कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवाङ्कुरः ॥६८६
नाभौ चेतसि नासाग्रे दृष्टौ भाले च मूर्धनि । विहारयेन्मनो हंसं सदा कायसरोवरे ॥ ६८७
यायाद्व्योम्नि जले तिष्ठेन्निषीदेदनलार्चिषि । मनोमरुत्प्रयोगेण शस्त्रैरपि न बाध्यते ॥६८८
जीवः शिवः शिवो जीवः किं भेदोऽस्त्यत्र कश्चन । पाशबद्धो भवेज्जीवः पाशमुक्तः शिवः पुनः ॥६८९

अभ्यासी योगीको चार पवनमण्डलोंको भी जानना आवश्यक है। ये चारों पवनमण्डल नासिकाके छिद्रमें स्थित हैं। इनका ज्ञान सरल नहीं है। प्राणायामके महान् अभ्याससे ही इन चार पवनमण्डलोंका अनुभव हो सकता है। ये चार पवनमण्डल हैं—पार्थिव, वारुण, मरुत और आग्नेय। इनका स्वरूप ज्ञानार्णवके २९ वें प्रकरणमें वर्णित है। वहाँ से जाना जा सकता है। इन पवनमण्डलोंकी साधनाके द्वारा लौकिक शुभाशुभ जाना जा सकता है। यह ऊपर कहा ही है कि लौकिक ध्यानका वर्णन करते हैं सो यह सब वशीकरण, स्तम्भन, उच्चारण आदि लौकिक क्रियाओंके लिए उपयोगी हैं। जैसे कोई आदमी दीपक हाथमें लेकर और उसके द्वारा आवश्यक पदार्थको देखकर उस दीपकको छोड़ देता है वैसे ही ज्ञानके द्वारा ज्ञेय पदार्थको जानकर पीछे उस ज्ञानको छोड़ देना चाहिए ॥ ६८१ ॥ समस्त पापकर्मोंका आस्रव रुक जानेपर ही मनुष्यको ध्यान करनेकी भावना होती है। जिनकी बुद्धि पापकर्ममें लिप्त है उनके लिए तो ध्यानकी चर्चा भी दुर्लभ है। अर्थात् पापी मनुष्य ध्यान करना तो दूर रहा, ध्यानका नाम भी नहीं ले पाते ॥ ६८२ ॥ तथा जैसे जो दूध दहीरूप हो जाता है वह फिर दूधरूप नहीं हो सकता, वैसे ही जिसका आत्मा तत्त्वज्ञानसे विशुद्ध हो जाता है वह फिर पापोंसे लिप्त नहीं होता ॥ ६८३ ॥ ध्यान करते समय वायुको धीरे-धीरे छोड़ना चाहिए और धीरे-धीरे ग्रहण करना चाहिए। न वायुको हठपूर्वक रोकना ही चाहिए और न जल्दी निकालना ही चाहिए। अर्थात् श्वासोच्छ्वासकी गति बहुत मन्द होनी चाहिए ॥ ६८४ ॥ योगियोंकी गति बड़ी विचित्र होती है। वे दूरवर्ती रूप, रस, स्पर्श, गन्ध और शब्दको ऐसे जान लेते हैं मानो वह समीप ही है ॥ ६८५ ॥ जैसे बीजके जलकर राख हो जानेपर उससे अंकुर उत्पन्न नहीं हो सकता वैसे ही कर्मरूपी बीजके जलकर राख हो जानेपर संसाररूपी अंकुर नहीं उगता ॥ ६८६ ॥ कायरूपी सरोवरके नाभिदेशमें, चित्तमें, नाकके अग्रभागमें, दृष्टिमें, मस्तकमें अथवा शिरोदेशमें मनरूपी हंसका विहार सदा कराना चाहिए। अर्थात् ये सब ध्यान लगानेके स्थान हैं, इनमेंसे किसी भी एक स्थानपर मनको स्थिर करके ध्यान करना चाहिए ॥ ६८७ ॥ जो मन और वायुको साध लेता है वह आकाशमें विहार कर सकता है, जलमें स्थिर रह सकता है और आगकी लपटोंमें बैठ सकता है। अधिक क्या ? शस्त्र भी उसका कुछ बिगाड़ नहीं कर सकते ॥ ६८८ ॥ जीव शिव अर्थात् परमात्मा है और परमात्मा जीव है। इन दोनोंमें क्या कुछ भी भेद है ? जो कर्मरूपी बन्धनसे बँधा हुआ है वह जीव है और जो उससे मुक्त हो गया वह परमात्मा है अर्थात् आत्मा और परमात्मामें शुद्धता और अशुद्धताका अन्तर है, अन्य कुछ भी अन्तर नहीं है।

साकारं नश्वरं सर्वमनाकारं न दृश्यते। पक्षद्वयविनिर्मुक्तं कथं ध्यायन्ति योगिनः ॥६९०
अत्यन्तं मलिनो देहः पुमानत्यन्तनिर्मलः। देहादेनं पृथक्कृत्वा तस्मान्नित्यं विचिन्तयेत् ॥६९१
तोयमध्ये यथा तैलं पृथग्भावेन तिष्ठति। तथा शरीरमध्येऽस्मिन्पुमानास्ते पृथक्तया ॥६९२
दध्नः सर्पिरिवात्मायमुपायेन शरीरतः। पृथक्क्रियेत तत्त्वज्ञैश्चिरं संसर्गवानपि ॥६९३
पुष्पामोदौ तरुच्छाये यद्वत्सकलनिष्कले। तद्वत्तौ देहदेहस्थौ यद्वा लपनबिम्बवत् ॥६९४
एकस्तम्भं नवद्वारं पञ्चपञ्चजनाश्रितम्। अनेककक्षमेवेदं शरीरं योगिनां गृहम् ॥६९५
ध्यानामृतान्नतृप्तस्य क्षान्तियोषिद्रतस्य च। अत्रैव रमते चित्तं योगिनो योगबान्धवे ॥६९६
रज्जुभिः कृष्यमाणः स्याद्यथा पारिप्लवो हयः। कृष्टस्तथेन्द्रियैरात्मा ध्याने लीयेत न क्षणम् ॥६९७
रक्षां संहरणं सृष्टिं गोमुद्रामृतवर्षणम्। विधाय चिन्तयेदाप्तमाप्तरूपधरः स्वयम् ॥६९८

शुद्ध आत्माको ही परमात्मा कहते हैं ॥ ६८९ ॥ जो साकार है वह विनाशी है और जो निराकार है वह दिखायी नहीं देता। किन्तु आत्मा तो न साकार है और न निराकार है, उसका योगीजन कैसे ध्यान करते हैं? ॥ ६९० ॥ शरीर अत्यन्त गन्दा है किन्तु आत्मा अत्यन्त निर्मल है। अतः शरीरसे आत्माको जुदा करके सदा उसका ध्यान करना चाहिए ॥ ६९१ ॥ जैसे पानीके बीचमें रहकर भी तेल पानीसे जुदा रहता है, वैसे ही इस शरीरमें रहकर भी आत्मा उससे अलग ही रहता है ॥६९२॥ जैसे घी और दहीका सम्बन्ध पुराना है फिर भी जानकार लोग उपायके द्वारा दहीसे घीको अलग कर लेते हैं वैसे ही इस आत्माका शरीरके साथ यद्यपि बहुत पुराना सम्बन्ध है, फिर भी तत्त्वके ज्ञाता पुरुष उपायके द्वारा आत्माको शरीरसे अलग कर लेते हैं ॥ ६९३ ॥ अथवा जैसे पुष्प साकार है किन्तु उसकी गन्ध निराकार है, या वृक्ष साकार है किन्तु उसकी छाया निराकार है अथवा मुख साकार है किन्तु उसका प्रतिबिम्ब निराकार है वैसे ही शरीर और शरीरमें स्थित आत्माको जानना चाहिए ॥ ६९४ ॥ यह शरीर ही योगियोंका घर है। यह घर एक आयुरूपी स्तम्भपर ठहरा हुआ है। इसमें नौ द्वार हैं—दोनों आँखोंके दो छिद्र, दोनों कानोंके दो छिद्र, नाकके दो छिद्र, मुखका एक छिद्र, और मल-मूत्र त्यागके दो छिद्र। पाँचों इन्द्रियरूपी मनुष्य इसमें वास करते हैं और यह अनेक कोठरियोंसे युक्त है ॥ ६९५ ॥ चूँकि यह शरीर योगका सहायक है इसलिए जो योगी ध्यान-रूपी अन्न-जलसे सन्तुष्ट रहते हैं और क्षमारूपी स्त्रीमें आसक्त होते हैं उनका मन इसीमें रमता है, इससे बाहर नहीं जाता ॥ ६९६ ॥ जैसे रासके खींचनेसे घोड़ा चंचल हो जाता है वैसे ही इन्द्रियों-के द्वारा आकृष्ट आत्मा क्षणभर भी ध्यानमें लीन नहीं हो सकता। अतः ध्यानी पुरुषको इन्द्रियोंको वशमें रखना चाहिए, स्वयं उनके वशमें नहीं होना चाहिए ॥ ६९७ ॥ रक्षा, संहार, सृष्टि, गोमुद्रा और अमृतवृष्टिको करके स्वयं आप्त स्वरूपधारी मनुष्यको आप्तके स्वरूपका ध्यान करना चाहिए ॥ ६९८ ॥ विशेषार्थ—धर्मध्यानके संस्थानविचय नामक भेदके भी चार अवान्तर भेद हैं—पिण्डस्थ पदस्थ रूपस्थ और रूपातीत। पिण्डस्थध्यानमें पाँच धारणाएँ होती हैं—पार्थिवी, आग्नेयी, मारुती, वारुणी और तत्त्वरूपवती। पार्थिव धारणाका स्वरूप इस प्रकार है—प्रथम ही योगी निःशब्द, तरंगरहित क्षीरसमुद्रका ध्यान करता है। उसके मध्यमें एक सुनहरे रंगके सहस्रदल कमलका ध्यान करता है। फिर उस कमलके मध्यमें मेरुके समान एक कर्णिकाका ध्यान करता है और फिर उस कर्णिकाके ऊपर स्थित सिंहासनपर अपनेको बैठा हुआ विचारता है। यह पार्थिवी धारणा है। अब आग्नेयी धारणाको कहते हैं—फिर वह योगी अपने नाभिमण्डलमें सोलह पत्रोंके एक कमलका

धूमवन्निर्वमेत्पापं गुरुबीजेन तादृशा। गृह्णीयादमृतं तेन तद्वर्णेन मुहुर्मुहुः ॥६९९
संन्यस्ताभ्यामधोङ्घ्रिभ्यामूर्वोरुपरि युक्तितः। भवेच्च समगुल्फाभ्यां पद्मवीरसुखासनम् ॥७००
तत्र सुखासनस्येदं लक्षणम्—
गुल्फोत्तानकराङ्गुष्ठरेखारोमालिनासिकाः। समदृष्टिः समाः कुर्यान्नातिस्तब्धो न वामनः ॥७०१
तालत्रिभागमध्याङ्घ्रिः स्थिरशीर्षशिरोऽधरः। समनिष्पन्दपार्ष्णग्रजानुभ्रूहस्तलोचनः ॥७०२
न खात्कृतिर्न कण्डूतिर्नौष्ठभक्तिर्न कम्पितिः। न पर्वगणितिः कार्या नोक्तिरन्दोलितिः स्मितिः ॥७०३
न कुर्याद्दूरदृक्पातं नैव केकरवीक्षणम्। न स्पन्दं पक्ष्ममालानां तिष्ठेन्नासाग्रदर्शनः ॥७०४
विक्षेपाक्षेपसंमोहदुरीहरहिते हृदि। लब्धतत्त्वे करस्थोऽयमशेषो ध्यानजो विधिः ॥७०५

चिन्तन करता है। फिरे उन सोलह पत्रोंपर 'अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः' इन सोलह अक्षरोंका ध्यान करता है और कमलकी कर्णिकापर 'र्ह्रं' का ध्यान करता है फिर 'र्ह्रं' की रेफसे निकलती हुई धूमकी शिखाका चिन्तन करता है। फिर उसमें-से निकलते हुए स्फुलिंगोंका चिन्तन करता है। फिर उसमें-से निकलती हुई ज्वालाकी लपटोंका और उन लपटोंके द्वारा हृदयस्थित कमलको जलता हुआ चिन्तन करता है। उस कमलके जल चुकनेके पश्चात् शरीरके बाहर बड़वानलकी तरह जलती हुई अग्निका चिन्तन करता है। यह प्रज्वलित अग्नि उस नाभिस्थ कमलको और शरीरको भस्म करके जलानेके लिए कुछ शेष न रहनेसे स्वयं शान्त हो जाती है ऐसा चिन्तन करता है। अब मारुती धारणाको कहते हैं—फिर योगी आकाशको पूरकर विचरते हुए महावेगशाली और महाबलवान वायुमण्डलका चिन्तन करता है। उसके बाद ऐसा चिन्तन करता है कि उस महावायुने शरीरादिककी सब भस्मको उड़ा दिया है। आगे वारुणी धारणाको कहते हैं—फिर वह योगी बिजली गर्जन आदि सहित मेघोंके समूहसे भरे हुए आकाशका चिन्तन करता है। फिर उसको बरसते हुए चिन्तन करता है। फिर उस जलके प्रवाहसे शरीरादिकी भस्मको बहता हुआ चिन्तन करता है। अब तत्त्वरूपवती धारणाको कहते हैं—फिर वह योगी पूर्ण चन्द्रमाके समान निर्मल सर्वज्ञ आत्माका चिन्तन करता है। फिर वह ऐसा चिन्तन करता है कि वह आत्मा सिंहासनपर विराजमान है, दिव्य अतिशयोंसे सहित है और देवदानव उसकी पूजा कर रहे हैं। फिर वह उसे आठ कर्मोंसे रहित पुरुषाकार चिन्तन करता है। यह तत्त्व-रूपवती धारणा है। इस प्रकार पिण्डस्थ ध्यानका अभ्यासी योगी शीघ्र ही मोक्ष सुखको प्राप्त कर लेता है। उक्त श्लोकके द्वारा ग्रन्थकारने इन्हीं धारणाओंका कथन किया है। उस प्रकारके बीजाक्षर 'र्ह्रं' से धूमकी तरह पापको नष्ट करना चाहिए। अर्थात् आग्नेयी धारणामें र्ह्रं की रेफसे निकलती हुई धूमशिखाका चिन्तन करनेसे धूमकी तरह पापका क्षय होता है। तथा उस अमृत वर्णअकारसे बार-बार अमृतको ग्रहण करना चाहिए ॥ ६९९ ॥ भावार्थ—'अर्हं' पदका ध्यान करे। ध्यानके समय 'हं' के द्वारा पापका विनाश होता हुआ चिन्तन करे और अलंकारसे अमृत को ग्रहण करे।

ध्यानके आसनोंका स्वरूप—जिसमें दोनों पैर दोनों घुटनोंसे नीचे दोनों पिण्डलियोंपर रखकर बैठा जाता है उसे पद्मासन कहते हैं। जिसमें दोनों पैर दोनों घुटनोंके ऊपरके हिस्सेपर रखकर बैठा जाता है अर्थात् बायीं ऊरूके ऊपर दायाँ पैर और दायीं ऊरूके ऊपर बायाँ पैर रखा जाता है उसे वीरासन कहते हैं। और जिसमें पैरोंकी गाँठें बराबरमें रहती हैं उसे सुखासन कहते हैं ॥ ७०० ॥ पैरोंकी गाँठोंपर बायीं हथेलीके ऊपर दायीं हथेलीको सीधा रखे। अँगूठोंकी रेखा, नाभिसे निकलकर ऊपरको जानेवाली रोमावली और नाक एक सीधमें हों। दृष्टि सम हो। शरीर न एकदम तना

यस्या पदद्वयमलंकृतियुग्मयोग्यं लोकत्रयाम्बुजसरः प्रविहारहारि ।
तां वाग्विलासवसतिं सलिलेन देवीं सेवे कविद्रुतरुमण्डनकल्पवल्लीम् ॥७०६ (इति तोयम्)
यामन्तरेण सकलार्थसमर्थनोऽपि बोधोऽवकेशितरुवन्न फलार्थिसेव्यः ।
सोऽल्पवेद्यपि यथानुगतस्त्रिलोक्याऽऽसेव्यः सुरद्रुरिव तं प्रयजेय गन्धैः ॥७०७ (इति गन्धम्)
या स्वल्पवस्तुरचनापि मितप्रवृत्तिः संस्कारतो भवति तद्विपरीतलक्ष्मीः ।
स्वर्वल्लरीवनलतेव सुधानुबन्धात्तामद्भुतस्थितिमहं सदकैः श्रयामि ॥७०८ (इत्यक्षतम्)
यद्बीजमल्पमपि सज्जनधीधरायां लब्धप्रवृद्धिविविधानवधिप्रबन्धैः ।
सस्यैरपूर्वरसवृत्तिभिरेव रोहत्याश्चर्यगोचरविधिं प्रसवैर्भजे ताम् ॥७०९ (इति पुष्पम्)
या स्पष्टताधिकविधिः परतन्त्रनीतिः प्रायः कलापरिगतापि मनः प्रसूते ।
स्पष्टं स्वतन्त्रमुपशान्तकलं च नृणां चित्रा हि वस्तुगतिरन्नविधैर्यजे ताम् ॥७१० (इति चरुम्)

हुआ हो और न एकदम झुका हुआ हो । खड्गासन अवस्थामें दोनों चरणोंके बीचमें चार अंगुलका अन्तर होना चाहिए । सिर और गर्दन स्थिर हों । एड़ी, घुटने, भृकुटि, हाथ और आंखें समान रूपसे निश्चल हों । न खांसे, न खुजाये । न ओठ चलाये, न काँपे, न हाथके पर्वोपर गिनें, न बोले, न हिले-डुले, न मुसकराये, न दृष्टिको दूर तक ले जाये और न कटाक्षसे ही देखे । आंखके पलकों-को न मारे और नाकके अग्रभागमें अपनी दृष्टिको स्थिर रखे। हृदयमें चंचलता, तिरस्कार, मोह और दुर्भावनाके न होनेपर तथा तत्त्वज्ञानके होनेपर यह समस्त ध्यानकी विधि करमें स्थित अर्थात् सुलभ है ॥ ७०१–७०५ ॥ [अब अष्टद्रव्यसे शास्त्रका पूजन कहते हैं—] जिसके सुबन्त और तिङन्तरूप अथवा शब्द और धातुरूप दोनों पद (चरण) शब्दालंकार और अर्थालंकारके योग्य हैं, तथा तीनों लोकरूपी कमलसरोवरमें विचरण करनेसे मनोहर हैं उस कविरूपी कल्पवृक्षोंको शोभित करनेके लिए कल्पलताके तुल्य सरस्वती देवीको मैं जलसे पूजता हूँ ॥ ७०६ ॥ जिसके बिना समस्त पदार्थोंका समर्थन करनेवाला भी ज्ञान फलहीन वृक्षकी तरह फलार्थी पुरुषोंके द्वारा सेवनीय नहीं होता, और जिसका अनुसरण करनेवाला अत्यन्त अल्पज्ञानी भी मनुष्य कल्पवृक्षकी तरह तीनों लोकोंसे पूजित होता है, उस जिनवाणीको मैं गन्धसे पूजता हूँ ॥ ७०७ ॥ **भावार्थ**—जिनवाणी स्व और परका ज्ञान कराकर जीवोंको हितमें लगाती है और अहितसे बचाती है । अतः हिताहितके विवेकसे रहित बहुत ज्ञान भी मोक्षाभिलाषियोंके लिए बेकार है । और हिताहितके विवेकसे युक्त अल्पज्ञान भी पूजनीय है; क्योंकि उसीके द्वारा जीव सिद्ध-बुद्ध बनकर त्रिलोकपूजित होता है । जिस जिनवाणीके संस्कारवश अल्प अर्थवाली और अल्प शब्दवाली रचना भी महान् अर्थशाली और महाशब्दवाली हो जाती है, जैसे अमृतके सिञ्चनसे बड़की लता भी कल्पलता हो जाती है । उस अद्भुत स्थितिवाली जिनवाणीको मैं अक्षतसे पूजता हूँ ॥ ७०८ ॥ जिस जिनवाणीका छोटा-सा भी बीज सज्जनकी बुद्धिरूपी भूमिमें अनेक प्रकारके असीम वृद्धिगत प्रबन्धोके द्वारा और अपूर्व रससे युक्त फलोंके साथ उगता है, तथा जिसकी विधि आश्चर्यका विषय है उस जिनवाणीको मैं फूलोंसे पूजता हूँ ॥ ७०९ ॥ जो शब्दरूप होनेसे नेत्रका विषय नहीं है अतएव अति अस्पष्ट है, तथा जो कण्ठ तालु आदि स्थानोंसे उत्पन्न होनेके कारण परतन्त्र है और मूर्तिसहित है—साकार है, उस वाणीको मनुष्योंका मन स्पष्ट स्वतन्त्र और शरीर-रहित प्रकट करता है । आशय यह है कि जिन-वाणी श्रुत ज्ञानरूप है और श्रुतज्ञान अस्पष्ट होता है तथा श्रुतज्ञानावरणके क्षयोपशमके अधीन

एकं पदं बहुपदापि ददासि तुष्टा वर्णात्मिकापि च करोषि न वर्णभाजम् ।
सेवे तथापि भवतीमथवा जनोऽर्थी दोषं न पश्यति तदस्तु तवैष दीपः ॥७११ (इति दीपम्)
चक्षुः परं करणकन्दरदूरितेऽर्थे मोहान्धकारविधुतौ परमः प्रकाशः ।
तद्धामगामिपथवीक्षणरत्नदीपस्त्वं सेव्यसे तदिह देवि जनेन धूपैः ॥७१२ (इति धूपम्)
चिन्तामणित्रिदिवधेनुसुरद्रुमाद्याः पुंसां मनोरथपथप्रथितप्रभावाः ।
भावा भवन्ति नियतं तव देवि सम्यक्सेवाविधेस्तदिदमस्तु मुदे फलं ते ॥७१३ (इति फलम्)

कलधौतकमलमौक्तिकदुकूलमणिजालचामरप्रायैः ।
आराधयामि देवीं सरस्वतीं सकलमङ्गलैर्भावैः ॥७१४
स्याद्वादभूधरभवा मुनिमाननीया देवैरनन्यशरणैः समुपासनीया ।
स्वान्ताश्रिताखिलकलङ्कहरप्रवाहा वागापगास्तु मम बोधगजावगाहा ॥७१५
मूर्धाभिषिक्तोऽभिषवाज्जिनानामर्च्योऽर्चनात्संस्तवनात् स्तवार्हः ।
जपी जपाद्ध्यानविधेरबाध्यः श्रुताश्रितश्रीः श्रुतसेवनाच्च ॥७१६

होनेसे परतन्त्र भी होता है । किन्तु केवलज्ञान होने पर वही वाणी स्पष्ट, स्वतन्त्र और निराकार रूपमें अवतरित होती है । सच है वस्तुओंकी गति बड़ी विचित्र है उस वाणीको मैं चरुसे पूजता हूँ ॥ ७१० ॥ हे जिनवाणी माता ! आप बहुत पदवाली होनेपर भी सन्तुष्ट होनेपर एक पद देती है, वर्णात्मक होनेपर भी वर्ण प्रदान नहीं करतीं, इस तरह आप बहुत कृपण हैं, फिर भी मैं आपकी सेवा करता हूँ; क्योंकि अर्थी मनुष्य दोष नहीं देखता । यह विरोधाभास अलंकार है । इसका परिहार इस तरह है । द्वादशांग रूप जिनवाणीके पदोंकी संख्या एक सौ बारह करोड़ तेरासी लाख अट्ठावन हजार पाँच है । अतः वह बहुपदा है । और उसके द्वारा एक पद—अद्वितीय मोक्ष प्राप्त होता है । तथा वह जिनवाणी अक्षरात्मक है मगर आत्माको ब्राह्मणादि वर्गोंसे मुक्त कर देती है । अतः मैं उसे दीप अर्पित करता हूँ ॥ ७११ ॥ हे देवी सरस्वती ! गुफाके समान इन इन्द्रियोंसे दूरवर्ती पदार्थको देखनेके लिए आप चक्षुके समान हैं, अर्थात् जो पदार्थ इन्द्रियोंके अगोचर हैं उन्हें जिनवाणीके प्रसादसे जाना जा सकता है, और मोहरूपी अन्धकारको नष्ट करनेके लिए आप परम प्रकाशके तुल्य हैं । तथा मोक्ष महलको जानेवाले मार्गको दिखानेके लिए आप रत्नमयी दीपक हैं । इसलिए लोग धूपसे आपका पूजन करते हैं ॥७१२॥ हे देवि ! आपकी विधिपूर्वक सेवा करनेसे मनुष्योंके मनोरथोंको पूर्ण करनेवाले चिन्तामणि रत्न, कामधेनु और कल्पवृक्ष आदि पदार्थ नियमसे प्राप्त होते हैं अतः यह फल आपकी प्रसन्नताके लिए हो ॥ ७१३ ॥ मैं स्वर्णकमल, मोती, रेशमी वस्त्र, मणियोंका समूह और चमर वगैरह मांगलिक पदार्थोंसे सरस्वती देवीकी आराधना करता हूँ ॥७१४॥ स्याद्वादरूपी पर्वतसे उत्पन्न होनेवाली, मुनियोंके द्वारा आदरणीय, अन्यकी शरणमें न जानेवाले देवोंके द्वारा सम्यक् रूपसे उपासनीय और जिसका प्रवाह अन्तःकरणके समस्त दोषोंको हरनेवाला है, ऐसी वाणीरूपी नदी मेरे ज्ञानरूपी हाथीके अवगाहनके लिए हो, अर्थात् मैं ज्ञान-द्वारा उस जिनवाणीका अवगाहन करूँ—उसमें डुबकी लगाऊँ ॥ ७१५ ॥ जिनभगवान्‌का अभिषेक करनेसे मनुष्य मस्तकाभिषेकका पात्र होता है, पूजा करनेसे पूजनीय होता है, स्तवन करनेसे स्तवनीय (स्तवन किये जानेके योग्य) होता है, जपसे जप किये जानेके योग्य होता है, ध्यान करनेसे बाधाओंसे रहित होता है और श्रुतकी सेवा (स्वाध्यायादि) करनेसे महान् शास्त्रज्ञ होता है ॥७१६॥

दृष्टस्त्वं जिन सेवितोऽसि नितरां भावैरनन्याश्रयैः
स्निग्धस्त्वं न तथापि यत्समविधिर्भक्ते विरक्तेऽपि च।
मच्चेतः पुनरेतदीश भवति प्रेमप्रकृष्टं ततः
किं भाषे परमत्र यामि भवतो भूयात्पुनर्दर्शनम् ॥७१७
पर्वाणि प्रोषधान्याहुर्मासे चत्वारि तानि च। पूजाक्रियाव्रताधिक्याद्धर्मकर्मात्र बृंहयेत् ॥७१८
रसत्यागैकभक्तैकस्थानोपवसनक्रियाः। यथाशक्तिर्विधेयाः स्युः पर्वसन्धौ च पर्वणि ॥७१९
तन्नैरन्तर्यसान्तर्यतिथितीर्थर्क्षपूर्वकः। उपवासविधिश्चित्रश्चिन्त्यः श्रुतसमाश्रयः ॥७२०
स्नानगन्धाङ्गसंस्कारभूषायोषाविषक्तधीः। निरस्तसर्वसावद्यक्रियः संयमतत्परः ॥७२१
देवागारे गिरौ चापि गृहे वा गहनेऽपि वा। उपोषितो भवेन्नित्यं धर्मध्यानपरायणः ॥७२२
पुंसः कृतोपवासस्य बह्वारम्भरतात्मनः। कायक्लेशः प्रजायेत गजस्नानसमक्रियः ॥७२३
अनवेक्षाप्रतिलेखमदुष्कर्मारम्भदुर्मनस्काराः। आवश्यकविरतियुताश्चतुर्थमेते विनिघ्नन्ति ॥७२४
विशुद्धेन्नान्तरात्मायं कायक्लेशविधिं विना। किमग्नेरन्यदस्तीह काञ्चनाश्मविशुद्धये ॥७२५

हे जिनेन्द्र ! मैंने तुम्हारा दर्शन किया और जिनका अन्य आश्रय नहीं है ऐसे भावोंसे तुम्हारी अतिशय सेवा (पूजा) की। यद्यपि हे प्रभो, तुम राग-द्वेषसे रहित होनेके कारण निस्नेह हो, तथापि भक्तमें और विरक्तमें तुम्हारा समभाव है अर्थात् जो तुम्हारी सेवा करता है उससे तुम्हें राग नहीं है और जो तुम्हारी सेवा नहीं करता, उससे द्वेष नहीं है। फिर भी मेरा यह चित्त हे स्वामिन् ! आपके प्रति प्रेमसे भरा है। अधिक क्या कहूँ अब मैं जाता हूँ। मुझे आपका पुनः दर्शन प्राप्त हो ॥ ७१७ ॥

प्रोषधोपवास व्रतका स्वरूप—प्रोषध पर्वको कहते हैं। वे पर्व प्रत्येक मासमें चार होते हैं। इन पर्वोंमें विशेष पूजा, विशेष क्रिया और विशेष व्रतोंका आचरण करके धर्म-कर्मको बढ़ाना चाहिए ॥ ७१८ ॥ पर्व तथा पर्वके सन्धि दिनोंमें रसोंका त्याग, एकाशन, एकान्त स्थलमें निवास, उपवास आदि क्रियाएँ यथाशक्ति करनी चाहिए ॥ ७१९ ॥ लगातार या बीचमें अन्तराल देकरके तिथि तीर्थङ्करोंके कल्याणक तथा नक्षत्र आदिका विचार करके आगमानुसार अनेक प्रकारके उपवासकी विधिको विचार लेना चाहिए। अर्थात् रसत्याग, एकभक्त, उपवास आदि कोई तो सदा करते हैं, कोई अमुक तिथिको करते हैं, कोई तीर्थङ्करोंके कल्याणकके दिन करते हैं, इस प्रकार अनेक प्रकारके उपवासकी विधिका आगमानुसार विचार कर करना चाहिए ॥ ७२० ॥ [आगे उपवासकी विधि बतलाते हैं—] उपवास करनेवाला गृहस्थ स्नान, इत्र-फुलेल, शरीरकी सजावट, आभूषण और स्त्रीसे मनको हटाकर तथा समस्त सावद्य क्रियाओंसे विरक्त होकर संयममें तत्पर हो और देवालयमें, पहाड़पर या घरमें अथवा किसी दुर्गम एकान्त स्थानमें जाकर धर्मध्यानपूर्वक अपना समय बितावे ॥ ७२१-७२२ ॥ जो पुरुष उपवास करके भी अनेक प्रकारके आरम्भोंमें फँसा रहता है, उसका उपवास केवल कायक्लेशका ही कारण होता है और उसकी क्रिया हाथीके स्नानकी तरह व्यर्थ है ॥ ७२३ ॥ बिना देखे और बिना साफ किये किसी भी पापकार्यसे युक्त आरम्भको करना, बुरे विचार लाना और सामायिक, वन्दना, प्रतिक्रमण आदि षट्कर्मोंको न करना, ये काम प्रोषधोपवासव्रतके घातक हैं। अतः उपवासके दिन इस प्रकारकी असावधानी नहीं करनी चाहिए ॥७२४॥ [यह कहा जा सकता है कि उपवास करनेसे शरीरको कष्ट होता है और शरीरको कष्ट देनेसे

हस्ते चिन्तामणिस्तस्य दुःखद्रुमदवानलः । पवित्रं यस्य चारित्रैश्चित्तं सुकृतजन्मनः ॥७२६
यः सकृत्सेव्यते भावः स भोगो भोजनादिकः । भूषादिः परिभोगः स्यात्पौनःपुन्येन सेवनात् ॥७२७
परिमाणं तयोः कुर्याच्चित्तव्याप्तिनिवृत्तये । प्राप्ते योग्ये च सर्वस्मिन्निच्छया नियमं भजेत् ॥७२८
यमश्च नियमश्चेति द्वौ त्याज्ये वस्तुनि स्मृतौ । यावज्जीवं यमो ज्ञेयः सावधिर्नियमः स्मृतः ॥७२९
पलाण्डुकेतकीनिम्बसुमनःसूरणादिकम् । त्यजेदाजन्म तद्रूपबहुप्राणिसमाश्रयम् ॥७३०
दुष्पक्वस्य निषिद्धस्य जन्तुसंबन्धमिश्रयोः । अवीक्षितस्य च प्राशस्तत्संख्याक्षतिकारणम् ॥७३१
इत्थं नियतवृत्तिः स्यादनिच्छोऽप्याश्रयः श्रियाम् । नरो नरेषु देवेषु मुक्तिश्रीसविधागमः ॥७३२
यथाविधि यथादेशं यथाद्रव्यं यथागमम् । यथापात्रं यथाकालं दानं देयं गृहाश्रमैः ॥७३३
आत्मनः श्रेयसेऽन्येषां रत्नत्रयसमृद्धये । स्वपरानुग्रहायेत्थं यत्स्यात्तद्दानमिष्यते ॥७३४
दातृपात्रविधिद्रव्यविशेषात्तद्विशिष्यते । यथा घनाघनोद्गीर्णं तोयं भूमिसमाश्रयम् ॥७३५

आत्माका कुछ लाभ नहीं है। अतः उपवास नहीं करना चाहिए। इस प्रकारकी आपत्ति करनेवालोंको ग्रन्थकार उत्तर देते हैं—] शरीरको कष्ट दिये विना शरीरमें रहनेवाली आत्मा विशुद्ध नहीं हो सकती। सुवर्ण पाषाणको शुद्ध करके उसमें-से सोना निकालनेके लिए क्या अग्निके सिवा दूसरा कोई उपाय है ? अग्निमें तपानेसे ही सोना शुद्ध होता है, वैसे ही शरीरको कष्ट देनेसे आत्मा विशुद्ध होती है ॥ ७२५ ॥ जिस पुण्यात्मा पुरुषका चित्त चारित्रसे पवित्र है, चिन्तामणिरत्न उसके हाथमें है, जो दुःखरूपी वृक्षको जलानेके लिए अग्निके समान है। चारित्र ही वह चिन्तामणि रत्न है जो दुःखोंको नष्ट करनेवाला है ॥ ७२६ ॥

भोगपरिभोगपरिमाणव्रत [अब भोगपरिभोगपरिमाणव्रतको कहते हैं—] जो पदार्थ एक बार ही भोगा जाता है जैसे भोजन आदिक उसे भोग कहते हैं। और जो बार-बार भोगा जाता है जैसे भूषण आदिक उसे परिभोग या उपभोग कहते हैं ॥ ७२७ ॥ चित्तके फैलावको रोकनेके लिए भोग और उपभोगका परिमाण कर लेना चाहिए। और जो कुछ प्राप्त है और प्राप्त होनेके साथ-ही साथ जो सेवन करनेके योग्य है उसमें भी अपनी इच्छानुसार नियम कर लेना चाहिए। ७२८ ॥ भोगपरिभोगका परिमाण दो प्रकारसे किया जाता है—एक यम रूपसे, दूसरे नियम रूपसे। जीवन पर्यन्त त्याग करनेको यम कहते हैं और कुछ समयके लिए त्याग करनेको नियम कहते हैं ॥ ७२९ ॥ प्याज आदि जमीकन्द, केतकी और नीमके फूल तथा सूरण आदि तो जीवन पर्यन्तको छोड़ देना चाहिए, क्योंकि इनमें उसी प्रकारके बहुत जीवोंका वास होता है ॥ ७३० ॥ जो भोजन कच्चा है या जल गया है, जिसका खाना निषिद्ध है, जो जन्तुओंसे छू गया है या जिसमें जन्तु जा पड़े हैं, तथा जिसे हमने देखा नहीं है ऐसे भोजनको खाना भोगपरिभोगपरिमाणव्रतकी क्षतिका कारण होता है ॥ ७३१ ॥ इस प्रकार जो भोगोपभोगका परिमाण करता है वह मनुष्य और देवपर्यायमें जन्म लेकर विना चाहे ही लक्ष्मीका स्वामी बनता है और मुक्ति भी उसे मिल जाती है ॥ ७३२ ॥ [अब दानका वर्णन करते हैं—] गृहस्थोंको विधि, देश, द्रव्य, आगम, पात्र और कालके अनुसार दान देना चाहिए ॥ ७३३ ॥ जिससे अपना भी कल्याण हो और अन्य (मुनियों) के रत्नत्रय-सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी उन्नति हो, इस तरह जो अपने और दूसरोंके उपकारके लिए दिया जाता है उसे ही दान कहते हैं ॥ ७३४ ॥ जैसे मेघोंसे बरसा हुआ पानी भूमिको पाकर विशिष्ट फलदायी हो जाता है वैसे ही दाता, पात्र, विधि और द्रव्यकी विशेषतासे दानमें भी विशे-

दातानुरागसंपन्नः पात्रं रत्नत्रयोचितम् । सत्कारः स्याद्विधिर्द्रव्यं तपःस्वाध्यायसाधकम् ॥७३६
परलोकधिया कश्चित्कश्चिदैहिकचेतसा । औचित्यमनसा कश्चित्सतां वित्तव्ययस्त्रिधा ॥७३७
परलोकैहिकौचित्येष्वस्ति येषां न धीः समा । धर्मः कार्यं यशश्चेति तेषामेतत् त्रयं कुतः ॥७३८
अभयाहारभैषज्यश्रुतभेदाच्चतुर्विधम् । दानं मनीषिभिः प्रोक्तं भक्तिशक्तिसमाश्रयम् ॥७३९
सौरूप्यमभयादाहुराहाराद्भोगवान् भवेत् । आरोग्यमौषधाज्ज्ञेयं श्रुतात्स्याच्छ्रुतकेवली ॥७४०
अभयं सर्वसत्त्वानामादौ दद्यात्सुधीः सदा । तद्धीने हि वृथा सर्वः परलोकोचितो विधिः ॥७४१
दानमन्यद्भवेन्मा वा नरश्चेदभयप्रदः । सर्वेषामेव दानानां यतस्तद्दानमुत्तमम् ॥७४२
तेनाधीतं श्रुतं सर्वं तेन तप्तं तपः परम् । तेन कृत्स्नं कृतं दानं यः स्यादभयदानवान् ॥७४३
नवोपचारसंपन्नः समेतः सप्तभिर्गुणैः । अन्नैश्चतुर्विधैः शुद्धैः साधूनां कल्पयेत्स्थितिम् ॥७४४

प्रतिग्रहोच्चासनपादपूजाप्रणामवाक्कायमनःप्रसादाः ।
विधाविशुद्धिश्च नवोपचाराः कार्या मुनीनां गृहसंश्रितेन ॥७४५

षता आ जाती है ॥ ७३५ ॥ जो प्रेमपूर्वक दे वह दाता है, जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्रसे भूषित है वह पात्र है । आदरपूर्वक देनेका नाम विधि है और जो तप और स्वाध्यायमें सहायक हो वही द्रव्य है ॥ ७३६ ॥ सज्जन पुरुष तीन प्रकारसे अपने धनको खर्च करते हैं : कोई परलोकको बुद्धिसे कि परलोकमें हमें सुख प्राप्त होगा, धन खरचते हैं । कोई इस लोकके लिए धन खरचते हैं और कोई उचित समझकर धन खरचते हैं । किन्तु जिन्हें न परलोकका ध्यान है, न इहलोकका ध्यान है और न औचित्यका ही ध्यान है वे न धर्म कर सकते हैं, न अपने लौकिक कार्य कर सकते हैं और न यश ही कमा सकते हैं ॥ ७३७-७३८ ॥ बुद्धिमान् पुरुषोंने चार प्रकारका दान बतलाया है—अभयदान, आहारदान, औषधदान और शास्त्रदान । ये चारों दान अपनी शक्ति और श्रद्धाके अनुसार देने चाहिए ॥ ७३९ ॥ अभयदानसे सुन्दर रूप मिलता है । आहार दानसे भोग मिलते हैं । औषधदानसे आरोग्य प्राप्त होता है और शास्त्रदानसे श्रुतकेवली होता है ॥ ७४० ॥ सबसे प्रथम सब प्राणियोंको अभयदान देना चाहिए । क्योंकि जो अभयदान नहीं दे सकता उस मनुष्यकी समस्त पारलौकिक क्रियाएँ व्यर्थ हैं ॥ ७४१ ॥ और कोई दान दो या न दो, किन्तु अभयदान जरूर देना चाहिए; क्योंकि सब दानोंमें अभयदान श्रेष्ठ है ॥ ७४२ ॥ जो अभयदान देता है, वह सब शास्त्रोंका ज्ञाता है, परम तपस्वी है और सब दानोंका कर्ता है ॥ ७४३ ॥ **भावार्थ**—प्राणिमात्रका भय दूर करके उनके जीवनकी रक्षा करना अभयदान है । जो इस दानको करता है वह सब दानोंको करता है; क्योंकि जीवनकी रक्षा सब चाहते हैं । सबको अपना-अपना जीवन प्रिय है । यदि जीवनपर ही संकट हो तो आहारदान या औषधदान या शास्त्रदान किस कामका । जो मनुष्य अपनेसे दूसरोंकी रक्षा नहीं कर सकता अर्थात् जो अहिंसा धर्मका पालन नहीं करता वह यदि परलोकके लिए धर्मकर्म करे भी तो वह सब व्यर्थ है । क्योंकि धर्मका मूल जीवरक्षा है । यदि मूल ही नहीं तो धर्म कहाँ से हो सकता है । अतः प्राणिमात्रको यथाशक्ति जीवनदान देना ही सर्वोत्तम दान है । [अब आहारदानको कहते हैं—] सात गुणोंसे युक्त दाताको नवधा भक्तिपूर्वक साधुजनोंको अन्न, पान, खाद्य, लेह्यके भेदसे चार प्रकारका शुद्ध आहार देना चाहिए ॥ ७४४ ॥ [अब नवधा भक्ति बतलाते हैं—] गृहस्थको मुनियोंकी नवधा भक्ति करनी चाहिए । सबसे पहले अपने द्वारपर मुनिको आते देखकर उन्हें आदरपूर्वक ग्रहण करना चाहिए कि स्वामिन् ! ठहरिए,

श्रद्धा तुष्टिर्भक्तिर्विज्ञानमलुब्धता क्षमा शक्तिः। यत्रैते सप्त गुणास्तं दातारं प्रशंसन्ति ॥७४६

तत्र विज्ञानस्येदं लक्षणम्—

विवर्णं विरसं विद्धमसात्म्यं प्रभृतं च यत्। मुनिभ्योऽन्नं न तद्देयं यच्च भुक्तं गदावहम् ॥७४७
उच्छिष्टं नीचलोकार्हमन्योद्दिष्टं विगर्हितम्। न देयं दुर्जनस्पृष्टं देवयक्षादिकल्पितम् ॥७४८
ग्रामान्तरात्समानीतं मन्त्रानीतमुपायनम्। न देयमापणक्रीतं विरुद्धं वाऽयथर्तुकम् ॥७४९
दधिसर्पिपयोभक्ष्यप्रायं पर्युषितं मतम्। गन्धवर्णरसभ्रष्टमन्यत्सर्वं विनिन्दितम् ॥७५०
बालग्लानतपःक्षीणवृद्धव्याधिसमन्वितान्। मुनीनुपचरेन्नित्यं यथा ते स्युस्तपःक्षमाः ७५१
शाठ्यं गर्वमवज्ञानं परिप्लवमसंयमम्। वाक्पारुष्यं विशेषेण वर्जयेद्भोजनक्षणे ॥७५२
अभक्तानां कदर्याणामव्रतानां च सद्मसु। न भुञ्जीत तथा साधुर्दैन्यकारुण्यकारिणाम् ॥७५३
नाहरन्ति महासत्त्वाश्चित्तेनाप्यनुकम्पिताः। किन्तु ते दैन्यकारुण्यसंकल्पोज्झितवृत्तयः ॥७५४
धर्मेषु स्वामिसेवायां सुतोत्पत्तौ च कः सुधीः। अन्यत्र कार्यदैवाभ्यां प्रतिहस्तं समादिशेत् ॥७५५

ठहरिए, ठहरिए। यदि वे ठहर जायें तो घरमें ले जाकर उन्हें ऊँचे आसनपर बैठाना चाहिए। फिर उनके चरणोंको धोकर पूजा करनी चाहिए। फिर प्रणाम करनाचाहिए। फिर उनसे निवेदन करना चाहिए कि मेरा मन शुद्ध है, वचन शुद्ध है, काय शुद्ध है और अन्न, जल शुद्ध है। ये नवधा भक्ति हैं ॥ ७४५ ॥ [अब दाताके सात गुण बतलाते हैं—] जिस दातामें श्रद्धा, सन्तोष, भक्ति, विज्ञान, अलोभीपना, क्षमा और शक्ति ये सात गुण पाये जाते हैं वह दाता प्रशंसाके योग्य होता है ॥७४६॥ [इन गुणोंमें-से विज्ञानगुणका स्वरूप ग्रन्थकार स्वयं बतलाते हैं—] जो भोजन विरूप हो, चलित-रस हो, फेंका हुआ हो, साधुकी प्रकृतिके विरुद्ध हो, जल गया हो, तथा जो खानेसे रोग पैदा करे, वह भोजन मुनिको नहीं देना चाहिए ॥ ७४७ ॥ जो उच्छिष्ट हो—खानेसे बच गया हो, नीच लोगोंके खाने योग्य हो, दूसरोंके लिए बनाया हो, निन्दनीय हो, दुर्जनसे छू गया हो या किसी देवता अथवा यक्षके उद्देश्यसे रखा हो, वह भोजन मुनिको नहीं देना चाहिए ॥ ७४८ ॥ जो दूसरे गाँवसे लाया गया हो, या मन्त्रके द्वारा लाया गया हो, या भेंटमें आया हो या बाजारसे खरीदा हो या ऋतुके प्रतिकूल हो, वह भोजन मुनिको नहीं देना चाहिए ॥ ७४९ ॥ दही, घी, दूध आदि बासी भी खानेके योग्य हैं, किन्तु जिसका रूप, गन्ध और स्वाद बदल गया हो वह मुनिको देनेके योग्य नहीं है ॥ ७५० ॥ अवस्थामें छोटे, रोगसे दुर्बल, बूढ़े और कोढ़ आदि व्याधियोंसे पीड़ित मुनियोंकी सदा सेवा करनी चाहिए, जिससे वे तप करनेमें समर्थ हो सकें ॥ ७५१ ॥ भोजनके समय कपट, घमण्ड, निरादर, चंचलता, असंयम और कठोर वचनोंको विशेष रूपसे छोड़ना चाहिए अर्थात् वैसे तो इनको सदा ही छोड़ना चाहिए, किन्तु भोजनके समय तो खास तौरसे छोड़ देना चाहिए; क्योंकि इन सबका मनपर अच्छा असर नहीं पड़ता और मन खराब होनेसे भोजनका भी परिपाक ठीक नहीं होता ॥ ७५२ ॥ जो भक्तिपूर्वक दान नहीं देते, या अत्यन्त कृपण हैं अथवा अव्रती हैं या दीनता और करुणा उत्पन्न करते हैं अर्थात् अपनी दीनता प्रकट करते हैं, या करुणा बुद्धिसे दान देते हैं, उनके घरपर साधुको आहार नहीं लेना चाहिये ॥ ७५३ ॥ वे साधु बड़े सत्त्व-शाली होते हैं, चित्तसे भी बड़े दयालु होते हैं। उनकी वृत्ति दीनता और करुणाजन संकल्पोंसे रहित होती है। अतः वे दीनों और दयापात्रोंके घरपर आहार नहीं करते ॥ ७५४ ॥ [जो लोग स्वयं दान न देकर दूसरोंसे दान दिलाते हैं उनके बारेमें ग्रन्थकार कहते हैं—] जो काम दूसरोंसे

आत्मवित्तपरित्यागात्परैर्धर्मविधायने । निःसंदेहमवाप्नोति परभोगाय तत्फलम् ॥७५६
भोज्यं भोजनशक्तिश्च रतिशक्तिर्वरस्त्रियः । विभवो दानशक्तिश्च स्वयं धर्मकृतेः फलम् ॥७५७
शिल्पिकारुकवाक्पण्यसंभलीपतितादिषु । देहस्थितिं न कुर्वीत लिङ्गिलिङ्गोपजीविषु ॥७५८
दीक्षायोग्यास्त्रयो वर्णाश्चत्वारश्च विधोचिताः । मनोवाक्कायधर्माय मताः सर्वेऽपि जन्तवः ॥७५९
पुष्पादिरशनादिर्वा न स्वयं धर्म एष हि । क्षित्यादिरिव धान्यस्य किं तु भावस्य कारणम् ॥७६०
युक्तं हि श्रद्धया साधु सकृदेव मनो नृणाम् । परां शुद्धिमवाप्नोति लोहं विद्धं रसैरिव ॥७६१
तपोदानार्चनाहीनं मनः सदपि देहिनाम् । तत्फलप्राप्तये न स्यात्कुशूलस्थितबीजवत् ॥७६२
आवेशिकाश्रितज्ञातिदीनात्मसु यथाक्रमम् । यथौचित्यं यथाकालं यज्ञपञ्चकमाचरेत् ॥७६३
काले कलौ चले चित्ते देहे चान्नादिकीटके । एतच्चित्रं यदद्यापि जिनरूपधरा नराः ॥७६४
यथा पूज्यं जिनेन्द्राणां रूपं लेपादिनिर्मितम् । तथा पूर्वमुनिच्छाया पूज्याः संप्रति संयताः ॥७६५
तदुत्तमं भवेत्पात्रं यत्र रत्नत्रयं नरे । देशव्रती भवेन्मध्यमन्यच्चासंयतः सुदृक् ॥७६६

कराने लायक है, या जो भाग्यवश हो जाता है उनको छोड़कर धर्मके कार्य, स्वामीकी सेवा और सन्तानोत्पत्तिको कौन समझदार मनुष्य दूसरेके हाथ सौंपता है ? ॥ ७५५ ॥ जो अपना धन देकर दूसरोंके द्वारा धर्म कराता है वह उसका फल दूसरोंके भोगके लिए ही उपार्जित करता है इसमें सन्देह नहीं है ॥ ७५६ ॥ खाद्य पदार्थ, भोजन करनेकी शक्ति, रमण करनेकी शक्ति, सुन्दर स्त्रियाँ, सम्पत्ति और दान करनेकी शक्ति, ये चीजें स्वयं धर्म करनेसे ही प्राप्त होती हैं ॥ ७५७ ॥ नाई, धोबी, कुम्हार, लुहार, सुनार, गायक, भाट, दुराचारिणी स्त्री, नीच लोगोंके घरमें तथा जो मुनियों, के उपकरण बेचकर उनसे आजीविका करते हैं उनके घरमें मुनिको आहार नहीं करना चाहिए ॥७५८॥ ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ये तीन वर्ण ही जिनदीक्षाके योग्य हैं किन्तु आहार दान देनेके योग्य चारों ही वर्ण हैं; क्योंकि सभी प्राणियोंको मानसिक, वाचनिक और कायिक धर्मका पालन करनेकी अनुमति है ॥ ७५९ ॥ पुष्प आदि और भोजन आदि स्वयं धर्म नहीं है, किन्तु जैसे पृथ्वी आदि धान्यकी उत्पत्तिमें कारण हैं वैसे ही ये चीजें शुभ भावोंके होनेमें कारण हैं ॥ ७६० ॥ **भावार्थ**—पूजामें जो पुष्प आदि चढ़ाये जाते हैं और मुनिको जो आहार दिया जाता है सो ये पुष्प आदि द्रव्य या भोजन स्वयं धर्म नहीं है । किन्तु इनके निमित्तसे जो शुभ भाव होते हैं वे धर्मके कारण हैं क्योंकि उनसे शुभ कर्मका बन्ध होता है । मनुष्योंका मन यदि एक बार भी सच्ची श्रद्धासे युक्त हो तो वह उत्कृष्ट विशुद्धिको प्राप्त होता है । जैसे पारदके योगसे लोहा अत्यन्त शुद्ध हो जाता है ॥ ७६१ ॥ और प्राणियोंके मन होते हुए भी यदि वह मन तप, दान और पूजामें रत न हो तो जैसे खत्तीमें पड़ा हुआ बीज धान्यको उत्पन्न नहीं कर सकता वैसे ही वह मन भी उत्कृष्ट विशुद्धिको प्राप्त नहीं कर सकता । अतः यदि मन है तो उसे शुभ कार्योंमें लगाना चाहिए ॥ ७६२ ॥ अपने घरपर आये हुए अतिथिको, अपने आश्रितको, सजातीयको और दीन मनुष्योंको समयके अनुसार यथायोग्य पाँच दान क्रमशः देने चाहिए ॥ ७६३ ॥ यह बड़ा आश्चर्य है कि इस कलिकालमें जब मनुष्योंका मन चंचल रहता है और शरीर अन्नका कीड़ा बना रहता है, आज भी जिनरूपके धारक मनुष्य पाये जाते हैं ॥ ७६४ ॥ जैसे पाषाण आदि में अंकित जिनेन्द्र भगवान्‌की प्रतिकृति पूजने योग्य है, लोग उसकी पूजा करते हैं, वैसे ही आजकलके मुनियोंको भी पूर्वकालके मुनियोंकी प्रतिकृति मानकर पूजना चाहिए ॥ ७६५ ॥ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्रसे विभूषित मुनि उत्तम पात्र हैं । अणुव्रती श्रावक मध्यमपात्र हैं और असंयत सम्यग्दृष्टि जघन्यपात्र हैं ॥ ७६६ ॥ जिस मनुष्यमें

यत्र रत्नत्रयं नास्ति तदपात्रं विदुर्बुधाः । उप्तं तत्र वृथा सर्वमूषरायां क्षिताविव ॥७६७
पात्रे दत्तं भवेदन्नं पुण्याय गृहमेधिनाम् । शुक्ताविव हि मेघानां जलं मुक्ताफलं भवेत् ॥७६८
मिथ्यात्वग्रस्तचित्तेषु चारित्राभासभागिषु । दोषायैव भवेद्दानं पयःपानमिवाहिषु ॥७६९
कारुण्यादथवौचित्यात्तेषां किञ्चिद्दिशन्नपि । दिशेदुद्धृतमेवान्नं गृहे भुक्ति न कारयेत् ॥७७०
सत्कारादिविधावेषां दर्शनं दूषितं भवेत् । यथा विशुद्धमप्यम्बु विषभाजनसंगमात् ॥७७१
शाक्यनास्तिकयागज्ञजटिलाजीवकादिभिः । सहावासं सहालापं तत्सेवां च विवर्जयेत् ॥७७२
अज्ञाततत्त्वचेतोभिर्दुराग्रहमलीमसैः । युद्धमेव भवेद् गोष्ठचां दण्डादण्डि कचाकचि ॥७७३
भयलोभोपरोधाद्यैः कुलिङ्गिषु निषेवणे । अवश्यं दर्शनं म्लायेन्नीचैराचरणे सति ॥७७४
बुद्धिपौरुषयुक्तेषु दैवायत्तविभूतिषु । नृषु कुत्सितसेवायां दैन्यमेवातिरिच्यते ॥७७५
समयी साधकः साधुः सूरिः समयदीपकः । तत्पुनः पञ्चधा पात्रमामनन्ति मनीषिणः ॥७७६
गृहस्थो वा यतिर्वापि जैनं समयमास्थितः । यथाकालमनुप्राप्तः पूजनीयः सुदृष्टिभिः ॥७७७
ज्योतिर्मन्त्रनिमित्तज्ञः सुप्रज्ञः कार्यकर्मसु । मान्यः समयिभिः सम्यक्परोक्षार्थसमर्थधीः ॥७७८
दीक्षायात्राप्रतिष्ठाद्याः क्रियास्तद्विरहे कुतः । तदर्थं परपृच्छायां कथं च समयोन्नतिः ॥७७९

न सम्यग्दर्शन है, न सम्यग्ज्ञान है और न सम्यक्चारित्र है उसे विद्वज्जन अपात्र समझते हैं। जैसे ऊसर भूमिमें कुछ भी बोना व्यर्थ होता है वैसे ही अपात्रको दान देना भी व्यर्थ है ॥ ७६७ ॥ पात्रको आहार दान देनेसे गृहस्थोंको पुण्य फल प्राप्त होता है; क्योंकि मेघका पानी सीपमें ही जानेसे मोती बनता है, अन्यत्र नहीं ॥ ७६८ ॥ जिनका चित्त मिथ्यात्वमें फँसा है और जो मिथ्या चारित्रको पालते हैं, उनको दान देना बुराईका ही कारण होता है, जैसे साँपको दूध पिलानेसे वह जहर ही उगलता है ॥ ७६९ ॥ ऐसे लोगोंको दयाभावसे अथवा उचित समझकर यदि कुछ दिया भी जाये तो भोजनसे जो अवशिष्ट रहे वही देना चाहिए। किन्तु घरपर नहीं जिमाना चाहिए ॥ ७७० ॥ जैसे विषैले बरतनके सम्बन्धसे विशुद्ध जल भी दूषित हो जाता है वैसे ही इन मिथ्यादृष्टि साधुवेषियोंका आदर-सत्कार करनेसे श्रद्धान दूषित हो जाता है ॥ ७७१ ॥ अतः बौद्ध, नास्तिक, याज्ञिक, जटाधारी तपस्वी और आजीवक आदि सम्प्रदायके साधुओंके साथ निवास, बातचीत और उनकी सेवा आदि नहीं करना चाहिए ॥ ७७२ ॥ तत्त्वोंसे अनजान और दुराग्रही मनुष्योंके साथ बातचीत करनेसे लड़ाई ही होती है जिसमें डण्डा-डण्डी और केशाकेशी तककी नौबत आ सकती है ॥ ७७३ ॥ जो स्त्री-पुरुष किसी अनिष्टके भयसे या पुत्र आदि के लालचसे या दूसरोंके आग्रहसे कुलिङ्गी साधुओंकी सेवा करते हैं, उनका श्रद्धान नीच आचरण करनेसे अवश्य मलिन होता है ॥ ७७४ ॥ सभी मनुष्य बुद्धिशाली हैं और यथायोग्य पौरुष—उद्योग भी करते हैं किन्तु सम्पत्तिका मिलना तो भाग्यके अधीन है। फिर भी यदि मनुष्य बुरे मनुष्योंकी सेवा करता है तो यह तो दीनताका अतिरेक है ॥ ७७५ ॥ अब अन्य प्रकार से पात्रके पाँच भेद और उनका स्वरूप बतलाते हैं—बुद्धिमान् पुरुष समयी, साधक, साधु, आचार्य और धर्मके प्रभावकके भेदसे पात्रके पाँच भेद मानते हैं ॥ ७७६ ॥ गृहस्थ हो या साधु, जो जैन धर्मका अनुयायी है उसे समयी या साधर्मी कहते हैं। ये साधर्मी पात्र यथाकाल प्राप्त होनेपर सम्यग्दृष्टि भाइयोंको उनका आदर-सत्कार करना चाहिए ॥ ७७७ ॥ जिनकी बुद्धि परोक्ष अर्थको भली प्रकारसे जाननेमें समर्थ है उन ज्योतिषशास्त्र, मन्त्रशास्त्र और निमित्तशास्त्रके ज्ञाताओंका तथा कार्यक्रम अर्थात् प्रतिष्ठा आदिके ज्ञाताका साधर्मी भाइयोंको सम्मान करना चाहिए ॥ ७७८ ॥ यदि वह न हो तो जिनदीक्षा, तीर्थयात्रा और जिन बिम्बप्रतिष्ठा आदि

मूलोत्तरगुणश्लाघ्यैस्तपोभिर्निष्ठितस्थितिः । साधुः साधु भवेत्पूज्यः पुण्योपार्जितपण्डितैः ॥७८०
ज्ञानकाण्डे क्रियाकाण्डे चातुर्वर्ण्यपुरःसरः । सूरिर्देव इवाराध्यः संसाराब्धितरण्डकः ॥७८१
लोकवित्त्वकवित्वाद्यैर्वादवाग्मित्वकौशलैः । मार्गप्रभावनोद्युक्ताः सन्तः पूज्या विशेषतः ॥७८२
मान्यं ज्ञानं तपोहीनं ज्ञानहीनं तपोऽर्हितम् । द्वयं यत्र स देवः स्याद् द्विहीनो गणपूरणः ॥७८३
अर्हद्रूपे नमोऽस्तु स्याद्विरतौ विनयक्रिया । अन्योन्यं क्षुल्लके चाहमिच्छाकारवचः सदा ॥७८४
अनुवीचीवचो भाष्यं सदा पूज्यादिसंनिधौ । यथेष्टं हसनालापान् वर्जयेद् गुरुसंनिधौ ॥७८५
भुक्तिमात्रप्रदाने हि का परीक्षा तपस्विनाम् । ते सन्तः सन्त्वसन्तो वा गृही दानेन शुद्धयति ॥७८६
सर्वारम्भप्रवृत्तानां गृहस्थानां धनव्ययः । बहुधास्ति ततोऽत्यर्थं न कर्तव्या विचारणा ॥७८७
यथा यथा विशिष्यन्ते तपोज्ञानादिभिर्गुणैः । तथा तथाधिकं पूज्या मुनयो गृहमेधिभिः ॥७८८
दैवाल्लब्धं धनं धन्यैर्वप्तव्यं समयाश्रिते । एको मुनिर्भवेल्लभ्यो न लभ्यो वा यथागमम् ॥७८९

क्रियाएँ कैसे हो सकती हैं; क्योंकि इनमें मुहूर्त देखनेके लिए ज्योतिपविद्या और क्रियाकर्म करानेके लिए प्रतिष्ठाशास्त्रके ज्ञाताकी आवश्यकता होती है। शायद कहा जाये कि दूसरे लोगोंमें जो ज्योतिषी या मन्त्रशास्त्री हैं उनसे काम चला लिया जायेगा। किन्तु इस तरह दूसरोंसे पूछनेसे अपने धर्मकी उन्नति कैसे हो सकती है ॥ ७७९ ॥ भावार्थ—अपने धर्मको उन्नति तो तभी हो सकती है जब अपनेमें भी सब आवश्यक बातोंके जाननेवाले हों। तथा अपने मुहूर्तविचारमें भी दूसरोंसे अन्तर है और प्रतिष्ठा आदि विधि तो बिलकुल ही अलग है। अतः जैन ज्योतिप और जैन मन्त्रशास्त्रके और प्रतिष्ठाशास्त्रके वेत्ताओंका भी सम्मान करना चाहिए, जिससे वे बने रहें और हमारे धर्मको क्रियाएँ शुद्ध विधिपूर्वक चालू रहें। मूलगुण और उत्तरगुणोंसे युक्त तपस्वी महात्माको साधु कहते हैं। जो पुण्यको कमानेमें चतुर हैं उन्हें साधुकी भक्तिभावसे पूजा करनी चाहिए ॥ ७८० ॥ जो ज्ञानकाण्ड और क्रियाकाण्डमें चतुर्विध संघके मुखिया होते हैं तथा संसाररूपी समुद्रसे पार उतारनेमें समर्थ हैं उन्हें आचार्य कहते हैं। उनकी देवके समान आराधना करनी चाहिए ॥७८१॥ जो लोकज्ञता तथा कवित्व आदिके द्वारा और शास्त्रार्थ तथा वक्तृत्वशक्तिके कौशल-द्वारा जैन धर्मकी प्रभावना करनेमें सदा संलग्न रहते हैं उन सज्जन पुरुषोंका विशेषरूपसे समादर करना चाहिए ॥ ७८२ ॥ तपसे हीन ज्ञान भी समादरके योग्य है। और ज्ञानसे हीन तप भी पूजनीय है। किन्तु जिसमें ज्ञान और तप दोनों हैं वह देवता है और जिसमें दोनों नहीं हैं वह केवल संघका स्थान भरनेवाला है ॥ ७८३ ॥ जिन-मुद्राके धारक साधुओंको 'नमोऽस्तु' कहकर अभिवादन करना चाहिए। त्यागियोंकी विनय करना चाहिए। और क्षुल्लक त्यागी परस्परमें एक दूसरेका सदा 'इच्छामि' कहकर अभिवादन करते हैं। पूज्य पुरुषोंके सामने सदा शास्त्रानुकूल वचन बोलना चाहिए। तथा गुरुजनों के समीपमें स्वच्छन्दतापूर्वक हँसी-मजाक नहीं करना चाहिए ॥ ७८४—७८५ ॥ केवल आहारदानके लिए साधुओंकी परीक्षा नहीं करनी चाहिए। चाहे वे सज्जन हों या दुर्जन हों। गृहस्थ तो दान देनेसे शुद्ध होता है ॥ ७८६ ॥ गृहस्थ लोग अनेक आरम्भोंमें फँसे रहते हैं और उनका धन भी अनेक प्रकारसे खर्च होता है। इससे तपस्वियोंको आहारदान देनेमें ज्यादा सोच-विचार नहीं करना चाहिए ॥ ७८७ ॥ मुनिजन जैसे-जैसे तप, ज्ञान आदि गुणोंसे विशिष्ट हों वैसे-वैसे गृहस्थोंको उनका अधिक समादर करना चाहिए ॥ ७८८ ॥ धन भाग्यसे मिलता है, अतः भाग्यशाली पुरुषोंको आगमानुकूल कोई मुनि मिले या न मिले, किन्तु उन्हें अपना धन जैन

उच्चावचजनप्रायः समयोऽयं जिनेशिनाम् । नैकस्मिन्पुरुषे तिष्ठेदेकस्तम्भ इवालयः ॥७९०
ते नामस्थापनाद्रव्यभावन्यासैश्चतुर्विधाः । भवन्ति मुनयः सर्वे दानमानादिकर्मसु ॥७९१
उत्तरोत्तरभावेन विधिस्तेषु विशिष्यते । पुण्यार्जने गृहस्थानां जिनप्रतिकृतिष्विव ॥७९२
अतद्गुणेषु भावेषु व्यवहारप्रसिद्धये । यत्संज्ञाकर्म तन्नाम नरेच्छावशवर्तनात् ॥७९३
साकारे वा निराकारे काष्ठादौ यन्निवेशनम् । सोऽयमित्यवधानेन स्थापना सा निगद्यते ॥७९४
आगामिगुणयोग्योऽर्थो द्रव्यन्यासस्य गोचरः । तत्कालपर्ययाक्रान्तं वस्तु भावो विधीयते॥७९५
यदात्मवर्णनप्रायं क्षणिकाहार्यविभ्रमम् । परप्रत्ययसंभूतं दानं तद्राजसं मतम् ॥७९६
पात्रापात्रसमावेक्ष्यमसत्कारमसंस्तुतम् । दासभृत्यकृतोद्योगं दानं तामसमूचिरे ॥७९७
आतिथेयं स्वयं यत्र यत्र पात्रनिरीक्षणम् । गुणाः श्रद्धादयो यत्र दानं तत्सात्त्विकं विदुः ॥७९८
उत्तमं सात्त्विकं दानं मध्यमं राजसं भवेत् । दानानामेव सर्वेषां जघन्यं तामसं पुनः ॥७९९
यद्दत्तं तदमुत्र स्यादित्यसत्यपरं वचः । गावः पयः प्रयच्छन्ति किं न तोयतृणाशनाः ॥८००
मुनिभ्यः शाकपिण्डोऽपि भक्त्या काले प्रकल्पितः । भवेदगण्यपुण्यार्थं भक्तिश्चिन्तामणिर्यतः ॥८०१

धर्मानुयायियोंमें अवश्य खर्च करना चाहिए ॥ ७८९ ॥ जिन भगवान्का यह धर्म अनेक प्रकारके मनुष्योंसे भरा है। जैसे मकान एक खम्भेपर नहीं ठहर सकता वैसे ही यह धर्म भी एक पुरुषके आश्रयसे नहीं ठहर सकता ॥ ७९० ॥ नाम, स्थापना, द्रव्य और भावनिक्षेपकी अपेक्षासे मुनि चार प्रकारके होते हैं और वे सभी दान, सम्मानके योग्य हैं ॥ ७९१ ॥ किन्तु गृहस्थोंके पुण्य उपार्जनकी दृष्टिसे जिनबिम्बोंकी तरह उन चार प्रकारके मुनियोंमें उत्तरोत्तर रूपसे विशिष्ट विधि होती जाती है ॥ ७९२ ॥ अब क्रमशः चारों निक्षेपोंका स्वरूप बतलाते हैं—नामसे व्यक्त होनेवाले गुणसे हीन पदार्थोंमें लोक-व्यवहार चलानेके लिए मनुष्य अपनी इच्छानुसार जो नाम रख लेते हैं उसे नाम-निक्षेप कहते हैं ॥ ७९३ ॥ तदाकार या अतदाकार लकड़ी वगैरहमें 'यह अमुक है' इस प्रकारके अभिप्रायसे जो स्थापना की जाती है उसे स्थापनानिक्षेप कहते हैं ॥ ७९४ ॥ जो पदार्थ भविष्यमें अमुक गुणोंसे विशिष्ट होगा उसे अभी से ही उस नामसे पुकारना द्रव्यनिक्षेप है। और जो वस्तु जिस समय जिस पर्यायसे विशिष्ट है उसे उस समय उसी रूप कहना भावनिक्षेप है ॥ ७९५ ॥ अब प्रकारान्तरसे दानके तीन भेद बतलाते हैं—जो दान अपनी ख्यातिकी भावनासे कभी-कभी किसीको तब दिया जाता है जब दूसरे दाताको वैसे दानसे मिलनेवाले फलको देख लिया जाता है, उस दानको राजस दान कहते हैं। अर्थात् उसे स्वयं तो दानपर विश्वास नहीं होता किन्तु किसीको दानसे मिलनेवाला फल देखकर कि इसने यह दिया था तो उससे इसे अमुक-अमुक लाभ हुआ, दान देता है। ऐसा दान रजोगुण प्रधान होनेसे राजस कहा जाता है ॥ ७९६ ॥ पात्र और अपात्रको समानरूपसे मानकर या पात्रको अपात्रके समान मानकर बिना किसी आदर-सम्मान और स्तुतिके, नौकर-चाकरोंके उद्योगपूर्वक जो दान दिया जाता है उस दानको तामस दान कहते हैं ॥ ७९७ ॥ जिस दानमें स्वयं पात्रको देखकर स्वयं उसका अतिथि-सत्कार किया जाता है तथा जो श्रद्धा वगैरहके साथ दिया जाता है उस दानको सात्त्विक दान कहते हैं ॥ ७९८ ॥ इन तीनों दानोंमें-से सात्त्विक दान उत्तम है, राजस दान मध्यम है और तामस दान सब दानोंमें निकृष्ट है ॥ ७९९ ॥ जो दिया जाता है परलोकमें वही मिलता है, ऐसा कहना झूठ है। क्या पानी और घास खानेवाली गायें दूध नहीं देती हैं? अतः मुनियोंको समयपर भक्तिपूर्वक दिया गया शाक-पात भी अपरिमित पुण्यका

अभिमानस्य रक्षार्थं विनयायागमस्य च । भोजनादिविधानेषु मौनमूचुर्मुनीश्वराः ॥८०२
लौल्यत्यागात्तपोवृद्धिरभिमानस्य रक्षणम् । ततश्च समवाप्नोति मनःसिद्धिं जगत्त्रये ॥८०३
श्रुतस्य प्रश्रयाच्छ्रेयः समृद्धेः स्यात्समाश्रयः । ततो मनुजलोकस्य प्रसीदति सरस्वती ॥८०४
शारीरमानसागन्तुव्याधिसंबाधसंभवे । साधुः संयमिनां कार्यः प्रतीकारो गृहाश्रितैः ॥८०५

तत्र दोषधातुमलविकृतिजनिताः शारीराः, दौर्मनस्यदुःस्वप्नसाध्वसादिसंपादिता मानसाः, शीतवाताभिघातादिकृता आगन्तवः ।

मुनीनां व्याधियुक्तानामुपेक्षायामुपासकैः ।असमाधिर्भवेत्तेषां स्वस्य चाधर्मकर्मता ॥८०६
सौमनस्यं सदाऽऽचर्यं व्याख्यातृषु पठत्सु च । आवासपुस्तकाहारसौकर्यादिविधानकैः ॥८०७
अङ्गपूर्वप्रकीर्णोक्तं सूक्तं केवलिभाषितम् । नश्येन्निर्मूलतः सर्वं श्रुतस्कन्धधरात्यये ॥८०८
प्रश्रयोत्साहनानन्दस्वाध्यायोचितवस्तुभिः । श्रुतवृद्धान्मुनीन्कुर्वञ्जायते श्रुतपारगः ॥८०९
श्रुतात्तत्त्वपरिज्ञानं श्रुतात्समयवर्धनम् । श्रेयोऽर्थिनां श्रुताभावे सर्वमेतत्तमस्यते ॥८१०

कारण होता है; क्योंकि भक्ति ही चिन्तामणि है ॥ ८००–८०१ ॥ अब भोजनके समय मौनका विधान करते हैं—जिनेन्द्र भगवान्ने अभिमानकी रक्षाके लिए और श्रुतकी विनयके लिए भोजन आदि के समय मौन करना बतलाया है । भोजनकी लिप्साके त्यागनेसे तपकी वृद्धि होती है और अभिमानकी रक्षा होती है और उनके होनेसे मन वशमें होता है । श्रुतकी विनय करनेसे कल्याण होता है, सम्पत्ति मिलती है और उससे मनुष्यपर सरस्वती प्रसन्न होती है ॥ ८०२–८०४ ॥ भावार्थ—भोजनके समय मौन करनेसे जूठे मुँह वाणीका उच्चारण नहीं करना पड़ता । यह वाणीकी विनय है । इसके करनेसे वाणीपर असाधारण अधिकार प्राप्त होता है । जो लोग दिन-भर वक-झक करते हैं उनके वचनकी कीमत जाती रहती है । दूसरा लाभ यह है कि माँगना नहीं पड़ता । माँगनेसे स्वाभिमानका घात होता है और न माँगनेसे उसकी रक्षा होती है । तथा अपनी इच्छाको रोकना पड़ता है और इच्छाका रोकना तप है अतः मौनसे तपकी वृद्धि होती है और मन वशमें होता है, अतः मौनपूर्वक भोजन करना चाहिए । मुनिजनोंको शारीरिक, मानसिक या कोई आगन्तुक रोगादिककी बाधा होनेपर गृहस्थोंको उसका प्रतीकार करना चाहिए ॥ ८०५ ॥ वात, पित्त, कफ, रुधिरादि धातु और मलके विकारसे जो रोग होते हैं उन्हें शारीरिक कहते हैं । मनके दूषित होनेसे, बुरे स्वप्नोंसे या भय आदिके कारणसे जो रोग होते हैं वे मानसिक हैं, ठण्डी वायु आदि लग जानेसे जो आकस्मिक बाधा हो जाती है उसे आगन्तुक कहते हैं । इन बाधाओंको दूर करनेका प्रयत्न गृहस्थोंको करना चाहिए; क्योंकि रोगग्रस्त मुनियोंकी उपेक्षा करनेसे मुनियोंकी समाधि नहीं बनती और गृहस्थोंका धर्म-कर्म नहीं बनता ॥ ८०६ ॥

श्रुतकी रक्षाके लिए श्रुतधरोंकी रक्षा आवश्यक है—जो जिनशास्त्रोंका व्याख्यान करते हैं या उनको पढ़ते हैं उन्हें, रहनेको निवास-स्थान, पुस्तक और भोजन आदिकी सुविधा देकर गृहस्थोंको सदा अपनी सदाशयताका परिचय देते रहना चाहिए ॥८०७॥ क्योंकि श्रुतके व्याख्याता और पाठक श्रुतसमूहके धारक हैं—उनके नष्ट हो जानेसे केवली भगवान्के द्वारा उपदिष्ट ग्यारह अंग और चौदह पूर्व रूप समस्त श्रुतज्ञान जड़से नष्ट हो जायेगा ॥८०८॥ जो आश्रय देकर, उत्साह बढ़ाकर, आराम देकर तथा स्वाध्यायके योग्य शास्त्र आदि वस्तुओंको देकर मुनियोंको शास्त्रमें निपुण बनानेका प्रयत्न करते हैं वे स्वयं श्रुतके पारगामी हो जाते हैं ॥८०९॥ श्रुत या शास्त्रसे ही

अस्त्र धारणवद्बाह्ये क्लेशे हि सुलभा नराः । यथार्थज्ञानसंपन्ना शौण्डीरा इव दुर्लभाः ॥८११
ज्ञानभावनया हीने कायक्लेशिनि केवलम् । कर्मवाहीकवत्किञ्चिद्व्येति किञ्चिदुदेति च ॥८१२
सृणिवज्ज्ञानमेवास्य वशायाशयदन्तिनः । तद्धते च बहिः क्लेशः क्लेशः एव परं भवेत् ॥८१३
बहिस्तपः स्वतोऽभ्येति ज्ञानं भावयतः सतः । क्षेत्रज्ञे यन्निमग्नेऽत्र कुतः स्युरपराः क्रियाः ॥८१४
यदज्ञानी युगैः कर्म बहुभिः क्षपयेन्न वा । तज्ज्ञानी योगसंपन्न क्षपयेत्क्षणतो ध्रुवम् ॥८१५
ज्ञानी पटुस्तदैव स्याद्बहिः क्लेष्टुर्व्रतेऽखिले । ज्ञातुर्ज्ञानलवेऽप्यस्य न पटुत्वं युगैरपि ॥८१६
शब्दैर्नितिह्यैर्न गीः शुद्धा यस्य शुद्धा न धीर्नयैः । स परप्रत्ययात्क्लिश्यन्भवेदन्धसमः पुमान् ॥८१७
स्वरूपं रचना शुद्धिर्भूषार्थश्च समासतः । प्रत्येकमागमस्यैतद्द्वैविध्यं प्रतिपद्यते ॥८१८

तत्र स्वरूपं च द्विविधम् - अक्षरम्, अनक्षरं च । रचना द्विविधा—गद्यम्, पद्यं च । शुद्धिर्द्विविधा—प्रमादप्रयोगविरहः, अर्थव्यञ्जनविकलतापरिहारश्च । भूषा द्विविधा—वागलंकारः, अर्थालंकारश्च । अर्थो द्विविधः—चेतनोऽचेतनश्च जातिर्व्यक्तिश्चेति वा ।

सार्धं सचित्तनिक्षिप्तवृत्ताभ्यां दानहानये । अन्योपदेशमात्सर्यकालातिक्रमणक्रियाः ॥८१९

तत्त्वोंका ज्ञान होता है और शास्त्रसे ही जिन-शासनकी वृद्धि होती है । यदि शास्त्र न हों तो अपने कल्याणके इच्छुक जनोंको सर्वत्र अन्धकार ही दिखलायी दे ॥८१०॥ जैसे तलवार वगैरह बाँधनेका कष्ट उठानेवाले मनुष्य तो सरलतासे मिल जाते हैं, किन्तु सच्चे शूरवीरोंका मिलना दुर्लभ है । वैसे ही बाह्य कष्ट उठानेवाले मनुष्य सुलभ हैं किन्तु सच्चे ज्ञानी दुर्लभ हैं ॥८११॥ जो मनुष्य ज्ञानकी भावनासे शून्य है और केवल शरीरको कष्ट देता है, बोझ ढोनेवाले मनुष्यकी तरह उसका एक कष्ट जाता है तो दूसरा आ जाता है और इस तरह वह केवल कायक्लेश ही उठाता रहता है ॥८१२॥ मनुष्यके मनरूपी हाथीको वशमें करनेके लिए ज्ञान ही अंकुशके तुल्य है अर्थात् जैसे अंकुश हाथीको रोकता है वैसे ही ज्ञान मनुष्यके मनको बुरी तरफ जानेसे रोकता है । उस ज्ञान के विना जो शारीरिक कष्ट उठाया जाता है वह कष्ट केवल कष्ट ही के लिए है, उससे कुछ भी लाभ नहीं होता ॥ ८१३ ॥ जो ज्ञानकी भावना करता है उसे बाह्य तप स्वयं प्राप्त हो जाता है ! क्योंकि जब आत्मा ज्ञानमें लीन हो जाता है तो अन्य क्रियाएँ कैसे हो सकती हैं ? ॥ ८१४ ॥ अज्ञानी जिस कर्मको बहुतसे युगोंमें भी नहीं नष्ट कर पाता; ध्यानसे युक्त ज्ञानी पुरुष उस कर्मको निश्चयसे क्षण-भरमें ही नष्ट कर देता है ॥ ८१५ ॥ समस्त बाह्य व्रतोंमें क्लेश उठानेवाले अज्ञानी यतिसे ज्ञानी पुरुष तत्काल कुशल हो जाता है, किन्तु बाह्य व्रतोंको करनेवाला अज्ञानी, युग बीत जानेपर भी ज्ञानके एक अंशमें भी कुशल नहीं होता ॥८१६ ॥ जिसकी वाणी व्याकरणके द्वारा शुद्ध नहीं हुई और बुद्धि नयोंके द्वारा शुद्ध नहीं हुई वह मनुष्य दूसरोंके विश्वासके अनुसार चलनेसे कष्ट उठाता हुआ अन्धेके समान आचरण करता है ॥ ८१७ ॥ प्रत्येक शास्त्रमें संक्षेपसे इतनी बातें होती हैं—स्वरूप, रचना, शुद्धि, अलंकार और वर्णित विषय । ये प्रत्येक दो-दो प्रकारके होते हैं ॥ ८१८ ॥ स्वरूप दो प्रकारका होता है—अक्षररूप और अनक्षररूप । रचना दो प्रकारकी होती है—गद्यरूप और पद्यरूप । शुद्धि दो प्रकारकी होती है—एक तो प्रमादसे कोई प्रयोग न किया गया हो, दूसरे न उसमें कोई अर्थ छूटा हो और न कोई शब्द छूटा हो । अलंकार दो तरहके होते हैं—एक शब्दालंकार और दूसरा अर्थालंकार । वर्णित विषय दो प्रकारका होता है—चेतन और अचेतन या जाति और व्यक्ति । सचित्त पत्ते आदिमें आहारको रखना, सचित्त पत्ते आदिसे आहारको ढाँकना, यह दाता है और यह आहार

नतेर्गोत्रं श्रियो दानादुपास्तेः सर्वसेव्यताम् । भक्तेः कीर्तिमवाप्नोति स्वयं दाता यतीन्भजन् ॥८२०
मूलव्रतं व्रतान्यर्चापर्वकर्माकृषिक्रियाः । दिवा नवविधं ब्रह्म सचित्तस्य विवर्जनम् ॥८२१
परिग्रहपरित्यागो भुक्तिमात्रानुमान्यता । तद्धानौ च वदन्त्येतान्येकादश यथाक्रमम् ॥८२२
अध्यधिव्रतमारोहेत्पूर्वपूर्वव्रतस्थितः । सर्वत्रापि समाः प्रोक्ता ज्ञानदर्शनभावनाः ॥८२३
षडत्र गृहिणो ज्ञेयास्त्रयः स्युर्ब्रह्मचारिणः । भिक्षुकौ द्वौ तु निर्दिष्टौ ततः स्यात्सर्वतो यतिः ॥८२४
तत्तद्गुणप्रधानत्वाद्यतयोऽनेकधा स्मृताः । निरुक्ति युक्तितस्तेषां वदतो मन्निबोधत ॥८२५
जित्वेन्द्रियाणि सर्वाणि यो वेत्त्यात्मानमात्मना । गृहस्थो वानप्रस्थो वा स जितेन्द्रिय उच्यते ॥८२६
मानमायामदामर्षक्षपणात्क्षपणः स्मृतः । यो न श्रान्तो भवेद्भ्रान्तेस्तं विदुः श्रमणं बुधाः ॥८२७

भी इसीका है इसप्रकार कहकर दान देना, दान देते हुए भी आदरपूर्वक न देना या अन्य दाताओंसे ईर्ष्या करना और साधुओंके भिक्षाके समयका उल्लंघन करना ये पाँच बातें मुनिदान व्रतमें दोष लगानेवाली हैं। अतः श्रावकको इन्हें नहीं करना चाहिए ॥ ८१९ ॥ जो दाता स्वयं यतियोंको दान देता है उसे मुनिको नमस्कार करनेसे उच्च गोत्र मिलता है, दान देनेसे लक्ष्मी मिलती है, उनकी उपासना करनेसे सब लोग उनकी सेवा करते हैं, और उनकी भक्ति करनेसे संसारमें यश होता है ॥ ८२० ॥ [अब श्रावकको ग्यारह प्रतिमाएँ बतलाते हैं—] सम्यग्दर्शनके साथ अष्टमूलगुणका निरतिचार पालन करना पहली प्रतिमा है। पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतोंको निरतिचार पालन करना दूसरी व्रत प्रतिमा है। नियमसे तीनों सन्ध्याओंको विधिपूर्वक सामायिक करना तीसरी सामायिक प्रतिमा है। [ग्रन्थकारने उसके लिए अर्चा शब्दका प्रयोग किया है जिसका अर्थ पूजा होता है। उन्होंने सामायिकमें पूजनपर विशेष जोर दिया है। इसीसे अर्चा शब्दका प्रयोग किया जान पड़ता है।] प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशीको नियमसे उपवास करना चौथी प्रोषधोपवास प्रतिमा है। खेती आदिका न करना पाँचवीं प्रतिमा है। दिनमें ब्रह्मचर्यका पालन करना छठी दिवामैथुनत्याग प्रतिमा है। मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदनासे स्त्रीसेवनका त्याग सातवीं ब्रह्मचर्य प्रतिमा है। सचित्त वस्तुके खानेका त्याग करना आठवीं सचित्तत्याग प्रतिमा है। समस्त परिग्रहका त्याग देना नौवीं परिग्रहत्याग प्रतिमा है। किसी आरम्भ उद्योग या विवाहादि कार्यमें अनुमति न देकर केवल भोजन मात्रमें अनुमति देना दसवीं आरम्भत्याग प्रतिमा है और अपने भोजनमें भी किसी प्रकारकी अनुमति नहीं देना ग्यारहवीं प्रतिमा है। ये क्रमसे ११ प्रतिमाएँ हैं ॥ ८२१-८२२ ॥

प्रतिमा धारणाका क्रम तथा उनके धारकोंकी संज्ञाएँ—पूर्व पूर्व प्रतिमा रूप व्रतमें स्थित होकर अपने ऊपर के व्रतपर आरोहण करे। ज्ञान और दर्शन की भावनाएँ तो सभी प्रतिमाओंमें समान कही हैं ॥ ८२३ ॥ इन ग्यारह प्रतिमाओंमें से पहलेकी छह प्रतिमाके धारक गृहस्थ कहे जाते हैं। सातवीं, आठवीं और नौवीं प्रतिमाके धारक ब्रह्मचारी कहे जाते हैं तथा अन्तिम दो प्रतिमावाले भिक्षु कहे जाते हैं और उन सबसे ऊपर मुनि या साधु होता है ॥ ८२४ ॥ उन-उन गुणोंकी प्रधानताके कारण मुनि अनेक प्रकारके बतलाये हैं। अब उनके उन नामोंकी युक्तिपूर्वक निरुक्ति बतलाते हैं, उसे मुझसे सुनिए ॥ ८२५ ॥ जो सब इन्द्रियोंको जीतकर अपनेसे अपनेको जानता है वह गृहस्थ हो या वानप्रस्थ, उसे जितेन्द्रिय कहते हैं ॥ ८२६ ॥ मान, माया, मस्ती और क्रोधका नाश कर देनेसे क्षपण कहते हैं और जगह-जगह विहार करता हुआ वह थकता नहीं है

अस्त्र धारणवद्बाह्ये क्लेशे हि सुलभा नराः । यथार्थज्ञानसंपन्ना शौण्डीरा इव दुर्लभाः ॥८११
ज्ञानभावनया हीने कायक्लेशिनि केवलम् । कर्मवाही ववत्किञ्चिद्व्येति किञ्चिदुदेति च ॥८१२
सृणिवज्ज्ञानमेवास्य वशायाशयदन्तिनः । तद्दते च वहिः क्लेशः क्लेशः एव परं भवेत् ॥८१३
वहिस्तपः स्वतोऽभ्येति ज्ञान भावयतः सतः । क्षेत्रज्ञे यन्निमग्नेऽत्र कुतः स्युरपराः क्रियाः ॥८१४
यदज्ञानी युगैः कर्म वहुभिः क्षपयेन्न वा । तज्ज्ञानी योगसंपन्नः क्षपयेत्क्षणतो ध्रुवम् ॥८१५
ज्ञानी पटुस्तदैव स्याद्वहिः क्लेष्टुर्व्रतेऽखिले । ज्ञातुर्ज्ञानलवेऽप्यस्य न पटुत्वं युगैरपि ॥८१६
शब्दैतिह्यैर्न गीः शुद्धा यस्य शुद्धा न धीर्नयैः । स परप्रत्ययात्क्लिश्यन्भवेदन्धसमः पुमान् ॥८१७
स्वरूपं रचना शुद्धिर्भूषार्थश्च समासतः । प्रत्येकमागमस्यैतद्द्वैविध्यं प्रतिपद्यते ॥८१८

तत्र स्वरूपं च द्विविधम् - अक्षरम्, अनक्षरं च । रचना द्विविधा—गद्यम्, पद्यं च । शुद्धि-द्विविधा—प्रमादप्रयोगविरहः, अर्थव्यञ्जनविकलतापरिहारश्च । भूषा द्विविधा—वागलंकारः, अर्थालंकारश्च । अर्थो द्विविधः—चेतनोऽचेतनश्च जातिर्व्यक्तिश्चेति वा ।

सार्धं सचित्तनिक्षिप्तवृत्ताभ्यां दानहानये । अन्योपदेशमात्सर्यकालातिक्रमणक्रियाः ॥८१९

तत्त्वोंका ज्ञान होता है और शास्त्रसे ही जिन-शासनकी वृद्धि होती है । यदि शास्त्र न हों तो अपने कल्याणके इच्छुक जनोंको सर्वत्र अन्धकार ही दिखलायी दे ॥८१०॥ जैसे तलवार वगैरह बाँधनेका कष्ट उठानेवाले मनुष्य तो सरलतासे मिल जाते हैं, किन्तु सच्चे शूरवीरोंका मिलना दुर्लभ है । वैसे ही बाह्य कष्ट उठानेवाले मनुष्य सुलभ हैं किन्तु सच्चे ज्ञानी दुर्लभ हैं ॥८११॥ जो मनुष्य ज्ञानकी भावनासे शून्य है और केवल शरीरको कष्ट देता है, बोझ ढोनेवाले मनुष्यकी तरह उसका एक कष्ट जाता है तो दूसरा आ जाता है और इस तरह वह केवल कायक्लेश ही उठाता रहता है ॥८१२॥ मनुष्यके मनरूपी हाथीको वशमें करनेके लिए ज्ञान ही अंकुशके तुल्य है अर्थात् जैसे अंकुश हाथीको रोकता है वैसे ही ज्ञान मनुष्यके मनको बुरी तरफ जानेसे रोकता है । उस ज्ञान के विना जो शारीरिक कष्ट उठाया जाता है वह कष्ट केवल कष्ट ही के लिए है, उससे कुछ भी लाभ नहीं होता ॥ ८१३ ॥ जो ज्ञानकी भावना करता है उसे बाह्य तप स्वयं प्राप्त हो जाता है ! क्योंकि जब आत्मा ज्ञानमें लीन हो जाता है तो अन्य क्रियाएँ कैसे हो सकती हैं ? ॥ ८१४ ॥ अज्ञानी जिस कर्मको बहुतसे युगोंमें भी नहीं नष्ट कर पाता; ध्यानसे युक्त ज्ञानी पुरुष उस कर्मको निश्चयसे क्षण-भरमें ही नष्ट कर देता है ॥ ८१५ ॥ समस्त बाह्य व्रतोंमें क्लेश उठानेवाले अज्ञानी यतिसे ज्ञानी पुरुष तत्काल कुशल हो जाता है, किन्तु बाह्य व्रतोंको करनेवाला अज्ञानी, युग बीत जानेपर भी ज्ञानके एक अंशमें भी कुशल नहीं होता ॥८१६ ॥ जिसकी वाणी व्याकरणके द्वारा शुद्ध नहीं हुई और बुद्धि नयोंके द्वारा शुद्ध नहीं हुई वह मनुष्य दूसरोंके विश्वासके अनुसार चलनेसे कष्ट उठाता हुआ अन्धेके समान आचरण करता है ॥ ८१७ ॥ प्रत्येक शास्त्रमें संक्षेपसे इतनी बातें होती हैं—स्वरूप, रचना, शुद्धि, अलंकार और वर्णित विषय । ये प्रत्येक दो-दो प्रकारके होते हैं ॥ ८१८ ॥ स्वरूप दो प्रकारका होता है—अक्षररूप और अनक्षररूप । रचना दो प्रकारकी होती है—गद्यरूप और पद्यरूप । शुद्धि दो प्रकारकी होती है—एक तो प्रमादसे कोई प्रयोग न किया गया हो, दूसरे न उसमें कोई अर्थ छूटा हो और न कोई शब्द छूटा हो । अलंकार दो तरहके होते हैं—एक शब्दालंकार और दूसरा अर्थालंकार । वर्णित विषय दो प्रकारका होता है—चेतन और अचेतन या जाति और व्यक्ति । सचित्त पत्ते आदिमें आहारको रखना, सचित्त पत्ते आदिसे आहारको ढाँकना, यह दाता है और यह आहार

नतेर्गोत्रं श्रियो दानादुपास्तेः सर्वसेव्यताम् । भक्तेः कीर्तिमवाप्नोति स्वयं दाता यतीन्भजन् ॥८२०
मूलव्रतं व्रतान्यर्चापर्वकर्माकृषिक्रियाः । दिवा नवविधं ब्रह्म सचित्तस्य विवर्जनम् ॥८२१
परिग्रहपरित्यागो भुक्तिमात्रानुमान्यता । तद्धानौ च वदन्त्येतान्येकादश यथाक्रमम् ॥८२२
अध्यधिव्रतमारोहेत्पूर्वपूर्वव्रतस्थितः । सर्वत्रापि समाः प्रोक्ता ज्ञानदर्शनभावनाः ॥८२३
षडत्र गृहिणो ज्ञेयास्त्रयः स्युर्ब्रह्मचारिणः । भिक्षुकौ द्वौ तु निर्दिष्टौ ततः स्यात्सर्वतो यतिः ॥८२४
तत्तद्गुणप्रधानत्वाद्यतयोऽनेकधा स्मृताः । निरुक्ति युक्तितस्तेषां वदतो मन्निबोधत ॥८२५
जित्वेन्द्रियाणि सर्वाणि यो वेत्त्यात्मानमात्मना । गृहस्थो वानप्रस्थो वा स जितेन्द्रिय उच्यते ॥८२६
मानमायामदामर्षक्षपणात्क्षपणः स्मृतः । यो न श्रान्तो भवेद्भ्रान्तेस्तं विदुः श्रमणं बुधाः ॥८२७

भी इसीका है इसप्रकार कहकर दान देना, दान देते हुए भी आदरपूर्वक न देना या अन्य दाताओंसे ईर्ष्या करना और साधुओंके भिक्षाके समयका उल्लंघन करना ये पाँच बातें मुनिदान व्रतमें दोष लगानेवाली हैं। अतः श्रावकको इन्हें नहीं करना चाहिए ॥ ८१९ ॥ जो दाता स्वयं यतियोंको दान देता है उसे मुनिको नमस्कार करनेसे उच्च गोत्र मिलता है, दान देनेसे लक्ष्मी मिलती है, उनकी उपासना करनेसे सब लोग उनकी सेवा करते हैं, और उनकी भक्ति करनेसे संसारमें यश होता है ॥ ८२० ॥ [अब श्रावककी ग्यारह प्रतिमाएँ बतलाते हैं—] सम्यग्दर्शनके साथ अष्टमूलगुणका निरतिचार पालन करना पहली प्रतिमा है। पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतोंको निरतिचार पालन करना दूसरी व्रत प्रतिमा है। नियमसे तीनों सन्ध्याओंको विधिपूर्वक सामायिक करना तीसरी सामायिक प्रतिमा है। [ग्रन्थकारने उसके लिए अर्चा शब्दका प्रयोग किया है जिसका अर्थ पूजा होता है। उन्होंने सामायिकमें पूजनपर विशेष जोर दिया है। इसीसे अर्चा शब्दका प्रयोग किया जान पड़ता है।] प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशीको नियमसे उपवास करना चौथी प्रोषधोपवास प्रतिमा है। खेती आदिका न करना पाँचवीं प्रतिमा है। दिनमें ब्रह्मचर्यका पालन करना छठी दिवामैथुनत्याग प्रतिमा है। मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदनासे स्त्रीसेवनका त्याग सातवीं ब्रह्मचर्य प्रतिमा है। सचित्त वस्तुके खानेका त्याग करना आठवीं सचित्तत्याग प्रतिमा है। समस्त परिग्रहका त्याग देना नौवीं परिग्रहत्याग प्रतिमा है। किसी आरम्भ उद्योग या विवाहादि कार्यमें अनुमति न देकर केवल भोजन मात्रमें अनुमति देना दसवीं आरम्भत्याग प्रतिमा है और अपने भोजनमें भी किसी प्रकारकी अनुमति नहीं देना ग्यारहवीं प्रतिमा है। ये क्रमसे ११ प्रतिमाएँ हैं ॥ ८२१-८२२ ॥

प्रतिमा धारणाका क्रम तथा उनके धारकोंकी संज्ञाएँ—पूर्व पूर्व प्रतिमा रूप व्रतमें स्थित होकर अपने ऊपर के व्रतपर आरोहण करे। ज्ञान और दर्शन की भावनाएँ तो सभी प्रतिमाओंमें समान कही हैं ॥ ८२३ ॥ इन ग्यारह प्रतिमाओंमें से पहलेकी छह प्रतिमाके धारक गृहस्थ कहे जाते हैं। सातवीं, आठवीं और नौवीं प्रतिमाके धारक ब्रह्मचारी कहे जाते हैं तथा अन्तिम दो प्रतिमावाले भिक्षु कहे जाते हैं और उन सबसे ऊपर मुनि या साधु होता है ॥ ८२४ ॥ उन-उन गुणोंकी प्रधानताके कारण मुनि अनेक प्रकारके बतलाये हैं। अब उनके उन नामोंकी युक्तिपूर्वक निरुक्ति बतलाते हैं, उसे मुझसे सुनिए ॥ ८२५ ॥ जो सब इन्द्रियोंको जीतकर अपनेसे अपनेको जानता है वह गृहस्थ हो या वानप्रस्थ, उसे जितेन्द्रिय कहते हैं ॥ ८२६ ॥ मान, माया, मस्ती और क्रोधका नाश कर देनेसे क्षपण कहते हैं और जगह-जगह विहार करता हुआ वह थकता नहीं है

अद्रोहः सर्वसत्त्वेषु यज्ञो यस्य दिने दिने । स पुमान्दीक्षितात्मा स्यान्न त्वजादियमाशयः ॥८४७
दुष्कर्मदुर्जनास्पर्शी सर्वसत्त्वहिताशयः । स श्रोत्रियो भवेत्सत्यं न तु यो बाह्यशौचवान् ॥८४८
अध्यात्माग्नौ दयामन्त्रैः सम्यक्कर्मसमिच्चयम् । यो जुहोति स होता स्यान्न बाह्याग्निसमेधकः ॥८४९
भावपुष्पैर्यजेद्देवं व्रतपुष्पैर्वपुर्गृहम् । क्षमापुष्पैर्मनोवह्निं यः स यष्टा सतां मतः ॥८५०
षोडशानामुदारात्मा यः प्रभुर्भावनर्त्विजाम् । सोऽध्वर्युरिह बोद्धव्यः शिवशर्माध्वरोद्धुरः ॥८५१
विवेकं वेदयेदुच्चैर्यः शरीरशरीरिणोः । स प्रीत्यै विदुषां वेदो नाखिलक्षयकारणम् ॥८५२
जातिर्जरा मृतिः पुंसां त्रयी संसृतिकारणम् । एषा त्रयी यतस्त्रय्याः क्षीयते सा त्रयी मता ॥८५३
अहिंसः सद्व्रतो ज्ञानी निरीहो निष्परिग्रहः । यः स्यात्स ब्राह्मणः सत्यं न तु जातिमदान्धलः ॥८५४
सा जातिः परलोकाय यस्याः सद्धर्मसंभवः । न हि सस्याय जायेत शुद्धा भूर्बीजवर्जिता ॥८५५

के लिए आनेवाले साधु अतिथि रहे जाते हैं। अतिथि शब्दका एक अर्थ यह भी होता है कि जिसके आनेकी कोई तिथि (मिति) निश्चित नहीं है वह अतिथि है। साधु आहारके लिए किस दिन आ जायेंगे यह पहलेसे निश्चय तो होता नहीं, तथा साधुओंके अष्टमी आदिका विचार भी नहीं होता। अतः वे अतिथि कहलाते हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि अतिथि शब्दका यह अर्थ तो लौकिक है। वास्तवमें तो पाँचों इन्द्रियाँ ही द्वितीया, पंचमी, अष्टमी, एकादशी और चतुर्दशी रूपी पाँच तिथियाँ हैं और जो उनसे मुक्त हो गया, जिसने पाचों इन्द्रियोंको अपने वशमें कर लिया वही वास्तवमें अतिथि है। जो प्रतिदिन समस्त प्राणियोंमें मैत्रीरूपी यज्ञका आचरण करता है वह मनुष्य दीक्षित कहलाता है। जो बकरे आदिका बलिदान करता है वह दीक्षित नहीं है ॥ ८४७ ॥ जो बुरे कामोंको नहीं करता और न बुरे मनुष्योंकी संगति ही करता है तथा सब प्राणियोंका हित चाहता है वह वास्तवमें श्रोत्रिय, है, जो केवल बाह्य शुद्धि पालता है वह श्रोत्रिय नहीं है ॥ ८४८ ॥ जो आत्मा-रूपी अग्निमें दयारूपी मन्त्रोंके द्वारा कर्मरूपी काष्ठ-समूहसे हवन करता है वह होता है; जो बाह्य अग्निमें हवन करता है वह होता नहीं है ॥ ८४९ ॥ जो भावरूपी पुष्पोंसे देवताकी पूजा करता है, व्रतरूपी पुष्पोंसे शरीररूपी घरकी पूजा करता है और क्षमारूपी पुष्पोंसे मनरूपी अग्निकी पूजा करता है उसे सज्जन पुरुष यष्टा अर्थात् यज्ञ करनेवाला कहते हैं। जो महात्मा सोलह कारण भावनारूपी यज्ञ करनेवाले ऋत्विजोंका स्वामी है, मोक्ष-सुखरूपी यज्ञके उद्धारक उस पुरुषको अध्वर्यु जानना चाहिए ॥ ८५०-८५१ ॥ जो आत्मा और शरीरके भेदको जोरदार शब्दोंमें बतलाता है वही सच्चा वेद है और विद्वान् लोग उससे ही प्रेम करते हैं। किन्तु जो सब पशुओंके विनाशका कारण है वह वेद नहीं है ॥ ८५२ ॥ जन्म, बुढ़ापा और मृत्यु ये तीनों संसारके कारण हैं। इस त्रयी तर्थात् तीनोंका जिस त्रयीसे नाश हो वही त्रयी है। आशय यह है कि ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेदको त्रयी कहते हैं। किन्तु ग्रन्थकारका कहना है जो संसारके कारण जीवन, मृत्यु और बुढ़ापेको कष्ट कर दे, जिससे संसारमें न जन्म लेना पड़े और न मृत्युका दुःख उठाना पड़े वही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ही सच्ची त्रयी है ॥ ८५३ ॥ जो अहिंसक है, समीचीन व्रतोंका पालन करता है, ज्ञानी है, सांसारिक चाहसे दूर है और काम, क्रोध, मोह आदि तथा जमीन-जायदाद, धन आदि अन्तरंग और बहिरंग परिग्रहसे रहित है वही सच्चा ब्राह्मण है। जो जातिके मदसे अन्धा है, अपनेको सबसे ऊँचा और दूसरोंको नीच समझता है वह ब्राह्मण नहीं है ॥ ८५४॥ वही जाति परलोकके लिए उपयोगी है जिससे सच्चे धर्मका जन्म होता है, जमीन

स शैवो यः शिवज्ञात्मा स बौद्धो योऽन्तरात्मभृत् ।
स सांख्यो यः प्रसंख्यावान्स द्विजो यो न जन्मवान् ॥८५६

ज्ञानहीनो दुराचारो निर्दयो लोलुपाशयः दानयोग्यः कथं स स्यादक्षाक्षानुमतक्रियः ॥८५७

अनुमान्या समुद्देश्या त्रिशुद्धा भ्रामरी तथा। भिक्षा चतुर्विधा ज्ञेया यतिद्वयसमाश्रया ॥८५८

तरुदलमिव परिपक्वं स्नेहविहीनं प्रदीपमिव देहम् ।
स्वयमेव विनाशोन्मुखमवबुध्य करोतु विधिमन्त्यम् ॥८५९
गहनं न शरीरस्य हि विसर्जनं किं तु गहनमिह वृत्तम् ।
तन्न स्थास्नु विनाश्यं न नश्वरं शोच्यमिदमाहुः ॥८६०
प्रतिदिवसं विजहद्बलमुज्झद्भुक्तिं त्यजत्प्रतीकारम् ।
वपुरेव नृणां निगिरति चरमचरित्रोदयं समयम् ॥८६१

शुद्ध भी हो किन्तु यदि उसमें बीज न डाला गया हो तो अनाज पैदा नहीं हो सकता। अर्थात् ब्राह्मण जाति शुद्ध भी हो किन्तु उसमें यदि समीचीन धर्मके पालनकी परिपाटी न हो तो वह शुद्ध जाति भी व्यर्थ है ॥ ८५५ ॥ जो शिव अर्थात् अपने कल्याणरूप मुक्तिको जानता है वही सच्चा शैव—शिवका अनुयायी है। जो अपनी अन्तरात्माका पोषक है वही वास्तवमें बौद्ध है। जो आत्मध्यानी है वही सांख्य है और जिसे फिर संसारमें जन्म नहीं लेना है वही द्विज अर्थात् ब्राह्मण है ॥ ८५६ ॥ जो अज्ञानी है, दुराचारी है, निर्दय है, विषयोंका लोलुपी है तथा इन्द्रियोंका दास है वह दानका पात्र कैसे हो सकता है? अर्थात् ऐसे आदमीको कभी भी दान नहीं देना चाहिए ॥ ८५७ ॥ देशविरत और सर्वविरतकी अपेक्षासे भिक्षा चार प्रकारकी होती है—अनुमान्या, अनुद्देश्या, त्रिशुद्धा और भ्रामरी ॥ ८५८ ॥ **भावार्थ**—मुनिसम्बन्धी भिक्षाके लिए तो भ्रामरी शब्द शास्त्रोंमें अति प्रसिद्ध है। टिप्पणकारने अनुमान्या भिक्षाको दस प्रतिमापर्यन्त बतलाया है और आमन्त्रणपूर्वक भोजनको समुद्देश्य बतलाते हुए छठी प्रतिमापर्यन्त बतलाया है। छठी प्रतिमापर्यन्त गृही संज्ञा है। छठीके पश्चात् नवीं प्रतिमापर्यन्त ब्रह्मचारी संज्ञा है और भिक्षुक संज्ञा केवल अन्तिम दो प्रतिमाधारियोंकी है। दसवीं प्रतिमाका धारी घर छोड़कर बाहर रहने लगता है और आमन्त्रणदाताके घर भोजन करता है। अतः वह उद्दिष्ट भोजन करता है क्योंकि दाता उसके उद्देश्यसे भोजन तैयार करता है। इसलिए उसकी भिक्षा समुद्देश्या होनी चाहिए। वह अनुमति-त्यागी होता है अतः भोजनके विषयमें किसी प्रकारकी अनुमति नहीं दे सकता। किन्तु नौवीं प्रतिमा तकके धारी भोजनके विषयमें अनुमति दे सकते हैं अतः उनकी भिक्षा अनुमान्या होनी चाहिए। ग्रन्थकारने भिक्षाके भेदोंका जो क्रम रखा है उससे भी यही ध्वनित होता है कि प्रारम्भिक प्रतिमावाले अनुमान्या भिक्षा करते हैं, दसवीं प्रतिमावाले समुद्देश्या और अन्तिम प्रतिमावाले त्रिशुद्धा भिक्षा करते हैं, तथा साधु भ्रामरीभिक्षा करते हैं। [अब समाधिमरणकी विधि बतलाते हैं—] वृक्षके पके हुए पत्तेकी तरह या तेलरहित दीपककी तरह शरीरको स्वयं ही विनाशोन्मुख जानकर अन्तिम विधि (समाधिमरण) करना चाहिए ॥ ८५९ ॥ किन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि शरीरको त्याग देना कठिन नहीं है किन्तु उसमें संयमका धारण करना कठिन है। अतः यदि शरीर ठहरने योग्य हो तो उसे नष्ट नहीं कर डालना चाहिए और यदि वह नष्ट होता हो तो उसका रंज नहीं करना चाहिए ॥ ८६० ॥ [यह कहा जा सकता है कि यह हमें कैसे मालूम हो कि समाधिमरणका समय आ गया है? इसका उत्तर ग्रन्थकार स्वयं देते हैं-] जब शरीर-

यो हताशः प्रशान्ताशस्तमाशाम्बरमूचिरे । यः सर्वसङ्गसंत्यक्तः स नग्नः परिकीर्तितः ॥८२८
रेषणात्क्लेशराशीनामृषिमाहुर्मनीषिणः । मान्यत्वादात्मविद्यानां महद्भिः कीर्त्यते मुनिः ॥८२९
यः पापपाशनाशाय यतते स यतिर्भवेत् । योऽनीहो देहगेहेऽपि सोऽनगारः सतां मतः ॥८३०
आत्माशुद्धिकरैर्यस्य न संगः कर्मदुर्जनैः । स पुमाञ्छुचिराख्यातो नाम्बुसंप्लुतमस्तकः ॥८३१
धर्मकर्मफलेऽनीहो निवृत्तोऽधर्मकर्मणः । तं निर्ममभुशन्तीह केवलात्मपरिच्छदम् ॥८३२
यः कर्मद्वितयातीतस्तं मुमुक्षुं प्रचक्षते । पाशैर्लोहस्य हेम्नो वा यो बद्धो बद्ध एव सः ॥८३३
निर्ममो निरहंकारो निर्मानमदमत्सरः । निन्दायां संस्तवे चैव समधीः शंसितव्रतः ॥८३४
योऽवगम्य यथाम्नायं तत्त्वं तत्त्वैकभावनः । वाचंयमः स विज्ञेयो न मौनी पशुवन्नरः ॥८३५
श्रुते व्रते प्रसंख्याने संयमे नियमे यमे । यस्योच्चैः सर्वदा चेतः सोऽनूचानः प्रकीर्तितः ॥८३६

इसलिए उसे श्रमण कहते हैं ॥ ८२७ ॥ उसने अपनी लालसाओंको नष्ट कर दिया है अथवा उसकी लालसाएँ शान्त हो गयी हैं इसलिए उसे आशाम्बर कहते हैं और वह अन्तरंग तथा बहिरंग सब परिग्रहोंसे रहित है इसलिए उसे नग्न कहते हैं ॥ ८२८ ॥ क्लेशसमूहको रोकनेके कारण विद्वान् लोग उसे ऋषि कहते हैं। और आत्मविद्यामें मान्य होनेके कारण महात्मा लोग उसे मुनि कहते हैं। ॥ ८२९ । जो पापरूपी बन्धनके नाश करनेका यत्न करता है उसे यति कहते हैं और शरीररूपी घरमें भी जिसकी रुचि नहीं है, उसे अनगार कहते हैं ॥ ८३० ॥ जो आत्माको मलिन करनेवाले कर्म रूपी दुर्जनोंसे सम्बन्ध नहीं रखता, वही मनुष्य शुचि या शुद्ध है, सिरसे पानी डालनेवाला नहीं। अर्थात् जो पानीसे शरीरको मलमलकर धोता है वह पवित्र नहीं है किन्तु जिसकी आत्मा निर्मल है वही पवित्र है। अर्थात् यद्यपि मुनि स्नान नहीं करते किन्तु उनकी आत्मा निर्मल है इसलिए उन्हें पवित्र या शुचि कहते हैं ॥ ८३१ ॥ जो धर्माचरणके फलमें इच्छा नहीं रखता तथा अधर्माचरणका त्यागी है और केवल आत्मा ही जिसका परिवार या सम्पत्ति है उसे निर्मम कहते हैं। अर्थात् मुनि अधार्मिक काम नहीं करते, केवल धार्मिक काम करते हैं। किन्तु उन्हें भी किसी लौकिक फलकी इच्छासे नहीं करते, अपना कर्तव्य समझकर करते हैं। और उनके पास अपनी आत्माके सिवाय और कुछ रहता नहीं है, शरीर है किन्तु उससे भी उन्हें कोई ममता नहीं रहती, इसीलिए उन्हें 'निर्मम' कहते हैं ॥ ८३२ ॥ जो पुण्य और पाप दोनोंसे रहित है उसे मुमुक्षु कहते हैं। क्योंकि बन्धन लोहेके हों या सोनेके हों, जो उनसे बँधा है वह तो बद्ध ही है। अर्थात् पुण्यकर्म सोनेके बन्धन हैं और पापकर्म लोहेके बन्धन हैं दोनों ही जीवको संसारमें बाँधकर रहते हैं। अतः जो पापकर्मको छोड़कर पुण्यकर्ममें लगा है वह भी कर्मबन्ध करता है, किन्तु जो पुण्य और पाप दोनोंको छोड़कर शुद्धोपयोगमें संलीन है वही मुमुक्षु है ॥८३३॥ जो ममतारहित है, अहंकाररहित है, मान, मस्ती और डाहसे रहित है तथा निन्दा और स्तुतिमें समान बुद्धि रखता हैं यह प्रशंसनीय व्रतका धारक 'समधी' कहलाता है ॥ ८३४ ॥ जो आम्नायके अनुसार तत्त्वको जानकर उसीका एकमात्र ध्यान करता है उसे मौनी जानना चाहिए। जो पशुकी तरह केवल बोलता नहीं है वह मौनी नहीं है ॥ ८३५ ॥ जिसका मन श्रुतमें, व्रतमें, ध्यानमें, संयममें तथा यम और नियममें संलग्न रहता है उसे अनूचान कहते हैं। अर्थात् वैदिक धर्ममें साङ्ग वेदके पूर्ण विद्वान्को अनूचान कहते हैं। किन्तु ग्रन्थकारका कहना है कि जो श्रुत, व्रत नियमादिकमें रत है वही अनूचान है। और इसलिए जैन-मुनि ही 'अनूचान' कहे जा सकते हैं ॥ ८३६ ॥ जो इन्द्रियरूपी चोरोंका विश्वास नहीं करता तथा

योऽक्षस्तेनेष्वविश्वस्तः शाश्वते पथि निष्ठितः । समस्तसत्त्वविश्वास्यः सोऽनाश्वानिह गीयते ॥८३७
तत्त्वे पुमान्मनः पुंसि मनस्यक्षकदम्बकम् । यस्य युक्तं स योगी स्यान्न परेच्छादुरीहितः ॥८३८
कामः क्रोधो मदो माया लोभश्चेत्यग्निपञ्चकम् । येनेदं साधितं स स्यात्कृती पञ्चाग्निसाधकः ॥८३९
ज्ञानं ब्रह्म दया ब्रह्म ब्रह्म कामविनिग्रहः । सम्यगत्र वसन्नात्मा ब्रह्मचारी भवेन्नरः ॥८४०
क्षान्तियोषिति यः सक्तः सम्यग्ज्ञानातिथिप्रियः । स गृहस्थो भवेन्नूनं मनोदैवतसाधकः ॥८४१
ग्राम्यमर्थं बहिश्चान्तर्यः परित्यज्य संयमी । वानप्रस्थः स विज्ञेयो न वनस्थः कुटुम्बवान् ॥८४२
संसाराग्निशिखाच्छेदो येन ज्ञानासिना कृतः । तं शिखाच्छेदिनं प्राहुर्न तु मुण्डितमस्तकम् ॥८४३
कर्मात्मनो विवेक्ता यः क्षीरनीरसमानयोः । भवेत्परमहंसोऽसौ नाग्निवत्सर्वभक्षकः ॥८४४
ज्ञानैर्मनो वपुर्वृत्तैर्नियमैरिन्द्रियाणि च । नित्यं यस्य प्रदीप्तानि स तपस्वी न वेषवान् ॥८४५
पञ्चेन्द्रियप्रवृत्त्याख्यास्तिथयः पञ्च कीर्तिताः । संसाराश्रयहेतुत्वात्ताभिर्मुक्तोऽतिथिर्भवेत् ॥८४६

स्थायी मार्गपर दृढ़ रहता है और प्राणी जिसका विश्वास करते हैं अर्थात् जो किसीको भी कष्ट नहीं पहुँचाता उसे अनाश्वान् कहते हैं। अर्थात् वैदिक धर्ममें जो भोजन न करे वह अनाश्वान् कहा जाता है। किन्तु ग्रन्थकार कहते हैं कि जिसमें उक्त बातें हों उसीको अनाश्वान् कहना चाहिए ॥ ८३७ ॥ जिसका आत्मा तत्त्वमें लीन है, मन आत्मामें लीन है और इन्द्रियाँ मनमें लीन हैं उसे योगी कहते हैं। अर्थात् जिसकी इन्द्रियाँ मनमें, मन आत्मामें और आत्मा तत्त्वमें लीन है वह योगी है। जो दूसरी वस्तुओंकी इच्छावाले दुष्ट संकल्पसे युक्त है वह योगी नहीं है ॥ ८३८ ॥ काम, क्रोध, मद, माया और लोभ ये पाँच अग्नियाँ हैं। जो इन पाँचों अग्नियोंको अपने वशमें कर लेता है उसे पञ्चाग्निका साधक कहते हैं अर्थात् वैदिक साहित्यमें पाँच अग्नियोंकी उपासना करनेवालेको पञ्चाग्निसाधक कहते हैं। किन्तु ग्रन्थकारका कहना है कि सच्ची अग्नि तो काम, क्रोधादिक हैं जो रात-दिन आत्माको जलाती हैं। उन्हींका साधक पञ्चाग्निका साधक है। बाह्य अग्नियोंकी उपासनावाला नहीं ॥ ८३९ ॥ ज्ञानको ब्रह्म कहते हैं। दयाको ब्रह्म कहते हैं। कामको वशमें करनेको ब्रह्म कहते हैं। जो आत्मा अच्छी रीतिसे ज्ञानकी आराधना करता है या दयाका पालन करता है अथवा कामको जीत लेता है वही ब्रह्मचारी है ॥ ८४० ॥ जो क्षमारूपी स्त्रीमें आसक्त है, सम्यग्ज्ञानरूपी अतिथिका प्यारा है और मनरूपी देवताकी साधना करता है वही सच्चा गृहस्थ है। अर्थात् जो क्षमाशील है, ज्ञानी है और मनोजयी है वही वास्तवमें गृहस्थ है ॥ ८४१ ॥ जो अन्दरसे और बाहरमें अश्लील बातोंको छोड़कर संयम धारण करता है उसे वानप्रस्थ जानना चाहिए। जो कुटुम्बको लेकर जंगलमें जा बसता है वह वानप्रस्थ नहीं है ॥ ८४२ ॥ जिसने ज्ञान-रूपी तलवारके द्वारा संसाररूपी अग्निकी शिखा यानी लपटोंको काट डाला उसे शिखाछेदी कहते हैं, सिर घुटानेवालेको नहीं ॥ ८४३ ॥ संसार अवस्थामें कर्म और आत्मा दूध और पानीकी तरह मिले हुए हैं। जो दूध और पानीकी तरह कर्म और आत्माको जुदा-जुदा कर देता है वही परमहंस साधु है। जो आगकी तरह सर्वभक्षी है जो मिल जाये वही खा लेता है वह परमहंस नहीं है ॥ ८४४ ॥ जिसका मन ज्ञानसे, शरीर चारित्रसे और इन्द्रियाँ नियमोंसे सदा प्रदीप्त रहती है वही तपस्वी है, जिसने कोरा वेष बना रखा है वह तपस्वी नहीं है ॥ ८४५ ॥ पाँचों इन्द्रियोंका अपने-अपने विषयमें लगना ही पाँच तिथियाँ हैं। यतः इन्द्रियोंका अपने-अपने विषयमें प्रवृत्ति करना संसारका कारण है। अतः जो उनसे मुक्त हो गया उसे अतिथि कहते हैं ॥ ८४६ ॥ भावार्थ—भोजन-

अद्रोहः सर्वसत्त्वेषु यज्ञो यस्य दिने दिने । स पुमान्दीक्षितात्मा स्यान्न त्वजादियमाशयः ॥८४७
दुष्कर्मदुर्जनास्पर्शो सर्वसत्त्वहिताशयः । स श्रोत्रियो भवेत्सत्यं न तु यो वाह्यशौचवान् ॥८४८
अध्यात्माग्नौ दयामन्त्रैः सम्यक्कर्मसमिच्चयम् । यो जुहोति स होता स्यान्न वाह्याग्निसमेधकः ॥८४९
भावपुष्पैर्यजेद्देवं व्रतपुष्पैर्वपुर्गृहम् । क्षमापुष्पैर्मनोवह्निं यः स यष्टा सतां मतः ॥८५०
षोडशानामुदारात्मा यः प्रभुर्भावनर्त्विजाम् । सोऽध्वर्युरिह बोद्धव्यः शिवशर्माध्वरोद्धुरः ॥८५१
विवेकं वेदयेदुच्चैर्यः शरीरशरीरिणोः । स प्रीत्यै विदुषां वेदो नाखिलक्षयकारणम् ॥८५२
जातिर्जरा मृतिः पुंसां त्रयी संसृतिकारणम् । एषा त्रयी यतस्त्रय्याः क्षीयते सा त्रयी मता ॥८५३
अहिंसः सद्व्रतो ज्ञानी निरीहो निष्परिग्रहः । यः स्यात्स ब्राह्मणः सत्यं न तु जातिमदान्धलः ॥८५४
सा जातिः परलोकाय यस्याः सद्धर्मसंभवः । न हि सस्याय जायेत शुद्धा भूर्बीजवर्जिता ॥८५५

के लिए आनेवाले साधु अतिथि कहे जाते हैं। अतिथि शब्दका एक अर्थ यह भी होता है कि जिसके आनेकी कोई तिथि (मिति) निश्चित नहीं है वह अतिथि है। साधु आहारके लिए किस दिन आ जायेंगे यह पहलेसे निश्चय तो होता नहीं, तथा साधुओंके अष्टमी आदिका विचार भी नहीं होता। अतः वे अतिथि कहलाते हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि अतिथि शब्दका यह अर्थ तो लौकिक है। वास्तवमें तो पाँचों इन्द्रियाँ ही द्वितीया, पंचमी, अष्टमी, एकादशी और चतुर्दशी रूपी पाँच तिथियाँ हैं और जो उनसे मुक्त हो गया, जिसने पाचों इन्द्रियोंको अपने वशमें कर लिया वही वास्तवमें अतिथि है। जो प्रतिदिन समस्त प्राणियोंमें मैत्रीरूपी यज्ञका आचरण करता है वह मनुष्य दीक्षित कहलाता है। जो बकरे आदिका बलिदान करता है वह दीक्षित नहीं है ॥ ८४७ ॥ जो बुरे कामोंको नहीं करता और न बुरे मनुष्योंकी संगति ही करता है तथा सब प्राणियोंका हित चाहता है वह वास्तवमें श्रोत्रिय, है, जो केवल बाह्य शुद्धि पालता है वह श्रोत्रिय नहीं है ॥ ८४८ ॥ जो आत्मा-रूपी अग्निमें दयारूपी मन्त्रोंके द्वारा कर्मरूपी काष्ठ-समूहसे हवन करता है वह होता है; जो बाह्य अग्निमें हवन करता है वह होता नहीं है ॥ ८४९ ॥ जो भावरूपी पुष्पोंसे देवताकी पूजा करता है, व्रतरूपी पुष्पोंसे शरीररूपी घरकी पूजा करता है और क्षमारूपी पुष्पोंसे मनरूपी अग्निकी पूजा करता है उसे सज्जन पुरुष यष्टा अर्थात् यज्ञ करनेवाला कहते हैं। जो महात्मा सोलह कारण भावनारूपी यज्ञ करनेवाले ऋत्विजोंका स्वामी है, मोक्ष-सुखरूपी यज्ञके उद्धारक उस पुरुषको अध्वर्यु जानना चाहिए ॥ ८५०–८५१ ॥ जो आत्मा और शरीरके भेदको जोरदार शब्दोंमें बतलाता है वही सच्चा वेद है और विद्वान् लोग उससे ही प्रेम करते हैं। किन्तु जो सब पशुओंके विनाशका कारण है वह वेद नहीं है ॥ ८५२ ॥ जन्म, बुढ़ापा और मृत्यु ये तीनों संसारके कारण हैं। इस त्रयी तर्थात् तीनोंका जिस त्रयीसे नाश हो वही त्रयी है। आशय यह है कि ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेदको त्रयी कहते हैं। किन्तु ग्रन्थकारका कहना है जो संसारके कारण जीवन, मृत्यु और बुढ़ापेको कष्ट कर दे, जिससे संसारमें न जन्म लेना पड़े और न मृत्युका दुःख उठाना पड़े वही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ही सच्ची त्रयी है ॥ ८५३ ॥ जो अहिंसक है, समीचीन व्रतोंका पालन करता है, ज्ञानी है, सांसारिक चाहसे दूर है और काम, क्रोध, मोह आदि तथा जमीन–जायदाद, धन आदि अन्तरंग और बहिरंग परिग्रहसे रहित है वही सच्चा ब्राह्मण है। जो जातिके मदसे अन्धा है, अपनेको सबसे ऊँचा और दूसरोंको नीच समझता है वह ब्राह्मण नहीं है ॥ ८५४॥ वही जाति परलोकके लिए उपयोगी है जिससे सच्चे धर्मका जन्म होता है, जमीन

स शैवो यः शिवज्ञात्मा स बौद्धो योऽन्तरात्मभृत् ।
स सांख्यो यः प्रसंख्यावान्स द्विजो यो न जन्मवान् ॥८५६
ज्ञानहीनो दुराचारो निर्दयो लोलुपाशयः दानयोग्यः कथं स स्याद्यश्चाक्षानुमतक्रियः ॥८५७
अनुमान्या समुद्देश्या त्रिशुद्धा भ्रामरी तथा । भिक्षा चतुर्विधा ज्ञेया यतिद्वयसमाश्रया ॥८५८
तरुदलमिव परिपक्वं स्नेहविहीनं प्रदीपमिव देहम् ।
स्वयमेव विनाशोन्मुखमवबुध्य करोतु विधिमन्त्यम् ॥८५९
गहनं न शरीरस्य हि विसर्जनं किं तु गहनमिह वृत्तम् ।
तन्न स्थास्नु विनाश्यं न नश्वरं शोच्यमिदमाहुः ॥८६०
प्रतिदिवसं विजहद्‌बलमुज्झद्‌भुक्तिं त्यजत्प्रतीकारम् ।
वपुरेव नृणां निगिरति चरमचरित्रोदयं समयम् ॥८६१

शुद्ध भी हो किन्तु यदि उसमें बीज न डाला गया हो तो अनाज पैदा नहीं हो सकता। अर्थात् ब्राह्मण जाति शुद्ध भी हो किन्तु उसमें यदि समीचीन धर्मके पालनकी परिपाटी न हो तो वह शुद्ध जाति भी व्यर्थ है ॥ ८५५ ॥ जो शिव अर्थात् अपने कल्याणरूप मुक्तिको जानता है वही सच्चा शैव—शिवका अनुयायी है। जो अपनी अन्तरात्माका पोषक है वही वास्तवमें बौद्ध है। जो आत्मध्यानी है वही सांख्य है और जिसे फिर संसारमें जन्म नहीं लेना है वही द्विज अर्थात् ब्राह्मण है ॥ ८५६ ॥ जो अज्ञानी है, दुराचारी है, निर्दय है, विषयोंका लोलुपी है तथा इन्द्रियोंका दास है वह दानका पात्र कैसे हो सकता है ? अर्थात् ऐसे आदमीको कभी भी दान नहीं देना चाहिए ॥ ८५७ ॥ देशविरत और सर्वविरतकी अपेक्षासे भिक्षा चार प्रकारकी होती है—अनुमान्या, अनुद्देश्या, त्रिशुद्धा और भ्रामरी ॥ ८५८ ॥ भावार्थ—मुनिसम्बन्धी भिक्षाके लिए तो भ्रामरी शब्द शास्त्रोंमें अति प्रसिद्ध है। टिप्पणकारने अनुमान्या भिक्षाको दस प्रतिमापर्यन्त बतलाया है और आमन्त्रणपूर्वक भोजनको समुद्देश्य बतलाते हुए छठी प्रतिमापर्यन्त बतलाया है। छठी प्रतिमापर्यन्त गृही संज्ञा है। छठीके पश्चात् नवीं प्रतिमापर्यन्त ब्रह्मचारी संज्ञा है और भिक्षुक संज्ञा केवल अन्तिम दो प्रतिमाधारियोंकी है। दसवीं प्रतिमाका धारी घर छोड़कर बाहर रहने लगता है और आमन्त्रणदाताके घर भोजन करता है। अतः वह उद्दिष्ट भोजन करता है क्योंकि दाता उसके उद्देश्यसे भोजन तैयार करता है। इसलिए उसकी भिक्षा समुद्देश्या होनी चाहिए। वह अनुमति-त्यागी होता है अतः भोजनके विषयमें किसी प्रकारकी अनुमति नहीं दे सकता। किन्तु नौवीं प्रतिमा तकके धारी भोजनके विषयमें अनुमति दे सकते है अतः उनकी भिक्षा अनुमान्या होनी चाहिए। ग्रन्थकारने भिक्षाके भेदोंका जो क्रम रखा है उससे भी यही ध्वनित होता है कि प्रारम्भिक प्रतिमावाले अनुमान्या भिक्षा करते हैं, दसवीं प्रतिमावाले समुद्देश्या और अन्तिम प्रतिमावाले त्रिशुद्धा भिक्षा करते हैं, तथा साधु भ्रामरीभिक्षा करते हैं। [अब समाधिमरणकी विधि बतलाते हैं—] वृक्षके पके हुए पत्तेकी तरह या तेलरहित दीपककी तरह शरीरको स्वयं ही विनाशोन्मुख जानकर अन्तिम विधि (समाधिमरण) करना चाहिए ॥ ८५९ ॥ किन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि शरीरको त्याग देना कठिन नहीं है किन्तु उसमें संयमका धारण करना कठिन है। अतः यदि शरीर ठहरने योग्य हो तो उसे नष्ट नहीं कर डालना चाहिए और यदि वह नष्ट होता हो तो उसका रंज नहीं करना चाहिए ॥ ८६० ॥ [यह कहा जा सकता है कि यह हमें कैसे मालूम हो कि समाधिमरणका समय आ गया है ? इसका उत्तर ग्रन्थकार स्वयं देते हैं—] जब शरीर-

सविधाधापकृतिरिव जनिताखिलकायकम्पनातङ्का ।
यमदूतीव जरा यदि समागता जीवितेषु कस्तर्षः ॥८६२
कर्णान्तकेशपाशग्रहणविधेर्बोधितोऽपि यदि जरया ।
स्वस्य हितैषी न भवति तं किं मृत्युर्न संग्रसते ॥८६३
उपवासादिभिरङ्गे कषायदोषे च बोधिभावनया । कृतसल्लेखनकर्मा प्रायाय यतेत गणमध्ये ॥८६४
यमनियमस्वाध्यायास्तपांसि देवार्चनाविधिर्दानम् । एतत्सर्वं निष्फलमवसाने चेन्मनो मलिनम् ॥८६५
द्वादशवर्षाणि नृपः शिक्षितशस्त्रो रणेषु यदि मुह्येत् ।
किं स्यात्तस्यास्त्रविधेर्यथा तथान्ते यतेः पुराचरितम् ॥८६६
स्नेहं विहाय बन्धुषु मोहं विभवेषु कलुषतामहिते ।
गणिनि च निवेद्य निखिलं दुरीहितं तदनु भजतु विधिमुचितम् ॥८६७
अशनं क्रमेण हेयं स्निग्धं पानं ततः खरं चैव ।
तदनु च सर्वनिवृत्तिं कुर्याद्गुरुपञ्चकस्मृतौ निरतः ॥८६८
कदलीघातवदायुः कृतिनां सकृदेव विरतिमुपयाति ।
तत्र पुनर्नैष विधिर्यद्दैवे क्रमविधिर्नास्ति ॥८६९
सूरौ प्रवचनकुशले साधुजने यत्नकर्मणि प्रवणे । चित्ते च समाधिरते किमिहासाध्यं यतेरस्ति ॥८७०

की शक्ति प्रतिदिन घटने लगे, खाना-पीना छूट जाये और कोई उपाय कारगर न हो तो स्वयं शरीर ही मनुष्योंको यह बतला देता है कि अब समाधिमरण करनेका समय आ गया है ॥ ८६१ ॥ जब सन्निकटवर्ती अपकारकी तरह समस्त शरीरमें कंपकँपी पैदा करने वाला बुढ़ापा यमके दूतकी तरह आकर खड़ा हो गया तो फिर जीनेकी क्या लालसा ? ॥ ८६२ ॥ बुढ़ापेके द्वारा कानके समीपके बालोंको पकड़कर समझाये जानेपर भी अर्थात् बुढ़ापेके चिह्नस्वरूप कानके पासके बालोंके सफेद हो जानेपर भी जो अपने हितमें नहीं लगता है क्या उसे मौत नहीं खाती ? ॥ ८६३ ॥ जो समाधिमरण करना चाहता है, उसे उपवास आदि के द्वारा शरीरको और ज्ञान-भावनाके द्वारा कषायोंको कृश करके किसी मुनिसंघमें चला जाना चाहिए ॥ ८६४ ॥ यदि मरते समय मन मैला रहा तो जीवन-भरका यम, नियम, स्वाध्याय, तप, देवपूजा और दान निष्फल है ॥ ८६५ ॥ जैसे एक राजाने बारह वर्ष तक शस्त्र चलाना सीखा । किन्तु जब युद्धका अवसर आया तो वह शस्त्र नहीं चला सका । उस राजाकी शस्त्रशिक्षा किस कामकी, वैसे ही जो व्रती जीवन-भर धर्माचरण करता रहा, किन्तु जब अन्त समय आया तो मोहमें पड़ गया । उस व्रतीका पूर्वाचरण किस कामका ॥ ८६६ ॥ कुटुम्बियोंसे स्नेह, सम्पत्तिसे मोह और जिन्होंने अपना बुरा किया है उनके प्रति कलुषपनेको छोड़कर आचार्यसे अपने सब अपराधोंको कह दे, और उसके बाद समाधिमरणके योग्य विधिका पालन करे ॥ ८६७ ॥ धीरे-धीरे भोजनको छोड़ दे और दूध, मठा वगैरह रख ले । फिर उन्हें भी छोड़कर गर्म जल रख ले । उसके बाद पञ्च नमस्कार मन्त्रके स्मरणमें लीन होकर सब कुछ छोड़ दे ॥ ८६८ ॥ यदि किसी पुण्यशाली पुरुषकी आयु कटे हुए केलेकी तरह एक साथ ही समाप्त होती हो तो वहाँ समाधिमरणकी यह विधि नहीं है, क्योंकि दैववश अचानक मरण उपस्थित होनेपर क्रमिक विधि नहीं बन सकती ॥ ८६९ ॥ यदि समाधिमरण करानेवाले आचार्य आगममें कुशल हों और साधुसंघ प्रयत्न करनेमें कुशल हो तथा समाधिमरण करनेवालेका

जीवितमरणाशंसे सुहृदनुरागः सुखानुबन्धविधिः। एते सनिदाना स्युः सल्लेखनहानये पञ्च ॥८७१

आराध्य रत्नत्रयमित्थमर्थी समर्पितात्मा गणिने यथावत्।
समाधिभावेन कृतात्मकार्यः कृती जगन्मान्यपदप्रभुः स्यात् ॥८७२

विप्रकीर्णार्थवाक्यानामुक्तिरुक्तं प्रकीर्णकम्। उक्तानुक्तामृतस्यन्दबिन्दुस्वादनकोविदैः ॥८७३

अदुर्जनत्वं विनयो विवेकः परीक्षणं तत्त्वविनिश्चयश्च।
एते गुणाः पञ्च भवन्ति यस्य स आत्मवान्धर्मकथापरः स्यात् ॥८७४

असूयकत्वं शठताऽविचारो दुराग्रहः सूक्तविमानना च।
पुंसाममी पञ्च भवन्ति दोषास्तत्त्वाववोधप्रतिबन्धनाय ॥८७५

पुंसो यथा संशयिताशयस्य दृष्टा न काचित्सफला प्रवृत्तिः।
धर्मस्वरूपेऽपि विमूढबुद्धेस्तथा न काचित्सफला प्रवृत्तिः ॥८७६

जातिपूजाकुलज्ञानरूपसंपत्तपोबले। उशन्त्यहंयुतोद्रेकं मदमस्मयमानसाः ॥८७७
यो मदात्समयस्थानामह्लादेन मोदते। स नूनं धर्महा यस्मान्न धर्मो धार्मिकैर्विना ॥८७८
देवसेवा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः। दानं चेति गृहस्थानां षट् कर्माणि दिने दिने ॥८७९
स्नपनं पूजनं स्तोत्रं जपो ध्यानं श्रुतस्तवः। षोढा क्रियोदिता सद्भिर्देवसेवासु गेहिनाम् ॥८८०

मन ध्यानमें लगा रहे तो फिर कुछ भी असाध्य नहीं है ॥ ८७० ॥

समाधिमरणके अतीचार : जीनेकी इच्छा करना, मरनेकी इच्छा करना, मित्रोंको याद करना, पहले भोगे हुए भोगोंका स्मरण करना और आगामी भोगोंकी इच्छा करना, ये पाँच बातें समाधिमरणव्रतमें दोष लगानेवाली हैं ॥ ८७१ ॥ इस प्रकार आचार्यके ऊपर विधिवत् अपना भार सौंपकर तथा रत्नत्रयकी आराधना करके जो समाधिमरण करता है वह संसारमें पूजनीय पदका स्वामी होता है ॥ ८७२ ॥ अब कुछ प्रकीर्णक बातें बतलाते हैं। उक्त—जिन्हें कह चुके और अनुक्त—जिन्हें नहीं कहा, उन सब विषयरूपी अमृतसे टपकनेवाली बूँदोंका स्वाद लेनेमें चतुर पण्डितजनोंने फुटकर बातोंका कथन करनेको प्रकीर्णक कहा है ॥ ८७३ ॥ सज्जनता, विनय, समझदारी, हिताहितकी परीक्षा और तत्त्वोंका निश्चय जिसमें ये पाँच गुण होते हैं वही विशिष्ट आत्मा, धर्म कथा, धार्मिक चर्चा या धर्मोपदेशका अधिकारी है ॥ ८७४ ॥ किसीके गुणोंमें दोष लगाना, ठगना, विचारहीनता, हठीपना और अच्छी बातका निरादर करना, मनुष्योंके ये पाँच दोष तत्त्वको समझनेमें रुकावट डालते हैं। अर्थात् जिसमें ये दोष होते हैं वह तत्त्वको समझनेका प्रयत्न नहीं करता और अपनी ही हाँके जाता है ॥ ८७५ ॥ जैसे प्रत्येक बातको सन्देहकी दृष्टिसे देखनेवाला संशयालु मनुष्य किसी भी काममें सफल होता नहीं देखा जाता, वैसे ही जो मनुष्य धर्मके स्वरूपके विषयमें भी मूढबुद्धि है उसकी कोई प्रवृत्ति सफल नहीं होती ॥ ८७६ ॥ गर्वसे रहित गणधरादिक देव, जाति, प्रतिष्ठा, कुल, ज्ञान, रूप, सम्पत्ति, तप और बलका सहारा लेकर अहंकार करनेको मद या घमंड कहते हैं। अर्थात् लोकमें इन आठ बातोंको लेकर लोग घमंड करते देखे जाते हैं ॥ ८७७ ॥ जो मनुष्य घमण्डमें आकर अपने साधर्मी भाइयोंका अपमान करके प्रसन्न होता है वह निश्चयसे धर्मघातक है; क्योंकि धार्मिकोंके विना धर्म नहीं है ॥ ८७८ ॥ देवपूजा, गुरुकी सेवा, स्वाध्याय, संयम, तप और दान ये गृहस्थोंके छह दैनिक कर्म हैं। प्रत्येक गृहस्थको प्रतिदिन ये छह काम अवश्य करने चाहिए ॥ ८७९ ॥ सुज्ञ जनोंने गृहस्थोंके लिए देवपूजाके विषयमें छह क्रियाएँ बतलायी हैं—पहले अभिषेक,

आचार्योपासनं श्रद्धा शास्त्रार्थस्य विवेचनम् । तत्क्रियाणामनुष्ठानं श्रेयःप्राप्तिकरो गणः ॥८८१
शुचिर्विनयसंपन्नस्तनुचापलवर्जितः । अष्टदोषविनिर्मुक्तमधीतां गुरुसंनिधौ ॥८८२
अनुयोगगुणस्थानमार्गणास्थानकर्मसु । अध्यात्मतत्त्वविद्यायाः पाठः स्वाध्याय उच्यते ॥८८३
गृही यतः स्वसिद्धान्तं साधु बुध्येत धर्मधीः । प्रथमः सोऽनुयोगः स्यात्पुराणचरिताश्रयः ॥८८४
अधोमध्योर्ध्वलोकेषु चतुर्गतिविचारणम् । शास्त्रं करणमित्याहुरनुयोगपरीक्षणम् ॥८८५
ममेदं स्यादनुष्ठानं तस्यायं रक्षणक्रमः । इत्थमात्मचरित्रार्थोऽनुयोगश्चरणाश्रितः ॥८८६
जीवाजीवपरिज्ञानं धर्माधर्मावबोधनम् । बन्धमोक्षज्ञता चेति फलं द्रव्यानुयोगतः ॥८८७
जीवस्थानगुणस्थानमार्गणास्थानगो विधिः । चतुर्दशविधो बोध्यः स प्रत्येकं यथागमम् ॥८८८
आदितः पञ्च तिर्यक्षु चत्वारि श्वभ्रिनाकिनोः । गुणस्थानानि मन्यन्ते नृषु चैव चतुर्दश ॥८८९
अनिगूहितवीर्यस्य कायक्लेशस्तपः स्मृतम् । तच्च मार्गाविरोधेन गुणाय गदितं जिनैः ॥८९०

फिर पूजन, फिर भगवान्‌के गुणोंका स्तवन, फिर पञ्च नमस्कार मन्त्र वगैरहका जाप, फिर ध्यान और अन्तमें जिनवाणीका स्तवन। इसी क्रमसे जिनेन्द्र देवकी आराधना करनी चाहिए ॥ ८८० ॥ आचार्यकी उपासना, देवशास्त्र गुरुकी श्रद्धा, शास्त्रके अर्थका विवेचन, उसमें बतलायी गयी क्रियाओंका आचरण ये सब कल्याणकी प्राप्ति करनेवाले हैं ॥ ८८१ ॥ अपने कल्याणके इच्छुक शिष्य-समुदायको पवित्र होकर तथा शारीरिक चपलताको छोड़कर विनयपूर्वक गुरुके समीपमें आठ दोषोंसे रहित अध्ययन करना चाहिए ॥ ८८२ ॥ भावार्थ—आचार्य परमेष्ठी या उपाध्याय परमेष्ठी गुरु कहलाते हैं। उनसे विनयपूर्वक अध्ययन, शास्त्रचर्चा, उनकी आज्ञाका पालन आदि करना चाहिए। ज्ञानाराधानाके आठ दोष होते हैं—स्वाध्यायके समयका ध्यान न रखना पहला दोष है। शुद्ध उच्चारण न करना, अक्षरादिको छोड़ जाना दूसरा दोष है। शास्त्रका अर्थ ठीक न करना तीसरा दोष है। न उच्चारण ठीक करना और न अर्थ ठीक करना चौथा दोष है। जिनसे पढ़ा है या विचारा है उनका नाम छिपाना पाँचवाँ दोष है। जो पढ़ा है उसको अवधारण न करना छठा दोष है। विनयपूर्वक अध्ययन न करना सातवाँ दोष है और गुरुका आदर न करना आठवाँ दोष है। इन आठ दोषोंको टालकर गुरुसे अध्ययन करना चाहिए। चारों अनुयोगोंके शास्त्र तथा गुणस्थान और मार्गणास्थानका और अध्यात्म तत्त्वरूप विद्याका पढ़ना स्वध्याय है ॥ ८८३ ॥ धर्मात्मा गृहस्थ जिससे अपने सिद्धान्तोंको अच्छी तरह समझ सकता है वह प्रथमानुयोग है। उसमें त्रेसठ शलाका-पुरुषोंका वृत्तान्त या प्रसिद्ध पुरुषोंका चरित्र पाया जाता है ॥ ८८४ ॥ अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोकमें चारों गतियोंका विचार जिसमें किया गया हो उसको करणानुयोग कहते हैं। यह करणानुयोग अन्य अनुयोगोंकी परीक्षा करनेकी कसौटी है। अर्थात् इसीपरसे अन्य सबके प्रामाण्यकी परीक्षा की जाती है ॥ ८८५ ॥ यह मेरा अनुष्ठान—कर्तव्यकर्म है और उसके पालनका यह क्रम है। इस प्रकार आत्माके चरित्रका वर्णन जिसमें किया गया हो उसे चरणानुयोग कहते हैं ॥ ८८६ ॥ द्रव्यानुयोगसे जीव और अजीव द्रव्यका ज्ञान होता है, धर्म और अधर्म द्रव्यका ज्ञान होता है तथा बन्ध और मोक्षका ज्ञान होता है ॥ ८८७ ॥ जीवसमास, गुणस्थान और मार्गणा प्रत्येक चौदह-चौदह प्रकारके होते हैं। इनका स्वरूप आगमोंसे जानना चाहिए। तिर्यञ्चोंमें पहलेके पाँच गुण-स्थान होते हैं। देव और नारकियोंमें पहलेके चार गुणस्थान होते हैं और मनुष्योंमें चौदहों गुण-स्थान होते हैं ॥ ८८८--८८९ ॥ अपनी शक्तिको न छिपाकर जो कायक्लेश किया जाता है, शारीरिक

अन्तर्बहिर्मलप्लोषादात्मनः शुद्धिकारणम् । शारीरं मानसं कर्म तपः प्राहुस्तपोधनाः ॥८९१
कषायेन्द्रियदण्डानां विजयो व्रतपालनम् । संयमः संयतैः प्रोक्तः श्रेयः श्रयितुमिच्छताम् ॥८९२

अस्यायमर्थः -- कषन्ति संतापयन्ति दुर्गतिसंगसंपादनेनात्मानमिति कषायाः क्रोधादय । अथवा यथा विशुद्धस्य वस्तुनो नैयग्रोधादयः कषाया कालुष्यकारिणः, तथा निर्मलस्यात्मनो मलिनत्वहेतुत्वात्कषाया इव कषायाः । तत्र स्वपरापराधाभ्यामात्मेतरयोरपायोऽपायानुष्ठानमशुभपरिणामजननं वा क्रोधः । विद्याविज्ञानैश्वर्यादिभिः पूज्यपूजाव्यतिक्रमहेतुरहंकारो युक्तिदर्शनेऽपि दुराग्रहापरित्यागो वा मानः । मनोवाक्कायक्रियाणामयाथातथ्यात्परवञ्चनाभिप्रायेण प्रवृत्तिः ख्यातिपूजालाभाद्यभिनिवेशेन वा माया । चेतनाचेतनेषु वस्तुषु चित्तस्य महान्ममेदं भावस्तदभिवृद्धिविनाशयोर्महान्सन्तोषोऽसन्तोषो वा लोभः ।

सम्यक्त्वं घ्नन्त्यनन्तानुबन्धिनस्ते कषायकाः । अप्रत्याख्यानरूपाश्च देशव्रतविघातिनः ॥८९३
प्रत्याख्यानस्वभावाः स्युः संयमस्य विनाशकाः । चारित्रे तु यथाख्याते कुर्युः संज्वलनाः क्षतिम् ॥८९४

कष्ट उठाया जाता है उसे तप कहते हैं। किन्तु वह तप जैनमार्गके अविरुद्ध यानी अनुकूल होनेसे ही लाभदायक हो सकता है। अथवा अन्तरङ्ग और बाह्य मलके संतापसे आत्माको शुद्ध करनेके लिए जो शारीरिक और मानसिक कर्म किये जाते हैं उसे तपस्वी जन तप कहते हैं ॥ ८९०--८९१ ॥ आत्माका कल्याण चाहनेवालोंके द्वारा जो कषायोंका निग्रह, इन्द्रियोंका जय, मन, वचन और कायकी प्रवृत्तिका त्याग तथा व्रतोंका पालन किया जाता है उसे संयमी पुरुष संयम कहते हैं ॥ ८९२ ॥ इसका खुलासा इस प्रकार है—जो आत्माको दुर्गतियोंमें ले जाकर कष्ट दें उन्हें कषाय कहते हैं। अथवा जैसे वटवृक्ष वगैरहका कसैला रस साफ़ वस्तुको भी काला कर देता है वैसे ही जो निर्मल आत्माको मलिन करनेमें कारण हो उसे कसैले रसके समान होनेसे कषाय कहते हैं। वे कषाय चार हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। अपनी या दूसरोंकी गलतीसे अपना या दूसरोंका अनिष्ट होना या अनिष्ट करना अथवा बुरे भावोंका उत्पन्न होना क्रोध है। विद्या, ज्ञान या ऐश्वर्य वगैरहके घमंडमें आकर पूज्य पुरुषोंका आदर-सत्कार नहीं करना अथवा युक्ति देनेपर भी अपने दुराग्रहको नहीं छोड़ना मान है। दूसरोंको ठगनेके अभिप्रायसे अथवा ख्याति, आदर-सत्कार या धनलाभ आदि के अभिप्रायसे मन, वचन और कायकी मिथ्याप्रवृत्ति करना अर्थात् सोचना कुछ, कहना कुछ और करना कुछ, इसे माया कहते हैं। चेतन स्त्री-पुत्रादिकमें और अचेतन जमीन-जायदाद आदि में 'यह मेरे हैं' इस प्रकारकी जो अत्यन्त आसक्ति होती है अथवा इन वस्तुओंकी वृद्धि होनेपर जो महान् संतोष या इनकी हानि होनेपर जो महान् असन्तोष होता है वह लोभ है। इस प्रकार ये चार कषाय हैं। इन चारोंमें-से प्रत्येककी चार-चार अवस्थाएँ होती हैं—अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ और संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ। इनमें से जो कषाय सम्यग्दर्शनको घातती हैं अर्थात् सम्यग्दर्शनको नहीं होने देतीं उन्हें अनन्तानुबन्धी कषाय कहते हैं। जो कषाय सम्यग्दर्शनको तो नहीं घाततीं किन्तु देशव्रतको घातती हैं उन्हें अप्रत्याख्यानावरण कषाय कहते हैं ॥ ८९३ ॥ जो कषाय न तो सम्यग्दर्शनको रोकती हैं और न देशचारित्रको रोकती हैं किन्तु संयमको रोकती हैं, उन्हें प्रत्याख्यानावरण कषाय कहते हैं। और जो कषाय केवल यथाख्यात चारित्रको नहीं होने देतीं उन्हें संज्वलनकषाय कहते हैं ॥ ८९४ ॥ चारों क्रोध आदि

पाषाणभूरजोवारिलेखाप्रख्यत्वभाग्भवन् । क्रोधो यथाक्रमं गत्यै श्वभ्रतिर्यङ्नृनाकिनाम् ॥८९५
शिलास्तम्भास्थिसार्द्रध्मवेत्रवृत्तिर्द्वितीयकः । अधः पशुनरस्वर्गगतिसंगतिकारणम् ॥८९६
वेणुमूलैरजाशृङ्गैर्गोमूत्रैश्चामरैः समा । माया तथैव जायेत चतुर्गतिवितीर्णये ॥८९७
क्रिमिनीलीवपुर्लेपहरिद्रारागसंन्निभः । लोभः कस्य न संजातस्तद्वत्संसारकारणम् ॥८९८

कषायोंमेंसे प्रत्येकके शक्तिकी अपेक्षासे भी चार-चार भेद होते हैं। पत्थरकी लकीरके समान क्रोध, पृथिवीकी लकीरके समान क्रोध, धूलिकी लकीरके समान क्रोध और जलकी लकीरके समान क्रोध। जैसे पत्थरकी लकीरका मिटना दुष्कर है वैसे ही जो क्रोध बहुत समय बीत जानेपर भी बना रहता है वह उत्कृष्ट शक्तिवाला होता है और ऐसा क्रोध जीवको नरक गति में ले जाता है। जैसे पृथ्वीकी लकीर बहुत समय बाद मिटती है वैसे जो क्रोध बहुत समय बीत जानेपर मिटे वह अनुत्कृष्ट शक्तिवाला क्रोध है ऐसा क्रोध जीवको पशुगतिमें ले जाता है। जैसे धूलमें की गयी लकीर कुछ समयके बाद मिटती है वैसे ही जो क्रोध कुछ समयके बाद मिट जाये वह अजघन्य शक्तिवाला क्रोध है। ऐसा क्रोध जीवको मनुष्य गतिमें उत्पन्न करता है। जैसे पानीमें की गयी लकीर तुरन्त ही मिट जाती है वैसे ही जो क्रोध तुरन्त ही शान्त हो जाये वह जघन्य शक्तिवाला क्रोध है। ऐसा क्रोध जीवको देवगतिमें उत्पन्न करानेमें निमित्त होता है ॥ ८९५ ॥ मान कषायके भी शक्तिकी अपेक्षा चार भेद हैं—पत्थरके स्तम्भके समान, हड्डीके समान, गोली लकड़ीके समान और वेतके समान। जैसे पत्थरका स्तम्भ कभी नमता नहीं है वैसे ही जो मान जीवको कभी विनयी नहीं होने देता वह उत्कृष्ट शक्तिवाला मान है, ऐसा मान जीवको नरकगतिमें जानेका निमित्त होता है। जैसे हड्डी बहुत काल बीते बिना नमने योग्य नहीं होती वैसे ही जो बहुत काल बीते बिना जीवको विनयी नहीं होने देता वह अनुत्कृष्ट शक्तिवाला मान है। ऐसा मान जीवकी पशुगतिमें उत्पन्न होनेका निमित्त होता है। जैसे गीली लकड़ी थोड़े कालमें ही नमने योग्य हो जाती है वैसे हो जो थोड़े समयमें ही शान्त हो जाता है वह अजघन्य शक्तिवाला मान है। ऐसा मान जीवको मनुष्यगतिमें उत्पन्न कराता है। जैसे वेत जल्दी ही नम जाता है वैसे ही जो जल्दी ही शान्त हो जाये वह जघन्य शक्तिवाला मान है ऐसा मान जीवको देवगतिमें उत्पन्न कराता है ॥ ८९६ ॥ इसी प्रकार बाँसकी जड़, बकरीके सींग, गोमूत्र और चामरोंके समान माया क्रमशः चारों गतियोंमें उत्पन्न करानेमें निमित्त होती है। अर्थात् जैसे बाँसकी जड़में बहुत-सी शाखा-प्रशाखा होती है वैसे ही जिसमें इतने छल-छिद्र हों कि उनका कोई हिसाब ही न हो, उसे उत्कृष्ट शक्तिवाली माया कहते हैं। जैसे बकरीके सींग टेढ़े होते हैं उस ढंगका टेढ़ापन जिसके व्यवहारमें हो वह अनुत्कृष्ट शक्तिवाली माया है। जैसे बैल कुछ मोड़ा देकर मूतता है उतना टेढ़ापन जिसमें हो वह अजघन्य शक्तिवाली माया है और जैसे चामर ढोरते समय थोड़ा मोड़ा खा जाते हैं किन्तु तुरन्त ही सीधे हो जाते हैं वैसे ही जिसमें बहुत कम टेढ़ापन हो जो जल्द ही निकल जाये वह जघन्य शक्तिवाली माया है। चारों प्रकारकी माया क्रमसे जीवको चारों गतिमें उत्पन्न करानेमें कारण है ॥ ८९७ ॥ किरमिचके रंग, नीलके रंग, शरीरके मल और हल्दीके रंगके समान लोभ शेष कषायोंकी तरह किस जीवके संसार-भ्रमणका कारण नहीं होता। जैसे किरमिचका रंग पक्का होता है वैसे ही जो खूब गहरा और पक्का हो वह तो उत्कृष्ट शक्तिवाला लोभ है। जैसे नीलका रंग किरमिचसे कम पक्का होता है मगर होता वह भी गहरा ही है वैसे ही जो कम पक्का और

किञ्च—

यथौषधक्रिया रिक्ता रोगिणोऽपथ्यसेविनः । क्रोधनस्य तथा रिक्ताः समाधिश्रुतसंयमाः ॥८९९
मानदावाग्निदग्धेषु मदोषरकषायिषु । नृद्रुमेषु प्ररोहन्ति न सच्छायोचिताङ्कुराः ॥९००
यावन्मायानिशालेशोऽध्यात्माम्बुषु कृतास्पदः । न प्रबोधश्रियं तावद्धत्ते चित्ताम्बुजाकरः ॥९०१
लोभकीकसचिह्नानि चेतःस्रोतांसि दूरतः । गुणाध्वन्यास्त्यजन्तीह चण्डालसरसीमिव ॥९०२
तस्मान्मनोनिकेतेऽस्मिन्निदं शल्यचतुष्टयम् । यतेतोद्धर्तुमात्मज्ञः क्षेमाय शमकीलकैः ॥९०३
षट्स्वर्थेषु विसर्पन्ति स्वभावादिन्द्रियाणि षट् । तत्स्वरूपपरिज्ञानात्प्रत्यावर्तेत सर्वदा ॥९०४
आपाते सुन्दरारम्भैर्विपाके विरसक्रियैः । विषैर्वा विषयैर्ग्रस्ते कुतः कुशलमात्मनि ॥९०५
दुश्चिन्तनं दुरालापं दुर्व्यापारं च नाचरेत् । व्रती व्रतविशुद्ध्यर्थं मनोवाक्कायसंश्रयम् ॥९०६
अभङ्गानतिचाराभ्यां गृहीतेषु व्रतेषु यत् । रक्षणं क्रियते शश्वत्तद्भवेद् व्रतपालनम् ॥९०७
वैराग्यभावना नित्यं नित्यं तत्त्वविचिन्तनम् । नित्यं यत्नश्च कर्तव्यो यमेषु नियमेषु च ॥९०८

गहरा राग होता है वह अनुत्कृष्ट शक्तिवाला लोभ है। जैसे शरीरका मल हलका गहरा होता है वैसे ही जो हलका गहरा राग होता है वह अजघन्य शक्तिवाला लोभ है। तथा जैसे हल्दीका रंग हलका होता है और जल्दी ही उड़ जाता है वैसे ही जो बहुत हलका राग होता है वह जघन्य शक्तिवाला लोभ है। ये चारों प्रकारके लोभ जीवको क्रमशः चारों गतियोंमें उत्पन्न करानेमें निमित्त होते हैं ॥ ८९८ ॥ जैसे अपथ्य सेवन करनेवाले रोगीका दवा-सेवन व्यर्थ है वैसे ही क्रोधी मनुष्यका ध्यान, शास्त्राभ्यास तथा संयम सब व्यर्थ हैं ॥ ८९९ ॥ मानरूपी वनकी आगसे जले हुए और मदरूपी खारी मिट्टीसे सने हुए मनुष्यरूपी वृक्षोंमें अच्छी छाया देनेवाले नये अंकुर नहीं उगते। अर्थात् जैसे वनकी आगसे जले हुए और खारी मिट्टीसे सने हुए वृक्षमें नये अंकुर पैदा नहीं होते वैसे जो मनुष्य घमंडी और अहंकारी है उनमें भी सद्गुण प्रकट नहीं हो सकते ॥ ९०० ॥ जैसे थोड़ी-सी भी रातके रहते हुए जलाशयमें कमल नहीं खिलते वैसे ही आत्मामें थोड़ी-सी भी मायाके रहते हुए चित्त बोधको प्राप्त नहीं होता। अर्थात् मायाचारीके हृदयमें ज्ञानका प्रवेश नहीं होता ॥ ९०१ ॥ जैसे गुणी पथिक चाण्डालोंके तालावको दूरसे ही छोड़ देते हैं क्योंकि उसके सोतोंमें हड्डियाँ पड़ी होती हैं वैसे ही जिसके चित्तमें लोभका वास होता है उसे गुण दूरसे ही छोड़ देते हैं। अर्थात् लोभी मनुष्यके सभी गुण नष्ट हो जाते हैं ॥ ९०२ ॥ अतः आत्मदर्शी मनुष्यको अपने कल्याणके लिए संयमरूपी कीलके द्वारा अपने मनरूपी मन्दिरसे इन चारों शल्योंको निकालनेका प्रयत्न करना चाहिए ॥ ९०३ ॥ छहों इन्द्रियाँ स्वभावसे ही अपने-अपने विषयोंमें प्रवृत्त होती हैं। अतः उन विषयोंके स्वरूपको जानकर सदा उन इन्द्रियोंको उनके विषयोंमें फँसनेसे बचाना चाहिए ॥ ९०४ ॥ ये विषय विषके समान हैं। जब प्राप्त होते हैं तो अच्छे मालूम होते हैं किन्तु जब वे अपना फल देते हैं तो अत्यन्त विपरीत हो जाते हैं। जो आत्मा इन विषयोंके चक्करमें फँसा हुआ है उसकी कुशल कैसे हो सकती है ? ॥ ९०५ ॥ व्रती पुरुषको अपने व्रतोंको शुद्ध रखनेके लिए मनमें बुरे विचार नहीं लाना चाहिए। वचनसे बुरी बात नहीं कहनी चाहिए और शरीरसे बुरी चेष्टा नहीं करनी चाहिए। जो व्रत ग्रहण किये हों उनमें न तो अतिचार लगने दे और न व्रतको खण्डित होने दे। इस प्रकार जो व्रतोंकी रक्षा की जाती है इसे ही व्रतोंका पालन करना कहा जाता है ॥ ९०६-९०७ ॥ अतः सदा वैराग्यको भाना चाहिए। सदा तत्त्वोंका चिन्तन करते रहना चाहिए और सदा यम और नियमोंमें प्रयत्न करते रहना चाहिए ॥ ९०८ ॥ देखे हुए और

तत्र दृष्टानुश्राविकविषयवितृष्णस्य मनोवशीकारसंज्ञा वैराग्यम् । प्रत्यक्षानुमानागमानुभूत-पदार्थविषयाऽसंप्रमोषस्वभावा स्मृतिस्तत्त्वविचिन्तनम् । बाह्याभ्यन्तरशौचतपःस्वाध्यायप्रणिधानानि-यमाः । अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा नियमाः ।

इत्येष गृहिणां धर्मः प्रोक्तः क्षितिपतीश्वर ।
यतीनां तु श्रुतात् ज्ञेयो मूलोत्तरगुणाश्रयः ॥९०९

इति श्रीसकलतार्किकलोकचूडामणेः श्रीमन्नेमिदेवभगवतः शिष्येण सद्योऽनवद्यगद्यपद्य-
विद्याधरचक्रवर्तिशिखण्डमण्डनीभवच्चरणकमलेन श्रीसोमदेवसूरिणा विरचिते
यशोधरमहाराजचरिते यशस्तिलकापरनाम्नि महाकाव्ये
धर्मामृतवर्षमहोत्सवो नामाष्टम आश्वासः ।

सुने हुए विषयोंकी तृष्णाको छोड़कर मनको वशमें करनेको वैराग्य कहते हैं । प्रत्यक्षसे, अनुमानसे और आगमसे जाने हुए पदार्थोंका जो भ्रान्तिरहित स्मरण है उसे तत्त्वचिन्तन कहते हैं । बाह्य और आभ्यन्तर शौच तथा सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ध्यानको यम कहते हैं । अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहको नियम कहते हैं ।

इस प्रकार हे राजन् ! यह गृहस्थोंका धर्म कहा । यतियोंका धर्म, उनके मूल गुण और उत्तर-गुण आगमसे जानना चाहिए ।। ९०९ ।।

इस प्रकार समस्त तार्किकलोकचूड़ामणि श्रीमान् नेमिदेवआचार्यके शिष्य, निर्दोष
गद्य-पद्य-रचना करनेवाले विद्वज्जन-चक्रवर्तियोंके शिखामणिके समान शोभाय-
मान चरण-कमलवाले श्रीसोमदेव सूरि विरचित यशोधरचरित अपर
नामक यशस्तिलकचम्पूमहाकाव्यमें धर्मामृतवर्ष महोत्सव
नामका यह आठवाँ आश्वास समाप्त हुआ ।

श्रीमच्चामुण्डराय-प्रणीत चारित्रसार-गत श्रावकाचार

अरिहनन-रजोहनन-रहस्यहरं पूजनार्हमर्हन्तम् ।
सिद्धान् सिद्धाष्टगुणान् रत्नत्रयसाधकान् स्तुवे साधून् ॥१॥
श्रीमज्जिनेन्द्रकथिताय सुमंगलाय लोकोत्तमाय शरणाय विनेयजन्तोः ।
धर्माय कायवचनाशयशुद्धितोऽहं स्वर्गापवर्गफलदाय नमस्करोमि ॥२॥
धर्मः सर्वसुखाकरो हितकरो धर्मं बुधाश्चिन्वते
धर्मेणैव समाप्यते शिवसुखं धर्माय तस्मै नमः ।
धर्मान्नास्त्यपरः सुहृद्भवभृतां धर्मस्य मूलं दया
धर्मे चित्तमहं दधे प्रतिदिनं हे धर्म मां पालय ॥३॥

सम्यक्त्व-पञ्चाणुव्रतवर्णनम्—

सम्यग्दृष्टीनां चत्वारो वन्दना प्रधानभूताः—अर्हन्तः सिद्धाः साधवो धर्मश्चेति । तत्रार्हत्सिद्धसाधवो नमस्कारेणोक्ताः । धर्म उच्यते—आत्मानमिष्टनरेन्द्रसुरेन्द्रमुनीन्द्रमुक्तिस्थाने धत्त इति धर्मः, अथवा संसारस्थान् प्राणिनो धरते धारयतीति वा धर्मः । स च सागारानगारविषयभेदाद् द्विविधः । तत्र सागारधर्म उच्यते—

दार्शनिक-व्रतिकावपि सामायिकः प्रोषधोपवासश्च ।
सचित्तरात्रिभुक्तिव्रतनिरतौ ब्रह्मचारी च ॥४॥

मोहरूप अरिके हनन करनेवाले, ज्ञानावरण और दर्शनावरणकर्मरूप रजके विनाशक, अन्तरायरूप रहस्यके अपहारक एवं पंचकल्याणकरूप पूजाओंके योग्य ऐसे अरहन्त भगवान्‌की मैं स्तुति करता हूँ। सम्यक्त्व आदि आठ गुण जिन्हें सिद्ध हो गये हैं, ऐसे सिद्ध परमेष्ठियोंकी मैं स्तुति करता हूँ और रत्नत्रयके साधक आचार्य, उपाध्याय एवं साधुओंकी मैं स्तुति करता हूँ ॥१॥ मैं श्रीमज्जिनेन्द्र द्वारा उपदिष्ट उस धर्मको भी मनवचकायकी शुद्धिपूर्वक नमस्कार करता हूँ जो कि श्रेष्ठ मंगलरूप है, लोकमें उत्तम है, विनम्र प्राणियोंको शरण देनेवाला है और स्वर्ग तथा मोक्षके सुखरूप फलको देनेवाला है ॥२॥ धर्म सर्व सुखोंका भण्डार है, जगत्‌का हितकारी है, उस धर्मको ज्ञानीजन संचय करते हैं, धर्मके द्वारा ही शिवका सुख प्राप्त होता है, ऐसे धर्मके लिए मेरा नमस्कार हो। संसारी प्राणियोंका धर्मसे अन्य कोई मित्र नहीं है, धर्मका मूल दया है, ऐसे धर्ममें मैं प्रतिदिन अपने चित्तको लगाता हूँ। हे धर्म, मेरी पालना करो ॥३॥

अव सम्यग्दर्शन और पंच अणुव्रतोंका वर्णन करते हैं—सम्यग्दृष्टि जीवोंके लिए अरहन्त सिद्ध साधु और धर्म ये चार वन्दनामें प्रधानभूत हैं। उनमें अरहन्त सिद्ध और साधुओंका स्वरूप नमस्कार पद्योंके द्वारा कह दिया गया है। अब धर्मका स्वरूप कहते हैं—जो आत्माको अभीष्ट नरेन्द्र सुरेन्द्र, तीर्थंकर पद और मुक्तिस्थानमें धारण करे, वह धर्म है। अथवा संसारमें स्थित प्राणियोंको जो धारण करता है, वह धर्म है। वह सागार (श्रावक) और अनगार (मुनि) के भेदसे दो प्रकारका है। उसमेंसे सागारधर्मको कहते हैं—

दार्शनिक व्रतिक सामायिकी प्रोषधोपवासी सचित्तभुक्ति-विरत रात्रिभुक्तिव्रत-निरत

आरम्भाद् विनिवृत्तः परिग्रहादनुमतस्तथोद्दिष्टः ।
इत्येकादश निलया जिनोदिताः श्रावकाः क्रमशः ॥५॥

व्रतादयो गुणा दर्शनादिभिः पूर्वगुणैः सह क्रमप्रवृद्धा भवन्ति । तत्र दार्शनिकः संसारशरीर-भोगनिर्विण्णः पञ्चगुरुचरणभक्तः सम्यग्दर्शनविशुद्धश्च भवति । जिनेन भगवताऽर्हता परमेष्ठिनोपदिष्टे निर्ग्रन्थलक्षणे मोक्षमार्गे श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् । तस्य सम्यग्दर्शनस्य मोक्षपुरपथिकपाथेयस्य मुक्तिसुन्दरी-विलासमणिदर्पणस्य संसारसमुद्रगर्तावर्तभग्नजनदत्तहस्तावलम्बनस्यैकादशोपासकस्थानप्रासादाधिष्ठानस्योत्तमक्षमादिदशकुलधर्मकल्पपादपमूलस्य परमपावनस्य सकलमङ्गलनिलयस्य मोक्षमुख्यकारणस्याष्टाङ्गानि भवन्ति-निःशङ्कितत्वं निःकांक्षता निर्विचिकित्सिता अमूढदृष्टित्वं उपबृंहणं स्थितिकरणं वात्सल्यं प्रभावना चेति ।

तत्रेहलोकः परलोकः व्याधिर्मरणं अगुप्तिः अत्राणं आकस्मिक इति सप्तविधाद्भयाद्विनिर्मुक्तता, अथवाऽर्हदुपदिष्टद्वादशाङ्गप्रवचनगहने एकमक्षरं पदं वा किमिदं स्याद्वा न वेति शङ्कानिरासो निःशङ्कितत्वम् । ऐहलौकिक-पारलौकिकेन्द्रियविषयोपभोगाकांक्षानिवृत्तिः, कुदृष्टयन्तराकांक्षानिरासो वा निःकांक्षता । शरीराद्यशुचित्वभावमवगम्य शुचीति मिथ्यासङ्कल्पापनयोऽथवाऽर्हत्प्रवचने इदमयुक्तं घोरं कष्टं न चेदिदं सर्वमुपपन्नमित्यशुभभावनानिरासो विचिकित्साविरहः ।

ब्रह्मचारी आरम्भ-निवृत्त परिग्रह-निवृत्त अनुमति-निवृत्त और उद्दिष्ट-निवृत्त ये ग्यारह स्थान वाले श्रावक जिन भगवान्‌ने क्रमसे कहे हैं ॥४-५॥

व्रतप्रतिमा आदिके गुण दर्शनप्रतिमा आदि पूर्वगुणोंके साथ क्रमसे बढ़ते हुए होते हैं, अर्थात् उत्तरप्रतिमाधारी श्रावकके लिए पूर्व प्रतिमाओंके गुण अधिक विशुद्धिके साथ धारण करना आवश्यक हैं। इनमेंसे प्रथम प्रतिमाधारी दार्शनिक श्रावक है, जो कि संसार और इन्द्रिय-भोगोंसे विरक्त होता है, पंच परम गुरुके चरणोंका भक्त होता है और सम्यग्दर्शनसे विशुद्ध होता है। जिनेन्द्र भगवान् अरहन्त परमेष्ठीसे उपदिष्ट वीतराग स्वरूप मोक्षमार्गमें श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। यह सम्यग्दर्शन मोक्षपुरको जानेवाले पथिकके लिए मार्गका भोजन है, मुक्ति सुन्दरीके श्रृंगार-विलासके लिए मणिके दर्पण समान है, संसार-सागरके गड्ढेकी भंवरमें निमग्न जनको हाथका अवलम्बन देनेवाला है, उपासकोंके ग्यारह खण्डवाले भवनका आधारभूत अधिष्ठान है, उत्तम क्षमा आदि दश प्रकारके कुल धर्मरूपी कल्पवृक्षका मूल है, परम पवित्र है, सर्वमंगलोंका आश्रय है और मोक्षका प्रधान कारण है। इस सम्यग्दर्शनके आठ अंग हैं—निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपबृंहण, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना। अब इन अंगोंका क्रमसे स्वरूप कहते हैं—इहलोकभय, परलोकभय, व्याधिभय, मरण-भय, अगुप्तिभय, अत्राणभय और आकस्मिकभय इन सातों प्रकारके भयोंसे रहित होना निःशंकित अंग है। अथवा अरहन्त भगवान्‌के द्वारा उपदिष्ट और अत्यन्त गहन ऐसे द्वादशांगरूप प्रवचनमें 'यह एक अक्षर अथवा पद क्या जिनोक्त है, या नहीं' ऐसी शंकाका न होना निःशंकित अंग है। इस लोक और परलोकमें इन्द्रियके विषय-सम्बन्धी उपभोगकी आकांक्षा न करना, अथवा मिथ्या-दृष्टि होनेकी आकांक्षा नहीं करना निःकांक्षित अंग है। शरीर आदिके अपवित्रपनेको जानकर 'यह शरीर पवित्र है' ऐसे मिथ्या संकल्पको दूर करना, अथवा अर्हत्प्रवचनमें 'यदि यह घोर कष्ट-वाला अयुक्त कथन न होता, तो सर्व ठीक था, ऐसी अशुभ भावनाका दूर करना निर्विचिकित्सा अंग है। तत्त्वसे रहित होनेपर भी तत्त्वके समान प्रतिभासित होनेवाले अनेक प्रकारके दुर्नयरूप

वहुविधेषु दुर्णयवर्त्मसु तत्त्ववदाभासमानेषु युक्त्यभावमध्यवस्य परीक्षाचक्षुषा विरहितमोहममूढदृष्टित्वम् । उत्तमक्षमादिभावनयाऽऽत्मन आत्मीयस्य च धर्मपरिवृद्धिकरणमुपवृंहणम् । कषायोदयादिषु धर्मपरिभ्रंशकारणेषूपस्थितेषु स्वपरयोर्धर्मप्रच्यवनपरिपालनं स्थितिकरणम् । जिनप्रणीते धर्मामृते नित्यानुरागताऽथवा सद्यःप्रसूता यथा गौर्वत्से स्निह्यति तथा चातुर्वर्ण्ये संघेऽकृत्रिमस्नेहकरणं वात्सल्यम् । सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रयप्रभावादात्मनः प्रकाशनमथवा ज्ञानतप.पूजासु ज्ञानदिनकर-किरणैः परसमयखद्योतोद्योतावरणकरणं च, महोपवासादिलक्षणेन देवेन्द्रविष्टरप्रकम्पनसमर्थेन सत्तपसा स्वसमयप्रकटनं च, महापूजामहादानाभिर्धर्मप्रकाशनं च प्रभावना । एवंविधाष्टाङ्गविशिष्टं सम्यक्त्वम् । तद्विकलयोरणुव्रतमहाव्रतयोर्नामापि न स्यात् । सम्यग्दर्शनमणुव्रतयुक्तं स्वर्गाय, महाव्रतयुक्तं मोक्षाय च ।

सम्यक्त्वमङ्गहीनं राज्यमिव श्रेयसे भवेन्नैव ।
न्यूनाक्षरो हि मन्त्रो नालं विषवेदनोच्छित्त्यै ॥६॥

सम्यक्त्वस्य गुणाः—

संवेगो निर्वेदो निन्दा गर्हा तथोपशमभक्ती ।
अनुकम्पा वात्सल्यं गुणास्तु सम्यक्त्वयुक्तस्य ॥७॥

उक्तं चाबद्धायुष्कविषये—

सम्यग्दर्शनशुद्धा नारकतिर्यङ्नपुंसकस्त्रीत्वानि ।
दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रतां च व्रजन्ति नाप्यव्रतिकाः ॥८॥

मिथ्यामार्गोमें परीक्षारूप नेत्रोंके द्वारा युक्तिके अभावको जानकर मोहरहित होना अमूढदृष्टि अंग है। उत्तम क्षमादि धर्मोंकी भावनासे अपने और अपने परिजनोंके धर्मकी तृप्ति करना उपवृंहण अंग है। कषायोदय-आदिक धर्म-भ्रष्ट करनेवाले कारणोंके उपस्थित होनेपर अपनी और अन्यकी धर्मभ्रष्ट होनेसे रक्षा करना स्थितिकरण अंग है। जिन-प्रणीत धर्मामृतमें नित्य अनुराग करना, अथवा जैसे—सद्यः प्रसूता गौ अपने वछड़ेको अत्यन्त स्नेह करती है, उसी प्रकार चार प्रकारके संघ पर अकृत्रिम स्नेह करना वात्सल्य अंग है। सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंके प्रभावसे आत्माका प्रभाव प्रकाशित करना, प्रभावना अंग है। अथवा ज्ञानाभ्यास, तपश्चरण और पूजा-विधानोंके समय ज्ञानरूप सूर्यकी किरणोंके द्वारा परमत-रूपी खद्योतोंके प्रकाशका आवरण करना, देवेन्द्रोंके सिंहासनोंको कम्पित करनेमें समर्थ महोपवास आदि स्वरूपवाले उत्तम तपश्चरणके द्वारा अपने शासनका प्रभाव प्रकट करना, और महापूजा, महादान आदि कार्योंके द्वारा धर्मका प्रकाश करना प्रभावना अंग है। इस प्रकारके आठ अंगोंसे विशिष्ट सम्यग्दर्शन पहली प्रतिमाधारीके होता है। सम्यग्दर्शनसे रहित पुरुषके अणुव्रत और महाव्रतका नाम तक भी नहीं होता है। यह सम्यग्दर्शन यदि अणुव्रत-युक्त हो तो स्वर्गके लिए कारण है और महाव्रत-युक्त हो तो मोक्षके लिए कारण है। जिस प्रकार सेना आदि अंगोंसे रहित राज्य कल्याणकारी नहीं होता है, उसी प्रकार निःशंकित आदि अंगोंसे हीन सम्यग्दर्शन भी कल्याणकारी नहीं होता है। क्योंकि एक अक्षरसे भी न्यून मंत्र विषकी वेदनाको दूर करने के लिए समर्थ नहीं होता है ॥६॥ अव सम्यग्दर्शनके गुण कहते हैं—संवेग निर्वेद निन्दा गर्हा उपशम भक्ति अनुकम्पा और वात्सल्य ये सम्यक्त्वयुक्त पुरुषके आठ गुण हैं ॥७॥ जिसके आगामी भवकी आयु नहीं वंधी है, ऐसे अवद्धायुष्क सम्यग्दृष्टिके विषयमें कहा है—सम्यग्दर्शनसे शुद्ध अव्रती भी पुरुष मरकर नारक,

भवाब्धौ भव्यसार्थस्य निर्वाणद्वीपयायिनः।
चारित्रयानपात्रस्य कर्णधारो हि दर्शनम् ॥९॥

दार्शनिकस्य कस्यचित्कदाचिद्दर्शनमोहोदयादतीचाराः पञ्च भवन्ति-शङ्का कांक्षा विचिकित्साऽन्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवा इति। तत्र मनसा मिथ्यादृष्टेर्ज्ञानचारित्रगुणोद्भावनं प्रशंसा, वचसा भूताभूतगुणोद्भावनं संस्तवः, एवं प्रशंसा-संस्तवयोर्मानसकृतो वाक्कृतश्च भेदः। शेषाः सुगमाः। सम्यग्दर्शनसामान्यादणुव्रतिकमहाव्रतिनोरिमेऽतीचाराः।

व्रतिको निःशल्यः पञ्चाणुव्रत-रात्रिभोजनविरमण शीलसप्तकं निरतिचारेण यः पालयति स भवति। तत्र यथा शरीरानुप्रवेशिकाण्डकुन्तादिप्रहरणं शरीरिणां बाधाकरम्, तथा कर्मोदयविकारे शरीरमानसबाधाहेतुत्वाच्छल्यमिव शल्यम्। तत्त्रिविधम्-मायानिदानमिथ्यादर्शनभेदात्। माया वंचनम्। निदानं विषयभोगाकांक्षा। मिथ्यादर्शनमतत्त्वश्रद्धानम्। उत्तरत्र वक्ष्यमाणेन महाव्रतिनापि शल्यत्रयं परिहर्तव्यम्।

अभिसन्धिकृतो नियमो व्रतमित्युच्यते, सर्वसावद्यनिवृत्त्यसंभवादणुव्रतं द्वीन्द्रियादीनां जंगमप्राणिनां प्रमत्तयोगेन प्राणव्यपरोपणान्मनोवाक्कायैश्च निवृत्तः आगारीत्याद्यणुव्रतम्। तस्य प्रमत्तयोगात्प्राणाव्यपरोपणलक्षणस्य पञ्चातिचारा भवन्ति—बन्धो वधः छेदः अतिभारारोपणं अन्नपाननिरोधश्चेति। तत्राभिमतदेशगमनं प्रत्युत्सुकस्य तत्प्रतिबन्धहेतोः कीलादिषु रज्ज्वादिभिर्व्यतिषङ्गो

तिर्यंच, नपुंसक और स्त्री नहीं होते। तथा वे दुष्कुल, विकल-अंग, अल्प आयु और दरिद्रताको भी प्राप्त नहीं होते हैं ॥८॥ संसाररूप समुद्रमें चारित्ररूप जहाज पर सवार होकर निर्वाणरूप द्वीपको जानेवाले भव्य जीवरूप सार्थवाहका सम्यग्दर्शन कर्णधार [खेवटिया] है ॥९॥ सम्यग्दर्शनके धारक किसी जीवके कदाचित् दर्शनमोहके उदयसे ये पाँच अतीचार होते हैं—शंका कांक्षा विचिकित्सा अन्यदृष्टि प्रशंसा और अन्यदृष्टिसंस्तव। मनसे मिथ्यादृष्टि पुरुषके ज्ञान और चारित्रगुणका प्रकट करना प्रशंसा है और वचनसे उसमें विद्यमान और अविद्यमान गुणोंका कहना संस्तव है। इस प्रकार प्रशंसा और संस्तवमें मनःकृत और वचनकृत भेद है। शेष तीन अतीचार सुगम हैं। सम्यग्दर्शनकी समानतासे ये पाँचो ही अतीचार अणुव्रती और महाव्रती दोनोंके होते हैं। जो शल्य-रहित होकर पाँच अणुव्रत, रात्रि-भोजन त्याग और तीन गुणव्रत चार शिक्षाव्रतरूप सात शीलोंको अतीचार-रहित पालन करता है, वह दूसरी प्रतिमाधारी व्रतिक श्रावक है। शल्य नाम बाणका है। जैसे शरीरमें प्रविष्ट बाण भाला आदि शस्त्र जीवोंको बाधा करता है, उसी प्रकार कर्मोदयके विकारमें जो शल्यके समान शरीर और मनमें बाधाका कारण हो, उसे शल्य कहते हैं। वह शल्य माया निदान और मिथ्यादर्शनके भेदसे तीन प्रकारकी है। दूसरेको ठगना माया है। विषयभोगोंकी आकांक्षा करना निदान है। अतत्त्वोंका श्रद्धान करना और तत्वोंका श्रद्धान नहीं करना मिथ्यादर्शन है। श्रावकको और आगे कहे जानेवाले महाव्रतीको भी तीनों शल्योंका त्याग करना चाहिए। अभिप्रायपूर्वक नियम करना व्रत कहलाता है। गृहस्थके सर्व सावद्ययोगकी निवृत्ति असंभव है, अतः जो प्रमत्तयोगसे द्वीन्द्रियादिक त्रस प्राणियोंके प्राण-घातसे मन वचन काय द्वारा निवृत्त होता है, वह गृहस्थ प्रथम अहिंसाणुव्रतका धारक है। प्रमत्तयोगसे प्राणोंका अविघात लक्षणवाले इस अहिंसाणुव्रतके पाँच अतीचार इस प्रकार हैं—बन्ध वध छेद अतिभारारोपण और अन्न-पाननिरोध। अपने अभीष्ट स्थानको जानेके लिए उत्सुक पुरुष पशु आदिको उसे रोकनेके निमित्तसे कील, खूंटी

बन्धः। दण्डकशावेत्रादिभिः प्राणिनामभिघातो वधः। कर्णनासिकादीनामवयवानामपनयनं छेद। न्यायादनपेताद्भारादतिरिक्तस्य भारस्य वाहनमतिलोभाद् गवादीनामतिभारारोपणम्। तेषां गवादीनां कुतश्चित्कारणात् क्षुत्पिपासाबाधोत्पादनमन्नपाननिरोध इति।

स्नेहस्य मोहस्य द्वेषस्य वोद्रेकाद्यदसत्याभिधानं ततो निवृत्तादरो गृहीति द्वितीयमणुव्रतम्। तस्य व्रतस्य पञ्चातिक्रमा भवन्ति मिथ्योपदेशः रहोऽभ्याख्यानं कूटलेखक्रिया न्यासापहारः साकारमन्त्रभेदश्चेति। तत्राभ्युदयनिःश्रेयसार्थेषु क्रियाविशेषेषु अन्यस्यान्यथा प्रवर्तनमभिसन्धानं वा मिथ्योपदेशः। स्त्रीपुरुषाभ्यामेकान्तेऽनुष्ठितस्य क्रियाविशेषस्य प्रकाशनं रहोऽभ्याख्यानम्। अन्येनानुक्तं यत्किञ्चित्परप्रयोगवशादेवं तेनोक्तमनुष्ठितमिति वञ्चनानिमित्तं लेखनं कूटलेखक्रिया। हिरण्यादेर्द्रव्यस्य निक्षेप्तुर्विस्मृतसंख्यस्य अल्पसंख्यानमाददानस्य 'एवं' इत्यनुज्ञावचनं न्यासापहारः। अर्थप्रकरणाङ्गविकारभ्रूक्षेपादिभिः पराकूतमुपलभ्य यदाविष्करणमसूयादिनिमित्तं तत्साकारमन्त्रभेद इति।

अन्यपीडाकरं पार्थिवादिभयादवशपरित्यक्तं वा निहितं पतितं विस्मृतं वा यददत्तं ततो निवृत्तादरः श्रावक इति तृतीयमणुव्रतम्। अदत्तादानविरतेः पञ्चातिचारा भवन्ति—स्तेनप्रयोगः तदाहृतादानं विरुद्धराज्यातिक्रमः हीनाधिकमानोन्मानं प्रतिरूपकव्यवहारश्चेति। मोपकस्य त्रिधा प्रयोजनम्—मुष्णन्तं स्वयमेव प्रयुंक्ते, अन्येन वा प्रयोजयति प्रयुक्तमनुमन्यते वा यः सः स्तेनप्रयोगः।

आदिमें रस्सी आदिके द्वारा बाँधना बन्ध नामका अतीचार है। लकड़ी चावुक वेंत आदिसे प्राणियोंको मारना वध नामका अतीचार है। जीवोंके कान नाक आदि अंगोंका काटना छेद नामका अतिचार है। अतिलोभसे बैल घोड़े आदि पर न्याय-संगत भारसे अधिक भारका लादना अतिभारारोपण नामका अतिचार है। किसी भी कारणसे उन बैल आदिका खान-पान रोककर उन्हें भूख-प्यासकी बाधासे पीड़ित करना अन्न-पाननिरोध नामका अतिचार है। स्नेह मोह और द्वेषकी तीव्रतासे जो असत्य बोला जाता है उसके त्यागमें आदर रखना यह गृहस्थका दूसरा सत्याणुव्रत है। इस व्रतके पाँच अतीचार इस प्रकार हैं—मिथ्योपदेश रहोऽभ्याख्यान कूट लेखक्रिया न्यासापहार और साकार मंत्रभेद। अभ्युदय और निःश्रेयससाधक क्रिया-विशेषोंमें अन्य पुरुषको अन्यथा प्रवृत्ति कराना, अथवा अन्यथा अभिप्राय कहना मिथ्योपदेश है। स्त्री-पुरुषके द्वारा एकान्तमें की गई रति क्रिया आदि गुप्त बातका प्रकाशन करना रहोऽभ्याख्यान है। अन्यके द्वारा नहीं कही गई जिस किसी बातको परके आग्रहसे 'उसने ऐसा कहा है, अथवा किया है' इस प्रकार दूसरेको ठगनेके लिए झूठे लेख लिखना कूट-लेखक्रिया है। अमानतमें रखे हुये सुवर्ण आदि द्रव्यका परिमाण भूल जानेसे अल्प परिमाणमें मांगनेपर उतने ले जानेकी धरोहर रखनेवाले पुरुषको स्वीकृतिका वचन कहना न्यासापहार है। किसी अर्थके प्रकरणसे, अंगविकारसे अथवा भ्रुकुटी-विक्षेप आदिसे दूसरेका अभिप्राय जानकर ईर्ष्या आदिके निमित्तसे उसे प्रकट करना साकारमंत्रभेद है। राजा आदिके भयसे परवश होकर छोड़े गये, रखे हुए, गिरे और भूले हुए पराये द्रव्यको विना दिये लेना चोरी है। यह उसके स्वामीको पीडा करती है। ऐसी चोरीसे निवृत्त होनेमें आदर रखना यह श्रावकका तीसरा अचौर्याणुव्रत है। इस अदत्तादानविरतिके पाँच अतीचार इस प्रकार हैं—स्तेनप्रयोग तदाहृतादान विरुद्धराज्यातिक्रम हीनाधिकमानोन्मान और प्रतिरूपकव्यवहार। चोरको तीन प्रकारसे प्रेरणाकी जाती है—एक तो चोरको चोरी करनेके लिए स्वयं प्रेरणा करता है, दूसरे अन्य किसीसे

अप्रयुक्तेनाननुमतेन च चौरेणानीतस्य ग्रहणं तदाहृतादानम्। विरुद्धं राज्यं विरुद्धराज्यम्। उचित-न्यायादन्येन प्रकारेणादानं ग्रहणमतिक्रमः। तस्मिन् विरुद्धराज्ये योऽसावतिक्रमः स विरुद्धराज्याति-क्रमः। प्रस्थादि मानं तुलाद्युन्मानम्। एतेन न्यूनेनान्यस्मै देयमधिकेनात्मना ग्राह्यमित्येवमादिकूट-प्रयोगो हीनाधिकमानोन्मानम्। कृत्रिमैर्हिरण्यादिभिर्वञ्चनापूर्वको व्यवहारः प्रतिरूपकव्यवहार इति।

उपात्ताया अनुपात्तायाश्च पराङ्गनायाः सङ्गाद्विरतरतिर्विरताविरत इति चतुर्थमणुव्रतम्। स्वदारसन्तोषव्रतस्यातीचाराः पञ्च भवन्ति—परविवाहकरणं इत्वरिकाऽपरिगृहीतागमनं इत्वरिका-परिगृहीतागमनं अनङ्गक्रीडा कामतीव्राभिनिवेशश्चेति। तत्र सद्वेद्यस्य चारित्रमोहस्य चोदयाद्विवहनं विवाहः, परस्य विवाहकरणं परविवाहकरणम्। ज्ञानावरणक्षयोपशमादापादितकलागुणज्ञतया चारित्रमोहस्त्रीवेदोदयप्रकर्षादङ्गोपाङ्गनामोदयावष्टम्भाच्च परपुरुषानेतीति इत्वरिका या गणि-कात्वेन वा पुंश्चलित्वेन वा परपुरुषगमनशीला अस्वामिका सा अपरिगृहीता, तस्यां गमनमित्वरिकाऽ-परिगृहीता गमनम्। या पुनरेकपुरुषभर्तृका सा परिगृहीता, तस्यां गमनमित्वरिकापरिगृहीतागमनम्। अङ्गं प्रजननं, योनिश्च। ततो जघनादन्यत्रानेकविधप्रजननविकारेण रतिरनङ्गक्रीडा। कामस्य प्रवृद्धः

प्रेरणा कराता है और तीसरे चोरी करनेवाले की अनुमोदना करता है, यह सब स्तेन प्रयोग है। जिसे चोरीके लिए प्रेरणा भी नहीं की है, ऐसे चोरके द्वारा लाये गये द्रव्यको ग्रहण करना तदा-हृतादान है। विद्रोह या विप्लव युक्त राज्यको विरुद्ध राज्य कहते हैं। उचित न्याय मार्गको छोड़-कर अन्य प्रकारसे द्रव्यका ग्रहण करना अतिक्रम कहलाता है। इस प्रकार विरुद्ध राज्यमें अतिक्रम विरुद्धराज्यातिक्रम है। (राज्यके नियमोंके विरुद्ध वस्तुको लाना-ले जाना और राज्य-करकी चोरी करना भी इसीके अन्तर्गत है।) नापनेके प्रस्थ आदिको मान कहते हैं और तोलनेके बाँट आदिको उन्मान कहते हैं। कम नाप-तोलके बाँटोंसे दूसरोंको देना और अधिक (भारी) नाप-तोलके बाँटोंसे स्वयं ग्रहण करना, इत्यादि छलमय कूट प्रयोग करना हीनाधिकमानोन्मान है। कृत्रिम (बनावटी या मिलावट वाले) सुवर्णादिकके द्वारा वंचनापूर्वक व्यवहार करना प्रतिरूपक व्यवहार है। उपात्त (विवाहित) और अनुपात्त (अविवाहित) परस्त्रीके संगसे विरतरति होना अर्थात् उनके साथ काम सेवन नहीं करना और अपनी स्त्रीमें सन्तोष धारण करना यह गृहस्थका विरताविरतरूप चौथा अणुव्रत है। इस स्वदारसन्तोषाणुव्रतके पाँच अतीचार इस प्रकार हैं—पर-विवाहकरण इत्वरिकाऽपरिगृहीतागमन इत्वरिकापरिगृहीतागमन अनंगक्रीडा और कामतीव्राभिनि-वेश। सातावेदनीय और चारित्रमोहनीय कर्मके उदयसे कन्याके पाणिग्रहणको विवाह कहते हैं। अन्य पुरुषका विवाह करना परविवाहकरण नामका अतीचार है। ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशम-विशेषसे प्राप्त हुए कलागुणको धारण करनेसे, चारित्रमोह-गत स्त्रीवेदके उदय-प्रकर्षसे और अंगो-पांग नाम कर्मके उदयके साहाय्यसे जो पर-पुरुषोंके समीप जाती है, उसे इत्वरिका कहते हैं। वेश्या होनेसे अथवा व्यभिचारिणी होनेसे पर-पुरुषोंके पास जानेवाली पति-रहित स्त्रीको इत्वरिका अपरि-गृहीता कहते हैं। उसमें गमन करना इत्वरिकाऽपरिगृहीतागमन है। जिस स्त्रीका एक पुरुष स्वामी है, वह परिगृहीता कहलाती है। ऐसी व्यभिचारिणी स्त्रीमें गमन करना इत्वरिका परिगृहीता गमन है। कामसेवनके अंग प्रजनन (लिंग) और योनि हैं। उनसे अतिरिक्त अन्य स्थानोंमें अनेक प्रकारके प्रजनन विकारोंसे रति करना अनंगक्रीडा कहलाती है। कामसेवनके अति बढ़े हुए

परिणामोऽनुपरतवृत्यादिः कामतीव्राभिनिवेश इति ।

धन-धान्यक्षेत्रादीनामिच्छावशात् कृतपरिच्छेदो गृहीति पञ्चममणुव्रतम् । परिग्रहविरमण-व्रतस्य पञ्चातिक्रमा भवन्ति—क्षेत्र-वास्तु-हिरण्य-सुवर्ण-धन-धान्य-दासी-दास-कुप्यमिति । तत्र क्षेत्रं शस्याधिकरणम्, वास्तु आगारम्, हिरण्यं रूप्यादिव्यवहारप्रयोजनम्, सुवर्णं विख्यातम्, धनं गवादि, धान्यं व्रीह्यादि, दासी-दासं भृत्यस्त्रीपुरुषवर्गः, कुप्यं क्षौमकार्पासकौशेयचन्दनादि । एतेषु एतावानेव परिग्रहो मम, नातोऽन्यस्य इति परिच्छिन्नप्रमाणात् क्षेत्रवास्त्वादिविषयादतिरेकोऽति-लोभवशात्प्रमाणातिरेक इति ।

रात्रावन्नपानखाद्यलेह्येभ्यश्चतुर्भ्यः सत्त्वानुकम्पया विरमणं रात्रिभोजनविरमणं षष्ठमणुव्रतम् ।

वधादसत्याच्चौर्याच्च कामाद् ग्रन्थान्निवर्तनम् ।
पञ्चधाऽणुव्रतं रात्र्यभुक्तिः षष्ठमणुव्रतम् ॥१०॥

इत्यणुव्रतवर्णनम् ।

—०—

परिणामको और निरन्तर कामसेवनमें लगे रहनेको कामतीव्राभिनिवेश कहते हैं। धनधान्य क्षेत्र आदि परिग्रहका इच्छाके वशसे परिमाण करना यह गृहस्थका पाँचवाँ अणुव्रत है। इस परि-ग्रहपरिमाणव्रतके पाँच अतीचार इस प्रकार हैं—क्षेत्र-वास्तु, हिरण्य-सुवर्ण, धन-धान्य, दासी-दास और कुप्य। धान्यकी उत्पत्तिके स्थानको क्षेत्र कहते हैं। रहनेके घरको वास्तु कहते हैं। चाँदीके रुपया आदि सिक्के जिनसे लेन-देनका व्यवहार चलता है, हिरण्य कहलाते हैं। सुवर्ण तो प्रसिद्ध ही है। गाय-भैंस आदि पशुओंको धन कहते हैं। गेहूँ चावल आदिको धान्य कहते हैं। सेविका स्त्रीको दासी और सेवक पुरुषको दास कहते हैं। वस्त्र, कपास, कोशा, चन्दन, वर्तन आदिको कुप्य कहते हैं। इन पाँचों प्रकारके पदर्थोंमें 'इतना ही मेरे परिग्रह है, इससे अधिक या अन्य वस्तुका नहीं' इस प्रकार क्षेत्र-वास्तु आदि विषयक स्वीकृत प्रमाणसे अति लोभवश अधिक रखकर ग्रहण किये गये परिमाणका उल्लंघन करना परिग्रह परिमाणव्रतके अतीचार हैं। प्राणियों पर अनुकम्पाके भावसे रात्रिमें अन्न, पान, खाद्य और लेह्य इन चारों प्रकारके आहार करनेका त्याग करना सो रात्रिभोजनविरमण नामका छठा अणुव्रत है। जैसा कि कहा है—स्थूल हिंसासे, असत्यसे, काम सेवनसे और परिग्रहसे निवृत्त होना यह पाँच प्रकारका अणुव्रत है और रात्रिमें भोजन नहीं करना यह छठा अणुव्रत है ॥१०॥

इस प्रकार अणुव्रतोंका वर्णन समाप्त हुआ।

—०—

शीलसप्तकवर्णनम्

स्थवीयसीं विरतिमभ्युपगतस्य श्रावकस्य व्रतविशेषो गुणव्रतत्रयं शिक्षाव्रतचतुष्टयं शीलसप्तकमित्युच्यते। दिग्विरतिः देशविरतिः अनर्थदण्डविरतिः सामायिकं प्रोषधोपवासः उपभोगपरिभोगपरिमाणं अतिथिसंविभागश्च।

तत्र प्राची अपाची उदीची प्रतीची ऊर्ध्वं अधो विदिशश्चेति। तासां परिमाणं योजनादिभिः पर्वतादिप्रसिद्धाभिज्ञानैश्च ताश्च दुष्परिहारैः क्षुद्रजन्तुभिराकुला अतस्ततो बहिर्न यास्यामीति निवृत्तिर्दिग्विरतिः। निरवशेषतो निवृत्तिं कर्तुमशक्नुवतः शक्त्या प्राणिवधविरतिं प्रत्यागूर्णस्यात्र प्राणनिमित्तं यात्रा भवतु, मा वा, सत्यपि प्रयोजनभूयस्त्वे परिमिताद्दिग्वधेर्बहिर्न यास्यामीति प्रणिधानादहिंसाद्यणुव्रतधारिणोऽप्यस्य परिगणिताद्दिग्वधेर्बहिर्मनोवाक्काययोगैः कृतकारितानुमतविकल्पैर्हिंसादिसर्वपापनिवृत्तिरिति महाव्रतं भवति।

दिग्विरमणव्रतस्य पञ्चातिचारा भवन्ति—ऊर्ध्वातिक्रमः अधोऽतिक्रमः तिर्यगतिक्रमः क्षेत्रवृद्धिः स्मृत्यन्तराधानं चेति। तत्र पर्वतमरुद्भूम्यादीनामारोहणादूर्ध्वातिक्रमः। कूपावतरणादिरधोऽतिक्रमः। भूमिबिल-गिरिदरीप्रवेशादिस्तिर्यगतिक्रमः। प्राग्दिशो योजनादिभिः परिच्छिद्य पुनर्लोभवशात्ततोऽ-

---

अब तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतरूप सात शीलव्रतोंका वर्णन करते हैं—स्थायी विरतिभावको स्वीकार करनेवाले श्रावकके तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतरूप जो व्रतविशेष धारण किये जाते हैं, उन्हें शीलसप्तक कहते हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—दिग्विरति, देशविरति, अनर्थदण्डविरति (ये तीन गुणव्रत हैं), सामायिक, प्रोषधोपवास, उपभोगपरिभोगपरिमाण और अतिथिसंविभागव्रत (ये चार शिक्षाव्रत हैं)।

इनमेंसे पहले दिग्विरति व्रतका वर्णन करते हैं—पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊर्ध्वदिशा, अधोदिशा और चारों (ईशान, आग्नेय, नैऋत्य, वायव्य) विदिशाएँ, इन दशों दिशाओंका योजनादिकसे अथवा पर्वत नदी आदि प्रसिद्ध चिह्नोंसे जीवन-पर्यन्तके लिए परिमाण कर और यह विचार कर कि 'ये सब दिशाएँ जिनका परिहार करना दुःसाध्य है, ऐसे छोटे सूक्ष्म जन्तुओंसे भरी हुई हैं, अतः इस ग्रहण की गई सीमासे वाहर मैं नहीं जाऊँगा' ऐसा नियम कर दिशाओंकी निवृत्ति करनेको दिग्विरतिव्रत कहते हैं। पूर्णरूपसे हिंसादि पापोंकी निवृत्ति करनेके लिए असमर्थ गृहस्थके शक्तिके अनुसार प्राणिघात-त्यागके प्रति उद्यत होनेपर प्राणोंकी रक्षाके लिए यात्रा अर्थात् जीवन-निर्वाह हो, अथवा मत होवे, भारी प्रयोजनके आ जानेपर भी मैं परिमाण की गई दिशाओंकी मर्यादासे वाहर नहीं जाऊँगा, इस प्रकारकी प्रतिज्ञासे अहिंसादि अणुव्रतधारी भी इस श्रावकके परिगणित दिशाओंकी मर्यादासे वाहिर मन-वचन-कायसे और कृत-कारित-अनुमोदनसे हिंसादि समस्त पापोंकी पूर्ण निवृत्ति होती है, अतः वहाँकी अपेक्षा उसके अणुव्रत भी महाव्रत कहलाते हैं।

इस दिग्विरमण व्रतके पाँच अतीचार इस प्रकार हैं—ऊर्ध्वातिक्रम, अधोऽतिक्रम, तिर्यगतिक्रम, क्षेत्रवृद्धि और स्मृत्यन्तराधान। पर्वत और मरुद्भूमि (आकाश) आदि ऊर्ध्व प्रदेशोंके आरोहणसे ऊर्ध्व-दिशाकी सीमाका उल्लंघन करना ऊर्ध्वातिक्रम है। कूप-वावड़ी आदि अधोभागमें उतरनेसे सीमाका उल्लंघन करना अधोऽतिक्रम है। भूमिके बिल और पर्वतकी कन्दरा आदिमें

धिकाकांक्षणं क्षेत्रवृद्धिः। इदमिदं मया योजनादिभिरभिज्ञानं कृतमिति तदभावः स्मृत्यन्तराधानम्। दिग्विरमणव्रतस्य प्रमादान्मोहाद् व्यासङ्गादतीचारा भवन्ति।

मदीयस्य गृहान्तरस्य तडागस्य वा मध्यं मुक्त्वा देशान्तरं न गमिष्यामीति तन्निवृत्तिर्देशविरतिः। प्रयोजनमपि दिग्विरतिवद्देशविरतिव्रतस्य। तस्य पञ्चातिचारा भवन्ति—आनयनं प्रेष्यप्रयोगः शब्दानुपातः रूपानुपातः पुद्गलक्षेप इति। तत्रात्मना सङ्कल्पितदेशे स्थितस्य प्रयोजनवशाद्यत्किञ्चिदानयेत्याज्ञापनमानयनम्। परिच्छिन्नदेशाद्बहिः स्वयमगत्वाऽन्यप्रेष्यप्रयोगेनैवाभिप्रेतव्यापारसाधनं प्रेष्यप्रयोगः। व्यापारकरान् पुरुषानुद्दिश्याभ्युत्कासिकादिकरणं शब्दानुपातः। मम रूपं निरीक्ष्य व्यापारमचिरान्निष्पादयन्तीति स्वाङ्गदर्शनं रूपानुपातः। कर्मकरानुद्दिश्य लोष्टपाषाणादिनिपातः पुद्गलक्षेप इति। दिग्विरतिः सार्वकालिकी। देशविरतिर्यथाशक्ति कालनियमेनेति।

प्रयोजनं विना पापादानहेतुरनर्थदण्डः। स च पञ्चविधः—अपध्यानं पापोपदेशः प्रमादाचरितं हिंसाप्रदानं अशुभश्रुतिरिति। तत्र जयपराजयवधबन्धाङ्गच्छेदसर्वस्वहरणादिकं कथं स्यादिति मनसा चिन्तनमपध्यानम्। पापोपदेशश्चतुर्विधः—क्लेशवणिज्या तिर्यग्वणिज्या वधकोपदेशः

प्रवेश करनेसे (तथा पूर्वादि दिशाओंकी सीमित मर्यादासे बाहर जानेसे) तिरछी मर्यादाका उल्लंघन करना तिर्यग्व्यतिक्रम है। पहले जो दिशाओंकी योजनादिके द्वारा परिमाण लिया था, पुनः लोभके वशसे उससे अधिककी आकांक्षा करना क्षेत्रवृद्धि है। मैंने योजनादिकोंके द्वारा अमुक-अमुक दिशामें इतना-इतना परिमाण किया है, उस मर्यादाका विस्मरण हो जाना स्मृत्यन्तराधान है। दिग्विरमण व्रतके ये सब अतीचार प्रमादसे, मोहसे अथवा चित्तके अन्यत्र लगनेसे होते हैं।

मैं अपने-अपने घरके मध्य भागको, अथवा तालाव (उद्यान आदि)के मध्य भागको छोड़ कर (इतने समय तक) इससे बाहर अन्य देशमें नहीं जाऊँगा, इस प्रकारकी देश-निवृत्तिको देशविरतिव्रत कहते हैं। इस देशविरतिव्रतका प्रयोजन भी दिग्विरतिव्रतके समान जानना चाहिए। इस व्रतके पाँच अतीचार इस प्रकार हैं—आनयन, प्रेष्यप्रयोग, शब्दानुपात, रूपानुपात और पुद्गलक्षेप। अपने द्वारा संकल्पित देशमें अवस्थित रहते हुए भी प्रयोजनके वशसे (मर्यादाके बाहरसे) 'तुम यह वस्तु ले आओ' इस प्रकारकी आज्ञा देकर वस्तुको मँगाना आनयन अतीचार है। सीमित देशसे बाहर स्वयं नहीं जाकर किसी अन्यको भेजकर ही अपना अभीष्ट व्यापार साधन करना प्रेष्यप्रयोग है। सीमित क्षेत्रसे बाहर कार्य करनेवाले पुरुषोंको लक्ष्य करके खाँसना, चुटकी आदि बजाना शब्दानुपात है। सीमासे बाहर कार्य करनेवाले लोग मेरे रूपको देखकर मेरे कार्यको शीघ्र सम्पन्न कर देंगे, इस अभिप्रायसे अपने अंगको दिखाना रूपानुपात है। सीमा बाहर काम करनेवालोंको लक्ष्य करके लोष्ठ पाषाण आदिको फेंक कर अपना अभिप्राय प्रकट करना पुद्गल क्षेप है। दिग्विरतिव्रत सार्वकालिक अर्थात् जीवन भरके लिए होता है और देशविरतिव्रत यथाशक्ति कालके नियमसे अल्पकालके लिए होता है।

प्रयोजनके विना पाप-उपार्जनके कारणोंको अनर्थदण्ड कहते हैं। वह पाँच प्रकारका है—अपध्यान, पापोपदेश, प्रमादाचरित, हिंसाप्रदान और अशुभश्रुति। अमुककी जीत और अमुककी हार कैसे हो, अमुकके वध, बन्ध और अंगोंका छेदन कैसे हो, अमुक पुरुषका सर्वधनापहरण कैसे हो, इत्यादि मनसे चिन्तन करना अपध्यान अनर्थदण्ड है। पापोपदेश चार प्रकारका है—क्लेशवणिज्या, तिर्यग्वणिज्या, वधकोपदेश और आरम्भकोपदेश। इस प्रदेशमें दासी और दास सुलभ हैं (अल्प

आरम्भकोपदेशश्चेति। तत्रास्मिन् प्रदेशे दास्यो दासाश्च सुलभास्तानमून् देशान्नीत्वा विक्रये कृते महानर्थलाभो भविष्यतीति क्लेशवणिज्या। गोमहिष्यादीन् पशूनत्र गृहीत्वाऽन्यत्र देशे व्यवहारे कृते सति भूरिवित्तलाभ इति तिर्यग्वणिज्या। वागुरिक-शौकरिक-शाकुनिकादिभ्यो मृगवराह-शकुन्तप्रभृतयोऽमुष्मिन् देशे सन्तीति वचनं वधकोपदेशः। आरम्भकेभ्यः कृषीवलादिभ्यः क्षित्युदक-ज्वलनपवनवनस्पत्यारम्भोऽनेनोपायेन कर्तव्य इत्याख्यानमारम्भकोपदेशः। इत्येवं प्रकारं पापसंयुक्तं वचनं पापोपदेशः। प्रयोजनमन्तरेण भूमिकुट्टनसलिलसेचनाग्निविध्यापनवातप्रतिघातवनस्पतिच्छेद-नाद्यवद्यकर्म प्रमदाचरितम्। विषशास्त्राग्निरंज्जुकशादण्डादिहिंसोपकरणप्रदानं हिंसाप्रदानम्। रागादिप्रवृद्धितो दुष्टकथाश्रवणश्रावणशिक्षणव्यापृतिरशुभश्रुतिरिति। एतस्मादनर्थदण्डाद्विरतिः कार्या।

अनर्थदण्डविरमणव्रतस्य पञ्चातिचारा भवन्ति—कन्दर्पः कौत्कुच्यं मौखर्यं असमीक्ष्याधिकरणं उपभोगपरिभोगानर्थक्यमिति। चारित्रमोहोदयापादिताद् रागोद्रेकाद्यो हास्यसंयुक्तोऽशिष्टवाक्प्रयोगः सः कन्दर्पः। रागस्य समावेशाद्धास्यवचनमशिष्टवचनमित्येतदुभयं परस्मिन् दुष्टेन कायकर्मणा युक्तं

मूल्यमें मिलते हैं) इन्हें अमुक देशोंमें ले जाकर बेंचनेपर भारी धन-लाभ होगा, इस प्रकारका उपदेश देना क्लेशवणिज्या है। गाय-भैंस आदि पशुओंको यहाँ पर खरीद कर अन्य देशमें वेंचने पर भारी धन-लाभ होगा, ऐसा उपदेश देना तिर्यग्वणिज्या है। जाल विछाकर मृग आदिके पकड़ने वालोंसे यह कहना कि इस देशमें मृग आदि बहुत हैं, सूकर पकड़ने वालोंसे यह कहना कि अमुक देशमें सूकर बहुत पाये जाते हैं और पक्षी पकड़ने वालोंसे यह कहना कि अमुक प्रदेशमें पक्षी आदि बहुत हैं, ऐसे कहनेको वधकोपदेश कहते हैं। खेती आदिका आरम्भ करनेवाले किसान आदिकोंसे यह कहना कि भूमि इस प्रकार जोतना चाहिए, पानी इस प्रकार सींचना चाहिए, अग्नि इस प्रकार लगाना चाहिए, पवनसे अन्नकी उड़ावनी इस प्रकारसे करना चाहिए और पेड़ोंकी इस प्रकारसे काट-छाँट करना चाहिए, इस प्रकारका उपदेश देना आरम्भकोपदेश कहलाता है। इन चारों प्रकारके, तथा इसी प्रकारके पाप-संयुक्त वचन कहना पापोपदेश अनर्थदण्ड है। प्रयोजन-के विना ही भूमिको कूटना-खोदना, जलका सींचना, अग्निका बुझाना, पवनका प्रतिघात करना और वनस्पतिका छेदना आदि पाप कार्य करनेको प्रमादाचरित कहते हैं। विष, शास्त्र, अग्नि, रस्सी, चाबुक, दण्डा आदि हिंसाके उपकरण देना हिंसाप्रदान अनर्थदण्ड है। राग-द्वेष आदिकी वृद्धिके कारण होनेसे खोटी कथाओंका सुनना, सुनाना, शिक्षण देना और उनका प्रसार करना अशुभ-श्रुति है। इस प्रकारके अनर्थदण्डसे विरति करना चाहिए। ऐसे पाँच प्रकारके अनर्थदण्डोंका त्याग करना अनर्थदण्डव्रत है।

अनर्थदण्ड विरमणव्रतके पाँच अतीचार इस प्रकार हैं—कन्दर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, असमीक्ष्या-धिकरण और उपभोगपरिभोगानर्थक्य। चारित्रमोहके उदयसे होनेवाले रागके उद्रेकसे जो हास्य-मिश्रित अशिष्ट वचन बोलना सो कन्दर्प है। दूसरे मनुष्य पर कायकी खोटी चेष्टाको दिखाते हुए रागसे समाविष्ट हँसीके वचन बोलना, अशिष्ट वचन बोलना, अथवा दोनों ही कार्य करना कौत्कुच्य कहलाता है। अशालीनरूपसे जो कुछ भी अनर्थक बहुत बकवाद करना, सो मौखर्य है। मन, वचन और कायके भेदसे असमीक्ष्याधिकरण तीन प्रकारका है। दूसरेका अनर्थ करनेवाले काव्य आदिका चिन्तवन करना मानसअसमीक्ष्याधिकरण है। निष्प्रयोजन कथाओंका व्याख्यान करना अथवा अन्यको पीडाकारी वचन कहना वाचनिक असमीक्ष्याधिकरण है। प्रयोजनके विना

कौत्कुच्यम् । अशालीनतया यत्किञ्चनानर्थकं बहुप्रलपनं तन्मौखर्यम् । असमीक्ष्याधिकरणं त्रिविधं-मनोवाक्कायविषयभेदात् । तत्र मानसं परानर्थककाव्यादिचिन्तनम् । वाग्भवं निष्प्रयोजनकथाव्याख्यानम्, परपीडाप्रधानं यत्किञ्चनवक्तृत्वं च । कायिकं प्रयोजनमन्तरेण गच्छंस्तिष्ठन्नासीनो वा सचित्ताचित्तपत्रपुष्पफलच्छेदनभेदनकुट्टनक्षेपणादीनि कुर्यात्; अग्निविषक्षारादिप्रदानं चारभेत । इत्येवमादि तदेतत्सर्वमसमीक्ष्याधिकरणम् । यस्य यावतार्थेनोपभोगपरिभोगौ परिकल्पितौ तस्य तावानेवार्थ इत्युच्यते । ततोऽन्यस्याधिक्यमानर्थक्यं तदुपभोगपरिभोगानर्थक्यम् ।

सम्यगेकत्वेनायनं गमनं समयः, स्वविषयेभ्यो विनिवृत्त्य कायवाङ्मनःकर्मणामात्मना सह वर्तनाद् द्रव्यार्थेनात्मन एकत्वगमनमित्यर्थः । समय एव सामायिकम्, समयः प्रयोजनमस्येति वा सामायिकम् । तच्च नियतकाले नियतदेशे च भवति । निर्व्याक्षेपमेकान्तं भवनं वनं चैत्यालयादिकं च देशं मर्यादीकृत्य केशबन्धं मुष्टिबन्धं वस्त्रबन्धं पर्यङ्कमकरमुखाद्यासनं स्थानं च कालमवधिं कृत्वा शीतोष्णादिपरीषहविजयी उपसर्गसहिष्णुर्मौनी हिंसादिभ्यो विषयकषायेभ्यश्च विनिवृत्त्य सामायिके वर्तमानो महाव्रती भवति । हिंसादिषु सर्वेष्वनासक्तचित्तोऽभ्यन्तरप्रत्याख्यानसंयमघातिकर्मोदयजनितमन्दाविरतिपरिणामे सत्यपि महाव्रतमित्युपचर्यते । एवं च कृत्वाऽभव्यस्यापि

चलते हुए, खड़े हुए या बैठे-बैठे ही सचित्त-अचित्त पत्र-पुष्प-फलादिका छेदन-भेदन करना, कूटना, फेंकना आदि कार्य करना, अग्नि, विष, क्षार आदिको देने और बतानेका आरम्भ करना, तथा इसी प्रकारके और भी जितने अनर्थ कार्य हैं उनका करना सो वह सर्व असमीक्ष्याधिकरण है। जिस मनुष्यका जितने धन या वस्तुओंसे उपभोग-परिभोग हो सकता है, उतना वह उसके लिए 'अर्थ' कहा जाता है। उससे अधिक अन्यका संग्रह करना यह उसका आनर्थक्य है। इस प्रकार आवश्यकतासे अधिक उपभोग-परिभोगकी वस्तुओंका संग्रह करना उपभोगपरिभोगानर्थक्य कहलाता है। इस प्रकार अनर्थदण्डव्रतके अतीचारोंका वर्णन किया।

अब सामायिक शिक्षाव्रतका वर्णन करते हैं—सम्यक् प्रकारसे आत्माके एकत्वके साथ गमन करना, अर्थात् आत्मामें तल्लीन होना समय है। मन-वचन-कायकी क्रियाओंका अपने-अपने विषयोंसे निवृत्त होकर आत्माके साथ वर्त्तन करनेको समय कहते हैं। अर्थात् द्रव्यार्थरूपसे आत्माका एकत्वगमन या एकाग्र होना समय कहलाता है। इस एकत्वगमनरूप समयको ही सामायिक कहते हैं। अथवा समय अर्थात् आत्मस्वरूपकी प्राप्ति जिसका प्रयोजन हो, उसे सामायिक कहते हैं। यह सामायिक नियतकालमें नियतदेशमें किया जाता है। विक्षेप-रहित एकान्त भवन, वन या चैत्यालय आदि योग्य देशकी मर्यादा करके, केशबन्ध, मुष्टिबन्ध, वस्त्रबन्ध, पर्यङ्कासन, मकरमुखासन आदि आसन, स्थान और कालकी मर्यादा करके शीत-उष्ण आदि परीषहोंको जीतनेवाला, आनेवाले उपसर्गोंको सहन करनेवाला, मौनधारक, हिंसादिकपापोंसे और विषय-कषायोंसे निवृत्त होकर सामायिकमें वर्तमान श्रावक महाव्रती होता है। यद्यपि उसके भीतर संयमका घात करनेवाले प्रत्याख्यानावरणकषायरूप कर्मके उदय-जनित मन्द अविरति परिणाम पाये जाते हैं, तथापि हिंसादिक सर्व सावद्ययोगमें अनासक्त चित्त होनेसे उसके अणुव्रतोंको उपचारसे महाव्रत कहा जाता है। इस प्रकार सामायिक करके अन्तरंगमें असंयम भाववाले और बाहर निर्ग्रन्थ लिंग धारण करनेवाले, तथा ग्यारह अंगोंका अध्ययन करनेवाले अभव्य जीवके भी उपरिम (नवम) ग्रैवेयक विमानवासी अहमिंद्रोंमें उत्पन्न

निर्ग्रन्थलिङ्गधारिण एकादशाङ्गाध्यायिनो महाव्रतपरिपालनादसंयमभावस्याप्युपरिमग्रैवेयकविमानवासितोपपन्ना भवति । एवं भव्योऽपि निर्ग्रन्थरूपधारी सामायिकवशादहमिन्द्रस्थानवासी भवति चेत् किं पुनःसम्यग्दर्शनपूतात्मा सामायिकमापन्न इति ।

सामायिकव्रतस्य सर्वसावद्ययोगप्रत्याख्यानस्य पञ्चातीचारा भवन्ति—कायदुःप्रणिधानं वाग्दुःप्राणिधानं मनोदुःप्रणिधानं अनादरः स्मृत्यनुपस्थापनं चेति तत्र । दुष्टं प्रणिधानं दुःप्रणिधानम्, अन्यथा वा प्रणिधानं दुःप्रणधानम् । क्रोधादिपरिणामवशाद्दुष्टं प्रणिधानं भवति । शरीरावयवानामनिभृतावस्थानं कायदुःप्रणिधानम् । वर्णसंस्कारे भावार्थे चागमकत्वं चापलादि वाग्दुःप्रणिधानम् । मनसोऽनर्पितत्वं मनोदुःप्रणिधानम् । इति कर्त्तव्यतां प्रत्यसाकल्याद्यथा कथञ्चित्प्रवृत्तिरनुत्साहोऽनादरः । अनैकाग्र्यमसमाहितमनस्कता स्मृत्यनुपस्थापनम् । अथवा रात्रिदिवं प्रमादिकस्य सञ्चिन्त्यानुपस्थापनं स्मृत्यनुपस्थानम् । मनोदुःप्रणिधान-स्मृत्यनुपस्थानयोरयं भेदः—क्रोधाद्यावेशात्सामायिकौदासीन्येन वाऽचिरकालमवस्थापनं मनसो मनोदुःप्रणिधानम् । चिन्तायाः परिस्पन्दनादैकाग्र्येणानवस्थापनं स्मृत्यनुपस्थापनमिति विस्पष्टमन्यत्वम् ।

प्रोषधः पर्वपर्यायवाची । शब्दादिग्रहणं प्रति निवृत्तौत्सुक्यानि पञ्चापीन्द्रियाणि उपेत्य तस्मिन् वसन्तीत्युपवासः । उक्तं च—

उपेत्याक्षाणि सर्वाणि निवृत्तानि स्वकार्यतः । वसन्ति यत्र स प्राज्ञैरुपवासोऽभिधीयते ॥११॥

होना संभव होता है । इसी प्रकार द्रव्यनिर्ग्रन्थरूपधारी भव्य भी सामायिकके वशसे अहमिन्द्रोंके स्थानका निवासी होता है । फिर सम्यग्दर्शनसे पवित्र आत्मा वाला यदि कोई निर्ग्रन्थलिंग धारणकर सामायिकको प्राप्त हो, तो उसका क्या कहना ? वह तो मोक्षको ही प्राप्त करेगा ।

सर्वसावद्ययोगके परित्यागवाले इस सामायिकव्रतके पाँच अतीचार इस प्रकार हैं—कायदुःप्रणिधान, वाग्दुःप्रणिधान, मनोदुःप्रणिधान, अनादर और स्मृत्युपस्थापन । खोटे उपयोगको दुःप्रणिधान कहते हैं । अथवा अन्यथा प्रवृत्तिको दुःप्रणिधान कहते हैं । क्रोधादिकषायरूप खोटे परिणामोंके वशसे दुष्टप्रणिधान होता है । शरीरके हस्त-पाद आदि अंगोंको स्थिर न रखना कायदुःप्रणिधान है । शब्दोंके उच्चारणमें और उसके भावरूप अर्थमें अजानकारी और चपलता आदि रखना वाग्दुःप्रणिधान है । सामायिक करनेमें मनका उपयोग न लगाना मनोदुःप्रणिधान है । सामायिकमें करने योग्य कार्योंके प्रति अपूर्णता रखना, उनमें जिस किसी प्रकार पूरा करनेकी प्रवृत्ति होना, सामायिक करनेमें उत्साह न होना अनादर है । सामायिक करते समय चित्त एकाग्र न रखना, अथवा चित्तमें समाधानता न रखना, अथवा रात-दिन प्रमाद-युक्त रहनेसे बोलते या चिन्तवन करते हुए पाठ या अर्थको भूल जाना स्मृत्यनुपस्थापन कहलाता है । मनोदुःप्रणिधान और स्मृत्यनुपस्थापनमें यह भेद-है—कि क्रोधादिके आवेशसे अथवा सामायिक करनेमें उदासीनता रखनेसे अल्पकाल सामायिकमें मनका लगना मनोदुःप्रणिधान है । और चिन्ताके विकल्प उठते रहनेसे चित्तका एकाग्रतासे स्थिर न रहना स्मृत्युपस्थापन है । इस प्रकार दोनों अतीचारोंमें भिन्नता स्पष्ट है ।

प्रोषध शब्द पर्वका पर्यायवाची है । कर्ण आदि पाँचों इन्द्रियाँ अपने शब्द आदि विषयोंके ग्रहणके प्रति उत्सुकता छोड़कर जब आत्मामें आकर निवास करती हैं, तब उसे उपवास कहते हैं ।

कहा भी है—सब इन्द्रियाँ अपने विषयभूत कार्योंसे निवृत्त होकर और आत्मामें आकर जब निवास करें, तब वह ज्ञानियोंके द्वारा उपवास कहा जाता है ॥११॥

पर्वणि चतुर्विधाऽऽहारनिवृत्तिः प्रोषधोपवासः । निरारम्भः श्रावकः स्वशरीरसंस्कारकारण-स्नानगन्धमाल्याभरणादिभिर्विरहितः शुचाववकाशे साधुनिवासे चैत्यालये स्वप्रोषधोपवासगृहे वा धर्मकथाश्रवणश्रावणचिन्तनावहितान्तःकरणः सन्नुपवसेत् ।

प्रोषधोपवासस्य पञ्चातिचारा भवन्ति—अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गः अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादानं अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितसंस्तरोपक्रमणं अनादरः स्मृत्यनुपस्थानं चेति । तत्र जन्तवः सन्ति, न सन्ति वेति प्रत्यवेक्षणं चक्षुषोर्व्यापारो मृदुनोपकरणेन यत् क्रियते प्रयोजनं तत्प्रमार्जनं अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितायां भुवि मूत्रपुरीषोत्सर्गोऽप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गः । अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितस्यार्हदाचार्यादिपूजोपकरणस्य गन्धमाल्यधूपादेरात्मपरिधानाद्यर्थस्य वस्त्रपात्रादेश्चादानमप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादानम् । अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितस्य प्रावरणादेः संस्तरणस्योपक्रमणमप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितसंस्तरोपक्रमणम् । क्षुत्पीडितत्वादावश्यकेष्वनुत्साहोऽनादरः । स्मृत्यनुपस्थानं व्याख्यातमेव ।

उपेत्यात्मसात्कृत्य भुज्यत इत्युपभोगः अशनपानगन्धमाल्यादिः । सकृद् भुक्त्वा पुनरपि भुज्यत इति परिभोगः, आच्छादनप्रावरणालङ्कारशयनासनगृहयानवाहनादिः । तयोः परिमाणमुपभोगपरिभोगपरिमाणम् । भोगपरिसंख्यानं पञ्चविधम्—त्रसघातप्रमाद-बहुवधानिष्टानुपसेव्यविषय-

---

पर्वके दिन चारों प्रकारके आहारका त्याग करना प्रोषधोपवास है । पर्वके दिन श्रावक आरम्भ-रहित होकर और अपने शरीरके संस्कारके कारणभूत स्नान-गन्ध-माला-आभूषण आदि-से रहित होकर किसी पवित्र स्थान पर, साधुओंके निवास स्थलपर, चैत्यालयमें, अथवा अपने प्रोषधोपवासके घरमें धर्म-कथाओंके सुनने-सुनानेमें और तत्त्व-चिन्तवनमें मनको लगाता हुआ उपवास करे ।

प्रोषधोपवासके पांच अतीचार इस प्रकार हैं—अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग, अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादान, अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितसंस्तरोपक्रमण, अनादर और स्मृत्यनुपस्थापन । यहाँ जीव हैं, अथवा नहीं, इस प्रकार आँखसे देखनेको प्रत्यवेक्षण कहते हैं । किसी कोमल बुहारी आदि उपकरणसे स्थानके शुद्ध करने या बुहारनेको प्रमार्जन कहते हैं । विना देखी विना शोधी भूमिपर मल-मूत्रको छोड़ना अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग कहलाता है । अरहंत और आचार्यादि की पूजाके उपकरण, गन्ध, माला, धूप आदि सामग्री और अपने पहनने आदिके वस्त्र-पात्र आदि-का विना देखे विना शोधे ग्रहण करना अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादान है । विना देखे विना शोधे ओढ़ने और बिछानेके वस्त्र-बिस्तर चटाई आदिका उपयोग करना अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितसंस्तरोपक्रमण है । भूखसे पीड़ित होनेके कारण उपवासके दिन करने योग्य आवश्यकोंमें उत्साह न रखना अनादर है । स्मृत्यनुपस्थापनकी व्याख्या सामायिकके अतीचारोंमें पहले कर ही चुके हैं ।

जो प्राप्त करके आत्मसात् कर भोगे जायें ऐसे भोजन, पान, गन्ध, माला आदि पदार्थ उपभोग कहलाते हैं । एक बार भोग करके फिर भी जो भोगे जावें, ऐसे ओढ़ने बिछानेके वस्त्र, अलंकार, शयन, आसन, गृह, यान और वाहन आदि पदार्थ परिभोग कहलाते हैं । उनका परिमाण करना उपभोगपरिभोगपरिमाण है । भोगपरिसंख्यान त्रसघात, प्रमाद, बहुवध, अनिष्ट और अनुपसेव्य विषयके भेदसे पाँच प्रकारका है—त्रसघातके प्रति निवृत्त चित्तवाले श्रावकको मधु और मांसका भक्षण सदाके लिये छोड़ देना चाहिये । मद्यका सेवन मोहित करके कार्य और अकार्यके विवेकको नष्ट कर देता है, अतएव प्रमादको दूर करनेके लिए उस मद्यका त्याग करना चाहिये ।

भेदात्। तत्र मधुमांसं सदा परिहर्तव्यं त्रसघातं प्रतिनिवृत्तचेतसा। मद्यमुपसेव्यमानं कार्याकार्यविवेकसम्मोहकरमिति तद्वर्जनं प्रमादविरहाय। केतक्यर्जुनपुष्पादीनि बहुजन्तुयोनिस्थानानि, आर्द्रश्रृङ्गवेरमूलकहरिद्रानिम्बकुसुमादीन्यनन्तकायव्यपदेशार्हाणि। एतेषामुपसेवनेन बहुघातोऽल्पफलमिति तत्परिहारः श्रेयान्। यानवाहनाभरणादिष्वेतावदेवेष्टमतोऽन्यदनिष्टमित्यनिष्टान्निवर्तनं कर्त्तव्यम्। न हि व्रतमभिसन्धिनियमाभावे सतीष्टानामपि चित्रवस्त्रवेषाभरणादीनामनुपसेव्यानां परित्यागः कार्यो यावज्जीवम्। अथ न कालपरिच्छेदेन वस्तुपरिमाणेन च शक्त्यनुरूपं निवर्तनं कार्यम्।

उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रतस्यातीचाराः पञ्च भवन्ति—सचित्ताहारः सचित्तसम्बन्धाहारः सचित्तसन्मिश्राहारः, अभिषवाहारः दुष्पक्वाहारश्चेति। तत्र चेतनावद्द्रव्यं सचित्तं हरितकायः, तदभ्यवहरणं सचित्ताहारः। सचित्तवतोपश्लिष्टः सचित्तसम्बद्धाहारः। सचित्तेन व्यतिकीर्णः सचित्तसन्मिश्राहारः। सौवीरादिद्रवो वा वृष्यं वाऽभिषवाहारः। सान्तस्तन्दुलभावेनातिक्लेदनेन वा दुष्टः पक्वो दुःपक्वाहारः। सम्बन्ध-मिश्रयोरयं भेदः—संसर्गमात्रं सम्बन्धः, सूक्ष्मजन्तुव्याकीर्णत्वा-

---

केतकी, अर्जुन पुष्प आदि अनेक त्रसजन्तुओंके योनिस्थान हैं, गीला अदरक, मूली, हलदी, निम्बपुष्प आदि अनन्तकायवाले पदार्थ हैं। इनके सेवन करनेमें बहुत जीवोंका घात है और फल अल्प प्राप्त होता है, इसलिये इनका परिहार करना ही श्रेयस्कर है। सवारीके यान वाहन और आभूषण आदि पदार्थोंमें जितनेसे कार्य चले, उतने रखना ही इष्ट है, उससे अधिक अन्य पदार्थ अनिष्ट हैं, अतः इस व्रतधारीको अनिष्टसे निवृत्ति करना चाहिये। अभिप्रायपूर्वक नियमके अभावमें किसी वस्तुका सेवन नहीं करना व्रत नहीं कहलाता है, अतः अपने लिए इष्ट भी अनेक जातिके वस्त्र, विविध पोशाकें और अनेक प्रकारके आभूषण आदि जो प्रतिदिन सेवन करनेमें नहीं आते हैं, उनका परित्याग भी यावज्जीवनके लिए कर देना चाहिये। यदि यह संभव न हो तो कालकी मर्यादाके साथ वस्तुओंका परिमाण करते हुए शक्तिके अनुसार अनुपसेव्यसे निवृत्ति अवश्य करना चाहिये।

उपभोगपरिभोग परिमाणव्रतके पाँच अतीचार इस प्रकार हैं—सचित्ताहार, सचित्तसम्बन्धाहार सचित्तसन्मिश्राहार अभिषवाहार और दुःपक्वाहार। चेतनावाली हरितकायिक वनस्पति आदि द्रव्यको सचित्त कहते हैं। सचित्त वस्तुको खाना सचित्ताहार है। सचित्त वस्तुसे लिपटा हुआ या सचित्त पत्र आदि पर रखा हुआ आहार सचित्तसम्बद्धाहार है। सचित्तसे मिश्रित आहार सचित्तसन्मिश्राहार है। सौवीर (सिरका अर्क आसव) आदि तरल और पौष्टिक पदार्थोंको अभिषवाहार कहते हैं। भीतर चावल रूपवाला अर्थात् अर्धपक्व अथवा अधिक पक जानेसे जला हुआ दुष्ट पक्व आहार दुःपक्वाहार कहलाता है। सचित्त सम्बन्ध और सचित्तमिश्रमें यह भेद है कि जिस आहारका सचित्त पत्रादिके साथ केवल संसर्ग हुआ है, वह सचित्तसम्बन्धाहार कहलाता है और जिस आहारमें हरी मिर्च या हरे धनिये आदिके छोटे-छोटे सचित्त टुकड़ोंके सूक्ष्म जीव इस प्रकार मिल गये हों कि जिनका अलग करना शक्य नहीं है, ऐसे आहारको सचित्तसन्मिश्राहार कहते हैं। इनमेंसे प्रारम्भके तीन प्रकारके आहारोंके खाने पर सचित्त वस्तुका उपयोग होता है, चौथे प्रकारके आहार करने पर इन्द्रियोंमें मदकी वृद्धि होती है और पंचम प्रकारके

द्विभागीकर्तुमशक्यः सन्मिश्रः। एतेषामभ्यवहरणे सचित्तोपयोग इन्द्रियमदवृद्धिर्वातादिप्रकोपो वा स्यात्। तत्प्रतीकारविषये पापलेपो भवति। अतिथयश्चैनं परिहरेयुरिति।

संयममविनाशयन्नततीत्यतिथिः। अथवा नास्य तिथिरस्तीत्यतिथिः, अनियतकालगमन-मित्यर्थः। अतिथये संविभागोऽतिथिसंविभागः। स चतुर्विधः—भिक्षोपकरणौषधप्रतिश्रयभेदात्।

उक्तं हि—प्रतिग्रहोच्चस्थाने च पादक्षालनमर्चनम्।
प्रणामो योगशुद्धिश्च भिक्षाशुद्धिश्च ते नव ॥१२॥

उक्तं हि—श्रद्धा शक्तिरलुब्धत्वं भक्तिर्ज्ञानं दया क्षमा।
इति श्रद्धादयः सप्त गुणाःस्युर्गृहमेधिनाम् ॥१३॥

एवंविधनवविधपुण्यैः प्रतिपत्तिकुशलेन सप्तगुणैः समन्वितेन मोक्षमार्गमभ्युद्यतायातिथये संयमपरायणाय शुद्धचेतसाऽऽश्चर्यपञ्चकादिकमनिच्छता निरवद्या भिक्षा देया। धर्मोपकरणानि च सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रोपबृंहणानि दातव्यानि। औषधं ग्लानाय वातपित्तश्लेष्मप्रकोपहताय योग्य-मुपयोजनीयम्। प्रतिश्रयश्च परमधर्मश्रद्धया प्रतिपादयितव्य इति।

अतिथिसंविभागव्रतस्य पञ्चातिचारा भवन्ति—सचित्तनिक्षेपः सचित्तपिधानं परव्यपदेशः मात्सर्यं कालातिक्रमश्चेति। तत्र सचित्ते पद्मपत्रादौ निधानं सचित्तनिक्षेपः। सचित्तेनावरणं

आहार करने पर वात आदि दोषका प्रकोप हो सकता है, और फिर उसके प्रतीकार करनेमें पापका लेप होता है, इसलिये अतिथिजनोंको इस प्रकारके आहारोंका परिहार करना चाहिये।

जो संयमका विनाश नहीं करते हुए अर्थात् संयमकी रक्षा करते हुए सदा विहार करते रहते हैं, उन्हें अतिथि कहते हैं। अथवा जिसकी तिथि नियत नहीं, अर्थात् अनियत कालमें जो गमन करें, उन्हें अतिथि कहते हैं। ऐसे अतिथिके लिए आहार आदिका जो विभाग किया जाता है, वह अतिथिसंविभाग कहलाता है। यह अतिथिसंविभाग भिक्षा उपकरण औषधि और प्रतिश्रय (निवास स्थान वसतिका आदि) के भेदसे चार प्रकारका है। अतिथिको भिक्षा (आहार) देनेके विषयमें कहा गया है कि—

साधुको आता हुआ देखकर उसे पडिगाहे, ऊँचे स्थान पर विठावे, पाद-प्रक्षालन करे, पूजन करे, मन-वचन-काय इन तीनों योगोंकी शुद्धि रखे और शुद्ध आहार देवे ॥१२॥

दाताके गुण इस प्रकार कहे गये हैं—श्रद्धा, शक्ति, अलुब्धता, भक्ति, ज्ञान, दया और क्षमा ये सात गुण गृहस्थोंके होने चाहिये ॥१३॥

इस प्रकार उपर्युक्त नव प्रकारके पुण्योंसे नवधा भक्ति करनेमें कुशल और सात गुणोंसे संयुक्त श्रावकको मोक्षमार्ग पर चलनेमें उद्यत, और संयम-परायण अतिथिके लिए शुद्ध चित्तसे पंचाश्चर्य आदि फलकी इच्छा न करते हुए निर्दोष भिक्षा देना चाहिये। तथा सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रको बढ़ानेवाले धर्मोपकरण पीछी शास्त्र कमण्डलु आदि देनी चाहिये। वात-पित्त-कफके प्रकोपसे पीडित रोगी साधुको योग्य औषधि देनी चाहिये। तथा उनके ग्राममें आने पर परम-श्रद्धासे वसतिका आदिका आश्रय प्रदान करना चाहिये।

इस अतिथिसंविभागव्रतके पाँच अतीचार इस प्रकार हैं—सचित्तनिक्षेप, सचित्तपिधान परव्यपदेश मात्सर्य और कालातिक्रम। देने योग्य आहारको सचित्त कमलपत्र आदिपर रखना

सचित्तपिधानम् । अयमत्र दाता दीयमानोऽप्ययमस्येति समर्पणं परव्यपदेशः । प्रयच्छतोऽपि सत आदरमन्तरेण दानं मात्सर्यम् । अनगाराणामयोग्ये काले भोजनं कालातिक्रम इति ।

पात्रदानं स्वस्य परस्य चोपकारः । स्वोपकारः पुण्यसञ्चयः. परोपकारः सम्यग्ज्ञानादि-वृद्धिः । तच्च दानं पारम्पर्येण मोक्षकारणं साक्षात्पुण्यहेतुः । विधिविशेषाद् द्रव्यविशेषाद् दातृ-विशेषात् पात्रविशेषाद् दानविशेषः । तत्र प्रतिग्रहोच्चदेशस्थापनमित्येवमादीनां क्रियाणामादरेण करणं विधिविशेषः । दीयमानेऽन्नादौ प्रतिग्रहीतुस्तपःस्वाध्यायपरिवृद्धिकरणत्वाद् द्रव्यविशेषः । प्रतिगृहीतृजनेऽभ्यस्ततया त्यागोऽविषादो दित्सतो ददतो दत्तवतश्च प्रीतियोगः, कुशलाभिसन्धिता-वसुधारा-सुरप्रशंसादिदृष्टफलानपेक्षिता, निरुपरोधत्वमनिदानत्वं श्रद्धादिगुणसमन्वितत्वमित्येवमादि दातृविशेषः । मोक्षकारणगुणसंयोगः पात्रविशेषः । ततश्च फलविशेषः ।

> सत्पात्रोपगतं दानं सुक्षेत्रगतबीजवत् ।
> फलाय यदपि स्वल्पं तदनल्पाय कल्पते ॥१४॥

तथा च दानफलविशेषेणोत्तमभोगभूमौ दशविधकल्पवृक्षजनितसुखफलं श्रीषेणोऽन्वभूत् । तथा च दानानुमोदेन रतिवररतिवेगाख्यं कपोतमिथुनं विजयार्धप्रतिबद्धगान्धारविषयसुसीमा-

---

सचित्तनिक्षेप है । आहारको सचित्त पत्रादिसे ढकना सचित्तपिधान है । इस आहारका दाता यह है, और दिया जानेवाला आहार इस अमुक पुरुषका है, ऐसा कहकर आहार देना परव्यपदेश है । आहार देते हुए भी आदरके बिना देना मात्सर्य है । साधुओंको अयोग्यकालमें भोजन देनेके लिए खड़े होना कालातिक्रम अतीचार है ।

पात्रदान अपना भी उपकारक है और परका भी उपकारक है । दान देने पर पुण्यका संचय होना अपना उपकार है और अतिथिके सम्यग्ज्ञान आदिकी वृद्धि होना यह परका उपकार है । यह दान परम्परासे मोक्षका कारण है और साक्षात् पुण्यका कारण है । विधिकी विशेषतासे, द्रव्यकी विशेषतासे, दाताकी विशेषतासे और पात्रकी विशेषतासे दानमें विशेषता हो जाती है । प्रतिग्रह, उच्चस्थान पर स्थापन इत्यादि पूर्वोक्त क्रियाओंका आदरसे करना विधिकी विशेषता है । भिक्षामें दिया जानेवाला अन्न आदि यदि लेनेवाले पात्रके तप, स्वाध्याय आदिकी वृद्धि करे, तो यह द्रव्यकी विशेषता कहलाती है । आहार लेनेवाले साधुको अभ्यस्त रीतिसे दान देना, विषाद नहीं करना, देनेके इच्छुक, देनेवाले और दे रहे दाताके प्रति प्रेमभाव रखना, अपने दानकी कुशलताकी प्रख्याति चाहना, रत्न-सुवर्णादिके वर्षा की, और देवों द्वारा प्रशंसा आदि इहलौकिक फलोंकी अपेक्षा न रखना, किसीको दान देनेसे नहीं रोकना, निदान नहीं करना और श्रद्धा आदि गुणोंसे युक्त होना इत्यादि दाताकी विशेषता है । साधुमें मोक्षके कारणभूत सम्यग्दर्शनादि गुणों-का संयोग होना यह पात्रकी विशेषता है । इन युक्त विशेषताओंसे दानके फलमें भी विशेषता होती है ।

जैसे उत्तम क्षेत्रमें बोया गया छोटा-सा भी बीज भारी फलको देता है, इसी प्रकार सत्पात्र-में दिया गया अल्प भी दान अनल्प (भारी) फलके लिए होता है अर्थात् महान् फल देता है ॥१४॥

देखो—श्रीषेण राजाने दानके फलकी विशेषतासे उत्तम भोगभूमिमें दश प्रकारके कल्पवृक्ष-जनित सुखोंका फल भोगा । तथा दानकी अनुमोदनासे रतिवर कपोत और रतिवेगा कपोती नामके कपोत युगलमेंसे विजयार्ध पर्वतपर अवस्थित गान्धारदेशकी सुसीमा नगरीके राजा आदित्य-

नगराधिपतेरादित्यगते रतिवरवरो हिरण्यवर्मनामा नन्दनोऽभूत्। तस्मिन्नेव गिरौ गिरिविषये भोगपुरपतेर्वायुरथस्य रतिवेगवरी प्रभावत्याख्या तनयाऽभूत्। एवं हिरण्यवर्मा प्रभावती च जाति-कुलसाधितविद्याप्रभावेन सुखमन्वभूताम्।

उक्तहिंसादिपञ्चदोषविरहितेन द्यूतमद्यमांसानि परिहर्त्तव्यानि। तथा चोक्तं महापुराणे—

हिंसाऽसत्यस्तेयादब्रह्मपरिग्रहाच्च बादरभेदात्।
द्यूतान्मांसान्मद्याद्विरतिर्गृहिणोऽष्ट सन्त्यमी मूलगुणाः ॥१५॥

कितवस्य सदा रागद्वेषमोहवञ्चनानृतानि प्रजायन्ते, अर्थक्षयोऽपि भवति, जनेष्वविश्वसनीयश्च। सप्तव्यसनेषु प्रधानं द्यूतं तस्मात्तत्परिहर्तव्यम्। तथा च—भरतेऽस्मिन् कुलालविषये श्रावस्तिपुराधिपतिः सुकेतुमहाराजो महाभोगी द्यूतव्यसनाभिहतः स्वकीयं कोशं राष्ट्रमन्तःपुरं च हारयित्वा महादुःखाभिभूतोऽभूत्। तथा च युधिष्ठिरोऽपि द्यूतेन राज्याद् भ्रष्टः कष्टां दशामवाप।

मांसान्निवृत्तिरहिंसाव्रतपरिपालनार्थम्। मांसाशिनं साधवो विनिन्दन्ति, प्रेत्य च दुःखभाग् भवति। तथा चान्यैरुक्तम्—

मां स भक्षयति प्रेत्य यस्य मांसमिहाद्म्यहम्।
एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥१६॥

गतिके रतिवर कपोतके हिरण्यवर्मा नामका पुत्र हुआ। और उसी ही पर्वतपर गिरिदेशमें भोगपुर के स्वामी वायुरथके वह रतिवेगा कपोती प्रभावती नामकी पुत्री उत्पन्न हुई। पुनः हिरण्यवर्मा और प्रभावतीने जातिविद्या, कुलविद्या और साधित विद्याओंके प्रभावसे जीवन भर सुख भोगे।

उपर्युक्त हिंसादि पाँच पापोंसे रहित श्रावकको द्यूत, मद्य और मांसका भी परिहार करना चाहिए। जैसा कि महापुराणमें कहा है—

बादर भेदस्वरूप स्थूल हिंसासे, असत्यसे, चोरीसे, अब्रह्मसे और परिग्रहसे, तथा द्यूतसे, मांससे और मद्यसे विरत होना ये गृहस्थोंके आठ मूलगुण हैं ॥१५॥

द्यूत खेलनेवालेके सदा राग, द्वेष, मोह, कपट और असत्य वचन उत्पन्न होते हैं, धनका नाश भी होता है, और लोगोंमें अविश्वासका पात्र भी बनता है। सातों ही व्यसनोंमें द्यूत सबसे प्रधान है, इसलिये उसका परित्याग ही करना चाहिये। देखें—इसी भरतक्षेत्रके कुलाल देशमें श्रावस्ती नगरीका राजा सुकेतु महाराज महान् भोगवाला था, किन्तु द्यूतव्यसनका मारा वह अपने खजानेको, राष्ट्रको और अन्तःपुरको भी हार कर महादुःखोंसे पीड़ित हुआ। तथा युधिष्ठिर महाराज भी द्यूतसे राज्यभ्रष्ट होकर अत्यन्त कष्टदायिनी दशाको प्राप्त हुए।

अहिंसाव्रतकी परिपालनाके लिए मांससे निवृत्ति करना चाहिये। मांस-भक्षी पुरुषकी साधुजन निन्दा करते हैं और परलोकमें वह भारी दुःखोंको भोगता है। जैसा कि अन्य मतवालोंने भी कहा है—

इस लोकमें मैं जिसका मांस खाता हूँ, परलोकमें वह मुझे खायेगा। अर्थात् 'मांस' ये दो अक्षर हैं, 'मां' मुझे, 'स' वह खायगा, जिसे कि मैं आज खा रहा हूँ, यह 'मांस' शब्दकी मांसता।

मांसं प्राणिशरीरं प्राण्यङ्गस्य च विदारणेन विना।
तन्नाप्यते ततस्तत्त्यक्तं जैनैः सदा सर्वैः ॥१७॥

तथा हि—कुम्भनाम्नो नरपतेर्भीमो नाम महानसिकस्तिर्यग्मांसमलभमानो मृतशिशु-मांसं सर्वसंभारेण सम्मिश्रं कृत्वा कुम्भस्य दत्तवान्। ततः प्रभृति सोऽपि नरमांसलोलुपः सञ्जातः। तज्ज्ञात्वा प्रकृतयो राज्यस्यायमयोग्य इति तं परिहृतवत्यः। तथा च विन्ध्यमलयकुट-जवने किरातमुख्यः खदिरसारः समाधिगुप्तमुनिं दृष्ट्वा प्रणतः। तस्मै धर्मलाभ इत्युक्ते कोऽसौ धर्मः, कोऽसौ लाभ इत्युक्तपरिप्रश्ने मांसादिनिवृत्तिर्धर्मस्तत्प्राप्तिर्लाभः, ततः स्वर्गादिसुखं जायत इत्युक्तवति मुनौ तत्सर्वं परिहर्तुमहमशक्त इति वचने तदाकूतमवधार्य त्वया काकमांसं पूर्वं किं भक्षित-मुत न वेत्युक्तेऽकृतभक्षणोऽहमिति प्रतिवचने यद्येवं तदभक्षणव्रतं त्वया गृह्यतामित्युपदेशेन तत्परिगृह्याभिवन्द्य गतवतः कालान्तरे तस्यामये समुत्पन्ने सति वैद्येन काकमांसभक्षणादस्य व्याधे-

---

मनीषी जन कहते हैं ॥१६॥ मांस यह प्राणियोंका शरीर-जनित पदार्थ है, क्योंकि यह मांस प्राणियों-के अंगका विदारण किये विना नहीं प्राप्त होता है, अतः सभी जैन लोग सदाके लिए उस मांसका त्याग करते हैं ॥१७॥

देखो—राजा कुम्भके भीम नामका एक रसोइया (पाचक) था। किसी दिन उसे तिर्यंच पशुका मांस नहीं मिला, इसलिये उसने एक मरे हुए बालकका मांस पकाया और उसमें सब मसाले डालकर राजा कुम्भको खानेके लिए दिया। उसे यह बहुत स्वादिष्ट लगा और तबसे वह नर-मांस खानेका लोलुपी हो गया। यह बात जानकर वहाँकी प्रजाने 'यह राज्यके अयोग्य है।' ऐसा निश्चयकर उसे राज्यसे निकाल दिया।

इसी प्रकार विन्ध्याचलके मलयकुटज वनमें खदिरसार नामके एक भीलोंके मुखियाने समाधिगुप्त मुनिको देखकर उन्हें नमस्कार किया। मुनिराजने उसके लिए 'धर्मलाभ हो' ऐसा आशीर्वाद दिया। इस पर खदिरसारने पूछा कि धर्म क्या है और उसका लाभ क्या है? उसके ऐसा पूछने पर मुनिराजने कहा कि मांसादिका त्याग करना धर्म है, और उसकी प्राप्ति होना लाभ कहलाता है। उस धर्मके लाभसे स्वर्गादिके सुख प्राप्त होते हैं। मुनिराजके ऐसा कहने पर खदिरसार ने कहा कि मैं सर्व प्रकारके मांसका त्याग करनेके लिए असमर्थ हूँ। उसके यह कहने पर मुनिराजने उसका अभिप्राय जानकर उससे पूछा कि क्या तूने पहले कभी काकका मांस खाया है, या नहीं? इसके उत्तरमें खदिरसारने कहा कि मैंने आज तक कभी भी काकका मांस नहीं खाया है। यह सुनकर मुनिराजने कहा कि यदि ऐसा है, तो तू काक-मांसके नहीं खानेका व्रत ग्रहण कर ले। इस प्रकार मुनिराजके उपदेशसे 'काक-मांस' के न खानेका व्रत लेकर और मुनि-राजकी वन्दना करके वह चला गया। कालान्तरमें उसके किसी रोगके उत्पन्न होने पर वैद्यने कहा कि काक-मांसके खानेसे इसकी व्याधिका उपशमन होगा। तब खदिरसारने मनमें सोचा कि कण्ठगत भी प्राणोंके होने पर मुझे मांस-भक्षण नहीं करना चाहिये। मैंने काक-मांसके उपयोग न करनेका व्रत तपोधन मुनिराजके समीप ग्रहण किया है। अब (परीक्षाके समय) संकल्पका भंग करने पर सत्पुरुषता कैसे रहेगी। इसलिए मैं काक-मांसका भक्षण नहीं करूँगा, ऐसी उसने प्रतिज्ञा की। उसकी प्रतिज्ञा सुन कर और उससे उसके अभिप्रायको जानकर उसे काक-मांस खिलानेके लिए उसका बहनोई सौरपुर नगरका राजा शूरवीर जब अपने नगरसे खदिरसारके

रुपशमो भविष्यतीत्युक्ते कण्ठगतेष्वपि प्राणेषु मया न कर्त्तव्यं तत्काकमांसोपयोगविरमणव्रतं तपोधनसमीपे परिगृहीतं सङ्कल्पभङ्गे कुतः सत्पुरुषता ? ततः काकमांसाभ्यवहरणं न करिष्यामीति प्रतिज्ञाने समुपलक्षिततदीयाकूतस्तं मांसमुपयोजयितुं सौरपुराधिपतिः शूरवीरनामा तस्य मैथुनः समागच्छन् वनगहनगतवटतरोरधः काञ्चिदभिरुदतीं समीक्ष्य 'कथय केन हेतुना रोदिष्येका त्वम्' इत्यनुयुक्ता साऽवोचदहं यक्षी। तव श्यालकं बलवदामयपरिपीडितं मांसभक्षणविरमणव्रतफलेन मे भविष्यन्तमधिपतिं भवानद्य मांसभोजनेन नरकगतिभागिनं कर्तुं प्रारभत इति रोदनमनुभवामीति तयोदितः 'श्रद्धेहि' तदहं न कारयिष्यामीति व्याहृत्य गत्वा तमवलोक्य शरीरामयनिराकरणहेतुस्त्वया मांसोपयोगः क्रियतामिति प्रियश्यालकवचनश्रवणेन 'त्वं प्राणसमो बन्धुः श्रेय एव मे कथयितुमर्हसि, न हितार्थवचनमेतन्नरकगतिप्रापणहेतुत्वात्। एवं म्रियमाणोऽपि म्रिये, न तु प्रतिज्ञाहानिं करोमि' इति निगदितस्तदभिप्रायविधारणात् स तस्मै यक्षीनिरूपितवृत्तान्तमकथयत्। सोऽपि तदाकर्णनादहिंसादिश्रावकव्रतमविकलमादाय जीवितान्ते सौधर्मकल्पे देवोऽभवत्। शूरवीरश्च तस्य परलोकक्रियावसान उपगच्छन् यक्षीं निरीक्ष्य कथय स किं मे मैथुनस्तव पतिरजायतेति परिपृष्टा साऽवोचत्—स्वीकृतसमस्तव्रतसंग्रहस्यामुख्यव्यन्तरगतिपराङ्मुखस्य सौधर्मकल्पे समुत्पत्तिरासीत्। ततो मदधिपत्वप्रच्युतः प्रकृष्टदिव्यभोगमनुभवतीति हृदयगततद्वचनार्थनिश्चतमतिरहो व्रतप्रभावः समभिलषितफलप्रदानसमर्थ इति समाधिगुप्तमुनिसमीपे परिगृहीतश्रावकव्रतो बभूव। खदिरसारो

यहाँ जा रहा था, तब गहन वनके मध्य वट वृक्षके नीचे किसी रोती हुई स्त्रीको देखकर उसने उससे पूछा कि 'कहो किस कारणसे तुम यहाँ अकेली बैठी रो रही हो ?' ऐसा पूछे जानेपर वह बोली—मैं एक यक्षी हूँ। तुम्हारा साला जो किसी बलिष्ठ रोगसे पीड़ित है, वह काक-मांस भक्षण न करनेके व्रतके फलसे मर कर मेरा पति होनेवाला है। किन्तु आप आज उसे मांस भोजन करा कर नरकगतिका भागी बनानेके लिए जा रहे हैं, इस दुःखसे मैं रो रही हूँ। उस यक्षीके ऐसा कहने पर शूरवीरने कहा—तू विश्वास कर, मैं उसे मांस-भोजन नहीं कराऊँगा। ऐसा कहकर वह सालेके घर गया और उसे अत्यन्त रुग्ण देखकर बोला कि तुम्हें शरीरके रोग-निराकरण करनेके लिए मांसका उपयोग करना चाहिये। इस प्रकार प्रिय साले (बहनोई)के वचन सुनकर खदिरसारने कहा—'तुम मेरे प्राणोंके समान बन्धु हो, तुम्हें मेरे कल्याणकी ही बात कहनी चाहिये। मांस-भक्षण करनेका कहना यह मेरे हितके लिए नहीं है, क्योंकि ये तो मुझे नरकगतिमें पहुँचानेके कारण हैं। इस प्रकार यदि मुझे मरना पड़ेगा, तो मर जाऊँगा, किन्तु अपनी प्रतिज्ञाका भंग नहीं करूँगा। इस प्रकार कहनेसे उसका अभिप्राय जानकर शूरवीरने खदिरसारके लिए यक्षीके द्वारा कहा हुआ सर्व वृत्तान्त कहा। वह भी उसे सुनकर श्रावकके अहिंसादि सर्व व्रतोंको ग्रहण करके जीवनके अन्तमें मर कर सौधर्म कल्पमें देव उत्पन्न हुआ। पुनः शूरवीर उसकी परलोक सम्बन्धी सब क्रियाके पूर्ण होने पर अपने नगरको वापस जाते हुए यक्षीको देखकर पूछा—कि कहो; क्या मेरा साला तुम्हारा पति हो गया ? ऐसा पूछने पर वह बोली—कि उसने मरते समय श्रावकके समस्त व्रत समुदायको स्वीकार कर लिया था, इसलिए वह हीन व्यन्तर देवोंकी गतिसे पराङ्मुख होकर सौधर्म स्वर्गमें उत्पन्न हुआ है और इस प्रकार मेरा पति होनेसे छुटकारा पाकर स्वर्गके उत्तम दिव्य भोगोंका अनुभव कर रहा है। यक्षीका यह कथन सुनकर और हृदयगत उसके वचनका अर्थ निश्चय कर उसने मनमें कहा—अहो व्रतका प्रभाव अभिलषित फलके देनेमें समर्थ है। और फिर समाधिगुप्त मुनिराजके समीप जाकर उसने

द्विसागरोपमकालो दिव्यभोगमनुभूय समनुष्ठितभोगनिदानः स्वजीवितान्ते ततः प्रच्युतः प्रत्यन्तपुरे सुमित्रनामा मित्रराज्ञः पुत्रोऽभूत् । निर्दर्शनतपः कृत्वा व्यन्तर आसीत् । ततः कुणिकनरपतेः श्रीमतीदेव्याश्च श्रेणिकोऽभूदिति । एवं दृष्टादृष्टफलस्याप्यहितं मांसम् ।

मद्यपस्य हिताहितविवेकता वाच्यावाच्यता गम्यागम्यता कार्याकार्यं च नास्ति । मद्यमुपसेविनो जनस्य स्मृतिं विनाशयति । विनष्टस्मृतिकः किं न करोति, किं न भाषते, कमुन्मार्गं न गच्छति ? सर्वदोषाणामास्पदं तदेव तस्याख्यानम् ।

तथाहि—कश्चिद् ब्राह्मणो गुणी गङ्गास्नानार्थं गच्छन्नटवीप्रदेशे प्रहसनशीलेन मदिरामदोन्मत्तेन कान्तासहितशबरेण स निरुध्य मांसभक्षण-सुरापान-शबरीसंसर्गेषु भवताऽन्यतममङ्गीकरणीयमन्यथा भवन्तं व्यापादयामीत्युक्तः किंकर्तव्यतामूढः प्राण्यङ्गत्वान्मांसभक्षणे पापोपलेपो भवति, शबरीसंसर्गे जातिनाशः संजायते, पिष्टोदकगुड़धातक्यादिसमुत्पन्नं निरवद्यं मद्यमिदं पिबामीति पीत्वा विनष्टस्मृतिरगम्यगमनमभक्ष्यभक्षणं च कृतवान् । तथा हि—मद्यपायिनामपराधेन द्वीपायनमुनिकोपाद् भस्मीभूतायां द्वारवत्यां विनष्टा यादवा इति ।

श्रावकके सर्वव्रत ग्रहण कर लिए । खदिरसार दो सागरोपम काल तक दिव्य भोगोंका अनुभव कर और आगामी भवमें भी भोगोंके पानेका निदान कर अपने जीवनके अन्तमें वहाँसे च्युत हुआ और प्रत्यन्तपुर नामक नगरमें मित्र राजाके सुमित्र नामका पुत्र हुआ । इस भवमें वह सम्यक्त्व-रहित तप करके व्यन्तरदेव हुआ । पुनः वहाँसे च्युत होकर कुणिक नरपति और श्रीमती देवीके श्रेणिक नामका राजा हुआ । इस प्रकार उक्त कथानकोंसे यह स्पष्ट है कि मांस-भक्षणका प्रत्यक्ष फल भी अहितकर है और परोक्ष फल भी अहितकर है । अतः मांस-भक्षणका त्याग करना चाहिये ।

मदिरा-पान करनेवालेके हित-अहितका कुछ विचार नहीं रहता, क्या कहना चाहिये, क्या नहीं ? आदि किसी प्रकारका विवेक नहीं रहता है । मद्य-सेवी मनुष्यकी स्मरणशक्ति नष्ट हो जाती है और जिसकी स्मरणशक्ति नष्ट हो जाती है, वह कौन-सा पाप कार्य नहीं करता ? कौन-से दुर्वचन नहीं बोलता ? और किस कुमार्ग पर नहीं जाता है ? कहनेका तात्पर्य यह है कि वह सभी दोषोंका स्थान बन जाता है । इसका एक कथानक इस प्रकार है—

कोई गुणी ब्राह्मण गंगा-स्नानके लिए जा रहा था । किसी अटवी-प्रदेशमें मदिराके मदसे उन्मत्त, किसी हँसी-मजाक करनेवाले स्त्री-सहित भीलने उसे रोक कर कहा कि मांस-भक्षण, मद्य-पान और हमारी भीलनीके साथ संसर्ग, इन तीनोंमेंसे कोई एक कार्य आप अंगीकार करें, अन्यथा मैं आपको मार डालूँगा । ऐसा कहने पर वह ब्राह्मण किंकर्त्तव्य-विमूढ हो गया और विचारने लगा कि प्राणीका अंग होनेसे मांस-भक्षण करने पर तो पाप लगेगा, भीलनीके साथ संसर्ग करने पर मेरी जातिका नाश हो जायगा । अतएव अन्नकी पीठी जल गुड़ धातकीके फूल आदिसे उत्पन्न हुआ यह मद्य निर्दोष है, अतः इस मद्यको मैं पीता हूँ । इस प्रकार विचार कर उसने मद्य पीना स्वीकार किया और पी करके स्मरण-शक्ति नष्ट हो जानेसे उसने अगम्यगमन भी किया अर्थात् भीलनीके साथ संसर्ग भी किया और मांस-भक्षण भी किया । और भी देखो—मद्य पीनेवाले यादवोंके अपराधसे द्वीपायन मुनिके कोप द्वारा द्वारिकाके भस्म होने पर सब यादव भी नष्ट हो गये ।

मत्तो हिनस्ति सर्वं मिथ्या प्रलपति विवेकविकलतया ।
मातरमपि कामयते सावद्यं मद्यमत एव ॥१८॥

सामायिकः सन्ध्यात्रयेऽपि भुवनत्रयस्वामिनं वन्दमानो वक्ष्यमाणव्युत्सर्गतपसि कथितक्रमेण

द्विनिषण्णं यथाजातं द्वादशावर्तमित्यपि ।
चतुर्नति त्रिशुद्धं च कृतिकर्म प्रयोजयेत् ॥१९॥

अस्य सामायिकस्यानन्तरोक्तशीलसप्तकान्तर्गतं सामायिकं व्रतं व्रतिकस्य शीलं भवतीति ।

प्रोषधोपवासः मासे मासे चतुर्ष्वपि पर्व दिनेषु स्वकीयां शक्तिमनिगुह्य प्रोषधनियमं मन्यमानो भवतीति व्रतिकस्य यदुक्तं शीलं प्रोषधोपवासस्तदस्य व्रतमिति ।

सचित्तव्रतो दयामूर्त्तिर्मूलफलशाकशाखाकरीरकन्दपुष्पवीजादीनि न भक्षयत्यस्योपभोगपरिभोग परिमाणशीलव्रतातिचारो व्रतं भवतीति ।

रात्रिभक्तव्रता रात्रौ स्त्रीणां भजनं रात्रिभक्तं तद् व्रतयति सेवत इति रात्रिव्रतातिचारा रात्रिभक्तव्रतः दिवाब्रह्मचारीत्यर्थः ।

मद्यसे उन्मत्त पुरुष सव जीवोंको मारता है, असत्य प्रलाप करता है और विवेक शून्य हो जानेसे अपनी माताके साथ भी काम सेवन करना चाहता है । अतएव मद्य सेवन सर्व पाप कार्योंसे भरा हुआ है ॥१८॥

(इस प्रकार व्रत प्रतिमाका वर्णन किया ।)

अव सामायिक प्रतिमाका वर्णन करते हैं—प्रातः मध्याह्न और सायंकाल, इन तीनों ही सन्ध्याओंमें तीन भुवनके स्वामी जिनेन्द्रदेवकी वन्दना करते हुए आगे कहे जानेवाले व्युत्सर्ग तपमें कथितक्रमसे सामायिक करना चाहिए ।

वह क्रम इस प्रकार है—सामायिक खड़े होकर या वैठकर इन दो आसनसे करे । उस समय यथाजात रूप रहे, वारह आवर्त्त करे और चार नमस्कार करे । इस प्रकार सामायिकका कृतिककर्म मन वचन कायकी शुद्धि पूर्वक करे ॥१९॥

सात शीलोंके अन्तर्गत सामायिक व्रत प्रतिमाधारीके शील (अभ्यास) रूप है और वही तीसरी सामायिक प्रतिमाधारीके व्रत रूपमें है ।

प्रत्येक मासमें जो चार पर्व होते हैं, उन चारों ही पर्व दिनोंमें अपनी शक्तिको नहीं छिपाकर प्रोषधोपवास करनेका नियम करना चौथी प्रोषधप्रतिमा है । व्रत प्रतिमाधारीके यह प्रोषधोपवास शीलरूपमें है और इस प्रतिमावालेके वह व्रतरूपमें है ।

पाँचवी सचित्तप्रतिमाका धारी दयामूर्त्ति होता है, अतः वह मूल, फल, शाक, शाखा, कैर, कन्द, पुष्प और वीजादिक सचित्त वस्तुओंको नहीं खाता है । उपभोगपरिभोगपरिमाण शीलव्रतके जो सचित्ताहार आदि अतीचार हैं, उनका त्याग ही इस प्रतिमावालेके व्रतरूप हो जाता है ।

छठीं प्रतिमाका नाम रात्रिभक्तिव्रत है । रात्रिमें ही स्त्रियोंके सेवन करनेका व्रत लेना और दिनमें ब्रह्मचारी रहनेका नियम करना रात्रि भक्तव्रत प्रतिमा है । इस प्रतिमाका धारक रात्रिभोजनव्रतके अतीचारोंका त्यागी होता है ।

ब्रह्मचारी शुक्रशोणितबीजं रसरुधिरमांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्रसप्तधातुमयमनेकस्रोतोविलं मूत्रपुरीषभाजनं कृमिकुलाकुलं विविधव्याधिविधुरमपायप्रायं कृमिभस्मविष्टापर्यवसानमङ्गमित्यनङ्गाद् विरतो भवति।

आरम्भविनिवृत्तोऽसिमषिकृषिवाणिज्यप्रमुखादारम्भात् प्राणातिपातहेतोर्विरतो भवति।

परिग्रहविनिवृत्तः क्रोधादिकषायाणामार्त्तरौद्रयोर्हिंसादिपञ्चपापानां भयस्य च जन्मभूमिः दूरोत्सारितधर्म्यशुक्लः परिग्रह इति मत्वा दशविधबाह्यपरिग्रहाद्विनिवृत्तः स्वच्छः सन्तोषपरो भवति।

अनुमतिविनिवृत्त आहारादीनामारम्भाणामनुमननाद्विनिवृत्तो भवति।

उद्दिष्टविनिवृत्तः स्वोद्दिष्टपिण्डोपधिशयनवसनादेर्विरतः सन्नेकशाटकधरो भिक्षाशनः पाणिपात्रपुटेनोपविश्य भोजी रात्रिप्रतिमादितपःसमुद्यत आतापनादियोगरहितो भवति।

अणुव्रति-महाव्रतिनौ समितियुक्तौ संयमिनौ भवतः। समितिं विना विरतौ। तथा चोक्तं वर्गणाखण्डस्य बन्धनाधिकारे—

सातवीं ब्रह्मचर्य प्रतिमा है। इस प्रतिमाका धारक ब्रह्मचारी पुरुष इस शरीरको माता-पिताके रज-वीर्यसे उत्पन्न हुआ, रस, रक्त, मांस, मेदा, हड्डी, मज्जा और वीर्य इन सात धातुओंसे भरा हुआ अनेक छिद्ररूप बिलों वाला, मल-मूत्रका भाजन, कृमि-कुलसे व्याप्त, विविध रोगोंसे ग्रस्त, विनश्वर अपायमय और अन्तमें कीड़े पड़कर सड़ने वाला अथवा जलाया जानेपर भस्म-भावको प्राप्त होनेवाला अथवा किसीके द्वारा खाये जानेपर विष्टारूप परिणत होनेवाला देखकर काम सेवनसे विरत होता है।

आठवीं आरम्भ त्यागप्रतिमा है। इस प्रतिमा वाला जीवघातके कारणभूत असि, मषी, कृषि, वाणिज्य आदि आरम्भोंसे विरत हो जाता है।

नवीं परिग्रहत्याग प्रतिमा है। इस प्रतिमाका धारक श्रावक परिग्रहको क्रोधादि कषायोंके उत्पन्न करने की, आर्त्त-रौद्रध्यानकी हिंसादि पञ्च पापोंकी और जन्मभूमि समझ कर तथा उसे धर्म-शुक्लध्यानसे दूर करनेवाला मानकर बाहरी दस प्रकारके परिग्रहसे निवृत्त होता है और हृदयमें स्वच्छ सन्तोषको धारण करता है।

दसवीं अनुमतित्याग प्रतिमा है। इस प्रतिमाका धारक श्रावक आहार बनाने आदि कार्योंके आरम्भोंकी अनुमोदनासे भी निवृत्त हो जाता है।

ग्यारहवीं उद्दिष्टत्याग प्रतिमा है। इस प्रतिमाका धारक श्रावक अपने निमित्त बने हुए भोजन, उपकरण, शय्या और वस्त्र आदिसे भी विरत होकर एकमात्र शाटक (धोती या चादर) को धारण करता है, भिक्षावृत्तिसे पाणिपुट-द्वारा बैठकर भोजन करता है, रात्रिप्रतिमा आदि तपोंके करनेमें उद्यत रहता है और दिनमें आतापन योग आदिसे रहित रहता है।

समिति युक्त अणुव्रती और महाव्रती पुरुष क्रमशः देशसंयमी और सकलसंयमी कहलाते हैं और समितिके बिना वे देशविरत और सर्वविरत कहलाते हैं। जैसा कि षट्खण्डागमके वर्गणा-खण्डके बन्धन अधिकारमें कहा है—

"संजम-विरईणं को भेदो ? समसिदिमहव्वयाणुव्वयाइं संजमो। समिदीहि विणा महव्व-याणुव्वयाइं विरदी" इति।

आद्यास्तु षट्जघन्याः स्युर्मध्यमास्तदनु त्रयः।
शेषौ द्वावुत्तमावुक्तौ जैनेषु जिनशासने ॥२०॥

असिमषिकृषिवाणिज्यादिभिर्गृहस्थानां हिंसासंभवेऽपि पक्षचर्यासाधकत्वैर्हिंसाऽभावः क्रियते। तत्राहिंसापरिणामत्वं पक्षः। धर्मार्थं देवतार्थं मन्त्रसिद्धयर्थमौषधार्थमाहारार्थं स्वभोगार्थं च गृहमेधिनो हिंसां न कुर्वन्ति। हिंसासंभवे प्रायश्चित्तविधिना विशुद्धः सन् परिग्रहपरित्यागकरणे सति स्वगृहं धर्मं च वंश्याय समर्प्य यावद् गृहं परित्यजति तावदस्य चर्या भवति। सकलगुण-सम्पूर्णस्य शरीरकम्पनोच्छ्वासनोन्मीलनविधिं परिहरमाणस्य लोकाग्रमनसः शरीरपरित्यागः साधकत्वम्। एवं पक्षादिभिस्त्रिभिर्हिंसाद्युपचितं पापमपगतं भवति।

जैनागमे चत्वार आश्रमाः। उक्तं चोपासकाध्ययने—

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थश्च भिक्षुकः।
इत्याश्रमास्तु जैनानां सप्तमाङ्गाद् विनिःसृताः ॥२१॥

तत्र ब्रह्मचारिणः पञ्चविधाः—उपनयावलम्बादीक्षागूढनैष्ठिकभेदेन। तत्रोपनयब्रह्मचारिणो गणधरसूत्रधारिणः समभ्यस्तागमाः गृहधर्मानुष्ठायिनो भवन्ति। अवलम्बब्रह्मचारिणः क्षुल्लक-

---

"शंका—संयम और विरतमें क्या भेद है ? समाधान-समिति-सहित महाव्रत और अणुव्रत संयम कहलाते हैं और समितियोंके विना वे महाव्रत और अणुव्रत विरति या व्रत कहे जाते हैं।"

ऊपर कही गई ग्यारह प्रतिमाओंसे जैनियोंमें आदिके छह प्रतिमाधारी जघन्य श्रावक, उसके पश्चात् तीन प्रतिमाधारी मध्यम श्रावक और अन्तिम शेष दोनों प्रतिमाधारी उत्तम श्रावक जिनशासनमें कहे गये हैं ॥२०॥

असि मषि कृषि वाणिज्य आदिके द्वारा गृहस्थोंके हिंसा संभव होनेपर भी पक्ष चर्या और साधकपनेके द्वारा हिंसाका अभाव कर दिया जाता है। सदा अहिंसारूप परिणाम रखनेको पक्ष कहते हैं। गृहस्थ श्रावक धर्मके लिए, देवताके लिए, मंत्र-सिद्धिके लिए, औषधिके लिए, आहारके लिए और अपने भोगके लिए हिंसा नहीं करते हैं। कदाचित् हिंसा संभव होनेपर प्रायश्चित्तविधि-से विशुद्ध होता हुआ परिग्रहका परित्याग करनेके समय अपने घरको और धर्मको अपने वंशमें उत्पन्न हुए पुत्र आदिको समर्पण कर जब तक घरका परित्याग करता है, तब तक उसके व्रतों-का परिपालन करना चर्या कही जाती है। इस प्रकार जीवनपर्यन्त व्रत पालन कर, अन्त समयमें सकलगुणोंसे परिपूर्ण होकर, वह जब शरीर-कम्पन, ऊर्ध्वश्वास संचलन और नेत्रोन्मीलन विधि-का परिहार कर लोकाग्रनिवासी सिद्धोंमें मनको लगाते हुए शरीरका परित्याग करता है, तब उसके साधकपना कहलाता है। इस प्रकार पक्षादि इन तीन धर्मकार्योंके द्वारा हिंसादिसे संचित उसका पाप दूर हो जाता है।

जैन आगममें चार आश्रम वर्णित हैं। जैसा कि उपासकाध्ययनमें कहा है—ब्रह्मचारी गृहस्थ वानप्रस्थ और भिक्षुक। जैनियोंके ये चार आश्रम सातवें उपासकाध्ययन अंगसे निकले हैं ॥२१॥

इनमेंसे ब्रह्मचारी पाँच प्रकार के हैं—उपनय, अवलम्ब, अदीक्ष, गूढ और नैष्ठिक। जो गणधर सूत्र (यज्ञोपवीत) को धारण कर और समस्त आगमोंका अभ्यास कर गृहस्थ धर्मका

रूपेणाऽऽगममभ्यस्य परिगृहीतगृहावासा भवन्ति। अदीक्षाब्रह्मचारिणः वेषमन्तरेणाभ्यस्तागमा गृहधर्मनिरता भवन्ति। गूढ़ब्रह्मचारिणः कुमारश्रमणाः सन्तः स्वीकृतागमाभ्यासा बन्धुभिर्दुःसह-परीषहैरात्मना नृपतिभिर्वा निरस्तपरमेश्वररूपा गृहवासरता भवन्ति। नैष्ठिकब्रह्मचारिणः समाधिगतशिखालक्षितशिरोलिङ्गाः गणधरसूत्रोपलक्षितोरोलिङ्गाः शुक्लरक्तवसनखण्डकौपीन-लक्षितकटीलिङ्गाः स्नातका भिक्षावृत्तयो देवतार्चनपरा भवन्ति।

गृहस्थस्येज्या वार्ता दत्तिः स्वाध्यायः संयमः तप इत्यार्यषट् कर्माणि भवन्ति। तत्रार्हत्पूजे-ज्या, सा च नित्यमहश्चतुर्मुखं कल्पवृक्षोऽष्टाह्निक ऐन्द्रध्वज इति। तत्र नित्यमहो नित्यं यथा-शक्ति जिनगृहेभ्यो निजगृहाद् गन्धपुष्पाक्षतादिनिवेदनं चैत्यचैत्यालयं कृत्वा ग्रामक्षेत्रादीनां शासनदानं मुनिजनपूजनं च भवति। चतुर्मुखं मुकुटबद्धैः क्रियमाणपूजा, सैव महामहः सर्वतोभद्र इति। कल्पवृक्षोऽर्थिनः प्रार्थितार्थैः सन्तर्प्य चक्रवर्त्तिभिः क्रियमाणो महः। अष्टाह्निकं प्रतीतम्। ऐन्द्रध्वज इन्द्रादिभिः क्रियमाणः। बलि स्नपनं सन्ध्यात्रयेऽपि जगत्त्रयस्वामिनः पूजाभिषेककरणम्। पुनरप्येषां विकल्पाः अन्येऽपि पूजाविशेषाः सन्तीति।

अनुष्ठान करते हैं, वे उपनय-ब्रह्मचारी हैं। जो क्षुल्लकरूप धारण करके आगमोंका अभ्यास कर गृहवासको स्वीकार करते हैं, वे अवलम्बब्रह्मचारी हैं। जो ब्रह्मचारीके वेषको नहीं धारण करके और आगमोंका अभ्यास करके गृहस्थधर्ममें निरत होते हैं, वे अदीक्षाब्रह्मचारी हैं। जो कुमारा-वस्थामें ही श्रमण (मुनि) वेष स्वीकार कर और समस्त आगमोंका अभ्यास कर, बन्धुजनोंके द्वारा आग्रह किये जाने पर, दुःसह परीषहोंके द्वारा पीडित होने पर, अपने आप अथवा राजाओंके द्वारा कहे जानेपर परमेश्वररूप दिगम्बर वेष छोड़ कर गृहवासमें रत होते हैं, वे गूढब्रह्मचारी हैं। जो समाधिगत शिखा (चोटी) रूप शिरोलिंगको धारण करते हैं, गणधरसूत्ररूप उरोलिंगको धारण करते हैं, भिक्षावृत्तिसे आहार करते हैं और देवपूजामें सदा तत्पर रहते हैं ऐसे स्नातक नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहलाते हैं।

इज्या (पूजा), वार्ता, दत्ति, स्वाध्याय, संयम और तप ये गृहस्थोंके छह आर्य कर्म करने योग्य होते हैं। अरहंतदेवकी पूजा करना इज्या है। वह पाँच प्रकार की है—नित्यमह, चतुर्मुख-मह, कल्पवृक्षमह, अष्टाह्निकमह और इन्द्रध्वजमह। नित्य अपनी शक्तिके अनुसार अपने घरसे गन्ध, पुष्प, अक्षत आदि ले जाकर जिनभवनोंके लिए चढ़ाना, जिनदेवकी पूजन करना, प्रतिमा और चैत्यालय बनवा करके खेत आदिका राज्यशासनके नियमानुसार दान देना और मुनिजनोंका पूजन करना नित्यमह है। मुकुटबद्ध राजाओंके द्वारा जो पूजा की जाती है, वह चतुर्मुखमह है। उसे ही महामह और सर्वतोभद्रमह भी कहते हैं। याचकजनोंकी याचनाको द्रव्य द्वारा सन्तुष्ट कर चक्रवर्ती सम्राटोंके द्वारा की जानेवाली पूजा कल्पवृक्षमह कहलाती है। अष्टाह्निक पर्वमें की जानेवाली पूजा अष्टाह्निकमह है, जो सुप्रसिद्ध है। इन्द्र आदिके द्वारा की जानेवाली पूजा ऐन्द्रध्वज कहलाती है। इनके अतिरिक्त नैवेद्य समर्पण करना, अभिषेक करना, तीनों सन्ध्याओंमें तीन जगत्के स्वामी जिनेन्द्रदेवकी पूजा करना, अभिषेक करना आदि भी पूजन के ही अन्तर्गत हैं। उक्त पाँचों प्रकारकी पूजाओंके अन्य भी भेद हैं जो सब पूजा विशेष ही हैं।

वार्ताऽसिमषिकृषिवाणिज्यादिशिल्पकर्मभिर्विशुद्धवृत्त्याऽर्थोपार्जनमिति। दत्तिः दयापात्र-समसकलभेदाच्चतुर्विधा। तत्र दयादत्तिरनुकम्पयाऽनुग्राह्येभ्यः प्राणिभ्यस्त्रिशुद्धिभिरभयदानम्। पात्रदत्तिर्महातपोधनेभ्यः प्रतिग्रहार्चनादिपूर्वकं निरवद्याहारदानं ज्ञानसंयमोपकरणादिदानं च। समदत्तिः स्वसमक्रियाय मित्राय निस्तारकोत्तमाय कन्याभूमिसुवर्णहस्त्यश्वरथरत्नादिदानम्। स्व-समानाभावे मध्यमपात्रस्यापि दानम्। सकलदत्तिरात्मीयस्वसन्ततिस्थापनार्थं पुत्राय गोत्रजाय वा धर्मं धनं समर्प्य प्रदानमन्वयदत्तिश्च सैव। स्वाध्यायस्तत्त्वज्ञानस्याध्ययनमध्यापनं स्मरणं च। संयमः पञ्चाणुव्रतप्रवर्तनम्। तपोऽनशनादिद्वादशविधानुष्ठानम्।

इत्यार्यषट्कर्मनिरता गृहस्था द्विविधा भवन्ति—जातिक्षत्रियास्तीर्थक्षत्रियाश्चेति। तत्र जातिः क्षत्रियब्राह्मणवैश्यशूद्रभेदाच्चतुर्विधाः। तीर्थक्षत्रियाः स्वजीवनविकल्पादनेकधा भिद्यन्ते।

वानप्रस्था अपरिगृहीतजिनरूपा वस्त्रखण्डधारिणो निरतिशयतपःसमुद्यता भवन्ति।

भिक्षवो जिनरूपधारिणस्ते बहुधा भवन्ति—अनगारा यतयो मुनय ऋषयश्चेति। तत्रान-गाराः सामान्यसाधव उच्यन्ते। यतय उपशम-क्षपकश्रेण्यारूढा भण्यन्ते। मुनयोऽवधिमनःपर्यय-

---

असि मषि कृषि वाणिज्य आदिसे और शिल्प कार्योंके द्वारा विशुद्धवृत्तिसे धनोपार्जन करनेको वार्ता कहते हैं। दत्ति दानको कहते हैं। वह दया पात्र सम और सकलके भेदसे चार प्रकार की है। अनुकम्पासे अनुग्रह करनेके योग्य प्राणियोंके लिए मन वचन कायकी शुद्धिपूर्वक अभयदान देना दयादत्ति है। महातपस्वी साधुओंको प्रतिग्रह-पूजादिपूर्वक निर्दोष आहार देना और ज्ञान-संयमके उपकरण आदिका देना पात्रदत्ति है। अपने ही समान क्रियाओंका आचरण करनेवाले मित्रके लिए उत्तम निस्तारक गृहस्थाचार्यके लिए कन्या भूमि सुवर्ण हस्ती अश्व रथ और रत्न आदिका दान देना समदत्ति है। अपने समान व्यक्तिके अभावमें मध्यम पात्र श्रावकके लिए भी उक्त वस्तुओंका देना भी समदत्ति है। अपनी सन्तान-परम्परा चलानेके लिए पुत्रको या गोत्रज पुरुषको अपने द्वारा किये जानेवाले धर्मकार्य और धनको समर्पण करके सर्वस्व प्रदान करना सकलदत्ति है। इसे ही अन्वयदत्ति कहते हैं। तत्त्वज्ञानके पठन, पाठन और स्मरण करने-को स्वाध्याय कहते हैं। पाँच अणुव्रतोंका पालन करना संयम है। और अनशनादिक बारह प्रकारके तपोंका आचरण करना तप कहलाता है।

इन उपर्युक्त छह प्रकारके आर्यकर्मोंमें निरत गृहस्थ दो प्रकारके होते हैं—जातिक्षत्रिय और तीर्थक्षत्रिय। क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य और शूद्रके भेदसे जातिक्षत्रिय चार प्रकार के हैं। तीर्थ-क्षत्रिय अपनी आजीविकाके भेदोंसे अनेक प्रकारके होते हैं।

जिन्होंने जिनरूप दिगम्बर वेष ग्रहण नहीं किया है ऐसे वस्त्रखण्डके धारक और निरति-शय तप करनेमें सदा उद्यत पुरुष वानप्रस्थ कहलाते हैं।

जिनरूपको धारण करनेवाले भिक्षु कहलाते हैं। वे अनेक प्रकारके होते हैं। यथा—अनगार यति मुनि और ऋषि। सामान्य साधुओंको अनगार कहते हैं। उपशम श्रेणी और क्षपक-श्रेणी पर आरूढ और कर्मोंकी उपशमना एवं क्षपणा करनेमें उद्यत साधु यति कहे जाते हैं।

केवलज्ञानिनश्च कथ्यन्ते। ऋषय ऋद्धिप्राप्तास्ते चतुर्विधाः-राजब्रह्मदेवपरमभेदात्। तत्र राजर्षयो विक्रियाऽक्षीणर्द्धिप्राप्ता भवन्ति। ब्रह्मर्षयो बुद्ध्यौषधिऋद्धियुक्ताः कीर्त्यन्ते। देवर्षयो गगनगमनर्द्धिसंयुक्ताः कथ्यन्ते। परमर्षयः केवलज्ञानिनो निगद्यन्ते। अपि च—

देशप्रत्यक्षवित्केवलभृदिह मुनिः स्यादृषिः प्रोद्गतर्द्धि-
रारूढश्रेणियुग्मोऽजनि यतिरनगारोऽपरः साधुरुक्तः।
राजा ब्रह्मा च देवः परम इति ऋषिविक्रियाऽक्षीणशक्ति-
प्राप्तो बुद्ध्यौषधीशो वियदयनपटुर्विश्ववेदी क्रमेण ॥२२॥

उक्तैरुपासकैर्मारणान्तिकी सल्लेखना प्रीत्या सेव्या। स्वपरिणामोपात्तस्यायुष इन्द्रियाणां बलानामुच्छ्वासनिःश्वासस्य च कदलीघात-स्वपाकच्युतिकारणवशात्संक्षयो मरणम्। तच्च द्विविधम्—नित्यमरणं तद्भवमरणं चेति। तत्र नित्यमरणं समये समये स्वायुरादीनां निवृत्तिः। तद्भवमरणं भवान्तरप्राप्तिरनन्तरोपश्लिष्टपूर्वभवविगमनम्। अत्र पुनस्तद्भवमरणं ग्राह्यम्। मरणान्तः प्रयोजनमस्या इति मारणान्तिकी। बाह्यस्य कायस्याभ्यन्तराणां कषायाणां तत्कारणहापनया क्रमेण सम्यग्लेखना सल्लेखना। उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि निःप्रतिक्रियायां धर्मार्थं तनुत्यजनं

अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी और केवलज्ञानी मुनि कहे जाते हैं। ऋद्धि-प्राप्त साधु ऋषि कहलाते हैं। वे चार प्रकारके होते हैं—राजर्षि, ब्रह्मर्षि, देवर्षि और परमर्षि। विक्रिया और अक्षीण ऋद्धिके धारक साधु राजर्षि कहलाते हैं। वुद्धि और औषधिऋद्धिसे युक्त साधु ब्रह्मर्षि कहलाते हैं। आकाशगमनऋद्धिसे संयुक्त साधु देवर्षि कहे जाते हैं और केवलज्ञानी परमर्षि कहे जाते हैं। जैसा कि कहा है—

देशप्रत्यक्षके धारक और केवलज्ञान-धारक मुनि कहे जाते हैं। जिन्हें ऋद्धि प्रकट हुई है, वे ऋषि कहे गये हैं। दोनों श्रेणियों पर आरूढ साधु यति हैं और शेष सर्व साधु अनगार कहे गये हैं। ऋद्धि धारक साधु भी चार प्रकार के हैं—विक्रिया और अक्षीणशक्तिको प्राप्त साधु राजर्षि हैं, वुद्धि और औषधिऋद्धिके स्वामी ब्रह्मर्षि हैं। आकाशमें गमन-कुशल साधु देवर्षि हैं और विश्ववेत्ता सर्वज्ञ परमर्षि जानना चाहिये ॥२२॥

उपर्युक्त सभी प्रकारके उपासकों (श्रावकों)को मारणान्तिक सल्लेखनाका प्रीतिपूर्वक सेवन करना चाहिए। कदलीघातसे, अथवा अपना विपाककाल पूर्ण हो जानेके कारणवशसे अपने परिणामोंके द्वारा पूर्व भवमें उपार्जित आयुकर्मका, स्पर्शन आदि इन्द्रियोंका, मनोवल, वचन वल, कायवलका और श्वासोच्छ्वासका क्षय होना मरण है। वह दो प्रकारका है—नित्यमरण और तद्भवमरण। प्रतिसमय अपने आयुकर्मके निषेकोंकी निर्वृत्ति रूप निर्जरा होनेको नित्यमरण कहते हैं। नवीन भवकी प्राप्ति और उसके अनन्तर पूर्ववर्ती भवके विनाशको तद्भवमरण कहते हैं। यहाँ पर तद्भवमरण का ग्रहण करना चाहिए। मरणका अन्तकाल जिसका प्रयोजन है ऐसी सल्लेखनाको मारणान्तिकी कहते हैं। वाहरी शरीरका और भीतरी कषायोंका क्रमसे उनके कारणोंको घटाते हुए सम्यक् प्रकारसे क्षीण करना सल्लेखना कहलाती है। निःप्रतीकार उपसर्ग आने पर, दुर्भिक्ष पड़ने पर और वुढ़ापा आ जाने पर धर्मकी रक्षाके लिए शरीरका त्याग करना सल्लेखना है। इसलिए आवश्यकादि करते समय नित्य प्रार्थना किये जानेवाले समाधिमरणके अवसर पर यथाशक्ति प्रयत्न करके और उस समय शीत-उष्ण आदि परीषहोंके प्राप्त होने पर

सल्लेखना। ततो नित्यप्रार्थितसमाधिमरणे यथाशक्ति प्रयत्नं कृत्वा शीतोष्णाद्युपश्लेषे सति तपः-स्थो यथाशक्ति प्रयत्नं कृत्वा शीतोष्णाद्युपश्लेषे सति तपःस्थो यथा शीतोष्णादौ हर्षविपादं न करोति, तथा सल्लेखनां कुर्वाणः शीतोष्णादौ हर्षविषादमकृत्वा स्नेहं सङ्गवैरादिकं परिग्रहं च परित्यज्य विशुद्धचित्तः स्वजनपरिजने क्षन्तव्यं निःशल्यं च प्रियवचनैर्विधाय विगतमानकषायः कृतकारितानुमतमेनः सर्वमालोच्य गुरौ महाव्रतमामरणमारोप्यारतिदैन्यविपादभयकालुष्यादिक-मपहाय सत्त्वोत्साहमुदीर्य श्रुतामृतेन मनः प्रसाद्य क्रमेणाहारं परिहाय ततः स्निग्धपानं तदनन्तरं खरपानं तदनु चोपवासं कृत्वा गुरोः पादमूले पञ्चनमस्कारमुच्चारयन् पञ्चपरमेष्ठिनां गुणान् स्मरन् सर्वयत्नेन तनुं त्यजेत्। इयं सल्लेखना संयतस्यापि।

अथ सल्लेखनाया मरणविशेषोत्पादनसमर्थाया असंक्लिष्टचित्तेनारभ्यायाः, पञ्चातीचारा भवन्ति—जीविताशंसा मरणाशंसा मित्रानुरागः सुखानुबन्धः निदानं चेति। तत्र शरीरमिदमवश्यं जलबुद्बुदवदनित्यमस्यादस्थानं कथं स्यादित्यादरो जीविताशंसा। आशंसाऽऽकांक्षणमभिलाष इत्यनर्थान्तरम् रोगोपद्रवाकुलतया प्राप्तजीवनसंक्लेशस्य मरणं प्रति चित्तप्रणिधानं मरणाशंसा। व्यसने सहायत्वमुत्सवे संभ्रम इत्येवमादि सुकृतं बाल्ये सहपांसुक्रीडनमित्येवमादीनामनुस्मरणं

जैसे तपश्चर्यामें स्थित साधु शीत-उष्णादि की बाधा होने पर हर्ष-विषाद नहीं करता है, उसी प्रकार सल्लेखनाको करता हुआ श्रावक भी हर्ष-विषाद न करके, सर्वपरिजनोंसे स्नेह, शत्रुओंसे वैर, साथियोंकी संगति और परिग्रहका परित्याग कर विशुद्ध चित्त होकर स्वजन और परिजनों-को निःशल्य होकर प्रिय वचनोंसे क्षमा करे और क्षमा माँगे। पुनः मानकषायसे रहित होकर कृत कारित और अनुमोदनासे अपने सर्व पापोंकी गुरुके समीप आलोचना करके मरणपर्यन्तके लिए महाव्रतोंको धारण करके अरति, दीनता, विषाद, भय और कालुष्य आदिको दूर कर बल और उत्साहको प्रकट कर श्रुतवचनामृतसे मनको प्रसन्न करके क्रमसे आहारको घटा-कर स्निग्ध पान प्रारंभ करे। तदनन्तर स्निग्ध पानको घटाकर खरपान प्रारंभ करे और तत्पश्चात् खरपानको भी घटाकर और यथाशक्ति कुछ दिन तक उपवास करके गुरुके पादमूलमें रहते हुए पंच नमस्कार मंत्रका उच्चारण करते और पंच परमेष्ठियोंके गुणोंका स्मरण करते हुए पूर्ण सावधानीके साथ शरीरका त्याग करे। इस सल्लेखनाका धारण साधुके भी होता है।

मरण विशेषके उत्पादनमें समर्थ और संक्लेश-रहित चित्तसे आरंभ की गई इस सल्लेखना-के पाँच अतीचार इस प्रकार हैं—जीविताशंसा, मरणाशंसा, मित्रानुराग, सुखानुबन्ध और निदान। यह शरीर अवश्य ही हेय है, जलके बबूलेके समान अनित्य है, यह जानते हुए भी इसका अवस्थान कैसे हो, इस प्रकार जीनेके प्रति आदर रखना जीविताशंसा है। आशंसा, आकांक्षा और अभिलाष, ये सब एकार्थक नाम हैं। रोग या उपद्रवके आ जानेसे आकुलित होकर जीवनमें संक्लेश प्राप्त होने पर मरणके प्रति चित्तको लगाना मरणाशंसा है। जो व्यसन (कष्ट) के समय सहायक और उत्सवके समय हर्ष मनानेवाले, तथा अन्य अनेक प्रकार सुकृतके करनेवाले, बचपनमें धूलि पर साथ खेलनेवाले इत्यादि नाना प्रकारके मित्रोंका स्मरण करना मित्रानुराग है ? मैंने अपने जीवनमें ऐसे भोजन किये, ऐसी शय्याओं पर शयन किया, ऐसे खेल खेले, इत्यादि

मित्रानुरागः। एवं मया भुक्तं शयितं क्रीडितमित्येवादि प्रीतिविशेषं प्रति स्मृतिसमन्वाहारः सुखानुबन्धः। विषयसुखोत्कर्षाभिलाषभोगाकांक्षतया नियतं चित्तं दीयते तस्मिन् तेनेति वा निदानमिति।

इति श्रीमच्चामुण्डरायप्रणीते चारित्रसारे सागारधर्मः समाप्तः।

पूर्व कालीन प्रीति विषयक बातोंको बार-बार याद करना सुखानुबन्ध है। उत्कृष्ट विषयसुख पानेकी अभिलाषा और भोगोंकी आकांक्षासे जिसके लिए या जिसमें नियत रूपसे चित्तको दिया जाय अर्थात् लगाया जाये, उसे, निदान कहते हैं।

इस प्रकार श्रीमच्चामुण्डराय विरचित चारित्रसारमें सागार धर्मका वर्णन समाप्त हुआ।

अथामितगतिकृतः श्रावकाचारः

नापाकृतानि प्रभवन्ति भूयस्तमांसि यैर्हष्टिहराणि सद्यः ।
ते शाश्वतीमस्तमयानभिज्ञा जिनेन्दवो वो वितरन्तु लक्ष्मीम् ॥१
विभिद्य मर्माष्टकशृङ्खलां ये गुणाष्टकैश्वर्यमुपेत्य पूतम् ।
प्राप्तास्त्रिलोकाग्रशिखामणित्वं भवन्तु सिद्धा मम सिद्धये ते ॥२
ये चारयन्ते चरितं विचित्रं स्वयं चरन्तो जनमर्चनीयाः ।
आचार्यवर्या विचरन्तु ते मे प्रमोदमाने हृदयारविन्दे ॥३
येषां तपः श्रीरनघा शरीरे विवेचिका चेतसि तत्त्वबुद्धिः ।
सरस्वती तिष्ठति वक्त्रपद्मे पुनन्तु तेऽध्यापकपुङ्गवा वः ॥४
कषाय सेनां प्रतिवन्धिनीं ये निहत्य धीराः शमशीलशस्त्रैः ।
सिद्धिं विबाधां लघु साधयन्ते ते साधवो मे वितरन्तु सिद्धिम् ॥५
विभूषितोऽह्नाय यया शरीरी विमुक्तिकान्तां विदधाति वश्याम् ।
सा दर्शनज्ञानचरित्रभूषा चित्ते मदीये स्थिरतामुपैतु ॥६
मातेव या शास्ति हितानि पुंसो रजः क्षिपन्ती ददती सुखानि ।
समस्तशास्त्रार्थविचारदक्षा सरस्वती सा तनुतां मतिं मे ॥७
शास्त्राम्बुधेः पारमियर्ति येषां निषेवमाणाः पदपद्मयुग्मम् ।
गुणैः पवित्रैर्गुरवो गरिष्ठां कुर्वन्तु निष्ठां मम ते वरिष्ठाः ॥८

जिन श्रीजिनचन्द्रके द्वारा यथार्थ दृष्टिके हरण करनेवाले मोहरूप महान्धकार शीघ्र ही दूर किये जाते हैं अतः वे पुनः अपना प्रभाव जगत् पर जमानेमें समर्थ नहीं होते हैं और जिन्होंने अज्ञानी पर-वादियोंको सदाके लिए अस्त कर दिया है, ऐसे श्री जिनेन्द्रचन्द्र हम और आप सबको शाश्वती मोक्षलक्ष्मी प्रदान करें ॥१॥ जो ज्ञानावरणादि अष्टकर्मरूप सांकलका विभेदन कर और सम्यक्त्वादि अष्टगुणरूप पवित्र ऐश्वर्यको पाकर तीन लोकके चूड़ामणिपनेको प्राप्त हुए हैं ऐसे वे सिद्धभगवान् मेरे लिए सिद्धिके निमित्त हों ॥२॥ जो नाना प्रकारके चारित्रका स्वयं आचरण करते हुए जगत्को आचरण कराते हैं, ऐसे पूजनीय आचार्यवर्य मेरे प्रमुदित हृदय-कमलमें सदा विचरण करें ॥३॥ जिनके शरीरमें पाप-रहित निर्मल तपोलक्ष्मी सुशोभित है, जिनके चित्तमें भेद-विज्ञान करानेवाली विवेचक तत्त्वबुद्धि विद्यमान है और जिनके मुख-कमलमें सरस्वती विराजमान है, ऐसे श्रेष्ठ उपाध्याय परमेष्ठी हम और आपको पवित्र करें ॥४॥ जो धीर वीर सिद्धिकी रोकनेवाली क्रोधादि कषायरूपी सेनाको शम और शीलरूप शस्त्रोंके द्वारा विनष्ट कर बाधा-रहित सिद्धिको अल्प कालमें शीघ्र ही सिद्ध कर लेते हैं, वे साधुजन मुझे सिद्धि देवें ॥५॥ जिस रत्नत्रय रूप विभूषासे विभूषित जीव मुक्तिरूपी कान्ताको शीघ्र अपने वशमें कर लेता है, वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप विभूषा मेरे चित्तमें स्थिरताको प्राप्त हो ॥६॥ जो माताके समान पुरुषोंको हित-की शिक्षा देती है, उनकी कर्मरूप रजको दूर करती है और सुखोंको प्रदान करती है, वह सर्व-शास्त्रोंके अर्थ-विचार करनेमें प्रवीण सरस्वती मेरी वुद्धिको विस्तृत करे ॥७॥ जिनके चरण-कमल-

उपासकाचारविचारसारं संक्षेपतः शास्त्रमहं करिष्ये ।
शक्नोति कर्तुं श्रुतकेवलिभ्यो न व्यासतोऽन्यो हि कदाचनापि ॥९

कुदुष्टभावाः कृतिमस्तदोषां निसर्गतो यद्यपि दूषयन्ते ।
तथापि कुर्वन्ति महानुभावास्त्याज्या न यूकाभयतो हि शाटी ॥१०

संसारकान्तारमपास्तपारं बम्भ्रम्यमाणो लभते शरीरी ।
कृच्छ्रेण नृत्वं सुखसस्यबीजं प्ररूढदुष्कर्मशमेन नूनम् ॥११

नरेषु चक्री त्रिदशेषु वज्री मृगेषु सिंहः प्रशमो व्रतेषु ।
मतो महीभृत्सु सुवर्णशैलो भवेषु मानुष्यभवः प्रधानम् ॥१२

त्रिवर्गसारः सुखरत्नखानिर्धर्मप्रधानं भवतीह येन ।
सम्यक्त्वशुद्धाविह मुक्तिलाभः प्रधानता तेन मताऽस्य सद्भिः ॥१३

यथा मणिर्ग्रावगणेष्वनर्घो तथा कृतज्ञो गुणवत्सु लभ्यः ।
न सारवत्त्वं न तथाङ्गिवर्गः सुखेन मानुष्यभवो भवेषु ॥१४

शमेन नीतिर्विनयेन विद्या शौचेन कीर्तिस्तपसा सपर्या ।
विना नरत्वेन न धर्मसिद्धिः प्रजायते जातु जनस्य पथ्या ॥१५

युगलकी सेवा करनेवाला मनुष्य शास्त्रसमुद्रके पारको प्राप्त होता है और जो पवित्र गुणोंसे गरिष्ठ हैं, ऐसे श्रेष्ठ गुरुजन मेरी धर्म-निष्ठाको सुदृढ़ करें ॥८॥ मैं अमितगति उपासकोंके आचार-विचार करनेवाले इस साररूप श्रावकाचार-शास्त्रको संक्षेपसे निरूपण करूँगा, क्योंकि विस्तारसे तो निरूपण करनेके लिए श्रुतकेवलियोंसे भिन्न अन्य कोई भी मनुष्य कदाचित् भी समर्थ नहीं है ॥९॥ यद्यपि क्षुद्र स्वभाववाले मनुष्य निर्दोष कृतिको स्वभावसे ही दोष लगाते हैं, तथापि महान् पुरुष अपने कार्यको करते ही हैं, क्योंकि यूका (जूं) के भयसे साड़ी त्यागने योग्य नहीं होती है ॥१०॥

सारसे रहित इस असार संसार-कान्तारमें परिभ्रमण करता हुआ यह प्राणी अति उग्र दुष्कर्मोंके शमनसे प्रादुर्भूत सुखरूप शालिधान्यके बीज समान इस मनुष्यपनाको महान् कष्टसे पाता है ॥११॥ जिस प्रकार मनुष्योंमें चक्रधारी चक्रवर्ती, देवोंमें वज्रधारी इन्द्र, मृगोंमें सिंह, व्रतोंमें प्रशमभाव और पर्वतोंमें सुवर्णशैल सुमेरु प्रधान माना जाता है, उसी प्रकार देव-नारकादिके सभी भवोंमें मनुष्य-भव प्रधान माना गया है ॥१२॥ जैसे सम्यक्त्वकी शुद्धि होने पर धर्मका लाभ होता है, उसी प्रकार धर्म-अर्थ-कामरूप त्रिवर्गका सार और सुखरूप रत्नकी खानिवाला यह सर्व पुरुषार्थोंमें प्रधान धर्म पुरुषार्थ इस मनुष्य भवमें ही संभव है, अतएव सन्त जनोंके द्वारा इस नर भवकी प्रधानता मानी गई है ॥१३॥ जैसे पाषाणके समूहमें अनमोल मणि पाना सुलभ नहीं और जैसे गुणवन्तोंमें कृतज्ञ मनुष्य मिलना सुलभ नहीं है, उसी प्रकार सभी भवोंमें सारवान् सुखकी अपेक्षा मनुष्य भवका पाना प्राणियोंको सुलभ नहीं है ॥१४॥ जैसे शमभावके विना नीति नहीं रह सकती, विनयके विना विद्या प्राप्त नहीं हो सकती, निर्लोभपनाके विना कीर्ति नहीं हो सकती और तपके विना पूजा प्राप्त नहीं हो सकती है, उसी प्रकार मनुष्यपनाके विना जीवके हितरूप

अन्नेन गात्रं नयनेन वक्त्रं नयेन राज्यं लवणेन भोज्यम् ।
धर्मेण हीनं बत जीवितव्यं न राजते चन्द्रमसा निशीथम् ॥१६

सस्येन देशः पयसाऽब्जखण्डः शौर्येण शस्त्री विटपीफलेन ।
धर्मेण शोभामुपयाति मर्त्यो मदेन दन्ती तुरगो जवेन ॥१७

मानुष्यमासाद्य सुकृच्छ्रलभ्यं नयो विशुद्धिर्विदधाति धर्मम् ।
अनन्यलभ्यं स सुवर्णराशिं दारिद्र्यदग्धो विजहाति लब्ध्वा ॥१८

अनादरं यो वितनोति धर्मे कल्याणमालाफलकल्पवृक्षे ।
चिन्तामणिं हस्तगतं दुरापं मन्ये स मुग्धस्तृणवज्जहाति ॥१९
दुःखानि सर्वाणि निहन्तुकामैर्निष्पीडितप्राणिगणानि धर्मः ।
उपासनीयो विधिना विधिज्ञैरग्निर्हिमानीव दुरुत्तराणि ॥२०

सस्यानि बीजं सलिलानि मेघं घृतानि दुग्धं कुसुमानि वृक्षम् ।
काङ्क्षत्यहान्येष विना दिनेशं धर्मं विना काङ्क्षति यः सुखानि ॥२१

आयान्ति लक्ष्म्यः स्वयमेव रुच्यं धर्मं दधानं पुरुषं पवित्राः ।
प्रसूनगन्धस्थगिताखिलाशं सरोजिनीखण्डमिवालिमालाः ॥२२
निषेवते यो विषयं विहीनं धर्मं निराकृत्य सुखाभिलाषी ।
पीयूषमत्यस्य स कालकूटं सुदुर्जरं खादति जीवितार्थी ॥२३

धर्मकी सिद्धि भी कदापि नहीं हो सकती है ॥१५॥ जैसे अन्नसे हीन शरीर, नयनसे हीन मुख, नीतिसे हीन राज्य, नमकसे हीन भोजन, और चन्द्रमासे हीन रात्रि नहीं सोहै, वैसे ही धर्मसे हीन जीवन भी नहीं सोहता है ॥१६॥ जैसे धान्यसे देश, जलसे कमल-वन, शौर्यसे शस्त्रधारी, फलसे वृक्ष, मदसे गज और वेगवान् गतिसे अश्व शोभाको प्राप्त होता है, वैसे ही धर्मसे मनुष्य शोभा-को प्राप्त होता है ॥१७॥ जो बुद्धि-विहीन मनुष्य ऐसे अतिकष्टसे प्राप्त हुए मनुष्यभवको पाकर-के भी धर्मको धारण नहीं करता है, वह उस दारिद्र्यपीडित पुरुषके समान मूर्ख है, जो अन्यको नहीं प्राप्त होनेवाली सुवर्णराशिको पाकरके भी उसे छोड़ देता है ॥१८॥ जो पुरुष कल्याणोंकी परम्परारूप फलोंको देनेवाले कल्पवृक्षके समान धर्ममें अनादर करता है, वह मूढ़ अति दुर्लभ हस्तगत चिन्तामणिको तृणके समान छोड़ता है, ऐसा मैं मानता हूँ ॥१९॥ जिन्होंने सर्व प्राणियों-को पीड़ित कर रक्खा है, ऐसे समस्त दुःखोंको नष्ट करनेकी इच्छावाले विधि-ज्ञाता पुरुषोंको चाहिए कि वे विधि पूर्वक धर्मकी उसी प्रकारसे उपासना करें, जिस प्रकारसे कि अति भयंकर हिम-पातसे पीड़ित पुरुष अग्निकी उपासना करते हैं ॥२०॥ जो पुरुष धर्म-सेवनके विना सुखोंको चाहता है, वह उस पुरुषके समान मूर्ख है, जो कि बीजके विना धान्यको चाहे, मेघके विना जल-को चाहे, दुग्धके विना घृतको चाहे, वृक्षके विना पुष्पको चाहे और सूर्यके विना दिनको चाहता है ॥२१॥

धर्मको धारण करनेवाले भव्य पुरुषके समीप पवित्र लक्ष्मियाँ स्वयं ही आती हैं, जिस प्रकार कि कुसुमोंकी सुगन्धिसे सर्व दिशाओंको व्याप्त करनेवाले कमलिनी-वनके समीप भौंरोंकी पंक्ति स्वयमेव आती है ॥२२॥ जो हीन पुरुष धर्मका निराकरण कर और सुखाभिलाषी होकर

भोगोपभोगाय करोति दीनो दिवानिशं कर्म यथा सुयत्नः ।
तथा विधत्ते यदि धर्ममेकं क्षणं तदानीं किमु नैति सौख्यम् ॥२४

ये योजयन्ते विषयोपभोगे मानुष्यमासाद्य दुरापमज्ञाः ।
निष्कृत्य कर्पूरवनं स्फुटं ते कुर्वन्ति वाटीं विषपादपानाम् ॥२५

गृह्णन्ति धर्मं विषयाकुला ये न भङ्गुरे मङ्क्षु मनुष्यभावे ।
प्रदह्यमाने भवनेऽग्निना ते निस्सारयन्ते न धनानि नूनम् ॥२६

सर्वेऽपि भावाः सुखकारिणोऽमी भवन्ति धर्मेण विना न पुंसाम् ।
तिष्ठन्ति वृक्षाः फलपुष्पयुक्ताः कालं कियन्तं खलु मूलहीनाः ॥२७

मोक्षावसानस्य सुखस्य पात्रं भवन्ति भव्या भवभीरवो ये ।
भजन्ति भक्त्या जिननाथदृष्टं धर्मं निराच्छादमदूषणं ये ॥२८

लक्ष्मीं विधातुं सकलां समर्थं सुदुर्लभं विश्वजनीनमेनम् ।
परीक्ष्य गृह्णन्ति विचारदक्षाः सुवर्णवद्वञ्चनभीतचित्ताः ॥२९

स्वर्गापवर्गामलसौख्यखानिं धर्मं गृहीतुं परमो विवेकः ।
सदा विधेयो हृदये पटिष्ठैर्बुधस्तु तं रत्नमिवापदोषम् ॥३०

इन्द्रिय-विषयोंका सेवन करता है, वह अमृतको छोड़कर और जीवनका अभिलाषी हो करके अति भयंकर कालकूट विषको खाता है ॥२३॥ यह दीन पुरुष भोगोपभोगकी प्राप्तिके लिए दिन-रात जैसा प्रयत्न करता है, वैसा प्रयत्न यदि एक क्षणभर भी धर्मके लिए करे, तो क्या वह तभी सुखको नहीं प्राप्त होगा ? अर्थात् अवश्य ही सुखको प्राप्त होगा ॥२४॥ जो अज्ञानी जन इस दुर्लभ मनुष्य-जन्मको पाकर उसे विषयोंके उपभोगमें लगाते हैं, वे मानो कर्पूरके वनको काट कर निश्चयसे विष-वृक्षोंकी वाटिकाको लगाते हैं ॥२५॥ जो इस क्षण-भंगुर मनुष्य भवमें विषयाकुलित होकर धर्मको ग्रहण नहीं करते हैं, वे निश्चयसे अग्नि-द्वारा भवनके जलने पर भी उसमें रखे हुए अपने धनको नहीं निकालते हैं, ऐसा मैं मानता हूँ ॥२६॥ धर्मके विना मनुष्यको ये सभी सुखकारी पदार्थ कभी भी प्राप्त नहीं हो सकते हैं, क्योंकि मूल-जड़से हीन फल-युक्त भी वृक्ष कितने काल तक ठहर सकते हैं ॥२७॥ जो भव-भीरु भव्य पुरुष विषय-स्वादसे रहित, निर्दोष जिननाथोपदिष्ट धर्मको भक्तिसे सेवन करते हैं, वे मोक्ष-पर्यन्त सुखके भाजन होते हैं ॥२८॥ जैसे ठगाये जानेके भयसे चिन्तित मनुष्य भलीभाँतिसे परीक्षा करके सुवर्णको खरीदते हैं, उसी प्रकार विचार-दक्ष पुरुष भी सर्व प्रकारकी लक्ष्मीको देनेमें समर्थ, विश्वकल्याणकारी अति दुर्लभ इस धर्मकी भी परीक्षा करके ही उसे ग्रहण करते हैं ॥२९॥ जिस प्रकार बुद्धिमान् मनुष्य निर्दोष रत्न-के खरीदनेमें परम विवेक रखते हैं, उसी प्रकार चतुरज्ञानी जनोंको भी स्वर्ग और मोक्षके निर्मल सुखोंकी खानिरूप धर्मको ग्रहण करनेके लिए परमविवेक हृदयमें सदा धारण करना चाहिये ॥३०॥ संसारके सभी शब्दमात्रसे 'धर्म, धर्म' ऐसा कहते हैं, किन्तु उसके वास्तविक स्वरूपका विचार नहीं करते हैं। जैसे 'दुग्ध' नामकी शब्द-समता होनेपर भी आक-दुग्ध और गो-दुग्धमें महान् अन्तर है, वैसे ही 'धर्म' इस नामकी समानता होने पर भी उसकी पूजनीयता नाना भेदोंसे भेदको

तं शब्दमात्रेण वदन्ति धर्मं विश्वेऽपि लोका न विचारयन्ति ।
न शब्दसाम्येऽपि विचित्रभेदैर्विभेद्यते क्षीरमिवार्चनीयम् ॥३१

हिंसानृतस्तेयपरांगसंगग्रन्थग्रहादत्तदुरन्तदुःखाः ।
धर्मेषु येष्वत्र भवन्ति निन्द्यास्ते दूरतो बुद्धिमतां विवर्ज्याः ॥३२

निहन्यते यत्र शरीरिवर्गो निपीयते मद्यमुपास्यते स्त्री ।
बोभुज्यते मांसमनर्थमूलं धर्मस्य वार्ताऽपि न तत्र नूनम् ॥३३

वधादयः कल्मषहेतवो ये न सेवितास्ते वितरन्ति धर्मम् ।
न कोद्रवाः क्वापि वसुन्धरायां निवीयमाना जनयन्ति शालिम् ॥३४

हिंसापरस्त्रीमधुमांससेवां कुर्वन्ति धर्माय विबुद्धयो ये ।
पीयूषलाभाय विवर्द्धयन्ते विषद्रुमांस्ते विविधैरुपायैः ॥३५

यैर्मद्यमांसाङ्गिवधादयोऽमी निर्मानमुक्ताः कुशलाय शास्त्रैः ।
आकर्णनीयानि न तानि दक्षैः शत्रूदितानीव वचांसि जातु ॥३६
पठन्ति शृण्वन्ति वदन्ति भक्त्या स्तुवन्ति रक्षन्ति नयन्ति बुद्धिम् ।
ये तानि शास्त्राण्यनुमन्यमानास्ते यान्ति सद्योऽपि कुयोनिमग्नाः ॥३७

धर्मं ददन्तेऽङ्गिवधादयोऽमी विधीयमाना यदि नाम तथ्यम् ।
सांसारिकाचारविधौ प्रवृत्ता न पापिनः केऽपि तदा भवन्ति ॥३८

रागादिदोषाकुलमानसैर्ये ग्रन्थाः क्रियन्ते विषयेषु लोलैः ।
कार्याः प्रमाणं न विचक्षणैस्ते जिघृक्षुभिर्धर्ममगर्हणीयम् ॥३९

प्राप्त होती है। भावार्थ—वीतराग-प्ररूपित धर्म और सरागियों द्वारा निरूपित धर्ममें महान् अन्तर है ॥३१॥ जिन-जिन धर्मोमें अत्यन्त दु:खोंके देनेवाले हिंसा, असत्य, अस्तेय, स्त्री-संगम और परिग्रह-रूप ग्रह विद्यमान हैं, वे सभी धर्म निन्द्य हैं, अतएव बुद्धिमान् लोगोंको उनका दूरसे ही परित्याग करना चाहिए ॥३२॥ जिस धर्ममें प्राणिवर्ग मारा जाता है, मद्य-पान किया जाता है, स्त्री-सेवन होता है और सर्व अनर्थोंका मूल मांस खाया जाता है, वहाँ पर निश्चयसे धर्मकी मात्रा भी नहीं है, ऐसा जानना चाहिए ॥३३॥ जो हिंसादि कार्य पापके हेतु हैं, वे सेवन करने पर भी धर्मको उत्पन्न नहीं करते हैं। कभी कहीं पर पृथिवीमें वोये गये कोदों शालिधान्यको उत्पन्न नहीं करते हैं ॥३४॥ जो निर्बुद्धि जन धर्म प्राप्त करनेके लिए जीवहिंसा करते हैं, परस्त्री, मधु और मांसका सेवन करते हैं, वे लोग अमृत पानेके लिए विविध उपायोंसे विषवृक्षोंको ही बढ़ाते हैं ॥३५॥ जिन शास्त्रोंके द्वारा मद्य-मांसका सेवन और हिंसादि कार्य कुशल-मंगलके लिए प्रतिपादन किये गये हैं, वे शास्त्र शत्रुओंके द्वारा कहे गये वचनोंके समान कदाचित् भी चतुर जनोंको नहीं सुनना चाहिए ॥३६॥ जो अज्ञजन उक्त प्रकारके पाप-वर्धक शास्त्रोंको पढ़ते हैं, सुनते हैं, भक्तिसे प्रवचन करते हैं, स्तवन करते हैं, उनकी रक्षा एवं वृद्धि करते हैं और अनुमोदना करते हैं, वे सभी मूर्ख लोग कुयोनिको प्राप्त होते हैं ॥३७॥ यदि वे अनुष्ठान किये गये जीवहिंसादि कार्य यथार्थमें धर्मको देते हैं, तव तो फिर सांसारिक आचारके विधानमें प्रवृत्त कोई भी पुरुष पापी नहीं ठहरते हैं ॥३८॥ रागादि दोषोंसे जिनका मन आकुलित है और इन्द्रिय-विषयोंके जो लोलुपी हैं, ऐसे

ये द्वेषरागश्रमलोभमोहप्रमादनिद्रामदखेदहीनाः ।
विज्ञातनिःशेषपदार्थतत्त्वास्तेषां प्रमाणं वचनं विधेयम् ॥४०
रागादिदोषा न भवन्ति येषां न सन्त्यसत्यानि वचांसि तेषाम् ।
हेतुव्यपाये नहि जायमानं विलोक्यते किञ्चन कार्यमार्यैः ॥४१
विना गुरुभ्यो गुणनीरदेभ्यो जानाति धर्मं न विचक्षणोऽपि ।
निरीक्षते कुत्र पदार्थजातं विना प्रकाशं शुभलोचनोऽपि ॥४२
ये ज्ञानिनश्चारुचरित्रभाजो ग्राह्यो गुरूणां वचनेन तेषाम् ।
सन्देहमत्यस्य बुधेन धर्मो विकल्पनीयं वचनं परेषाम् ॥४३
भीतैर्यथा वञ्चनतः सुवर्णं प्रताडनच्छेदनतापघर्षैः ।
तथा तपःसंयमशीलशौचैः परीक्षणीयो गुरुरुद्धबोधैः ॥४४
संसारमुद्भूतकषायदोषं विलङ्घयन्ते गुरुणा विना ये ।
विभीमनक्रादिगणं ध्रुवं ते वार्द्धिं तितीर्षन्ति विना तरण्डम् ॥४५
येषां प्रसादेन मनः करीन्द्रः क्षणेन वश्यो भवतीह दुष्टः ।
भजन्ति तान्ये गणिनो न भक्त्या तेभ्यः कृतघ्ना न परे भवन्ति ॥४६
कृतोपकारो गुरुणा मनुष्यः प्रपद्यते धर्मपरायणत्वम् ।
चामीकराश्मैव सुवर्णभावं सुवर्णकारेण विशारदेन ॥४७

लोगोंके द्वारा जो शास्त्र बनाये जाते हैं, उन्हें निर्दोष धर्म धारण करनेके इच्छुक विचक्षण जन धर्मके विषयमें प्रमाण न मानें ॥३९॥ किन्तु जो द्वेष, रागके आश्रयभूत लोभ, मोह, प्रमाद, निद्रा, मद, खेदसे रहित हैं और जिन्होंने सर्व पदार्थोंके रहस्यभूत तत्त्वोंको जान लिया है, ऐसे वीतरागी सर्वज्ञदेवके वचन प्रमाण मानना चाहिये ॥४०॥ जिनके रागादिक दोष नहीं होते हैं, उनके वचन असत्य नहीं होते हैं, क्योंकि कारणके अभावमें कोई भी कार्य आर्य पुरुषोंके द्वारा नहीं देखा जाता है। कहनेका भाव यह है कि असत्य बोलनेका कारण राग-द्वेषादिक हैं। जिन पुरुषोंके उनका अभाव है, उनके वचन सदा सत्य ही होते हैं ॥४१॥ गुणोंके समुद्र ऐसे गुरुओंके विना विचक्षण पुरुष धर्मको नहीं जान पाता है। क्या सुन्दर नेत्रवाला भी पुरुष विना प्रकाशके कहीं किसी भी पदार्थ-समूहको देख सकता है ॥४२॥ जो ज्ञानवान् और सुन्दर पवित्र-चरित्रके धारक हैं, ऐसे गुरुओंके वचनसे समझदार पुरुषको सन्देह छोड़कर धर्म ग्रहण करना चाहिये। जिनका ज्ञान और चारित्र समुज्ज्वल नहीं है, ऐसे सामान्य लोगोंके वचन सन्देहके योग्य होते हैं ॥४३॥ जिस प्रकार ठगाये जानेके भयसे लोग ताड़न, तापन, छेदन और घर्षणके द्वारा सुवर्णकी परीक्षा करते हैं, उसी प्रकार 'गुरु' इस शब्दसे कहे जानेवाले व्यक्तियोंकी तप, संयम, शील और ज्ञान इन चार बातोंसे परीक्षा करनी चाहिये ॥४४॥ जो गुरुके विना ही कषायरूप दोषके उत्पन्न करनेवाले संसारको लांघना चाहते हैं, वे निश्चयसे मगर-मच्छादिसे भरे हुए अति भयंकर समुद्रको नावके विना ही तिरना चाहते हैं ॥४५॥ जिनके प्रसादसे इस लोकमें अति दुष्ट मनरूपी मदोन्मत्त गजेन्द्र क्षणमात्रमें वश हो जाता है, ऐसे गुणी गुरुजनोंकी जो लोग भक्तिसे सेवा-उपासना नहीं करते हैं, उनसे अतिरिक्त अन्य कोई कृतघ्नी नहीं है ॥४६॥

गुरुके द्वारा जिसका उपकार किया गया है, ऐसा मनुष्य धर्ममें निपुणताको प्राप्त हो जाता

निवर्तमानं व्रततो गुरुभ्यो न शक्यते वारयितुं परेण ।
व्यलीकवादी व्यवहारकार्ये साक्षीकृतैरेव नियम्यते हि ॥४८

दुग्धेन धेनूः कुसुमेन वल्ली शीलेन भार्या सरसी जलेन ।
न सूरिणा भाति विना व्रतस्थः शमेन विद्या नगरी जनेन ॥४९

विधीयते सूरिवरेण सारो धर्मो मनुष्ये वचनैरुदारैः ।
मेघेन देशे सलिलैः फलाढ्यो निरस्ततापैरिव सस्यवर्गः ॥५०

लब्धे पदे सम्महनीयवृत्तीर्गुरोरनुष्ठाय विनीतचेताः ।
पापस्य भव्यो विदधाति नाशं व्याधेरिव व्याधिनिषूदनस्य ॥५१

सर्वोपकारं निरपेक्षचित्तः करोति यो धर्मधिया यतीशः ।
स्वकार्यनिष्ठैरुपमीयतेऽसौ कथं महात्मा खलु बन्धुलोकैः ॥५२

निषेव्यमाणानि वचांसि येषां जीवस्य कुर्वन्त्यजरामरत्वम् ।
नाराधनीया गुरवः कथं न ते विभीरुणा संसृतिराक्षसीतः ॥५३

मातापितृज्ञातिनराधिपाद्या जीवस्य कुर्वन्त्युपकारजातम् ।
यत्सूरिदत्तामलधर्मनुन्नास्तेनैष तेभ्योऽतिशयेन पूज्यः ॥५४

निषेवमाणो गुरुपादपद्मं त्यक्तान्यकर्मा न करोति धर्मम् ।
प्ररूढसंसारवनक्षयाग्नि निरर्थकं जन्म नरस्य तस्य ॥५५

है जैसे कि चतुर सुनारके द्वारा सोना सुवर्णताको प्राप्त हो जाता है ॥४७॥ व्रतसे पराङ्मुख होनेवाला मनुष्य गुरुके सिवाय अन्य पुरुषसे निवारण नहीं किया जा सकता। व्यावहारिक कार्योमें झूठ वोलनेवाला मनुष्य साक्षात्कारी मनुष्यों के द्वारा ही नियंत्रित किया जाता है। ॥४८॥ जैसे दुग्धसे गाय, कुसुमसे वेलि, शीलसे नारी, जलसे सरोवर, प्रशमभावसे विद्या और मनुष्योंसे नगरी शोभाको प्राप्त होती है, उसी प्रकार व्रती पुरुष गुरुसे शोभा पाता है। विना गुरुके व्रती जन भी शोभा नहीं पाते ॥४९॥ उत्तम आचार्य उदार वचनोंसे मनुष्यमें सारभूत धर्मका विधान करता है। जैसे कि मेघ फलयुक्त देशमें सन्तापको दूर करनेवाले जलसे धान्य-समूहको उपजाता है ॥५०॥ जैसे रोगी वैद्यका उपदेश ग्रहण कर उसके द्वारा वतलाई गई औषधिको ग्रहण कर अपनी व्याधिका नाश करता है, उसी प्रकार विनम्रचित्त भव्य पूज्य आचारवाले गुरुसे उपदेशको प्राप्त कर पापका नाश करता है ॥५१॥ जो आचार्य निरपेक्ष चित्त होकर धर्मबुद्धिसे सर्व प्राणियोंका उपकार करता है, वह महात्मा अपने कार्य-साधनमें तत्पर वन्धुजनोंसे कैसे उपमाको प्राप्त हो सकता है। कहनेका भाव यह है कि स्वार्थी वन्धुओंसे परमार्थी गुरुकी कोई तुलना नहीं की जा सकती है ॥५२॥ जिनके सेवन किये गये वचन जीवको अजर अमर वना देते हैं, ऐसे गुरुजन संसृतिरूपी राक्षसीसे भयभीत पुरुषके द्वारा कैसे आराधनाके योग्य नहीं हैं ॥५३॥ लोकमें जो माता-पिता, जातीय बन्धु और राजादिक जीव नाना उपकारोंको करते हैं, वे आचार्य-प्रदत्त निर्मल धर्मसे प्रेरित हो करके ही करते हैं, इसलिए गुरुजन माता-पितादिसे भी अधिक अतिशयके साथ पूज्य हैं ॥५४॥ जो पुरुष अन्य सर्व कार्य छोड़कर गुरुके चरणकमलकी सेवा करता हुआ अति प्रौढ संसाररूप वनका नाश करनेके लिए अग्निके समान धर्मका सेवन नहीं करता है, उसका मनुष्य जन्म निरर्थक है ॥५५॥ इस

ये द्वेषरागश्रमलोभमोहप्रमादनिद्रामदखेदहीनाः ।
विज्ञातनिःशेषपदार्थतत्त्वास्तेषां प्रमाणं वचनं विधेयम् ॥४०
रागादिदोषा न भवन्ति येषां न सन्त्यसत्यानि वचांसि तेषाम् ।
हेतुव्यपाये नहि जायमानं विलोक्यते किञ्चन कार्यमार्यैः ॥४१
विना गुरुभ्यो गुणनीरदेभ्यो जानाति धर्मं न विचक्षणोऽपि ।
निरीक्षते कुत्र पदार्थजातं विना प्रकाशं शुभलोचनोऽपि ॥४२
ये ज्ञानिनश्चारुचरित्रभाजो ग्राह्यो गुरूणां वचनेन तेषाम् ।
सन्देहमत्यस्य बुधेन धर्मो विकल्पनीयं वचनं परेषाम् ॥४३
भीतैर्यथा वञ्चनतः सुवर्णं प्रताडनच्छेदनतापघर्षैः ।
तथा तपःसंयमशीलशौचैः परीक्षणीयो गुरुरुद्धबोधैः ॥४४
संसारमुद्भूतकषायदोषं विलङ्घयन्ते गुरुणा विना ये ।
विभीमनक्रादिगणं ध्रुवं ते वार्द्धिं तितीर्षन्ति विना तरण्डम् ॥४५
येषां प्रसादेन मनः करीन्द्रः क्षणेन वश्यो भवतीह दुष्टः ।
भजन्ति तान्ये गणिनो न भक्त्या तेभ्यः कृतघ्ना न परे भवन्ति ॥४६
कृतोपकारो गुरुणा मनुष्यः प्रपद्यते धर्मपरायणत्वम् ।
चामीकराश्मैव सुवर्णभावं सुवर्णकारेण विशारदेन ॥४७

लोगोंके द्वारा जो शास्त्र बनाये जाते हैं, उन्हें निर्दोष धर्म धारण करनेके इच्छुक विचक्षण जन धर्मके विषयमें प्रमाण न मानें ॥३९॥ किन्तु जो द्वेष, रागके आश्रयभूत लोभ, मोह, प्रमाद, निद्रा, मद, खेदसे रहित हैं और जिन्होंने सर्व पदार्थोंके रहस्यभूत तत्त्वोंको जान लिया है, ऐसे वीतरागी सर्वज्ञदेवके वचन प्रमाण मानना चाहिये ॥४०॥ जिनके रागादिक दोष नहीं होते हैं, उनके वचन असत्य नहीं होते हैं, क्योंकि कारणके अभावमें कोई भी कार्य आर्य पुरुषोंके द्वारा नहीं देखा जाता है। कहनेका भाव यह है कि असत्य बोलनेका कारण राग-द्वेषादिक हैं। जिन पुरुषोंके उनका अभाव है, उनके वचन सदा सत्य ही होते हैं ॥४१॥ गुणोंके समुद्र ऐसे गुरुओंके विना विचक्षण पुरुष धर्मको नहीं जान पाता है। क्या सुन्दर नेत्रवाला भी पुरुष विना प्रकाशके कहीं किसी भी पदार्थ-समूहको देख सकता है ॥४२॥ जो ज्ञानवान् और सुन्दर पवित्र-चरित्रके धारक हैं, ऐसे गुरुओंके वचनसे समझदार पुरुषको सन्देह छोड़कर धर्म ग्रहण करना चाहिये। जिनका ज्ञान और चारित्र समुज्ज्वल नहीं है, ऐसे सामान्य लोगोंके वचन सन्देहके योग्य होते हैं ॥४३॥ जिस प्रकार ठगाये जानेके भयसे लोग ताड़न, तापन, छेदन और घर्षणके द्वारा सुवर्णकी परीक्षा करते हैं, उसी प्रकार 'गुरु' इस शब्दसे कहे जानेवाले व्यक्तियोंकी तप, संयम, शील और ज्ञान इन चार बातोंसे परीक्षा करनी चाहिये ॥४४॥ जो गुरुके विना ही कषायरूप दोषके उत्पन्न करनेवाले संसारको लांघना चाहते हैं, वे निश्चयसे मगर-मच्छादिसे भरे हुए अति भयंकर समुद्रको नावके विना ही तिरना चाहते हैं ॥४५॥ जिनके प्रसादसे इस लोकमें अति दुष्ट मनरूपी मदोन्मत्त गजेन्द्र क्षणमात्रमें वश हो जाता है, ऐसे गुणी गुरुजनोंकी जो लोग भक्तिसे सेवा-उपासना नहीं करते हैं, उनसे अतिरिक्त अन्य कोई कृतघ्नी नहीं है ॥४६॥

गुरुके द्वारा जिसका उपकार किया गया है, ऐसा मनुष्य धर्ममें निपुणताको प्राप्त हो जाता

निवर्तमानं व्रततो गुरुभ्यो न शक्यते वारयितुं परेण ।
व्यलीकवादी व्यवहारकार्ये साक्षीकृतैरेव नियम्यते हि ॥४८
दुग्धेन धेनूः कुसुमेन वल्ली शीलेन भार्या सरसी जलेन ।
न सूरिणा भाति विना व्रतस्थः शमेन विद्या नगरी जनेन ॥४९
विधीयते सूरिवरेण सारो धर्मो मनुष्ये वचनैरुदारैः ।
मेघेन देशे सलिलैः फलाढ्यो निरस्ततापैरिव सस्यवर्गः ॥५०
लब्धे पदे सम्महनीयवृत्तीर्गुरोरनुष्ठाय विनीतचेताः ।
पापस्य भव्यो विदधाति नाशं व्याधेरिव व्याधिनिषूदनस्य ॥५१
सर्वोपकारं निरपेक्षचित्तः करोति यो धर्मधिया यतीशः ।
स्वकार्यनिष्ठैरुपमीयतेऽसौ कथं महात्मा खलु बन्धुलोकैः ॥५२
निषेव्यमाणानि वचांसि येषां जीवस्य कुर्वन्त्यजरामरत्वम् ।
नाराधनीया गुरवः कथं न ते विभीरुणा संसृतिराक्षसीतः ॥५३
मातापितृज्ञातिनराधिपाद्या जीवस्य कुर्वन्त्युपकारजातम् ।
यत्सूरिदत्तामलधर्मनुन्नास्तेनैव तेभ्योऽतिशयेन पूज्यः ॥५४
निषेवमाणो गुरुपादपद्मं त्यक्तान्यकर्मा न करोति धर्मम् ।
प्ररूढसंसारवनक्षयाग्नि निरर्थकं जन्म नरस्य तस्य ॥५५

है जैसे कि चतुर सुनारके द्वारा सोना सुवर्णताको प्राप्त हो जाता है ॥४७॥ व्रतसे पराङ्मुख होनेवाला मनुष्य गुरुके सिवाय अन्य पुरुषसे निवारण नहीं किया जा सकता। व्यावहारिक कार्योंमें झूठ बोलनेवाला मनुष्य साक्षात्कारी मनुष्यों के द्वारा ही नियंत्रित किया जाता है। ॥४८॥ जैसे दुग्धसे गाय, कुसुमसे वेलि, शीलसे नारी, जलसे सरोवर, प्रशम-भावसे विद्या और मनुष्योंसे नगरी शोभाको प्राप्त होती है, उसी प्रकार व्रती पुरुष गुरुसे शोभा पाता है। विना गुरुके व्रती जन भी शोभा नहीं पाते ॥४९॥ उत्तम आचार्य उदार वचनोंसे मनुष्यमें सारभूत धर्मका विधान करता है। जैसे कि मेघ फलयुक्त देशमें सन्ताप-को दूर करनेवाले जलसे धान्य-समूहको उपजाता है ॥५०॥ जैसे रोगी वैद्यका उपदेश ग्रहण कर उसके द्वारा बतलाई गई औषधिको ग्रहण कर अपनी व्याधिका नाश करता है, उसी प्रकार विनम्रचित्त भव्य पूज्य आचारवाले गुरुसे उपदेशको प्राप्त कर पापका नाश करता है ॥५१॥ जो आचार्य निरपेक्ष चित्त होकर धर्मबुद्धिसे सर्व प्राणियोंका उपकार करता है, वह महात्मा अपने कार्य-साधनमें तत्पर बन्धुजनोंसे कैसे उपमाको प्राप्त हो सकता है। कहने-का भाव यह है कि स्वार्थी बन्धुओंसे परमार्थी गुरुकी कोई तुलना नहीं की जा सकती है ॥५२॥ जिनके सेवन किये गये वचन जीवको अजर अमर बना देते हैं, ऐसे गुरुजन संसृतिरूपी राक्षसीसे भयभीत पुरुषके द्वारा कैसे आराधनाके योग्य नहीं हैं ॥५३॥ लोकमें जो माता-पिता, जातीय बन्धु और राजादिक जीव नाना उपकारोंको करते हैं, वे आचार्य-प्रदत्त निर्मल धर्मसे प्रेरित हो करके ही करते हैं, इसलिए गुरुजन माता-पितादिसे भी अधिक अतिशयके साथ पूज्य हैं ॥५४॥ जो पुरुष अन्य सर्व कार्य छोड़कर गुरुके चरणकमलकी सेवा करता हुआ अति प्रौढ संसाररूप वनका नाश करनेके लिए अग्निके समान धर्मका सेवन नहीं करता है, उसका मनुष्य जन्म निरर्थक है ॥५५॥ इस

यं सूरयो धर्मधिया ददन्ते यं बान्धवाः स्वार्थधिया जनानाम् ।
अर्थं तयोरन्तरमत्र वेद्यं सताऽणुमेर्वोरिव जायमानम् ॥५६

लक्ष्मीं करीन्द्रश्रवणास्थिरां च तृणाग्रतोयस्थितिजीवितव्यम् ।
विनश्वरं यौवनकं च दृष्ट्वा धर्मं न कुर्वन्ति कथं महान्तः ॥५७

अनश्वरीं यो विदधाति लक्ष्मीं विधूय सर्वां विपदं क्षणेन ।
कथं स धर्मः क्रियते न सद्भिस्त्याज्येन देहेन मलायने ॥५८

पिण्डं ददाना न नियोजयन्ति कलेवरं भृत्यमिवात्मनीने ।
कार्ये सदा ये चरितोपकारे ते वञ्चयन्ति स्वयमेव मूढाः ॥५९

गृहाङ्गजापुत्रकलत्रमित्रस्वस्वामिभृत्यादिपदार्थवर्गे ।
विहाय धर्मं न शरीरभाजामिहास्ति किञ्चित् सहगामि पथ्यम् ॥६०

घातिक्षयोद्भूतविशुद्धबोधप्रकाशविद्योतितसर्वतत्त्वाः ।
भवन्ति धर्मेण जिनेन्द्रचन्द्रास्त्रिलोकनाथार्चितपादपद्माः ॥६१

आराध्यमानस्त्रिदशैरनेकैर्विराजते स्वैः प्रतिबिम्बकैर्वा ।
धर्मप्रसादेन निलिम्पराजः सुराङ्गनावक्त्रसरोजभृङ्गः ॥६२

द्वात्रिंशदुर्वीशसहस्रमूर्धप्रसूनमालापिहिताङ्घ्रियुग्मः ।
धर्मेण राज्यं विदधाति चक्री विडम्बमानस्त्रिदशेन लीलाम् ॥६३

संसारमें मनुष्योंको जो अर्थ आचार्य धर्मबुद्धिसे देते हैं और बन्धुजन स्वार्थबुद्धिसे देते हैं, उन दोनोंका अन्तर सज्जनोंको अणु और सुमेरुके समान जानना चाहिये ॥५६॥

लक्ष्मीको गजराजके कानके समान चंचल देखकर, तथा जीवनको तृणके अग्र भाग पर स्थित जल-बिन्दुके समान क्षण-भंगुर देखकर और जवानीको अतिशीघ्र ढलती हुई देखकर महान् पुरुष धर्मको कैसे नहीं आचरण करते हैं, अर्थात् संसारकी क्षण-भंगुर दशाको देखकर वे धर्मको धारण करते ही हैं ॥५७॥ जो धर्म सभी विपदाओंको क्षणभरमें दूर कर अविनश्वर लक्ष्मीको देता है, वह धर्म सज्जनोंके द्वारा इस त्याज्य और मलके घर शरीरसे कैसे नहीं धारण किया जायगा? अर्थात् सज्जन ऐसे क्षण-भंगुर शरीरसे अवश्य ही धर्मका पालन करेंगे ॥५८॥ जो पुरुष सेवकके समान इस शरीरको भोजन देते हुए भी अपने कल्याणरूप उपकारी कार्यमें नहीं लगाते हैं, वे मूढ़ जन स्वयमेव ही ठगाये जाते हैं ॥५९॥ इस लोकमें एकमात्र हितकारी धर्मके सिवाय गृह, पुत्री, पुत्र, कलत्र, मित्र, धन, स्वामी, सेवक आदि समस्त पदार्थोंमेंसे कोई भी प्राणियोंके साथ परभवमें जानेवाला नहीं है ॥६०॥ घातिया कर्मोंके क्षयसे प्रकट हुए निर्मल केवलज्ञानरूप परम प्रकाशसे सर्व तत्त्वोंको प्रकाशित करनेवाले, और तीनों लोकोंके स्वामियों द्वारा जिनके चरणकमल चर्चित हैं, ऐसे जिनेन्द्रचन्द्र तीर्थंकर देव इस धर्मके प्रभावसे होते हैं ॥६१॥ अपने प्रतिबिम्बके समान अनेकों देवोंके द्वारा आराधना किया जानेवाला, और देवाङ्गनाओंके मुख-सरोजका भ्रमर ऐसा देवाधिपति इन्द्र भी धर्मके प्रसादसे ही स्वर्गमें शोभा पाता है ॥६२॥ बत्तीस हजार राजाओंके मस्तकोंकी पुष्पमालाओंसे जिसके चरण-कमल आच्छादित हो रहे हैं और जो अपनी लीलासे देवोंके इन्द्रकी लीलाको विडम्बित करता है, ऐसा चक्रवर्ती भी

मनोभवाक्रान्तविदग्धरामाकटाक्षलक्षीकृतकान्तकायः ।
दिगङ्गनाव्यापितशुद्धकीर्तिर्धर्मेण राजा भवति प्रतापी ॥६४

मतङ्गजा जङ्गमशैललीलास्तुरङ्गमा निर्जितवायुवेगाः ।
पदातयः शक्रपदातिकल्पा रथा विवस्वद्रथसन्निकायाः ॥६५

योषाश्च शोभाजितदेवयोषा निलिम्पवासप्रतिमा निवासाः ।
अनन्यलभ्या धन्यधान्यकेशा भवन्ति धर्मेण पुरार्जितेन ॥६६
परेऽपि भावा भुवने पवित्रा भवन्ति पुण्यैर्न विना जनस्य ।
विना मृणालैः (हि नालैः) क्वचनापि दृष्टाः सम्पद्यमाना न पयोजखण्डाः ॥६७

स्वपूर्वलोकानुचितोऽपि धर्मो ग्राह्यः सतां चिन्तितवस्तुदायी ।
प्रप्रार्थयन्ते न किमीश्वरत्वं स्वजात्ययोग्यं जनता सदाऽपि ॥६८

त्यजन्त्यनूकामतमप्यवद्यं सम्प्राप्य पुण्यं जनयाचनीयम् ।
कुष्टं कुलायातमपि प्रवीणाः कल्पत्वमासाद्य परित्यजन्ति ॥६९

मूर्खापवादत्रसनेन धर्मं मुञ्चन्ति सन्तो न बुधार्चनीयम् ।
ततो हि दोषः परमाणुमात्रो धर्मव्युदासे गिरिराजतुल्यः ॥७०

निखिलसुखफलानां कल्पने कल्पवृक्षं कुमतमतिविभीता ये विमुञ्चन्ति धर्मम् ।
विमलमणिविधानं पावनं दुष्टतुष्ट्यै स्फुटमपगतबोधाः प्राप्य ते वर्जयन्ति ॥७१

अपने महान् साम्राज्यको धर्मके प्रसादसे ही धारण करता है ॥६३॥ कामदेवके आक्रमणसे आक्रान्त सुन्दर चतुर नारियोंके कटाक्षोंसे जिनका सुन्दर देह लक्ष्य बनाया गया है और जिनकी निर्मल कीर्त्ति दशों दिशाओंमें व्याप्त हो रही है, ऐसा कामदेव सदृश अति सुन्दर और प्रतापी राजा धर्मके प्रभावसे होता है ॥६४॥ जंगम शैलोंकी लीलाके धारक मदोन्मत्त मतंगज, (हस्ती) वायुके वेगको जीतनेवाले अश्व, इन्द्रके पदातियोंके तुल्य पैदल चलनेवाले सैनिक, सूर्यके समान शीघ्रगामी रथ, अपनी शोभासे देवाङ्गनाओंको जीतनेवाली स्त्रियाँ, इन्द्र-भवनके सदृश निवास, और अन्य जनोंके द्वारा अलभ्य धन-धान्यके भण्डार पूर्वोपार्जित धर्मसे ही प्राप्त होते हैं ॥६५-६६॥

इनके अतिरिक्त संसारमें अन्य भी जितने उत्तम एवं पवित्र पदार्थ हैं, वे सभी मनुष्यको पुण्यके विना नहीं प्राप्त होते हैं। क्या मृणालके विना कभी कहीं पर कमलवन पाये जाते देखे गये हैं ॥६७॥ अपने कुलके पूर्व पुरुषोंके द्वारा असंचित भी चिन्तित वस्तु-दायी सत्य धर्म सज्जनोंको ग्रहण करना चाहिये। क्या अपनी जातिके अयोग्य ईश्वरपनेको जनता सदा ही नहीं चाहा करती है ॥६८॥ जैसे प्रवीण पुरुष औषधिके द्वारा कायाकल्प करके कुल क्रमागत भी कुष्ट रोगका परित्याग कर देते हैं, वैसे ही जनताके द्वारा पूज्य, पवित्र, पुण्यरूप धर्मको प्राप्त करके बुद्धिमान् लोग वंश-परम्परागत पापरूप अधर्मको छोड़ देते हैं ॥६९॥ सज्जन पुरुष मूर्ख जनोंके अपवादके भयसे ज्ञानियोंसे पूजनीय धर्मको नहीं छोड़ते हैं, क्योंकि मूर्खोंसे निन्दा किये जाने पर तो दुखःरूप दोष परमाणु बराबर ही है, किन्तु धर्मको छोड़ देने पर गिरिराज सुमेरुके समान महान् दुःख प्राप्त होता है ॥७०॥ जो अज्ञानी पुरुष कुबुद्धिजनोंके अपवादसे भयभीत होकर समस्त सुखरूप फलोंको देनेके लिए कल्पवृक्षके समान धर्मको छोड़ देते हैं, वे निश्चयसे पावन निर्मल मणियोंके निधानको

अमरनरविभूतिं यो विधायार्चनीयां नयति निरपवादां लीलया मुक्तिलक्ष्मीम् ।
अमितगजिनेशः सेव्यतामेष धर्मः शिवपदमनवद्यं लब्धकामैरकामैः ॥७२

इत्यमितगतिकृतश्रावकाचारे प्रथमः परिच्छेदः ॥१॥

द्वितीयः परिच्छेदः

मिथ्यात्वं सर्वदा हेयं धर्मं वर्धयता सता । विरोधो हि तयोर्बाढं मृत्युजीवितयोरिव ॥१
संयमा नियमः सर्वे नाश्यन्ते तेन पावनाः । क्षयकालानलेनेव पादपाः फलशालिनः ॥२
अतत्त्वमपि पश्यन्ति तत्त्वं मिथ्यात्वमोहिताः । मन्यन्ते तृषितास्तोयं मृगा हि मृगतृष्णिकाम् । ३
विभ्रान्ता क्रियते बुद्धिर्मनोमोहनकारिणा । मिथ्यात्वेनोपयुक्तेन मद्येनेव शरीरिणः ॥४
पदार्थानां जिनोक्तानां तदश्रद्धानलक्षणम् । ऐकान्तिकादिभेदेन सप्त भेदमुदाहृतम् ॥५
क्षणिकोऽक्षणिको जीवः सर्वदा सगुणोऽगुणः । इत्यादिभाषमाणस्य तदैकान्तिकमिष्यते ॥६
सर्वज्ञेन विरागेण जीवाजीवादिभाषितम् । तथ्यं न वेति संकल्पो दृष्टिः सांशयिकी मता ॥७
आगमा लिंगिनो देवा धर्माः सर्वे सदा समाः । इत्येषा कथ्यते बुद्धिः पुंसो वैनयिकी जिनैः ॥८
पूर्णः कुहेतुदृष्टान्तैर्न तत्त्वं प्रतिपद्यते । मण्डलश्चर्मकारस्य भोज्यं चर्मलवैरिव ॥९

पाकर दुष्टजनोंको प्रसन्न करनेके लिए छोड़ देते हैं ॥७१॥ जो धर्म प्रार्थनाके योग्य देव और मनुष्योंकी विभूतिको देकर लीलामात्रसे निर्दोष मोक्षलक्ष्मीको प्राप्त कराता है, वह अमित (अनन्त) ज्ञानशाली जिनेन्द्रदेवके द्वारा कहा गया धर्म सांसारिक कामनाओंसे रहित किन्तु निर्दोष शिवपद-की कामना करनेवाले पुरुषोंको अवश्य सेवन करना चाहिये ॥७२॥

इस प्रकार अमितगति आचार्य-रचित श्रावकाचारमें
प्रथम परिच्छेद समाप्त हुआ ।

धर्मकी वृद्धि करनेवाले सत्पुरुषको मिथ्यात्वका सर्वथा त्याग करना चाहिए, क्योंकि मिथ्यात्व और धर्म इन दोनोंमें मरण और जीवनके सदृश महान् विरोध है ॥१॥ जैसे प्रलयकाल-की अग्निसे फलशाली वृक्ष जला दिये जाते हैं, वैसे ही मिथ्यात्वके द्वारा सभी पवित्र यम, नियम और संयम नाश कर दिये जाते हैं ॥२॥ मिथ्यात्वसे मोहित पुरुष अतत्त्वको भी तत्त्व मानते हैं। जैसे कि तृषातुर हरिण मृगतृष्णाको भी जल मानते हैं ॥३॥ जैसे मद्यके द्वारा प्राणीकी बुद्धि विभ्रमरूप हो जाती है, उसी प्रकार मनको मोहित करनेवाले मिथ्यात्वसे उपयुक्त जीवकी बुद्धि भी विभ्रमरूप कर दी जाती है ॥४॥ जिनेन्द्रदेवके द्वारा कहे गये पदार्थोंके श्रद्धान न करनेको मिथ्यात्व कहते हैं, उसे ऐकान्तिक आदि सात भेद कहे गये हैं ॥५॥ आगे ग्रन्थकार उन सातों भेदोंका निरूपण करते हैं—जीव सर्वथा क्षणिक ही है, अथवा अक्षणिक (नित्य) ही है, सगुण ही है, अथवा निर्गुण ही है, इत्यादि एकान्तरूपसे कथन करनेवालेके ऐकान्तिक मिथ्यात्व कहा गया है ॥६॥ वीतराग सर्वज्ञ देवके द्वारा कहे गये जीव-अजीवादि तत्त्व सत्य हैं कि नहीं, ऐसा विचार करनेवालेके सांशयिक मिथ्यात्व माना गया है ॥७॥ सभी आगम, सभी गुरु, सभी देव और सभी धर्म सदा समान हैं, इस प्रकारकी मनुष्यकी बुद्धिको जिनदेवोंने वैनयिक मिथ्यात्व कहा है ॥८॥ खोटे हेतु और दृष्टान्तोंसे परिपूर्ण मनुष्य यथार्थ तत्त्वको नहीं प्राप्त कर पाता है।

अतथ्यं मन्यते तथ्यं विपरीतरुचिर्जनः । दोषातुरमनास्तिक्तं ज्वरीव मधुरं रसम् ॥१०
दीनो निसर्गमिथ्यात्वस्तत्त्वातत्त्वं न बुद्धयते । सुन्दरासुन्दरं रूपं जात्यन्ध इव सर्वदा ॥११
देवो रागी यतिः सङ्गी धर्मः प्राणिनिशुम्भनम् । मूढदृष्टिरिति ब्रूते युक्तायुक्ताविवेचकः ॥१२
सप्तप्रकारमिथ्यात्वमोहितेनेति जन्तुना । सर्वं विषाकुलेनेव विपरीतं विलोक्यते ॥१३
न तत्त्वं रोचते जीवः कथ्यमानमपि स्फुटम् । कुधीरुक्तमनुक्तं वा निसर्गेण पुनः परम् ॥१४
पठन्नपि वचो जैनं मिथ्यात्वं नैव मुञ्चति । कुदृष्टिः पन्नगो दुग्धं पिबन्नपि महाविषम् ॥१५
उदये दृष्टिमोहस्य मिथ्यात्वं दुःखकारणम् । घोरस्य सन्निपातस्य पंचत्वमिव जायते ॥१६
बहु बध्नाति यः कर्म स्तोकं भुंक्ते कुदर्शनः । स भवारण्यदुःखेभ्यो विमोक्षं लप्स्यते कथम् ॥१७
अञ्जलिं पचमानस्य पुरुषस्य दिने दिने । धान्यस्य गृह्णतः खारीं कदा धान्यविमुक्तता ॥१८
न वक्तव्यमिति प्राज्ञैः कदाचन यतो भवी । कर्म भुंक्ते बहु स्तोकं स्वीकरोति विसंशयम् ॥१९
अन्यथैकेन जीवेन सर्वेषां कर्मणां ग्रहे । सर्वेषां जायतेऽन्येषां न कथं मुक्तिसङ्गतिः ॥२०
समस्तानां तथैकेन पुद्गलानां ग्रहेऽङ्गिना । अनन्तानन्तकालेन न बन्धः सान्तरः कथम् ॥२१

जैसे कि चमड़ेके टुकड़ोंसे भरे हुए मुखवाला चमारका कुत्ता वास्तविक भोजनको नहीं खा पाता है। यह गृहीत मिथ्यादृष्टि है ॥९॥ जैसे वात-पित्तादि दोषोंसे पीड़ित चित्तवाला ज्वरवान् मनुष्य मधुर रसको भी कटुक मानता है, इसी प्रकार विपरीत श्रद्धानी मनुष्य अतथ्य भी पदार्थको तथ्य मानता है। यह विपरीत मिथ्यादृष्टि है ॥१०॥ जैसे जन्मान्ध मनुष्य सुन्दर और असुन्दर रूपको सर्वथा ही नहीं जानता है, उसी प्रकार निसर्गमिथ्यात्वसे दूषित दीन पुरुष तत्त्व और अतत्त्वको नहीं समझता है। यह निसर्गमिथ्यात्वका स्वरूप है ॥११॥ योग्य अयोग्यके विवेकसे रहित मूढ़-दृष्टि मनुष्य सरागी पुरुषको देव, परिग्रही व्यक्तिको गुरु और प्राणि-घातको धर्म कहता है। यह मूढ़ मिथ्यादृष्टि है ॥१२॥ इन सात प्रकारके मिथ्यात्वोंसे मोहित प्राणी सर्व वस्तुतत्त्वको विपरीत ही देखता है। जैसे कि विषसे आकुलित पुरुषको सभी कुछ विपरीत दिखता है ॥१३॥ कुबुद्धि पुरुष यथार्थ रीतिसे स्पष्ट कहे गये तत्त्वका भी श्रद्धान नहीं करता है। किन्तु उक्त या अनुक्त तत्त्वका स्वभावसे ही श्रद्धान करता है ॥१४॥ मिथ्यादृष्टि मनुष्य जैन वचनको पढ़ता हुआ भी मिथ्यात्वको नहीं छोड़ता है। जैसे कि दुग्धको पीता हुआ भी सर्प अपने महाविषको नहीं त्यागता है ॥१५॥ दर्शनमोहनीयकर्मके उदय होने पर दुःखोंका कारण मिथ्यात्व प्रकट होता है। जैसे कि घोर सन्निपातके होने पर जीवके मरण प्राप्त होता है ॥१६॥

जो मिथ्यादृष्टि बहुत कर्मको बाँधता है और अल्पकर्मको भोगता है, वह भव-काननके दुःखोंसे कैसे छूट सकेगा ॥१७॥ जैसे प्रतिदिन अंजली प्रमाण धान्यको खानेवाले और खारी प्रमाण धान्यको ग्रहण करनेवाले मनुष्यके धान्यका बीतना कब हो सकता है ॥१८॥

ऐसी आशंका करनेवालेके लिए आचार्य उत्तर देते हैं—ज्ञानी जनोंको ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि जीवके परिणामोंकी विशुद्धिके योगसे कदाचित् ऐसा भी अवसर आता है, जबकि वह निःसन्देह रूपसे बहुत कर्मको भोगता है और अल्प कर्मको स्वीकार करता है ॥१९॥ यदि ऐसा न माना जाय, तो एक जीवके द्वारा सर्व कर्मोंके ग्रहण करने पर शेष अन्य सर्व जीवोंके मुक्तिकी प्राप्ति कैसे संगत नहीं होगी ॥२०॥ इसी प्रकार एक जीवके द्वारा समस्त कर्मपुद्गलोंके ग्रहण करने पर अनन्तानन्तकालके द्वारा भी बन्ध अन्तर-सहित कैसे नहीं होगा ॥२१॥ जिस प्रकार

सस्यानीवोषरक्षेत्रे निक्षिप्तानि कदाचन। न व्रतानि प्ररोहन्ति जीवे मिथ्यात्ववासिते ॥२२
मिथ्यात्वेनानुविद्धस्य शल्येनेव महीयसा। समस्तापन्निदानेन जायते निर्वृतिः कुतः ॥२३
षोढ़ानायतनं जन्तोः सेवमानस्य दुःखदम्। अपथ्यमिव रोगित्वं मिथ्यात्वं परिवर्धते ॥२४
मिथ्यादर्शनविज्ञानचारित्रैः सह भाषिताः। तदाधारा जनाः पापाः षोढ़ाऽनायतनं जिनैः ॥२५
एकैकं वा त्रयो द्वे द्वे रोचन्ते न परे त्रयः। एकस्त्रीणीति जायन्ते सप्ताप्येते कुदर्शनाः ॥२६
दवीयः कुरुते स्थानं मिथ्यादृष्टिरभीप्सितम्। अन्यत्र गमकारीव घोरैर्युक्तो व्रतैरपि ॥२७
न मिथ्यात्वसमः शत्रुर्न मिथ्यात्वसमं विषम्। न मिथ्यात्वसमो रोगो न मिथ्यात्वसमं तमः ॥२८
द्विपद्विषतमोरोगैर्दुःखमेकत्र जायते। मिथ्यात्वेन दुरन्तेन जन्तोर्जन्मनि जन्मनि ॥२९
वरं ज्वालाकुले क्षिप्तो देहिनाऽऽत्मा हुताशने। न तु मिथ्यात्वसंयुक्तं जीवितव्यं कथञ्चन ॥३०
पापे प्रवर्त्यते येन येन धर्मान्निवर्त्यते। दुःखे निक्षिप्यते येन तन्मिथ्यात्वं न शान्तये ॥३१
क्षेत्रस्वभावतो घोरा निरन्ता दुःसहाश्चिरम्। विविधा दुर्दशाः श्वभ्रे कायमानससम्भवाः॥३२

ऊसर भूमिवाले खेतमें बोये गये धान्य कभी भी नहीं उपजते हैं, उसी प्रकार मिथ्यात्वसे वासित जीवमें व्रत भी अंकुरित नहीं होते हैं ॥२२॥ जैसे महान् शल्यसे अनुविद्ध पुरुषके सुखकी प्राप्ति नहीं होती, उसी प्रकार समस्त आपत्तियोंके निधानभूत मिथ्यात्वसे संयुक्त पुरुषके निर्वृति (मुक्ति) का सुख कैसे प्राप्त हो सकता है ॥२३॥ जैसे अपथ्यके सेवन करनेवाले मनुष्यके दुःखदायी रोगपना उत्तरोत्तर बढ़ता है, उसी प्रकार छह प्रकारके अनायतनों (अधर्मके स्थानों)के सेवन करनेवाले पुरुषके दुःखदायी मिथ्यात्व भी उत्तरोत्तर बढ़ता है ॥२४॥ मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र इन तीनोंके साथ इनके आधारभूत पापी मनुष्य, ये छह अनायतन जिनदेवने कहे हैं ॥२५॥ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंमेंसे एक-एकको नहीं माननेवाले तीन मिथ्यादृष्टि, तथा उनमेंसे किन ही दो-दोको नहीं माननेवाले तीन मिथ्यादृष्टि और तीनोंको ही नहीं माननेवाले एक मिथ्यादृष्टि इस प्रकारसे सात प्रकारके मिथ्यादृष्टि जानना चाहिये ॥२६॥ जैसे अन्यत्र अर्थात् विपरीत दिशामें गमन करनेवाला जीव अपने अभीष्ट स्थानको और भी दूर करता जाता है, उसी प्रकार अति कठिन घोर व्रतोंके आचरणसे युक्त भी मिथ्यादृष्टि पुरुष अपने मुक्ति स्थानको और भी अत्यन्त दूर करता जाता है ॥२७॥ संसारमें इस जीवका मिथ्यात्वके समान कोई शत्रु नहीं, मिथ्यात्वके समान कोई विष नहीं, मिथ्यात्वके समान कोई रोग नहीं और मिथ्यात्वके समान कोई अन्धकार नहीं है ॥२८॥ शत्रु, विष, अन्धकार और रोग, इनके द्वारा एक भवमें ही दुःख दिया जाता है, किन्तु इस दुरन्त मिथ्यात्वके द्वारा जन्म-जन्ममें जीवको महान् दुःख दिया जाता है ॥२९॥ भयंकर ज्वालाओंसे व्याप्त अग्निमें किसी जीवात्माका फेंका जाना भला है, किन्तु मिथ्यात्वसे संयुक्त जीवितव्य तो किसी भी प्रकारसे भला नहीं है ॥३०॥ जिस मिथ्यात्वके द्वारा जीव पापमें प्रवृत्त कराया जाता है, धर्मसे दूर हटाया जाता है, तथा दुखमें फेंका जाता है, वह मिथ्यात्व कभी भी जीवकी शान्तिके लिए नहीं हो सकता है ॥३१॥

इस दुरन्त दुःखदायी मिथ्यात्वके द्वारा जीवोंको नरकोंमें क्षेत्रस्वभावसे होनेवाले घोर कायिक और मानसिक अकथनीय नाना प्रकारके दुःसह दुःख चिरकाल तक निरन्तर सहना पड़ते हैं। इस मिथ्यात्वके द्वारा ही विवेकरहित जीवन वितानेवाले पराधीन तिर्यचोंमें भी दाह देना, बाँधना, चिह्न करना, अंग छेदना और शीत वात आदिसे होनेवाले नानाप्रकारके भयंकर दुःख

दोहवाहाङ्कनाच्छेदशीतवातादिगोचराः । परायत्तेषु तिर्यक्षु विवेकरहितात्मसु ॥३३
दैन्यदारिद्र्यदौर्भाग्यरोगशोकपुरस्सराः । आर्यम्लेच्छप्रकारेषु मानुषेषु निरन्तराः ॥३४
स्वस्य हानिं परस्यर्द्धिमीक्षमाणेषु मानिषु । योज्यमानेषु देवेषु हठतः प्रेष्यकर्मणि ॥३५
मिथ्यात्वेन दुरन्तेन विधीयन्ते शरीरिणाम् । वेदना दुःश्रवा भीमा वैरिणेव दुरात्मना ॥३६
यान्यन्यान्यपि दुःखानि संसाराम्भोधिवर्तिनाम् । न जातु यच्छता तेन मिथ्यात्वेन विरम्यते ॥३७
विवेको हन्यते येन मूढता येन जन्यते । मिथ्यात्वतः परं तस्माद्दुःखदं किमु विद्यते ॥३८
लब्धं जन्मफलं तेन सार्थकं तस्य जीवितम् । मिथ्यात्वविषमुत्सृज्य सम्यक्त्वं येन गृह्यते ॥३९
भव्यः पञ्चेन्द्रियः पूर्णो लब्धकालादिलब्धिकः । पुद्गलार्धपरावर्ते काले शेषे स्थिते सति ॥४०
अन्तर्मुहूर्तकालेन निर्मलीकृतमानसः । आद्यं गृह्णाति सम्यक्त्वं कर्मणां प्रशमे सति ॥४१
निशीथं वासरस्येव निर्मलस्य मलीमसम् । पश्चादायाति मिथ्यात्वं सम्यक्त्वस्यास्य निश्चितम् ॥४२
तस्य प्रपद्यते पश्चान्महात्मा कोऽपि वेदकम् । तस्यापि क्षायिकं कश्चिदासन्नीभूतनिर्वृतिः ॥४३
लब्धशुद्धपरीणामः कल्मषस्थितिहानिकृत् । अनन्तगुणया शुद्धया वर्धमानः क्षणे क्षणे ॥४४
प्रकृतीनामशस्तानामनुभागस्य खर्वकः । वर्धकः पुनरन्यासां युक्तायुक्तविवेचकः ॥४५
स्थितेऽन्तकोटिकोटीकस्थितिके सति कर्मणि । अधःप्रवृत्तिकं नाम करणं कुरुते पुरा ॥४६

भोगना पड़ते हैं। इसी मिथ्यात्वके द्वारा नाना प्रकारके आर्य और म्लेच्छ मनुष्योंमें निरन्तर दीनता, दरिद्रता, दुर्भाग्य, रोग और शोक आदिके नाना दुःखोंको भोगना पड़ता है। तथा इसी मिथ्यात्वके द्वारा देवोंमें उत्पन्न हो करके भी परस्पर एक दूसरेकी ऋद्धिको देखकर ईर्ष्याभाव उत्पन्न होनेसे और दासकर्ममें हठात् नियुक्त किये जानेपर अपने अपमानको देखकर उन अभिमानी देवोंमें दुःसह दुःख देखे जाते हैं। इस प्रकार इस दुरात्मा दुरन्त दुःखदायी महान् शत्रु मिथ्यात्वके द्वारा जीवोंको चारों ही गतियोंमें दुःसह भयंकर वेदनाएँ दी जाती हैं ॥३२-३६॥ संसाररूपी समुद्रमें पड़े हुए जीवोंको अन्य जितने भी दुःख भोगना पड़ते हैं, उन सबको देता हुआ यह मिथ्यात्व कभी भी विश्राम नहीं लेता है, अर्थात् निरन्तर महादुःखोंको देता ही रहता है ॥३७॥ जिस मिथ्यात्वसे विवेक नष्ट होता है और मूढ़ता उत्पन्न होती है, उस मिथ्यात्वसे बढ़कर और दुःखदायी संसारमें क्या है, अर्थात् मिथ्यात्वसे बढ़कर संसारमें दुःखदायी और कोई भी पदार्थ नहीं है ॥३८॥ जिस जीवने ऐसे भयंकर मिथ्यात्वरूपी विषको छोड़कर सम्यक्त्वको ग्रहण किया है, उसका जीवन सार्थक है और उसीने जन्मका फल प्राप्त किया है ॥३९॥ संसारमें परिभ्रमणका काल अर्धपुद्गलपरिवर्तनप्रमाण शेष रह जाने पर भव्य, पंचेन्द्रिय, पर्याप्तक और काललब्धि आदिको पानेवाला जीव अन्तर्मुहूर्तकालके द्वारा अपने मानसको निर्मल करके सम्यग्दर्शनके निरोधक कर्मोंके उपशम होने पर आद्य औपशमिक सम्यक्त्वको ग्रहण करता है ॥४०-४१॥ जैसे निर्मल दिनके पश्चात् अवश्य ही मलीमस रात्रि आती है, उसी प्रकार इस औपशमिकसम्यक्त्वके अन्तर्मुहूर्त पश्चात् मिथ्यात्व अवश्य उदयको प्राप्त होता है, यह निश्चित है ॥४२॥ तत्पश्चात् कोई महान् आत्मा वेदकसम्यक्त्वको प्राप्त होता है और कोई अतिनिकट भव्य क्षायिकसम्यक्त्वको प्राप्त होता है ॥४३॥ जब यह जीव सम्यक्त्वको प्राप्त करनेके सन्मुख होता है, तब प्रतिक्षण अनन्तगुणी विशुद्धिसे वर्धमान विशुद्ध परिणामवाला होता है, पापप्रकृतियोंकी स्थितिको प्रतिक्षण हीन करता है, अप्रशस्त प्रकृतियोंके अनुभागको प्रतीक्षण घटाता है और प्रशस्त प्रकृतियोंके अनुभागको प्रतिक्षण बढ़ाता है और योग्य अयोग्यका विवेचक बनता है। उक्त

अपूर्वकरणं तस्मात्तस्मादप्यनिवृत्तिकम् । विदधाति परीणामशुद्धिकारी क्षणे क्षणे ॥४७
तत्राद्ये करणे नास्तिच्छेदः स्थित्यनुभागयोः । अनन्तगुणया शुद्धया कर्म बध्नाति केवलम् ॥४८
द्वितीयः कुरुते तत्र किञ्चित्स्थितिरसक्षयम् । शुभानामशुभानां च वर्धयन् ह्रासयन्त्रसम् ॥४९
अन्तर्मुहूर्तिकः कालस्तेषां प्रत्येकमिष्यते । आदिमे कुरुते तस्मिन्नान्तरं करणं परम् ॥५०
प्रशमय्य ततो भव्यः कर्मप्रकृतिसप्तकम् । अन्तर्मुहूर्तिकं पूर्व सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते ॥५१
अन्तरे करणे तत्र युक्त्वाऽनन्तानुबन्धिभिः । अन्तर्मुहूर्तकालेन मिथ्यात्वमपवर्तते ॥५२
मिथ्यात्वं भिद्यते भेदैः शुद्धाशुद्धविमिश्रितैः । ततः सम्यक्त्वमिथ्यात्वसम्यङ्मिथ्यात्वनामभिः ॥५३
क्षपयित्वा परः कश्चित्कर्मप्रकृतिसप्तकम् । आदत्ते क्षायिकं पूतं सम्यक्त्वं मुक्तिकारणम् ॥५४
प्रशमे कर्मणां षण्णामुदयस्य क्षये सति । आदत्ते वेदकं वन्द्यं सम्यक्त्वस्योदये सति ॥५५
आदिमं त्रितयं हित्वा गुणेषु सकलेष्वपि । सम्यक्त्वं क्षायिकं ज्ञेयं मोक्षलक्ष्मीसमर्पकम् ॥५६

जीव अन्तःकोडाकोडीप्रमाण कर्मस्थिति सत्त्वके रह जाने पर अधःप्रवृत्तकरणको करता है, पश्चात् प्रतिसमय अपूर्व-अपूर्व परिणामोंको प्राप्त हुआ अपूर्वकरणको करके सम्यक्त्वप्राप्ति किये विना नहीं लौटनेवाले ऐसे अनिवृत्तिकरणको धारण करके अन्तमुंहूर्त तक प्रतिक्षण अति शुद्ध परिणामोंको धारण करता है ॥४४-४७॥

उपर्युक्त तीनों करणोंमेंसे पहले अधःकरणमें किसी भी कर्मकी स्थिति और अनुभागका विच्छेद नहीं होता है, केवल वह अनन्तगुणी विशुद्धिसे पुण्य प्रकृतिरूप कर्मको बाँधता है। दूसरा अपूर्वकरण शुभ कर्मोंके रसको बढ़ाता हुआ और अशुभ कर्मोंके रसको घटाता हुआ पाप कर्मोंकी स्थिति और रसका कुछ क्षय करता है। उपर्युक्त प्रत्येक करणका काल अन्तर्मुहूर्तप्रमाण कहा गया है। इनमेंसे आदिके करणमें यह जीव अन्तरकरण करता है ॥४८-५०॥ विशेषार्थ—यहाँ जो यह कहा गया है कि आदिके करणमें जीव अन्तरकरण करता है, सो यह कथन सिद्धान्तशास्त्रोंके विरुद्ध है, क्योंकि उनमें स्पष्ट कहा गया है—'अणियट्टिअद्धाए संखेज्जेसु भागेसु गदेसु अंतरं करेदि' (कसायपाहुडसुत्त. १०।९३) अर्थात् तीसरे अनिवृत्तिकरणके संख्यात भागोंके व्यतीत होने पर जीव अन्तरकरण करता है। विवक्षित कर्मकी अधस्तन और उपरितन स्थितियोंको छोड़कर मध्यवर्ती अन्तर्मुहूर्तप्रमाण स्थितियोंके निषेकोंका करणपरिणामोंसे अभाव करनेको अन्तरकरण कहते हैं। (विशेषके लिए देखें कसायपाहुडसुत्त. पृ० ६२६) सम्यक्त्वके अभिमुख हुआ जीव उस अन्तरकरणके समयमें अन्तर्मुहूर्तकालके द्वारा अनन्तानुबन्धी कषायोंके साथ मिथ्यात्वकर्मका अपवर्तन करता है ॥५१॥ इस अन्तरकरणके समय होनेवाले विशुद्धपरिणामोंके द्वारा मिथ्यात्वकर्मके शुद्ध, अशुद्ध और मिश्ररूपसे सम्यक्त्वप्रकृति, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व नामवाले तीन टुकड़े कर देता है ॥५२॥ तदनन्तर वह जीव अनन्तानुबन्धी कषायचतुष्क और दर्शनमोहके उक्त तीन विभाग, इन सातों कर्मप्रकृतियोंका उपशम करके अन्तर्मुहूर्तकालकी स्थितिवाले प्रथमोपशम सम्यक्त्वको प्राप्त होता है ॥५३॥ तदनन्तर कोई निकट संसारी भव्य उक्त सातों कर्मप्रकृतियोंका क्षय करके मुक्तिका कारण क्षायिकसम्यक्त्वको ग्रहण करता है ॥५४॥ कोई जीव उक्त सात कर्मोंमेंसे छह कर्मोंका उपशम और उदयाभावी क्षय होने पर वन्दनीय वेदक सम्यक्त्वको ग्रहण करता है ॥५५॥ भावार्थ—वर्तमानकालमें उदय आने योग्य कर्म निषेकोंका उदयाभावी क्षय और आगामी कालमें उदय आनेके योग्य निषेकोंका सदवस्थारूप उपशम होने पर, तथा सम्यक्त्वप्रकृतिका उदय होने

तुर्यादारभ्य विज्ञेयमुपशान्तान्तमादिमम् । चतुर्थे पंचमे षष्ठे सप्तमे वेदकं पुनः ॥५७
साध्यसाधनभेदेन द्विधा सम्यक्त्वमिष्यते । कथ्यते क्षायिकं साध्यं द्वितीयं साधनं परम् ॥५८
प्रथमायां त्रयं पृथ्व्यामन्यासु क्षायिकं विना । सम्यक्त्वमुच्यते सद्भिर्भवभ्रमणसूदनम् ॥५९
तिर्यङ्मानवदेवानां सम्यक्त्वत्रितयं मतम् । निलिम्पीनां तिरश्चीनां क्षायिकं विद्यते न तु ॥६०
क्षायोपशमिकस्योक्ताः षट्षष्टिर्जलराशयः । अन्तर्मौहूर्तिकी ज्ञेया प्रथमस्य स्थितिः परा ॥६१
पूर्वकोटिद्वयोपेतास्त्रयस्त्रिंशन्नदीशिनः । ईषदूना स्थितिर्ज्ञेया क्षायिकस्योत्तमा बुधैः ॥६२
अधस्ताच्छ्वभ्रभूषट्के सर्वत्र प्रमदाजने । निकायत्रितये पूर्वं जायते न सुदर्शनः ॥६३
पञ्चाक्षं सञ्ज्ञिनं हित्वा परेषु द्वादशेष्वपि । उत्पद्यते न सद्दृष्टिर्मिथ्यात्वबलभाविषु ॥६४
वीतरागं सरागं च सम्यक्त्वं कथितं द्विधा । विरागं क्षायिकं तत्र सरागमपरे द्वयम् ॥६५
संवेगप्रशमास्तिक्यकारुण्यव्यक्तिलक्षणम् । सरागं पटुभिर्ज्ञेयमुपेक्षालक्षणं परम् ॥६६
निसर्गाधिगमौ हेतू तस्य बाह्यावुदाहृतौ । लब्धिः कर्मसमाधीनामन्तरङ्गो विधीयते ॥६७
सम्यक्त्वाध्युषिते जीवे नाज्ञानं व्यवतिष्ठते । भास्वता भासिते देशे तमसः कीदृशी स्थितिः ॥६८

पर जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है, उसे वेदक सम्यक्त्व होते हैं। शेष छह प्रकृतियोंका क्षयोपशम होनेकी अपेक्षा उसे ही क्षायोपशमिकसम्यक्त्व भी कहते हैं। चौदह गुणस्थानोमेंसे आदिके तीन गुणस्थानोंको छोड़कर ऊपरके समस्त गुणस्थानोंमें मोक्षलक्ष्मीको समर्पण करनेवाले क्षायिक-सम्यक्त्वका सद्भाव जानना चाहिये ॥५६॥ चौथे गुणस्थानसे लेकर उपशान्तमोह नामक ग्यारहवें गुणस्थान तक आदिका औपशमिक सम्यक्त्व पाया जाता है। तथा वेदकसम्यक्त्व चौथे, पाँचवें, छठें और सातवें गुणस्थानमें पाया जाता है ॥५७॥

साध्य और साधनके भेदसे सम्यक्त्व दो प्रकारका कहा गया है। क्षायिकसम्यक्त्व साध्यरूप है और शेष दोनों सम्यक्त्व साधनरूप हैं ॥५८॥ पहली रत्नप्रभा पृथ्वीके नारकियोंके भव-भ्रमणके नाशक तीनों ही सम्यक्त्व पाये जाते हैं। किन्तु शेष छह पृथिवियोंके नारकियोंके क्षायिकके विना दो ही सम्यक्त्व सन्त पुरुषों ने कहे हैं ॥५९॥ तिर्यंच और मनुष्योंके तीनों ही सम्यक्त्व हो सकते हैं। किन्तु देवांगनाओंके तथा तिर्यंचनियोंके क्षायिकसम्यक्त्व नहीं पाया जाता है ॥६०॥ क्षायोकशमिकसम्यक्त्वकी उत्कृष्ट स्थिति छ्यासठ सागरोपम कही गयी है। पहलेकी अर्थात्, औपशमिकसम्यक्त्वकी उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्तमात्र है ॥६१॥ क्षायिकसम्यक्त्वकी उत्कृष्ट स्थिति कुछ कम दो पूर्वकोटी वर्षसे अधिक तेतीस सागरोपम ज्ञानियोंने कही है ॥६२॥ सम्यग्दृष्टि-जीव मर कर नीचेकी छह पृथिवियोंमें, सभी प्रकारकी स्त्रियोंमें, और अपर्याप्त जीवोंमें उत्पन्न नहीं होता है ॥६३॥ चौदह जीवसमासोंमेंसे संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त और अपर्याप्त इन दो जीव-समासोंको छोड़कर मिथ्यात्वके बलसे होनेवाले शेष बारह जीवसमासोंमें सम्यग्दृष्टि जीव नहीं उत्पन्न होता है ॥६४॥ ज्ञानियोंने सम्यक्त्व दो प्रकारका कहा है—वीतरागसम्यक्त्व और सराग-सम्यक्त्व। इनमें क्षायिक वीतरागसम्यक्त्व है और शेष दोनों सरागसम्यक्त्व हैं ॥६५॥ संवेग, प्रशम, आस्तिक्य और कारुण्यभावसे व्यक्त लक्षणवाला सरागसम्यक्त्व है और उपेक्षाभाव स्वरूप वीतरागसम्यक्त्व चतुर जनोंको जानना चाहिये ॥६६॥ उस सम्यक्त्वके निसर्ग और अधिगम ये दो वाह्य कारण कहे गये हैं। दर्शनमोहनीय और अनन्तानुबन्धी कर्मोंके उपशम आदिकी प्राप्ति-को अन्तरंग कारण कहा गया है ॥६७॥ सम्यक्त्वसे सहित जीवमें अज्ञान नहीं ठहर सकता है। सूर्यसे प्रकाशमान प्रदेशमें अन्धकारकी स्थिति कैसे हो सकती है ॥६८॥

न दुःखबीजं शुभदर्शनक्षितौ कदाचन क्षिप्रमपि प्ररोहति ।
सदाऽप्यनुप्तं सुखबीजमुत्तमं कुदर्शने तद्विपरीतमीक्षते ॥६९
सम्यक्त्वमेघः कुशलाम्बु वन्दितं निरन्तरं वर्षति धौतकल्मषः ।
मिथ्यात्वमेघो व्यसनाम्बु निन्दितं जनावनौ क्षालितपुण्यसञ्चयः ॥७०

न भीषणो दोषगणः सुदर्शने विगर्हणीयः स्थिरतां प्रपद्यते ।
भुजङ्गमानां निवहोऽवतिष्ठते सदा निवासेऽध्युषिते गरुत्मता ॥७१
विवर्धमाना यमसंयमादयः पवित्रसम्यक्त्वगुणेन सर्वदा ।
फलन्ति हृद्यानि फलानि पादपा महोदकेनेव मलापहारिणा ॥७२

निषेवते यो विषयाभिलाषुको निरस्य सम्यक्त्वमधीः कुदर्शनम् ।
स राज्यमत्यस्य भुजिष्यतां स्फुटं बृहावकाङ्क्षी वृणुते दुराशयः ॥७३
तथ्ये धर्मे ध्वस्तहिंसाप्रपञ्चे देवे रागद्वेषमोहादिमुक्ते ।
साधौ सर्वग्रन्थसन्दर्भहीने संवेगोऽसौ निश्चलो योऽनुरागः ॥७४

देहे भोगे निन्दिते जन्मवासे कृष्टेष्वासक्षिप्तबाणास्थिरत्वे ।
यद्वैराग्यं जायते निष्प्रकम्पं निर्वेगोऽसौ कथ्यते मुक्तिहेतुः ॥७५
कान्तापुत्रभ्रातृमित्रादिहेतोः शिष्टद्विष्टे निर्मिते कार्यजाते ।
पश्चात्तापो यो विरक्तस्य पुंसो निन्दा सोक्ताऽवद्यवृक्षस्य दात्री ॥७६

सम्यग्दर्शनरूप शुभ भूमिमें गिरा हुआ भी दुःखरूप बीज कदाचित् भी अंकुरित नहीं होता है। और बिना बोया गया भी सुखरूप बीज सदा ही अंकुरित होता है। किन्तु मिथ्यादर्शनरूप अशुभभूमिमें इससे विपरीत देखा जाता है। अर्थात् मिथ्यादृष्टिके दुःखरूप बीज बिना बोये भी उगते हैं और सुखरूप बीज बोये जानेपर भी नहीं उगते हैं ॥६९॥ कल्मष पापोंको धोनेवाला सम्यक्त्वरूपी मेघ वन्दनीय कल्याणकारी जलकी निरन्तर वर्षा करता है। किन्तु पुण्यके संचयको धोनेवाला मिथ्यात्वरूपी मेघ निन्दनीय दुःखदायी जलको जनरूप भूमिमें निरन्तर बरसाता रहता है ॥७०॥ सम्यग्दर्शनके सद्भावमें भीषण एवं निन्दनीय भी दोषोंका समूह स्थिरताको नहीं प्राप्त होता है। गरुडसे सेवित स्थान पर साँपोंका समुदाय कभी ठहर सकता है, अर्थात् कभी नहीं ठहर सकता ॥७१॥ पवित्र सम्यक्त्वरूप गुणसे सिंचित यमनियम संयमादिक सदा बढ़ते रहते हैं। जैसे मलको दूर करनेवाले मेघके जलसे सिंचित वृक्ष सदा मनोहर फलोंको फलते रहते हैं ॥७२॥ जो कुबुद्धि विषयाभिलाषी होकर और सम्यक्त्वको दूर कर मिथ्यादर्शनका सेवन करता है, वह दुष्ट-चित्त पुरुष राज्यको छोड़कर और महत्त्वाकांक्षी बनकर सेवकवृत्तिको अंगीकार करता है ॥७३॥

अब आचार्य संवेगादिक गुणोंका वर्णन करते हैं—हिंसा पापके विस्तारसे रहित अहिंसामयी सत्य धर्ममें, राग द्वेष और मोहादिसे रहित देवमें और सर्व प्रकारके परिग्रहके सन्दर्भसे रहित साधुमें जो निश्चल अनुराग होता है, वह संवेग कहलाता है ॥७४॥ निन्दनीय शरीरमें, भोगमें और कान तक खींचकर शीघ्र छोड़े गये बाणके समान अस्थिर संसारमें जो निष्प्रकम्प वैराग्य होता है, वह मुक्तिका हेतु निर्वेद कहलाता है ॥७५॥ स्त्री, पुत्र, भाई, मित्र आदिके निमित्तसे राग-द्वेषरूप कार्योंके हो जानेपर उनसे विरक्त हुए पुरुषके हृदयमें जो पश्चात्ताप होता है, वह

जाते दोषे द्वेषरागादिदोषैरग्रे भक्त्याऽऽलोचना या गुरूणाम् ।
पञ्चाचाराचारकाणामदोषा सोक्ता गर्हा गर्हणीयस्य हन्त्री ॥७७

रागद्वेषक्रोधलोभप्रपञ्चाः सर्वानर्थावासभूता दुरन्ताः ।
यस्य स्वान्ते कुर्वते न स्थिरत्वं शान्तात्माऽसौ कथ्यते भव्यसिंहः ॥७८

लोकाधीशाभ्यर्चनीयाङ्घ्रियुग्मे तीर्थाधीशे साधुवर्गे सपर्या ।
या निर्व्याजा भाव्यते भव्यलोकैर्भक्तिः सेष्टा जन्मकान्तारशस्त्री ॥७९

कर्मारण्यं छेत्तुकामैरकामैर्धर्माधारैर्व्यावृतिः प्राणिवर्गे ।
भैषज्याद्यैः प्रासुकैर्वर्ध्यते या तद्वात्सल्यं कथ्यते तथ्यबोधैः ॥८०

जन्माम्भोधौ कर्मणा भ्राम्यमाणे जीवग्रामे दुःखितेऽनेकभेदे ।
चित्तार्द्रत्वं यद्विधत्ते महात्मा तत्कारुण्यं दर्श्यते दर्शनीयैः ॥८१

प्रवर्ध्यते दर्शनमष्टभिर्गुणैः शरीरिणोऽमीभिरपास्तदूषणैः ।
गुरूपदेशैरिव धर्मवर्धनं विधीयमानैर्हृदये निरन्तरम् ॥८२

अपारसंसारसमुद्रतारकं वशीकृतं येन सुदर्शनं परम् ।
वशीकृतास्तेन जनेन सम्पदः परैरलभ्या विपदामनास्पदम् ॥८३

पापरूप वृक्षोंको नाश करनेवाली निन्दा कही गई है ॥७६॥ राग-द्वेष आदि दोषों द्वारा पापकार्यके हो जाने पर पंच आचारके आचरण करनेवाले गुरुजनोंके आगे भक्तिके साथ अपने दोषोंकी निर्दोष आलोचना की जाती है, उसे निन्दनीय दोषोंकी नाश करनेवाली गर्हा कहा गया है ॥७७॥ सभी अनर्थोंके निवासभूत और दुःखसे जिनका अन्त होता है ऐसे राग-द्वेष, क्रोध, लोभ आदिक विकारी भाव जिस पुरुषके हृदयमें स्थिरता नहीं करते हैं, वह भव्यसिंह शान्तात्मा प्रशंसनीय होता है। अर्थात् जिनका मन राग-द्वेषादिसे रहित शान्त होता है, उसके उपशम गुण जानना चाहिये ॥७८॥ तीनों लोकोंके स्वामी इन्द्र, नरेन्द्र और नागेन्द्रसे जिनके चरणकमल युगल पूजे जाते हैं ऐसे तीर्थंकरदेवमें तथा साधुवर्गमें भव्य लोगोंके द्वारा जो निश्छल पूजा की जाती है, वह संसार-कान्तारको काटने वाली भक्ति कही गई है ॥७९॥ कर्मरूप काननके छेदनेके इच्छुक एवं अन्य कामनाओंसे रहित पुरुषोंके द्वारा धर्मके आधारभूत प्राणियों पर जो औषधि आदिक प्रासुक द्रव्योंसे वैयावृत्य की जाती है, उसे यथार्थज्ञानियोंने वात्सल्य गुण कहा है ॥८०॥ संसाररूप समुद्रमें कर्मके निमित्तसे परिभ्रमण करनेवाले महान् दुःखी ऐसे अनेक भेदोंवाले प्राणिवर्गमें जो महान् आत्मा चित्तकी दयालुताको धारण करता है, उसे दर्शनीय आचार्योंने कारुण्यभाव कहा है ॥८१॥ जिस प्रकार हृदयमें निरन्तर धारण किये गये गुरुजनोंके उपदेशोंसे धर्मका ज्ञान बढ़ता है, उसी प्रकार दूषण-रहित इन उपर्युक्त आठों गुणोंके द्वारा जीवके सम्यग्दर्शन वृद्धिको प्राप्त होता है ॥८२॥ जिस जीवने इस अपार संसार-समुद्रसे पार उतारने वाले और विपदाओंसे रहित ऐसे श्रेष्ठ सम्यग्दर्शनको अपने वशमें कर लिया उस पुरुषने दूसरोंके द्वारा अलभ्य ऐसी सभी श्रेष्ठ सम्पदाएँ अपने वशमें कर लीं, ऐसा समझना चाहिए ॥८३॥

सुदर्शने लब्धमहोदये गुणाः श्रिया निवासा विकसन्ति देहिनि।
निरस्तदोषापचये सरोवरे हिमेतरांशाविव पंकजाकराः ॥८४
दर्शनबन्धोर्न परो बन्धुर्दर्शनलाभान्न परो लाभः।
दर्शनमित्रान्न परं मित्रं दर्शनसौख्यान्न परं सौख्यम् ॥८५

लब्ध्वा मुहूर्तमपि ये परिवर्जयन्ते
सम्यक्त्वरत्नमनवद्यपदप्रदायि।
भ्राम्यन्ति तेऽपि न चिरं भववारिराशौ
तद्विभ्रतां चिरतरं किमिहास्ति वाच्यम् ॥८६
पापं यदर्जितमनेकभवैर्दुरन्तैः
सम्यक्त्वमेतदखिलं सहसा हिनस्ति।
भस्मीकरोति सहसा तृणकाष्ठराशिं
किं नोर्जितोज्ज्वलशिखो ज्वलनः समृद्धम् ॥८७

नैव भवस्थितिवेदिनि जीवे दर्शनशालिनि तिष्ठति दुःखम्।
कुत्र हिमस्थितिरस्ति हि देशे ग्रीष्मदिवाकरदीधितितप्ते ॥८८

भुवनजनताजन्मोत्पत्तिप्रपञ्चनिषूदिनी,
जिनमतरुचिश्चिन्तामण्या यकैरुपमीयते।
त्रिदशसरणीं ते भाषन्ते समां परमाणुना,
प्रभवति मतिर्मिथ्या मिथ्यादृशामथवा सदा ॥८९

महान् उदयवाले और समस्त दोषोंके समूहसे रहित ऐसे सम्यग्दर्शनके प्राप्त हो जानेपर जीवोंमें लक्ष्मीके निवासभूत अनेक गुण स्वयं विकासको प्राप्त होते हैं। जैसे रात्रिके दूर होनेपर और सूर्यके उदय होने पर सरोवरमें कमलोंका समूह विकासको प्राप्त होता है ॥८४॥ संसारमें सम्यग्दर्शनरूप बन्धुके समान दूसरा कोई बन्धु नहीं, सम्यग्दर्शनके लाभके समान कोई अन्य लाभ नहीं, सम्यग्दर्शनरूप मित्रके समान कोई दूसरा मित्र नहीं और सम्यग्दर्शनके सुखके समान और कोई दूसरा सुख नहीं है ॥८५॥ ऐसे निर्दोष मोक्ष पदके देनेवाले सम्यक्त्वरूप रत्नको एक मुहूर्त्त-मात्रके लिए भी पाकर जो छोड़ देते हैं, वे जीव भी संसार-समुद्रमें चिरकाल तक परिभ्रमण करते हैं। फिर जो इस सम्यक्त्व रत्नको चिरकाल तक धारण करते हैं। उनका तो कहना ही क्या है ॥८६॥

जीव अनेक दुरन्त भावों द्वारा जो पाप उपार्जित करता है, उस सबको यह सम्यक्त्व सहसा क्षणमात्रमें विनष्ट कर देता है। क्या स्फुरायमान उज्ज्वल शिखाओंवाली अग्नि, तृण और काष्ठके विशाल समूहको सहसा भस्म नहीं कर देती है ॥८७॥ संसारकी स्थिति जाननेवाले ऐसे सम्यग्दर्शनसे युक्त जीवमें दुःख नहीं ठहर सकते हैं। जैसे ग्रीष्मकालके सूर्यकी किरणोंसे प्रदीप्त प्रदेशमें शीतकी स्थिति कैसे रह सकती है ॥८८॥ तीनों लोकोंके प्राणियोंके संसारकी उत्पत्तिके प्रबन्धकी नाश करनेवाली ऐसी जिनमत-विषयक श्रद्धाको जो लोग चिन्तामणिरत्नसे उपमा देते हैं, वे लोग आकाशको परमाणुके समान कहते हैं। अर्थात् चिन्तामणिरत्नसे जिनमतकी श्रद्धारूप सम्यक्त्वरत्न बहुत अधिक महत्त्वशाली है। अथवा मिथ्यादृष्टि जीवोंकी बुद्धि सदा

अवहितमनाः सद्मोत्सङ्गं निधानमिवोत्तमं,
नयति हृदयं यः सम्यक्त्वं शशाङ्ककरोज्ज्वलम् ।
अमितगतयः क्षिप्रं लक्ष्म्यः श्रयन्ति तमादृता
निरुपमा गुणाः कान्तं कान्तं स्वयं प्रमदा इव ॥९०

इत्युपासकाचारे द्वितीयः परिच्छेदः

तृतीयः परिच्छेदः

जीवाजीवादितत्त्वानि ज्ञातव्यानि मनीषिणा । श्रद्धानं कुर्वता तेषु सम्यग्दर्शनधारिणा ॥१
तत्र जीवा द्विधा ज्ञेया मुक्तसंसारिभेदतः । अनादिनिधनाः सर्वे ज्ञानदर्शनलक्षणाः ॥२
तत्र क्षताष्टकर्माणः प्राप्ताष्टगुणसम्पदः । त्रिलोकवेदिनो मुक्तास्त्रिलोकाग्रनिवासिनः ॥३
अनन्तरेषदूनांगसमानाकृतयः स्थिराः । आत्मनीनजनाभ्यर्च्या भाविनं कालमासते ॥४
संसारिणो द्विधा जीवाः स्थावराः कथितास्त्रसाः । द्वितीयेऽपि प्रजायन्ते पूर्णापूर्णतया द्विधा ॥५
आहारविग्रहाक्षानवचोमानसलक्षणम् । पर्याप्तीनां मतं षट्कं पूर्णापूर्णत्वकारणम् ॥६
चतस्रः पञ्च षड्ज्ञेयास्तेषां पर्याप्तयोऽङ्गिनाम् । एकाक्षविकलाक्षाणां पञ्चाक्षाणां यथाक्रमम् ॥७

मिथ्यारूप ही रहती है, इसमें कोई आश्चर्य नहीं है ॥८९॥ जो मनुष्य सावधान चित्त होकर चन्द्रकिरणोंके समान उज्ज्वल सम्यक्त्वको घरके मध्यमें स्थित निधि ज्यों अपने हृदयमें धारण करता है उस मनुष्यका अपरिमित ज्ञानवाली और अनुपम गुणोंको धारण करनेवाली लक्ष्मियाँ शीघ्र ही आदरपूर्वक आश्रय लेती हैं। जैसे कि सुन्दर पतिको उत्तम स्त्रियाँ स्वयं प्राप्त होती हैं ॥९०॥

इस प्रकार अमितगति-विरचित श्रावकाचारमें द्वितीय परिच्छेद
समाप्त हुआ ।

सम्यग्दर्शनके धारक मनीषी पुरुषको जीव, अजीव आदि तत्त्वोंका श्रद्धान करते हुए उन्हें सम्यक् प्रकारसे जानना चाहिये ॥१॥ उन सात तत्त्वों में जीव मुक्त और संसारीके भेदसे दो प्रकारसे जानना चाहिये । ये सभी जीव अनादिनिधन हैं, अर्थात् आदि अन्तसे रहित हैं और ज्ञान-दर्शन लक्षणवाले हैं ॥२॥ उनमें जो मुक्त जीव हैं, वे अष्टकर्मोंसे रहित हैं, सम्यक्त्व आदि आठ गुणोंकी सम्पदाको प्राप्त हैं, तीनों लोकोंके ज्ञाता हैं और लोकके अग्र भाग पर निवास करते हैं ॥३॥ वे मुक्त जीव अन्तिम शरीरसे कुछ कम समान आकारके धारक हैं, स्थिर हैं, आत्म-हितैषी जनोंसे पूज्य हैं और आगामी अनन्त काल तक इसी स्वरूपसे अवस्थित रहेंगे ॥४॥ संसारी जीव दो प्रकारके कहे गये हैं—त्रस और स्थावर। ये दोनों ही प्रकारके जीव पर्याप्त और अपर्याप्तरूपसे दो प्रकारके होते हैं ॥५॥ आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, वचन और मन लक्षणवाली ये छह पर्याप्तियाँ उनके पर्याप्त और अपर्याप्तपनेकी कारण मानी गई हैं ॥६॥ भावार्थ—जिनके अपने योग्य पर्याप्तियोंकी पूर्णता होती है, वे पर्याप्त जीव कहलाते हैं और जिनके पूर्णता नहीं होती है, वे अपर्याप्त जीव कहलाते हैं। उन एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय प्राणियोंके

एकाक्षाः स्थावरा जीवाः पञ्चधा परिकीर्तिताः। पृथिवी सलिलं तेजो मारुतश्च वनस्पतिः ॥८
भेदास्तत्र त्रयः पृथ्व्याः कायकायिकतद्भवाः। निर्मुक्तस्वीकृतागामिरूपा एवं परेष्वपि ॥९
मता द्वित्रिचतुःपञ्चहृषीकास्त्रसकायिकाः। पञ्चाक्षा द्विविधास्तत्र संज्ञ्यसंज्ञिविकल्पतः ॥१०
सङ्केतदेशनालापग्राहिणः सञ्ज्ञिनो मताः। प्रवृत्तमानसप्राणा विपरीतास्त्वसंज्ञिनः ॥११
स्पर्शनं रसनं घ्राणं चक्षुः श्रोत्रमतीन्द्रियम्। तस्य स्पर्शरसौ गन्धो रूपं शब्दश्च गोचरः ॥१२
गण्डूपदजलौकाख्यकृमिशङ्खेन्द्रगोपकाः। गदिता विविधाकारा द्विहृषिकाः शरीरिणः ॥१३
यूकापिपीलिकालिक्षाकुन्थुमत्कुणवृश्चिकम्। त्रिहृषीकं मतं प्राज्ञैर्विचित्राकारसंयुतम् ॥१४
पतङ्गमक्षिकादंशमशका भ्रमरादयः। चतुरक्षा विबोद्धव्या विबुद्धजिनशासनैः ॥१५
तिर्यग्योनिभवाः शेषाः श्वाभ्रमानवनाकिनः। विभिन्ना विविधैर्भेदैः स्वीकृतेन्द्रियपञ्चकाः ॥१६
हृषीकपञ्चकं भाषाकायस्वान्तबलत्रिकम्। आयुरुच्छ्वासनिश्वासद्वन्द्वं प्राणा दशोदिताः ॥१७
शरीराक्षायुरुच्छ्वासा भाषिता निखिलेष्वपि। विकलासंज्ञिनां वाणी पूर्णानां संज्ञिनां मनः ॥१८

यथाक्रमसे चार, पाँच और छह पर्याप्तियाँ जानना चाहिये ॥७॥ भावार्थ—एकेन्द्रिय जीवके आहार, शरीर, इन्द्रिय और श्वासोच्छ्वास ये चार पर्याप्तियाँ होती हैं। द्वीन्द्रियसे लगाकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तकके विकलेन्द्रिय जीवके उक्त चार और वचन ये पाँच पर्याप्तियाँ होती हैं और संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवोंके मन-सहित शेष सब अर्थात् छह पर्याप्तियाँ होती हैं। एकेन्द्रिय स्थावर जीव पाँच प्रकारके कहे गये हैं—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति ॥८॥ इनमेंसे पृथिवीके तीन भेद हैं—पृथिवीकाय, पृथिवीकायिक और पृथिवीजीव। एकेन्द्रिय पृथ्वीकायिक जीवके द्वारा छोड़ा गया शरीर पृथिवीकाय कहलाता है। पृथिवीजीवके द्वारा धारण किया हुआ शरीर पृथिवीकायिक कहलाता है और जो एकेन्द्रिय जीव आगामी समयमें पृथिवीकायिक होने वाला है, ऐसा विग्रह-गति वाला अन्तरालवर्ती जीव पृथिवी जीव कहलाता है। इसी प्रकारसे जल आदि शेप चार प्रकारके एकेन्द्रिय जीवोंके भी तीन-तीन भेद जानना चाहिये ॥९॥

त्रसकायिक जीव चार प्रकारके माने गये हैं—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय-जीव। इनमें पंचेन्द्रिय-जीव संज्ञी और असंज्ञीके भेदसे दो प्रकारके जानना चाहिये ॥१०॥ जो जीव शिक्षा, उपदेश, आलाप (शब्द) के ग्रहण करनेवाले हैं, जिनके मनप्राण पाया जाता है, वे संज्ञी कहलाते हैं। इनसे विपरीत जीवोंको असंज्ञी जानना चाहिये ॥११॥ इन्द्रियाँ पाँच होती हैं—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र। इनका विपय क्रमसे स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द है ॥१२॥ गिंडोला, जौंक, कौंडी, कृमि, शंख और इन्द्रगोप आदि नाना आकार वाले द्वीन्द्रिय जीव कहे गये हैं ॥१३॥ जूँ, कीड़ी, लीख, कुन्थु, खटमल, बिच्छू आदि विचित्र आकारोंसे संयुक्त त्रीन्द्रियजीव ज्ञानियोंने कहे हैं ॥१४॥ पतंग, मक्खी, डाँस, मच्छर और भौंरा आदि चतुरिन्द्रिय जीव जिनशासनके जानकारों द्वारा ज्ञातव्य हैं ॥१५॥ उपर्युक्त जीवोंके सिवाय शेप तिर्यग्योनिके अनेक भेदवाले जीव तथा नारकी, मनुष्य और देव ये सभी पंचेन्द्रिय जीव जानना चाहिये ॥१६॥ पाँच इन्द्रियाँ, भापावल, कायवल, मनोबल ये तीन वल, आयु और श्वासोच्छ्वास ये दो इस प्रकार दश प्राण कहे गये हैं ॥१७॥ शरीर, इन्द्रिय, आयु और श्वासोच्छ्वास ये चार प्राण सभी एकेन्द्रिय पर्याप्तक जीवोंके होते हैं। विकलेन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीवोंके वाणी (वचन)

एकद्वित्रिचतुःपञ्चहृषीकाणां विभाजिताः । अन्येषां त्रिचतुःपञ्चषट् सप्ताङ्गायुरिन्द्रियैः १९
जरायुजाण्डजाः पोता गर्भजा देवनारकाः । उपपादभवा शेषाः सम्मूर्च्छनभवा मताः ॥२०
श्वाभ्रसम्मूर्च्छिनो जीवा भूरिपापा नपुंसकाः । स्त्रीपुंवेदा मता देवा सवेदत्रितयाः परे ॥२१
सचित्तः संवृत्तः शीतः सेतरो वा विमिश्रकः । विभेदैरान्तरैर्भिन्ना नवधा योनिरङ्गिनाम् ॥२२
भूरूहेषु दश ज्ञेयाः सप्त नित्यान्यधातुषु । नारकामरतिर्यक्षु चत्वारो विकलेषु षट् ॥२३
चतुर्दश मनुष्येषु योनयः सन्ति पिण्डिताः । सर्वे शतसहस्राणामशीतिश्चतुरुत्तराः ॥२४
गतीन्द्रियवपुर्योगज्ञानवेदक्रुधादयः । संयमाहारभव्येक्षालेश्यासम्यक्त्वसंज्ञिनः ॥२५
मार्ग्यन्ते सर्वदा जीवा यासु मार्गणकोविदैः । सम्यक्त्वशुद्धये मार्ग्यास्ताश्चतुर्दश मार्गणाः ॥२६

प्राण होता है और संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीवोंके मन प्राण होता है ॥१८॥ एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवोंके उत्तरोत्तर विभाजित अधिक-अधिक प्राण होते हैं। अर्थात् एकेन्द्रिय जीवके स्पर्शनेन्द्रिय, शरीर, आयु और श्वासोच्छ्वास ये चार प्राण होते हैं। द्वीन्द्रिय जीवके रसनेन्द्रिय और वचन-सहित छह प्राण, त्रीन्द्रिय जीवके घ्राणेन्द्रिय-सहित सात प्राण, चतुरिन्द्रिय जीवके चक्षुरिन्द्रिय-सहित आठ प्राण, असंज्ञी पंचेन्द्रियके श्रोत्रेन्द्रिय-सहित नौ प्राण और संज्ञी पंचेन्द्रियके मन-सहित दश प्राण होते हैं। पर्याप्तकोंसे भिन्न जो अपर्याप्त जीव हैं, उनमें एकेन्द्रियके स्पर्शनेन्द्रिय, शरीर और आयु ये तीन प्राण होते हैं। द्वीन्द्रियके रसना-सहित चार प्राण होते हैं। त्रीन्द्रियके घ्राण-सहित पाँच प्राण, चतुरिन्द्रिय के चक्षु-सहित छह प्राण और पंचेन्द्रियके श्रोत्र-सहित सात प्राण होते हैं, ऐसा जानना चाहिये ॥१९॥

माताके गर्भसे उत्पन्न होनेवाले जीव तीन प्रकार के होते हैं—जरायुज, अण्डज और पोत। देव और नारकी उपपाद जन्म वाले हैं और शेष सर्व जीव सम्मूर्च्छन जन्मवाले माने गये हैं ॥२०॥ अत्यन्त पापी, नारकी और सम्मूर्च्छन जीव नपुंसकवेदी हैं। देव, स्त्री और पुरुषवेदी होते हैं। इनके सिवाय शेष सर्व जीव तीनों वेदवाले माने गये हैं ॥२१॥ सचित्त, संवृत, शीत इनसे विपरीत अचित्त, विवृत और उष्ण तथा मिश्रित अर्थात् सचित्ताचित्त, संवृतविवृत और शीतोष्ण इस प्रकार अन्तर भेदोंसे भेदको प्राप्त नौ प्रकारकी योनियाँ देह-धारियोंके होती हैं ॥२२॥ इन योनियोंके उत्तर भेद ८४ लाख हैं। उनमेंसे वृक्षोंकी दस लाख योनियाँ जानना चाहिये। नित्यनिगोद, इतरनिगोद और पृथ्वीकायिक आदि चार धातुवाले एकेन्द्रिय जीवोंके ७-७ लाख योनियाँ होती हैं। नारकी, देव और पंचेन्द्रिय तिर्यंचोंकी ४-४ लाख योनियाँ होती हैं। विकलत्रय-जीवोंकी ६ लाख योनियाँ हैं और मनुष्योंमें १४ लाख योनियाँ होती हैं। इस प्रकार सभी मिलकर [१० + (७ × ६ =) ४२ + ४ + ४ + ४ + ६ + १४ = ८४] चौरासी लाख योनियाँ होती हैं। ये सभी सचित्तादि योनियोंके ही उत्तरभेदरूप जानना चाहिये ॥२३-२४॥ जीवोंके अन्वेषणमें चतुर पुरुषोंके द्वारा जिन आधारों पर जीव सदा अन्वेषण किये जाते हैं, उन्हें मार्गणा कहते हैं।—वे मार्गणाएँ चौदह होती हैं—१. गति, २. इन्द्रिय, ३. काय, ४. योग, ५. वेद, ६. कषाय, ७. ज्ञान, ८. संयम, ९. दर्शन, १०. लेश्या, ११. भव्यत्व, १२. सम्यक्त्व, १३. संज्ञित्व और १४. आहार-मार्गणा। अपने सम्यक्त्वकी शुद्धिके लिए ज्ञानियोंको सदा इनके द्वारा जीवोंका अन्वेषण करना

मिथ्यादृक् सासादनो मिश्रदृष्टिः सम्यग्दृष्टिः संयतासंयताख्यः ।
ज्ञेयावन्यौ द्वौ प्रमत्ताप्रमत्तौ सत्रा पूर्वेणानिवृत्त्यल्पलोभौ ॥२७
शान्तक्षीणौ योग्ययोगौ जिनेन्द्रौ द्विः सप्तैवं ते गुणस्थानभेदाः ।
त्रैलोक्याग्रारूढिसोपानमार्गास्तथ्यं येषु ज्ञायते जीवतत्त्वम् ॥२८

धर्माधर्मनभःकालपुद्गलाः परिकीर्तिताः । अजीवाः पञ्च सूत्रज्ञैरुपयोगविवर्जिताः ॥२९
अमूर्ता निष्क्रिया नित्याश्चत्वारो गदिता जिनैः । रूपगन्धरसस्पर्शशब्दवन्तोऽत्र पुद्गलाः ॥३०
लोकालोकौ स्थितं व्याप्य व्योमानन्तप्रदेशकम् । लोकाकाशं स्थितौ व्याप्य धर्माधर्मौ समन्ततः ३१
धर्माधर्मैकजीवानामसंख्येयाः प्रदेशकः । अनन्तानन्तमानास्ते पुद्गलानामुदाहृताः ॥३२
जीवानां पुद्गलानां च गतिस्थितिविधायिनौ । धर्माधर्मौ मतौ प्राज्ञैराकाशमवकाशकृत् ॥३३
असंख्यभुवनाकाशे कालस्य परमाणवः । एकैका वर्तना कार्या मुक्ता इव व्यवस्थिताः ॥३४
जीवितं मरणं सौख्यं दुःखं कुर्वन्ति पुद्गलाः । अणुस्कन्धविकल्पेन विकल्पद्वयभागिनः ॥३५
विश्वम्भराजलच्छायाचक्षुरिन्द्रियगोचराः । कर्माणि परमाणुश्च षड्विधः पुद्गलो मतः ॥३६
स्थूलस्थूलमथ स्थूलं स्थूलसूक्ष्मं जिनेश्वरैः । सूक्ष्मस्थूलं मतं सूक्ष्मं सूक्ष्मसूक्ष्मं यथाक्रमम् ॥३७
यद्वाक्कायमनःकर्म योगोऽसावास्रवः स्मृतः । कर्मास्रवत्यनेनेति शब्दशास्त्रविशारदैः ॥३८

चाहिये ॥२५-२६॥ त्रैलोक्यके अग्र भागपर चढ़नेके लिए सोपान मार्गके समान चौदह गुणस्थान कहे गये हैं—१. मिथ्यादृष्टि, २. सासादन, ३. मिश्रदृष्टि, ४. असंयतसम्यग्दृष्टि, ५. संयतासंयत, ६. प्रमत्तसंयत, ७. अप्रमत्तसंयत, ८. अपूर्वकरण ९ अनिवृत्तिकरण, १०. सूक्ष्मलोभ, ११. उपशान्तमोह, १२. क्षीणमोह, १३. सयोगिजिनेन्द्र और १४. अयोगिजिनेन्द्र । इन चौदह गुणस्थानोंमें जीवतत्त्वका वास्तविक तथ्य जाना जाता है ॥२७-२८॥

अब अजीवतत्त्वका वर्णन करते हैं । जैन सूत्रज्ञ पुरुषोंने चैतन्य उपयोगसे रहित अजीवद्रव्य पाँच प्रकारके कहे हैं—धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, कालद्रव्य और पुद्गलद्रव्य ॥२९॥ इनमेंसे प्रारम्भके चार द्रव्य जिनेन्द्रदेवने अमूर्त, निष्क्रिय और नित्य कहे हैं । पुद्गलद्रव्य रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्दवाला कहा है ॥३०॥ आकाशके अनन्त प्रदेश हैं और वे लोक-अलोकको व्याप्त करके सर्वत्र स्थित हैं । धर्म और अधर्मद्रव्य समानरूपसे सारे लोकाकाशको व्याप्त करके स्थित हैं ॥३१॥ धर्म, अधर्म और एक जीवके असंख्यात-असंख्यात प्रदेश हैं । और पुद्गलोंके प्रदेश अनन्तानन्त प्रमाण कहे गये हैं ॥३२॥ ज्ञानियोंने धर्म और अधर्मद्रव्यको क्रमसे जीव और पुद्गलोंकी गति और स्थितिके करानेवाला कहा है, अर्थात् धर्मद्रव्य जीव-पुद्गलोंकी गतिमें और अधर्मद्रव्य स्थितिमें सहायक होता है । आकाशद्रव्य सर्वद्रव्योंको अवकाश देता है ॥३३॥ लोकाकाशमें कालके परमाणु असंख्यात हैं । वर्तना इनका कार्य है और ये मुक्ताफलके समान लोकाकाशके एक-एक प्रदेश पर भिन्न-भिन्न रूपसे अवस्थित हैं ॥३४॥ पुद्गल जीवोंको जीवन, मरण और सुख-दुःख करते हैं । अणु और स्कन्धके भेदसे पुद्गलद्रव्यके दो भेद कहे गये हैं ॥३५॥ जिनेश्वर देवने पुद्गलको छह प्रकारका कहा है--१. स्थूल-स्थूल, जैसे पृथ्वी । २. स्थूल, जैसे जल । ३. स्थूलसूक्ष्म, जैसे छाया ४. सूक्ष्मस्थूल, जैसे नेत्र विना शेष चार इन्द्रियोंके विषय रस, गन्ध आदि । ५. सूक्ष्म, जैसे कर्म-वर्गणा । और ६. सूक्ष्मसूक्ष्म, जैसे परमाणु ॥३६-३७॥ अब आस्रव-

शुभः शुभस्य विज्ञेयस्तत्रान्योऽन्यस्य कर्मणः। कारणस्यानुरूपं हि कार्यं जगति जायते ॥३९
संसारकारणं कर्म सकषायेण गृह्यते। येनान्येनाऽकषायेण कषायस्तेन वर्ज्यते ॥४०

ज्ञाताज्ञातामन्दमन्दादिभावैश्चित्रैश्चित्रं जन्यते कर्मजालम्।
नाचित्रत्वे कारणस्येह कार्यं किञ्चिच्चित्रं दृश्यते जायमानम् ॥४१

तिरस्कारमात्सर्यपैशुन्यविघ्नप्रपातापलापादिदोषैरनेकैः।
विबोधावरोधस्तदीक्षावरोधो दुरन्तैः कृतैर्गृह्यते गर्हणीयः ॥४२

वधाक्रन्ददैन्यप्रलापप्रपञ्चैर्निकृष्टेन तापेन शोकेन सद्यः।
परात्मोभयस्थेन कर्माङ्गिवर्गैरसातं सदा गृह्यते दुःखपाकम् ॥४३

साधूपास्याप्राणिरक्षातितिक्षासर्वज्ञार्चादानशौचादियोगैः।
सातं कर्मोत्पद्यते शर्मपाकं शिष्टाभीष्टैः पोषितैः सज्जनैर्वा ॥४४

मोक्षव्येनावर्णवादेन देवे धर्मे सङ्घे वीतरागे श्रुते च।
मद्येनेवास्वाद्यमानेन सद्यो घोराकारो जन्यते दृष्टिमोहः ॥४५

तत्त्वका वर्णन करते हैं—मन, वचन, कायकी क्रियाको योग कहते हैं और उसे ही आस्रव कहा गया है। जिसके द्वारा कर्म आते हैं, उसे आस्रव कहते हैं, इस प्रकारकी निरुक्ति आस्रव शक्तिकी शब्दशास्त्रके वेत्ताओंने की है ॥३८॥ मन, वचन, कायकी शुभ क्रिया रूप योग शुभ कर्मके आस्रवका कारण है और अशुभ योग अशुभ कर्मके आस्रवका कारण है। क्योंकि जगत्‌में कारणके अनुरूप ही कार्य होता है ॥३९॥ यतः सकषाय जीवके द्वारा संसारका कारणभूत कर्म ग्रहण किया जाता है और अकषाय जीवके द्वारा कर्म नहीं ग्रहण किया जाता है, अतः कषायको त्यागने योग्य कहा गया है ॥४०॥

ज्ञातभाव, अज्ञातभाव, तीव्रभाव, मन्दभाव और आदि शब्दसे अधिकरण और वीर्य आदि नाना प्रकारके भावोंसे अनेक प्रकारका कर्मजाल उत्पन्न होता है, अर्थात् भावोंकी हीनाधिकता आदि कारणोंसे कर्मके आस्रवमें विभिन्नता पाई जाती है। क्योंकि लोकमें कारणकी विचित्रता-के अभावमें कार्यकी विचित्रता उत्पन्न होती हुई नहीं देखी जाती है ॥४१॥ ज्ञान और दर्शनका, तथा इनके धारण करनेवाले जीवोंका तिरस्कार करना, उनसे मत्सरभाव रखना, चुगली खाना, विघ्न करना, विघात करना और उन्हें झूठे दोष लगाना, इत्यादि अनेक प्रकारके दोषयुक्त दुरन्त कार्योंसे ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मका निन्दनीय आस्रव होता है ॥४२॥ प्राणियोंका वध करना, आक्रन्दन करना, दीनपना प्रकट करना, बकवाद करना, सन्ताप करना, शोक करना इत्यादि निकृष्ट कार्य चाहे स्वयं करे, चाहे अन्यमें उत्पन्न करावे और चाहे स्व और पर दोनोंमें ही पैदा करे, इनसे प्राणिवर्ग दुःख देनेवाले असातावेदनीय कर्मको ग्रहण करता है ॥४३॥ साधुओं-की उपासना करना, प्राणियोंकी रक्षा करना, क्षमाभाव रखना, सर्वज्ञदेवका पूजन करना, दान देना, निर्लोभ परिणाम रखना आदि पुण्यरूप कार्योंसे सुख देनेवाले सातावेदनीय कर्मका आस्रव होता है। जैसे कि पालन-पोषण किये गये शिष्ट, इष्ट और सज्जनोंसे सुख प्राप्त होता है ॥४४॥ वीतराग, देव, धर्म, संघ और शास्त्रके विषयमें किये गये निन्द्य त्याज्य अवर्णवादसे घोर भयंकर

सौख्यध्वंसी जन्यते निन्दनीयो रौद्रो भावो यः कषायोदयेन ।
धत्ते जन्तोरेष चारित्रमोहं विद्वेषी वाऽऽराध्यमानो निकृष्टः ॥४६
बह्वारम्भग्रन्थसन्दर्भदर्पैं रौद्राकारैस्तीव्रकोपादिजन्यैः ।
श्वभ्रावासे प्राप्यते जीवितव्यं किंवा दुःखं दीयते नाघचष्टैः ॥४७
नानाभेदा कूटमानादिभेदैर्मायाऽनिष्टाऽऽराध्यमाना जनानाम् ।
तैर्यग्योन्यं जीवितव्यं विधत्ते किंवा दत्ते वञ्चना न प्रयुक्ता ॥४८
अल्पारम्भग्रन्थसन्दर्भदर्पैः सौम्याकारैर्मन्दकोपादिजन्यैः ।
सद्यो जीवो नीयते मानुषत्वं किं नो सौख्यं दीयते शान्तरूपैः ॥४९
सम्यग्दृष्टिः श्रावकीयं चरित्रं चित्रा कामा निर्जरा रागिवृत्तम् ।
आयुर्दैवं प्राणभाजां ददन्ते शान्ता भावाः किं न कुर्वन्ति सौख्यम् ॥५०
संवादित्वं प्राञ्जला योगवृत्तिर्नाम्नो ज्ञेयं कारणं पूजितस्य ।
वक्रो योगोऽवादि संवादहान्या सार्धं हेतुर्निन्दनीयस्य तस्य ॥५१
नीचैर्गोत्रं स्वप्रशंसाऽन्यनिन्दे कुर्वाणोऽसत्सद्गुणोद्भावनाशौ ।
प्राप्नोत्यङ्गी प्रार्थनीयं महेष्टैरुच्चैर्गोत्रं मङ्क्षु तद्वैपरीत्ये ॥५२

दर्शनमोहकर्मका आस्रव होता है। जैसे कि आस्वादे गये मद्यसे शीघ्र ही घोर आकार वाली बेहोशी प्राप्त होती है ॥४५॥ कषायके उदयसे जो सुखका विध्वंसक निन्दनीय रौद्रभाव उत्पन्न होता है, वह जीवके चारित्रमोहकर्मका आस्रव कराता है। जैसे कि आराधना किया गया निकृष्ट पुरुष चित्तमें विद्वेष भाव उत्पन्न कराता है ॥४६॥ बहुत आरम्भ, परिग्रहके सन्दर्भसे उत्पन्न हुए तथा रौद्र आकारवाले तीव्र क्रोधादि कषायोंके द्वारा प्रकट हुए दुर्भावोंसे यह जीव नारकावासमें जीवनको प्राप्त करता है, अर्थात् उक्त प्रकारके भावोंसे नारकायुका आस्रव होता है। आचार्य कहते हैं कि पापरूप चेष्टाओंके द्वारा कौन-सा दुःख नहीं दिया जाता है ॥४७॥ कूट नाप तौल आदि अनेक प्रकारोंसे आराधना की गई अनेक भेदवाली अनिष्ट मायाचारी जीवोंको तिर्यग्योनियोंमें जीवन प्रदान करती है; अर्थात् मायाचारसे तिर्यगायुकर्मका आस्रव होता है। दूसरोंके साथ की गई वंचना क्या दुःख नहीं देती? अर्थात् दुःख देती ही है ॥४८॥ अल्प आरम्भ और अल्प परिग्रहके सम्बन्धसे उत्पन्न हुए, सौम्य आकार वाले मन्द क्रोधादि-जनित भावोंसे जीव शीघ्र ही मनुष्य भवको प्राप्त करता है, अर्थात् मनुष्यायुका आस्रव करता है। आचार्य कहते हैं कि शान्तरूप परिणामोंसे क्या सुख नहीं प्राप्त होता है? होता ही है ॥४९॥

सम्यग्दर्शन धारण करना, श्रावकका चारित्र पालना, नाना प्रकारकी अकामनिर्जरा करना, सराग चारित्र पालना इत्यादि कार्य प्राणियोंको देवायु प्रदान करते हैं। सो ठीक ही है—शान्त परिणाम क्या सुख नहीं देते हैं? देते ही हैं ॥५०॥ विसंवाद-रहित आचरण करना और मन वचन कायकी उज्ज्वल वृत्ति रखना शुभनामकर्मके आस्रवके कारण जानना चाहिए। विसंवाद करना और योगोंकी कुटिलता रखना निन्दनीय अशुभनामकर्मके आस्रवके कारण हैं ॥५१॥ अपनी प्रशंसा करना, अन्यकी निन्दा करना, अपने असत् गुणोंको प्रकट करना और दूसरोंके सद् गुणोंको भी आच्छादित करना, इत्यादि कार्योंसे जीव नीचगोत्रकर्मका आस्रव करता है। इनसे विपरीत

दानं लाभो वीर्यभोगोपभोगा नो लभ्यन्ते देहिना विघ्नभाजा ।
विज्ञायेत्थं विघ्नभीतेन विघ्नो नो कर्त्तव्यः पण्डितेन त्रिधाऽपि ॥५३

ये गृह्यन्ते पुद्गलाः कर्मयोग्याः क्रोधाद्याढचैश्चेतनैरेष बन्धः ।
मिथ्या दृष्टिर्निर्व्रतत्वं कषायो योगो ज्ञेयस्तस्य बन्धस्य हेतुः ॥५४

बन्धः स मतः प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशभेदेन ।
पटुभिश्चतुष्प्रकारो येन भवे भ्रम्यते जीवः ॥५५

स्वभावः प्रकृतिः प्रोक्ता स्थितिः कालावधारणम् ।
अनुभागो विभागस्तु प्रदेशोंऽशप्रकल्पनम् ॥५६

करोति योगात्प्रकृतिप्रदेशौ कषायतः स्थित्यनुभागसञ्ज्ञौ ।
स्थिति न बन्धः कुरुते कषाये क्षीणे प्रशान्ते स ततोऽस्ति हेयः ॥५७

स्वीकरोति सकषायमानसो मुञ्चते च विकषायमानसः ।
कर्म जन्तुरिति सूचितो विधिर्बन्धमोक्षविषयो विबन्धकैः ॥५८

आस्रवस्य निरोधो यः संवरः स निगद्यते ।
भावद्रव्यविकल्पेन द्विविधः कृतसंवरैः ॥५९

कार्योंके करने पर महापुरुषोंके द्वारा प्रार्थनीय उच्चगोत्रको जीव शीघ्र ही प्राप्त करता है ॥५२॥ दूसरोंके दान, लाभ, वीर्य, भोग और उपभोगमें विघ्न करनेवाले जीव दान, लाभ, वीर्य, भोग और उपभोगको नहीं पाते हैं, ऐसा जानकर विघ्नसे भयभीत पंडितजनोंको मन, वचन और कायसे किसीके भी लाभ, भोग-उपभोगादिमें विघ्न नहीं करना चाहिये ॥५३॥ अब बन्धतत्त्वका वर्णन करते हैं—क्रोधादि कषायोंसे युक्त जीवोंके द्वारा जो कर्मयोग्य पुद्गल ग्रहण किये जाते हैं, वह बन्ध कहलाता है। उस बन्धके कारण मिथ्यादर्शन, अविरति, कषाय और योग जानना चाहिये ॥५४॥ प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशके भेदसे वह बन्ध प्रवीण पुरुषोंने चार प्रकारका कहा है। इस बन्धके द्वारा ही जीव संसारमें परिभ्रमण करता है ॥५५॥ ज्ञानावरणादि कर्मोंके ज्ञानादिके आवरण करनेके स्वभावको प्रकृतिबन्ध कहते हैं। बँधे हुए कर्म जितने समय तक आत्मासे संलग्न रहेंगे, उतने कालकी मर्यादाको स्थितिबन्ध कहते हैं। कर्मोंके फल देनेके विपाकको अनुभागबन्ध कहते हैं और आये हुए कर्मपरमाणुओंमें ज्ञानावरणादि-रूपसे उनके विभाग होनेको प्रदेशबन्ध कहते हैं ॥५६॥ योगसे प्रकृति और प्रदेशबन्ध होता है, तथा कषायसे स्थिति और अनुभागबन्ध होता है। जब कषाय उपशान्त या क्षीण हो जाते हैं, तब कर्मोंका स्थितिबन्ध नहीं होता है, अतएव कषाय छोड़ने योग्य हैं ॥५७॥ कषाययुक्त चित्तवाला मनुष्य कर्मोंको ग्रहण करता है और कषाय-रहित चित्तवाला मनुष्य कर्मोंको छोड़ता है। इस प्रकार कर्मोंके बन्ध और मोक्ष विषयक विधि कर्म-बन्धनसे रहित वीतराग सर्वदेवने सूचित की है ॥५८॥

अब संवर तत्त्वका वर्णन करते हैं—कर्मोंके आस्रवका निरोध करनेवाले मुनीश्वरोंने कर्मोंके आनेके निरोधको संवर कहा है। वह संवर दो प्रकारका है—द्रव्यसंवर और भावसंवर ॥५९॥

क्रोधलोभभयमोहरोधनं भावसंवरमुशन्ति देहिनाम् ।
भाविकल्मषविशेषरोधनं द्रव्यसंवरमपास्तकल्मषम् ॥६०

धार्मिकः शमितो गुप्तो विनिर्जितपरीषहः । अनुप्रेक्षापरः कर्म संवृणोमि ससंयमः ॥६१

मिथ्यात्वाव्रतकोपादियोगैः कर्म यदर्ज्यते । तन्निरस्यति सम्यक्त्वव्रतविग्रहरोधनैः ॥६२

पूर्वोपार्जितकर्मैकदेशसंक्षयलक्षणा । सविपाकाऽविपाका च द्विविधा निर्जराऽकथि ॥६३

यथा फलानि पच्यन्ते कालेनोपक्रमेण च । कर्माण्यपि तथा जन्तोरुपात्तानि विसंशयम् ॥६४

अनेहसा या दुरितस्य निर्जरा साधारणा साऽपरकर्मकर्मकारिणी ।
विधीयते या तपसा महीयसा विशोषणी साऽपरकर्मवारिणी ॥६५

वितप्यमानस्तपसा शरीरी पुराकृतानामुपयाति शुद्धिम् ।
न ध्मायमानः कनकोपलः किं सप्तार्चिषा शुद्धयति कश्मलेभ्यः ॥६६

घातिकर्म विनिहत्य केवलं स्वीकरोति भुवनावभासकम् ।
चेतनः सकललोकसन्ततं ध्वान्तराशिमिव भास्करो दिवम् ॥६७

निमूलकाषं स निकृत्य कल्मषं प्रयाति सिद्धिं कृतकर्मनिर्जरः ।
विनिर्मलध्यानसमृद्धपावके निवेश्य दग्धाऽखिलबन्धकारणम् ॥६८

पापोंके नाश करनेवाले आचार्योंने क्रोध, लोभ, भय और मोक्षके निरोधको जीवोंका भावसंवर कहा है। तथा आनेवाले कर्मोंके प्रवेश रोकनेको द्रव्यसंवर कहा है ॥६०॥ दश धर्मोका पालक, पाँच समितियोंमें सावधान, तीन गुप्तियोंसे सुरक्षित, बाईस परीषहोंका विजेता, बारह अनुप्रेक्षाओंका चिन्तक और पाँचों संयमोंका धारक पुरुष आनेवाले कर्मोंका संवर करता है ॥६१॥ यह जीव मिथ्यात्व, अव्रत, क्रोधादि कषाय और योगके द्वारा जो कर्म उपार्जित करता है, उसे सम्यक्त्व, व्रत, कषाय, निग्रह और योग-निरोधके द्वारा दूर करता है ॥६२॥ अब निर्जरातत्त्वका वर्णन करते हैं—पूर्वोपार्जित कर्मोंके एकदेश क्षय होनेको निर्जरा कहते हैं। सविपाक और अविपाकके भेदसे वह निर्जरा दो प्रकारकी कही गई है ॥६३॥ जिस प्रकार वृक्षोंके फल अपने कालसे, तथा पाल आदि उपक्रमसे पकते हैं, उसी प्रकारसे जीवोंके उपार्जित कर्म भी यथाकाल और उपक्रम द्वारा निःसंशय पकते हैं अर्थात् निर्जीर्ण होते हैं ॥६४॥ जो अपना समय पाकर कर्मकी निर्जरा होती है, वह साधारण है, अर्थात् सभी संसारी जीवोंके होती है और वह नवीन कर्मका बन्ध कराती है। किन्तु जो महान् तपके द्वारा कर्म-निर्जरा की जाती है, वह पूर्व-संचित कर्मोको सुखाती है और नवीन आनेवाले कर्मोको रोकती है ॥६५॥ तपके द्वारा भलीभाँतिसे तपा हुआ मनुष्य पूर्वोपार्जित कर्मोका क्षय कर शुद्धिको प्राप्त होता है। अग्निके द्वारा संदग्ध सुवर्णपाषाण क्या कीट-कालिमासे शुद्ध नहीं होता है? होता ही है ॥६६॥ यह चेतन आत्मा घातिया कर्मोको तपके द्वारा विनष्ट करके सर्वलोक-प्रकाशक एवं सर्वजगन्मान्य केवलज्ञानको प्राप्त करता है। जैसे सूर्य अन्धकारके समूहका नाश कर प्रकाशमान दिनको प्राप्त करता है ॥६७॥ अतिनिर्मल शुक्लध्यानरूप समृद्ध पावकमें प्रवेश कराके समस्त कर्मबन्धके कारणोंको जलाकर और संचित कर्मोकी निर्जरा करता हुआ यह आत्मा सर्वकर्मोके कल्मषको निर्मूल क्षय करके सिद्धिको प्राप्त करता है ॥६८॥

निसर्गतो गच्छति लोकमस्तकं कर्मक्षयानन्तरमेव चेतनः ।
धर्मास्तिकायेन समीरितोऽनघं समीरणेनेव रजश्चयः क्षणात् ॥६९

निरस्तदेहो गुरुदुःखपीडितां विलोकमानो निखिलां जगत्त्रयीम् ।
स भाविनं तिष्ठति कालमुज्ज्वलो निराकुलानन्तसुखाब्धिमध्यगः ॥७०
यदस्ति सौख्यं भुवनत्रये परं सुरेन्द्रनागेन्द्रनरेन्द्रभोगिनाम् ।
अनन्तभागोऽपि न तन्निगद्यते निरेनसः सिद्धसुखस्य सूरिभिः ॥७१

इमे पदार्थाः कथिता महर्षिभिर्यथायथं सप्त निवेशिता हृदि ।
विनिर्मलां तत्त्वरुचिं वितन्वते जिनोपदेशा इव पापहारिणः ॥७२
विरागिणा सर्वपदार्थवेदिना जिनेशिनैते कथिता न वेति यः ।
करोति शङ्कां न कदापि मानसे निःशङ्कितोऽसौ गदितो महात्मना ॥७३
विधीयमानाः शमशीलसंयमाः श्रियं ममेमे वितरन्तु चिन्तिताम् ।
सांसारिकानेकसुखप्रवर्द्धिनीं निष्कांक्षितो नेति करोति काङ्क्षाम् ॥७४
तपस्विनां यस्तनुमस्तसंस्कृतिं जिनेन्द्रधर्मं सुतरां सुदुष्करम् ।
निरीक्षमाणो न तनोति निन्दनं स भण्यते धन्यतमोऽचिकित्सन् ॥७५
देवधर्मसमयेषु मूढ़ता यस्य नास्ति हृदये कदाचन ।
चित्तदोषकलितेषु सन्मतेः सोऽर्च्यते स्फुटममूढदृष्टिकः ॥७६

अब मोक्षतत्त्वका वर्णन करते हैं—उपर्युक्त प्रकारसे यह जीव नवीन कर्मबन्धके कारणों-का अभाव कर, तथा संचित कर्मोंकी निर्जरा कर सर्व कर्मोंके क्षयके अनन्तर ही धर्मास्तिकायसे प्रेरित होता हुआ स्वभावसे ही निर्दोष लोकशिखरको प्राप्त हो जाता है। जैसे कि पवनके द्वारा उड़ाया गया रजका पुञ्ज क्षणमात्रमें ऊपर चला जाता है ॥६९॥ इस प्रकार कर्मरूप देहसे रहित अतएव उज्ज्वलताको प्राप्त हुआ यह आत्मा अतिदुःखसे पीड़ित इस समस्त जगत्त्रयको अव-लोकन करता हुआ आगे अनन्तकाल तक निराकुल अनन्त सुख-सागरके मध्यमें निमग्न रहता है ॥७०॥ तीनों लोकोंमें देवेन्द्र, नागेन्द्र, नरेन्द्र और सौभाग्यशालियोंको जो उत्कृष्ट सौख्य प्राप्त है, वह कर्म-रहित मोक्ष-सुखके अनन्तवें भाग भी नहीं है, ऐसा आचार्योंने कहा है ॥७१॥ मह-र्षियोंने ये जो सात तत्त्व या पदार्थ कहे हैं उन्हें जो यथार्थ रीतिसे अपने हृदयमें जिनोपदेशके समान धारण करते हैं, वे जीव पापोंको अपहरण करनेवाली अतिनिर्मल तत्त्वकी प्रतीतिको धारण करते हैं ॥७२॥ अब सम्यक्त्वके निःशंकित आदि आठ अंगोंका वर्णन करते हैं—वीतरागी सर्व-पदार्थोंके वेत्ता जिनेन्द्रदेवने ये सर्व पदार्थ कहे हैं, अथवा नहीं ? इस प्रकारकी शंकाको जो कभी भी मनमें नहीं करता है, महापुरुषोंने उसे पहला निःशंकित अंग कहा है ॥७३॥ मेरे द्वारा किये जानेवाले ये शम, शील और संयम मुझे सांसारिक अनेक प्रकारके सुखोंको बढ़ानेवाली मनोवांछित लक्ष्मीको देवें, ऐसी आकांक्षा निःकांक्षित गुणका धारक कभी नहीं करता है। यह दूसरा निः-कांक्षित अंग है ॥७४॥ जो तपस्वियोंके संस्कार-रहित मलिन शरीरको और सुतरां अतिदुष्कर जिनेन्द्र धर्मको निरीक्षण करता हुआ भी उनकी निन्दा नहीं करता है, वह तीसरे निर्विचिकित्सा अंगका धारक उत्तम अन्य पुरुष कहा गया है ॥७५॥ जिस सुबुद्धिके हृदयमें नाना प्रकारके दोषोंसे युक्त कुदेव, कुधर्म और कुमत पर कभी भी मूढता नहीं है, वह निश्चयसे चौथे अमूढदृष्टि अंगका

यो निरीक्ष्य यतिलोकदूषणं कर्मपाकजनितं विशुद्धधीः ।
सर्वथाऽप्यवति धर्मबुद्धितः कोविदास्तमुपगूहकं विदुः ॥७७

विवर्तमानं जिननाथवर्त्मनो निपीडचमानं विविधैः परीषहैः ।
विलोक्य यस्तत्र करोति निश्चलं निरुच्यतेऽसौ स्थितिकारकोत्तमः ॥७८

करोति सङ्घे बहुधोपसर्गैरुपद्रुते धर्मधियाऽनपेक्षः ।
चतुर्विधव्यापृतिमुज्ज्वलां यो वात्सल्यकारी समतः सुदृष्टिः ॥७९

निरस्तदोषे जिननाथशासने प्रभावनां यो विदधाति भक्तितः ।
तपोदयाज्ञानमहोत्सवादिभिः प्रभावकोऽसौ गदितः सुदर्शनः ॥८०

गुणैरमीभिः शुभदृष्टिकण्ठिकां दधाति बद्धां हृदि योऽष्टभिः सदा ।
करोति वश्याः सकलाः स सम्पदो वधूरिवेष्टाः सुभगो वशंवदः ॥८१

सुदर्शनं यस्य स नामभाजनं सुदर्शनं यस्य स सिद्धिभाजनम् ।
सुदर्शनं यस्य स धीविभूषितः सुदर्शनं यस्य स शीलभूषितः ॥८२

नो जायेते पावने ज्ञानवृत्ते सम्यक्त्वेन प्राणिनो वर्जितस्य ।
शर्माधारे कोशराज्ये न दृष्टे नूनं क्वापि न्यायहीनस्य राज्ञः ॥८३

सुदर्शनेनेह विना तपस्यामिच्छन्ति ये सिद्धिकरीं विमूढाः ।
कांक्षन्ति बीजेन विनाऽपि मन्ये कृषिं समृद्धां फलशालिनीं ते ॥८४

धारक कहा गया है ॥७६॥ जो विशुद्धबुद्धि पुरुष साधु लोगोंमें कर्म-विपाक-जनित किसी दूषणको देखकर धर्मबुद्धिसे सर्वथा रक्षा करता है, उसे ज्ञानियोंने पाँचवें उपगूहन अंगका धारक कहा है ॥७७॥ जो विविध परिषहोंसे पीड़ित होकर जिनराजके धर्ममार्गसे भ्रष्ट होते हुए पुरुपको देखकर उसे धर्ममार्गमें निश्चल करता है, वह छठें स्थितिकरण अंगके धारकोंमें उत्तम कहा गया है ॥७८॥ नाना प्रकारके उपसर्गोंके द्वारा पीडित चतुर्विध संघ पर जो वांछा-रहित होकर धर्मबुद्धिसे निर्मल वैयावृत्य करता है, वह सातवें वात्सल्य अंगका धारक सम्यग्दृष्टि माना गया है ॥७९॥ जो निर्दोष जिनराजके शासनकी तप, दया, ज्ञान, महोत्सवादिके द्वारा शक्तिके अनुसार प्रभावना करता है, वह आठवें प्रभावना अंगका धारी प्रभावक सम्यग्दृष्टि कहा गया है ॥८०॥

जो पुरुष इन उपर्युक्त आठ गुणोंसे निबद्ध शुभ सम्यग्दर्शनरूपी कंठी (माला) को सदा अपने हृदयमें धारण करता है, वह सर्व सम्पदाओंको अपने वशमें कर लेता है। जैसे कि उत्तम मालाका धारण करनेवाला सौभाग्यशाली मिष्ट-भाषी पुरुष अभीष्ट स्त्रियोंको अपने वशमें कर लेता है ॥८१॥ जिसके सम्यग्दर्शन है वही पुरुष सुपात्र है, जिसके सम्यग्दर्शन है वही मुक्तिका भाजन है, जिसके सम्यग्दर्शन है, वही बुद्धिसे विभूषित है और जिसके सम्यग्दर्शन है वही शीलसे विभूषित है ॥८२॥ सम्यक्त्वसे रहित जीवके ज्ञान और चारित्र पवित्र नहीं होते हैं। जैसे निश्चय-से न्याय-रहित राजाके यहाँ सुखके आधारभूत कोप और राज्य नहीं देखे जाते ॥८३॥ जो मूढमति पुरुष सम्यग्दर्शनके विना केवल तपस्याको सिद्धि (मुक्ति)की करनेवाली मानते हैं, वे मानों बीज-

लोकालोकविलोकिनीमकलिलां गीर्वाणवर्गार्चिताम्,
दत्ते केवलसम्पदं शमवतामानीय या लीलया।
सम्यग्दृष्टिरपास्तदोषनिवहा यस्यास्ति सा निश्चला
तेन प्रापि न किं सुखं बुधजनैरभ्यर्च्यमानं स्थिरम् ॥८५
सम्यक्त्वोत्तमभूषणोऽमितगतिर्धत्ते व्रतं यस्त्रिधा,
भुक्त्वा भोगपरम्परामनुपमां गच्छत्यसौ निर्वृत्तिम्।
सर्वापायनिषूदिनीमपमलां चिन्तामणिं सेवते,
यः पुण्याभरणार्चितः स लभते पूतां न कां सम्पदम् ॥८६

इत्यमितगतिकृतश्रावकाचारे तृतीयः परिच्छेदः ॥

चतुर्थः परिच्छेदः

केचिद्वदन्ति नास्त्यात्मा परलोकगमोद्यतः। तस्याभावे विचारोऽयं तत्त्वानां घटते कुतः ॥१
विद्यते परलोकोऽपि नाभावे परलोकिनः। अभावे परलोकस्य धर्माधर्मक्रिया वृथा ॥२
इहलोके सुखं हित्वा ये तपस्यन्ति दुर्धियः। हित्वा हस्तगतं ग्रासं ते लिह्यन्ति पदाङ्गुलीः ॥३
विहाय कलिलाशङ्कां सच्चेष्टं चेष्टतां जनः। चेतनस्य विनष्टस्य विद्यते न पुनर्भवः ॥४
नान्यलोकमतिः कार्या मुक्त्वा शर्मैहलौकिकम्। दृष्टं विहाय नादृष्टे कुर्वते धिषणां बुधाः ॥५

के विना ही फलशालिनी समृद्ध कृषिको चाहते हैं ॥८४॥ जो लोक-अलोककी अवलोकन करने-वाली, निर्मल-समूहसे पूजित ऐसी कैवल्यसम्पदा शमभावी साधुओंको लीलामात्रसे लाकर देती है, ऐसी सर्वदोष-समुदायसे रहित यथार्थ सच्ची दृष्टि जिसके हृदयमें निश्चलरूपसे विद्यमान है, उस पुरुषने ज्ञानियोंसे प्रार्थनीय सुखको क्या चिरकालके लिए नहीं पा लिया है ? पा ही लिया है ॥८५॥ जो सम्यक्त्वरूप उत्तम आभूषणका धारक अमितगति पुरुष व्रतोंको मन वचन कायरूप त्रियोगसे धारण करता है, वह अनुपम भोगोंकी परम्पराको भोग कर मोक्षको प्राप्त होता है। जो पुण्यरूप आभूषणसे अर्चित मनुष्य सर्व अपायोंकी नाश करनेवाली मल-रहित चिन्तामणिको सेवन करता है, वह किस पवित्र सम्पदाको नहीं प्राप्त करता है ? अर्थात् सभी प्रकारकी सम्पदाओंको पाता है ॥८६॥

इस प्रकार अमितगति-रचित श्रावकाचारमें तीसरा परिच्छेद समाप्त हुआ।

कितने ही नास्तिकमति चार्वाक कहते हैं कि परलोकमें गमन करनेको उद्यत कोई आत्मा दिखाई नहीं देता है, इसलिये उसके अभावमें तत्त्वोंका यह पूर्वोक्त विचार कैसे सुघटित हो सकता है ॥१॥ परलोकमें जानेवाले आत्माके अभावमें परलोक भी सिद्ध नहीं होता है और इस प्रकार परलोकके अभावमें धर्म-अधर्मकी क्रिया व्यर्थ है ॥२॥ जो दुर्बुद्धि पुरुष इस लोकके सुखको छोड़कर तपश्चरण करते हैं, वे मानों हस्त-गत ग्रासको छोड़कर पैरकी अँगुलीको चाटते हैं ॥३॥ इसलिये पापकी शंकाको छोड़कर मनुष्यको यथेष्ट–मनमाना–आचरण करना चाहिये। क्योंकि चेतनके विनष्ट होनेपर उसका पुनर्जन्म नहीं होता है ॥४॥ अतएव पुरुषोंको इस लोकका सुख

पृथिव्यम्भोऽग्निवातेभ्यो जायते यन्त्रवाहकः । पिष्टोदकगुडादिभ्यो मदशक्तिरिव स्फुटम् ॥६
जन्मपञ्चत्वयोरस्ति न पूर्वपरयोरयम् । सदा विचार्यमाणस्य सर्वथाऽनुपपत्तितः ॥७
परात्मवैरिणां नैतन्नास्तिकानां कथञ्चन । युज्यते वचनं तत्त्वविचारानुपपत्तितः ॥८
विद्यते सर्वथा जीवः स्वसंवेदनगोचरः । सर्वेषां प्राणिनां तत्र बाधकानुपपत्तितः ॥९
शक्यते न निराकर्तुं केनाप्यात्मा कथञ्चन । स्वसंवेदनवेद्यत्वात् सुखदुःखमिव स्फुटम् ॥१०
अहं दुःखी सुखी चाहमित्येषः प्रत्ययः स्फुटः । प्राणिनां जायतेऽध्यक्षो निर्बाधो नात्मना विना ॥११
स्वसंवेदनतः सिद्धे निजे वपुषि चेतने । शरीरे परकीयेऽपि स सिद्धयत्यनुमानतः ॥१२
परस्य ज्ञायते देहे स्वकीय इव सर्वथा । चेतनो बुद्धिपूर्वस्य व्यापारस्योपलब्धितः ॥१३
जन्मपञ्चत्वयोरस्ति न पूर्वपरयोरयम् । नैषा गीर्युज्यते तत्र सिद्धत्वादनुमानतः ॥१४
चैतन्यमादिमं नूनमन्यचैतन्यपूर्वकम् । चैतन्यत्वाद्यथा मध्यमन्त्यमन्यस्य कारणम् ॥१५

छोड़कर परलोकके सुखमें बुद्धि नहीं करना चाहिये। क्योंकि बुधजन प्रत्यक्ष दृष्ट वस्तुको छोड़कर अदृष्ट परोक्ष वस्तुके पानेकी बुद्धि नहीं करते हैं ॥५॥ जैसे दालोंकी पीठी, जल, गुड आदिके संयोगसे मदशक्ति स्पष्टरूपसे प्रगट होती दिखती है, इसी प्रकार पृथिवी, जल, अग्नि और वायु इस भूतचतुष्टयसे इस शरीररूप यंत्रका संचालन करनेवाला आत्मा नामक पदार्थ उत्पन्न होता है, वस्तुतः आत्मा नामका कोई पदार्थ नहीं है ॥६॥ इस प्रकार जन्मसे पूर्वमें और मरणके पश्चात् जीव नामका कोई पदार्थ नहीं है, क्योंकि युक्तिसे विचार करनेपर उसका सर्वथा अभाव प्रतीत होता है ॥७॥ किन्तु पराये और अपने वैरी नास्तिक लोगोंका यह कथन कदाचित् भी सत्य नहीं है, क्योंकि युक्तिसे विचार करने पर वह सत्य सिद्ध नहीं होता है ॥८॥ सभी प्राणियोंके स्वानुभवगोचर अर्थात् अपने अनुभवमें आनेवाला जीव सर्वथा विद्यमान है, क्योंकि स्वसंवेदनमें कोई बाधक प्रमाण नहीं पाया जाता है ॥९॥ आत्माका अस्तित्व किसीके भी द्वारा किसी भी प्रकारसे निराकरण करना शक्य नहीं है, क्योंकि वह सुख-दुःखके समान स्व-संवेदन प्रत्यय-स्वानुभव-प्रत्यक्षसे स्पष्ट जाना जाता है ॥१०॥ 'मैं दुःखी हूँ, मैं सुखी हूँ' ऐसा स्वसंवेदन-प्रत्ययरूप स्पष्ट निर्बाध प्रत्यक्ष आत्माके विना प्राणियोंके नहीं हो सकता है ॥११॥ इस प्रकार अपने शरीरमें स्वसंवेदन-प्रत्यक्षसे चेतन आत्माके सिद्ध होने पर परके शरीरमें भी अनुमानसे उसकी सिद्धि होती है ॥१२॥ वह अनुमान प्रमाण इस प्रकार है—परके देहमें चेतन आत्मा है, क्योंकि उसके बुद्धिपूर्वक व्यापार पाया जाता है। जैसे कि अपनेमें बुद्धिपूर्वक व्यापार सर्वथा पाया जाता है ॥१३॥ और जो तुम नास्तिकोंने कहा है कि 'जन्मसे पूर्व और मरणके पश्चात् जीवनामक कोई पदार्थ नहीं है, सो यह कथन भी युक्ति-संगत नहीं है, क्योंकि अनुमानसे आत्माका अस्तित्व सिद्ध है ॥१४॥ यथा—आद्य चैतन्य निश्चयसे अन्य चैतन्य-पूर्वक है, क्योंकि वह चैतन्यरूप है। जैसे कि मध्यका चैतन्य और अन्तका चैतन्य अन्यका कारण है ॥१५॥

भावार्थ—द्रव्यकी पर्याय सदा बदलती रहती हैं, फिर भी उसका सर्वथा अभाव नहीं होता, क्योंकि सत्का कभी अभाव और असत्का उत्पाद असंभव है। इस नियमके अनुसार 'हमारा मनुष्य-पर्यायरूप चैतन्य इससे पूर्ववर्ती देवादिपर्यायवाले चैतन्य-पूर्वक उत्पन्न हुआ है, जैसे कि बालपनके चैतन्यपूर्वक युवावस्थारूप मध्यवर्ती चैतन्य उत्पन्न होता है और मध्य चैतन्यपूर्वक वृद्धावस्थारूप अन्त्य चैतन्य उत्पन्न होता है। इसी प्रकार अन्त्यचैतन्यपूर्वक आगामी भवका चैतन्य उत्पन्न

तत्रैव वासरे जातः पूर्वकेणात्मना विना । अशिक्षितः कथं बालो मुखमर्पयति स्तने ॥१६
भूतेभ्यो येन तेभ्योऽयं चेतनो जायते कथम् । विभिन्नजातितः कार्यं जायमानं न दृश्यते ॥१७
प्रत्येकं युगपद्दै[त्ते ?] भ्यो भूतेभ्यो जायते भवी । विकल्पे प्रथमे तस्य तावत्त्वं केन वार्यते ॥१८
विकल्पे स द्वितीयेऽपि कथमेकस्वभावकः । भिन्नस्वभावकैरेभिर्जन्यते वद चेतनः ॥१९
चेतनो येन तेभ्योऽपि भूतेभ्यो न विरुध्यते । भिन्नानां मौक्तिकादीनां तोयादिभ्योऽपि दर्शनात् ॥२०
तदयुक्तं यतो मुक्तातोयादीनां विलोक्यते । एकपौद्गलिकी जातिर्भिन्नताऽतः कुतस्तनी । २१
यतः पिष्टोदकादिभ्यो मदशक्तिरचेतना । सम्भूताऽचेतनेभ्योऽतो दृष्टान्तोऽस्ति न चेतने ॥ २२
न शरीरात्मनोरैक्यं वक्तव्यं तत्त्ववेदिभिः । शरीरे तदवस्थेऽपि जीवस्यानुपलब्धितः ॥२३

होता है। पूर्वपर्यायवर्ती चैतन्य उत्तरपर्यायवर्ती चैतन्यका कारण है और उत्तरपर्यायरूप चैतन्य पूर्वपर्यायवर्ती चैतन्यका कारण है। इस प्रकार वीज-वृक्षके समान यह कार्य-कारणकी परम्परा चैतन्यकी भी सदा प्रवर्तमान रहती है। अतएव यह सिद्ध हुआ कि हमारा वर्तमान चैतन्य पूर्व-पर्यायवर्ती चैतन्यपूर्वक उत्पन्न हुआ है। इस अनुमानसे चेतन आत्माका अस्तित्व और परलोकका अस्तित्व सिद्ध होता है। यदि पूर्व भव आदि न माने जावें तो उस ही दिनका उत्पन्न हुआ अशिक्षित शिशु आत्माके पूर्वसंस्कारके विना माँके स्तन पर अपने मुखको कैसे लगा देता है ? कहनेका भाव यह कि तत्कालका उत्पन्न शिशु पूर्वजन्मके संस्कारसे ही माँके स्तनको चूसने लगता है ॥१६॥ और जो तुमने कहा है कि पृथ्वी आदि भूतचतुष्टयसे चैतन्य आत्मा उत्पन्न होता है, सो भाई, यह बताओ कि अचेतन भूतोंसे यह चेतन आत्मा कैसे उत्पन्न हो जाता है ? क्योंकि भिन्न जातिवाले कारणसे भिन्न जातिवाला कार्य उत्पन्न होता हुआ नहीं दिखाई देता है। अर्थात् कारणके अनुसार ही कार्य उत्पन्न होता है। यतः पृथ्वी आदि भूत अचेतन हैं, अतः उनसे भिन्न जातीय चेतनकी उत्पत्ति कभी भी संभव नहीं है ॥१७॥ फिर भी यदि तुम्हारा यही दुराग्रह हो कि पृथ्वी आदि भूतोंमेंसे एक-एक भूतसे चेतन उत्पन्न होता है कि सभीसे युगपत् एक चेतन उत्पन्न होता है ? प्रथम विकल्प मानने पर जितने भूत हैं, उतने ही चेतनोंका उत्पन्न होना कैसे रोका जा सकता है, अर्थात् प्रत्येक भूतसे अपनी-अपनी जातिका ही चेतन उत्पन्न होगा। ऐसी दशामें भूतचतुष्टयसे एक नहीं, किन्तु अनेक चेतन उत्पन्न होंगे, जो कि दिखाई नहीं देते हैं ॥१८॥ दूसरे विकल्पके मानने पर हम पूछते हैं कि भिन्न-भिन्न स्वभाववाले उन भूतोंसे एक स्वभाव-वाला चेतन कैसे पैदा हो सकता है, यह बताओ ॥१९॥

यदि आप कहें कि अचेतन भी भूतोंसे चेतनका उत्पन्न होना विरुद्ध नहीं है, क्योंकि भिन्न जातिवाले मोतियोंकी उत्पत्ति जलादिसे भी देखी जाती है। सो तुम्हारा यह कथन अयुक्त है, क्योंकि मोती और जलादिककी एक पौद्गलिक जाति ही है, अतः उनकी जातिकी भिन्नता कैसे संभव है ॥२०-२१॥ तथा अचेतन पीठी-गुड़-जल आदिके संयोगसे अचेतन ही मदशक्ति उत्पन्न होती है, इसलिये तुम्हारा यह दृष्टान्त चेतनके विषयमें देना ठीक नहीं है ॥२२॥ तत्त्वज्ञ पुरुषोंको शरीर और आत्माकी एकता भी नहीं कहना चाहिये, क्योंकि मरणके पश्चात् शरीरके तदवस्थ रहने पर भी जीवकी उपलब्धि नहीं होती है। इससे ज्ञात होता है कि शरीर और आत्मा ये दो भिन्न-भिन्न जातिके पदार्थ हैं, एक नहीं हैं ॥२३॥ एक ज्ञानमात्र तत्त्वके माननेवाले ज्ञानाद्वैतवादी कहते हैं कि निरंश और क्षणिक ज्ञानके अतिरिक्त आत्मा नामकी कोई वस्तु नहीं है, उनको लक्ष्य करके आचार्य कहते हैं कि 'ज्ञानको छोड़कर आत्मा नामकी कोई वस्तु नहीं है' यह वचन

ज्ञानं विहाय नात्माऽस्ति नेदं वचनमञ्चितम् । ज्ञानस्य क्षणिकत्वेन स्मरणानुपपत्तितः ॥२४
नात्मा सर्वगतो वाच्यस्तत्स्वरूपविचारिभिः । शरीरव्यतिरेकेण येनासौ दृश्यते न हि ॥२५
शरीरतो बहिस्तस्य विज्ञानं विद्यते न वा । विद्यते चेत्कथं तत्र कृत्याकृत्यं न बुद्ध्यते ॥२६
यदि नास्ति कुतस्तस्य तत्र सत्ताऽवगम्यते । लक्षणेन विना लक्ष्यं न क्वापि व्यवतिष्ठते ॥२७
सर्वेषामेक एवात्मा युज्यते नेति जल्पितुम् । जन्ममृत्युसुखादीनां भिन्नानामुपलम्भतः ॥२८
न वक्तव्योऽणुमात्रोऽयं सर्वैर्येनानुभूयते । अभीष्टकामिनीस्पर्शे सार्वाङ्गीणः सुखोदयः ॥२९
समीरणस्वभावोऽयं सुन्दरा नेति भारती । सुखज्ञानादयो भावाः सन्ति नाचेतने यतः ॥३०
न ज्ञानविकलो वाच्यः सर्वथाऽऽत्मा मनीषिभिः । क्रियाणां ज्ञानजन्यानां तत्राभावप्रसङ्गतः ॥३१
प्रधानज्ञानतो ज्ञानी न वाच्यो ज्ञानशालिभिः । अन्यज्ञानेन न ह्यन्यो ज्ञानी क्वापि विलोक्यते ॥३२

सत्य नहीं है, क्योंकि ज्ञानके क्षणिक होनेसे पूर्वज्ञात स्मरण नहीं होना चाहिये । किन्तु हम आप सभी लोगोंको पूर्वज्ञात पदार्थका स्मरण पाया जाता है, अतः आत्मा नामका कोई नित्य पदार्थ अवश्य है, यह सिद्ध होता है ॥२४॥ आत्माको सर्वव्यापक माननेवाले ब्रह्माद्वैतवादियोंको लक्ष्य करके आचार्य कहते हैं कि आत्म-स्वरूपका विचार करनेवालोंको 'आत्मा सर्वगत या सर्वव्यापक है, ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि शरीरके अतिरिक्त वह अन्तरालमें कहीं नहीं दिखाई देता है ॥२५॥ इतने पर भी यदि आप आत्माको सर्वव्यापक मानें, तो हम पूछते हैं कि शरीरसे बाहिर फिर कृत्य और अकृत्यका ज्ञान क्यों नहीं होता है ? यदि कहा जाय कि शरीरके बाहिर आत्माका ज्ञान नहीं होता है, तो फिर शरीरके बाहिर उस आत्माकी सत्ता कैसे जानी जा सकती है, यह बतलाइये, क्योंकि लक्षणके विना लक्ष्य कहीं पर भी नहीं ठहर सकता है ॥२६-२७॥ भावार्थ—ज्ञान लक्षण है और आत्मा लक्ष्य है । जहाँ पर लक्षण नहीं पाया जाता है, वहाँ पर लक्ष्य कैसे पाया जा सकता है । अतएव आत्माको सर्वव्यापक मानना मिथ्या है ।

यदि आप कहें कि 'सभी शरीरोंमें एक ही आत्मा रहता है' सो यह कहना भी योग्य नहीं है, क्योंकि सभी शरीरोंमें भिन्न-भिन्न ही जन्म, मरण और सुख-दुःखादिकी उपलब्धि होती है, इसलिये सभी शरीरोंमें एक आत्माका कथन मिथ्या है ॥२८॥ कुछ लोग आत्माको अणुमात्र मानते हैं, उनको लक्ष्य करके आचार्य कहते हैं कि आत्माको अणुमात्र भी नहीं कहना चाहिये, क्योंकि अभीष्ट स्त्रीके स्पर्शके समय सारे शरीरसे उत्पन्न हुआ सुखका आह्लाद सभी लोग अनुभव करते हैं ॥२९॥ यदि कहा जाय कि सर्वाङ्गमें सुखका अनुभव तो पवनके तीव्र वेगके संचारसे होता है, सो यह कहना भी सुन्दर नहीं है, क्योंकि सुख, ज्ञान आदिक चेतनभाव अचेतन पवनमें संभव नहीं है । अतएव आत्माको अणु-प्रमाण न मानकर शरीर-प्रमाण ही मानना चाहिये ॥३०॥ कुछ लोग आत्माको ज्ञानसे रहित मानते हैं, उनको लक्ष्य करके आचार्य कहते हैं कि बुद्धिमान् लोगोंको आत्मा ज्ञानसे विकल कभी भी नहीं कहना चाहिये, क्योंकि यदि आत्माको ज्ञानसे शून्य माना जाय, तो ज्ञान-जन्य क्रियाओंका आत्मामें अभाव प्राप्त होता है । किन्तु आत्मामें तो ज्ञान-जनित क्रियाएँ देखी जाती हैं, अतः उसे ज्ञान-युक्त ही मानना चाहिये ॥३१॥ यदि कहा जाय कि आत्मामें जो ज्ञानके सद्भावकी प्रतीति होती है, वह प्रधान (प्रकृति) जनित ज्ञानके संसर्गसे

न शुद्धः सर्वथा जीवो बन्धाभावप्रसङ्गतः । न हि शुद्धस्य मुक्तस्य दृश्यते कर्मबन्धनम् ॥३३
प्रधानेन कृते धर्मे मोक्षभागी न चेतनः । परेण विहिते भागे तृप्तिभागी कुतः परः ॥३४
प्रधानं यदि कर्माणि विधत्ते मुञ्चते यदि । किमात्माऽनर्थकः सांख्यैः कल्प्यते मम कथ्यताम् ॥३५
न ज्ञानमात्रतो मोक्षस्तस्य जातूपपद्यते । भैषज्यज्ञानमात्रेण न व्याधिः क्वापि नश्यति ॥३६
अचेतनस्य न ज्ञानं प्रधानस्य प्रवर्तते । स्तम्भकुम्भादयो दृष्टा न क्वापि ज्ञानयोगिनः ॥३७
ऊह्यं स्वयमकर्तारं भोक्तारं चेतनं पुनः । भाषमाणस्य सांख्यस्य न ज्ञानं विद्यते स्फुटम् ॥३८
सकलैर्न गुणैर्मुक्तः सर्वथाऽऽत्मोपपद्यते । न जातु दृश्यते वस्तु शशशृङ्गमिवागुणम् ॥३९
न ज्ञानज्ञानिनोर्भेदः सर्वथा घटते स्फुटम् । सम्बन्धाभावतो नित्यं मेरुकैलासयोरिव ॥४०
समवायेन सम्बन्धः क्रियमाणो न युज्यते । नित्यस्य व्यापिनस्तस्य सर्वदाऽप्यविशेषतः ॥४१

होती है। इस पर आचार्य कहते हैं कि ज्ञानशालियोंको ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि अन्यके ज्ञानसे कोई अन्य पुरुष ज्ञानी हुआ कहीं भी नहीं देखा जाता है ॥३२॥ जो लोग संसारी जीवको भी सर्वथा शुद्ध मानते हैं, उनको लक्ष्य करके आचार्य कहते हैं कि संसारी जीव सर्वथा शुद्ध नहीं है, क्योंकि उसके शुद्ध मानने पर कर्म-बन्धके अभावका प्रसंग आता है। देखो शुद्ध मुक्त जीवके कर्म-बन्धन नहीं पाया जाता है ॥३३॥ यदि प्रधान (प्रकृति) के द्वारा धर्म किया जाता है, यह माना जाय, तो फिर चेतन पुरुष मोक्षका भागी नहीं हो सकता, क्योंकि अन्यके द्वारा आहारादिके भोगने पर अन्य पुरुष तृप्तिका अनुभव कैसे कर सकता है ॥३४॥ यदि प्रधान पुण्य-पापरूप कर्मोंको करता है और यदि वही छोड़ता है, तो फिर मुझे बतलाइये कि सांख्योंने इस अनर्थक आत्माकी कल्पना क्यों की है ॥३५॥ सांख्यमती कहते हैं कि द्वैतरूप भ्रमसे कर्मबन्ध होता है और अद्वैतरूपके ज्ञानमात्रसे कर्म-बन्ध नष्ट हो जाता है, इसका उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं कि केवल ज्ञानमात्रसे जीवका मोक्ष कभी भी नहीं होता है। क्योंकि कहीं पर भी औषधिके ज्ञानमात्रसे व्याधि नष्ट नहीं होती है ॥३६॥

दूसरी बात यह है कि अचेतन प्रधानके ज्ञानकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। क्योंकि कहीं पर भी अचेतन स्तम्भ, कुम्भ आदि पदार्थ ज्ञानोपयोगवाले नहीं देखे जाते हैं ॥३७॥ स्वयं आत्माको अकर्ता कहकर और फिर चेतनको भोक्ता कहनेवाले सांख्यके ज्ञान नहीं है, यह स्पष्ट ज्ञात होता है ॥३८॥ वैशेषिक-नैयायिक मतावलम्बी मुक्त जीवको बुद्धि-सुख आदि समस्त गुणोंसे रहित मानते हैं, उनको लक्ष्यमें रखकर आचार्य कहते हैं कि सर्वगुणोंसे सर्वथा रहित मुक्त आत्मा संभव नहीं है, क्योंकि शश-शृंगके समान सर्वथा गुण-रहित कोई भी वस्तु कदाचित् भी नहीं दिखाई देती है ॥३९॥ भावार्थ—गुणोंके समुदायरूप द्रव्यको ही गुणी कहते हैं। यदि मुक्त अवस्थामें गुणोंका सर्वथा अभाव माना जायगा, तो गुणीका भी अभाव मानना पड़ेगा। अतएव गुण-रहित मुक्त जीवको कहना मिथ्या है। जो लोग ज्ञान और ज्ञानीमें सर्वथा भेद मानते हैं, उनका निषेध करते हुए आचार्य कहते हैं कि ज्ञान और ज्ञानीमें सर्वथा भेद घटित नहीं होता जैसे कि मेरु और कैलास पर्वतमें सम्बन्धका अभाव होनेसे नित्य ही सर्वथा भेद घटित होता है ॥४०॥ भावार्थ—यदि ज्ञानसे ज्ञानीमें सर्वथा भेद माना जायगा, तो उनका परस्परमें सम्बन्ध नहीं बन सकेगा। यदि कहा जाय कि समवायके द्वारा ज्ञान और ज्ञानीमें सम्बन्ध बन जायगा, सो यह कहना भी युक्ति-संगत नहीं है, क्योंकि समवायके नित्य और व्यापक होनेसे उसका सर्वत्र सभी जड़ और चेतन पदार्थोंसे बिना किसी विशेषताके सम्बन्ध होना चाहिये ॥४१॥ भावार्थ—यदि समवायसे ज्ञान और आत्मा-

नित्यताऽनित्यता तस्य सर्वथा न प्रशस्यते । अभावादर्थनिष्पत्तेः क्रमतोऽक्रमितोऽपि वा ॥४२
न नित्यं कुरुते कार्यं विकारानुपपत्तितः । नानित्यं सर्वथाऽनिष्टमारोग्यं मृतवैद्यवत् ॥४३
नामूर्तिः सर्वथा युक्तः कर्मवन्धाप्रसङ्गतः । नभसो न ह्यमूर्तस्य कर्मलेपो विलोक्यते ॥४४
स यतो बन्धतोऽभिन्नो भिन्नो लक्षणतः पुनः । अमूर्तताऽऽत्मनस्तस्य सर्वथा नोपपद्यते ॥४५
निर्बाधोऽस्ति ततो जीवः स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मकः । कर्त्ता भोक्ता गुणी सूक्ष्मो ज्ञाता द्रष्टा तनुप्रमः
स्थिते प्रमाणतो जीवे सर्वेऽप्यर्थाः स्थिता यतः । क्रियमाणा ततो युक्ता सप्ततत्त्वविचारणा ॥४७
परे वदन्ति सर्वज्ञो वीतरागो न विद्यते । किञ्चिज्ज्ञत्वादशेषाणां सर्वथा रागतत्त्वतः ॥४८
तदयुक्तं वचस्तेषां ज्ञानं सर्वार्थगोचरम् । न विना शक्यते कर्तुं सर्वपुंज्ञानवारणम् ॥४९
समस्ताः पुरुषा येन कालत्रितयवर्तिनः । निश्चिताः स नरः शक्तः सर्वज्ञस्य निषेधने ॥५०

का सम्बन्ध होना माना जाय, तो घट-पटादि अचेतन पदार्थोंमें ज्ञानका सम्बन्ध क्यों न माना जाय ? क्योंकि उसे नित्य और व्यापक माना गया है।

समवायके सर्वथा नित्यता और अनित्यता भी नहीं मानी जा सकती है, क्योंकि दोनों ही अवस्थाओंमें क्रमसे अथवा युगपत् अर्थ क्रियाका अभाव रहेगा ॥४२॥ आचार्य इसी बातको स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि नित्य पदार्थ तो क्रमसे या एक साथ कार्य नहीं कर सकता है, क्योंकि नित्य पदार्थमें विकार होना संभव नहीं है, यदि नित्यमें भी विकार माना जायगा, तो उसे अनित्य मानना पड़ेगा। इसी प्रकार सर्वथा अनित्य पदार्थ भी क्रमसे अथवा युगपत् कार्य नहीं कर सकता है। जैसे कि मरा हुआ वैद्य रोगी पुरुषको नीरोग नहीं कर सकता है ॥४३॥ जो लोग संसारी आत्माको सर्वथा अमूर्त मानते हैं उनका निषेध करते हुए आचार्य कहते हैं कि आत्माको सर्वथा अमूर्त्त कहना युक्ति-संगत नहीं है, क्योंकि संसारी आत्माके कर्म-बन्धका प्रसंग देखा जाता है। किन्तु सर्वथा अमूर्त्त आकाशके कर्म-लेप नहीं देखा जाता है। इससे ज्ञात होता है कि संसारी आत्मा सर्वथा अमूर्त्त नहीं हैं ॥४४॥ यतः यह आत्मा कर्म-बन्धसे अभिन्न है और जीव तथा कर्मके लक्षण भिन्न-भिन्न होनेसे लक्षणकी अपेक्षा दोनों भिन्न हैं, अतः जीवके अमूर्तता सर्वथा नहीं बन सकती है ॥४५॥ भावार्थ--कर्मोंके साथ सम्बन्ध होनेसे जीवको कथंचित् मूर्त्त मानना चाहिये। उपर्युक्त विवेचनसे यह सिद्ध हुआ कि जीवका निर्बाध अस्तित्व है, वह स्थिति-उत्पत्ति-व्ययात्मक है, कर्मोंका कर्त्ता और भोक्ता है, गुणी है, सूक्ष्म (अमूर्त्त) है, ज्ञाता द्रष्टा और शरीर-प्रमाण है ॥४६॥ इस प्रकार प्रमाणसे जीवतत्त्वकी सिद्धि हो जाने पर अजीव, आस्रव आदि अन्य तत्त्व भी स्वतः सिद्ध हो जाते हैं। अतएव प्रकृतमें किया गया सप्ततत्त्वका विचार सर्वथा युक्ति-संगत है ॥४७॥ कितने ही लोग कहते हैं कि संसारमें कोई भी सर्वज्ञ और वीतराग नहीं है, क्योंकि सभी जीवके सर्वदा अल्पज्ञता और रागपना दिखाई देता है ॥४८॥ आचार्य इसका निषेध करते हुए कहते हैं कि सर्वज्ञ और वीतरागका निषेध-कारक उक्त वचन अयुक्त है, क्योंकि सर्व पदार्थोंको विषय करनेवाले ज्ञानके विना सभी पुरुषोंमें सर्व जाननेवाले ज्ञानका निवारण करना शक्य नहीं है। जिस व्यक्तिने त्रिकालवर्ती समस्त पुरुषोंको भली-भाँतिसे जान लिया है 'कि इनमें कोई सर्वज्ञ नहीं है' वही पुरुष सर्वज्ञका निषेध करनेमें समर्थ हो सकता है, अन्य नहीं ॥४९॥

यदि कहा जाय कि अभाव प्रमाणके द्वारा सर्वज्ञका निषेध करना शक्य है, सो यह कथन भी युक्ति-संगत नहीं है, क्योंकि अतीन्द्रिय सर्वज्ञके विषयमें अभाव-प्रमाणकी प्रवृत्तिका अभाव

न चाभावप्रमाणेन शक्यते स निषेधितुम् । सर्वज्ञेऽतीन्द्रिये तस्य प्रवृत्तिविगमत्वतः ॥५१
प्रमाणाभावतस्तस्य न च युक्तं निषेधनम् । अनुमानप्रमाणं हि साधनं तस्य विद्यते ॥५२
वीतरागोऽस्ति सर्वज्ञः प्रमाणाबाधितत्वतः । सर्वदा विदितः सद्भिः सुखादिकमिव ध्रुवम् ॥५३
क्षीयते सर्वथा रागः क्वापि कारणहानितः । ज्वलनो हीयते किं न काष्ठानां च वियोगतः ॥५४
प्रकर्षस्य प्रतिष्ठानं ज्ञानं क्वापि प्रपद्यते । परिमाणमिवाकाशे तारतम्योपलब्धितः ॥५५
प्रकर्षावस्थितिर्यत्र विश्वदृश्वा स गीयते । प्रणेता विश्वतत्त्वानां प्रहृताशेषकल्मषः ॥५६
बोध्यमप्रतिबन्धस्य बुध्यमानस्य न श्रमः । बोधस्य दहतोऽसह्यं पावकस्येव विद्यते ॥५७
अनुपदेशसंवादि लाभालाभादिवेचनम् । समस्तज्ञमृतेऽन्यस्य निर्लिङ्गं शोभते कथम् ॥५८
अपौरुषेयतो युक्तमेतदागमतो न च । युक्त्या विचार्यमाणस्य सर्वथा तस्य हानितः ॥५९

हैं ॥५०॥ भावार्थ—निषेध-योग्य वस्तु और उसका आधारभूत पदार्थ इन दोनोंका जिस पुरुषको ज्ञान हो, वही पुरुष अभाव प्रमाणके द्वारा निषेध्य वस्तुका निषेध कर सकता है। जैसे कोई पुरुष पहले भूमिके आधार पर आधेय घटको देख रहा था। पीछे घटके नहीं देखने पर ही वह कह सकता है कि यहाँ पर घट नहीं है। किन्तु जैसे घट और भूतल इन्द्रियगोचर हैं, इस प्रकारसे पुरुषके भीतर पाया जानेवाला सर्व-ज्ञायक ज्ञान इन्द्रिय-गोचर नहीं है, क्योंकि वह अतीन्द्रिय है, अतः अभाव प्रमाणके द्वारा सर्वज्ञका निषेध नहीं किया जा सकता है। यदि कहा जाय कि सर्वज्ञके सद्भावको सिद्ध करनेवाले प्रमाणका अभाव होनेसे सर्वज्ञका निषेध करते हैं, सो यह कहना युक्त नहीं है, क्योंकि सर्वज्ञका साधक अनुमानप्रमाण विद्यमान है ॥५१॥ वह इस प्रकार है—सन्तोंके द्वारा सर्वदा विदित सर्वज्ञ है, क्योंकि उसके विषयमें सुनिश्चित बाधक प्रमाणका अभाव है। जैसे कि सुखादिक स्वसंवेदन गोचर होनेसे निर्बाध सिद्ध हैं। इस अनुमान प्रमाणसे सर्वज्ञकी सिद्धि होती है ॥५२॥ अब वीतरागकी सिद्धि करते हैं—किसी आत्मामें राग सर्वथा क्षयको प्राप्त होता है, क्योंकि रागके कारणोंकी अतिशय युक्त हानि पायी जाती है। जैसे कि काष्ठादि रूप इन्धनके अभावसे प्रज्वलित भी अग्नि सर्वथा क्षयको प्राप्त हो जाती है ॥५३-५४॥ आगे सर्वज्ञताकी और भी सिद्धि करते हैं—तारतम्यरूपसे प्रकर्षको प्राप्त होनेवाला ज्ञान किसी विशिष्ट आत्मामें चरम प्रकर्षको भी प्राप्त होता है। जैसे कि आकाशमें परिमाणकी वृद्धिके तारतम्य पाये जानेसे उसका चरम प्रकर्ष भी पाया जाता है ॥५५॥ जहाँपर ज्ञानकी परम प्रकर्षरूप अवस्था पायी जाती है, वह पुरुष विश्वदृश्वा सर्वज्ञ कहा जाता है। वही विश्वतत्त्वोंका प्रणेता है और समस्त राग-द्वेषादि से रहित वीतराग भी वही पुरुष जानना चाहिए ॥५६॥ यदि कहा जाय कि जानने योग्य पदार्थ तो अनन्त हैं, उन सबको जाननेमें सर्वज्ञको भारी परिश्रम उठाना पड़ता होगा? सो इसका उत्तर यह है कि आवरणके प्रतिबन्धसे रहित निरावरण ज्ञानवाले सर्वज्ञको जानने योग्य ज्ञेय पदार्थोंके जाननेमें कोई परिश्रम नहीं होता है। जैसे कि दहन योग्य इन्धनको जलाते हुए पावकको कोई परिश्रम नहीं होता है ॥५७॥ दूसरी बात यह है कि देश-कालसे दूरवर्ती परोक्ष पदार्थोंका और लाभ-अलाभ का ज्ञान सर्वज्ञके बिना उपदेशके अन्य अल्पज्ञ पुरुषमें कैसे शोभा को प्राप्त हो सकता है? अर्थात् सर्वज्ञके माने बिना न तो देशान्तरित, कालान्तरित सूक्ष्म पदार्थोंका ज्ञान ही हो सकता है और न आगामी कालमें होनेवाले हानि-लाभका ही ज्ञान हो सकता है, अतः सर्वज्ञको मानना ही चाहिए ॥५८॥ मीमांसक लोग अपौरुषेय वेदरूप आगमसे सर्व पदार्थोंका ज्ञान होना मानते हैं। आचार्य उनका निषेध करते हुए कहते हैं कि अपौरुषेय आगमसे सर्व पदार्थोंका ज्ञान

आगमोऽकृत्रिमः कश्चिन्न कदाचन विद्यते । तस्य कृत्रिमतस्तस्माद्विशेषानुपलम्भतः ॥६०
पश्यन्तो जायमानं यत्तात्वादिक्रमयोगतः । वदन्त्यकृत्रिमं वेदमनार्यं किमतः परम् ॥६१
त्रिलोकव्यापिनो वर्णा व्यज्यन्ते व्यञ्जकैरिति । न सत्यभाषिणी भाषा सर्वव्यक्तिप्रसङ्गतः ॥६२
एकत्रभाविनः केचिद्व्यज्यन्ते नापरे कथम् । न दीपव्यज्यमानानां घटादीनामयं क्रमः ॥६३
व्यञ्जकव्यतिरेकेण निश्चीयन्ते घटादयः । स्पर्शप्रभृतिभिर्जातु न वर्णाश्च कथञ्चन ॥६४
व्यज्यन्ते व्यञ्जकैर्वर्णा न व्यज्यन्ते पुनर्ध्रुवम् । इत्यत्र विद्यते काचिन्न प्रमा वेदवादिनाम् ॥६५
विना सर्वज्ञदेवेन वेदार्थः केन कथ्यते । स्वयमेवेति नो वाच्यं संवादित्वप्रसङ्गतः ॥६६
न पारम्पर्यतो ज्ञानमसर्वज्ञे प्रवर्तते । समस्तानामिवान्धानां मूलज्ञानं विना कृतम् ॥६७
कृत्रिमेष्वप्यनेकेषु न कर्त्ता स्मर्यते यतः । कर्त्रस्मरणतो वेदो युक्तो नाकृत्रिमस्ततः ॥६८

होता है, यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि युक्ति के द्वारा विचार करने पर उस अपौरुषेय आगम की सर्वथा हानि सिद्ध होती है ॥५९॥

आचार्य उस अपौरुषेय आगमके विषयमें मीमांसकोंसे पूछते हैं कि वह आगम अकृत्रिम है, अथवा कृत्रिम है ? अकृत्रिम आगम तो कोई कभी भी संभव नहीं है, क्यों कि उस अकृत्रिम आगमकी कृत्रिम आगमसे कोई विशेषता नहीं पाई जाती है ॥६०॥ देखो—वेदके जो शब्द तालु-ओष्ठ आदि स्थानोंके क्रमिक संयोगसे उत्पन्न होते हुए प्रत्यक्ष दृष्टि गोचर होते हैं, उन शब्दोंको भी यदि मीमांसक अकृत्रिम कहते हैं, तो इससे अधिक और क्या आश्चर्य हो सकता है ? यदि कहा जाय कि वर्ण (अक्षर) तो त्रिलोक-व्यापी और नित्य हैं, वे व्यंजक वायुके द्वारा व्यक्त होते हैं, उत्पन्न नहीं होते हैं। सो ऐसी भाषा बोलना भी समीचीन नहीं है, क्योंकि अभिव्यंजक वायुके द्वारा वर्णोंको अभिव्यक्त माननेपर तो सर्व ही वर्णोंकी अभिव्यक्तिका प्रसंग प्राप्त होता है ॥६१-६२॥ यह कैसे संभव है कि एक स्थान पर वर्तमान सर्व शब्दोंमेंसे अभिव्यंजक वायुके द्वारा कुछ अक्षर तो अभिव्यक्त हों और कुछ अभिव्यक्त न हों ? देखो—दीपकसे अभिव्यक्त होनेवाले घट-पटादिकमें यह क्रम नहीं पाया जाता है। अर्थात् जैसे एक स्थानवर्त्ती घट-पटादिक दीपकके द्वारा एक साथ सर्व ही प्रकाशित होते हैं। ऐसा नहीं होता कि कुछ प्रकाशित हों और कुछ प्रकाशित नहीं हों ॥६३॥ दूसरी बात यह है कि जैसे व्यञ्जक दीपकादिके बिना भी घट-पटादिक पदार्थ स्पर्श आदिके द्वारा निश्चय किये जाते हैं, उस प्रकार वर्ण कदाचित् भी अन्य प्रकारसे निश्चय नहीं किये जाते हैं ॥६४॥ इतने पर भी यदि वेद-वादी कहें कि व्यञ्जक वायुओंके द्वारा वर्ण व्यक्त किये जाते हैं, किन्तु नियमसे उत्पन्न नहीं किये जाते हैं, सो उनके इस कथनकी पुष्टिमें कोई प्रमाण नहीं है ॥६५॥ इसके अतिरिक्त यह भी बतलाइए कि सर्वज्ञ देवके विना वेदका अर्थ किसके द्वारा कहा जाता हैं ? यदि कहा जाय कि वेद अपने अर्थको स्वयं ही कहता है, सो ऐसा नहीं कह सकते, क्यों कि यदि वेद अपना अर्थ स्वयं ही कहता होता, तो फिर उसके अर्थके विषयमें कोई विसंवाद नहीं होना चाहिए था। किन्तु वेद वाक्योंके अर्थमें विसंवाद पाया जाता है, अतएव यह कहना कि "वेद अपना अर्थ स्वयं कहता है" सर्वथा मिथ्या है ॥६६॥ यदि कहा जाय कि वेदका ज्ञान परम्परासे सर्व अज्ञानी जनोंमें प्रवर्तता चला आ रहा है, सो यह कथन भी उचित नहीं है, क्योंकि समस्त अन्य पुरुषोंका ज्ञान मूलभूत ज्ञानके विना कार्यकारी नहीं होता है ॥६७॥ पुनः मीमांसक कहता है कि वेदके कर्त्ताका किसीको स्मरण नहीं है, अतः वह अकृत्रिम

हिंसादिवादकत्वेन न वेदो धर्मकांक्षिभिः। ठकोपदेशवन्नूनं प्रमाणीक्रियते बुधैः ॥६९
वीतरागश्च सर्वज्ञो जिन एवावशिष्यते। अपरेषामशेषाणां रागद्वेषादिदृष्टितः ॥७०
न विरागा न सर्वज्ञा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः। रागद्वेषमदक्रोधलोभमोहादियोगतः ॥७१
रागवन्तो न सर्वज्ञा यथा प्रकृतमानवाः। रागवन्तश्च ते सर्वे न सर्वज्ञास्ततः स्फुटम् ॥७२
आश्लिष्टास्तेऽखिलैर्दोषैः कामकोपभयादिभिः। आयुधप्रमदाभूषकमण्डल्वादियोगतः ॥७३
प्रमदा भाषते कामं द्वेषमायुधसङ्ग्रहः। अक्षसूत्रादिकं मोहं शौचाभावं कमण्डलुः ॥७४
परमः पुरुषो नित्यः सर्वदोषैरपाकृतः। तस्यैतेऽवयवाः सर्वे रागद्वेषादिभागिनः ॥७५
नैषाऽपि रोचते भाषा विचारोद्यतचेतसाम्। रागित्वेऽवयवानां हि विरागोऽवयवी कुतः ॥७६
बुद्धिमद्धेतुकं विश्वं कार्यत्वात्कलशादिवत्। बुद्धिमाँस्तस्य यः कर्ता कथ्यते स महेश्वरः ॥७७

है, सो उसका यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि अनेक कृत्रिम भी कार्योंका कर्त्ता लोगोंको स्मृत नहीं है, इसलिए क्या वे कार्य अकृत्रिम मान लिये जायेंगे? कभी नहीं। इसलिए कर्त्ताके स्मरण न होनेसे वेदको अकृत्रिम कहना योग्य नहीं है ॥६८॥ इसके अतिरिक्त वेद हिंसा आदि पापकार्योंका भी प्रतिपादन करता है, इसलिए धर्मकी आकांक्षावाले बुधजन ठगोंके उपदेशके समान वेदको निश्चयसे प्रामाणिक नहीं मानते हैं ॥६९॥

अतएव सत्यार्थ एवं निरवद्य अर्थका प्रकाशक एकमात्र वीतराग रूपसे जिनदेव ही अवशिष्ट रहता है, अतः उसे ही सच्चा देव मानना चाहिए और उसके ही वचन प्रामाणिक हैं। इस वीतराग सर्वज्ञ जिनदेवके अतिरिक्त शेष समस्त पुरुषोंके राग-द्वेषादिके देखे जानेसे उन्हें सत्यार्थ वक्ता या शास्ता नहीं माना जा सकता है ॥७०॥ संसारमें लौकिक जनोंके द्वारा देव माने जानेवाले ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर न वीतराग हैं और न सर्वज्ञ ही हैं, क्योंकि उनमें राग द्वेष मद क्रोध लोभ मोह आदि दोषोंका संयोग पाया जाता है ॥७१॥ रागवाले पुरुष सर्वज्ञ नहीं हो सकते हैं, जैसे कि सामान्य संसारी मनुष्य। रागवाले वे ब्रह्मादिक सभी देव हैं, अतः स्पष्ट रूपसे वे सर्वज्ञ नहीं है ॥७२॥ वे ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर, काम, क्रोध और भय आदि समस्त दोषोंसे संयुक्त हैं, क्योंकि उनके आयुध, स्त्री, आभूषण और कमण्डलु आदिका संयोग पाया जाता है ॥७३॥ प्रमदा स्त्रीका सद्भाव उनके काम-विकारको कहता है, आयुधोंका संग्रह उनके द्वेषभाव को प्रकट करता है, माला, यज्ञोपवीतादिक उनके मोहके द्योतक हैं और कमंडलु उनके शौच का अभाव बतलाते हैं ॥७४॥ इस प्रकारसे यह सिद्ध हुआ कि जिनके राग-द्वेषादिके कारणभूत स्त्री-शस्त्रादिक का परिग्रह पाया जाता है, वे सच्चे देव कदापि नहीं हो सकते हैं। पुरुषाद्वैतवादी कहते हैं कि सर्वदोषोंसे रहित एक परम पुरुष ही नित्य है, अतः उसे ही सत्यार्थ मानना चाहिए। इस संसार में जितने भी रागद्वेषादि के धारक पुरुष दिखाई देते हैं, वे सर्व उस एक परम पुरुष या परम-ब्रह्मके अवयव (अंश) हैं ॥७५॥ उनका ऐसा कथन भी विचार-चतुर चित्तवाले पुरुषोंको नहीं रुचता है, कारण कि अवयवोंके सरागी होनेपर अवयवी नीरागी कैसे हो सकता है? भावार्थ—जब परम पुरुषके अवयवभूत संसारी प्राणी सरागी दिखते हैं, तो उनका आधारभूत अवयवी परम ब्रह्म वीतरागी कैसे हो सकता है? अर्थात् कभी नहीं हो सकता ॥७६॥ जो वैशेषिक आदि अन्तमतावलम्बी लोग ईश्वरको जगत् का कर्त्ता मानते हैं, उनका निषेध करनेके लिए आचार्य पहले उनका पक्ष उपस्थित करते हैं—

यह समस्त विश्व किसी बुद्धिमान् पुरुषके निमित्तसे निर्मित है क्योंकि वह कार्य है। जो-जो

आगमोऽकृत्रिमः कश्चिन्न कदाचन विद्यते । तस्य कृत्रिमतस्तस्माद्विशेषानुपलम्भतः ॥६०
पश्यन्तो जायमानं यत्ताल्वादिक्रमयोगतः । वदन्त्यकृत्रिमं वेदमनार्यं किमतः परम् ॥६१
त्रिलोकव्यापिनो वर्णा व्यज्यन्ते व्यञ्जकैरिति । न सत्यभाषिणी भाषा सर्वव्यक्तिप्रसङ्गतः ॥६२
एकत्रभाविनः केचिद्व्यज्यन्ते नापरे कथम् । न दीपव्यज्यमानानां घटादीनामयं क्रमः ॥६३
व्यञ्जकव्यतिरेकेण निश्चीयन्ते घटादयः । स्पर्शप्रभृतिभिर्जातु न वर्णाश्च कथञ्चन ॥६४
व्यज्यन्ते व्यञ्जकैर्वर्णा न व्यज्यन्ते पुनर्ध्रुवम् । इत्यत्र विद्यते काचिन्न प्रमा वेदवादिनाम् ॥६५
विना सर्वज्ञदेवेन वेदार्थः केन कथ्यते । स्वयमेवेति नो वाच्यं संवादित्वप्रसङ्गतः ॥६६
न पारम्पर्यतो ज्ञानमसर्वज्ञे प्रवर्तते । समस्तानामिवान्धानां मूलज्ञानं विना कृतम् ॥६७
कृत्रिमेष्वप्यनेकेषु न कर्त्ता स्मर्यते यतः । कर्त्रस्मरणतो वेदो युक्तो नाकृत्रिमस्ततः ॥६८

होता है, यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि युक्ति के द्वारा विचार करने पर उस अपौरुषेय आगम की सर्वथा हानि सिद्ध होती है ॥५९॥

आचार्य उस अपौरुषेय आगमके विषयमें मीमांसकोंसे पूछते हैं कि वह आगम अकृत्रिम है, अथवा कृत्रिम है ? अकृत्रिम आगम तो कोई कभी भी संभव नहीं है, क्यों कि उस अकृत्रिम आगमकी कृत्रिम आगमसे कोई विशेषता नहीं पाई जाती है ॥६०॥ देखो—वेदके जो शब्द तालु-ओष्ठ आदि स्थानोंके क्रमिक संयोगसे उत्पन्न होते हुए प्रत्यक्ष दृष्टि गोचर होते हैं, उन शब्दोंको भी यदि मीमांसक अकृत्रिम कहते हैं, तो इससे अधिक और क्या आश्चर्य हो सकता है ? यदि कहा जाय कि वर्ण (अक्षर) तो त्रिलोक-व्यापी और नित्य हैं, वे व्यंजक वायुके द्वारा व्यक्त होते हैं, उत्पन्न नहीं होते हैं। सो ऐसी भाषा बोलना भी समीचीन नहीं है, क्योंकि अभिव्यंजक वायुके द्वारा वर्णोको अभिव्यक्त माननेपर तो सर्व ही वर्णोकी अभिव्यक्तिका प्रसंग प्राप्त होता है ॥६१–६२॥ यह कैसे संभव है कि एक स्थान पर वर्तमान सर्व शब्दोंमेंसे अभिव्यंजक वायुके द्वारा कुछ अक्षर तो अभिव्यक्त हों और कुछ अभिव्यक्त न हों ? देखो—दीपकसे अभिव्यक्त होनेवाले घट-पटादिकमें यह क्रम नहीं पाया जाता है। अर्थात् जैसे एक स्थानवर्ती घट-पटादिक दीपकके द्वारा एक साथ सर्व ही प्रकाशित होते हैं। ऐसा नहीं होता कि कुछ प्रकाशित हों और कुछ प्रकाशित नहीं हों ॥६३॥ दूसरी बात यह है कि जैसे व्यञ्जक दीपकादिके विना भी घट-पटादिक पदार्थ स्पर्श आदिके द्वारा निश्चय किये जाते हैं, उस प्रकार वर्ण कदाचित् भी अन्य प्रकारसे निश्चय नहीं किये जाते हैं ॥६४॥ इतने पर भी यदि वेद-वादी कहें कि व्यञ्जक वायुओंके द्वारा वर्ण व्यक्त किये जाते हैं, किन्तु नियमसे उत्पन्न नहीं किये जाते हैं, सो उनके इस कथनकी पुष्टिमें कोई प्रमाण नहीं है ॥६५॥ इसके अतिरिक्त यह भी बतलाइए कि सर्वज्ञ देवके विना वेदका अर्थ किसके द्वारा कहा जाता हैं ? यदि कहा जाय कि वेद अपने अर्थको स्वयं ही कहता है, सो ऐसा नहीं कह सकते, क्यों कि यदि वेद अपना अर्थ स्वयं ही कहता होता, तो फिर उसके अर्थके विषयमें कोई विसंवाद नहीं होना चाहिए था। किन्तु वेद वाक्योंके अर्थमें विसंवाद पाया जाता है, अतएव यह कहना कि "वेद अपना अर्थ स्वयं कहता है" सर्वथा मिथ्या है ॥६६॥ यदि कहा जाय कि वेदका ज्ञान परम्परासे सर्व अज्ञानी जनोंमें प्रवर्तता चला आ रहा है, सो यह कथन भी उचित नहीं है, क्योंकि समस्त अन्य पुरुषोंका ज्ञान मूलभूत ज्ञानके विना कार्यकारी नहीं होता है ॥६७॥ पुनः मीमांसक कहता है कि वेदके कर्त्ताका किसीको स्मरण नहीं है, अतः वह अकृत्रिम

हिंसादिवादकत्वेन न वेदो धर्मकांक्षिभिः। ठकोपदेशवन्नूनं प्रमाणीक्रियते बुधैः ॥६९
वीतरागश्च सर्वज्ञो जिन एवावशिष्यते। अपरेषामशेषाणां रागद्वेषादिदृष्टितः ॥७०
न विरागा न सर्वज्ञा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः। रागद्वेषमदक्रोधलोभमोहादियोगतः ॥७१
रागवन्तो न सर्वज्ञा यथा प्रकृतमानवाः। रागवन्तश्च ते सर्वे न सर्वज्ञास्ततः स्फुटम् ॥७२
आश्लिष्टास्तेऽखिलैर्दोषैः कामकोपभयादिभिः। आयुधप्रमदाभूषकमण्डल्वादियोगतः ॥७३
प्रमदा भाषते कामं द्वेषमायुधसङ्ग्रहः। अक्षसूत्रादिकं मोहं शौचाभावं कमण्डलुः ॥७४
परमः पुरुषो नित्यः सर्वदोषैरपाकृतः। तस्यैतेऽवयवाः सर्वे रागद्वेषादिभागिनः ॥७५
नैषाऽपि रोचते भाषा विचारोद्यतचेतसाम्। रागित्वेऽवयवानां हि विरागोऽवयवी कुतः ॥७६
बुद्धिमद्धेतुकं विश्वं कार्यत्वात्कलशादिवत्। बुद्धिमाँस्तस्य यः कर्त्ता कथ्यते स महेश्वरः ॥७७

है, सो उसका यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि अनेक कृत्रिम भी कार्योंका कर्त्ता लोगोंको स्मृत नहीं है, इसलिए क्या वे कार्य अकृत्रिम मान लिये जायेंगे? कभी नहीं। इसलिए कर्त्ताके स्मरण न होनेसे वेदको अकृत्रिम कहना योग्य नहीं है ॥६८॥ इसके अतिरिक्त वेद हिंसा आदि पापकार्योंका भी प्रतिपादन करता है, इसलिए धर्मकी आकांक्षावाले बुधजन ठगोंके उपदेशके समान वेदको निश्चयसे प्रामाणिक नहीं मानते हैं ॥६९॥

अतएव सत्यार्थ एवं निरवद्य अर्थका प्रकाशक एकमात्र वीतराग रूपसे जिनदेव ही अवशिष्ट रहता है, अतः उसे ही सच्चा देव मानना चाहिए और उसके ही वचन प्रामाणिक हैं। इस वीतराग सर्वज्ञ जिनदेवके अतिरिक्त शेष समस्त पुरुषोंके राग-द्वेषादिके देखे जानेसे उन्हें सत्यार्थ वक्ता या शास्ता नहीं माना जा सकता है ॥७०॥ संसारमें लौकिक जनोंके द्वारा देव माने जानेवाले ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर न वीतराग हैं और न सर्वज्ञ ही हैं, क्योंकि उनमें राग द्वेष मद क्रोध लोभ मोह आदि दोषोंका संयोग पाया जाता है ॥७१॥ रागवाले पुरुष सर्वज्ञ नहीं हो सकते हैं, जैसे कि सामान्य संसारी मनुष्य। रागवाले वे ब्रह्मादिक सभी देव हैं, अतः स्पष्ट रूपसे वे सर्वज्ञ नहीं है ॥७२॥ वे ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर, काम, क्रोध और भय आदि समस्त दोषोंसे संयुक्त हैं, क्योंकि उनके आयुध, स्त्री, आभूषण और कमण्डलु आदिका संयोग पाया जाता है ॥७३॥ प्रमदा स्त्रीका सद्भाव उनके काम-विकारको कहता है, आयुधोंका संग्रह उनके द्वेषभाव को प्रकट करता है, माला, यज्ञोपवीतादिक उनके मोहके द्योतक हैं और कमंडलु उनके शौच का अभाव बतलाते हैं ॥७४॥ इस प्रकारसे यह सिद्ध हुआ कि जिनके राग-द्वेषादिके कारणभूत स्त्री-शस्त्रादिक का परिग्रह पाया जाता है, वे सच्चे देव कदापि नहीं हो सकते हैं। पुरुषाद्वैतवादी कहते हैं कि सर्वदोषोंसे रहित एक परम पुरुष ही नित्य है, अतः उसे ही सत्यार्थ मानना चाहिए। इस संसार में जितने भी रागद्वेषादि के धारक पुरुष दिखाई देते हैं, वे सर्व उस एक परम पुरुष या परम-ब्रह्मके अवयव (अंश) हैं ॥७५॥ उनका ऐसा कथन भी विचार-चतुर चित्तवाले पुरुषोंको नहीं रुचता है, कारण कि अवयवोंके सरागी होनेपर अवयवी नीरागी कैसे हो सकता है? भावार्थ—जब परम पुरुषके अवयवभूत संसारी प्राणी सरागी दिखते हैं, तो उनका आधारभूत अवयवी परम ब्रह्म वीतरागी कैसे हो सकता है? अर्थात् कभी नहीं हो सकता ॥७६॥ जो वैशेषिक आदि अन्तमतावलम्बी लोग ईश्वरको जगत् का कर्त्ता मानते हैं, उनका निषेध करनेके लिए आचार्य पहले उनका पक्ष उपस्थित करते हैं—

यह समस्त विश्व किसी बुद्धिमान् पुरुषके निमित्तसे निर्मित है क्योंकि वह कार्य है। जो-जो

इत्थं विविच्य परिमुच्य कुदेववर्गं गृह्णाति यो जिनपतिं भजते स तत्त्वम् ।
गृह्णाति यः शुभमतिः परिमुच्य काचं, चिन्तामणिं स लभते खलु किं न सौख्यम् ॥९९
मिथ्यात्वदूषणमपास्य विचित्रदोषं संरूढसंसृतिवधूपरितोषकारि ।
सम्यक्त्वरत्नममलं हृदि यो निधत्ते, मुक्त्यङ्गनाऽमितगतिस्तमुपैति सद्यः ॥१००

इत्यमितगतिकृतश्रावकाचारे चतुर्थः परिच्छेदः ॥

पञ्चमः परिच्छेदः

मद्यमांसमधुरात्रिभोजनं क्षीरवृक्षफलवर्जनं त्रिधा ।
कुर्वते व्रतजिघृक्षया बुधास्तत्र पुष्यति निषेविते व्रतम् ॥१
मद्यपस्य धिषणा पलायते दुर्भगस्य वनितेव दूरतः ।
निन्द्यता च लभते महोदयं क्लेशितेव गुरुवाक्यमोचितः ॥२
विह्वलः स जननीयति प्रियां मानसेन जननीं प्रियीयति ।
किङ्करीयति निरीक्ष्य पार्थिवं पार्थिवीयति कुधीः स किङ्करम् ॥३
सर्वतोऽप्युपहसन्ति मानवा वाससीमपहरन्ति तस्कराः ।
मूत्रयन्ति पतितस्य मण्डला विस्तृते विवरकाङ्क्षया मुखे ॥४

जायगा ? अर्थात् फिर तो सभी भली बुरी वस्तुओंको देव मानना चाहिए ॥९८॥ इस प्रकारसे जो भले प्रकार विचार करके कुदेवोंके समुदायको छोड़कर जिनेन्द्रदेवका आश्रय ग्रहण करता है, वह वास्तविक तत्त्वका सेवन करता है। जो श्रेष्ठ बुद्धि पुरुष काचको छोड़कर चिन्तामणि रत्नको ग्रहण करता है, वह निश्चयसे क्या सुखको नहीं पाता है ? अर्थात् सुखको पाता ही है ॥९९॥ संसृति (संसार) रूपी वधूको सन्तुष्ट करनेवाले अर्थात् संसारको बढ़ानेवाले और नाना प्रकारके दोषोंको करनेवाले मिथ्यात्वरूपी महा दूषणको दूर करके निर्दोष निर्मल सम्यक्त्वरूपी रत्नको अपने हृदयमें धारण करता है, वह पुरुष अमित ज्ञानका धारक होकर शीघ्र ही मुक्ति रूपी अंगना को प्राप्त करता है ॥१००॥

इस प्रकार अमितगति-विरचित उपासकाचारमें चतुर्थ परिच्छेद समाप्त हुआ।

व्रतोंके ग्रहण करनेकी इच्छासे ज्ञानी जन मद्य, मांस, मधु, रात्रिभोजन और क्षीरी वृक्षोंके फलोंके भक्षणका मन वचन कायसे त्याग करते हैं, क्योंकि इनके त्यागका परिपालन करने पर व्रत परिपुष्ट होते हैं ॥१॥ अब आचार्य सर्वप्रथम मद्यपानके दोष बतलाते हैं—मद्य पीने वालेकी बुद्धि इस प्रकार भाग जाती है, जैसे कि अभागी पुरुषकी स्त्री उसे दूरसे छोड़ कर भाग जाती है। तथा उसकी निन्दा उत्तरोत्तर बढ़ती है, जैसे कि गुरुके वचन न मानने वालेके क्लेश वृद्धिको प्राप्त होता है ॥२॥ मद्यपानसे विह्वल चित्त हुआ पुरुष अपनी स्त्रीके साथ माताके समान आचरण करता है और माताके साथ स्त्रीके समान आचरण करता है। इसी प्रकार राजाके साथ किंकरके समान आचरण करता है और किंकरके साथ राजाके समान आचरण करता है ॥३॥ मद्यपायी पुरुषकी सभी मनुष्य सब ओरसे हँसी करते हैं, चोर उसके वस्त्र चुरा लेते हैं और कुत्ते छेद समझ कर भूमि पर पड़े हुए उसके खुले मुखमें मूत देते हैं ॥४॥ मदिरा पान करने वाला पुरुष

मंक्षु मूर्च्छति विभेति कम्पते फूत्करोति हृदले प्रछर्दति ।
खिद्यते स्खलति वीक्षते दिशो रोदिति स्वपिति जक्षतीर्ष्यति ॥५
ये भवन्ति विविधाः शरीरिणस्तत्र सूक्ष्मवपुषो रसाङ्गिकाः ।
तेऽखिला झटिति यान्ति पञ्चतां निन्दितस्य चषकस्य पानतः ॥६
वारुणीनिहितचेतसोऽखिला यान्ति कान्तिमतिकीर्तिसम्पदः ।
वेगतः परिहरन्ति योषितो वीक्ष्य कान्तमपराङ्गनागतम् ॥७
गायति भ्रमति वक्ति गद्गदं रौति धावति विगाहते क्रमम् ।
हन्ति हृष्यति न बुध्यते हितं मद्यमोहितमतिर्विषीदति ॥८
तोतुवीति भविनः सुरारतो वावदीति वचनं विनिन्दितम् ।
मोमुषीति परवित्तमस्तधीर्बोभजीति परकीयकामिनी ॥९
नानटीति कृतचित्रचेष्टितो नन्नमीति पुरतोऽजनं जनम् ।
लोलुठीति भुवि रासभोपमो रारटीति सुरापविमोहितः ॥१०
सीधुलालसधियो वितन्वते धर्मसंयमविचारणां यके ।
मेरुमस्तकनिविष्टमूर्तयस्ते स्पृशन्ति चरणैर्भुवस्तलम् ॥११
दोषमेवमवगम्य वारुणीं सर्वथा तु द[1]वयन्ति पण्डिताः ।
कालकूटमवबुध्य दुःखदं भक्षयन्ति किमु जीवितार्थिनः ॥१२

शीघ्र ही मूर्च्छित हो जाता है, डरता है, काँपता है, चिल्लाता है, रोता है, वमन करता है, खेद-खिन्न होता है, गिरता है, सर्व दिशाओंमें देखता है, पुनः रोने लगता है, सोता है, अकड़ जाता है और अन्य लोगोंसे ईर्ष्या करता है ॥५॥ इस निन्द्य मद्यके पीनेसे उस मदिरामें जो नाना प्रकारके सूक्ष्म शरीरवाले असंख्य रसांगी जीव उत्पन्न हैं, वे सब शीघ्र ही मरणको प्राप्त हो जाते हैं ॥६॥ मदिरामें आसक्त चित्तवाले पुरुषकी कान्ति बुद्धि कीर्ति और सम्पत्ति आदि सभी विशेषताएँ उसको छोड़कर वेगसे इस प्रकार दूर चली जाती हैं, जिस प्रकारसे कि अन्य स्त्रीमें आसक्त अपने पतिको देखकर उसकी विवाहिता स्त्री उसे छोड़कर चली जाती है ॥७॥ मद्य-पानसे मोहित बुद्धिवाला शरावी कभी गाता है, कभी मूर्च्छित हो भ्रमयुक्त होता है, कभी गद्गद वचन बोलता है, कभी रोता है, कभी इधर-उधर दौड़ता है, कभी किसीको मारता है, कभी हर्षित होता है और कभी विषादको प्राप्त होता है, किन्तु अपने हितको नहीं जानता है ॥८॥ सुरा-पानमें रत पुरुष कभी प्राणियोंको सताता है, कभी निन्दित वचन बोलता है, कभी पराये धनको चुराता है और और कभी वह नष्टबुद्धि परायी स्त्रीको भोगने लगता है ॥९॥ मदिरासे मोहित हुआ मनुष्य कभी नाना प्रकारकी चेष्टाएं करता हुआ नाचता है, कभी प्रत्येक मनुष्यको नमस्कार करने लगता है, कभी गर्दभके समान भूमिपर लोटने लगना है और उसीके समान रेंकने लगता है ॥१०॥ मदिरा-पानकी लालसा युक्त बुद्धिसे जो मनुष्य धर्म और संयमके पालन करनेका विचार करते हैं, वे मनुष्य मेरुपर्वतके मस्तकपर बैठकर अपने चरणोंसे भूतलका मानों स्पर्श करना चाहते हैं ॥११॥ इस प्रकारसे मदिरा-पानके अनेक दोषोंका जानकर पण्डितजन उसका सर्वथा ही पान नहीं करते

---

१ मु० 'न हि धयंति' पाठः ।

न विना शम्भुना नूनं देहद्रुमनगादयः । कुलालेनेव जायन्ते विचित्रा कलशादयः ॥७८
ततोऽस्ति जगतः कर्त्ता विश्वदृश्वा महेश्वरः । वचनं विद्यते नेदं चिन्त्यमानं विचक्षणैः ॥७९
कार्यत्वादित्ययं हेतुस्तस्या साधयते यथा । बुद्धिमत्त्वं तथा तस्य देहवत्त्वमपि ध्रुवम् ॥८०
नाशरीरी मया दृष्टः कुम्भकारः क्वचिद्यतः । कुलालस्तस्य दृष्टान्तस्तो ब्रूते सदेहताम् ॥८१
सदेहस्य च कर्तृत्वे सोऽस्मदादिसमो मतः । दृश्यतां प्रतिपद्येत कुम्भकारादिवत्ततः ॥८२
भुवनं क्रियते तेन विनोपकरणैः कथम् । कृत्वा निवेश्यते कुत्र निरालम्बे विहायसि ॥८३
विचेतनानि भूतानि सिसृक्षावशतः कथम् । विनिर्माणाय विश्वस्य वर्तन्ते तस्य कथ्यताम् ॥८४
बुद्धोऽपि न समस्तज्ञः कथ्यते तथ्यवादिभिः । प्रमाणादिविरुद्धस्य शून्यत्वादेर्निवेदनात् ॥८५
प्रमाणेनाप्रमाणेन सर्वशून्यत्वसाधने । विकल्पद्वयमायाति कोकयुग्ममिवाम्भसि ॥८६
साधनेऽस्य प्रमाणेन सर्वशून्यव्यतिक्रमः । अङ्गीकृते प्रमाणस्य तन्निषेधविधायिनः ॥८७
प्रमाणव्यतिरेकेण सर्वशून्यत्वसाधने । सर्वस्य चिन्तितं सिद्धयेत्तत्वं केन निषिध्यते ॥८८

कार्य होते हैं, वे वे किसी न किसी बुद्धिमान्‌के निमित्तसे निर्मित होते हैं, जैसे कलश आदि पदार्थ। जो कोई भी बुद्धिमान् इस जगत्‌का कर्त्ता है, वही महेश्वर कहा जाता है। विना महेश्वरके शरीर, वृक्ष और पर्वतादिक पदार्थ नहीं उत्पन्न हो सकते हैं, जैसे कि कुम्भकारके विना कलश आदि अनेक विचित्र पदार्थ नहीं उत्पन्न हो सकते हैं। अतएव इस जगत्‌का कर्ता कोई विश्वदर्शी महेश्वर है। आचार्य उनके इस पूर्व पक्षका निषेध करते हुए कहते हैं कि यह उपर्युक्त वचन बुद्धिमान् जनोंके द्वारा विचार करनेपर युक्तिसंगत नहीं ठहरता है ॥७७-७९॥ देखो—कार्यत्व यह हेतु जिस प्रकारसे उस महेश्वरके बुद्धिमान्‌पनाको सिद्ध करता है, उसी प्रकारसे उसके निश्चयसे शरीरवान-पनाको भी सिद्ध करता है ॥८०॥ क्योंकि कहीं पर भी मैंने कुम्भकारको शरीर-रहित नहीं देखा है, इसलिए आपके द्वारा कुम्भकारका जो दृष्टान्त दिया गया है वह ईश्वरके सशरीरपनाको ही कहता है ॥८१॥ और शरीर-सहित ईश्वरको जगत्‌का कर्त्ता मानने पर तो वह हम आपके समान दृश्यपनेको प्राप्त हो जाता है, जैसे कि सशरीरी कुम्भकार सर्व जनोंको प्रत्यक्ष दिखाई देता है ॥८२॥ और आप यह भी वतलाइये कि उपकरणोंके विना वह भुवनको कैसे वनाता है? तथा भुवनवर्त्ती पदार्थोंको वना-वना करके वह इस निरालम्ब आकाशमें उन्हें कहाँ पर रखता है ॥८३॥ यदि कहा जाय कि ईश्वरकी सृष्टि रचनेकी इच्छाके वशसे पृथ्वी आदि भूतचतुष्टय विश्वके निर्माणके लिए प्रवृत्त होते हैं, तो यह कहिये कि वे अचेतन पृथ्वी आदि भूतचतुष्टय विश्वका निर्माण कैसे कर सकते हैं? इस प्रकार तर्क-वलसे विचारनेपर ईश्वर जगत्‌का कर्त्ता सिद्ध नहीं होता है ॥८४॥ अव आचार्य बुद्धके सर्वज्ञताका निषेध करते हैं—यथार्थवादी पुरुष बुद्धको भी सर्वज्ञ नहीं कहते हैं, क्योंकि उसने प्रमाणादिसे विरुद्ध शून्यत्वादिका कथन किया है ॥८५॥ प्रमाणसे अथवा अप्रमाणसे सर्वशून्यताके साधनमें जलमें चक्रवाक-युगलके समान दो विकल्प सामने आते हैं? अर्थात् बौद्ध लोग यह वतावें कि वे सर्वशून्यताकी सिद्धि किसी प्रमाणसे करते हैं, अथवा विना किसी प्रमाणके ही करते हैं ॥८६॥ प्रमाणसे सर्वशून्यताके सिद्ध करनेपर तो सर्वशून्यताका ही व्यतिक्रम हो जाता है, क्योंकि उस शून्यताके निषेध करनेवाले प्रमाणको आप बौद्धोंने अंगीकार कर लिया है ॥८७॥ यदि कहा जाय कि हम लोग प्रमाणके विना ही सर्वशून्यताका साधन करते हैं, तो फिर सभी लोगोंका चिन्तित—मन चाहा-तत्त्व सिद्ध हो जायगा, उसका विना प्रमाण

सर्वत्र सर्वदा तत्त्वे क्षणिके स्वीकृते सति । फलेन सह सम्बन्धो धार्मिकस्य कुतस्तनः ॥८९
वध्यस्य वधको हेतुः क्षणिके स्वीकृते कथम् । प्रत्यभिज्ञा कथं लोकव्यवहारप्रवर्तिनी ॥९०
व्याघ्र्याः प्रयच्छतो देहं निगद्य कृमिमन्दिरम् । दातृदेयविमूढस्य करुणा बत कीदृशी ॥९१
जननी जगतः पूज्या हिंसिता येन जन्मनि । मांसोपदेशिनस्तस्य दया शौद्धोदनेः कुतः ॥९२
यो ज्ञात्वा प्राकृतं धर्मं भाषतेऽसौ निरर्थकः । निर्गुणो निष्क्रियो मूढ सर्वज्ञः कपिलः कथम् ॥९३
आर्यास्कन्धानलादित्यसमीरणपुरःसराः । निगद्यन्ते कथं देवाः सर्वदोषपयोधयः ॥९४
गूथमश्नाति या हन्ति खुरशृङ्गैः शरीरिणः । सा पशुर्गौः कथं वन्द्याः वृषस्यन्ती स्वदेहजम् ॥९५
चेद्दुग्धदानतो वन्द्या महिषी किं न वन्द्यते । विशेषो दृश्यते नास्या महिषीतो मयाऽधिका ॥९६
या तीर्थमुनिदेवानां सर्वेषामाश्रयः सदा । दुह्यते हन्यते सा गौर्मूढैर्विक्रीयते कथम् ॥९७
मुसलं देहली चुल्ली पिप्पलश्चम्पको जलम् । देवा यैरभिधीयन्ते वर्ज्यन्ते तैः परेऽत्र के ॥९८

के कैसे निषेध किया जा सकेगा ॥८८॥ इस प्रकार बौद्धोंके द्वारा मानी गई सर्वशून्यता सिद्ध नहीं होती है, अतः उसे मानना मिथ्या है। तथा तत्त्वको सर्व देश और सर्व कालमें सर्वथा क्षणिक स्वीकार करने पर धर्मके फलका धर्मात्मा पुरुषके साथ सम्बन्ध कैसे बन सकेगा ॥८९॥ भावार्थ— यदि जीवको सर्वथा क्षणिक माना जाय तो जो धर्म करेगा, वह उसी क्षण नष्ट हो जायगा तब उस धर्मका फल उसे कैसे मिल सकेगा ?

इसी प्रकार क्षणिक वस्तुके स्वीकार करने पर हिंसक जीव हिंसाका हेतु कैसे माना जा सकेगा ? तथा देन-लेन आदि लोक व्यवहारकी चलाने वाली प्रत्यभिज्ञा कैसे संभव होगी ॥९०॥ भावार्थ—इसने मुझे पहले ऋण दिया था, आज मैं उसे दे रहा हूँ, इस व्यक्तिसे मुझे इतना लेना है आदि लोक व्यवहार प्रत्यभिज्ञान-पूर्वक ही चलते हैं। यदि सर्वथा क्षणिकवाद माना जाय, तो यह सर्व व्यवहार समाप्त हो जायगा। 'यह शरीर कृमियोंका घर है' ऐसा कह कर व्याघ्रीके लिए शरीर-समर्पण करने वाले दाता और देयके ज्ञानसे विमूढ़के करुणा कैसे संभव है, यह अति दुःखकी बात है ॥९१॥ जिसने जगत्की पूज्य अपनी जननीको जन्मकालमें ही मार दिया और बुद्धत्व प्राप्तिके पश्चात् मांस खानेका उपदेश दिया, उस शुद्धोदन राजाके पुत्र बुद्धके दया कैसे मानी जा सकती है ॥९२॥ इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि बुद्ध भी सर्वज्ञ नहीं है। अब आचार्य सांख्यमतके प्रवर्तक कपिलके भी सर्वज्ञताका निराकरण करते हुए कहते हैं कि जो ज्ञानको जड़ प्रकृतिका धर्म कहता है और पुरुषको निर्गुण, निष्क्रिय और प्रयोजन-रहित कहता है वह मूढ़ कपिल सर्वज्ञ कैसे हो सकता है ॥९३॥ इस प्रकार आर्या (देवी), स्कन्द (कार्तिकेय), अग्नि, सूर्य, समीरण (पवन) आदिक जो सर्व दोषोंके समुद्र हैं, वे देव कैसे कहे जा सकते हैं ॥९४॥ जो गाय विष्टा खाती है, खुर और सींगोंसे प्राणियोंको मारती है और अपने पुत्रके साथ काम-सेवन करती है, वह पशु गाय कैसे वन्दनीय हो सकती है ॥९५॥ यदि कहा जाय कि वह लोगोंको दुग्ध दान करनेसे वंद्य है, तो फिर इसी कारणसे भैंस क्यों वन्दनीय नहीं है ? क्योंकि दुग्ध देनेकी दृष्टिसे तो हमें भैंसकी अपेक्षा गायमें कोई विशेषता नहीं दिखाई देती है ॥९६॥ जो गायको सभी तीर्थों, मुनिजनों और देवोंका सदा आश्रय मानते हैं आश्चर्य है कि वे मूढ़ लोग उसे क्यों दुहते हैं, क्यों मारते हैं और क्यों बेचते हैं ॥९७॥ इसके अतिरिक्त जो लोग मूसल, देहली, चूल्हा, पीपल, चंपा और जल आदिको भी देव कहते हैं, उन लोगोंके द्वारा इस लोकमें देव माननेसे और कोन छोड़ा

इत्थं विविच्य परिमुच्य कुदेववर्गं गृह्णाति यो जिनपतिं भजते स तत्त्वम् ।
गृह्णाति यः शुभमतिः परिमुच्य काचं, चिन्तामणिं स लभते खलु किं न सौख्यम् ॥९९
मिथ्यात्वदूषणमपास्य विचित्रदोषं संरूढसंसृतिवधूपरितोषकारि ।
सम्यक्त्वरत्नममलं हृदि यो निधत्ते, मुक्त्यङ्गनाऽमितगतिस्तमुपैति सद्यः ॥१००

इत्यमितगतिकृतश्रावकाचारे चतुर्थः परिच्छेदः ॥

पञ्चमः परिच्छेदः

मद्यमांसमधुरात्रिभोजनं क्षीरवृक्षफलवर्जनं त्रिधा ।
कुर्वते व्रतजिघृक्षया बुधास्तत्र पुष्यति निषेविते व्रतम् ॥१
मद्यपस्य धिषणा पलायते दुर्भगस्य वनितेव दूरतः ।
निन्द्यता च लभते महोदयं क्लेशितेव गुरुवाक्यमोचितः ॥२
विह्वलः स जननीयति प्रियां मानसेन जननीं प्रियीयति ।
किङ्करीयति निरीक्ष्य पार्थिवं पार्थिवीयति कुधीः स किङ्करम् ॥३
सर्वतोऽप्युपहसन्ति मानवा वाससीमपहरन्ति तस्कराः ।
मूत्रयन्ति पतितस्य मण्डला विस्तृते विवरकाङ्क्षया मुखे ॥४

जायगा ? अर्थात् फिर तो सभी भली बुरी वस्तुओंको देव मानना चाहिए ॥९८॥ इस प्रकारसे जो भले प्रकार विचार करके कुदेवोंके समुदायको छोड़कर जिनेन्द्रदेवका आश्रय ग्रहण करता है, वह वास्तविक तत्त्वका सेवन करता है। जो श्रेष्ठ बुद्धि पुरुष काचको छोड़कर चिन्तामणि रत्नको ग्रहण करता है, वह निश्चयसे क्या सुखको नहीं पाता है ? अर्थात् सुखको पाता ही है ॥९९॥ संसृति (संसार) रूपी वधूको सन्तुष्ट करनेवाले अर्थात् संसारको बढ़ानेवाले और नाना प्रकारके दोषोंको करनेवाले मिथ्यात्वरूपी महा दूषणको दूर करके निर्दोष निर्मल सम्यक्त्वरूपी रत्नको अपने हृदयमें धारण करता है, वह पुरुष अमित ज्ञानका धारक होकर शीघ्र ही मुक्ति रूपी अंगनाको प्राप्त करता है ॥१००॥

इस प्रकार अमितगति-विरचित उपासकाचारमें चतुर्थ परिच्छेद समाप्त हुआ।

व्रतोंके ग्रहण करनेकी इच्छासे ज्ञानी जन मद्य, मांस, मधु, रात्रिभोजन और क्षीरी वृक्षोंके फलोंके भक्षणका मन वचन कायसे त्याग करते हैं, क्योंकि इनके त्यागका परिपालन करने पर व्रत परिपुष्ट होते हैं ॥१॥ अब आचार्य सर्वप्रथम मद्यपानके दोष बतलाते हैं—मद्य पीने वालेकी वुद्धि इस प्रकार भाग जाती है, जैसे कि अभागी पुरुषकी स्त्री उसे दूरसे छोड़ कर भाग जाती है। तथा उसकी निन्दा उत्तरोत्तर बढ़ती है, जैसे कि गुरुके वचन न मानने वालेके क्लेश वृद्धिको प्राप्त होता है ॥२॥ मद्यपानसे विह्वल चित्त हुआ पुरुष अपनी स्त्रीके साथ माताके समान आचरण करता है और माताके साथ स्त्रीके समान आचरण करता है। इसी प्रकार राजाके साथ किंकरके समान आचरण करता है और किंकरके साथ राजाके समान आचरण करता है ॥३॥ मद्यपायी पुरुषकी सभी मनुष्य सब ओरसे हँसी करते हैं, चोर उसके वस्त्र चुरा लेते हैं और कुत्ते छेद समझ कर भूमि पर पड़े हुए उसके खुले मुखमें मूत देते हैं ॥४॥ मदिरा पान करने वाला पुरुष

मंक्षु मूर्च्छति विभेति कम्पते फूत्करोति हदते प्रछर्दति।
खिद्यते स्खलति वीक्षते दिशो रोदिति स्वपिति जक्षतीर्ष्यति ॥५

ये भवन्ति विविधाः शरीरिणस्तत्र सूक्ष्मवपुषो रसाङ्गिकाः।
तेऽखिला झटिति यान्ति पञ्चतां निन्दितस्य चषकस्य पानतः ॥६

वारुणीनिहितचेतसोऽखिला यान्ति कान्तिमतिकीर्तिसम्पदः।
वेगतः परिहरन्ति योषितो वीक्ष्य कान्तमपराङ्गनागतम् ॥७

गायति भ्रमति वक्ति गद्गदं रौति धावति विगाहते क्रमम्।
हन्ति हृष्यति न बुध्यते हितं मद्यमोहितमतिर्विषीदति ॥८

तोतुवीति भविनः सुरारतो वावदीति वचनं विनिन्दितम्।
मोमुषीति परवित्तमस्तधीर्बोभजीति परकीयकामिनी ॥९

नानटीति कृतचित्रचेष्टितो नन्नमीति पुरतोऽजनं जनम्।
लोलुठीति भुवि रासभोपमो रारटीति सुरापविमोहितः ॥१०

सीधुलालसधियो वितन्वते धर्मसंयमविचारणां यके।
मेरुमस्तकनिविष्टमूर्तयस्ते स्पृशन्ति चरणैर्भुवस्तलम् ॥११

दोषमेवमवगम्य वारुणीं सर्वथा तु द[1]वयन्ति पण्डिताः।
कालकूटमवबुध्य दुःखदं भक्षयन्ति किमु जीवितार्थिनः ॥१२

शीघ्र ही मूर्च्छित हो जाता है, डरता है, काँपता है, चिल्लाता है, रोता है, वमन करता है, खेद-खिन्न होता है, गिरता है, सर्व दिशाओंमें देखता है, पुनः रोने लगता है, सोता है, अकड़ जाता है और अन्य लोगोंसे ईर्ष्या करता है ॥५॥ इस निन्द्य मद्यके पीनेसे उस मदिरामें जो नाना प्रकारके सूक्ष्म शरीरवाले असंख्य रसांगी जीव उत्पन्न हैं, वे सब शीघ्र ही मरणको प्राप्त हो जाते हैं ॥६॥ मदिरामें आसक्त चित्तवाले पुरुषकी कान्ति बुद्धि कीर्ति और सम्पत्ति आदि सभी विशेषताएँ उसको छोड़कर वेगसे इस प्रकार दूर चली जाती हैं, जिस प्रकारसे कि अन्य स्त्रीमें आसक्त अपने पतिको देखकर उसकी विवाहिता स्त्री उसे छोड़कर चली जाती है ॥७॥ मद्य-पानसे मोहित बुद्धिवाला शराबी कभी गाता है, कभी मूर्च्छित हो भ्रमयुक्त होता है, कभी गद्गद वचन बोलता है, कभी रोता है, कभी इधर-उधर दौड़ता है, कभी किसीको मारता है, कभी हर्षित होता है और कभी विषादको प्राप्त होता है, किन्तु अपने हितको नहीं जानता है ॥८॥ सुरा-पानमें रत पुरुष कभी प्राणियोंको सताता है, कभी निन्दित वचन बोलता है, कभी पराये धनको चुराता है और और कभी वह नष्टबुद्धि परायी स्त्रीको भोगने लगता है ॥९॥ मदिरासे मोहित हुआ मनुष्य कभी नाना प्रकारकी चेष्टाएं करता हुआ नाचता है, कभी प्रत्येक मनुष्यको नमस्कार करने लगता है, कभी गर्दभके समान भूमिपर लोटने लगना है और उसीके समान रेंकने लगता है ॥१०॥ मदिरा-पानकी लालसा युक्त बुद्धिसे जो मनुष्य धर्म और संयमके पालन करनेका विचार करते हैं, वे मनुष्य मेरुपर्वतके मस्तकपर बैठकर अपने चरणोंसे भूतलका मानों स्पर्श करना चाहते हैं ॥११॥ इस प्रकारसे मदिरा-पानके अनेक दोषोंका जानकर पण्डितजन उसका सर्वथा ही पान नहीं करते

१ मु० 'न हि धयंति' पाठः।

मांसभक्षणविषक्तमानसो यः करोति करुणां नराधमः ।
भूतले कुलिशवह्नितापिते नूनमेष वितनोति वल्लरीम् ॥१३
जायते न पिशितं जगत्त्रये प्राणिघातनमृते यतस्ततः ।
मंक्षु मूलमुदखानि खादता ही दया झटिति धर्मशाखिनः ॥१४
देहिनो भवति पुण्यसञ्चयः शुद्धया न कृपया विना ध्रुवम् ।
दृश्यते न लतयाऽऽमया विना सार्द्रया जगति पुष्पसञ्चयः ॥१५
भक्षयन्ति पिशितं दुराशया ये स्वकीयबलपुष्टिकारिणः ।
घातयन्ति भवभागिनस्तके खादकेन न विनाऽस्ति घातकः ॥१६
हन्ति स्वादति पणायते पलं मन्यते दिशति संस्करोति यः ।
यान्ति ते षडपि दुर्गतिं स्फुटं न स्थितिः खलु परत्र पापिनाम् ॥१७
अत्ति यः कृमिकुलाकुलं पलं पूयशोणितवसादिमिश्रितम् ।
तस्य किञ्चन न सारमेयतः शुद्धबुद्धिरभिवेक्ष्यतेऽन्तरम् ॥१८
आमिषाशनपरस्य सर्वथा विद्यते न करुणा शरीरिणः ।
पापमर्जति तया विना परं बम्भ्रमीति भवसागरे ततः ॥१९
नास्ति दूषणमिहामिषाशने यैर्हृषीकवशगैर्निगद्यते ।
व्याघ्रसूकरकिरातधीवरास्तैर्निकृष्टहृदयैर्गुरूकृताः ॥२०

हैं । कालकूट विषको महादुःखदायी जानकर भी क्या जीनेके इच्छुक पुरुष उसे खाते हैं ? अर्थात् नहीं खाते हैं ॥१२॥ अब आचार्य मांस-भक्षणका निषेध करते हैं—मांस भक्षणमें आसक्त चित्त-वाला जो अधम मनुष्य करुणाको करना चाहता है, वह निश्चयसे वज्राग्निसे सन्तप्त भूतल पर लताको विस्तारना चाहता है ॥१३॥ यतः जगत्त्रयमें भी प्राणि-घातके विना मांस उत्पन्न नहीं होता है, अतः मांसके खानेवाले पुरुषके द्वारा काटे गये धर्मरूप वृक्ष की मूलभूत दया ही शीघ्र खोद डाली गई समझना चाहिए ॥१४॥ शुद्ध दयाके विना जीवके पुण्यका संचय निश्चयसे कभी नहीं हो सकता है । जगत्में मैंने हरी-भरी लताके विना पुष्पोंका संचय कहीं नहीं देखा है ॥१५॥ जो दुष्ट चित्त पुरुष अपने शरीरके बलको पुष्ट करनेकी इच्छासे मांसको खाते हैं, वे नियमसे अन्य प्राणियोंका घात करते हैं, क्योंकि खानेवालेके विना घातक कसायी जीव-घात नहीं करता । अर्थात् कसायी मांस-भक्षकोंके लिए ही जीवघात करता है ॥१६॥

मांसवल्भननिविष्टचेतसः सन्ति पूजिततमा नरा यदि ।
गूथयूथकृतदेहपुष्टयः सूकरा न नितरां तथा कथम् ॥२१
भक्षयन्ति पलमस्तचेतनाः सप्तधातुमयदेहसम्भवम् ।
यद्वदन्ति च सुचित्तमात्मनः किं विडम्बनमतः परं बुधाः ॥२२
भुञ्जते पलमघौघकारि ये ते व्रजन्ति भवदुःखमूर्जितम् ।
ये पिबन्ति गरलं सुदुर्जरं ते श्रयन्ति मरणं किमद्भुतम् ॥२३
चित्रदुःखसुखदानपण्डिते ये वदन्ति पिशिताशने समे ।
मृत्युजीवितविवर्द्धनोद्यते ते वदन्ति सदृशे विषामृते ॥२४
जायते द्वितयलोकदुःखदं भक्षितं पिशितमङ्गसङ्गिनाम् ।
भक्षितं द्वितयजन्मशर्मदं जायतेऽशनमपास्तदूषणम् ॥२५
मांसमित्थमवबुध्य दूषितं त्यज्यते हितगवेषिणा त्रिधा ।
मन्दिरं न विदता निषेव्यते तीव्रदृष्टिविषपन्नगाकुलम् ॥२६
माक्षिकं विविधजन्तुघातजं स्वादयन्ति बहुदुःखकारि ये ।
स्वल्पजन्तुविनिपातिभिः समास्ते भवन्ति कथमत्र खट्टिकैः ॥२७
ग्रामसप्तकविदाहरेफसा तुल्यता न मधुभक्षिरेफसः ।
तुल्यमञ्जलिजलेन कुत्रचिन्निम्नगापतिजलं न जायते ॥२८

लिया है ॥२०॥ यदि मांस-भक्षणमें आसक्त चित्त पुरुष उत्तम और पूज्य माने जावें, तो विष्टा-समूहसे देहके पुष्ट करनेवाले सूकर कैसे अति पूज्य न माने जावें ॥२१॥ जो बुद्धि-रहित पुरुष सप्तधातुमय देहसे उत्पन्न होनेवाले मांसको खाते हैं और फिर भी अपने आपके पवित्रता कहते हैं, सो हे बुधजनो, उससे अधिक और क्या विडम्बना हो सकती है ॥२२॥ जो पाप-पुंजका संचय करनेवाले मांसको खाते हैं, वे अति प्रचण्ड सांसारिक दुःखोंको प्राप्त होते हैं। जो अति दुर्जर विषको पीते हैं, वे यदि मरणको प्राप्त होते हैं तो इसमें क्या आश्चर्य है ॥२३॥ जो लोग नाना प्रकार के दुःख देनेवाले मांसको और अनेक प्रकारके सुख देनेवाले अन्नाहारको समान कहते हैं, वे मृत्यु देनेवाले विषको और जीवन बढ़ानेवाले अमृतको समान कहते हैं ॥२४॥ देहधारियोंके मांस का भक्षण दोनों लोकोंमें दुःखोंका देनेवाला है और दूषण-रहित अन्नके आहारका भक्षण दोनों लोकोंमें सुखका देनेवाला है ॥२५॥ इस प्रकारसे अतिदोष युक्त मांसको जान करके अपने हितके अन्वेषक जन मन वचन कायसे उसका त्याग करते हैं। क्योंकि जानकार लोग तीव्र दृष्टि विष-धारी सर्पोंसे व्याप्त मकानमें निवास नहीं करते हैं ॥२६॥ अब आचार्य मधु-सेवनका निषेध करते हैं—नाना प्रकारके जन्तुओंके घातसे उत्पन्न होने वाले और भारी दुःखोंको करनेवाले मधुको जो लोग खाते हैं, वे इस लोकमें अल्प जन्तुओंके मारनेवाले खटीकोंके समान कैसे हो सकते हैं? कहनेका भाव यह है कि मधु-भक्षी पुरुष खटीकसे भी अधिक पापी है ॥२७॥ सात ग्रामोंके जलाने के पापके साथ भी मधु-भक्षीके पापकी समानता नहीं हैं। अंजलीमें भरे जलके साथ समुद्रके जलकी समानता कहीं भी कभी नहीं हो सकती है। भावार्थ—जैसे अंजलीके जलसे समुद्रका जल असंख्यात गुणा होता है, उसी प्रकार सात ग्रामोंके जलानेके पापसे भी असंख्यात गुणा पाप मधुके भक्षणमें

म्लेच्छलोकमुखलालयाऽविलं मद्यमांसशितभाजनस्थितम् ।
सारघं गतघृणस्य स्वादतः कीदृशं भवति शौच्यमुच्यताम् ।।२९
यश्चिखादिषति सारघं कुधीर्मक्षिकागणविनाशनस्पृहः ।
पापकर्दमनिषेधनिम्नगा तस्य हन्त करुणा कुतस्तनी ।।३०
भक्षितो मधुकणोऽपि सञ्चितं सूदते झटिति पुण्यसञ्चयम् ।
काननं विषमशोचिषः कणः किं न भस्मयति वृक्षसङ्कटम् ।।३१
योऽत्ति नाम मधु भेषजेच्छया सोऽपि याति लघु दुःखमुल्बणम् ।
किं न नाशयति जीवितेच्छया भक्षितं झटिति जीवितं विषम् ।।३२
घोरदुःखदमवेत्य कोविदा वर्जयन्ति मधु शर्मकांक्षिणः ।
कुत्र तापकमवेत्य पावकं गृह्णते शिशिरलोलमानसाः ।।३३
संसजन्ति विविधाः शरीरिणो यत्र सूक्ष्मतनवो निरन्तराः ।
तद्ददाति नवनीतमङ्गिनां पापतो न परमत्र सेवितम् ।।३४
चित्रजीवगणसूदनास्पदं यैर्विलोक्य नवनीतमद्यते ।
तेषु संयमलवोऽपि विद्यते धर्मसाधनपरायणः कुतः ।।३५
यन्मुहूर्तयुगतः परं सदा मूर्च्छति प्रचुरजीवराशिभिः ।
तद् गिलन्ति नवनीतमत्र ये ते व्रजन्ति खलु कां गतिं मृताः ।।३६

जानना चाहिए ।।२८।। म्लेच्छ लोगोंके मुखकी लारसे व्याप्त, मद्य और मांसके संचयवाले पात्रमें रखे हुए मधुको खानेवाले निर्दयो पुरुषके पवित्रता कैसे रह सकती है, सो कहिये ।।२९।। जो कुबुद्धी पुरुष मक्षिका-समूहके विनाशकी इच्छा रखता हुआ मधुको खाना चाहता है, उस पुरुषके पापरूप पंकको धोनेवाली नदीके समान करुणा बुद्धि कैसे हो सकती है ? अर्थात् कभी नहीं हो सकती ।।३०।। मधुका खाया हुआ एक कण भी बहुत कालसे संचित किये पुण्यके पुंजको क्षण मात्रमें नष्ट कर देता है । विषम वह्निका एक कण क्या वृक्षोंसे व्याप्त वनको नहीं जला देता है ? अर्थात् जला ही देता है ।।३१।। जो पुरुष औषधि की इच्छासे भी मधुको खाता है, वह भी शीघ्र उग्र दुःखको प्राप्त होता है । क्या जीनेकी इच्छासे खाया गया विष शीघ्र ही जीवनको नष्ट नहीं करता है ? करता ही है ।।३२।। इस प्रकारसे घोर दुःखदायी मधुको जानकर सुखके वांछक विद्वान् मधुका परित्याग करते हैं । शीतलता पानेकी लालसावाले मनुष्य तापकारी पावकको जानकर कहाँ ग्रहण करते हैं, अर्थात् नहीं ग्रहण करते हैं । अतः ज्ञानियोंको मधु-भक्षण सर्वथा छोड़ देना चाहिए ।।३३।।

अब आचार्य नवनीत (मक्खन) भक्षणका निषेध करते हैं—जिसके भीतर सूक्ष्मशरीर वाले नाना प्रकारके प्राणी निरन्तर उत्पन्न होते रहते हैं, ऐसे नवनीतका सेवन मनुष्योंको उस पापका संचय देता है, जिससे बड़ा और कोई पाप संसारमें नहीं है ।।३४।। नाना प्रकारके जीव-समूहके विनाशका स्थान ऐसा नवनीत देखकर भी जो लोग उसे खाते हैं, उनमें संयमका लेश भी नहीं है, फिर धर्मसे साधनकी तत्परता तो कैसे हो सकती है ।।३५।। जिस नवनीतमें दो मुहूर्त्तके पश्चात् प्रचुर जी वराशि सदा उत्पन्न होती रहती है, उस नवनीतको जो लोग यहाँ पर खाते हैं, वे मरकर कौन सी गतिको जाते हैं, यह हम नहीं जानते ।।३६।। यहाँ इतना विशेष ज्ञातव्य

ये जिनेन्द्रवचनानुसारिणो घोरजन्मवनपातभीरवः ।
तैश्चतुष्टयमिदं विनिन्दितं जीवितावधि विमुच्यते त्रिधा ॥३७
मद्यमांसनवनीतसारघं यैश्चतुष्कमिदमद्यते सदा ।
गृद्धिरागवधसङ्गबृंहणं तैश्चतुर्गतिभवो विगाह्यते ॥३८
यः सुरादिषु निसेवतेऽधमो नित्यमेकमपि लोलमानसः ।
सोऽपि जन्मजलधावटाट्यते कथ्यते किमिह सर्वभक्षिणः ॥३९
यत्र राक्षसपिशाचसञ्चरो यत्र जन्तुनिवहो न दृश्यते ।
यत्र मुक्तमपि वस्तु भक्ष्यते यत्र घोरतिमिरं विजृम्भते ॥४०
यत्र नास्ति यतिवर्गसङ्गमो यत्र नास्ति गुरुदेवपूजनम् ।
यत्र संयमविनाशिभोजनं यत्र संसजति जीवभक्षणम् ॥४१
यत्र सर्वशुभकर्मवर्जनं यत्र नास्ति गमनागमक्रिया ।
तत्र दोषनिलये दिनात्यये धर्मकर्मकुशला न भुञ्जते ॥४२
भुञ्जते निशि दुराशया यके गृद्धिदोषवशवर्तिनो जनाः ।
भूतराक्षसपिशाचशाकिनीसङ्गतिः कथममीभिरस्यते ॥४३
वल्भते दिननिशीथयोः सदा यो निरस्तयमसंयमक्रियः ।
शृङ्गपुच्छशफसङ्गवर्जितो भण्यते पशुरयं मनीषिभिः ॥४४

है कि नवनीतके दो मुहूर्त्तकी मर्यादा तपाकर घी बनानेकी अपेक्षासे कही गई है, न कि खानेकी अपेक्षासे। अतएव मक्खनका खाना उचित नहीं है, क्योंकि लारके संयोगसे और भी असंख्य सूक्ष्म जीव उसमें उत्पन्न हो जाते हैं। अतएव जो जिनेन्द्र देवके वचनानुसार आचरण करने वाले हैं, घोर संसार-कान्तारके निपातसे भयभीत हैं, वे पुरुष मद्य, मांस, मधु और नवनीत इन चारों ही अतिनिन्द्य पदार्थोंको जीवन भरके लिए मन वचन कायसे खानेका परित्याग कर देते हैं ॥३७॥ जो लोग गृद्धि, राग और हिंसाका संग बढ़ानेवाले मद्य, मांस, मधु और नवनीत इन चारोंको ही सदा खाते रहते हैं, वे निश्चयसे इस चतुर्गतिरूप संसार समुद्रमें गोता खाते रहते हैं ॥३८॥ जो अधम चंचल चित्त पुरुष इन मद्य मांसादिकमेंसे किसी एक भी निंद्य पदार्थका सेवन करता है, वह भी संसार-सागरमें परिभ्रमण करता है, फिर सभीके खाने वालेकी तो बात ही क्या कहना है ॥३९॥ अब आचार्य रात्रि-भोजनका निषेध करते हैं—जिस रात्रिमें राक्षस, भूत और पिशाचोंका संचार होता है, जिसमें सूक्ष्म जन्तुओंका समूह दिखाई नहीं देता है, जिसमें स्पष्ट न दिखनेसे त्यागी हुई भी वस्तु खा ली जाती है, जिसमें घोर अन्धकार फैलता है, जिसमें साधु वर्गका संगम नहीं है, जिसमें देव और गुरुकी पूजा नहीं की जाती है, जिसमें खाया गया भोजन संयमका विनाशक है, जिसमें जीते जीवोंके भी खानेकी संभावना रहती है, जिसमें सभी शुभ कार्योंका अभाव होता है, जिसमें संयमी पुरुष गमनागमन क्रिया भी नहीं करते हैं, ऐसे महादोषोंके आलय भूत, दिनके अभाव स्वरूप रात्रिके समय धर्म-कार्योंमें कुशल पुरुष भोजन नहीं करते हैं ॥४०–४२॥ खानेकी गृद्धिताके दोषवशवर्ती जो दुष्ट चित्त पुरुष रात्रिमें खाते हैं, वे लोग भूत, राक्षस, पिशाच और शाकिनी-डाकिनियोंकी संगतिको कैसे छोड़ सकते हैं? अर्थात् रात्रिमें राक्षस पिशाचादिक ही खाते हैं, अतः रात्रिभोजियोंको उन्हींकी संगतिका जानना चाहिये ॥४३॥ जो मनुष्य यम-नियम-संयमादिकी क्रियाओंको छोड़कर रात्रि-

आमनन्ति दिवसेषु भोजनं यामिनीषु शयनं मनीषिणः ।
ज्ञानिनामवरेषु जल्पनं शान्तये गुरुषु पूजनं कृतम् ॥४५
भुज्यते गुणवतैकदा सदा मध्यमेन दिवसे द्विरुज्ज्वले ।
येन रात्रिदिनयोरनारतं भुज्यते स कथितोऽधमो नरः ॥४६
यो विवर्ज्य वदनावसानयोर्वासरस्य घटिकाद्वयं सदा ।
भुञ्जते जितहृषीकवादिनस्ते भवन्ति भवभारवर्जिताः ॥४७
ये विधाय गुरुदेवपूजनं भुञ्जतेऽह्नि विमले निराकुलाः ।
ते विधूय लघु मोहतामसं सम्भवन्ति सहसा महोदयाः ॥४८
यो विमुच्य निशि भोजनं त्रिधा सर्वदाऽपि विदधाति वासरे ।
तस्य याति जननार्धमञ्चितं भुक्तिवर्जितमपास्तरेफसः ॥४९
यो निवृत्तिमविधाय वल्भनं वासरेषु विदधाति मूढधीः ।
तस्य किञ्चन न विद्यते फलं भावि तेन भुविना कुलान्तरम् ॥५०
ये व्यवस्थितमहस्सु सर्वदा शर्वरीषु रचयन्ति भोजनम् ।
निम्नगामि सलिलं निसर्गतस्ते नयन्ति शिखरेषु शाखिनाम् ॥५१
सूचयन्ति सुखदायि येऽङ्गिनां रात्रिभोजनमपास्तचेतनाः ।
पावकोद्धतशिखाकरालितं ते वदन्ति फलदायि काननम् ॥५२
ये ब्रुवन्ति दिनरात्रिभोगयोस्तुल्यतां रचितपुण्यपापयोः ।
ते प्रकाशतमसोः समानतां दर्शयन्ति सुखदुःखकारिणोः ॥५३

दिन सदा ही खाया करता है, उसे ज्ञानी पुरुष सींग, पूछ और खुरके संगसे रहित पशु कहते हैं ॥४४॥ बुद्धिमान् लोग तो दिनमें भोजन, रात्रिमें शयन, ज्ञानियोंके मध्यमें अवसर पर संभाषण और गुरुजनोंमें किया गया पूजन शान्तिके लिए मानते हैं ॥४५॥

गुणवान् उत्तम पुरुष दिनमें दो वार भोजन करते हैं। किन्तु जो रात्रि-दिन निरन्तर भोजन करता है, वह अधम पुरुष कहा गया है ॥४६॥ इन्द्रियोंरूपी घोड़ोंको जीतनेवाले जो पुरुष दिनकी आदि और अन्तिम दो दो घड़ी समयको छोड़कर भोजन करते हैं, वे ही पुरुष संसारके भारसे रहित होते हैं, अर्थात् मोक्षको प्राप्त करते हैं ॥४७॥ जो पुरुष देव और गुरुका पूजन करके दिनके निर्मल प्रकाशमें निराकुल होकर भोजन करते हैं, वे शीघ्र ही मोहरूप महा अन्धकारका नाश कर सहसा महान् उदयवाले होते हैं, अर्थात् आर्हन्त्य पदको पाते हैं ॥४८॥ जो पुरुष मन वचन कायसे रात्रिमें भोजनका परित्याग करके सदा ही दिनमें भोजन करता है, पापसे रहित उस पुरुषका रात्रिमें भोजनके परित्यागसे आधा जन्म उपवासके साथ व्यतीत होता है। भावार्थ—रात्रिभोजन त्यागी अपने जीवनके आधे भागको उपवासके साथ व्यतीत करनेसे महान् पुण्यका संचय और दुष्कर्मकी निर्जरा करता है ॥४९॥ जो मूढ़ पुरुष रात्रि भोजनकी निवृत्ति नहीं करके दिनमें भी भोजन करते हैं, उनके उसका कुछ भी फल नहीं होता है। हां, उनका भावी जन्म दिवाभोजी कुलमें होना संभव है ॥५०॥ जो रात्रिमें दीपकादिका प्रकाश करके सदा भोजन करते हैं, वे स्वभावतः नीचेकी ओर बहनेवाले जलको वृक्षोंके शिखरों पर ले जाना चाहते हैं ॥५१॥ जो अज्ञानी पुरुष रात्रि भोजनको जीवोंके लिए सुखदायी कहते हैं, वे आगकी उद्धत शिखाओंसे विकरालताको प्राप्त हुए वनको फलोंको देनेवाला कहते हैं ॥५२॥ जो लोग

रात्रिभोजनमधिश्रयन्ति ये धर्मबुद्धिमधिकृत्य दुर्धियः ।
ते क्षिपन्ति पविवह्निमण्डलं वृक्षपद्धतिविवृद्धये स्फुटम् ॥५४
ये विधृत्य सकलं दिनं क्षुधा भुञ्जते सुकृतकांक्षया निशि ।
ते विवृध्य फलशालिनीं लतां भस्मयन्ति फलकांक्षया पुनः ॥ ५५
ये सदाऽपि घटिकाद्वयं त्रिधा कुर्वते दिनमुखान्तयोर्बुधाः ।
भोजनस्य नियमं विधीयते मासि तैः स्फुटमुपोषितद्वयम् ॥५६
रोगशोककलिराटिकारिणी राक्षसीव भयसूयनी प्रिया ।
कन्यका दुरितपाकसम्भवा रोगिता इव निरन्तरापदः ॥५७
देहजा व्यसनकर्मयन्त्रिताः पन्नगा इव वितीर्णभीतयः ।
निर्धनत्वमनपायि सर्वदाऽपात्रदानमिव दत्तवृद्धिकम् ॥५८
सङ्कटं सतिमिरं कुटीरकं नीचचित्तमिव रन्ध्रसंकुलम् ।
नीचजातिकुलकर्मसङ्गमः शीलशौचशमधर्मनिर्गमः ॥५९
व्याधयो विविधदुःखदायिनो दुर्जना इव परापकारिणः ।
सर्वदोषगणपीडचमानता रात्रिभोजनपरस्य जायते ॥६०

पुण्यकारी दिनके भोजनकी और पापकारी रात्रिके भोजनकी समानताको कहते हैं, वे सुखकारी प्रकाश और दुःखकारी अन्धकारकी समानताको प्रगट करते हैं ॥५३॥ जो दुर्बुद्धि मनुष्य धर्म वृद्धि करके रात्रिमें भोजन करते हैं, वे निश्चयसे वृक्षोंकी परम्पराकी वृद्धिके लिए वज्राग्निके मण्डलको वृक्षों पर फेंकते हैं ॥५४॥ जो लोग पुण्यकी आकांक्षासे सारे दिन भूखकी बाधा सहन कर रात्रिमें भोजन करते हैं, वे फल पाने की इच्छासे पहले लताको बढ़ाकर पुनः उस फलवाली लताको मानों भस्म करते हैं ॥५५॥ जो ज्ञानी लोग सदा ही दिनकी आदि अन्तकी दो दो घड़ी कालको मन वचन कायसे छोड़कर भोजनका नियम धारण करते हैं, वे प्रत्येक मासमें निश्चयसे दो उपवास करते हैं ॥५६॥ भावार्थ—प्रतिदिन प्रातः और सायंकालके एक एककी मिलाकर दो मुहूर्त्त भोजनका त्यागकर मध्यवर्ती समयमें ही भोजन करते हैं, उन्हें मासके तीस दिनोंमें साठ मुहूर्त्त भोजनका त्याग रखनेसे दो उपवासका पुण्यलाभ होता है, क्योंकि एक दिनरातके तीस मुहूर्त्त होते हैं। अब आचार्य रात्रि-भोजनके दोप कहते हैं—रात्रि भोजन करने वाले मनुष्यको रोग, शोक, कलह और राड़ करने वाली, तथा भयको देनेवाली राक्षसीके समान स्त्री मिलती है, दुष्कर्मके उदयसे उत्पन्न हुई, निरन्तर आपदाएँ देनेवाली रोगिणी दुर्भाग्यवाली कन्याएँ पैदा होती हैं ॥५७॥ दुर्व्यसन और कुकर्म करनेमें चतुर, सांपोंके समान सदा भय देनेवाले पुत्र उत्पन्न होते हैं, अपात्रदानके समान निरन्तर दुःखोंकी वृद्धि करने वाली दरिद्रता निरन्तर प्राप्त होती है ॥५८॥ नीच पुरुषके धनके समान अनेक छिद्रोंसे व्याप्त, संकटोंसे भरा, अन्धकार मय घर प्राप्त होता है, सदा नीच जाति और नीच कुल और नीच कार्य करने का समागम मिलता है, तथा शील शौच शम और धर्मका निर्गमन होता है, अर्थात् कभी धर्म-धारण करनेका भाव नहीं होता है ॥५९॥ परका अपकार करने वाले दुर्जनोंके समान नाना प्रकारके दुःखोंको देनेवाली व्याधियाँ घेरे रहती हैं, और रात्रिभोजी पुरुष सदा सभी दोषों एवं रोगोंसे पीड़ित रहता है ॥६०॥ अब आचार्य रात्रिभोजन त्याग करनेके गुण बतलाते हैं—जो मनुष्य सदा रात्रि

पद्मपत्रनयनाः प्रियंवदाः श्रीसमाः प्रियतमा मनोरमाः ।
सुन्दरा दुहितरः कुलालयाः पुण्यपङ्क्तय इवात्तविग्रहाः ॥६१
भ्रंशितव्यसनवृत्तयोऽमलाः पावना हिमकरा इवाङ्गजाः ।
शक्रमन्दिरमिवास्ततामसं मन्दिरं प्रचुररत्नराजितम् ॥६२
लब्धचिन्तितपदार्थमुज्ज्वलं भूरिपुण्यमिव वैभवं स्थिरम् ।
सर्वरोगगणमुक्तदेहता सर्वशर्मनिवहाधिवासिता ॥६३
ज्ञानदर्शनचरित्रभूतयः सर्वयाचितविधानपण्डिताः ।
सर्वलोकपतिपूजनीयता रात्रिभुक्तिविमुखस्य जायते ॥६४
सूकरी संवरी वानरी धीवरी रोहिणी मण्डली शाकिनी क्लेशिनी ।
दुर्भगा निःसुता निर्धवा निर्धना शर्वरीभोजिनी जायते भामिनी ॥६५
बान्धवैरञ्चिता देहजैर्वन्दिता भूषणैर्भूषिता दूषणैर्वर्जिता ।
श्रीमती ह्रीमती धीमती धर्मिणी वासरे जायते भुक्तितः शर्मिणी ॥६६
रात्रिभोजनविमोचिनां गुणा ये भवन्ति भवभागिनां परे ।
तानपास्य जिननाथमीशते वक्तुमत्र न परे जगत्त्रये ॥६७
यत्र सूक्ष्मतनवस्तनूभृतः सम्भवन्ति विविधाः सहस्रशः ।
पञ्चधा फलमुदुम्बरोद्भवं तन्न भक्षयति शुद्धमानसः ॥६८

भोजनसे विमुख रहता है उसके कमलपत्रके समान नयनवाली प्रियभाषिणी, लक्ष्मीके समान मनोहारिणी प्रियतमा स्त्रियां प्राप्त होती हैं, सुन्दर आकार वाली, कलाओंकी जाननेवाली, पुण्यकी पंक्तिके समान शरीरको धारण करनेवाली उत्तम कन्याएँ उत्पन्न होती हैं ॥६१॥ व्यसनोंसे रहित, निर्मल आचरण एवं व्यापार करने वाले, चन्द्रके समान पावन शान्ति देनेवाले पुत्र पैदा होते हैं। अन्धकारसे रहित, प्रचुर रत्नराशिसे भरपूर इन्द्रके भवनके समान सुन्दर मन्दिर प्राप्त होता है ॥६२॥ मन-चिन्तित पदार्थोंको देनेवाला महान् पुण्यके पुंजके समान उज्ज्वल स्थिर रहने वाला वैभव प्राप्त होता है। सर्व रोगोंके समूहसे रहित नीरोग देह मिलती है, सभी सुखोंके समुदायसे युक्त निवास प्राप्त होता है ॥६३॥ सर्व मनोवांछित सम्पदाओंके देनेमें प्रवीण सम्यग्-दर्शन ज्ञान और चारित्रकी विभूति प्राप्त होती है। तथा रात्रिभोजन त्यागी पुरुषके सर्व लोकोंके स्वामियोंसे पूजनीयता प्राप्त होती है ॥६४॥

जो स्त्री रात्रिमें भोजन करती है, वह मर कर रात्रि भोजनके पापसे भीलनी, वानरी, धीवरी, रोहिणी (गाय), कूकरी, सदा शोक और क्लेश भोगने वाली, अभागिनी, निःसन्तान, निर्धन और पति-रहित विधवा स्त्री होती है ॥६५॥ जो स्त्री दिनमें भोजन करती है, वह उसके पुण्यसे पर भवमें बान्धवोंसे अर्चित, पुत्रोंसे वन्दित, भूषणोंसे आभूषित, व्याधियोंसे वर्जित, श्रीमती, लज्जावती, बुद्धिमती, धर्म करने वाली और सदा सुख भोगनेवाली स्त्री होती है ॥६६॥ रात्रि-भोजनका परित्याग करने वाले जीवोंके जिन महान् गुणोंकी प्राप्ति परभवमें होती है, उन्हें कहने के लिए तीन जगत्में एक जिननाथको छोड़कर और कोई समर्थ नहीं है ॥६७॥ अब आचार्य पंच उदुम्बर फलोंके खानेका निषेध करते हैं—जिनमें नाना प्रकारके सूक्ष्म शरीरके धारक सहस्रों प्राणी उत्पन्न होते हैं, ऐसे बड़, पीपल, पाकर, ऊमर और कठूमर इन पाँच प्रकार उदुम्बर फलोंको

क्षीरभूरुहफलानि भुञ्जते चित्रजीवनिहितानि येऽधमाः ।
जन्मसागरनिपातकारणं पातकं किमिह ते न कुर्वते ॥६९

ससंख्यजीवस्य विघातवृत्तिभिर्न धीवरैरस्ति समं समानता ।
अनन्तजीवव्यपरोपकारिणामुदुम्बराहारविलोलचेतसाम् ॥७०

ये खादन्ति प्राणिवर्गं विचित्रं दृष्ट्वा पञ्चोदुम्बराणां फलानि ।
श्वभ्रावासं यान्ति ते घोरदुःखं किं निस्त्रिंशैः प्राप्यते नैव दुःखम् ॥७१

अघप्रदायीनि विचिन्त्य धर्मधीरुदुम्बराणां न फलानि वल्भते ।
विधातुमिष्टे सुखदे प्रयोजने करोति कस्तद्विपरीतमुत्तमः ॥७२

आदावेव स्फुटमिह गुणा निर्मला धारणीयाः, पापध्वंसि व्रतमपमलं कुर्वता श्रावकीयम् ।
कर्तुं शक्यं स्थिरगुरुभरं मन्दिरं गर्तपूरं, न स्थेयोभिर्दृढतममृते निर्मितं ग्रावजालैः ॥७३

दातुं दक्षः सुरतरुरिव प्रार्थनीयं जनानां चित्ते येषामिति गुणगणो निश्चलत्वं विभर्ति ।
भुक्त्वा सौख्यं भुवनमहितं चिन्तितावाप्तभोगं, ते निर्बाधाममितगतयः श्रेयसीं यान्ति लक्ष्मीम् ॥७४

इत्यमितगति कृतश्रावकाचारे पञ्चमः परिच्छेदः

शुद्ध मानस वाले मनुष्य नहीं खाते हैं ॥६८॥ जो अधम पुरुष क्षीरी वृक्षोंसे उत्पन्न हुए और नाना प्रकारके जीवोंसे भरे हुए इन उदुम्वर फलोंको खाते हैं, वे संसार-सागरमें निपातके कारणभूत कौनसे पापको इस लोकमें संचय नहीं करते हैं ? अर्थात् सभी पापोंका संचय करते हैं ॥६९॥ अनन्त जीवोंका घात करने वाले और उदुम्वर फलोंके भक्षणकी लालसा रखनेवाले पुरुषोंकी समानता तो असंख्य जीवोंके मारनेकी आजीविकावाले धीवरोंके साथ भी नहीं है ॥७०॥ जो पुरुष पंच उदुम्बर फलोंके नाना प्रकारके प्राणि वर्गको देखकर भी उन्हें खाते हैं, वे घोर दुःखवाले नारकावासको प्राप्त होते हैं। सो ठीक ही है, क्योंकि निर्दयी पुरुष कौनसे दुःखोंको नहीं पाते ? सभी दुःखोंको पाते हैं ॥७१॥ धर्ममें जिसकी बुद्धि है, ऐसा पुरुष पापको देने वाले फलोंको विचार करके उदुम्बरोंके फलोंको नहीं खाते हैं। ऐसा कौन उत्तम पुरुष है, जो कि अपने सुखदायक इष्ट प्रयोजनको सिद्ध करनेके लिए उससे विपरीत कार्यको करेगा ? कोई नहीं करेगा ॥७२॥ इस लोकमें पापोंका ध्वंस करनेवाले, निर्मल श्रावकोंके व्रतोंको धारण करने वाले गृहस्थोंको ये उपर्युक्त निर्मल मूल गुण प्रारम्भमें ही धारण करना चाहिए। जैसे स्थिर और गुरुभारको धारण करनेमें समर्थ ऐसे मन्दिरकी नींव सुदृढ़ पाषाण-समूहके द्वारा पूरे विना अतिदृढ़ भवन निर्माण नहीं किया जा सकता है ॥७३॥ याचक जनोंको कल्प वृक्षके समान मनोवांछित वस्तुओंके देनेमें समर्थ यह उपर्युक्त मूलगुणोंका समूह जिन श्रावकोंके हृदयमें निश्चलताको धारण करता है, वे मनुष्य संसार-पूज्य मन-चिन्तित भोगवाले सुखोंको भोगकर अमित ज्ञानके धारक होते हुए सर्व बाधाओंसे रहित नैःश्रेयसी मुक्ति लक्ष्मीको प्राप्त होते हैं ॥७४॥

इस प्रकार अमितगति-विरचित श्रावकाचारमें पंचम परिच्छेद समाप्त हुआ।

षष्ठः परिच्छेदः

मद्यादिभ्यो विरतैर्व्रतानि कार्याणि शक्तितो भव्यैः।
द्वादश तरसाच्छेत्तुं शस्त्राणि शितानि भववृक्षम् ॥१
अणुगुणशिक्षाद्यानि व्रतानि गृहमेधिनां निगद्यंते। पञ्चत्रिचतुःसंख्यासहितानि द्वादश प्राज्ञैः ॥२
हिंसाऽसत्यस्तेयाब्रह्मपरिग्रहनिवृत्तिरूपाणि। ज्ञेयान्यणुव्रतानि स्थूलानि भवन्ति पञ्चात्र ॥३
द्वेधा जीवा जैनैर्मतास्त्रसस्थावरप्रभेदेन। तत्र त्रसरक्षायां तदुच्यतेऽणुव्रतं प्रथमम् ॥४
स्थावरघाती जीवस्त्रससंरक्षी विशुद्धपरिणामः। योऽक्षविषयान्निवृत्तः स संयतासंयतो ज्ञेयः ॥५
हिंसा द्वेधा प्रोक्ताऽऽरम्भानारम्भजत्वतो दक्षैः। गृहवासतो निवृत्तो द्वेधाऽपि त्रायते तां च ॥६
गृहवाससेवनरतो मन्दकषायप्रवर्तितारम्भः। आरम्भजां स हिंसां शक्नोति न रक्षितुं नियतम् ॥७
शमिताद्याष्टकषायः प्रवर्तते यः परत्र सर्वत्र। निन्दागर्हाविष्टः स संयमासंयमं धत्ते ॥८
कामासूयामायामत्सरपैशून्यदैन्यमदहीनः। धीरः प्रसन्नचित्तः प्रियंवदो वत्सलः कुशलः ॥९
हेयादेयपटिष्ठो गुरुचरणाराधनोद्यतमनीषः। जिनवचनतोयधौतस्वान्तकलङ्को भवविभीरुः ॥१०

मद्य-मांसादिसे विरक्त भव्य पुरुषोंको चाहिए कि वे संसार वृक्षको वेगसे छेदनेके लिए तीक्ष्ण शस्त्रके समान बारह व्रतोंको अपनी शक्तिके अनुसार धारण करें ॥१॥ ज्ञानियोंने पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इस प्रकारकी संख्यावाले बारह व्रत गृहस्थोंके कहे हैं ॥२॥ स्थूल हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह इन पाँच पापोंकी निवृत्तिरूप पाँच अणुव्रत जाननेके योग्य हैं ॥३॥ अब आचार्य सर्व प्रथम अहिंसाणुव्रतका वर्णन करते हैं—जैनोंने त्रस और स्थावरके भेदसे जीव दो प्रकारके माने हैं। उनमेंसे द्वीन्द्रियादि त्रस जीवोंकी रक्षा करने पर प्रथम अहिंसाणुव्रत होता है ॥४॥ जो पुरुष स्थावर पृथिवीकायिकादि जीवोंका घात करता हुआ भी त्रस जीवोंका संरक्षण करता है, विशुद्धपरिणाम वाला है और इन्द्रियोंके विषयोंसे निवृत्त है, उसे संयतासंयत श्रावक जानना चाहिए ॥५॥ जैन शास्त्रोंमें दक्ष पुरुषोंने आरम्भजा और अनारम्भजा के भेदसे हिंसा दो प्रकारकी कही है। जो मनुष्य गृहवाससे निवृत्त होता है, वह दोनों ही प्रकारकी हिंसाको बचाता है। किन्तु जो गृहवासके सेवनमें निरत है, मन्दकषायी है, आरम्भमें प्रवृत्त है, वह निश्चयसे आरम्भजा हिंसाकी रक्षा करनेमें समर्थ नहीं है ॥६-७॥ भावार्थ—खान-पान और व्यापार आदिमें होने वाली हिंसाको आरम्भजा हिंसा कहते हैं। तथा संकल्प पूर्वक की जानेवाली हिंसाको अनारम्भजा या सांकल्पिकी हिंसा कहते हैं। गृहत्यागी साधु दोनों ही प्रकारकी हिंसाका त्यागी होता है, किन्तु गृहवासी श्रावक केवल सांकल्पिकी हिंसाका ही त्यागी होता है, क्योंकि अपने और अपने कुटुम्बके निर्वाहके लिए उसे कृषि, व्यापार आदिके आरम्भको करना ही पड़ता है। जिसकी अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ ये आदिकी आठ कषाय शान्त हो गई हैं, और जो सभी लौकिक और पारलौकिक कार्योंमें अपनी निन्दा और गर्हासे युक्त होकर प्रवृत्ति करता है, वह पुरुष संयमासंयमको धारण करता है ॥८॥ इस संयमासंयमका धारक पुरुष काम, असूया (डाह-ईर्ष्या), माया, मत्सर, पैशुन्य, दैन्य और मदसे रहित होता है, धीर वीर होता है, सदा प्रसन्नचित्त रहता है, प्रिय वचन बोलता है, सबके साथ वात्सल्य भाव रखता है, धर्म-कार्यमें कुशल होता है, हेय और उपादेयका जानकार होता है, गुरुजनोंके चरणोंकी आराधनामें जिसकी बुद्धि उद्यत रहती है, जिनवचनरूप जलसे जिसने अपने हृदयके कलंकको धो डाला है,

सम्यक्त्वरत्नभूषो मन्दीकृतसकलविषयकृतगृद्धिः । एकादशगुणवर्ती निगद्यते श्रावकः परमः ॥११
संरम्भसमारम्भारम्भैर्योगकृतकारितानुमतैः । सकषायैरभ्यस्तैस्तरसा सम्पद्यते हिंसा ॥१२
त्रित्रित्रिचतुःसंख्यैः संरम्भाद्यैः परस्परं गुणितैः । अष्टोत्तरशतभेदा हिंसा सम्पद्यते नियतम् ॥१३
जीवत्राणेन विना व्रतानि कर्माणि नो निरस्यन्ति । चन्द्रेण विना ऋक्षैर्न हन्यन्ते तिमिरजालानि ॥१४
तिष्ठन्ति व्रतनियमा नाहिंसामन्तरेण सुखजनकाः । पृथिवीं न विना दृष्टास्तिष्ठन्तः पर्वताः क्वापि ॥१५
निघ्नानेनाहिंसामात्माऽऽधारां निपात्यते नरके । स्वाधारां नहि शाखां छिन्दानः पतति किं भूमौ ॥१६

स मतो विरताविरतः स्वल्पकषायो विवेकपरमनिधिः ।
रक्षति यस्त्रसदशकं प्रणिहन्ति स्थावरचतुष्कम् ॥१७

सर्वविनाशी जीवस्त्रसहननं त्यज्यते यतो जैनैः । स्थावरहननानुमतिस्ततः कृता तैः कथं भवति ॥१८

संसारसे भयभीत है, सम्यक्त्वरत्नसे विभूषित है, सर्व इन्द्रियोंके विषयोंमें जिसकी गृद्धि मन्द हो गई है, ऐसा ग्यारह प्रतिमारूप गुणोंका धारक परम श्रावक कहा जाता है ॥९-११॥ गृहस्थके एक सौ आठ भेदवाली हिंसा नियमसे होती रहती है। वे एक सौ आठ भेद इस प्रकारसे होते हैं—संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ रूप तीन प्रकारकी हिंसा मन वचन कायरूप तीन योगोंसे, कृत कारित और अनुमोदनारूप तीन प्रकारोंसे तथा क्रोध मान माया और लोभ रूप चार कषायोंसे निरन्तर होती रहती है। इनका परस्पर गुणा करने पर हिंसाके एक सौ आठ भेद हो जाते हैं ॥१२-१३॥ भावार्थ—हिंसा करनेका विचार संरम्भ कहलाता है, हिंसाके उपकरण आदिके जुटानेको समारम्भ कहते हैं और हिंसा प्रारम्भ करनेको आरम्भ कहते हैं। ये तीनों ही कार्य मन, वचन और काय इन तीनों योगोंसे किये जाते हैं, अतः उक्त तीनोंका इन तीन योगोंसे गुणा करने पर नौ (३ × ३ = ९) भेद हो जाते हैं। पुनः ये नवों ही कार्य स्वयं करे, दूसरोंसे करावे और दूसरोंको करते हुए देखकर उनकी अनुमोदना करे तो (९ × ३ = २७) सत्ताईस भेद हो जाते हैं। यह सत्ताईस भेदरूप हिंसा क्रोधसे भी होती है, मानसे भी होती है, मायासे भी होती है और लोभ कषायसे भी होती है। अतः उक्त सत्ताईस भेदोंका इन चार कषायोंसे गुणा करने पर (२७ × ४ = १०८) एक सौ आठ भेद हो जाते हैं। इन एक सौ आठ प्रकारोंसे जीव-हिंसाका पाप सदा लगता रहता है। अतः धर्मधारणके इच्छुक श्रावकोंको उक्त एक सौ आठ प्रकारसे त्रस हिंसाका त्याग करना चाहिए तभी उसका अहिंसाणुव्रत निर्दोष पल सकता है। जीवोंकी रक्षाके विना त्रस जीवके कर्मोंका विनाश नहीं कर सकते हैं। जैसे कि चन्द्रके विना नक्षत्र अन्धकारके जालको नहीं नष्ट कर पाते हैं ॥१४॥ अहिंसाके विना व्रत-नियमादिक सुखके उत्पादक नहीं होते हैं। जैसे कि पृथिवीके विना पर्वत कहीं पर भी ठहरे हुए नहीं दिखाई देते हैं ॥१५॥ आत्म-गुणोंकी आधारभूत अहिंसाको विनाश करने वाला पुरुष अपनी आत्माको नरकमें गिराता है। अपनी आधारभूत शाखाको छेदनेवाला पुरुष क्या भूमि पर नहीं गिरता है ॥१६॥

जो द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, संज्ञी पंचेन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय के पर्याप्त और अपर्याप्त-रूप दश भेद वाले त्रसोंके तथा बादरसूक्ष्म एकेन्द्रियोंके पर्याप्त और अपर्याप्त भेद रूप चार प्रकारके स्थावरोंके प्राणियोंके हितकी रक्षा करता है, अत्यल्प कषाय वाला है और परम विवेकका निधान है, वह पुरुष विरताविरत श्रावक माना गया है ॥१७॥ यहाँ पर कोई आशंका करता है कि केवल त्रस हिंसाके त्यागका उपदेश देकर गृहस्थको स्थावर हिंसाकी अनुमोदनाका दोष प्राप्त होता है ? उसका परिहार करते हुए आचार्य कहते हैं कि जीव साधारणतः सर्व जीवोंका

त्रिविधा त्रिविधेन मता विरतिर्हिंसादितो गृहस्थानाम् ।
त्रिविधा त्रिविधेन पुनर्गृहचारकतो निवृत्तानाम् ॥१९

जीववपुषोरभेदो येषामैकान्तिको मतः शास्त्रे । कायविनाशे तेषां जीवविनाशः कथं वार्यः ॥२०
आत्मशरीरविभेदं वदन्ति ये सर्वथा गतविवेकाः । कायवधे हन्त कथं तेषां सञ्जायते हिंसा ॥२१
भिन्नाभिन्नस्य पुनः पीडा सम्पद्यते तरां घोरा । देहवियोगे यस्मात्तस्मादनिवारिता हिंसा ॥२२
तत्पर्यायविनाशो दुःखोत्पत्तिः परश्च संक्लेशः । यः सा हिंसा सद्भिर्वर्जयितव्या प्रयत्नेन ॥२३
प्राणी प्रमादकलितः प्राणव्यपरोपणं यदाधत्ते । सा हिंसाऽकथि दक्षैर्भववृक्षनिषेकजलधारा ॥२४
म्रियतां मा मृत जीवः प्रमादबहुलस्य निश्चिता हिंसा । प्राणव्यपरोपेऽपि प्रमादहीनस्य सा नास्ति ॥२५
यो नित्योऽपरिणामी तस्य न जीवस्य जायते हिंसा । न हि शक्यते निहन्तुं केनापि कदाचनाकाशम् ॥२६

क्षणिको यो व्ययमानः क्रियमाणा तस्य निष्फला हिंसा ।
चलमानः पवमानो न चाल्यमानः फलं कुरुते ॥२७

विनाश करता है। और प्रत्येक जैन सर्व हिंसाके त्यागका भाव रखता है, किन्तु स्थावर हिंसाके छोड़नेकी असमर्थता होनेसे यतः जैन लोग त्रस-हिंसाका त्याग करते हैं, अतः उनके द्वारा स्थावर जीवघातकी अनुमोदना कैसे की गई हो सकती है ? अर्थात् वे स्थावर जीवोंकी अनुमोदनाके दोषके भागी नहीं होते हैं ॥१८॥ गृहस्थोंके हिंसादि पापोंसे निवृत्ति कृत और कारितकी मन वचन काय इन तीन योगोंसे होती है। किन्तु गृहाचारसे निवृत्त पुरुषोंके कृत कारित और अनुमोदनाकी मन वचन कायसे हिंसादि पापोंकी निवृत्ति होती है ॥१९॥ भावार्थ—गृहमें रहने वालोंकी कृषि आदि हिंसाके कार्योंमें अनुमोदना होती रहती है, अतः उन्हें हिंसाका कृत और कारितसे त्यागी जानना चाहिए। किन्तु गृहाचारसे निवृत्त पुरुषोंकी नव कोटी-विशुद्ध हिंसादि-निवृत्ति होती है, ऐसा जानना चाहिए। जिन अन्यमतावलम्बियोंके शास्त्रमें जीव और शरीरमें एकान्तरूपसे अभेद माना गया है, उनके मतानुसार शरीरके विनाश होनेपर जीवका विनाश कैसे रोका जा सकता है ॥२०॥ इसी प्रकार जो विवेक-रहित पुरुष जीव और शरीरमें सर्वथा भेद मानते हैं, उनके मतानुसार कायका वध होनेपर जीवोंकी हिंसा कैसे हो सकती है, यह आश्चर्य की बात है ॥२१॥ किन्तु जो शरीरसे आत्माको कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न मानते हैं, उन जैनोंके मतानुसार तो देहके वियोग होनेपर यतः घोर पीडा प्राप्त होती है, अतः हिंसा अनिवार्य रूपसे होती ही है ॥२२॥ इस जीवकी वर्तमान पर्यायका विनाश होनेपर दुःखकी उत्पत्ति होती है और परम संक्लेश भी होता है। अतः सज्जनोंको प्रयत्नके साथ हिंसाका परित्याग करना चाहिए ॥२३॥ जब प्रमाद-संयुक्त कोई प्राणी किसीके या अपने प्राणोंका घात करता है, तब शास्त्रोंमें निपुण पुरुषोंने संसार वृक्षको सींचनेके लिए जल धाराके समान उसे हिंसा कहा है ॥२४॥ प्रमाद-बहुल जीवके द्वारा प्राणी मरे, अथवा नहीं मरे, उसके हिंसा निश्चित है किन्तु प्रमादसे रहित जीवके उसके द्वारा किसीके प्राण घात हो जानेपर भी हिंसा नहीं है ॥२५॥ जो सांख्यमती जीवको नित्य और अपरिणामी मानते हैं उनके मतानुसार जीवकी हिंसा नहीं होती है। क्योंकि कभी भी किसीके द्वारा आकाश विनष्ट नहीं किया जा सकता है ॥२६॥

जो बौद्धमती जीवको सर्वथा क्षणिक और प्रति समय व्ययस्वभावी मानते हैं, उनके मतमें की गई भी हिंसा निष्फल है अर्थात् फल नहीं देती है। जैसे कि स्वयं चलता हुआ पवन

यस्मान्नित्यानित्यः कायवियोगे निपीड्यते जीवः । तस्मादुक्ता हिंसा प्रचुरकलिकबन्धवृद्धिकरी ॥२८

देवातिथिमन्त्रौषधिपित्रादिनिमित्ततोऽपि सम्पन्ना ।
हिंसाऽऽधत्ते नरके किं पुनरिह साऽन्यथा विहिता ॥२९

आत्मवधो जीववधस्तस्य च रक्षाऽऽत्मनो भवति रक्षा ।
आत्मा न हि हन्तव्यस्तस्य वधस्तेन मोक्तव्यः ॥३०

सर्वा विरतिः कार्या विशेषयित्वाऽतिचारभीतेन । पौर्वापर्यं दृष्ट्वा सूत्रार्थं तत्त्वतो वुद्ध्वा ॥३१
शक्त्यनुसारेण बुधैर्विरतिः सर्वाऽपि युज्यते कर्त्तुम् । तामन्यथा दधानो भङ्गं याति प्रतिज्ञायाः ॥३२
केचिद्वदन्ति मूढा हन्तव्या जीवघातिनो जीवाः । परजीवरक्षणार्थं धर्मार्थं पापनाशार्थम् ॥३३
युक्तं तन्नैवं सति हिंस्रत्वात्प्राणिनामशेषाणाम् । हिंसायाः कः शक्तो निषेधने जायमानायाः ॥३४
धर्मोऽहिंसाहेतुर्हिंसातो जायते कथं तथ्यः । न हि शालिः शालिभवः कोद्रवतो जायते जातु ॥३५

दूसरेके द्वारा चलाये जानेपर भी फल नहीं करता है ॥२७॥ भावार्थ—जीवको सर्वथा नित्य माननेपर किसीके द्वारा घात भी किया जाय, तो वह मर नहीं सकता है, अतः जीवकी हिंसा संभव ही नहीं । तथा सर्वथा अनित्य एवं क्षण-विनश्वर मानने पर जब वह प्रति समय स्वयं ही विनष्ट हो रहा है, तब उसके मारनेपर भी दूसरेको हिंसाका फल नहीं मिलेगा । अतः जीवको सर्वथा नित्य और अनित्य मानना युक्ति संगत नहीं है । किन्तु यतः कायके वियोग होनेपर जीव पीड़ाको प्राप्त होता है, अतः उसे कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य मानना चाहिए । अर्थात् द्रव्यकी अपेक्षा वह नित्य है और पर्यायका वियोग होता है अतः अनित्य है । अतएव हिंसाको प्रचुर पाप-बन्धकी वृद्धि करने वाली कहा गया है ॥२८॥ जब देवता, अतिथि, मंत्र, औषधि और पितर आदिके निमित्तसे भी की गई हिंसा जीवको नरकमें ले जाती है, तब अन्य प्रकारसे की गई हिंसा क्या उसे नरकमें नहीं पहुँचायगी ? अर्थात् किसी भी प्रकारसे की गई हिंसा जीवको नरकमें ले ही जाती है ॥२९॥ किसी भी जीवका वध करना आत्म-वध है और अन्य जीवकी रक्षा करना आत्म-रक्षा है यतः आत्म-वध करना योग्य नहीं है, अतः पराये जीवका घात छोड़ना ही चाहिए ॥३०॥ इस लिए अतीचारके भयसे डरने वाले गृहस्थको पूर्वापर स्थितिको देखकर तथा आगमके अर्थको तत्त्वरूपसे जानकर सर्व-प्रकारकी हिंसाका विशेष रूपसे त्याग करना चाहिए ॥३१॥ ज्ञानी जनोंकी शक्तिके अनुसार सम्पूर्ण हिंसाका त्याग करना योग्य है । जो अन्यथा अर्थात् शक्तिके विपरीत हिंसाका त्याग करते हैं, वे प्रतिज्ञाके भंगको प्राप्त होते हैं ॥३२॥ कितने ही मूढ़ कहते हैं कि अन्य जीवोंकी रक्षाके लिए, धर्म उपार्जनके लिए और पापके नाशके लिए जीवोंके घात करनेवाले प्राणियोंको मार देना चाहिए ॥३३॥ किन्तु उनका यह कथन योग्य नहीं है, क्योंकि इस प्रकार समस्त प्राणी ही हिंसक हो जायेंगे, फिर उनकी की जानेवाली हिंसाको रोकनेमें कौन समर्थ होगा ? ॥३४॥

भावार्थ—यदि यह नियम मान लिया जाय कि जो अन्यकी हिंसा करता है, वह मारनेके योग्य है, या उसके मारनेसे अन्य जीवकी रक्षा, धर्मका उपार्जन और पापका विनाश होता है, तो जो मनुष्य हिंसक सिंह आदिको मारेगा, वह उसको मारनेवाला होनेसे स्वयं हिंसक हो जाता है, अतः वह भी मारने योग्य सिद्ध होता है । इस प्रकार उत्तरोत्तर सभी प्राणी हिंसक बनते जावेंगे । फिर उन सबकी हिंसाका निषेध कैसे किया जा सकेगा ? अतः जीवघाती प्राणी मार देना चाहिए, यह कथन युक्ति संगत नहीं है । सत्य धर्म तो अहिंसा-हेतुक है, वह हिंसासे कैसे हो

पापनिमित्तं हि वधः पापस्य विनाशने कथं शक्तः ।
छेदनिमित्तः परशुः शक्नोति लतां न वर्धयितुम् ॥३६
हिंस्राणां यदि घाते धर्मः सम्भवति विपुलसुखदायी ।
सुखविघ्नस्तर्हि कृतः परजीवविघातिनां घाते ॥३७
यस्माद् गच्छन्ति गतिं निहता गुरुदुःखसङ्कटां हिंस्राः ।
तस्माद् दुःखं वधतः पापं न कथं भवति घोरम् ॥३८
दुःखवतां भवति वधे धर्मो नेदमपि युज्यते वक्तुम् । मरणे नरके दुःखं घोरतरं वार्यते केन ॥३९
सुखितानामपि घाते पापप्रतिषेधने परोऽधर्मः । जीवस्य जायमानो निषेधितुं शक्यते केन ॥४०
पौर्वापर्यविरुद्धं सम्यक्त्वमहीध्रपाटने वज्रम् । इत्थं विचार्य सद्भिः परवचनं सर्वथा हेयम् ॥४१
अज्ञानतो यदेनो जीवानां जायते परमघोरम् । तच्छक्यते निहन्तुं ज्ञानव्यतिरेकतः केन ॥४२
यो धर्मार्थं छिन्ते हिंस्राहिंस्रसुखदुःखिनो भविनः । पीयूषं स्वीकर्तुं स वपति विषविटपिनो नूनम् ॥४३
वचसा वपुषा मनसा हिंसा विदधाति यो जनो मूढः । जन्मवनेऽसौ दीर्घे दीर्घं सञ्चूर्यते दुःखी ॥४४

सकता है ? क्योंकि शालिधान्यसे उत्पन्न होने वाला शालि-तन्दुल कोदोंसे उत्पन्न हुआ नहीं दिखाई देता है ॥३५॥ जीवोंका घात तो पापके उपार्जनका ही निमित्त है । वह पापका विनाश करनेमें समर्थ नहीं हो सकता । जो कुठार लताके काटनेमें निमित्त है, वह लताको बढ़ानेके लिए समर्थ नहीं हो सकता है ॥३६॥ यदि हिंसक प्राणियोंके घातमें महान् फलको देनेवाला धर्म संभव है, तो फिर अन्य जीव-घातक प्राणियोंके घात करनेपर उनके सुखमें विघ्न भी संभव है, अतः हिंसक जीवोंके घातसे सुखका उपार्जन मानना असंगत है ॥३७॥ यतः मारे गये हिंसक प्राणी घोर दुःखोंसे व्याप्त नरकादि दुर्गतिको जाते हैं, अतः उन्हें दुःखको देनेवाले पुरुषके घोर पाप कैसे नहीं होगा ॥३८॥ जो लोग यह कहते हैं कि दुखी प्राणियोंके मारनेमें धर्म होता है, क्योंकि मारने वाला उसको दुखसे छुड़ा देता है, आचार्य इसका निषेध करते हुए कहते हैं कि यह कहना भी योग्य नहीं है, क्योंकि दुःखी प्राणी के मरण होनेपर आगे नरकमें मिलने वाला अति घोर दुःख कौन रोक सकेगा ? ॥३९॥ भावार्थ—दुखी जीवको मारनेसे वह दुःखसे छूट जायगा, इसका क्या प्रमाण है । अधिक संभव तो यही है कि जो यहीं पर महाकष्ट भोग रहा है, वह मरकर नरकमें और भी घोर दुःख भोगेगा । अतः दुःखीको मारनेसे वह दुःखसे छूट जायगा, यह मानना सर्वथा अनुचित है ।

कोई लोग कहते हैं कि सुखी जीवोंके घात करने पर उनके द्वारा किये जाने वाले पापोंके रोकनेसे परमधर्म होता है । उनका यह कथन भी योग्य नहीं है, क्योंकि जीवके अन्यत्र उत्पन्न होने पर वहां किये जाने वाले पापोंको कौन रोक सकता है ? इसलिए सुखी जीवोंको मारनेमें धर्म नहीं है ॥४०॥ इस प्रकार विचार कर पूर्वापर विरोधसे युक्त और सम्यक्त्वरूप पर्वतके भेदनेमें वज्रके समान अज्ञानियोंके वचन सज्जनोंको सर्वथा त्यागनेके योग्य हैं ॥४१॥ अज्ञानसे जीवोंके जो महाघोर पापका उपार्जन होता है, वह ज्ञानके अतिरिक्त और किससे विनाशको प्राप्त किया जा सकता है ? अर्थात् अज्ञान-जनित पाप सद्-ज्ञानसे ही दूर हो सकता है, अतः सद् ज्ञानकी प्राप्तिका प्रयत्न करना चाहिए ॥४२॥ जो लोग धर्मके लिए हिंसक, अहिंसक, सुखी और दुखी प्राणियोंको मारते हैं, वे निश्चयसे अमृत पानेके लिए विषके वृक्षको बोते हैं ॥४३॥ जो

यन्म्लेच्छेष्वपि गर्ह्यं यदनादेयं जिघृक्षतां धर्मम्। यदनिष्टं साधुजनैस्तद्वचनं नोच्यते सद्भिः ॥४५
कामक्रोधाव्रीडाप्रमादमदलोभमोहविद्वेषैः। वचनमसत्यं सन्तो निगदन्ति न धर्मरतचित्ताः ॥४६
सत्यमपि विमोक्तव्यं परपीडारम्भतापभयजनकम्। पापं विमोक्तुकामैः सुजनैरिव पापिनां वृत्तम् ॥४७
भाषन्ते नासत्यं चतुष्प्रकारमपि संसृतिविभीताः। विश्वासधर्महननं विषादजननं बुधावमतम् ॥४८
असदुद्भावनमाद्यं वचनमसत्यं निगद्यते सद्भिः। ऐकान्तिकाः समस्ता भावा जगतीति विज्ञेयम् ॥४९

तदपलपनं द्वितीयं वितथं कथयन्ति तथ्यविज्ञानाः।
सृष्टिस्थितिलययुक्तं किञ्चिन्नास्तीति यदभिहितम् ॥५०

विपरीतमिदं ज्ञेयं तृतीयकं यद्वदन्ति विपरीतम्। सग्रन्थं निर्ग्रन्थं निर्ग्रन्थमपीह सग्रन्थम् ॥५१
सावद्याप्रियगर्ह्यप्रभेदतो निन्द्यमुच्यते त्रेधा। वचनं वितथं दक्षैर्जन्माब्धिनिपातने कुशलम् ॥५२
आरम्भाः सावद्या विचित्रभेदा यतः प्रवर्तन्ते। सावद्यमिदं ज्ञेयं वचनं सावद्यवित्रस्तैः ॥५३
कर्कशनिष्ठुरभेदनविरोधनादिबहुभेदसंयुतम्। अप्रियवचनं प्रोक्तं प्रियवाक्यप्रवणवाणीकैः ॥५४
हिंसनताडनभीषणसर्वस्वहरणपुरःसरविशेषम्। गर्ह्यंवचो भाषन्ते गर्ह्योज्झितवचनमार्गज्ञाः ॥५५

मूढ़ पुरुष मनसे, वचनसे और कायसे हिंसाको करता है, वह इस अतिदीर्घ संसाररूप वनमें दीर्घ कालतक हिंसाके फलसे दुख भोगता हुआ परिभ्रमण करता रहता है ॥४४॥ अब आचार्य सत्याणुव्रतका वर्णन करते हैं—जो वचन म्लेच्छ जनोंमें भी निन्द्य माने जाते हैं, धर्मको ग्रहण करने वालोंको जो अनादरणीय हैं, और साधु जनोंको जो इष्ट नहीं हैं, ऐसे वचन सज्जन पुरुषोंको नहीं बोलना चाहिए ॥४५॥ जिनका धर्ममें चित्त संलग्न है, ऐसे पुरुष काम क्रोध कुतूहल प्रमाद मद लोभ मोह और विद्वेष भावसे असत्य वचन नहीं बोलते हैं ॥४६॥ जिस प्रकार सज्जन पुरुष पापियोंके आचरणको छोड़ते हैं, उसी प्रकारसे पापको छोड़नेकी इच्छा वाले सज्जनोंको पर-पीड़ा-कारक, आरम्भ-जनक, सन्ताप-उत्पादक और भय-वर्धक सत्य वचन भी छोड़ना योग्य है। अर्थात् ऐसे सत्य वचन भी नहीं बोलना चाहिए जो दूसरे जीवोंको पीड़ा, सन्ताप, भय आदि उत्पन्न करें ॥४७॥ संसारसे भयभीत पुरुष विश्वास और धर्मके जलाने वाले, विषादके उत्पन्न करने वाले और बुधजनोंसे तिरस्कार पानेवाले असदुद्भावन, भूतनिह्नव, विपरीत और निन्द्य इन चारों ही प्रकारके असत्य वचनोंको नहीं बोलते हैं ॥४८॥ संसारमें समस्त पदार्थ नित्य ही हैं, अथवा अनित्य ही हैं, इस प्रकार से एक धर्म रूप कहे जाने वाले वचनोंको सज्जनोंने असदुद्भावन नामका प्रथम असत्य कहा है, ऐसा जानना चाहिए ॥४९॥

उत्पत्ति, स्थिति और विनाशयुक्त कोई भी वस्तु नहीं है, ऐसे कथनको सत्यज्ञानी पुरुषोंने सत्का अपलाप करनेवाला दूसरा भूतनिह्नव नामका असत्य कहा है ॥५०॥ लोकमें जो परिग्रह-सहित हैं उन्हें निर्ग्रन्थ कहना और जो परिग्रह-रहित हैं उन्हें सग्रन्थ कहना, ऐसे जो विपरीत कथन करते हैं, उसे विपरीत नामका तीसरा असत्य जानना चाहिए ॥५१॥ सावद्य, अप्रिय और गर्ह्यके भेदसे दक्ष पुरुषोंने निन्द्य वचन तीन प्रकारका कहा गया है। यह चौथा असत्य वचन संसार-समुद्रमें डुबानेमें कुशल है ॥५२॥ जिस वचनके बोलनेसे अनेक भेदवाले पाप-युक्त आरम्भ कार्य प्रवृत्त होते हैं, उसे पापसे भयभीत पुरुषोंको सावद्य वचन जानना चाहिए ॥५३॥ प्रिय वचन रूप वाणीके बोलनेमें प्रवीण पुरुषोंने कर्कश, निष्ठुर, भेद-कारक और विरोध-वर्धक आदि अनेक भेदोंसे संयुक्त वचनोंको अप्रिय वचन कहा है ॥५४॥ गर्ह्य वचनसे रहित जैन मार्गके ज्ञाता पुरुषोंने हिंसाकारी, ताड़नारूप, भयानक और पराये धनके हरण करनेवाले इत्यादि लोक-निन्द्य वचनों-

अर्थ्यं पथ्यं तथ्यं श्रव्यं मधुरं हितं वचो वाच्यम् ।
विपरीतं मोक्तव्यं जिनवचनविचारकैर्नित्यम् ॥५६

वैरायासाप्रत्ययविपादकोपादयो महादोषाः । जन्यन्तेऽनृतवचसा कुभोजनेनेव रोगगणाः ॥५७

वचसाऽनृतेन जन्तोर्व्रतानि सर्वाणि झटिति नाश्यन्ते ।
विपुलफलवन्ति महता दवानलेनेव विपिनानि ॥५८

क्षेत्रे ग्रामेऽरण्ये रथ्यायां पथि गृहे खले घोषे । ग्राह्यं न परद्रव्यं भ्रष्टं नष्टं स्थितं वाऽपि ॥५९
तृणमात्रमपि द्रव्यं परकीयं धर्मकांक्षिणा पुंसा । अवितीर्णं नादेयं वह्निसमं मन्यमानेन ॥६०

यो यस्य हरति वित्तं स तस्य जीवस्य जीवितं हरति ।
आश्वासकरं बाह्यं जीवानां जीवितं वित्तम् ॥६१
सदृशं पश्यन्ति बुधाः परकीयं काञ्चनं तृणं वाऽपि ।
सन्तुष्टा निजवित्तैः परतापविभीरवो नित्यम् ॥६२

तैलिकलुब्धकखट्टिकमार्जारव्याघ्रधीवरादिभ्यः । स्तेनः कथितः पापी सन्ततपरतापदानरतः ॥६३
स्वसृमातृदुहितृसदृशीर्दृष्ट्वा परकामिनीः पटीयांसः । दूरं विवर्जयन्ते भुजगीरिव घोरदृष्टिविषाः ॥
न निषेव्या परनारी मदनानलतापितैरपि त्रेधा । क्षुत्क्षामैरपि दक्षैर्न भक्षणीयं परोच्छिष्टम् ॥६५
विषवल्लीमिव हित्वा पररामां सर्वथा त्रिधा दूरम् । सन्तोषः कर्त्तव्यः स्वकलत्रेणैव बुद्धिमता ॥६६

को गर्ह्य वचन कहा है ॥५५॥ इसलिए जिनवचनोंके विचारक पुरुषोंको कभी भी गर्ह्य वचन नहीं बोलना चाहिए और प्रयोजनवाले पथ्य, तथ्य, श्रवण योग्य, मधुर, हितकारी वचन बोलना चाहिए ॥५६॥ जैसे खोटा भोजन करनेसे अनेक रोग उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार असत्य वचन बोलनेसे वैरभाव, विभ्रम, प्रतीति, विषाद और क्रोध आदि अनेक महादोष उत्पन्न होते हैं ॥५७॥ जैसे महा दावानलसे महान् फलशाली वृक्षोंसे युक्त वन जला दिये जाते हैं, उसी प्रकार असत्य वचनसे जीवोंके सर्व व्रत शीघ्र नष्ट हो जाते हैं ॥५८॥ अब आचार्य अचौर्याणुव्रतका वर्णन करते हैं—खेतमें, ग्राममें, वनमें, गलीमें, मार्गमें, घरमें, खलिहानमें अथवा ग्वालटोलीमें रखे, गिरे, पड़े या नष्ट भ्रष्ट हुए पराये द्रव्यको नहीं ग्रहण करना चाहिए ॥५९॥ धर्मकी आकांक्षा रखनेवाले पुरुषको चाहिए कि वह विना दिया हुआ तृणमात्र भी पराया द्रव्य अग्निके समान मानकर ग्रहण न करें ॥६०॥ जो पुरुष जिस किसीके धनको हरण करता है, वह उसके जीवनका ही अपहरण करता है। क्योंकि धन जीवोंका धैर्य बंधाने वाला बाहरी प्राण है ॥६१॥ अपने धनसे सन्तुष्ट रहनेवाले और दूसरोंको सन्ताप देनेसे सदा डरनेवाले ज्ञानी जन पराये सुवर्ण और तृणको भी समान ही दृष्टिसे देखते हैं ॥६२॥ सदा दूसरोंको सन्ताप देनेमें संलग्न चोर, तेली, शिकारी, खटीक, बिलाव, बाघ और धीवर आदिसे भी अधिक पापी कहा गया है ॥६३॥

अब आचार्य ब्रह्मचर्याणुव्रतका वर्णन करते हैं—ज्ञानी पुरुष परायी स्त्रियोंको बहिन, माता और पुत्रीके समान देखकर घोर दृष्टि-विषवाली सर्पिणीके समान दूरसे ही परित्याग करते हैं ॥ ६४ ॥ कामाग्निसे अत्यन्त सन्तप्त भी पुरुषोंको मन वचन कायसे परायी स्त्रीका सेवन नहीं करना चाहिए। जैसे कि भूखसे अति पीड़ित भी पुरुषोंको पराया झूँठा भोजन नहीं खाना चाहिए ॥६५॥ इसलिए बुद्धिमान् पुरुषको परायी स्त्री विष वेलिके समान जानकर सदा मन वचन कायसे दूर से ही छोड़कर अपनी विवाहिता स्त्रीसे ही सन्तोष करना चाहिए ॥६६॥ कामदेवसे आकुलित भी

नासक्त्या सेवन्ते भार्यां स्वामपि मनोभवाकुलिताः ।
वह्निशिखाऽप्यासक्त्या शीतार्तैः सेविता दहति ॥६७
दृष्ट्वा स्पृष्ट्वा श्लिष्ट्वा दृष्टिविषायाऽहिमूर्तिरिव हन्ति ।
तां पररामां भव्यो मनसाऽपि न सेवते जातु ॥६८
तीव्राकारा तप्ता या स्पृष्टा दहति पावकशिखेव । मारयति योपभुक्ता प्ररूढविषविटपिशाखेव ॥६९
मोहयति झटिति चित्तं निषेवमाणा सुरेव या नितराम् ।
या गलमालिङ्गति निपीडयति गण्डमालेव ॥७०
व्याघ्रीव याऽऽमिषाशा विलोक्य रभसा जनं विनाशयति ।
पुरुषार्थपरैः सद्भिः परयोषा सा त्रिधा त्याज्या ॥७१
मलिनयति कुलद्वितयं दीपशिखेवोज्ज्वलाऽपि मलजननी ।
पापोपभुज्यमाना परवनिता तापने निपुणा ॥७२
वास्तु क्षेत्रं धान्यं दासी दासश्चतुष्पदं भाण्डम् । परिमेयं कर्तव्यं सर्वं सन्तोषकुशलेन ॥७३
विध्यापयति महात्मा लोभं दावाग्निसन्निभं ज्वलितम् । भुवनं तापयमानं सन्तोषोद्गाढसलिलेन ॥७४
सर्वारम्भा लोके सम्पद्यन्ते परिग्रहनिमित्ताः । स्वल्पयते यः सङ्गं स्वल्पयति स सर्वमारम्भम् ॥७५
ककुबष्टकेऽपि कृत्वा मर्यादां यो न लङ्घयति धन्यः ।
दिग्विरतेस्तस्य जिनैर्गुणव्रतं कथ्यते प्रथमम् ॥७६

ज्ञानीजन अति आसक्तिसे अपनी स्त्रीका भी सेवन नहीं करते हैं। देखो—शीतसे पीड़ित पुरुषोंके द्वारा अति आसक्तिसे सेवन की गई अग्निकी ज्वाला उन्हें जलाती ही है ॥६७॥ जो परायी स्त्री देखी, स्पर्शी, और आलिंगन की गई दृष्टिविषा नागिनीके समान पुरुषका घात करती है, उस-पररामाका भव्य पुरुष मनसे भी कदापि सेवन नहीं करते हैं ॥६८॥ यह जो स्पर्श की गई भी परस्त्री अति प्रदीप्त आकार वाली तप्तायमान अग्निशिखाके समान जलाती है और सेवन की गई परस्त्री तो विस्तृत विषवृक्षकी शाखाके समान मार देती है ॥६९॥ जो सेवन की गई परस्त्री मदिराके समान चित्तको शीघ्र अत्यन्त मोहित कर देती है और जो गलेमें आलिंगन की गई पर-स्त्री गंडमाल रोग के समान अत्यन्त पीड़ा देती है ॥७०॥ जो परस्त्री मांस-भक्षिणी व्याघ्रीके समान देखते ही मनुष्यको शीघ्र विनष्ट कर देती है, ऐसी परायी स्त्री धर्म पुरुषार्थमें तत्पर सज्जनोंको मन वचन कायसे त्याग देना चाहिए ॥७१॥ उज्ज्वल सुन्दर आकार वाली भी भोगी गई पापिनी परायी स्त्री प्रकाशमान दीपशिखाके समान दोनों कुलोंको मलिन करती है, मलको उत्पन्न करती है और सन्तापको वढ़ाती है ॥७२॥ अव आचार्य परिग्रहपरिमाण-अणुव्रतका वर्णन करते हैं—सन्तोषमें कुशल गृहस्थको मकान, खेत, धन, धान्य, दासी, दास, चौपाये—गाय आदि और वासन-वस्त्रादिक सर्व प्रकारके परिग्रहका परिमाण करना चाहिए ॥७३॥ परिग्रहपरिमाण करने वाला महात्मा सन्तोष रूप प्रगाढ़ जलके पूरसे दावाग्निके समान जलने वाले और सारे संसारको संतप्त करनेवाले लोभको वुझाकर शान्त कर देता है ॥७४॥ लोकमें सभी आरम्भ परिग्रहके निमित्त ही सम्पादित किये जाते हैं। अतः जो पुरुष परिग्रहको अल्प करता है, वह सभी आरम्भोंको भी कम करता है ॥७५॥ अव दिग्विरति नामक प्रथम गुणव्रत कहते हैं—जो धन्य पुरुष आठों दिशाओंमें जीवन भरके लिए जाने आनेकी मर्यादा करके उसे उल्लंघन नहीं करता है उसके जिन भगवान्ने दिग्विरति नामका प्रथम गुणव्रत कहा है ॥७६॥ दिग्व्रतकी मर्यादाके वाहिर सर्व आरम्भकी निवृत्ति

सर्वारम्भानिवृत्तेस्ततः परं तस्य जायते पूतम् । पापापायपटीयः सुखकारि महाव्रतं पूर्णम् ॥७७
देशावधिमपि कृत्वा यो नाक्रामति सदा पुनस्त्रेधा । देशविरतेर्द्वितीयं गुणव्रतं वर्ण्यते[1] तस्य ॥७८॥
काष्ठेनेव हुताशं लाभेन विवर्धमानमतिमात्रम् ।
प्रतिदिवसं यो लोभं निषेधयति तस्य कः सदृशः ॥७९
सोऽनर्थं पञ्चविधं परिहरति विवृद्धशुद्धधर्ममतिः । सोऽनर्थदण्डविरतिं गुणव्रतं नयति परिपूर्तिम् ॥८०
पञ्चानर्था दुष्टाध्ययनं पापोपदेशनासक्तिः । हिंसोपकारि दानं प्रमादचरणं श्रुतिर्दुष्टा ॥८१
मण्डलविडालकुक्कुटमयूरशुकसारिकादयो जीवाः । हितकामैर्न ग्राह्याः सर्वे पापोपकारपराः ॥८२॥
लोहं लाक्षा नीली कुसुम्भमदनं विषं शणः शस्त्रम् । सन्धानकं च पुष्पं सर्वं करुणापरैर्हेयम् ॥८३॥
नाली सूरणकन्दो दिवसद्वितयोषिते च दधिमथिते ।
विद्धं पुष्पितमन्नं कालिङ्गं द्रोणपुष्पिका त्याज्या ॥८४
आहारो निःशेषो निजस्वभावादन्यभावमुपयातः । योऽनन्तकायिकोऽसौ परिहर्तव्यो दयालीढैः ॥८५

हो जानेसे उसके अणुव्रत भी पापोंके विनाश करनेमें निपुण, सुखकारी और पवित्र पूर्ण महाव्रत रूप हो जाते हैं ॥७७ ॥

अब दूसरे देशविरति गुणव्रतका स्वरूप कहते हैं—दिग्व्रतकी मर्यादाके भी भीतर दैनिक आवश्यकताके अनुसार देश की मर्यादा को करके जो उसका मन वचन कायसे अतिक्रमण नहीं करता है, उसके देशविरति नामका दूसरा गुणव्रत कहा जाता है ॥७८॥ जैसे काठके लाभसे अग्नि उत्तरोत्तर बढ़ती है, उसी प्रकार परिग्रहकी प्राप्तिसे लोभ भी उत्तरोत्तर अत्यधिक बढ़ता है। जो पुरुष प्रतिदिन लोभका निषेध करता है, उसके समान कौन हो सकता है ॥७९॥ अब अनर्थदण्ड विरतिनामक तीसरे गुणव्रतको कहते हैं—जिसकी शुद्ध धर्म धारण करनेमें बुद्धि बढ़ रही है, ऐसा जो पुरुष वक्ष्यमाण पांचों प्रकारके अनर्थों का परिहार करता है, वह अनर्थ दण्ड विरति नामक गुणव्रतकी परिपूर्ति करता है ॥८०॥ दुष्ट ध्यान (अपध्यान) पापोपदेशनासक्ति, हिंसोपकरणदान, प्रमादाचरण और दुष्टशास्त्रश्रवण, ये पांच अनर्थदण्ड कहे गये है ॥८१॥ भावार्थ–किसीकी जीत और किसीकी हारका चिन्तवन करना, आर्त और रौद्र ध्यान करना दुष्टध्यान अनर्थदण्ड है। हिंसादि पाप कर्मोंका उपदेश देना पापोपदेश अनर्थदण्ड है। हिंसा करने वाले अस्त्र-शस्त्रादि उपकरणोंको देना हिंसोपकरणदान अनर्थ दण्ड है। निष्प्रयोजन एकेन्द्रिय जीवोंकी विराधना करना प्रमादचर्या अनर्थदण्ड है और राग-द्वेष बढ़ाने वाली खोटी कथाओंका सुनना दुःश्रुति अनर्थदण्डहै श्रावकको इन पांचों ही अनर्थदण्डोंका त्याग करना चाहिए। आत्म-हितके इच्छुक पुरुषोंको कुत्ता, बिलाव, मुर्गा, मोर, तोता, मैना आदि पापोंका उपकार करने वाले अर्थात् पापोंको बढ़ाने वाले हिंसक जीव ग्राह्य नहीं हैं, अतः इन्हें नहीं पालना चाहिए ॥८२॥ करुणामें तत्पर पुरुषोंको लोहा, लाख, नील, कुसुम (रंग), धतूरा, विष, सन, शस्त्र, सन्धानक (अचार-मुरब्बा) और सभी प्रकारके पुष्प इन वस्तुओंका त्याग करना चाहिए। अर्थात् इनका व्यापार न करे और न स्वयं उपयोगमें लावे ॥८३॥ कमलनाल, सूरण, जमींकन्द, तथा दो दिनका वासी दही छाँछ, वींधा अन्न-अंकुरित अन्न, कलींदा (तरबूज) और द्रोणपुष्पिका (राई-सरसों) इन वस्तुओंका भक्षण त्यागने के योग्य है ॥८४॥ जो चारों ही प्रकारका आहार अपने वास्तविक स्वभावसे अन्य स्वभावको प्राप्त हो जाय, अर्थात् जिसका स्वाद विगड़ जाय, ऐसा चलितरस वाला आहार और सभी प्रकार-

---

१, मु० 'तस्य जायेत' ।

त्यक्तार्त्तरौद्रयोगो भक्त्या विदधाति निर्मलध्यानः । सामायिकं महात्मा सामायिकसंयतो जीवः ॥८६
कालत्रितये त्रेधा कर्त्तव्या देववन्दना सद्भिः । त्यक्त्वा सर्वारम्भं भवमरणविभीतचेतस्कैः ॥८७
सदनारम्भनिवृत्तैराहारचतुष्टयं त्रिधा हित्वा । पर्वचतुष्के स्थेयं शमसंयमसाधनोद्युक्तैः ॥८८
ताम्बूलगन्धमाल्यस्नानाभ्यङ्गादिसर्वसंस्कारम् । ब्रह्मव्रतरतचित्तैः स्थातव्यमुपोषितैस्त्यक्त्वा ॥८९
उपवासानुपवासैकस्थानेष्वेकमपि विधत्ते यः । शक्त्यनुसारपरोऽसौ प्रोषधकारी जिनैरुक्तः ॥९०
उपवासं जिननाथा निगदन्ति चतुर्विधाशनत्यागम् । सजलमनुपवासममी एकस्थानं सकृद्भुक्तम् ॥९१
भोगोपभोगसंख्या विधीयते येन शक्तितो भक्त्या । भोगोपभोगसंख्याशिक्षाव्रतमुच्यते तस्य ॥९२
ताम्बूलगन्धलेपनमज्जनभोजनपुरोगमो भोगः । उपभोगो भूषास्त्रीशयनासनवस्त्रवाहाद्यः ॥९३
परिकल्प्य संविभागं स्वनिमित्तकृताशनौषधादीनाम् । भोक्तव्यं सागारैरतिथिव्रतपालिभिर्नित्यम् ॥९४
अतरिः स्वयमेव गृहं संयममविराधयन्ननाहूतः । यः सोऽतिथिरुद्दिष्टः शब्दार्थविचक्षणैः साधुः ॥९५
अशनं पेयं स्वाद्यं खाद्यमिति निगद्यते चतुर्भेदम् । अशनमतिथेर्विधेयो निजशक्त्या संविभागोऽस्य ॥

की अनन्तकाय वाली वनस्पति दयालु पुरुषोंको त्यागना चाहिए ॥८५॥ अब शिक्षाव्रतका वर्णन हुए पहले सामायिक शिक्षाव्रतको कहते हैं—जो आर्त्त और रौद्रध्यानको छोड़कर और निर्मल धर्म-ध्यानसे युक्त होकर भक्तिके साथ सामायिक करता है, वह महात्मा सामायिक संयत जीव जानना चाहिए ॥८६॥ जन्म-मरणके भयसे डरने वाले सज्जन पुरुषोंको पूर्वाह्ण, मध्याह्न और अपराह्ण इन तीनों ही कालोंमें सर्व आरम्भको छोड़कर देववन्दना करना चाहिए। यह प्रथम सामायिक शिक्षाव्रत है ॥८७॥

अब दूसरे प्रोषधोपवास शिक्षाव्रतको कहते हैं—शमभाव और संयमके साधनामें उद्युक्त पुरुषोंको सदा प्रत्येक मासकी ही दोनों अष्टमी और दोनों चतुर्दशी इन चारों पर्वोमें घरके आरम्भसे निवृत्त होकर और खाद्य, स्वाद्य, लेह्य, पेय इन चारों ही प्रकारके आहारको छोड़कर धर्मस्थानमें रहना चाहिए ॥८८॥ उपवास करने वाले श्रावकोंको ब्रह्मचर्यव्रतमें संलग्न चित्त होकर ताम्बूल, सुगन्ध, माला, स्नान, उबटन आदि सभी शारीरिक संस्कार छोड़कर एक स्थान पर धर्म-साधन करते हुए ठहरना चाहिए ॥८९॥ जो-जो श्रावक शक्तिके अनुसार उपवास, अनुपवास, और एकाशन इनमेंसे एकको भी पर्वके दिनोंमें करता है, वह भी जिनेन्द्रदेवके द्वारा प्रोषधव्रतधारी कहा गया है ॥९०॥ चारों प्रकारके आहारके त्यागको जिनेन्द्र भगवान्‌ने उपवास कहा है, जलके सिवाय शेष तीन प्रकारके आहार त्यागको अनुपवास और एक बार भोजन करनेको एकस्थान या एकाशन कहा है ॥९१॥

अब तीसरे भोगोपभोगपरिमाण शिक्षाव्रतको कहते हैं—जो अपनी शक्तिके अनुसार भक्तिसे भोग और उपभोगकी संख्याका नियम करते हैं, उसे सन्त पुरुषोंने भोगोपभोगसंख्यान शिक्षाव्रत कहा है ॥९२॥ ताम्बूल, गन्ध-लेपन, स्नान, भोजन आदि एक बार भोगनेमें आनेवाले पदार्थ भोग कहलाते हैं और आभूषण, स्त्री, शय्या, आसन, वस्त्र, सवारी आदि बार-बार भोगनेमें आनेवाले पदार्थोंको उपभोग कहते हैं ॥९३॥ अब चौथे अतिथिसंविभाग शिक्षाव्रतको कहते हैं—अतिथिसंविभाग व्रतके पालन करनेवाले गृहस्थोंको अपने निमित्त बनाये गये भोजन औषधि आदिका अतिथिके लिए संविभाग करके नित्य भोजन करना चाहिए ॥९४॥ 'अतिथि' इस शब्दके अर्थ-विचारक पुरुषोंने उसे अतिथि कहा है जो कि संयमकी विराधना नहीं करता हुआ विना बुलाये श्रावकके घर स्वयं जाता है ॥९५॥ अशन, पेय, स्वाद्य और खाद्य इस

मुद्गौदनाद्यमशनं क्षीरजलाद्यं मतं जिनैः पेयम् । ताम्बूलदाडिमाद्यं स्वाद्यं खाद्यं त्वपूपाद्यम् ॥९७
ज्ञात्वा मरणागमनं तत्त्वमतिर्दुर्निवारमतिगहनम् । पृष्ट्वा बान्धववर्गं करोति सल्लेखनां धीरः ॥९८
आराधनां भगवतीं हृदये निधत्ते सज्ज्ञानदर्शनचरित्रतपोमयीं यः ।
निर्धूतकर्ममलपङ्कमसौ महात्मा शर्मोदकं शिवसरोवरमेति हंसः ॥९९
जिनेश्वरनिवेदितं मननदर्शनालंकृतं, द्विषड्विधमिदं व्रतं विपुलबुद्धिभिर्धारितम् ।
विधाय नरखेचरत्रिदशसम्पदं पावनीं, ददाति मुनिपुंगवामितगतिस्तुतिं निर्वृतिम् ॥

इत्यमितगत्याचार्यकृतश्रावकाचारे षष्ठः परिच्छेदः ॥

सप्तमः परिच्छेदः

व्रतानि पुण्याय भवन्ति जन्तोर्न सातिचाराणि निषेवितानि ।
सस्यानि किं क्वापि फलन्ति लोके मलोपलीढानि कदाचनापि ॥१
मत्वेति सद्भिः परिवर्जनीया व्रते व्रते ते खलु पञ्च पञ्च ।
उपेयनिष्पत्तिमपेक्षमाणा भवन्त्युपाये सुधियः सयत्नाः ॥२
भारातिमात्रव्यतिरोपघातच्छेदान्नपानप्रतिषेधबन्धाः ।
अणुव्रतस्य प्रथमस्य दक्षैः पञ्चापराधाः प्रतिषेधनीयाः ॥३

प्रकार आहार के चार भेद कहे गये हैं। इनका अपनी शक्तिके अनुसार अतिथिके लिए श्रावकको विभाग करना चाहिए ॥९६॥ मूंगकी दाल, भात आदिको अशन कहते हैं। पीने योग्य दूध-जलादिको जिनदेवने पेय कहा है। ताम्बूल, अनार आदि फलोंको स्वाद्य कहा है और पूआ मिठाई आदिको खाद्य कहा है ॥९७॥ अब सल्लेखनाका वर्णन करते हैं—अपने दुर्निवार अति भयंकर मरणका आगमन जानकर तत्त्वज्ञानी धीर वीर श्रावक अपने बान्धव वर्गसे पूछकर सल्लेखनाको धारण करते हैं ॥९८॥ जो श्रावक सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपोमयी भगवती आराधनाको अपने हृदयमें धारण करता है, वह भव्य हंस महात्मा सर्वकर्म मलरूप पंकसे रहित, सुखरूप सलिलसे भरपूर शिवरूप सरोवरको प्राप्त होता है ॥९९॥ इस प्रकार जिनेश्वर देवसे कथित, सम्यग्दर्शन-ज्ञानसे अलंकृत और विशालबुद्धि श्रावकोंसे धारण किये गये ये बारह भेदरूप व्रत मनुष्य, विद्याधर और देवलोककी पावन सम्पदाको देकर अन्तमें अमितज्ञानधारी मुनिश्रेष्ठोंसे पूजित मुक्ति लक्ष्मीको देते हैं ॥१००॥

इस प्रकार अमितगति-विरचित श्रावकाचारमें छठा परिच्छेद समाप्त हुआ।

अतीचार-सहित सेवन किये गये व्रत मनुष्योंको पुण्यके लिए नहीं होते हैं। लोकमें क्या कहीं भी कदाचित् मलसे व्याप्त धान्य फलती है। नहीं फलती है ॥१॥ ऐसा जानकर सज्जनोंको एक-एक व्रतके पाँच पाँच अतीचार नियमसे छोड़ना चाहिए। उपेय जो व्रत उनको भले प्रकारसे निष्पन्न करनेकी अपेक्षा रखनेवाले बुद्धिमान् लोग अतीचारोंके त्यागरूप उपायमें प्रयत्नशील होते हैं ॥२॥ अब सर्वप्रथम अहिंसाणुव्रतके अतीचार कहते हैं—भारका अधिक मात्रामें लादना, लाठी-बेंत आदिसे आघात पहुंचाना, नाक-कान आदि अंगों का छेदना, अन्न-पानका रोकना और रस्सी आदि से बांधना ये पाँच अपराधरूप अतीचार प्रथम अणुव्रतके हैं अतएव व्रत-धारण करनेमें दक्षपुरुषोंको इनका त्याग करना चाहिए ॥३॥ अब दूसरे सत्याणुव्रतके अतीचार कहते हैं—दूसरेके न्यास (धरोहर)

न्यासापहारः परमन्त्रभेदो मिथ्योपदेशः परकूटलेखः ।
प्रकाशना गुह्यविचेष्टितानां पञ्चातिचाराः कथिता द्वितीये ॥४
व्यवहारः कृत्रिमजः स्तेननियोगस्तदाहृतादानम् ।
ते मानवैपरीत्यं विरुद्धराज्यव्यतिक्रमणम् ॥५
आत्तानुपात्तेत्वरिकाङ्गसङ्गावनङ्गसङ्गो मदनातिसङ्गः ।
परोपयामस्य विधानमेते पञ्चातिचारा गदिताश्चतुर्थे ॥६
क्षेत्रवास्तुधनधान्यहिरण्यस्वर्णकर्मकरकुप्यकसंख्याः ।
योऽतिलङ्घयति परिग्रहलोलस्तस्य पञ्चकमवाचि मलानाम् ॥७
स्मृत्यन्तरपरिकल्पनमूर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमाः प्रोक्ताः ।
क्षेत्रवृद्धिः प्राज्ञैरतिचाराः पञ्च तद्विरतेः ॥८
आनयनयुज्ययोजनपुद्गलजल्पनशरीरसञ्ज्ञाख्याः ।
अपराधाः पञ्च मता देशव्रतगोचराः सद्भिः ॥९
असमीक्षितकारित्वं प्राहुर्भोगोपभोगनैरर्थ्यम् । कन्दर्पं कौत्कुच्यं मौखर्यमनर्थदण्डस्य ॥१०

का अपहरण करनेवाला वचन कहना, परके गुप्तमंत्रका भेद करना, मिथ्या उपदेश देना, परको ठगनेके लिए कूटलेख करना अर्थात् जाली दस्तावेज आदि बनाना और दूसरेकी गुप्त या एकान्तमें की गई चेष्टाओंका प्रकाशन करना ये पाँच अतीचार दूसरे अणुव्रतके कहे गये हैं ॥४॥ अब तीसरे अचौर्याणुव्रतके अतीचार कहते हैं-कृत्रिम व्यवहार करना, अर्थात् असली वस्तुमें नकली मिलाकर बेचना, स्तेन-नियोग करना, अर्थात् चोरको चोरी करनेमें लगाना, चोरीसे लाये गये द्रव्यको लेना, मान वैपरीत्य करना, अर्थात् बड़े बाँटोंसे लेना और छोटे बांटोंसे देना और राज्य-नियमोंका उल्लंघन करना, ये पाँच अतीचार अचौर्याणुव्रतके हैं ॥५॥ अब चौथे ब्रह्मचर्याणुव्रतके अतीचार कहते हैं—दूसरेकी गृहीता या अगृहीत व्यभिचारिणी स्त्रीके अंगके साथ संगम करना, अनंग-क्रीड़ा करना, कामसेवनका तीव्र भाव रखना और दूसरेके विवाहका विधान करना, ये पाँच अतीचार चौथे अणुव्रतके कहे गये हैं ॥६॥ अब पाँचवें परिग्रहपरिमाणव्रतके अतीचार कहते हैं—क्षेत्र, वास्तु, धन-धान्य, हिरण्य-सुवर्ण, दासी-दास आदि नौकर और कुप्य–भाण्डकी ग्रहण की गई संख्याका जो परिग्रह-लोभी पुरुष उल्लंघन करता है, उसके ये पांच अतीचार कहे गये हैं ॥७॥

अब प्रथम दिग्व्रत गुणव्रतके अतीचार कहते हैं—ग्रहण की गई क्षेत्र-मर्यादाका भूल जाना, ऊर्ध्वगमनकी मर्यादाका उल्लंघन करना, अधोगमनकी मर्यादा का उल्लंघन करना, तिर्यग्गमनकी मर्यादाका उल्लंघन करना, और क्षेत्रकी मर्यादा बढ़ा लेना, ये पाँच अतीचार दिग्विरति गुणव्रतके प्राज्ञ पुरुषों ने कहे हैं ॥८॥ अब दूसरे देशव्रत गुणव्रतके अतीचार कहते हैं-देशकी गृहीत मर्यादाके बाहरसे किसी पुरुषको या वस्तुको बुलाना, मर्यादाके बाहिर भेजना, मर्यादाके बाहिर लोष्ठ आदि फेंककर संकेत करना, मर्यादाके बाहिर अवस्थित पुरुषके साथ बोलना और मर्यादाके बाहिर शरीर का संकेत कर कार्य कराना, ये पाँच देशव्रतके अतीचार सन्तपुरुषोंके द्वारा माने गये हैं ॥९॥ तब तीसरे अनर्थदण्डविरति गुणव्रतके अतीचार कहते हैं—बिना देखे-सोचे कार्य करना, अनर्थक भोग-उपभोग की वस्तुओंका संग्रह करना, हास्य मिश्रित अयोग्य वचन बोलना, कायकी कुचेष्टा करना और निरर्थक बकवाद करना, ये अनर्थदण्डव्रतके पाँच अतीचार हैं ॥१०॥ अब प्रथम सामायिक शिक्षाव्रत के अतीचार कहते हैं—मन, वचन और काय इन तीनों योगोंका खोटा उपयोग

योगाः दुष्प्रणिधानाः स्मृत्यनुपस्थानमादराभावः ।
सामायिकस्य जैनैरतिचाराः पञ्च विज्ञेयाः ॥११
ज्ञेया गतोपयोगा उत्सर्गादानसंस्तरकविद्धाः ।
उपवासे मुनिमुख्यैरनादरः स्मृत्यसमवस्थाः ॥१२
सहचित्तं सम्बद्धं मिश्रं दुष्पक्वमभिषवाहारः ।
भोगोपभोगविरतैरतिचाराः पञ्च परिवर्ज्याः ॥१३
मत्सरकालातिक्रमसचित्तनिक्षेपणापिधानानि ।
दानेऽन्यव्यपदेशः परिहर्तव्या मलाः पञ्चः ॥१४
जीवितमरणाशंसानिदानमित्रानुरागसुखशंसाः ।
सन्यासे मलपञ्चकमिदमाहुर्विदितविज्ञेयाः ॥१५
शङ्काकांक्षानिन्दापरशंसासंस्तवा मलाः पञ्च ।
परिहर्तव्याः सद्भिः सम्यक्त्वविशोधिभिः सततम् ॥१६
सप्तर्ति परिहरन्ति मलानामेवमुत्तमधियो व्रतशुद्धयै ।
श्रावका जगति ये शुभचित्तास्ते भवन्ति भुवनोत्तमनाथाः ॥१७

करना (रखना), सामायिक करनेकी याद भूल जाना और सामायिक करनेमें आदर नहीं रखना ये पाँच अतीचार सामायिकके जैनियोंको जानना चाहिए ॥११॥ अब दूसरे प्रोपधोपवास शिक्षाव्रतके अतीचार कहते हैं—उपयोग रहित होकर विना देखे-शोधे किसी वस्तुका छोड़ना, ग्रहण करना और विस्तरादिका बिछाना, उपवास करनेमें अनादर करना और उपवास करना भूल जाना, ये पाँच अतीचार श्रेष्ठ मुनियोंने उपवासके कहे हैं ॥१२॥ अब तीसरे भोगोपभोग परिमाण व्रतके अतीचार कहते हैं—सचित्त वस्तुका आहार करना, सचित्तसे स्पर्शित वस्तुका आहार करना, सचित्तसे मिश्रित वस्तुका आहार करना, दुःपक्व वस्तुका आहार करना और गरिष्ठ वस्तुका आहार करना, ये भोगोपभोग विरक्तिके पाँच अतीचार छोड़ना चाहिए ॥१३॥ अब चौथे अतिथि-संविभाग शिक्षाव्रतके अतीचार कहते हैं—दान देनेवालोंके साथ मत्सर भाव रखना, दान देनेके समयका उल्लंघन करना, दान-योग्य वस्तुका सचित्त पत्रादि पर रखना, आहारको सचित्त पत्रादि-से ढकना और दान दूसरेसे दिलवाना, ये पाँच अतीचार अतिथि संविभाग व्रतके हैं, इनका परिहार करना चाहिए ॥१४॥

अब सल्लेखनाके अतीचार कहते हैं—समाधिमरण लेनेके पश्चात् शरीरको स्वस्थ होता जानकर जीनेकी इच्छा करना, रोगादिके बढ़ने पर मरणकी इच्छा करना, आगामी भवमें सुख प्राप्तिका निदान करना, मित्रोंके अनुरागका स्मरण करना और पूर्वकालमें भोगे हुए भोगोंका चिन्तवन करना ये पाँच अतीचार सर्वज्ञदेवने संन्यासके कहे हैं ॥१५॥ अब सम्यग्दर्शनके अती-चार कहते हैं—जिनदेवके वचनोंमें शंका करना, भोगोंकी आकांक्षा करना, मिथ्या दृष्टियोंकी प्रशंसा करना और उनकी स्तुति करना ये पाँच सम्यग्दर्शनके अतीचार हैं। सम्यग्दर्शनकी शुद्धि चाहने वाले सन्तोंको इनका निरन्तर परिहार करना चाहिए ॥१६॥ जो उत्तम बुद्धिवाले श्रावक व्रतोंकी शुद्धिके लिए उपर्युक्त सत्तर अतीचारोंका परिहार करते हैं, वे प्रशस्त चित्त पुरुष तीनों भुवनोंके उत्तम स्वामी होते हैं ॥१७॥ अब शल्य दूर करनेका उपदेश देते हैं—निदान, माया और विपरीत दृष्टि (मिथ्यात्व) ये तीन शल्य बाणोंकी पंक्तिके समान दुःखों को करनेवाली

निदानमायाविपरीतदृष्टीर्नाराचपङ्क्तीरिव दुःखकर्त्रीः ।
ये वर्जयन्ते सुखभागिनस्ते निःशल्यता शर्मकरीह लोके ॥१८
यस्यास्ति शल्यं हृदये त्रिभेदं व्रतानि नश्यन्त्यखिलानि तस्य ।
स्थिते शरीरं ह्यवगाह्य काण्डे जनस्य सौख्यानि कुतस्तनानि ॥१९
प्रशस्तमन्यच्च निदानमुक्तं निदानमुक्तैर्व्रतिनामृषीन्द्रैः ।
विमुक्तिसंसारनिमित्तभेदा द्विधा प्रशस्ता पुनरभ्यधायि ॥२०
कर्मव्यपायं भवदुःखहानिं बोधिं समाधिं जिनबोधसिद्धिम् ।
आकांक्षतः क्षीणकषायवृत्तेर्विमुक्तिहेतुः कथितं निदानम् ॥२१
जातिं कुलं बान्धववर्जितत्वं दरिद्रतां वा जिनधर्मसिद्ध्यै ।
प्रयाचमानस्य विशुद्धवृत्तेः संसारहेतुर्गदितं जिनेन्द्रैः ॥२२
उत्पत्तिहीनस्य जनस्य नूनं लाभो न जातिप्रभृतेः कदाचित् ।
उत्पत्तिमाहुर्भवमुद्धबोधा भवं च संसारमनेककष्टम् ॥२३
संसारलाभो विदधाति दुःखं शरीरिणां मानसमाङ्गिकं च ।
यतस्ततः संसृतिदुःखभीतैस्त्रिधा निदानं न तदर्थमिष्टम् ॥२४
भोगाय मानाय निदानमीशैर्यदप्रशस्तं द्विविधं तदिष्टम् ।
विमुक्तिलाभप्रतिबन्धहेतोः संसारकान्तारनिपातकारि ॥२५
ये सन्ति दोषा भुवनान्तराले तानङ्गभाजां वितनोति भोगः ।
के तेऽपराधा जननिन्दनीया न दुर्जनो यान् रभसा करोति ॥२६

है। जो इनका परित्याग करते हैं, वे सुखके भागी होते हैं। क्योंकि लोकमें निःशल्यता सुखको करने वाली है ॥१८॥ जिसके हृदयमें ये तीन प्रकारकी शल्य रहती है, उनके समस्त व्रत नष्ट हो जाते हैं। शरीरमें भीतर प्रविष्ट हुए बाणके विद्यमान रहने पर मनुष्यको सुख कहाँ से हो सकते हैं ॥१९॥ निदानसे रहित ऋषिराजोंने व्रतियोंके निदान दो प्रकारके कहे हैं—प्रशस्त-निदान और अप्रशस्तनिदान। पुनः मुक्ति और संसारके निमित्त भेदसे प्रशस्त निदान भी दो प्रकारका कहा है ॥२०॥ कर्मोंका विनाश, सांसारिक दुःखोंकी हानि, बोधि, समाधि और जिनेन्द्र-प्ररूपित ज्ञानकी सिद्धिको चाहने वाले कषाय-रहित पुरुषका निदान मुक्तिका कारण कहा गया है ॥२१॥ जिनधर्मकी सिद्धिके लिए उत्तम जाति, उत्तम कुल, बन्धु-बान्धवसे रहितता और दरिद्रताको चाहने वाले विशुद्धवृत्ति पुरुषका निदान जिनेन्द्रदेव ने संसारका कारण कहा है ॥२२॥ उत्पत्ति-रहित जीवके जाति आदिका लाभ कदाचित् भी नहीं होता है। उत्कृष्ट बोधवाले पुरुषोंने उत्पत्तिको भव कहा है, भव नाम संसार का है और संसार अनेक कष्टमय है ॥२३॥ यतः संसारका लाभ देहधारियोंको अनेक मानसिक और शारीरिक दुःख देता है अतः संसारके दुःखोंसे भयभीत पुरुषोंको सांसारिक सुखके लिए मन, वचन, कायसे किया गया निदान कभी भी इष्ट नहीं है ॥२४॥

अब आचार्य अप्रशस्त निदानके दोष कहते हैं—आचार्योंने अप्रशस्त निदान दो प्रकार-का कहा है—भोगके लिए और मानके लिए। ये दोनों ही प्रकारका अप्रशस्त निदान मुक्ति लाभके प्रतिबन्धका करण होनेसे संसार-काननमें ही गिराने वाला है ॥२५॥ इस लोकके मध्य-में जितने भी दोष हैं, उन सबको यह भोग-निमित्त किया गया निदान विस्तृत करता है। वे कौन

ये पीडयन्ते परिचर्यमाणा ये मारयन्ते वत पोष्यमाणाः ।
ते कस्य सौख्याय भवन्ति भोगा जनस्य रोगा इव दुर्निवाराः ॥२७
विनश्वरात्मा गुरुपङ्ककारी मेघो जलानीव विवर्धमानः ।
ददाति यो दुःखशतानि कष्टं स कस्य भोगो विदुषोऽनिषेध्यः ॥२८
यो बाधते शक्रममेयशक्ति स कस्य बाधां न करोति भोगः ।
यः प्लोषते पर्वतवर्गमग्निः स मुञ्चते किं तृणपर्णराशिम् ॥२९
समीरणाशीव विभीमरूपः कोपस्वभावः पररन्ध्रवर्त्ती ।
अनात्मनीनं परिहर्तुकामैर्न याचनीयः कुटिलः स भोगः ॥३०
देवं गुरुं धार्मिकमर्चनीयं मानाकुलात्मा परिभूय भूयः ।
पाथेयमादाय कुकर्मजालं नीचां गतिं गच्छति नीचकर्मा ॥३१
वामनः पामनः कोपनो वञ्चनः कर्कशो रोमशः सिध्मलः कश्मलः ।
कौलिको मालिकः सालिकश्छिम्पकः किङ्करो लुब्धको मुग्धकः कुष्ठिकः ॥३२
श्वित्रकः कौशिको मूषको जाहको वञ्जुलो मञ्जुलः पिप्पलः पन्नगः ।
कुक्कुरस्तित्तिरो रासभो वायसः कुर्कुटो मर्कटो मानतो जायते ॥३३

से मनुष्योंके द्वारा निन्दनीय अपराध हैं, जिन्हें यह दुष्ट निदान शीघ्र ही न करता हो ॥२६॥ जो भोग भली भांतिसे परिचर्या करने पर भी पीड़ा देते हैं और खूब पोषण किये जाने पर भी जीवोंको मारते हैं, अति आश्चर्य है कि वे भोग किसके सुखके लिए हो सकते हैं, जो कि मनुष्यको दुर्निवार रोगोंके समान दुःख देते हैं ॥२७॥ ये सांसारिक भोग क्षण भंगुर हैं, महापाप-पंकको उपजाने वाले हैं, जैसे कि अधिक जलको बरसाने वाला मेघ भारी कीचड़ उत्पन्न कर देता है। जो काले मेघके समान सैकड़ों दुःखोंको देता है, वह भोग किस विद्वान्‌के लिए सेवन करनेके योग्य हैं ? ॥२८॥ जो काम भोग अपरिमित शक्तिशाली शक्रको भी बाधित करता है, वह फिर किसके बाधा नहीं करेगा ? जो अग्नि पर्वतोंके समूहको भी जला देती है, वह क्या तृण और पत्तोंके पुंजको छोड़ देगी ? कभी नहीं ॥२९॥ काम-भोग पवन-भक्षी सूर्यके समान अति भयकर है, क्रोधी स्वभाववाला है, कीड़ियोंके द्वारा बनाई गई बांभी के बिलोंमें रहता है। अतएव आत्माके अकल्याणका परिहार करनेके इच्छुक जनोंको यह सर्पके समान कुटिल गति वाला भोग कभी याचना नहीं करना चाहिए। अर्थात् सर्परूप भोगका निदान सर्वथा त्याज्य है ॥३०॥ अब मान-निमित्तक निदानके दोष कहते हैं—मानसे जिसकी आत्मा आकुलित है, वह पुरुष देव, गुरु और धर्मात्मा पूज्य जनोंका बार बार अपमान करता है और उसके फलसे वह नीचकर्म उपार्जन कर खोटे कर्म जालरूप पाथेय (मार्ग-भोजन) को साथ लेकर नीच गतिको जाता है ॥३१॥ मानकषायके पोषण-निमित्त किये गये निदानसे यह जीव नाना गतियोंमें बौना, चर्मरोगी, क्रोधी, वंचक, कर्कश, रोम युक्त, भूरे शरीरवाला, कोली (जुलाहा), माली, सिलावट, छीपा, चाकर, लुब्धक (भील), मूढ़, कोढ़ी, चीता, घूघू, मूषक, सेही वंजुल, मंजुल तथा पिप्पल जातिका पक्षी, सर्प, कुत्ता, तीतर, गर्दभ, काक, मुर्गा और वानर होता है ॥३२–३३॥ भावार्थ–मनुष्य और तिर्यंचमें जितनी भी नीच जातियां हैं, उनमें यह जीव मानकषायके निमित्त वाले निदानसे ही जन्म लेता है।

इसी प्रकार सेवन किया गया यह मान निदान मनुष्यकी लक्ष्मी, क्षमा, कीर्त्ति, दया, पूजा,

लक्ष्मीक्षमाकीर्तिकृपासपर्या निहत्य सत्या जनपूजनीया ।
निषेव्यमाणो रभसेन मानः श्वभ्रालये निक्षिपतेऽतिघोरे ॥३४
अनन्तकालं समवाप्य नीचां यद्येकदा याति जनोऽयमुच्चाम् ।
तथाप्यनन्ता बत याति जातीरुच्चा गुणः कोऽपि न चात्र तस्य ॥३५
उच्चासु नीचासु च हन्त जन्तोर्लब्धासु नो योनिषु वृद्धिहानी ।
उच्चो न नीचोऽहमपास्तबुद्धिः स मन्यते मानपिशाचवश्यः ॥३६
उच्चोऽपि नीचं स्वमवेक्ष्यमाणो नीचस्य दुःखं न किमेति घोरम्
नीचोऽपि वा पश्यति यः स्वमुच्चं स सौख्यमुच्चस्य न किं प्रयाति ॥३७
उच्चत्वनीचत्वविकल्प एष विकल्पमानः सुखदुःखकारी ।
उच्चत्वनीचत्वमयी न योनिर्ददाति दुःखानि सुखानि जातु ॥३८
हिनस्ति धर्मं लभते न सौख्यं कुबुद्धिरुच्चत्वनिदानकारी ।
उपैति कष्टं सिकतानिपीडी फलं न किञ्चिज्जननिन्दनीयः ॥३९
यशांसि नश्यन्ति समानवृत्तेर्गदातुरस्येव सुखानि सद्यः ।
विवर्धते तस्य जनापवादो विषाकुलस्येव मनोविमोहः ॥४०
हुताशनेनेव तुषारराशिर्विनाश्यतेऽलं विनयो मदेन ।
नैवानुरागं विनयेन हीने लोकेऽशमेनेव चरित्रमेति ॥४१

आदि सभी जन-पूजनीय गुणोंका नाश करके अति घोर नरकालयमें शीघ्र फेंक देता है ॥३४॥ मान कषायके निमित्तसे यह जीव अनन्त काल तक नीची जातियोंको पाकर यदि एक बार ऊँची जातिको पा भी लेता है, तो भी पुनः अनन्तों नीच जातियोंको पाता है। जब यह एकादि बार ऊंच जाति को पाता भी है, तो दुःख है कि उसमें उसके कोई भी उच्च गुण नहीं प्राप्त होता ॥३५॥ इस प्रकार ऊंच और नीच जातियोंमें, नाना योनियोंके पाने पर भी जीवकी कोई वृद्धि या हानि नहीं होती है, अर्थात् जीवत्व विद्यमान रहता है, तथापि यह मान कषायरूप पिशाचके वशमें हो वुद्धि रहित बनकर मैं ऊंच हूँ, मैं नीच हूँ, ऐसा मानता है, यह अति खेदकी बात है ॥३६॥ उच्च कुलीन पुरुष भी अपने से अधिक उच्चकुलीन पुरुषको देखता हुआ क्या नीच जातिके घोर दुःखको नहीं पाता है ? इसी प्रकार नीच जातिका पुरुष भी स्वयंको ऊंचा देखता हुआ क्या उच्च जातिके सुखको नहीं पाता है ? ॥३७॥ वास्तविक बात यह है कि ऊंचता और नीचताकी कल्पना एक विकल्प ही है, जिसे करने पर वह विकल्प सुख और दुःख करता है। ऊंचता या नीचता मयी योनि जीवको कदाचित् भी सुख या दुःख नहीं देती है, किन्तु किये गये पुण्य कर्म या पाप कर्म ही जीवको सुख दुःख देते हैं ॥३८॥ उच्चता का निदान करने वाला कुवुद्धि अपने धर्मको नाश करता है और सुखको नहीं पाता है। बालूको पेलनेवाला केवल कष्ट ही पाता है, किन्तु वह जन-निन्दनीय पुरुष कुछ भी फलको नहीं पाता है ॥३९॥ निदान करने वाले पुरुपका यश नष्ट हो जाता है, जैसे कि रोगसे पीड़ित पुरुषका सुख शीघ्र नष्ट हो जाता है। उसका लोगोंमें अपवाद बढ़ता है, जैसे कि विषसे आकुलित पुरुष का मनोविभ्रम बढ़ता है ॥४०॥ जैसे अग्नि से तुषार पुंज विनष्ट होता है, उसी प्रकार अहंकार-से विनय गुण सर्वथा नष्ट हो जाता है। विनयसे हीन पुरुष लोकमें किसीका अनुराग नहीं पाता है जैसे कि शमभाव के विना मनुष्य चारित्र को नहीं पाता है ॥४१॥ गर्ववाले पुरुष

ये पीडयन्ते परिचर्यमाणा ये मारयन्ते वत पोष्यमाणाः ।
ते कस्य सौख्याय भवन्ति भोगा जनस्य रोगा इव दुर्निवाराः ॥२७
विनश्वरात्मा गुरुपङ्ककारी मेघो जलानीव विवर्धमानः ।
ददाति यो दुःखशतानि कष्टं स कस्य भोगो विदुषोऽनिषेध्यः ॥२८
यो बाधते शक्रममेयशक्तिं स कस्य बाधां न करोति भोगः ।
यः प्लोषते पर्वतवर्गमग्निः स मुञ्चते किं तृणपर्णराशिम् ॥२९
समीरणाशीव विभीमरूपः कोपस्वभावः पररन्ध्रवर्त्ती ।
अनात्मनीनं परिहर्तुकामैर्न याचनीयः कुटिलः स भोगः ॥३०
देवं गुरुं धार्मिकमर्चनीयं मानाकुलात्मा परिभूय भूयः ।
पाथेयमादाय कुकर्मजालं नीचां गतिं गच्छति नीचकर्मा ॥३१
वामनः पामनः कोपनो वञ्चनः कर्कशो रोमशः सिध्मलः कश्मलः ।
कौलिको मालिकः सालिकश्छिम्पकः किङ्करो लुब्धको मुग्धकः कुष्ठिकः ॥३२
श्वित्रकः कौशिको मूषको जाहको वञ्जुलो मञ्जुलः पिप्पलः पन्नगः ।
कुक्कुरस्तित्तिरो रासभो वायसः कुर्कुटो मर्कटो मानतो जायते ॥३३

से मनुष्योंके द्वारा निन्दनीय अपराध हैं, जिन्हें यह दुष्ट निदान शीघ्र ही न करता हो ॥२६॥ जो भोग भली भांतिसे परिचर्या करने पर भी पीड़ा देते हैं और खूब पोषण किये जाने पर भी जीवोंको मारते हैं, अति आश्चर्य है कि वे भोग किसके सुखके लिए हो सकते हैं, जो कि मनुष्य-को दुर्निवार रोगोंके समान दुःख देते हैं ॥२७॥ ये सांसारिक भोग क्षण भंगुर हैं, महापाप-पंक को उपजाने वाले हैं, जैसे कि अधिक जलको वरसाने वाला मेघ भारी कीचड़ उत्पन्न कर देता है। जो काले मेघके समान सैकड़ों दुःखोंको देता है, वह भोग किस विद्वान्के लिए सेवन करने के योग्य है ? ॥२८॥ जो काम भोग अपरिमित शक्तिशाली शक्रको भी बाधित करता है, वह फिर किसके बाधा नहीं करेगा ? जो अग्नि पर्वतोंके समूहको भी जला देती है, वह क्या तृण और पत्तोंके पुंजको छोड़ देगी ? कभी नहीं ॥२९॥ काम-भोग पवन-भक्षी सूर्यके समान अति भयकर है, क्रोधी स्वभाववाला है, कीड़ियोंके द्वारा बनाई गई बांभी के बिलोंमें रहता है। अतएव आत्माके अकल्याणका परिहार करनेके इच्छुक जनोंको यह सर्पके समान कुटिल गति वाला भोग कभी याचना नहीं करना चाहिए। अर्थात् सर्परूप भोगका निदान सर्वथा त्याज्य है ॥३०॥ अब मान-निमित्तक निदानके दोष कहते हैं—मानसे जिसकी आत्मा आकुलित है, वह पुरुष देव, गुरु और धर्मात्मा पूज्य जनोंका वार वार अपमान करता है और उसके फलसे वह नीचकर्म उपार्जन कर खोटे कर्म जालरूप पाथेय (मार्ग-भोजन) को साथ लेकर नीच गतिको जाता है ॥३१॥ मानकषायके पोषण-निमित्त किये गये निदानसे यह जीव नाना गतियोंमें बौना, चर्म-रोगी, क्रोधी, वंचक, कर्कश, रोम युक्त, भूरे शरीरवाला, कोली (जुलाहा), माली, सिलावट, छीपा, चाकर, लुब्धक (भील), मूढ़, कोढ़ी, चीता, घूघू, मूषक, सेही वंजुल, मंजुल तथा पिप्पल जातिका पक्षी, सर्प, कुत्ता, तीतर, गर्दभ, काक, मुर्गा और वानर होता है ॥३२–३३॥ भावार्थ—मनुष्य और तिर्यचमें जितनी भी नीच जातियां हैं, उनमें यह जीव मानकषायके निमित्त वाले निदानसे ही जन्म लेता है।

इसी प्रकार सेवन किया गया यह मान निदान मनुष्यकी लक्ष्मी, क्षमा, कीर्त्ति, दया, पूजा,

लक्ष्मीक्षमाकीर्तिकृपासपर्या निहत्य सत्या जनपूजनीया ।
निषेव्यमाणो रभसेन मानः श्वभ्रालयं निक्षिपतेऽतिघोरे ॥३४
अनन्तकालं समवाप्य नीचां यद्येकदा याति जनोऽयमुच्चाम् ।
तथाप्यनन्ता वत याति जातीरुच्चा गुणः कोऽपि न चात्र तस्य ॥३५
उच्चासु नीचासु च हन्त जन्तोर्लब्धासु नो योनिषु वृद्धिहानी ।
उच्चो न नीचोऽहमपास्तबुद्धिःस मन्यते मानपिशाचवश्यः ॥३६
उच्चोऽपि नीचं स्वमवेक्ष्यमाणो नीचस्य दुःखं न किमेति घोरम्
नीचोऽपि वा पश्यति यः स्वमुच्चं स सौख्यमुच्चस्य न किं प्रयाति ॥३७
उच्चत्वनीचत्वविकल्प एष विकल्पमानः सुखदुःखकारी ।
उच्चत्वनीचत्वमयी न योनिर्ददाति दुःखानि सुखानि जातु ॥३८
हिनस्ति धर्मं लभते न सौख्यं कुबुद्धिरुच्चत्वनिदानकारी ।
उपैति कष्टं सिकतानिपीडी फलं न किञ्चिज्जननिन्दनीयः ॥३९
यशांसि नश्यन्ति समानवृत्तेर्गदातुरस्येव सुखानि सद्यः ।
विवर्धते तस्य जनापवादो विषाकुलस्येव मनोविमोहः ॥४०
हुताशनेनेव तुषारराशिर्विनाश्यतेऽलं विनयो मदेन ।
नैवानुरागं विनयेन हीने लोकेऽशमेनेव चरित्रमेति ॥४१

आदि सभी जन-पूजनीय गुणोंका नाश करके अति घोर नरकालयमें शीघ्र फेंक देता है ॥३४॥ मान कषायके निमित्तसे यह जीव अनन्त काल तक नीची जातियोंको पाकर यदि एक वार ऊँची जातिको पा भी लेता है, तो भी पुनः अनन्तों नीच जातियोंको पाता है। जव यह एकादि वार ऊंच जाति को पाता भी है, तो दुःख है कि उसमें उसके कोई भी उच्च गुण नहीं प्राप्त होता ॥३५॥ इस प्रकार ऊंच और नीच जातियोंमें, नाना योनियोंके पाने पर भी जीवकी कोई वृद्धि या हानि नहीं होती है, अर्थात् जीवत्व विद्यमान रहता है, तथापि यह मान कषायरूप पिशाचके वशमें हो वुद्धि रहित वनकर मैं ऊंच हूँ, मैं नीच हूँ, ऐसा मानता है, यह अति खेदकी वात है ॥३६॥ उच्च कुलीन पुरुष भी अपने से अधिक उच्चकुलीन पुरुषको देखता हुआ क्या नीच जातिके घोर दुःखको नहीं पाता है ? इसी प्रकार नीच जातिका पुरुष भी स्वयंको ऊंचा देखता हुआ क्या उच्च जातिके सुखको नहीं पाता है ? ॥३७॥ वास्तविक वात यह है कि ऊंचता और नीचताकी कल्पना एक विकल्प ही है, जिसे करने पर वह विकल्प सुख और दुःख करता है। ऊंचता या नीचता मयी योनि जीवको कदाचित् भी सुख या दुःख नहीं देती है, किन्तु किये गये पुण्य कर्म या पाप कर्म ही जीवको सुख दुःख देते हैं ॥३८॥ उच्चता का निदान करने वाला कुवुद्धि अपने धर्मको नाश करता है और सुखको नहीं पाता है। वालूको पेलनेवाला केवल कष्ट ही पाता है, किन्तु वह जन-निन्दनीय पुरुष कुछ भी फलको नहीं पाता है ॥३९॥ निदान करने वाले पुरुषका यश नष्ट हो जाता है, जैसे कि रोगसे पीड़ित पुरुषका सुख शीघ्र नष्ट हो जाता है। उसका लोगोंमें अपवाद वढ़ता है, जैसे कि विषसे आकुलित पुरुष का मनोविभ्रम वढ़ता है ॥४०॥ जैसे अग्नि से तुषार पुंज विनष्ट होता है, उसी प्रकार अहंकार-से विनय गुण सर्वथा नष्ट हो जाता है। विनयसे हीन पुरुष लोकमें किसीका अनुराग नहीं पाता है जैसे कि शमभाव के विना मनुष्य चारित्र को नहीं पाता है ॥४१॥ गर्ववाले पुरुष

पूता गुणा गर्ववतः समस्ता भवन्ति वन्ध्या यमसंयमाद्याः ।
प्ररोप्यमाणा विधिना विचित्राः किमूषरे भूमिरुहाः फलन्ति ॥४२
न जातु मानेन निदानमित्थं करोति दोषं परिचिन्त्य चित्रम् ।
प्राणापहारं न विलोक्यमानो विषेण तृप्तिं वितनोति कोऽपि ॥४३
यो घातकत्वादिनिदानमज्ञः करोति कृत्वाऽऽचरणं विचित्रम् ।
ह्री वर्धयित्वा फलदानदक्षं स नन्दनं भस्मयते वराकः ॥४४
यः संयमं दुष्करमादधानो भोगादिकांक्षां वितनोति मूढः ।
कण्ठे शिलामेष निधाय गुर्वीं विगाहते तोयमनल्पमध्यम् ॥४५
त्रिधाऽविधेयं सनिदानमित्थं विज्ञानदोषं चरणं चरद्भिः ।
अपथ्यसेवां रचयन्ति सन्तो विज्ञातदोषा न कृतौषधेच्छाः ॥४६
आयासविश्वासनिराशशोकद्वेषावसादश्रमवैरभेदाः ।
भवन्ति यस्यामवनाविवागाः सा कस्य माया न करोति कष्टम् ॥४७
स्वल्पाऽपि सर्वाणि निषेव्यमाणा सत्यानि माया क्षणतः क्षिणोति ।
नाल्पा शिखा किं दहतीन्धनानि प्रवेशिता चित्ररुचेश्चितानि ॥४८
निकर्तितुं वृत्तवनं कुठारी, संसारवृक्षं सवितुं धरित्री ।
बोधप्रभां ध्वंसयितुं त्रियामा माया विवर्ज्या कुशलेन दूरम् ॥४९

के यम, संयमादिक सभी पवित्र गुण निष्फल जाते हैं। ऊषर भूमिमें विधि पूर्वक आरोपण किये भी नाना प्रकारके वृक्ष क्या फल देते हैं ॥४२॥ इस प्रकार नाना प्रकारके दोषोंका चिन्तवन कर कोई भी बुद्धिमान मनुष्य मानसे निदानको कभी भी नहीं करता है। प्राणोंके अपहरणको करने वाले विषको देखता हुआ कोई भी पुरुष विषसे अपनी तृप्ति नहीं करता है ॥४३॥

जो अज्ञानी पुरुष नाना प्रकारके चारित्रका पालन करके दूसरेके घात करने आदिका द्वीपायन मुनिके समान निदान करता है, यह दीन वराक उत्तम फल देनेमें समर्थ नन्दन वनका संवर्धन करके पुनः उसे भस्म करता है ॥४४॥ अति कठिन संयमको धारण करता हुआ भी जो मूढ़ पुरुष भोग आदिकी आकांक्षाको करता है, वह अपने कण्ठमें भारी वजनी शिलाको बांधकर अत्यन्त गहरे जलमें अवगाहन करता है ॥४५॥ इस प्रकार निदानके दोषोंको जानकर चारित्रका पालन करनेवाले पुरुषोंको मन वचन कायसे निदान नहीं करना चाहिए। जिन्होंने अपथ्य सेवनके दोष जान लिये हैं, और जो नीरोग होनेके इच्छासे औषधिका सेवन करते हैं ऐसे सन्त पुरुष अपथ्यका सेवन नहीं करते हैं इस प्रकार निदान शल्यका वर्णन किया ॥४६॥ अब मायाशल्यका वर्णन करते हैं—जैसे भूमिमें वृक्ष उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार जिस मायाके होने पर प्रयास, विश्वासका विनाश, शोक, द्वेष, अवसाद, श्रम और वैर आदि अनेक भेदवाले दोष उत्पन्न होते हैं, यह माया किस पुरुषको कष्ट नहीं देती है ॥४७॥ थोड़ी सी भी सेवन की गई माया क्षण भरमें सर्व सत्यका विनाश कर देती है। अग्निकी प्रवेश की गई छोटी सी भी ज्वाला क्या संचित्त इधनको नहीं जलाती है ? जलाती ही है ॥४८॥ जो चारित्ररूप वनको काटनेके लिए कुठारीके समान है, संसाररूपी वृक्षको उपजानेके लिए पृथिवीके समान है, ज्ञानरूप सूर्यकी प्रभाका विध्वंस करनेके लिए रात्रिके समान है, ऐसी मायाका कुशल पुरुषोंको दूरसे ही परित्याग कर देना चाहिए ॥४९॥ यह माया मैत्री का घात करती है, शत्रुताको बढ़ाती है, पापको विस्तारती है, धर्मका विध्वंस करती है, दुःख

हिनस्ति मैत्रीं वितनोत्यमैत्रीं तनोति पापं विधुनोति धर्मम् ।
पुष्णाति दुःखं विधुनोति सौख्यं न वञ्चना किं कुरुते विनिन्द्यम् ॥५०
न बुध्यते तत्त्वमतत्त्वमङ्गी विमोह्यमानो रभसेन येन ।
त्यजन्ति मिथ्यात्वविषं पटिष्ठाः सदा विभेदं बहुदुःखदायि ॥५१
वदन्ति केचित्सुखदुःखहेतुर्न विद्यते कर्म शरीरभाजाम् ।
मानस्य तस्मिन्निखिलस्य हानेर्मानव्यपेतस्य न चास्ति सिद्धिः ॥५२
सत्त्वेऽपि कर्तुं न सुखादिकार्यं तस्यास्ति शक्तिर्गतचेतनत्वात् ।
प्रवर्तमानाः स्वयमेव दृष्टा विचेतना क्वापि मया न कार्ये ॥५३
एषा महामोहपिशाचवश्यैर्न युज्यते गीरभिधीयमाना ।
प्रमाणमस्माकमबाध्यमानं यतोऽस्य सिद्धावनुमानमस्ति ॥५४
रागरोषमदमत्सरशोकक्रोधलोभभयमन्मथमोहाः ।
सर्वजन्तुनिवहैरनुभूताः कर्मणा किमु भवन्ति विनैते ॥५५
ते जीवजन्याः प्रभवन्ति नूनं नैषाऽपि भाषा खलु युक्तियुक्ता ।
नित्यप्रसक्तिः कथमन्यथैषां सम्पद्यमाना प्रतिषेधनीया ॥५६

का पोषण करती है और सुखका विनाश करती है, वह माया किस निन्द्य कार्यको नहीं करती है, अर्थात् सभी निन्द्य कार्योंको करती है। इस प्रकार माया शल्यका वर्णन किया ॥५०॥ अब मिथ्यात्व शल्यका वर्णन करते हैं—जिसके द्वारा अति शीघ्र विमोहित हुआ प्राणी तत्त्व और अतत्त्वको नहीं समझता है, ऐसे बहुत दुःखोंके देनेवाले अनेक प्रकारके मिथ्यात्वरूप विषका चतुर पुरुष सदा ही परित्याग करते हैं ॥५१॥ कितने ही मतावलम्बी कहते हैं कि प्राणियोंको सुख-दुख देनेमें कारण-भूत कोई कर्म नहीं है, क्योंकि उसकी सिद्धि करनेमें सभी प्रमाणोंकी हानि अर्थात् अभाव है और प्रमाणके अभावमें कर्मकी सिद्धि हो नहीं सकती है। भावार्थ—अन्य मतवाले जो कर्मको नहीं मानते हैं, उनका कहना है कि कर्म नामक पदार्थ प्रत्यक्ष प्रमाणका विषय नहीं है, क्योंकि वह इन्द्रियोंसे नहीं दिखता है। अनुमान प्रमाणका भी विषय नहीं है, क्योंकि उसका साधक कोई लिंग दृष्टि-गोचर नहीं होता है, जिससे कि उसकी सिद्धि की जा सके। कर्मके समान अन्य पदार्थके नहीं पाये जानेसे वह उपमान प्रमाणसे भी सिद्ध नहीं होता है। कर्मके विना नहीं होनेवाले पदार्थकी अप्राप्ति से यह अर्थापत्ति प्रमाणका भी विषय नहीं है। हमारे आगममें कर्म नामक पदार्थका वर्णन नहीं है अतः आगमसे भी उसकी सिद्धि नहीं है। परिशेषमें अभाव प्रमाणसे उसका अभाव ही सिद्ध होता है ॥५२॥ उनका कहना है कि जैन लोग कर्मको अचेतन मानते हैं और इसीलिए उसकी जीवमें सुख-दुःखादि कार्य करनेकी शक्ति नहीं है। उनका कहना है कि मैंने किसी भी कार्यमें प्रवर्तमान कोई भी अचेतन पदार्थ कहीं पर भी नहीं देखा है इसलिए कर्म नामका कोई पदार्थ नहीं है ॥५३॥ आचार्य उनका उत्तर देते हुए कहते हैं-कि महामोहरूप पिशाचके वशमें हुए लोगोंकी यह उपर्युक्त वाणी योग्य नहीं है, क्योंकि हमारे पास कर्मकी सिद्धिमें अबाध्यमान अनुमान प्रमाण है ॥५४॥ यथा—सर्वप्राणिसमूहके द्वारा अनुभवमें आनेवाले ये राग, द्वेष, मद, मत्सर, शोक, क्रोध, लोभ, भय, काम और मोह आदि विकार भाव कर्मके विना कैसे हो सकते हैं? अतः इन विकाररूप कार्योंसे उनके कारणरूप कर्मका अनुमान होता है ॥५५॥ यदि आप कहें कि ये रागादि भाव नियमसे जीव-जनित ही हैं, कर्म-जनित नहीं, सो ऐसी भी भाषा आपकी निश्चयसे युक्ति-संगत नहीं है,

नित्ये जीवे सर्वदा विद्यमाने कादाचित्का हेतुना केन सन्ति ।
निर्मुक्तानां जायमाना निषेद्धुं ते शक्यन्ते केन मुक्तिश्च तेभ्यः ॥५७
तुल्यप्रतापोद्यमसाहसानां केचिल्लभन्ते निजकार्यसिद्धिम् ।
परे न तामत्र निगद्यतां मे कर्माणि हित्वा यदि कोऽपि हेतुः ॥५८
विचित्रदेहाकृतिवर्णगन्धप्रभावजातिप्रभवस्वभावाः ।
केन क्रियन्ते भुवनेऽङ्गिवर्गाश्चिरन्तनं कर्म निरस्य चित्राः ॥५९
विवर्द्धय मासान्नव गर्भमध्ये बहुप्रकारैः कलिलादिभावैः ।
उद्वर्त्य निष्कासयते सवित्र्याः को गर्भतः कर्म विहाय पूर्वम् ॥६०
विलोकमानाः स्वयमेव शक्तिं विकारहेतुं विषमद्यजाताम् ।
अचेतनं कर्म करोति कार्यं कथं वदन्तीति कथं विदग्धाः ॥६१
नानाप्रकारा भुवि वृक्षजातीर्विधूय पत्राणि पुरातनानि ।
अचेतनः किं न करोति कालः प्रत्यग्रपुष्पप्रसवादिरम्याः ॥६२
यैर्निःशेषं चेतनामुक्तमुक्तं कार्याकारि ध्वस्तकार्यावबोधैः ।
धर्माधर्माकाशकालादि सर्वं द्रव्यं तेषां निष्फलत्वं प्रयाति ॥६३

क्योंकि रागादि भावोंको जीव-जनित मानने पर उनका जीवके साथ नित्य सम्बन्ध प्राप्त होता है, फिर उनका प्रतिषेध कैसे किया जा सकेगा ? भावार्थ—यदि रागादि भावोंको आत्माका स्वभाव माना जाय, तो स्वभावका अभाव कभी होता नहीं, अतः मुक्त जीवोंके भी उनका सद्भाव मानना पड़ेगा। किन्तु मुक्त जीवोंके रागादिका अभाव सभी मानते हैं। अतएव उन्हें जीवका स्वभाव नहीं माना जा सकता ॥५६॥ जीवके सर्वदा नित्य विद्यमान रहने पर रागादि भावोंका कदाचित् होना किस कारणसे संभव है। मुक्त जीवोंके उनकी उत्पत्ति होनेका निषेध कैसे किया जा सकता है ? और उनसे मुक्ति अर्थात् छुटकारा भी कैसे हो सकता है ॥५७॥ समान प्रतापी, समान उद्यमी और समान साहसी पुरुषोंमेंसे कितने ही पुरुष तो अपने अभीष्ट कार्यकी सिद्धिको प्राप्त करते हैं और कितने ही पुरुष सफलताको नहीं पाते हैं। इनकी सफलता और विफलतामें यदि कर्मको छोड़ कर कोई अन्य हेतु है, तो मुझे बतलाओ ? भावार्थ—समान पुरुषार्थ करने वालोंमेंसे कुछको सफलता मिलने और कुछको सफलता नहीं मिलनेमें कर्मके सिवाय और कोई अन्य कारण नहीं है ॥५८॥ संसारमें नाना प्रकारके विचित्र देहोंके आकार, वर्ण, गन्ध, प्रभाव, जाति और कुलादिमें उत्पन्न होनेवाले भिन्न-भिन्न स्वभावके धारक प्राणियोंको पुरातन कर्मके सिवाय और कौन बनाता है ? ॥५९॥ माताके गर्भके मध्यमें बहुत प्रकारके रस, रुधिर आदि भावोंके द्वारा नौ मास तक बढ़ाकर पूर्व कर्मके सिवाय गर्भसे बाहिर कौन निकालता है ॥६०॥ यदि कहा जाय कि कर्म तो अचेतन हैं, वे शरीरोंके नाना प्रकारके कार्य कैसे कर सकते हैं ? इसका उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं—विष और मदिराके पीनेसे उत्पन्न हुई विकार हेतुक शक्तिको स्वयमेव ही देखनेवाले चतुर पुरुष यह कैसे कहते हैं कि अचेतन कर्म कैसे कार्य करता है ॥६१॥ और भी देखो—भूतल पर अपने पुराने पत्रोंको छोड़कर और नवीन उत्पन्न हुए अंकुर, पुष्प और फलादिसे रमणीय नाना प्रकारकी वृक्ष जातियोंको क्या अचेतन काल नहीं करता है। भावार्थ—जैसे अचेतन काल वृक्षोंके पुराने पत्रोंको झड़ाकर नवीन पत्रादिको उत्पन्न करनेमें निमित्त है, उसी प्रकारसे अचेतन कर्म भी जीवोंके नाना प्रकारके शरीरादिके निर्माणमें हेतु है ॥६२॥ कार्य-कारण सम्बन्धी ज्ञानसे

जीवैरमूर्तैः सह कर्म मूर्तं सम्बध्यते नेति वचो न वाच्यम् ।
अनादिभूतं हि जिनेन्द्रचन्द्राः कर्माङ्गिसम्बन्धमुदाहरन्ति ॥६४

इत्यादि मिथ्यात्वमनेकभेदं यथार्थतत्त्वप्रतिपत्तिसूदि ।
विवर्जनीयं त्रिविधेन सद्भिर्जैनं व्रतं रत्नमिवाश्रयद्भिः ॥६५

एकादशोक्ता विदितार्थतत्त्वैरुपासकाचारविधेर्विभेदाः ।
पवित्रमारोढुमनस्यलभ्यं सोपानमार्गा इव सिद्धिसौधम् ॥६६

दार्शनिकः

यो निर्मलां दृष्टिमनन्यचित्तः पवित्रवृत्तामिव हारयष्टिम् ।
गुणावनद्धां हृदये निधत्ते स दर्शनी धन्यतमोऽभ्यधायि ॥६७

व्रतिकः

विभूषणानीव दधाति धीरो व्रतानि यः सर्वसुखाकराणि ।
आक्रष्टुमीशानि पवित्रलक्ष्मीं तं वर्णयन्ते व्रतिनं वरिष्ठाः ॥६८

सामायिकः

रौद्रार्थमुक्तो भवदुःखमोची, निरस्तनिःशेषकषायदोषः ।
सामायिकं यः कुरुते त्रिकालं सामायिकस्थः कथितः स तथ्यम् ॥६९

रहित जो पुरुष चेतना-रहित सभी पदार्थोको कार्यकारी नहीं मानते हैं, उनके मतमें धर्म, अधर्म, आकाश, कालादि सभी द्रव्य निष्फलताको प्राप्त होते हैं ॥६३॥ और यह कहना कि अमूर्त जीवों-के साथ मूर्त्त कर्म सम्बन्धको प्राप्त नहीं होते हैं, सो ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि जिनेन्द्र-चन्द्र जीव और कर्मके सम्बन्धको अनादिकालीन कहते हैं और अनादि वस्तु तर्कका विषय नहीं होती है ॥६४॥ इत्यादि अनेक भेदवाले और यथार्थ तत्त्वज्ञानका नाश करनेवाले मिथ्यात्वका रत्न के समान जैन व्रतोंका आश्रय करनेवाले सज्जन पुरुषोंको मन वचन कायसे परित्याग करना चाहिए ॥६५॥

अब आचार्य श्रावककी ग्यारह प्रतिमाओंका वर्णन करते हैं—तत्त्वार्थके जानने वाले महापुरुषोंने श्रावकाचार विधिके ग्यारह भेद कहे हैं, जो कि अन्य साधारण जनोंके द्वारा अलभ्य और पवित्र सिद्धिरूपी सौध (महल) पर आरोहण करनेके लिए सोपान मार्गके समान हैं ॥६६॥

१. दार्शनिक श्रावक

जिसका अन्यत्र चित्त नहीं लग रहा है, ऐसा जो पुरुष पवित्र और गोल मणियों वाली गुण (सूत्र) से पिरोयी गई हारकी लडीके समान निर्मल समीचीन दृष्टिको अपने हृदयमें धारण करता है, वह दर्शन प्रतिमाधारी उत्तम धन्य पुरुष कहा गया है ॥६७॥

२. व्रतिक श्रावक

जो धीर पुरुष सर्व प्रकारके सुखोंके भण्डार और पवित्र स्वर्ग-मोक्षरूप लक्ष्मीको आकृष्ट करनेमें समर्थ ऐसे बारह व्रतोंको आभूषणोंके समान धारण करता है, उसे व्रतधारियोंमें श्रेष्ठ पुरुष व्रत प्रतिमाधारी कहते हैं ॥६८॥

३. सामायिकी श्रावक

जो रुद्र और आर्त्तध्यानसे रहित है, सांसारिक दुःखोंका त्याग करना चाहता है और

प्रोषधोपवासी

मन्दीकृताक्षार्थसुखाभिलाषः करोति यः पर्वचतुष्टयेऽपि ।
सदोपवासं परकर्म मुक्त्वा स प्रोषधी शुद्धधियामभीष्टः ॥७०

सचित्तविरतः

दयार्द्रचित्तो जिनवाक्यवेदी न वल्भते किञ्चन यः सचित्तम् ।
अनन्यसाधारणधर्मपोषी सचित्तमोची स कषायमोची ॥७१

दिवाब्रह्मचारी

निषेवते यो दिवसेन नारीमुद्दामकन्दर्पमदापहारी ।
कटाक्षविक्षेपशरैरविद्धो बुधैर्दिवाब्रह्मचरः स बुद्धः ॥७२

ब्रह्मचारी

यो मन्यमानो गुणरत्नचोरीं विरक्तचित्तस्त्रिविधेन नारीम् ।
पवित्रचारित्रपदानुसारी स ब्रह्मचारी विषयापहारी ॥७३

आरम्भविरतः

विलोक्य षड्जीवविघातमुच्चैरारम्भमत्यस्यति यो विवेकी ।
आरम्भमुक्तः स मतो मुनीन्द्रैर्वैरागिकः संयमवृक्षसेकी ॥७४

समस्त कषायरूप दोषोंसे मुक्त है, ऐसा जो पुरुष त्रिकाल सामायिक करता है, वह यथार्थ सामायिकमें स्थित कहा गया है ॥६९॥

४. प्रोषधोपवासी श्रावक

जो पुरुष इन्द्रिय-सुखोंकी अभिलाषाको मन्द करके प्रत्येक मासकी चारों ही पर्वोमें अन्य सर्व कार्य छोड़कर सदा उपवास करता है, वह शुद्ध बुद्धि वालोंका अभीष्ट प्रोषधोपवास प्रतिमाधारी श्रावक है ॥७०॥

५. सचित्तविरत श्रावक

जिन वचनोंका वेत्ता जो दयालु चित्त पुरुष किसी भी सचित्त वस्तुको नहीं खाता है, वह अनन्य साधारण धर्मका पोषक एवं कषायोंको विमोचक सचित्तत्याग प्रतिमाधारी है ॥७१॥

६. दिवाब्रह्मचारी श्रावक

अत्यन्त उग्र कामदेवके मदको दूर करने वाला, स्त्रियोंके कटाक्ष विक्षेपरूप वाणोंसे नहीं वेधा गया जो पुरुष दिनमें स्त्रीका सेवन नहीं करता है, उसे ज्ञानियोंने प्रवुद्ध दिवाब्रह्मचारी श्रावक कहा है ॥७२॥

७. अहर्निश ब्रह्मचारी श्रावक

जो विषय-सेवनसे विरक्त चित्त पुरुष स्त्रीको गुणरूप रत्नोंकी चुराने वाली मानता हुआ मन वचन कायसे उसका सेवन नहीं करता है, वह पवित्र चारित्र पदका अनुसरण करने वाला और विषयोंका अपहारक ब्रह्मचारी कहा गया है ॥७३॥

८. आरम्भविरत श्रावक

जो विवेकी पुरुष आरम्भको षट्कायिक जीवोंका विघातक देखकर कृषि व्यापारादि आरम्भ करनेका त्याग करता है, वह विरागी संयमरूप वृक्षका सींचने वाला आरम्भ त्यागी श्रावक मुनिराजोंके द्वारा माना गया है ॥७४॥

परिग्रहत्यागी

यो रक्षणोपार्जननश्वरत्वैर्ददाति दुःखानि दुरुत्तराणि ।
विमुच्यते येन परिग्रहोऽसौ गीतोऽपसङ्गै[1]रपरिग्रहोऽसौ ॥७५

अनुमतित्यागी

आरम्भसन्दर्भविहीनचेताः कार्येषु मारीमिव हिंस्ररूपाम् ।
यो धर्मसक्तोऽनुमतिं न धत्ते निगद्यते सोऽननुमन्तृमुख्यः ॥७६

उद्दिष्टत्यागी

यो बन्धुराबन्धुरतुल्यचित्तो गृह्णाति भोज्यं नवकोटिशुद्धम् ।
उद्दिष्टवर्जी गुणिभिः स गीतो विभीलुकः संसृतियातुधान्याः ॥७७

क्रमेणामूंश्चित्ते निदधति मुदैकादशगुणानलं निन्दागर्हानिहितमनसो येऽस्ततमसः ।
भवान् द्वित्रान् भ्रान्त्वाऽमरमनुजयोर्भूरिमहसो विधूतैनोबन्धाः परमपदमायान्ति सुखदम्[2] ॥७८
इदं धत्ते भक्त्या गृहिजनहितं योऽत्र चरितं मदक्रोधायासप्रमदमदनारम्भमकरम् ।
भवाम्भोधिं तीर्त्वा जननमरणावर्तनिचितं, व्रजत्येषोऽध्यात्मामितगतिमतं निर्वृतिपदम् ॥७९

इत्यमितगत्याचार्यकृतश्रावकाचारे सप्तमः परिच्छेदः समाप्तः

---

९. परिग्रहत्यागी श्रावक

जो परिग्रह रक्षण, उपार्जन, विनाश आदिके द्वारा जीवोंको अति भयंकर दुःखोंको देता है, ऐसा समझकर जो सत्पुरुष परिग्रहको छोड़ता है, यह निर्ग्रन्थ पुरुषोंके द्वारा आपरिग्रही श्रावक कहा गया है ॥७५॥

१०. अनुमतित्यागी श्रावक

जो सर्व आरम्भ-परिग्रहसे रहित और धर्ममें आसक्त चित्त पुरुष पापकार्योंमें हिंसक मारीके समान प्रवीण अनुमतिको नहीं देता है, वह अनुमति त्यागियोंमें मुख्य कहा जाता है ॥७६॥

११. उद्दिष्टत्यागी श्रावक

जो भले और बुरे आहारमें समान चित्त रखने वाला पुरुष नव कोटीसे विशुद्ध भोजनको ग्रहण करता है, वह संसृतिरूप राक्षसीसे भयभीत उद्दिष्टत्यागी श्रावक गुणिजनोंके द्वारा कहा गया है ॥७७॥ जिनका अज्ञान अन्धकार दूर हो गया है, अपने पापोंकी निन्दा और गर्हामें जिनका चित्त लग रहा है, ऐसी जो पुरुष क्रमसे हर्ष पूर्वक इन ग्यारह प्रतिभावाले गुणोंको भली भांतिसे चित्तमें धारण करते हैं, वे देव और मनुष्यके दो तीन तेजस्वी भवोंको धारण कर अन्तमें कर्म-बन्धनको दूर करते हुए सुखदायी परम पदको प्राप्त होते हैं ॥७८॥ इस प्रकार जो पुरुष इस लोकमें गृहस्थजनोंका हितकारी चारित्र भक्तिसे धारण करता है, वह मद क्रोध-आयास प्रमोद, कामविकार, और आरम्भ रूप मगर-मच्छोंवाले, जन्म-मरणरूप भ्रमरोंसे व्याप्त इस संसार-समुद्रको तिर करके अतीन्द्रिय अमित ज्ञान-सुखवाले मोक्ष-पदको शीघ्र प्राप्त होता है ॥७९॥

इस प्रकार अमितगति-विरचित श्रावकाचारमें सप्तम परिच्छेद समाप्त हुआ ।

---

१. मु० पदवी । २. मु० सुखदाम् ।

अष्टमः परिच्छेदः

जिनं प्रणम्य सार्वीयं सर्वज्ञं सर्वतोमुखम् । आवश्यकं मया षोढा संक्षेपेण निगद्यते ॥१
आगमोऽनन्तपर्यायो मतो जैनो व्यवस्थितः । अभिधातुं ततः केन विस्तरेण स शक्यते ॥२
मत्तोऽपि सन्ति ये बालाश्चित्राकारेषु जन्तुषु । अस्यावबोधतस्तेषामुपकारो भविष्यति ॥३
आवश्यकं न कर्त्तव्यं नैष्फल्यादित्यसाम्प्रतम् । प्रशास्ताध्यवसायस्य फलस्यात्रोपलब्धितः ॥४
प्रशस्ताध्यवसायेन संचितं कर्म नाश्यते । काष्ठं काष्ठान्तकेनेव दीप्यमानेन निश्चितम् ॥५
जायते न स सर्वत्र न वाच्यमिति कोविदैः । स्फुटं सम्यक्कृते तत्र तस्य सर्वत्र सम्भवात् ॥६
न सम्यक्करणं तस्य जायते ज्ञानतो विना । शास्त्रतो न विना ज्ञानं शास्त्रं तेनाभिधीयते ॥७
लाभपूजायशोऽर्थित्वैस्तस्य सम्यक्कृतावपि । प्रशस्ताध्यवसायस्य सम्भवो नोपलभ्यते ॥८
तदयुक्तं यतो नेदं सम्यक्करणमुच्यते । अत एवात्र मृग्यन्ते सम्यक्कृत्यधिकारिणः ॥९
संसारदेहभोगानां योऽसारत्वमवेक्षते । कषायेन्द्रिययोगानां जयनिग्रहरोधकृत् ॥१०
अनेकयोनिपाताले विचित्रगतिपत्तने । जन्ममृत्युजरावर्ते भूरिकल्मषपायसि ॥११
संसारसागरे भीमे दुःखकल्लोलसङ्कुले । रागद्वेषमहानक्ररौद्रव्याधिझषाकुले ॥१२

सर्व-हितकारी सर्वज्ञ और सर्वदर्शी जिनदेवको नमस्कार करके मैं संक्षेपसे छह आवश्यकोंको कहता हूँ ॥१॥ जिन-भाषित आगम यतः अनन्त पर्यायरूप अवस्थित है, अतः उसे विस्तारसे कहनेके लिए कौन समर्थ हो सकता है ॥२॥ नाना प्रकारके प्राणियोंमें जो मेरेसे भी अल्पबुद्धिवाले मनुष्य हैं उनका उपकार मेरे द्वारा किये जानेवाले वर्णनसे होगा, यह समझकर मैं उनका वर्णन करता हूँ ॥३॥ कितने ही लोग कहते हैं कि आवश्यकोंका पालन नहीं करना चाहिए, क्योंकि उनका कोई फल नहीं है। आचार्य उत्तर देते हैं कि यह कथन अयुक्त है, क्योंकि आवश्यक करनेमें प्रशस्त अध्यवसाय परिणाम-रूप फलकी प्राप्ति पायी जाती है। इस प्रशस्त अध्यवसायके द्वारा संचित कर्म विनाशको प्राप्त होता है जैसे कि प्रदीप्त अग्निके द्वारा काष्ठ निश्चित रूपसे भस्म हो जाता है ॥४-५॥ यदि कहा जाय कि यह कर्म विनाशरूप फल सब लोगोंके नहीं देखा जाता है। विज्ञजनोंको ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि आवश्यकोंके सम्यक् प्रकारसे करने पर उनका फल निश्चितरूपसे सर्वत्र संभव है ॥६॥ आवश्यकोंका सम्यक् प्रकारसे करना ज्ञानके बिना नहीं होता है और ज्ञानकी प्राप्ति शास्त्रके विना नहीं होती है, इस कारण शास्त्र-स्वाध्याय करना आवश्यक कहा गया है ॥७॥ यदि कहा जाय कि लाभ पूजा और यशकी इच्छासे सम्यक् प्रकार आवश्यकोंके करने पर भी प्रशस्त अध्यवसायका होना संभव नहीं पाया जाता है, तो यह कथन अयुक्त है, क्योंकि लाभ पूजा आदिकी इच्छासे आवश्यकोंके करनेको सम्यक् प्रकारसे करना नहीं कहा जाता है। इसीलिए ही सम्यक् प्रकारसे आवश्यक करनेके अधिकारी पुरुष यहाँपर अन्वेषण किये जाते हैं ॥८-९॥ अव आचार्य आवश्यक करनेके योग्य पुरुषका स्वरूप कहते हैं—जो निरन्तर संसार देह और इन्द्रिय-भोगोंकी असारता को देखता हो, कपाय-जयी हो, इन्द्रिय-निग्रही हो और मन वचन कायरूप योगोंका निरोध करनेवाला हो ॥१०॥

तथा अनेक योनिरूप पातालवाले, विचित्र गतिरूप नगरवाले, जन्म-जरा-मरणरूप भँवर वाले, अत्यन्त मलिन जलसे भरे हुए, दुःखरूप कल्लोलोंसे व्याप्त, राग-द्वेषरूप महान् मगरोंसे और रौद्र व्याधिरूप मीनोंसे आकुलित ऐसे महा भयंकर संसार-सागरमें चिरकालसे परिभ्रमण करने वाले जीवोंके जिनेन्द्रदेवके चरणोंकी वन्दनाका प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है, ऐसा अपने हृदयमें

चिरं वम्भ्रम्यमाणानां जिनेन्द्रपदवन्दना । दुरापा जायतेऽत्यन्तमिति यो हृदि मन्यते ॥१३
अनर्थकारिणः कान्ताजननीजनकादयः । स्वस्योपकारिणो येन बुध्यन्ते परमेष्ठिनः ॥१४
सर्वाणि गृहकार्याणि परकार्याणि पश्यति । शुद्धधीर्धर्मकार्याणि निजकार्याणि यः सदा ॥१५
यौवनं जीवितं धिष्ण्यमैश्वर्यं जनपूजितम् । नश्वरं वीक्षते सर्वं शरदभ्रमिवानिशम् ॥१६
दर्शनज्ञानचारित्रत्रितयं भवकानने । जानीते दुर्लभं भूयो भ्रष्टं रत्नमिवाम्बुधौ ॥१७
मयूरस्येव मेघौघे वियुक्तस्येव बान्धवे । तृष्णार्तस्येव पानीये विबद्धस्येव मोक्षणे ॥१८
सव्याधेरिव कल्पत्वे विदृष्टेरिव लोचने । जायते यस्य सन्तोषो जिनवक्त्रविलोकने ॥१९
परीषहसहः शान्तो जिनसूत्रविशारदः । सम्यग्दृष्टिरनाविष्टो गुरुभक्तः प्रियंवदः ॥२०
आवश्यकमिदं धीरः सर्वकर्मविषूदनम् । सम्यक्कर्तुमसौ योग्यो नापरस्यास्ति योग्यता ॥२१
औचित्यवेदकः श्राद्धो विधानकरणोद्यतः । कर्मनिर्जरणाकांक्षी स्ववशीकृतमानसः ॥२२
भाक्तिको बुद्धिमानर्थी बहुमानपरायणः । पठने श्रवणे योग्यो विनयोद्यमभूषितः ॥२३
गुणाय जायते शान्ते जिनेन्द्रवचनामृतम् । उपशान्तज्वरे पूतं भैषज्यमिव योजितम् ॥२४
अयोग्यस्य वचो जैनं जायतेऽनर्थहेतवे । यतस्ततः प्रयत्नेन मृग्यो योग्यो मनीषिभिः ॥२५
कषायाकुलिते व्यर्थं जायते जिनशासनम् । सन्निपातज्वरालीढे दत्तं पथ्यमिवौषधम् ॥२६

मानता हो, स्त्री माता पितादि कुटुम्बी जन मेरे अनर्थकारी हैं, पंच परमेष्ठी ही मेरे उपकारी हैं, ऐसा जो जानता हो, जो घरके सभी कार्योंको पर-कार्य देखता हो, धर्मके कर्मोंको जो सदा निज कार्य मानता हो, शुद्ध बुद्धि हो, जो यौवन, जीवन, गृह और लोक-मान्य ऐश्वर्यको निरन्तर शरद् ऋतुके बादलके समान विनश्वर देखता हो, जो इस भववनमें सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्ररूप रत्नत्रयका पाना समुद्रमें गिरे हुए रत्नके समान अति दुर्लभ जानता हो, जिसे जिनेन्द्रदेवके मुख-कमलके अवलोकन करनेपर ऐसा परम सन्तोष प्राप्त होता हो, जैसा कि मयूरको मेघ-समूहके देखने पर, वियोगी पुरुषको बान्धवके देखनेपर, प्याससे पीड़ितको जलके देखनेपर, बन्धन-बद्ध पुरुषको बन्धन-से छूटनेपर, व्याधि-युक्त पुरुषको नीरोग होनेपर और अन्धे पुरुषको नेत्र मिलनेपर परम हर्ष होता है। जो परीषहको सहन करनेवाल हो, शान्तस्वभावी हो, जिन आगममें विशारद हो, सम्यग्दृष्टि हो, अहंकार-रहित हो, गुरुभक्त हो और प्रिय वक्ता हो, ऐसा धीर वीर पुरुष सर्व कर्मोंके विनाश करनेवाले आवश्यकोंके करनेके लिए योग्य है। जिसके उपर्युक्त गुण नहीं है, उसके आवश्यकोंके करनेकी योग्यता नहीं है, ऐसा जानना चाहिए ॥१०–२१॥ आवश्यकोंके करनेमें उद्यत पुरुष क्षेत्र-कालादिका वेत्ता हो, श्रद्धा-युक्त हो, कर्मोंकी निर्जरा करनेका इच्छुक हो, अपने मनको अपने वशमें करनेवाला हो, भक्ति-युक्त हो, बुद्धिमान् हो, धर्मार्थी हो, महान् विनयमें परायण हो, शास्त्रोंके पठन-श्रवणमें योग्य हो और विनयके साथ आवश्यक करनेमें उद्यम-संयुक्त हो, वह पुरुष आवश्यकोंके करनेके योग्य है ॥२२–२३॥ जिसके कषाय शान्त हैं, ऐसे पुरुषमें जिनेन्द्रके वचनरूप अमृत गुणके लिए होता है, जैसे कि जिसका ज्वर उपशान्त हो गया है, ऐसे पुरुषको दिया गया शुद्ध औषधि आरोग्य वृद्धिके लिए होता है। किन्तु अयोग्य पुरुषके जैन वचन अनर्थके लिए होते हैं। इसलिए मनीषी पुरुषोंको प्रयत्नके साथ आवश्यक करनेका अधिकारी योग्य व्यक्ति ढूँढ़ना चाहिए क्योंकि कषायसे आकुलित पुरुषमें जिनदेवका उपदेशरूप शासन व्यर्थ जाता है, जैसे कि सन्निपात ज्वरसे व्याप्त पुरुषको दी गई पथ्य औषधि भी व्यर्थ जाती है ॥२४–२६॥ अब आचार्य आवश्यक करनेवाले पुरुषके चिह्न कहते हैं—जिसे उत्तम धर्म कथा सुननेमें आनन्द आता हो, जो

तत्कथाश्रवणानन्दो निन्दाश्रवणवर्जनम् । अलुब्धत्वमनालस्यं निन्द्यकर्मव्यपोहनम् ॥२७
कालक्रमाव्युदासित्वमुपशान्तत्वमार्जवम् । विज्ञेयानीति चिह्नानि षडावश्यककारिणः ॥२८
सामायिकं स्तवः प्राज्ञैर्वन्दना सप्रतिक्रिया । प्रत्याख्यानं तनूत्सर्गः षोढाऽऽवश्यकमीरितम् ॥२९
द्रव्यतः क्षेत्रतः सम्यक्कालतो भावतो बुधैः । नामतो न्यासतो ज्ञात्वा प्रत्येकं तन्नियुज्यते ॥३०
जीविते मरणे योगे वियोगे विप्रिये प्रिये । शत्रौ मित्रे सुखे दुःखे साम्यं सामायिकं विदुः ॥३१
जिनानां जितजेयानामनन्तगुणभागिनाम् । स्तवेऽस्तावि गुणस्तोत्रं नामनिर्वचनं तथा ॥३२
कर्मारण्यहुताशानां पञ्चानां परमेष्ठिनाम् । प्रणतिर्वन्दनाऽवादि त्रिशुद्धया त्रिविधा बुधैः ॥३३
द्रव्यक्षेत्रादिसम्पन्नदोषजालविशोधनम् । निन्दागर्हाक्रियालीढं प्रतिक्रमणमुच्यते ॥३४
नामादीनामयोग्यानां षण्णां त्रेधा विवर्जनम् । प्रत्याख्यानं समाख्यातमागाम्यागोनिषिद्धये ॥३५
आवश्यकेषु सर्वेषु यथाकालमनाकुलः । कायोत्सर्गस्तनूत्सर्गः प्रशस्तध्यानवर्द्धकः ॥३६
ज्ञेयास्तत्रासनं स्थानं कालो मुद्रा तनूत्सृतिः । नामावर्तप्रमा दोषाः षडावश्यककारिभिः ॥३७
अस्यते स्थीयते यत्र येन वा वन्दनोद्यतैः । तदासनं विबोद्धव्यं देशपद्मासनादिकम् ॥३८
संसक्तः प्रचुरच्छिद्रस्तृणपांश्वादिदूषितः । विक्षोभको हृषीकाणां रूपगन्धरसादिभिः ॥३९

दूसरोंकी निन्दाके सुननेका त्यागी हो, लोभ-रहित हो, आलस्य-रहित हो, निन्दा कर्म न करता हो, काल-क्रमका उल्लंघन करनेवाला न हो, उपशान्त चित्त हो और मार्दवगुणका धारक हो ये षट् आवश्यक करनेवालेके चिह्न जानना चाहिए ॥२७-२८॥

ज्ञानी पुरुषोंने आवश्यक छह प्रकारके कहे हैं—सामायिक, स्तवन, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग ॥२॥ ये छहों ही प्रकारके आवश्यक नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव की अपेक्षा छह-छह प्रकारके जानकर ज्ञानियोंको करना चाहिए ॥२९-३०॥ १ सामायिक का स्वरूप—जीवनमें, मरणमें, संयोगमें, वियोगमें, प्रियमें, अप्रियमें, शत्रुमें, मित्रमें, सुखमें और दुःखमें समता रखनेको सामायिक कहते हैं ॥३१॥ २ स्तवनका स्वरूप—जिन्होंने जीतने योग्य कर्मोंको जीत लिया है ऐसे अनन्त गुणशाली जिनेन्द्रदेवोंके गुणोंकी स्तुति करना, तथा उनके नामोंकी निरुक्ति करना स्तवन कहलाता है ॥३२॥ ३ वन्दनाका स्वरूप—कर्म रूपवनको जलानेके लिये अग्नि समान पांचों परमेष्ठियोंको मन वचन कायकी शुद्धिसे नमस्कार करनेको ज्ञानियोंने तीन प्रकारकी वन्दना कहा है ॥३३॥ ४ प्रतिक्रमणका स्वरूप—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदिके निमित्तसे उत्पन्न हुए दोषोंके पुंजकी शुद्धि करना, निन्दा और गर्हारूप क्रियाके साथ अपनी आलोचना करना सो प्रतिक्रमण कहा गया है ॥३४॥ ५ प्रत्याख्यानका स्वरूप—धर्म साधनके अयोग्य नामादिक अर्थात् नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन छहोंका मन वचन कायसे त्याग करना प्रत्याख्यान कहा गया है। यह प्रत्याख्यान आगामी कालमें पापोंके निषेधके लिए करना आवश्यक है ॥३५॥ ६ कायोत्सर्गका स्वरूप—सभी आवश्यक कर्मोंमें यथा समय आकुलता-रहित होकर शरीरसे ममत्वका त्याग करना कायोत्सर्ग कहलाता है। यह आवश्यक प्रशस्तध्यानका वढ़ाने वाला है ॥३६॥ उपर्युक्त छह आवश्यक करनेवालोंको उनके योग्य आसन, स्थान, काल, मुद्रा, कायोत्सर्ग, प्रणाम, आवर्त और प्रमाण दोष जानना चाहिए ॥३७॥

इनमेंसे सबसे पहले आसनका वर्णन करते हैं—वन्दना करनेके लिए उद्यत पुरुष जिस स्थानपर या जिसके द्वारा 'आस्यते' अर्थात् स्थिर होते हैं, वह देश (क्षेत्र) और पद्मासनादिक आसन जानना चाहिए ॥३८॥ अब आवश्यक करनेके अयोग्य क्षेत्रको कहते हैं—जो स्थान स्त्री-

परीषहकरो दंशशीतवातातपादिभिः । असम्बद्धजनालापः सावद्यारम्भगर्हितः ॥४०
आर्द्रीभूतो मनोऽनिष्टः समाधाननिषूदकः । योऽशिष्टजनसञ्चारः प्रदेशं तं विवर्जयेत् ॥४१
विविक्तः प्रासुकः सेव्यः समाधानविवर्धकः । देवर्जुदृष्टिसम्पातवर्जितो देवदक्षिणः ॥४२
जनसञ्चारनिर्मुक्तो ग्राह्यो देशो निराकुलः । नासन्नो नातिदूरस्थः सर्वोपद्रववर्जितः ॥४३
स्थेयोऽच्छिद्रं सुखस्पर्शं विशब्दकमजन्तुकम् । तृणकाष्ठादिकं ग्राह्यं विनयस्योपबृंहकम् ॥४४
जङ्घाया जङ्घयाऽऽश्लेषे मध्यभागे प्रकीर्तितम् । पद्मासनं सुखाधायि सुसाध्यं सकलैर्जनैः ॥४५
बुधैरुपर्यधोभागे जंघयोरुभयोरपि । समस्तयोः कृते ज्ञेयं पर्यङ्कासनमासनम् ॥४६
ऊर्वोरुपरि निक्षेपे पादयोर्विहिते सति । वीरासनं चिरं कर्तुं शक्यं धीरैर्न कातरैः ॥४७
युतपार्ष्णिभवे योगे स्मृतमुत्कुटुकासनम् । गवासनं जिनैरुक्तमार्याणां यतिवन्दने ॥४८
विनयासक्तचित्तानां कृतिकर्मविधायिनाम् । न कार्यव्यतिरेकेण परमासनमिष्यते ॥४९

पुरुष-नपुंसकादिसे संसक्त हो, जिस भूमि पर छेद या विल अधिक हो, जो तृण धूलि आदिसे दूषित हो, रूप रस गन्ध आदिके द्वारा जो इन्द्रियोंके विक्षोभको करे, डांस, मच्छर, शीत, उष्णता और पवनादिके द्वारा परीषह उत्पन्न करे, अज्ञानी जनोंके असंबद्ध वचनालाप से युक्त हो, सावद्य और आरम्भसे निन्दा-योग्य हो, पानीसे या सीलनसे गीला हो, मनको अप्रिय या अनिष्टकारी हो, चित्तके समाधानका विनाशक हो और जहाँ पर अशिष्ट जनोंका संचार हो, ऐसे आवश्यकोंके अयोग्य प्रदेशको छोड़ देना चाहिए ॥३९-४१॥ अव आवश्यक करनेके योग्य क्षेत्रको कहते हैं—जहाँ पर सर्वथा एकान्त हो, प्रासुक भूमि हो, साधर्मी व्रतीजनोंके सेवन योग्य हो, चित्तमें समाधान वढ़ाने वाला हो, देवकी सीधी दृष्टिके संपात रहित हो, देवके दक्षिण भागमें हो, जन-संचारसे निर्मुक्त हो, आकुलता रहित हो, न अधिक समीप हो और न अधिक दूर हो और सर्व प्रकारके उपद्रवसे रहित हो। ऐसा स्थान आवश्यक करनेके लिए ग्रहण करनेके योग्य है ॥४२-४३॥ आवश्यक करने-वाला जिस भूमि, काष्ठपट्ट या चटाई आदि पर वैठे वह स्थिर हो, छिद्र-रहित हो, सुख स्पर्शरूप हो, शब्द-रहित हो, जीव-रहित हो, विनयका वढ़ाने वाला हो, ऐसे तृण, काठ, चटाई आदिको आवश्यक करनेके लिए ग्रहण योग्य कहा गया है ॥४४॥ अव सामायिक आदि आवश्यक करनेके योग्य आसनका निरूपण करते हैं—जंघाका जंघाके साथ समभागमें आश्लेषपूर्वक वैठनेको पद्मासन कहा गया है। यह सर्व जनोंके द्वारा सुसाध्य है और सुखदायक है, अतः इसे सुखासन भी कहते हैं ॥४५॥ भावार्थ—दायिनी जाँघके नीचे वायें पैरको, तथा वायीं जाँघके नीचे दाहिने पैरको रखकर वैठना पद्मासन या सुखासन है। दोनों ही जंघाओंमेंसे एक जाँघके आधे भागमें और दूसरी जाँघके ऊर्ध्व भागमें करने पर बुधजनोंको पर्यंकासन नामका आसन जानना चाहिए। अर्थात् वायीं जाँघके ऊपर दायें पैरको, अथवा दाहिनी जाँघके ऊपर वायें पैरको रखकर वैठना पर्यंकासन है ॥४६॥

दोनों जांघोंके ऊपर दोनों पैरोंको रखकर वैठनेको वीरासन कहते हैं। यह वीरासन चिर काल तक वीर पुरुष ही मांड सकते हैं, कायर पुरुष नहीं मांड सकते हैं ॥४७॥ दोनों एड़ियोंको मिलाकर उकड़ू वैठनेको उत्कुटुकासन कहते हैं। गायके समान वैठनेको गवासन कहते हैं। साधुओंकी वन्दनाके समय आर्यिकाओंको गवासनसे वन्दना करनेका विधान जिनेन्द्रदेवने किया है ॥४८॥ विनयमें जिनका चित्त आसक्त है, ऐसे कृतिकर्म करने वाले पुरुषोंको आवश्यक कार्योंके विना अन्य आसन करना नहीं कहा गया है। अर्थात् सामायिक आदिके समय पद्मासन आदिका

स्थीयते येन तत्स्थानं द्विप्रकारमुदाहृतम् । वन्दना क्रियते यस्मादूर्ध्वीभूयोपविश्य वा ॥५०
घटिकानां मतं षट्कं सन्ध्यानां त्रितयं जिनैः । कार्यस्यापेक्षया कालः पुनरन्यो निगद्यते ॥५१
जिनेन्द्रवन्दनायोगमुक्ताशुक्तिविभेदतः । चतुर्विधोदिता मुद्रा मुद्रामार्गविशारदैः ॥५२
जिनमुद्राऽन्तरं कृत्वा पादयोश्चतुरंगुलम् । ऊर्ध्वं जान्वोरधः स्थानं प्रलम्बितभुजद्वयम् ॥५३
मुकुलीभूतमाधाय जठरोपरिकूर्परम् । स्थितस्य वन्दनामुद्रा करद्वन्द्वं निवेदिता ॥५४
जिनाः पद्मासनादीनामङ्कमध्ये निवेशनम् । उत्तानकरयुग्मस्य योगमुद्रां बभाषिरे ॥५५
मुक्ताशुक्तिर्मता मुद्रा जठरोपरिकूर्परम् । ऊर्ध्वजानोः करद्वन्द्वं संलग्नाङ्गुलि सूरिभिः ॥५६
त्यागो देहममत्वस्य तनूत्सृतिरुदाहृता । उपविष्टोपविष्टादिविभेदेन चतुर्विधा ॥५७
आर्तरौद्रद्वयं यस्यामुपविष्टेन चिन्त्यते । उपविष्टोपविष्टाख्या कथ्यते सा तनूत्सृतिः ॥५८
धर्मशुक्लद्वयं यस्यामुपविष्टेन चिन्त्यते । उपविष्टोत्थितां सन्तस्तां वदन्ति तनूत्सृतिम् ॥५९
आर्तरौद्रद्वयं यस्यामुत्थितेन विधीयते । उत्थितोपविशत्सञ्ज्ञां तां भाषन्ते विपश्चितः ॥६०
धर्मशुक्लद्वयं यस्यामुत्थितेन विचिन्त्यते । उत्थितोत्थितनामानं तां वदन्ति मनीषिणः ॥६१

उपयोग करे और आवश्यकता होने पर अन्यका भी उपयोग करे ॥४९॥ अब आचार्य स्थानका वर्णन करते हैं—सामायिकादि आवश्यक करते समय जिस प्रकारसे अवस्थित रहे, उसे स्थान कहते हैं। वह दो प्रकारका कहा गया है, क्योंकि वन्दना या तो खड़े हो करके की जाती है, अथवा बैठकर की जाती है ॥५०॥ अब सामायिकादिके कालको कहते हैं—जिनेन्द्रदेवने तीनों ही सन्ध्याओंमें आवश्यक करनेका काल छह घड़ी कहा है। किन्तु कार्यकी अपेक्षा अन्य काल भी कहा है। भावार्थ—सामायिकादि आवश्यक तीनों सन्ध्याओंमें किये जाते हैं और उनका उत्कृष्ट काल छह घड़ी है। शक्तिके अभावमें, अथवा अन्य आवश्यक कार्यके आ जाने पर चार घड़ीका मध्यमकाल और दो घड़ीका जघन्यकाल भी कहा गया है ॥५१॥ अब आचार्य मुद्राके भेद कहते हैं—जिनेन्द्र मुद्रा, वन्दनामुद्रा, योगमुद्रा और मुक्ताशुक्तिमुद्राके भेदसे मुद्रा मार्गके विशारदोंने चार प्रकारकी मुद्रा कहा है ॥५२॥

अब आगे मुद्राओंका स्वरूप कहते हैं—दोनों पैरोंमें चार अंगुल प्रमाण अन्तर रखकर और दोनों भुजाओंको नीचे लटका कर सीधी जंघाएँ रखते हुए कायोत्सर्गरूपसे खड़े होनेको जिनमुद्रा कहते हैं ॥५३॥ दोनों हाथोंको मुकुलित कर और उनकी कोहिनियोंको पेटके ऊपर रख कर खड़े हुए पुरुषके वन्दना मुद्रा कही गई है ॥५४॥ पद्मासन, पर्यंकासन और वीरासनसे बैठनेके समय आसनोंकी गोदमें नाभिके समीप दोनों हाथोंकी हथेलियोंको चित्त रखनेको जिनेन्द्रदेव योगमुद्रा कहते हैं ॥५५॥ दोनों हाथोंकी अँगुलियोंको मिला कर और दोनों कुहनियोंको पेट पर रखकर खड़े हुए पुरुषके आचार्योंने मुक्ताशुक्तिमुद्रा कहा है ॥५६॥ अब कायोत्सर्गका वर्णन करते हैं—शरीर-से ममत्व भावके त्यागको कायोत्सर्ग कहा गया है। वह उपविष्टोपविष्ट आदिके भेदसे चार प्रकार का है ॥५७॥ जिस कायोत्सर्गमें आर्त्त और रौद्र ये दोनों अप्रशस्त ध्यान बैठ करके चिन्तवन किये जाते हैं, वह उपविष्टोपविष्ट नामका कायोत्सर्ग कहा जाता है ॥५८॥ जिस कायोत्सर्गमें बैठकर धर्म और शुक्ल ये दो प्रशस्त ध्यान चिन्तवन किये जाते हैं, उसे सन्त पुरुष उपविष्टोत्थित कायोत्सर्ग कहते हैं ॥५९॥ जिस कायोत्सर्गमें आर्त्त और रौद्र ये दो अप्रशस्त ध्यान खड़े होकर चिन्तवन किये जाते हैं, उसे महाबुद्धिशाली पुरुष उत्थितोपविष्टनामका कायोत्सर्ग कहते हैं ॥६०॥ जिस कायोत्सर्गमें धर्म और शुक्ल ये दो प्रशस्त ध्यान खड़े हो करके चिन्तवन किये जाते हैं, उसे

एकद्वित्रिचतुःपञ्चदेहांशप्रणतेर्मतः । प्रणामः पञ्चधा देवैः पादानतनरामरैः ।।६२
एकाङ्गः शिरसो नामे स द्वयङ्गः करयोर्द्वयोः । त्रयाणां मूर्द्धहस्तानां स त्र्यङ्गो नमने मतः ।।६३
चतुर्णां करजानूनां नमने चातुरंगकः । करमस्तकजानूनां पञ्चाङ्गः पञ्चके नते ।।६४
कथिता द्वादशावर्ता वपुर्वचनचेतसाम् । स्तवसामायिकाद्यन्तपरावर्तनलक्षणः ।।६५
अष्टाविंशतिसंख्यानाः कायोत्सर्गा मता जिनैः । अहोरात्रगताः सर्वे षडावश्यककारिणाम् ।।६६
स्वाध्याये द्वादश प्राज्ञैर्वन्दनायां षडीरिताः । अष्टौ प्रतिक्रमे योगभक्तौ तौ द्वावुदाहृतौ ।।६७
अष्टोत्तरशतोच्छ्वासः कायोत्सर्गः प्रतिक्रमे । सान्ध्ये प्राभातिके चार्धमन्यस्तत्सप्तविंशतिः ।।६८

विद्वज्जन उत्थितोत्थित नामका कायोत्सर्ग कहते हैं ।।६१।। अब प्रणामका वर्णन करते हैं—जिनके चरणोंमें मनुष्य और देवगण नमस्कार करते हैं ऐसे जिनेन्द्रदेवोंने एक दो तीन चार और पाँच अंगोंके नमनसे प्रणाम पाँच प्रकारका कहा है ।।६२।। एक शिरके नमानेको एकाङ्ग नमस्कार कहते हैं । दोनों हाथोंको जोड़कर नमस्कार करनेको द्वयाङ्ग नमस्कार कहते हैं । एक शिर और दोनों हाथोंको जोड़कर नमन करनेको त्रयाङ्ग नमस्कार माना गया है । दोनों हाथों और दोनों जाँघोंको नमा करके नमस्कार करनेपर चतुरङ्ग नमस्कार होता है । तथा दोनों हाथ, दोनों जाँघें और मस्तक इन पाँचों अंगोंको नमा करके नमस्कार करनेपर पञ्चाङ्ग नमस्कार कहा गया है ।।६३-६४।। अब आवर्त्तका वर्णन करते हैं—स्तवन और सामायिकके आदिमें और अन्तमें काय, वचन और मनरूप तीन योगोंके परिवर्तन स्वरूप बारह आवर्त्त कहे गये हैं ।।६५।।

विशेषार्थ—मन वचन कायके परिवर्तन करनेको आवर्त्त कहते हैं । तीनों योगोंका परिवर्तन चार बार किया जाता है, अतः (३ × ४ = १२) बारह आवर्त्त हो जाते हैं । जैसे 'णमो अरहंताणं' इत्यादि सामायिक दण्डकके पहले क्रिया विज्ञापनरूप मनोविकल्प होता है, उस मनोविकल्पको छोड़कर सामायिक दण्डकके उच्चारणमें मनको लगाना मनःपरावर्तन है । उसी सामायिक दण्डकके पूर्व भूमि स्पर्श करते हुए नमस्कार किया जाता है, उस समय वन्दनामुद्रा की जाती है, उस वन्दनामुद्राको त्यागकर पुनः खड़े होकर मुक्ता-शुक्ति मुद्रारूप दोनों हाथोंको करके तीन बार घुमाना सो काय-परावर्तन है । 'चैत्यभक्तिकायोत्सर्गं करोमि' इत्यादि पाठको छोड़कर 'णमो अरहंताणं' इत्यादि पाठका उच्चारण करना वाक्परावर्तन है । इस प्रकार सामायिक दण्डकके आदिमें मन वचन और काय परावर्तनरूप तीन आवर्त होते हैं । इसी प्रकार सामायिक दण्डकके अन्तमें भी तीन आवर्त होते हैं । इस प्रकार सामायिक दण्डकके आदि अन्तके छह आवर्त और स्तव दण्डकके आदि अन्तके छह आवर्त होते हैं । दोनोंके मिलाकर बारह आवर्त हो जाते हैं । ये बारह आवर्त एक कायोत्सर्गमें होते हैं । कुछ लोग बारह आवर्तोंका इस प्रकार कथन करते हैं—सामायिक करनेके पूर्व मन वचन कायकी शुद्धि स्वरूप तीन बार हस्त-सम्पुटको घुमाकर नमस्कार करनेको एक दिशा सम्बन्धी तीन आवर्त कहते हैं । इस प्रकार चारों दिशाओंके बारह आवर्त हो जाते हैं । अब कायोत्सर्गकी संख्या और उनके करनेका विचार करते हैं—छहों आवश्यक करनेवालोंके दिन और रात्रि सम्बन्धी सर्व कायोत्सर्ग जिनदेवोंने अट्ठाईस कहे हैं ।।६६।। यथा-स्वाध्याय करनेमें बारह, और वन्दनामें छह कायोत्सर्ग ज्ञानियोंने कहे हैं । प्रतिक्रमण करते समय आठ और योगभक्ति करते समय दो कायोत्सर्ग कहे गये हैं ।।६७।। अब विभिन्न समयोंमें किये जानेवाले कायोत्सर्गोंका काल-प्रमाण बतलाते हैं—सन्ध्या अर्थात् सायंकाल-सम्बन्धी प्रतिक्रमण करते समय एकसौ आठ श्वासोच्छ्वासवाला कायोत्सर्ग किया जाता है । प्रभातकाल-सम्बन्धी प्रतिक्रमणमें उससे आधा

सप्तविंशतिरुच्छ्वासाः संसारोन्मूलनक्षमे । सन्ति पञ्चनमस्कारे नवधा चिन्तिते सति ॥६९
प्रतिक्रमद्वयं प्राज्ञैः स्वाध्यायानां चतुष्टयम् । वन्दनात्रितयं योगभक्तिद्वितयमिष्यते ॥७०
उत्कृष्टश्रावकेणैते विधातव्याः प्रयत्नतः । अन्यैरेते यथाशक्ति संसारान्तं यियासुभिः ॥७१
इच्छाकारं समाचारं संयमासंयमस्थितः । विशुद्धवृत्तिभिः सार्धं विदधाति प्रियंवदः ॥७२
वैराग्यस्य परां भूमिं संयमस्य निकेतनम् । उत्कृष्टः कारयत्येष मुण्डनं तुण्डमुण्डयोः ॥७३
केवलं वा सवस्त्रं वा कौपीनं स्वीकरोत्यसौ । एकस्थानान्नपानीयो निन्दागर्हापरायणः ॥७४
स धर्मलाभशब्देन प्रतिवेश्म सुधोपमाम् । सपात्रो याचते भिक्षां जरामरणसूदनीम् ॥७५
समस्तादरनिर्मुक्तो मदाष्टकवशीकृतः । प्रतीक्ष्यपीडनाकारी कूर्चमूर्द्धजकुंचकः ॥७६

अर्थात् चौपन श्वासोच्छ्वासवाला कायोत्सर्ग कहा गया है। अन्य सर्व कायोत्सर्ग सत्ताईस श्वासोच्छ्वास-काल प्रमाण कहे गये हैं ॥६८॥ संसारके उन्मूलनमें समर्थ पंचनमस्कार मंत्रके नौ वार चिन्तवन करनेपर सत्ताईस श्वासोच्छ्वास माने जाते हैं ॥६९॥ विशेषार्थ—एक बार नमस्कारमंत्रको तीन श्वासोच्छ्वासोंमें बोलना या मनमें उच्चारण करना चाहिए। बाहरसे भीतरकी ओर वायुके खींचनेको श्वास कहते हैं। भीतरकी ओर से बाहर वायुके निकालनेको उच्छ्वास कहते हैं। इन दोनोंके समूहको श्वासोच्छ्वास कहते हैं। श्वास लेते समय 'णमो अरहंताणं' पद और श्वास छोड़ते समय 'णमो सिद्धाणं' पद बोले। पुनः श्वास लेते समय 'णमो आयरीयाणं' और श्वास छोड़ते समय 'णमो उवज्झायाणं' पद बोले। पुनः पंचम पदके आधे भागको श्वास लेते समय और शेष आधे भागको श्वास छोड़ते समय बोले। अर्थात् 'णमो लोए' श्वास लेते समय और 'सव्वसाहूणं' श्वास छोड़ते सयय बोलना चाहिए। इस प्रकार एक पंचनमस्कार मंत्रका उच्चारण तीन श्वासोच्छ्वासमें करना चाहिए। इस विधिसे नौ बार णमोकारमंत्रके उच्चारणके चिन्तवनमें सत्ताईस श्वासोच्छ्वास प्रमाण कालका एक जघन्य कायोत्सर्ग होता है। मध्यम कायोत्सर्गका काल चौपन श्वासोच्छ्वास प्रमाण और उत्कृष्ट कायोत्सर्गका काल एक सौ आठ श्वासोच्छ्वास प्रमाण कहा गया है। श्रावकोंको प्रतिदिन दो बार प्रतिक्रमण, चार बार स्वाध्याय, तीन बार वन्दना और दो बार योगभक्ति करना चाहिए, ऐसा ज्ञानियोंने कहा है ॥७०॥ उत्कृष्ट श्रावकको ये सर्व कार्य प्रयत्न पूर्वक करना चाहिए। और संसारके पार जानेके इच्छुक अन्य पुरुषोंको उन्हें यथा शक्ति करना चाहिए ॥७१॥

संयमासंयम (देश चारित्र) की स्थितिवाले प्रियभाषी श्रावक विशुद्ध वृत्तिवाले श्रावकोंके साथ इच्छाकार समाचारको करते हैं ॥७२॥ ग्यारहवीं प्रतिमाधारक उत्कृष्ट श्रावक वैराग्यकी परम भूमिरूप, तथा संयमके गृहस्वरूप शिर और दाढ़ीके मुंडनको कराता है ॥७३॥ वह केवल कौपीन (लंगोटी) अथवा वस्त्र-सहित कौपीनको स्वीकार करता है। अर्थात् ऐलक एक कौपीन रखते हैं और क्षुल्लक कौपीन और एक वस्त्र रखते हैं। ये उत्कृष्ट श्रावक एक स्थान पर ही अन्न-पानको ग्रहण करते हैं और अपनी निन्दा और गर्हामें तत्पर रहते हैं ॥७४॥ वे पात्र-(भाजन) सहित श्रावकके प्रति घर जाकर अमृतके समान जरा-मरणका नाश करनेवाली भिक्षाको 'धर्म लाभ हो', ऐसा कहकर याचना करते हैं ॥७५॥ यहाँ इतना विशेष ज्ञातव्य है कि ऐलक न तो भोजन-पात्र ही रखते हैं और न घर-घर जाकर भिक्षा-याचना ही करते हैं। श्लोक-कथित विधि क्षुल्लकके लिए है। अब वन्दनाके बत्तीस दोषोंका वर्णन करते हैं—समस्त प्रकारके आदरसे रहित होकर वन्दना करना अनादरदोष है १। जातिकुलादि आठ मदोंमेंसे किसी भी मदके वशीभूत

चलयन्नखिलं कायं दोलारूढ़ इवाभितः। अग्रतः पार्श्वतः पश्चाद्रिङ्खन् कूर्म इवाभितः ॥७७
करटीवांकुशारूढः कुर्वन्मूर्द्धनतोन्नतिम्। क्षिप्रं मत्स्य इवोत्पत्य[1] परेषां निपतन् पुरः ॥७८
कुर्वन् वक्षोभुजद्वन्द्वं विज्ञप्तिं द्राविडीमिव। पूज्यात्मासादनाकारी गुर्वादिजनभीपितः ॥७९
भयसप्तकवित्रस्तः परिवारर्द्धिगर्वितः। समाजतो बहिर्भूय किञ्चिल्लज्जाकुलाशयः ॥८०॥
प्रतिकूलो गुरोर्भूत्वा कुर्वाणो जल्पनादिकम्। कस्यचिदुपरि क्रुद्धस्तस्याःकृत्वा क्षमां त्रिधा ॥८१
ज्ञास्यते वन्दनां कृत्वा भ्रमयंस्तर्जनीमिति। हसनोद्घट्टने कुर्वन् भ्रुकुटीकुटिलालकः ॥८२
निकटीभूय गुर्वादेराचार्यादिनिरीक्षितः। करदानं गणैर्मत्वा हृत्वा दृष्टिपथं गुरोः ॥८३
लब्ध्वोपकरणादीनि तेषां लाभाशयाऽपि च। असम्पूर्णविधानेन सूत्रोदितपिधायकम् ॥८४
कुर्वन्मूक इवात्यर्थं हुंकारादिपुरस्सरम्। वन्दारूणां स्वशब्देन परेषां छादयन् ध्वनिम् ॥८५

होकर वन्दना करना स्तब्ध दोष हैं २। वन्दनीय जनको देखकर अंगोंके दाबनेको पीडित दोष कहते हैं ३। वन्दनाके समय शिर मूँछ-दाढीके केशोंको मरोड़ना कुंचित दोप है ४। वन्दनाके समय झूलामें बैठे हुएके समान सर्व ओरसे सारे शरीरको चलाना दोलायित दोष है ५। कछुएके समान आगेसे, पीछेसे, बाजूसे—चारों ओरसे अंगोंका संकोच-विस्तार करना कच्छप-रिंगित दोष है ६। हाथके अंगूठेको मस्तक पर अंकुशके समान रखकर हाथीके समान शिरको ऊँचा-नीचा करना अंकुशित दोष है ७। मच्छके समान शीघ्र उछलकर दूसरे वन्दना करनेवालोंके आगे पड़ना अथवा मछलीके समान तड़फड़ाते हुए वन्दना करना मत्स्योद्वर्तन दोष है ८। द्रविड़ देशके पुरुषकी विनतीके समान वक्षस्थल पर दोनों हाथोंको करके वन्दना करना द्राविडी विज्ञप्ति दोष है ९। पूज्य पुरुषोंकी अवज्ञा करते हुए वन्दना करना आसादना दोष है १०। गुरु आदिके भयसे वन्दना करना विभीत दोष है ११। इहलोक भय परलोकभय आदि सात भयोंसे डरते हुए वन्दना करना भय दोष है १२। अपने कुटुम्ब-परिवारकी ऋद्धिके गर्वसे युक्त होकर वन्दना करना ऋद्धि गौरव दोष है १३। साधर्मी समाजसे बाहर होकर कुछ लज्जाकुलित चित्त होकर वन्दना करना लज्जित दोष है १४। गुरुके प्रतिकूल होकर वन्दना करना प्रतिकूल दोप है १५। वचनालाप करते हुए वन्दना करना शब्ददोष है १६। किसीके ऊपर क्रोधित होकर तथा उससे मन वचन काय द्वारा क्षमा न माँग कर वन्दना प्रदुष्ट दोष है १७। कोई जान ले कि मैंने वन्दना की है इस अभिप्रायसे तर्जनीको घुमाते हुए वन्दना करना मनोदुष्ट दोष है १८। हँसते और अंगोंको घिसते हुए वन्दना करना हसनोद्घट्टन दोष है १९। भृकुटीको टेढ़ी करते हुए वन्दना करना भृकुटी कुटिलदोष है २०। गुरु आदिके अति निकट जाकर वन्दना करना प्रविष्ट दोष है २१। आचार्य आदिकके द्वारा देखने पर तो सम्यक् प्रकारसे वन्दना करना, अन्यथा यद्वा तद्वा वन्दना करना दृष्ट दोष है २२। संघमें कर-दान मानकर वन्दना करना करमोचन दोप है २३। गुरुकी दृष्टि बचाकर वन्दना करना अदृष्ट दोष है २४। उपकरण आदि प्राप्तकर वन्दना करना आलब्ध दोष है २५। उपकरण आदिके पानेकी इच्छासे वन्दना करना अनालब्ध दोष है २६। काल, शब्द आदिकी पूरी विधि न करके अधूरी वन्दना करना हीन दोष है २७। सूत्र-कथित अर्थको ढककर वन्दना करना पिधायक दोष है २८। गूँगेके समान अत्यधिक हुंकारादि करते हुए वन्दना करना मूकदोष है २९। अन्य वन्दना करनेवालोंके शब्दको अपने उच्चस्वरसे बोले गये शब्दोंसे ढकते हुए वन्दना करना दर्दुरदोष है ३०। गुरु आदिके बिलकुल आगे खड़े होकर वन्दना करना अग्रदोष है

१. मु० 'इवोल्लुत्य' पाठः

गुर्वादिरग्रतो भूत्वा सूर्धोपरिकरभ्रमी । द्वात्रिंशदिति मोक्तव्या दोषा वन्दनकारिणाम् ॥८६
क्रियमाणा प्रयत्नेन क्षिप्रं कृषिरिवेप्सितम् । निराकृतमला दत्ते वन्दना फलमुल्बणम् ॥८७
स्तब्धीकृतैकपादस्य स्थानमश्वपतेरिव । चलनं वातधूताया लताया इव सर्वतः ॥८८
श्रयणं स्तम्भकुड्यादेः पट्टिकाद्युपरि स्थितिः । मालमालम्बनं कृत्वा शिरसाऽवस्थितिः कृता ॥८९
निगडेनेव बद्धस्य विकटाङ्घ्रे रवस्थितिः । कराभ्यां जघनाच्छादः किरातयुवतेरिव ॥९०
शिरसो नमनं कृत्वा विधायोन्नमनं स्थितिः । उन्नमय्य स्थितिर्वक्षः शिशोर्धात्र्या इव स्तनम् ॥९१
काकस्येव चलाक्षस्य सर्वतः पार्श्ववीक्षणम् । ऊर्ध्वाधःकम्पनं मूर्ध्नः खलीनार्तहरेरिव ॥९२
स्कन्धारूढगजस्येव कृतग्रीवानतोन्नती । सकपित्थकरस्येव मुष्टिबन्धनकारिणः ॥९३
कुर्वतः शिरसः कम्पं मूकसञ्ज्ञाविधायिनः । अङ्गुलीगणनादीनि भ्रूनृत्यादिविकल्पनम् ॥९४
मदिराकुलितस्येव घूर्णनं दिगवेक्षणम् । ग्रीवोर्ध्वनयनं भूरि ग्रीवाधोनयनादिकम् ॥९५

३१। वन्दना करते हुए अन्त भागको जल्दी-जल्दी बोलकर, या क्रम भूल जाने पर मध्यके भागको छोड़कर अन्तिम भागको बोलते हुए वन्दना करना उत्तरचूलिक दोष है ३२। वन्दना करनेवालोंको ये बत्तीस दोष छोड़ना चाहिए। क्योंकि प्रयत्न पूर्वक दोषरहित की गई वन्दना खेतीके समान शीघ्र ही अभीष्ट उत्तम फलको देती है ॥७६-८७॥

अब कायोत्सर्गके बत्तीस दोष कहते हैं—घोड़ेके समान एक पाँव उठाकर कायोत्सर्ग करना घोटक दोष है १। वायुसे कम्पित लताके समान शरीरके ऊपरी भागको सर्व ओर घुमाते हुए कायोत्सर्ग करना लता दोष है २। स्तम्भ भित्ति आदिका आश्रय लेकर कायोत्सर्ग करना स्तम्भकुड्य दोष है ३। पाटे आदिके ऊपर खड़े होकर कायोत्सर्ग करना पट्टिकादोष है ४। शिरसे मालाका आलंबन लेकर खड़े रहना मालादोष है ५। बेड़ीसे बंधे हुए पुरुषके समान टेढ़े पैर रखकर कायोत्सर्ग करना निगडदोष है ६। दोनों हाथोंसे भीलनीके समान जघन भागको ढंककर खड़े हो कायोत्सर्ग करना किरात युवति दोष है ७। शिरको बहुत नीचे झुकाकर कायोत्सर्ग करना शिरोनमन दोष है ८। शिरको बहुत ऊँचा उठा कर कायोत्सर्ग करना उन्नमन दोष है ९। जैसे धाय बालकको दूध पिलानेके लिए अपने स्तनको ऊँचा उठाती है, उसी प्रकार अपने वक्षःस्थल ऊँचा उठाकर कायोत्सर्ग करना धात्री दोष है १०। काकके समान चंचल नेत्रके द्वारा सर्व ओर पार्श्वभागमें देखते हुए कायोत्सर्ग करना वायस दोष है ११। खलीन (लगाम) से पीड़ित घोड़ेके समान शिरको कभी ऊँचे और कभी नीचे कँपाते हुए कायोत्सर्ग करना खलीन दोष है १२। जिसके कंधे पर महावत बैठा है, ऐसे हाथीके समान ग्रीवाको ऊँची नीची करते हुए कायोत्सर्ग करना गज दोष है। किसी किसी प्रतिमें गजके स्थान पर 'युग' पाठ पाया जाता है। तदनुसार जिसके कंधे पर रथका जूवा रखा हुआ है, उस गजके समान ग्रीवाको ऊँचे नीचे करते हुए कायोत्सर्ग करनेको युगदोष जानना चाहिए १३। हाथमें कपित्थ (कैंथा) लिये हुएके समान मुट्ठी बाँधकर कायोत्सर्ग करना कपित्थ दोष है १४। शिरको कँपाते हुए कायोत्सर्ग करना शिरःकम्पित दोष है १५। गूंगे पुरुषके समान अंगोंसे संकेत करते हुए कायोत्सर्ग करता मूकदोष है १६। अंगुली गिनते हुए कायोत्सर्ग करना अंगुलीदोष है १७। भ्रकुटी नचाते हुए कायोत्सर्ग करना भ्रूदोष है १८। मदिरा पानसे व्याकुल पुरुषके समान घूमते-झूमते हुए कायोत्सर्ग करना मदिरापायी दोष है १९। दिशाओंको देखते हुए कायोत्सर्ग करना दिगवेक्षण दोष है २०। ग्रीवाको अधिक ऊँची करके कायोत्सर्ग करना ग्रीवोर्ध्वनयन दोष है २१। ग्रीवाको अधिक नीची करके

निष्ठीवनं वपुस्पर्शः प्रपञ्चबहुला स्थितिः। सूत्रोदितविधेरूनं वयोपेक्षादिवर्जनम् ॥९६
कालापेक्षाव्यतिक्रान्तिर्व्याक्षेपासक्तचित्तता। लोभाकुलितचित्तत्त्व पापकार्योद्यमः परः ॥९७
कृत्याकृत्यविमूढत्वं द्वात्रिंशदिति सर्वथा। कायोत्सर्गविधेर्दोषास्त्याज्या निर्जरणार्थिभिः ॥९८
समाहितमनोवृत्तिः कृतद्रव्यादिशोधनः। विविक्तं स्थानमासाद्य[1] कृतेर्यापथशोधनः ॥९९
गुर्वादिवन्दनां कृत्वा पर्यङ्कासनमास्थितः। विधाय वन्दनामुद्रां सामान्योक्तनमस्कृतिः ॥१००
ऊर्ध्वः सामायिकं स्तोत्रं स मुक्ताशुक्तिमुद्रकः। पठित्वाऽऽवर्तितावर्तो विदधाति तनूत्सृतिम् ॥१०१
कृत्वा जैनेश्वरीं मुद्रां ध्यात्वा पञ्चनमस्कृतिम्। उक्त्वा तीर्थंकरस्तोत्रमुपविश्य यथोचितम् ॥१०२
चैत्यभक्तिं समुच्चार्य भूयः कृत्वा तनूत्सृतिम्। उक्त्वा पंचगुरुस्तोत्रं कृत्वा ध्यानं यथाबलम् ॥१०३
विधाय वन्दनां सूरेः कृतिकर्मपुरस्सराम्। गृहीत्वा नियमं शक्त्या विधत्ते साधुवन्दनाम् ॥१०४
आवश्यकमिदं प्रोक्तं नित्यं व्रतविधायिनाम्। नैमित्तिकं पुनः कार्यं यथागममतन्द्रितैः ॥१०५
येन केन च सम्पन्नं कालुष्यं दैवयोगतः। क्षमयित्वैव तं त्रेधा कर्त्तव्याऽवश्यकक्रिया ॥१०६

कायोत्सर्ग करना ग्रीवाधोनयन दोष है २२। कायोत्सर्ग करते समय थूकना निष्ठीवन दोष है २३। कायोत्सर्ग करते समय शरीरके अंगोंका स्पर्श करना वपुःस्पर्शनदोष है २४। छल-प्रपंचके भावोंके साथ कायोत्सर्ग करना प्रपंचबहुलदोष है २५। आगमोक्त विधिसे हीन कायोत्सर्ग करना विधिन्यून दोष है २६। अपनी आयुकी अपेक्षा न करके मात्रासे अधिक कायोत्सर्ग करना वयोपेक्षादिवर्जन दोष है २७। कायोत्सर्गके कालकी अपेक्षाका उल्लंघन कर कायोत्सर्ग करना कालापेक्षव्यतिक्रान्तिदोष है २८। मनके क्षोभ कारक कार्योंमें चित्त लगाते हुए कायोत्सर्ग करना व्याक्षेपासक्त चित्त दोष है २९। लोभसे आकुलित चित्त होकर कायोत्सर्ग करना लोभाकुलित्त दोष है ३०। पाप कार्यमें उद्यमशील होते हुए कायोत्सर्ग करना पाप कार्योद्यम दोष है ३१। कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यके ज्ञानसे रहित पुरुषका कायोत्सर्ग करना मूढदोष है ३२। कर्मनिर्जरा करनेके इच्छुक मुमुक्षु जनोंको कायोत्सर्ग विधिके ये बत्तीस दोष सर्वथा त्यागने योग्य हैं ॥८८–९८॥

जिसकी चित्तवृत्ति समाधानको प्राप्त है और जिसने द्रव्य क्षेत्रादिकी भली-भाँतिसे शुद्धि की है, ऐसा श्रावक एकान्त स्थानको प्राप्त होकर और ईर्यापथ शुद्धि करके गुरु आदिकी वन्दना करके पर्यंकासनसे बैठकर वन्दनामुद्रा करके सामान्य रीतिसे नमस्कारमंत्र पढ़ पंच परमेष्ठियोंको नमस्कार करे। पुनः खड़ा होकर सामायिकस्तोत्र पढ़कर मुद्राशुक्तिमुद्रा धारण करके आवर्त्त क्रिया कर कायोत्सर्ग करे। पुनः जैनेश्वरी मुद्रा धारण कर पंचनमस्कारमंत्रका ध्यानकर और तीर्थङ्करस्तोत्रको पढ़कर यथोचित आसनसे बैठकर, चैत्यभक्तिका उच्चारण कर पुनः कायोत्सर्ग करके और फिर भी कायोत्सर्ग करके पंचपरमेष्ठिस्तोत्र पढ़कर और अपने बलके अनुसार ध्यान करके कृतिकर्म पूर्वक आचार्यकी वन्दना करके और अपनी शक्तिके अनुसार भोग-उपभोगका नियम करके अन्तमें साधु-वन्दना करे। यह आवश्यक नित्य प्रति व्रतधारी श्रावकों के लिए कहा गया है। तथा नैमित्तिक आवश्यक भी आगमानुसार आलस्यरहित होकर करना चाहिए ॥९९–१०५॥ दैवयोगसे जिस किसी भी पुरुषके द्वारा जिस किसी भी निमित्तसे चित्तमें कलुषता उत्पन्न हो जाय, तो उसे मन वचन कायसे क्षमा करा करके ही आवश्यक क्रिया करनी चाहिए ॥१०६॥ जो मूढ पाक्षिक या चातुर्मासिक क्रियाको क्षमा-याचना किये विना ही करता है, वह उसके

---

१. मु० 'मास्थायः' पाठः।

क्रियां पक्षोद्भवां मूढश्चतुर्मासभवां च यः । विधत्तेऽक्षमयित्वाऽसौ न तस्याः फलमश्नुते ॥१०७

देवनराद्यैः कृतमुपसर्गं वन्दनकारी सहति समस्तम् ।
कम्पनमुक्तो गिरिरिव धीरो दुष्कृतकर्मक्षपणमवेक्ष्य ॥१०८

इत्थमदोषं सततमनूनं निर्मलचित्तो रचयति नूनम् ।
यः कृतिकर्मामितगतिदृष्टं याति स नित्यं पदमनदृष्टम् ॥१०९

इत्यमितगत्याचार्यप्रणीते श्रावकाचारे अष्टमः परिच्छेदः ।

नवमः परिच्छेदः

दानं पूजा जिनैः शीलमुपवासश्चतुर्विधः । श्रावकाणां मतो धर्मः संसारारण्यपावकः ॥१
दानं वितरता दात्रा देयं पात्रं विधिर्मतिः । फलैषिणाऽवबोध्यानि धीमता पञ्च तत्त्वतः ॥२
भाक्तिकं तौष्टिकं श्राद्धं सविज्ञानमलोलुपम् । सात्त्विकं क्षमकं सन्तो दातारं सप्तधा विदुः ॥३
यो धर्मधारिणां दत्ते स्वयं सेवापरायणः । निरालस्योऽशठः शान्तो भाक्तिकः स मतो बुधैः ॥४
तुष्टिर्दत्तवतो यस्य ददतश्च प्रवर्तते । देयासक्तमतेः शुद्धास्तमाहुस्तौष्टिकं जिनाः ॥५
साधुभ्यो ददता दानं लभ्यते फलमीप्सितम् । यस्यैषा जायते श्रद्धा नित्यं श्राद्धं वदन्ति तम् ॥६
द्रव्यं क्षेत्रं सुधीः कालं भावं सम्यग्विचिन्त्य यः । साधुभ्यो ददते दानं सविज्ञानमिमं विदुः ॥७

फलको नहीं पाता है ॥१०७॥ वन्दनादि आवश्यक करनेवाला पुरुष देव, मनुष्यादिके द्वारा किये गये सभी उपसर्गको अपने द्वारा किये गये खोटे कर्मोंका क्षय देखकर कम्पन-रहित पर्वतके समान धीर-वीर होकर सहन करता है ॥१०८॥ इस प्रकार जो निर्मल चित्त होकर कृतिकर्मको करके नित्य सम्पूर्ण विधि पूर्वक निर्दोष वन्दनादि आवश्यक कर्म करता है, वह अमित ज्ञानियोंके द्वारा देखे गये और हमारे अदृष्ट ऐसे नित्य मोक्ष पदको प्राप्त करता है ॥१०९॥

इस प्रकार अमितगति विरचित श्रावकाचारमें आठवां परिच्छेद समाप्त हुआ।

जिनदेवने दान पूजा शील और उपवास यह चार प्रकारका धर्म श्रावकोंके संसार-कान्तारको जलानेके लिए अग्निके समान कहा है ॥१॥ दानको देनेवाले और उसके फलको चाहनेवाले बुद्धिमान् श्रावकको दाता, दानयोग्य वस्तु, पात्र, विधि और बुद्धि ये पाँच बातें यथार्थरीतिसे जानना चाहिए ॥२॥ सर्व प्रथम दाताका स्वरूप कहते हैं—सन्त पुरुषोंने दाताको भक्तिमान्, सन्तोषी, श्रद्धा युक्त, दान देनेके ज्ञानसे सहित, लोलुपता रहित, सात्त्विक और क्षमाशील इन सात गुणोंवाला कहा है ॥३॥ जो बुद्धिमान् श्रावक आलस्यरहित और शान्त है तथा धर्म धारकोंकी सेवामें स्वयं ही तत्पर रहता है, उसे ज्ञानीजनोंने भक्ति गुणसे युक्त दाता कहा है ॥४॥ जिसके चित्तमें पहले दिये गये दानमें और अभी वर्तमानमें दिये जानेवाले दानमें सन्तोष है और देय वस्तुमें जिसकी बुद्धि लोभ-रहित है ऐसे दातारको वीतरागी जिनदेवोंने सन्तोष गुणसे युक्त दाता कहा है ॥५॥ साधुओंको दान देनेवाला सदा ही अभीष्ट फल पाता है ऐसी दृढ़ श्रद्धा जिसके हृदयमें नित्य रहती है, उस श्रावकको श्रद्धागुणसे युक्त दाता कहते हैं ॥६॥ जो बुद्धिमान् श्रावक द्रव्य क्षेत्र काल भावका भली भाँतिसे विचार करके साधुओंके लिए दान देता है, उसे विज्ञान गुण-युक्त दाता कहते हैं ॥७॥

त्रिधाऽपि याचते किंचिद्यो न सांसारिकं फलम् । ददानो योगिनां दानं भाषन्ते तमलोलुपम् ॥८
स्वल्पवित्तोऽपि यो दत्ते भक्तिभारवशीकृत: । स्वाढ्याश्चर्यकरं दानं सात्त्विकं तं प्रचक्षते ॥९
कालुष्यकारणे जाते दुर्निवारे महीयसि । यो न कुप्यति केभ्योऽपि क्षमकं कथयन्ति तम् ॥१०
सर्वैरलंकृतो वर्यो जघन्यो वर्जितो गुणैः । मध्यमोऽनेकधाऽत्राचि दाता दानविचक्षणैः ॥११
विनीतो धार्मिकः सेव्यस्तत्कालक्रमवेदकः । जिनेशशासनाभिज्ञो भोगनिःस्पृहमानसः ॥१२
दयालुः सर्वजीवानां रागद्वेषादिवर्जितः । संसारासारतावेदी समदर्शी महोद्यमः ॥१३
परीषहसहो धीरो निर्जिताक्षो विमत्सरः । [1]परात्मसमयाभिज्ञः प्रियवादी निरुत्सुकः ॥१४
वासितो व्रतिनां पूतैः परासाधारणैर्गुणैः । लोकलोकोत्तराचारविचारी सङ्घवत्सलः ॥१५
आस्तिक्यो निरहङ्कारो वैयावृत्यपरायणः । सम्यक्त्वालङ्कृतो दाता जायते भुवनोत्तमः ॥१६
आत्मीयं मन्यते द्रव्यं यो दत्तं व्रतवर्तिनाम् । शेषं पुत्रकलत्राद्यैस्तस्करैरिव लुण्ठितम् ॥१७
यो लोकद्वितये सौख्यं कुर्वते मम साधवः । बान्धवा दारुणं दुःखमिति पश्यति चेतसा ॥१८
योऽत्रैव स्थावरं वेत्ति गृहकार्ये नियोजितम् । सहगामि परं वित्तं धर्मकार्ये यथोचितम् ॥१९

जो योगिजनोंको दान देते हुए भी किसी भी सांसारिक फलकी कुछ भी याचना मन वचन कायसे नहीं करता है, उसे अलुब्धता गुण-युक्त दान कहते है ॥८॥ जो अल्पधनी हो करके भी भक्तिभारसे नम्रीभूत श्रावक धनियोंको भी आश्चर्यकारी दान देता है, उसे सत्त्वगुणसे युक्त दाता कहते हैं ॥९॥ किसी महान् दुर्निवार कालुष्य कारणके उपस्थित होने पर भी जो किसी पर भी कुपित नहीं होता है, उसे क्षमागुणसे युक्त दाता कहते हैं ॥१०॥ दाताके इन सातों गुणोंसे संयुक्त दाताको दानशास्त्रके विद्वानोंने उत्तम दाता कहा है। इन गुणोंसे रहित दाताको जघन्य दाता कहा है तथा दो, तीन, चार आदि गुणवाले अनेक प्रकारके दाताको मध्यम दाता कहा है ॥११॥ अब दाताके कुछ और भी विशेष गुण कहते हैं—जो विनीत हो, धर्मात्मा हो, अन्य पुरुषोंसे सेव्य हो, दानके कालक्रमका वेत्ता हो, जिनेन्द्रदेवके शासनका ज्ञाता हो, जिसका मन भोगोंसे निःस्पृह हो, सर्वजीवों-पर दया करने वाला हो, राग-द्वेषादिसे रहित हो, संसारकी असारताका जानकार हो, समदर्शी हो, महान् उद्यमी हो, परीषहोंको सहनेवाला हो, धीर वीर हो, इन्द्रियजयी हो, मत्सर-रहित हो, अपने और परके सिद्धान्तका ज्ञाता हो, प्रियवादी हो, विषयोंके सेवनमें उत्सुकता-रहित हो, दूसरे लोगोंमें नहीं पाये जानेवाले ऐसे असाधारण पवित्र व्रतियोंके गुणोंसे जिसका चित्त संवासित हो, लौकिक और लोकोत्तर आचारका विचारक हो, संघमें वात्सल्य भावका धारक हो, आस्तिक हो, अहंकार-रहित हो, वैयावृत्य करनेमें तत्पर हो और सम्यक्त्वसे अलंकृत हो, ऐसा दाता लोकमें उत्तम माना जाता है ॥१२-१६॥

व्रतियोंके लिए दिये गये द्रव्यको जो अपना मानता हो और शेष द्रव्यको पुत्र-स्त्री आदि लुटेरोंके द्वारा लूटा गया जैसा मानता हो, वही दाता श्रेष्ठ जानना चाहिए ॥१७॥ ये साधुजन तो मेरे दोनों लोकोंमें सुख करने वाले है और ये बन्धुजन दोनों लोकोंमें दुःख करनेवाले हैं, ऐसा जो अपने हृदयसे देखता हो, वही दाता प्रशंसाके योग्य है ॥१८॥ जो गृह-कार्यमें लगाये गये धनको यहीं रहनेवाला जानता है और धर्मकार्यमें यथोचित लगाये धनको अपने साथ जानेवाला मानता है, वही यथार्थमें दाता है ॥१९॥ जो जीवन यौवन और धन को शरद् ऋतुके मेघोंके समान क्षण-

१. मु० 'वरात्मट' पाठः ।

शरदभ्रसमाकारं जीवितं यौवन धनम् । यो जानाति विचारज्ञो दत्ते दानं स सर्वदा ॥२०
यो न दत्ते तपस्विभ्यः प्रासुकं दानमञ्जसा । न तस्यात्मम्भरेः कोऽपि विशेषो विद्यते पशोः ॥२१
गृहं तदुच्यते तुङ्गं तर्प्यन्ते यत्र योगिनः । निगद्यते परं प्राज्ञैः शारदं घनमण्डलम् ॥२२
धौतपादाम्भसा सिक्तं साधूनां सौधमुच्यते । अपरं कर्दमालिप्तं मर्त्याचातकबन्धनम् ॥२३
स गृही भण्यते भव्यो यो दत्ते दानमञ्जसा । न परो गेहयुक्तोऽपि पतत्त्रीव कदाचन ॥२४
किं द्रव्येण कुबेरस्य किं समुद्रस्य वारिणा । किमन्धसा गृहस्थस्य भक्तिर्यत्र न योगिनाम् ॥२५
ध्यानेन शोभते योगी संयमेन तपोधनः । सत्येन वचसा राजा गृही दानेन चारुणा ॥२६
तपोधनं गृहायातं यो न गृह्णाति भक्तितः । चिन्तामणिं करं प्राप्तं स कुधीस्त्यजति स्फुटम् ॥२७
विद्यमानं धनं धिष्ण्ये साधुभ्यो यो न यच्छति । स वञ्चयति मूढात्मा स्वयमात्मानमात्मना ॥२८
स भण्यते गृहस्वामी यो भोजयति योगिनः । कुर्वाणो गृहकर्माणि परं कर्मकरं विदुः ॥२९
यः सर्वदा क्षुधां धृत्वा साधुवेलां प्रतीक्षते । स साधूनामलाभेऽपि दानपुण्येन युज्यते ॥३०
भवने नगरे ग्रामे कानने दिवसे निशि । यो धत्ते योगिनश्चित्ते दत्तं तेभ्योऽमुना ध्रुवम् ॥३१
यः सामान्येन साधूनां दानं दातुं प्रवर्तते । त्रिकालगोचरास्तेन भोजिताः पूजिताः स्तुताः ॥३२
दत्ते दूरेऽपि यो गत्वा विमृश्य व्रतपालिनः । स स्वयं गृहमायाते कथं दत्ते न योगिनि ॥३३

भंगुर जानता है, वही विचारशील दाता सदा ही दान देता है ॥२०॥ जो गृहस्थ तपस्वियोंके लिए प्रासुक दान नहीं देता है, उसका अपना पेट भरनेवाले पशुसे निश्चयतः कोई भी भेद नहीं है ॥२१॥ जिस घरमें साधुजन दान-द्वारा तृप्त किये जाते है, वही ऊँचा घर कहा जाता है। दान रहित घरको तो ज्ञानियोंने शारदीय मेघमण्डल कहा है ॥२२॥ साधुओंके चरण-कमलोंके धोये गये जलसे जो घर संसिक्त है, वही सौध कहा जाता है, अन्य घर तो मनुष्यरूप चरनेवाले पशुके बाँधने का कीचड़लिप्त स्थान है ॥२३॥ वही भव्य गृहस्थ कहा जाता हैं, जो नियमसे दान देता है। दान-रहित अन्य पुरुप तो गृह-युक्त होनेपर भी पक्षीके समान कदाचित् भी गेही अर्थात् घरवाला नहीं कहा जा सकता ॥२४॥ जहाँपर योगियोंका भोजन पान नहीं, ऐसे कुबेरके द्रव्यसे क्या, समुद्रके जलसे क्या और गृहस्थके अन्न-पानसे क्या लाभ है ॥२५॥ योगी ध्यानसे, तपोधन संयम-से, राजा सत्य वचनसे और गृहस्थ सुन्दर दानसे शोभा पाता है ॥२६॥

जो गृहस्थ स्वयं घर आये हुए तपोधन साधुको भक्तिसे पडिगाहता नहीं है, वह कुबुद्धि हाथमें आये हुए चिन्तामणि रत्नको निश्चय ही छोड़ता है ॥२७॥ जो श्रावक घरमें विद्यमान भी धनको साधुओंके लिए नहीं देता है, वह मूढात्मा स्वयं ही अपने आपके द्वारा अपनेको ठगता है ॥२८॥ जो योगियोंको भोजन कराता है, वही पुरुप गृहका स्वामी कहा जाता है। दानके बिना घरके कार्योको करनेवालोंको तो घरका कर्मकर (नौकर) कहते हैं ॥२९॥ जो गृहस्थ भूख लगने पर भोजन करनेके पूर्व साधुओंके आहारकी वेलामें उनके आगमनकी प्रतीक्षा करता हैं, वह साधुओं-के अलाभ होने पर भी दानके पुण्यसे संयुक्त होता है ॥३०॥ जो पुरुप भवनमें, नगरमें, ग्राममें, वनमें, दिनमें, और रात्रिमें योगियोंको अपने चित्तमें धारण करता है, अर्थात् उनका सदा स्मरण करता रहता है, उसने साधुओंको निश्चयसे दान दिया, ऐसा जानना चाहिए ॥३१॥ जो सामान्यतः सदा ही साधुओंको दान देनेमें प्रवृत्त होता है उसने त्रिकालवर्ती साधुओंको भोजन कराया, उनकी पूजा और स्तुति की, ऐसा समझना चाहिए ॥३२॥ जो दूर जाकर और व्रती पुरुषोंका अन्वेषण करके उन्हें दान देता है, वह स्वयं ही घरमें आये योगीको कैसे दान नहीं देगा ? अवश्य

सद्रव्याद्रव्ययोर्मध्ये यः पात्रं प्राप्य भक्तितः । ददानः कथ्यते दाता न दाता भक्तिवर्जितः ॥३४
पात्रे ददाति योऽकाले तस्य दानं निरर्थकम् । क्षेत्रेऽप्युप्तं विना कालं कुत्र बीजं प्ररोहति ॥३५
काले ददाति योऽपात्रे वितीर्णं तस्य नश्यति । निक्षिप्तमूषरे बीजं किं कदाचिदवाप्यते ॥३६
प्रक्रमेण विना वन्ध्यं वितीर्णं पात्रकालयोः । फलाय किमसंस्कारं विक्षिप्तं क्षेत्रकालयोः ॥३७
कालं पात्रं विधिं ज्ञात्वा दत्तं स्वल्पमपि स्फुटम् । उप्तं बीजमिव प्राज्ञैर्विधत्ते विपुलं फलम् ॥३८
देयं स्तोकादपि स्तोकं व्यपेक्षो न महोदयः । इच्छानुसारिणी शक्तिः कदा कस्य प्रजायते ॥३९
श्रुत्वा दानमतिर्वर्यो भण्यते वीक्ष्य मध्यमः । श्रुत्वा दृष्ट्वा च यो दत्ते दानं स च जघन्यकः ॥४०
ताडनं पीडनं स्तेयं रोषणं दूषणं भयम् । कृत्वा ददाति यो दानं स दाता नमतो जिनैः ॥४१
पटीयसा सदा दानं प्रदेयं प्रियवादिना । प्रियेण रहितं दत्तं परमं वैरकारणम् ॥४२
यः शमापाकृतं वित्तं विश्राणयति दुर्मतिः । कलिं गृह्णाति मूल्येन दुर्निवारमसौ ध्रुवम् ॥४३
जीवा येन विहन्यन्ते येन पात्रं विनाश्यते । रागो विवर्धते येन यस्मात्सम्पद्यते भयम् ॥४४
आरम्भा येन जन्यन्ते दुःखितं यच्च जायते । धर्मकामैर्न तद्देयं कदाचन निगद्यते ॥४५
हलैर्विदार्यमाणायां गर्भिण्यामिव योषिति । म्रियन्ते प्राणिनो यस्यां सा भूः किं ददतः फलम् ॥४६

ही देगा ॥३३॥ सधन और निर्धन इन दो प्रकारके दातारोंके मध्यमें जो पात्रको पाकर भक्ति पूर्वक दान देता है, वही दाता कहा जाता है। भक्ति-रहित होकरके देनेवाला दाता नहीं कहा जाता है ॥३४॥ जो असमयमें पात्रको दान देता है, उसका दान निरर्थक है, खेतके भीतर असमय-में बोया गया बीज कहाँ अंकुरित होता है ॥३५॥ जो अपात्रको समयपर भी दान देता है, उसका वह दान नष्ट हो जाता है। क्योंकि ऊसर भूमिमें बोया गया बीज क्या कभी प्राप्त होता है ॥३६॥ योग्य पात्रको और योग्य समयमें विधिके विना दिया दान निष्फल जाता है। क्या संस्कार-रहित बीज योग्य क्षेत्रमें योग्य समयपर बोनेपर भी फलके लिये होता है? अर्थात् फल नहीं देता है ॥३७॥ काल, पात्र और विधिको जानकर बुद्धिमानोंके द्वारा दिया गया अति अल्प भी दान योग्य भूमिमें ठीक समयपर विधिवत् बोये गये अल्प भी बीजके समान विपुल फलको देता है ॥३८॥ नहीं शक्ति हो, तो भी कमसे कम ही दान देते रहना चाहिए, किन्तु 'अधिक धनके होनेकी अपेक्षा नहीं रखना चाहिए, क्योंकि इच्छाके अनुसार दान देनेकी शक्ति कब किसके पूरी होती है? भावार्थ–जब जैसी सामर्थ्य हो उसके अनुसार दानको देते रहना चाहिए ॥३९॥

साधुको आया हुआ सुनकर दान देनेमें वृद्धि करने वाला पुरुष उत्तम दाता कहा जाता है। साधुको देखकर दान देनेवाला पुरुष मध्यम दाता कहलाता है। और जो सुनकर और देखकर पीछे दान देता है वह जघन्य दाता कहलाता है ॥४०॥ जो ताडन, पीडन, चोरी, रोष, दोष और भय करके दान देता है, जिनदेवने उसे दाता नहीं माना है ॥४१॥ चतुर पुरुषोंको प्रिय वचन बोलते हुए ही सदा दान देना चाहिए। क्योंकि प्रिय वचनसे रहित दिया गया दान तो परम वैरका ही कारण होता है ॥४२॥ जो दुर्बुद्धि पुरुष शम-भावसे रहित होकर धनको देता है, वह निश्चयसे मूल्य देकर दुर्निवार पापको ग्रहण करता है ॥४३॥ अब दान देनेके योग्य देय वस्तुका निर्णय करनेके पूर्व आचार्य दानमें नहीं देने योग्य वस्तुओंका निरूपण करते हैं— जिसके देनेसे जीव मारे जावें, जिससे पात्रका विनाश हो, जिससे रागभाव बढ़े, जिससे भय उत्पन्न हो, जिससे आरम्भ बढ़े और जिससे दुःख पैदा हो, ऐसी वस्तुएं धर्मकी कामना करनेवाले गृहस्थों के द्वारा कभी भी देय नहीं कही गई हैं ॥४४-४५॥ जिस भूमिके हलोंसे विदारे

सर्वत्र भ्रमता येन कृतान्तेनेव देहिनः । विपाटचन्ते न तल्लोहं दत्तं कस्यापि शान्तये ॥४७
यदर्थं हिंस्यते पात्रं यत्सदा भयकारणम् । संयमा येन हीयन्ते दुष्कालेनेव मानवाः ॥४८
रागद्वेषमदक्रोधलोभमोहमनोभवाः । जन्यन्ते तापका येन काष्ठेनेव हुताशनाः ॥४९
तद्येनाष्टापदं यस्य दीयते हितकाम्यया । स तस्याष्टापदं मन्ये दत्ते जीवितशान्तये ॥५०
संसजन्त्यङ्गिनो येषु भूरिशस्त्रसकायिकाः । फलं विश्राणने तेषां तिलानां कल्मषं परम् ॥५१
प्रारम्भा यत्र जायन्ते चित्राः संसारहेतवः । तत्सद्म ददतो घोरं केवलं कलिलं कलम् ॥५२
पीडा सम्पद्यते यस्या वियोगे गोनिकायतः । यया जीवा विहन्यन्ते पुच्छशृङ्गखुरादिभिः ॥५३
यस्यां प्रदुह्यमानायां तर्णकः पीडचते तराम् । तां गां वितरतो श्रेयो लभ्यते न मनागपि ॥५४
या सर्वतीर्थदेवानां निवासो भूतविग्रहा । दीयते गृह्यते सा गौः कथं दुर्गतिगामिभिः ॥५५
तिलधेनुं घृतधेनुं कांचनधेनुं च रुक्मधेनुं च । परिकल्प्य भक्षयन्तश्चण्डालेभ्यस्तरां पापाः ॥५६
या धर्मवनकुठारी पातकवसतिस्तपोदयाचोरी । वैरायासासूयाविषादशोकश्रमक्षोणी ॥५७

जाने पर शस्त्रोंसे विदीर्ण किये गर्भिणी स्त्रीके समान प्राणी मरते हैं, वह भूमि क्या देने वालेके फलको दे सकती है ? अर्थात् नहीं दे सकती है, अतः भूमिका दान योग्य नहीं है ॥४६॥ जिसके द्वारा सर्वत्र परिभ्रमण करने वाले यमराजके तुल्य प्राणी मारे जाते हैं, वह दिया गया लोहेका शस्त्र किसीकी भी शान्तिके लिए नहीं हो सकता है। अतः लोहदान योग्य नहीं है ॥४७॥ जिस सुवर्णकी प्राप्तिके लिए लोग पात्रको भी मार देते हैं जो सदा भयका कारण है, जिसके द्वारा संयम नष्ट होता है, जैसे कि दुष्कालके द्वारा मानव नष्ट होते हैं, जिसके द्वारा राग द्वेप मद क्रोध लोभ मोह और काम विकार जैसे सन्ताप-दायी दुर्भाव पैदा होते हैं, जैसे कि काष्ठसे सन्तापक पावक उत्पन्न होता है। ऐसा अष्टापद (सुवर्ण) जो अन्यको हित-कामनासे देता है, वह उसके जीवनको शान्त करनेके लिए अष्टापदनामका हिंसक प्राणी देता है, ऐसा मैं मानता हूँ। अतएव सुवर्णदान भी देनेके योग्य नहीं है ॥४८–५०॥ जिन तिलोंमें भारी त्रसकायिक जीव निरन्तर उत्पन्न होते रहते हैं ऐसे उन तिलोंके दान देनेमें महा पापका संचय ही फल जानना चाहिए। अतः तिल-दान भी योग्य नहीं ॥५१॥

जिसमें रहने पर संसारके कारणभूत अनेक प्रकारके आरम्भ होते हैं, ऐसे घरको देनेवाले पुरुषके केवल घोर पापरूप ही फल प्राप्त होता है। अतः गृह-दान भी योग्य नहीं है ॥५२॥ गायोंके समूह से वियुक्त करने पर जिसके भारी पीडा होती है, जो पूँछ, सींग और खुर आदिसे जीवोंको मारती है और जिसके दुहने पर बछड़ा अत्यन्त पीड़ित होता है, ऐसी गायको दानमें देते हुए पुरुप का जरा सा भी कल्याण नहीं होता है। अतः गो-दान भी योग्य नहीं है ॥५३–५४॥ जिन अन्यमतावलम्बियोंने गायके शरीरमें सर्वतीर्थ और सर्व देवताओं का निवास कहा है, उसी गायको दुर्गतिगामी पुरुप कैसे तो देते हैं और लेने वाले कैसे लेते हैं, यह महान् आश्चर्यकी बात है। अतः गो-दान भी योग्य नहीं है ॥५५॥ जो लोग तिलकी गाय, घीकी गाय, सोनेकी गाय और चांदीकी गाय बनाकर पुनः उसे खाते हैं, वे लोग तो चाण्डालसे भी अधिक पापी हैं, क्योंकि चाण्डाल तो कम से कम गायको नहीं खाता है ॥५६॥ जो कन्या धर्मरूप वनको काटनेके लिए कुठारी के समान है, अनेक पापोंकी वसति है, तप और दयाको चुरानेवाली है, वैर, आयास असूया, विपाद, शोक और श्रमकी भूमि है और जिसमें आसक्त हुए पुरुप अति दुःखवाले संसार-

यस्यां सक्ता जीवाः दुःखतमान्नोत्तरन्ति भवजलधेः । कः कन्यायां तस्यां दत्तायां विद्यते धर्मः ॥५८
सर्वारम्भकरं ये वीवाहं कारयन्ति धर्माय । ते तरुखण्डविवृद्ध्यै क्षिपन्ति वह्निज्वलज्ज्वालम् ॥५९
यः संक्रान्तौ ग्रहणे वारे वित्तं ददाति मूढमतिः । सम्यक्त्ववनं छित्वा मिथ्यात्ववनं वपत्येषः ॥६०
ये ददते मृततृप्त्यै वहुधा दानानि नूनमस्तधियः । पल्लवयितुं तरुं ते भस्मीभूतं निषिञ्चन्ति ॥६१
विप्रगणे सति भुक्ते तृप्तिः सम्पद्यते यदि पितॄणाम् । नान्येन घृते पीते भवति तदाऽन्यः कथं पुष्टः ॥६२
दाने दत्ते पुत्रैर्मुच्यन्ते पापतोऽत्र यदि पितरः । विहिते तदा चरित्रे परेण मुक्ति परो याति ॥६३

गङ्गा गतेऽस्थिजाते भवति सुखी यदि मृतोऽत्र चिरकालम् ।
भस्मीकृतस्तदाऽम्भःसिक्तः पल्लवयते वृक्षः ॥६४

उपयाचन्ते देवान्नष्टधियो ये धनादि ददमानाः । ते सर्वस्वं दत्वा नूनं क्रीणन्ति दुःखानि ॥६५
पूर्णे काले देवैर्न रक्ष्यते कोऽपि नूनमुपयातैः । चित्रमिदं प्रतिविम्वैरचेतनै रक्ष्यते तेषाम् ॥६६
मांसं यच्छन्ति ये मूढा ये च गृह्णन्ति लोलुपाः । द्वये वसन्ति ते श्वभ्रे हिंसामार्गप्रवर्तिनः ॥६७
धर्मार्थं ददते मांसं ये नूनं मूढवुद्धयः । जिजीविषन्ति ते दीर्घं कालकूटविषाशने ॥६८
तादृशं यच्छतां नास्ति पापं दोषमजानताम् । यादृशं गृह्णतां मांसं जानतां दोषमूर्जितम् ॥६९

सागरसे पार नहीं उतर सकते हैं, ऐसी कन्याके देने पर कौन सा धर्म होता है ? अर्थात् धर्म नहीं, प्रत्युत पाप ही होता है। अतः कन्या-दान भी योग्य नहीं है ॥५७-५८॥ जो लोग धर्म-प्राप्तिके लिए सभी आरम्भके करनेवाले विवाहको कराते हैं, वे वृक्षोंके वनकी वृद्धिके लिए जलती ज्वालावाली अग्निको फेंकते हैं, ऐसा मैं मानता हूँ। अतः अन्यका विवाह कराना योग्य नहीं है ॥५९॥ जो मूढ बुद्धि पुरुष संक्रान्ति, ग्रहण, रविवार आदिके समय धनको देता है, वह सम्यक्त्व-रूप वनका छेदन करके मिथ्यात्वरूप वनको वोता है ॥६०॥ जो नष्ट वुद्धि पुरुष मरे पुरुषोंकी तृप्तिके लिए अनेक प्रकारके दान देते हैं, वे भस्म हुए वृक्षको पल्लवित करनेके लिए मानों सींचते हैं ॥६१॥ यदि ब्राह्मण वर्गके भोजन करने पर पितर लोगोंको तृप्ति प्राप्त होती है, तो यहां पर अन्य पुरुषके घी पीने पर दूसरा पुरुष क्यों पुष्ट नहीं हो जाता है। अतः पितृ-तृप्तिके लिए ब्राह्मणोंको भोजन कराना योग्य नहीं है ॥६२॥ यदि पुत्रके द्वारा दान दिये जाने पर पितर लोग पापसे छूट जाते हैं, तो दूसरेके द्वारा चारित्र धारण करने पर अन्य दूसरेको मुक्ति में जाना चाहिए ॥६३॥

यदि अस्थि-पुंजके गंगामें विसर्जन करने पर मृत पुरुष चिरकाल तक सुखी रहता है, तो तो समझना चाहिए कि भस्मीभूत हुआ वृक्ष जलसे सींचने पर पल्लवित हो रहा है ॥६४॥ जो नष्ट वुद्धि पुरुष देवोंको धन देते हुए उनसे और भी अधिक धनकी याचना करते हैं, वे अपना सर्वस्व देकर नियम से दुखोंको खरीदते हैं ॥६५॥ आयु कालके समाप्त हो जाने पर समीपमें आये हुए स्वयं देव भी नियमसे किसीकी रक्षा नहीं कर सकते, तो यह आश्चर्यकी वात है कि उन देवोंके वनाये गये अचेतन प्रतिविम्व मरते की कैसे रक्षा कर सकते हैं ? कभी नहीं कर सकते ॥६६॥ जो मूढ मांसका दान करते हैं और जो लोलुपी उसे ग्रहण करते हैं-वे हिंसामार्गके प्रवर्तक दोनों ही मरकर नरकमें निवास करते हैं ॥६७॥ जो मूढ वुद्धि पुरुष धर्मके लिए मांसको देते हैं, वे निश्चयसे कालकूट विषके खाने पर जीनेकी इच्छा करते हैं ॥ ६८॥ मांस देने के दोषों को नहीं जानने वाले पुरुषों के मांस-दान करने पर वैसा उग्रपाप नहीं होता है, जैसा कि मांस-भक्षणके उग्र पापोंको जानते हुए उसे ग्रहण करने वाले पुरुषोंके महान् पापका संचय होता है ॥६९॥

दाता दोषमजानानो दत्ते धर्मधियाऽखिलम् । यः स्वीकरोति तद्दानं पात्रं त्वेष न सर्वथा ॥७०
वहूनि तानि दानानि विधिरेषा न शेमुषी । विपद्येत तरां प्राणी भूरिभिर्भक्षितैर्विषैः ॥७१
अल्पं जिनमतं दानं ददातीदं न कोविदाः । पीयूषेणोपभुक्तेन किं नाल्पेनापि जीव्यते ॥७२
ग्रहीतुः कुरुते सौख्यं दानैस्तैरखिलैर्यतः । पुण्यभागी ततो दाता नेदं वचनमञ्जितम् ॥७३
आपाते लभते सौख्यं विपाके दुःखमुल्बणम् । अपथ्यैरिव तैर्दानैर्दुर्ज्जरैर्जननिन्दितैः ॥७४
आपातसुखदैः पुण्यमन्ते दुःखवितारिभिः । भूमिदानादिभिर्दत्तैर्न किम्पाकफलैरिव ॥७५
प्रचुरापात्रसंघातं मर्दयित्वाऽपि पोषिते । पात्रे सम्पद्यते धर्मो नैषा भाषा प्रशस्यते ॥७६
निहत्य भेकसन्दर्भं यः प्रीणति भुजङ्गमम् । सोऽश्नुते यादृशं पुण्यं नूनमन्योऽपि तादृशम् ॥७७
आत्मीकरोति यो दानं जीवमर्दनसम्भवम् । आकांक्षन्नात्मनः सौख्यं पात्रता तस्य कीदृशी ॥७८
न सुवर्णादिकं देयं न दाता तस्य दायकः । न च पात्रं गृहीताऽस्य जिनानामिति शासनम् ॥७९
पात्रं विनाशितं तेन तेनाधर्मः प्रवर्तितः । येन स्वर्णादिकं दत्तं सर्वानर्थविधायकम् ॥८०

मूढ दाता तो दोषको नहीं जानते हुए धर्म बुद्धिसे सभी दानोंको देता है, इसलिए वह वैसा पापी नहीं है किन्तु जो ऐसे असद् दानको स्वीकार करता है वह तो सर्वथा भी पात्र नहीं माना जा सकता है ॥७०॥ 'लोकमें अनेक प्रकारके दान दिये जाते हैं, या शास्त्रोंमें अनेक प्रकारके दान बतलाये गये हैं' ऐसी बुद्धि करके उनका देना यह विधि ठीक नहीं है, क्योंकि अनेक प्रकारके खाये गये विषोंसे प्राणी अत्यधिक विपत्तिको ही प्राप्त होता है। अतः उक्त कुदानोंका देना श्रेयस्कर नहीं है ॥७१॥ जिन मतमें बतलाया गया आहारादिका दान तो बहुत कम है, उससे क्या फल मिलेगा ? ऐसा कुछ विद्वान् लोग कहते हैं। आचार्य उनको उत्तर देते हुए कहते हैं कि ऐसी बात नहीं है । देखो थोड़ेसे उपभोग किये गये अमृतसे क्या मनुष्य जीवित नहीं हो जाता है ? होता ही है ॥७२॥ यदि कहा जाय कि उन भूमि-स्वर्ण-गोदानादि समस्त दानोंसे ग्रहण करने वालेको सुख प्राप्त होता है, अतः उससे दाता भी पुण्यका भागी होता है, सो ऐसा कथन युक्ति-सगत नहीं है ॥७३॥ क्योंकि उन भूमि दान आदिके द्वारा वर्तमानमें भले ही कुछ सुख प्राप्त हो, परन्तु विपाक कालमें तो अपथ्य सेवनके समान उन दुर्जर एवं जन-निन्दित दानोंके द्वारा अत्यन्त उग्र दुःख ही प्राप्त होताहै ॥७४॥ किंपाक फलके समान प्रारम्भमें सुख देने वाले और अन्तमें दुःख देनेवाले उन अधिक भूमि दानादिके देने पर भी पुण्य नहीं होता है ॥७५॥

यदि कहा जाय कि भारी भी अपात्र जीवोंके समूहका नाश करके एक पात्रके पोषण करने पर धर्म-सम्पादन होता है । सो ऐसी भाषा भी प्रशंसनीय नहीं है ॥७६॥ देखो—जो प्रतिदिन मेंढ़कोंका समूह मारकर साँपका पोषण करता है, वह पुरुष जैसा पुण्य प्राप्त करता है, निश्चयसे आपके द्वारा कहा गया वह अन्य पुरुष भी वैसे ही पुण्य-संचयको प्राप्त करता है। भावार्थ—जैसे मेंढक मारकर साँपके पोषणमें पुण्य नहीं है, उसी प्रकार जीवोंका घात करके किसी कुपात्रके पोषण करनेमें भी कोई पुण्य नहीं है ॥७७॥ दूसरी बात यह है कि जो पुरुष जीव-घातसे उत्पन्न हुआ दान अपने सुखको चाहता हुआ, स्वीकार करता है उसकी पात्रता कैसी है ? अर्थात् वह पात्र है ही नहीं, प्रत्युत कुपात्र या अपात्र है ॥७८॥ इस प्रकार कुदानोंके निषेधका उपसंहार करते हुए आचार्य कहते हैं—न तो सुवर्णादिक पदार्थ देय हैं, न उनका देनेवाला दाता ही है और न उनका ग्रहण करनेवाला सत्पात्र ही है, ऐसा जिनदेवोंका शासन (आदेश या मत) है ॥७९॥ जिसने सभी अनर्थोंका करनेवाला सुवर्णादिकका दान दिया, उसने पात्रका भी विनाश कर दिया और अधर्म भी

रागो निषूद्यते येन येन धर्मो विवर्द्धते । संयमः पोष्यते येन विवेको येन जन्यते ॥८१
आत्मोपशम्यते येन येनोपक्रियते परः । न येन नाश्यते पात्रं तद्दातव्यं प्रशस्यते ॥८२
अभयान्नौषधज्ञानभेदतस्तच्चतुर्विधम् । दानं निगद्यते सद्भिः प्राणिनामुपकारकम् ॥८३
धर्मार्थकाममोक्षाणां जीवितव्ये यतः स्थितिः । तद्दानतस्ततो दत्तास्ते सर्वे सन्ति देहिनाम् ॥८४
देवैरुक्तो वृणीष्वैकं त्रैलोक्यप्राणितव्ययोः । त्रैलोक्यं वृणुते कोऽपि न परित्यज्य जीवितम् ॥८५
त्रैलोक्यं न यतो मूल्यं जीवितव्यस्य जायते । तद्रक्षता ततो दत्तं प्राणिनां किं न कांक्षितम् ॥८६
नाभीतिदानतो दानं समस्ताधारकारणम् । महीयो निर्मलं नित्यं गगनादिव विद्यते ॥८७
आहारेण विना पुंसां जीवितव्यं न तिष्ठति । आहारं यच्छता दत्तं ततो भवति जीवितम् ॥८८
नेत्रानन्दकरं सेव्यं सर्वचेष्टाप्रवर्तनम् । अन्धसा धार्यते गात्रं जीवितेनेव जन्मिनाम् ॥८९
कान्तिः कीर्तिर्मतिःक्षान्तिःशान्तिर्नीतिर्गती रतिः । उक्तिः शक्तिर्द्युतिः प्रीतिः प्रतीतिः श्रीर्व्यवस्थितिः
आहारवर्जितं देहं सर्वे मुञ्चन्ति तत्त्वतः । द्रविणापाकृतं मर्त्यं वेश्या इव मनोरमाः ॥९१
शमो दमो दया धर्मः संयमो विनयो नयः । तपो यशो वचोदाक्ष्यं दीयतेऽन्नप्रदायिना ॥९२
क्षुद्रोगेण समो व्याधिराहारेण समौषधिः । नासीन्नास्ति न वा भावि सर्वव्यापारकारिणी ॥९३

प्रवर्तित किया, ऐसा जानना चाहिए ॥८०॥ अब आचार्य देने योग्य वस्तुका वर्णन करते हैं—जिससे रागभाव नाशको प्राप्त हो, जिससे धर्म वढ़े, जिससे सयम पुष्ट हो, जिससे विवेक उत्पन्न हो, जिससे आत्मा उपशम भावको प्राप्त हो, जिससे दूसरेका उपकार किया जाय और जिससे पात्र विनाशको प्राप्त न हो, वही वस्तु दाताके देने योग्य है और वही देय प्राज्ञपुरुषोंके द्वारा प्रशंसाको प्राप्त होता है ॥८१-८२॥ प्राणियोंका उपकार करनेवाला वह दान अभय आहार औषध और ज्ञान-दानके भेदसे सन्त पुरुषोंने चार प्रकारका कहा है ॥८३॥

यतः जीवनके स्थित रहनेपर ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप चारों पुरुषार्थोंकी स्थिति संभव है, अतः जीवोंको जीवन (अभय) दान देनेसे वे सभी पुरुषार्थ दिये जाते हैं, ऐसा समझना चाहिए ॥८४॥ यदि देवतागण किसीपर प्रसन्न होकर कहें कि तुम त्रैलोक्यका राज्य और जीवितव्य इन दोनोंमेंसे किसी एकको वरण करो अर्थात् माँगो; तो क्या कोई पुरुष जीवनको छोड़कर त्रैलोक्यके साम्राज्यका वरण करेगा ? कदापि नहीं ॥८५॥ यतः त्रैलोक्य भी जीवनका मूल्य नहीं है, अतः उस जीवनकी रक्षा करनेवालेने प्राणियोंको कौन-सी मनोवांछित वस्तु नहीं दी ? अर्थात् सभी दी; ऐसा समझना चाहिए ॥८६॥ आकाशके समान समस्त वस्तुओंके आधारका कारण, महान्, निर्मल और नित्य ऐसा अभयदानके सिवाय और कोई दान नहीं है ॥८७॥ ऐसे अभय दान का वर्णन किया । अब आहारदानका निरूपण करते हैं—आहारके विना पुरुषोंका जीवन नहीं ठहर सकता है, अतएव आहार देनेवाले पुरुषके द्वारा जीवन ही दिया जाता है, ऐसा जानना चाहिए ॥८८॥ जीवितव्य (आयुर्वल) के समान नेत्रोंको आनन्दकारी, सेवन योग्य और सर्व चेष्टाओंके प्रवर्तनरूप जीवोंका देह आहारसे ही धारण किया जाता है ॥८९॥ जिस प्रकार धनसे रहित पुरुषको मनोहर वेश्याएं छोड़ देती हैं । उसी प्रकार आहारसे रहित देहको कान्ति कीर्त्ति, वुद्धि, क्षमा, शान्ति, नीति, गति, रति, उक्ति, शक्ति, दीप्ति, प्रीति, प्रतीति, लक्ष्मी और स्थिरता ये सब भी छोड देती हैं ॥९०-९१॥ अन्न दान देनेवालेके द्वारा कषायोंकी मन्दतारूप शमभाव, इन्द्रिय-दमन,दया, धर्म, संयम, विनय, नीति, तप, यश, और वचनकी दक्षता ये सब गुण दिये जाते हैं ॥९२॥ इस संसारमें क्षुधारोगके समान कोई व्याधि और आहारके समान सर्व व्यापार करानेवाली

दाता दोषमजानानो दत्ते धर्मधियाऽखिलम् । यः स्वीकरोति तद्दानं पात्रं त्वेष न सर्वथा ॥७०
बहूनि तानि दानानि विधिरेषा न शेमुषी । विपद्येत तरां प्राणी भूरिभिर्भक्षितैर्विषैः ॥७१
अल्पं जिनमतं दानं ददातीदं न कोविदाः । पीयूषेणोपभुक्तेन किं नाल्पेनापि जीव्यते ॥७२
ग्रहीतुः कुरुते सौख्यं दानैस्तैरखिलैर्यतः । पुण्यभागी ततो दाता नेदं वचनमञ्चितम् ॥७३
आपाते लभते सौख्यं विपाके दुःखमुल्बणम् । अपथ्यैरिव तैर्दानैर्दुर्ज्जरैर्जननिन्दितैः ॥७४
आपातसुखदैः पुण्यमन्ते दुःखवितारिभिः । भूमिदानादिभिर्दत्तैर्न किम्पाकफलैरिव ॥७५
प्रचुरापात्रसंघातं मर्दयित्वाऽपि पोषिते । पात्रे सम्पद्यते धर्मो नैषा भाषा प्रशस्यते ॥७६
निहत्य भेकसन्दर्भं यः प्रीणति भुजङ्गमम् । सोऽश्नुते यादृशं पुण्यं नूनमन्योऽपि तादृशम् ॥७७
आत्मीकरोति यो दानं जीवमर्दनसम्भवम् । आकांक्षन्नात्मनः सौख्यं पात्रता तस्य कीदृशी ॥७८
न सुवर्णादिकं देयं न दाता तस्य दायकः । न च पात्रं गृहीताऽस्य जिनानामिति शासनम् ॥७९
पात्रं विनाशितं तेन तेनाधर्मः प्रवर्तितः । येन स्वर्णादिकं दत्तं सर्वानर्थविधायकम् ॥८०

मूढ दाता तो दोषको नहीं जानते हुए धर्म बुद्धिसे सभी दानोंको देता है, इसलिए वह वैसा पापी नहीं है किन्तु जो ऐसे असद् दानको स्वीकार करता है वह तो सर्वथा भी पात्र नहीं माना जा सकता है ॥७०॥ 'लोकमें अनेक प्रकारके दान दिये जाते हैं, या शास्त्रोंमें अनेक प्रकारके दान वतलाये गये हैं' ऐसी बुद्धि करके उनका देना यह विधि ठीक नहीं है, क्योंकि अनेक प्रकारके खाये गये विषोंसे प्राणी अत्यधिक विपत्तिको ही प्राप्त होता है। अतः उक्त कुदानोंका देना श्रेयस्कर नहीं है ॥७१॥ जिन मतमें वतलाया गया आहारादिका दान तो बहुत कम है, उससे क्या फल मिलेगा ? ऐसा कुछ विद्वान् लोग कहते हैं। आचार्य उनको उत्तर देते हुए कहते हैं कि ऐसी वात नहीं है। देखो थोड़ेसे उपभोग किये गये अमृतसे क्या मनुष्य जीवित नहीं हो जाता है ? होता ही है ॥७२॥ यदि कहा जाय कि उन भूमि-स्वर्ण-गोदानादि समस्त दानोंसे ग्रहण करने वालेको सुख प्राप्त होता है, अतः उससे दाता भी पुण्यका भागी होता है, सो ऐसा कथन युक्ति-सगत नहीं है ॥७३॥ क्योंकि उन भूमि दान आदिके द्वारा वर्तमानमें भले ही कुछ सुख प्राप्त हो, परन्तु विपाक कालमें तो अपथ्य सेवनके समान उन दुर्जर एवं जन-निन्दित दानोंके द्वारा अत्यन्त उग्र दुःख ही प्राप्त होताहै ॥७४॥ किंपाक फलके समान प्रारम्भमें सुख देने वाले और अन्तमें दुःख देनेवाले उन अधिक भूमि दानादिके देने पर भी पुण्य नहीं होता है ॥७५॥

यदि कहा जाय कि भारी भी अपात्र जीवोंके समूहका नाश करके एक पात्रके पोषण करने पर धर्म-सम्पादन होता है। सो ऐसी भाषा भी प्रशंसनीय नहीं है ॥७६॥ देखो—जो प्रतिदिन मेंढ़कोंका समूह मारकर साँपका पोषण करता है, वह पुरुष जैसा पुण्य प्राप्त करता है, निश्चयसे आपके द्वारा कहा गया वह अन्य पुरुष भी वैसे ही पुण्य-संचयको प्राप्त करता है। भावार्थ—जैसे मेंढक मारकर साँपके पोषणमें पुण्य नहीं है, उसी प्रकार जीवोंका घात करके किसी कुपात्रके पोषण करनेमें भी कोई पुण्य नहीं है ॥७७॥ दूसरी बात यह है कि जो पुरुष जीव-घातसे उत्पन्न हुआ दान अपने सुखको चाहता हुआ, स्वीकार करता है उसकी पात्रता कैसी है ? अर्थात् वह पात्र है ही नहीं, प्रत्युत कुपात्र या अपात्र है ॥७८॥ इस प्रकार कुदानोंके निषेधका उपसंहार करते हुए आचार्य कहते हैं—न तो सुवर्णादिक पदार्थ देय हैं, न उनका देनेवाला दाता ही है और न उनका ग्रहण करनेवाला सत्पात्र ही है, ऐसा जिनदेवोंका शासन (आदेश या मत) है ॥७९॥ जिसने सभी अनर्थोंका करनेवाला सुवर्णादिकका दान दिया, उसने पात्रका भी विनाश कर दिया और अधर्म भी

रागो निषूद्यते येन येन धर्मो विवर्द्धते । संयमः पोष्यते येन विवेको येन जन्यते ॥८१
आत्मोपशम्यते येन येनोपक्रियते परः । न येन नाश्यते पात्रं तद्दातव्यं प्रशस्यते ॥८२
अभयान्नौषधज्ञानभेदतस्तच्चतुर्विधम् । दानं निगद्यते सद्भिः प्राणिनामुपकारकम् ॥८३
धर्मार्थकाममोक्षाणां जीवितव्ये यतः स्थितिः । तद्दानतस्ततो दत्तास्ते सर्वे सन्ति देहिनाम् ॥८४
देवैरुक्तो वृणीष्वैकं त्रैलोक्यप्राणितव्ययोः । त्रैलोक्यं वृणुते कोऽपि न परित्यज्य जीवितम् ॥८५
त्रैलोक्यं न यतो मूल्यं जीवितव्यस्य जायते । तद्रक्षता ततो दत्तं प्राणिनां किं न कांक्षितम् ॥८६
नाभीतिदानतो दानं समस्ताधारकारणम् । महीयो निर्मलं नित्यं गगनादिव विद्यते ॥८७
आहारेण विना पुंसां जीवितव्यं न तिष्ठति । आहारं यच्छता दत्तं ततो भवति जीवितम् ॥८८
नेत्रानन्दकरं सेव्यं सर्वचेष्टाप्रवर्तनम् । अन्धसा धार्यते गात्रं जीवितेनेव जन्मिनाम् ॥८९
कान्तिः कीर्तिर्मतिः क्षान्तिः शान्तिर्नीतिर्गती रतिः । उक्तिः शक्तिर्द्युतिः प्रीतिः प्रतीतिः श्रीर्व्यवस्थितिः
आहारवर्जितं देहं सर्वे मुञ्चन्ति तत्त्वतः । द्रविणापाकृतं मर्त्यं वेश्या इव मनोरमाः ॥९१
शमो दमो दया धर्मः संयमो विनयो नयः । तपो यशो वचोदाक्ष्यं दीयतेऽन्नप्रदायिना ॥९२
क्षुद्रोगेण समो व्याधिराहारेण समौषधिः । नासीन्नास्ति न वा भावि सर्वव्यापारकारिणी ॥९३

प्रवर्तित किया, ऐसा जानना चाहिए ॥८०॥ अब आचार्य देने योग्य वस्तुका वर्णन करते हैं—जिससे रागभाव नाशको प्राप्त हो, जिससे धर्म बढ़े, जिससे सयम पुष्ट हो, जिससे विवेक उत्पन्न हो, जिससे आत्मा उपशम भावको प्राप्त हो, जिससे दूसरेका उपकार किया जाय और जिससे पात्र विनाशको प्राप्त न हो, वही वस्तु दाताके देने योग्य है और वही देय प्राज्ञपुरुपोंके द्वारा प्रशंसाको प्राप्त होता है ॥८१-८२॥ प्राणियोंका उपकार करनेवाला वह दान अभय आहार औपध और ज्ञान-दानके भेदसे सन्त पुरुषोंने चार प्रकारका कहा है ॥८३॥

यत: जीवनके स्थित रहनेपर ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप चारों पुरुपार्थोकी स्थिति संभव है, अत: जीवोंको जीवन (अभय) दान देनेसे वे सभी पुरुपार्थ दिये जाते हैं, ऐसा समझना चाहिए ॥८४॥ यदि देवतागण किसीपर प्रसन्न होकर कहें कि तुम त्रैलोक्यका राज्य और जीवितव्य इन दोनोंमेंसे किसी एकको वरण करो अर्थात् माँगो; तो क्या कोई पुरुप जीवनको छोड़कर त्रैलोक्यके साम्राज्यका वरण करेगा ? कदापि नहीं ॥८५॥ यत: त्रैलोक्य भी जीवनका मूल्य नहीं है, अत: उस जीवनकी रक्षा करनेवालेने प्राणियोंको कौन-सी मनोवांछित वस्तु नहीं दी ? अर्थात् सभी दी; ऐसा समझना चाहिए ॥८६॥ आकाशके समान समस्त वस्तुओंके आधारका कारण, महान्, निर्मल और नित्य ऐसा अभयदानके सिवाय और कोई दान नहीं है ॥८७॥ ऐसे अभय दान का वर्णन किया । अब आहारदानका निरूपण करते हैं—आहारके विना पुरुषोंका जीवन नहीं ठहर सकता है, अतएव आहार देनेवाले पुरुषके द्वारा जीवन ही दिया जाता है, ऐसा जानना चाहिए ॥८८॥ जीवितव्य (आयुर्वल) के समान नेत्रोंको आनन्दकारी, सेवन योग्य और सर्व चेष्टाओंके प्रवर्तनरूप जीवोंका देह आहारसे ही धारण किया जाता है ॥८९॥ जिस प्रकार धनसे रहित पुरुपको मनोहर वेश्याएं छोड़ देती हैं । उसी प्रकार आहारसे रहित देहको कान्ति कीर्त्ति, बुद्धि, क्षमा, शान्ति, नीति, गति, रति, उक्ति, शक्ति, दीप्ति, प्रीति, प्रतीति, लक्ष्मी और स्थिरता ये सब भी छोड़ देती हैं ॥९०-९१॥ अन्न दान देनेवालेके द्वारा कषायोंकी मन्दतारूप शमभाव, इन्द्रिय-दमन, दया, धर्म, संयम, विनय, नीति, तप, यश, और वचनकी दक्षता ये सव गुण दिये जाते हैं ॥९२॥ इस संसारमें क्षुधारोगके समान कोई व्याधि और आहारके समान सर्व व्यापार करानेवाली

दुर्गन्धि ववथितं शीर्णं विवर्णं नष्टचेष्टितम् । भोजनेन विना गात्रं जायते मृतकोपमम् ॥९४
न पश्यति न जानाति न शृणोति न जिघ्रति । न स्पृशति न वा वक्ति भोजनेन विना जनः ॥९५
प्रविक्रीयान्नकृच्छ्रेषु कान्ताकन्यातनूभुवः । आहारं गृह्णते लोका वल्लभानपि निश्चितम् ॥९६
यया खादन्त्यभक्ष्याणि क्षुधाया क्षपिता जनाः । सा हन्यतेऽशनेनैव राक्षसीव भयंकरी ॥९७
यथैवाहारमात्रेण शरीरं रक्ष्यते नृणाम् । चामीकरस्य कोटीभिर्बह्वीभिरपि नो तथा ॥९८
क्षिप्रं प्रकाश्यते सर्वमाहारेण कलेवरम् । नभो दिवाकरेणेव तमोजालावगुण्ठितम् ॥९९
न शक्नोति तपः कर्तुं सरोगः संयतो यतः । ततो रोगापहारार्थं देयं प्रासुकमौषधम् ॥१००
न देहेन विना धर्मो न धर्मेण विना सुखम् । यतोऽतो देहरक्षार्थं भैषज्यं दीयते यतः ॥१०१
शरीरं संयमाधारं रक्षणीयं तपस्विनाम् । प्रासुकैरौषधैः पुंसा यत्नतो मुक्तिकांक्षिणा ॥१०२
विवेको जन्यते येन संयमो येन पाल्यते । धर्मः प्रकाश्यते येन मोहो येन निहन्यते ॥१०३
मनो नियम्यते येन रागो येन निकृत्यते । तद्देयं भव्यजीवानां शास्त्रं निर्धूतकल्मषम् ॥१०४
विवेको न विना शास्त्रं तद्वतेन तपो यतः । ततस्तपोविधानार्थं देयं शास्त्रमनिन्दितम् ॥१०५
वस्त्रपात्राश्रयादीनि पराण्यपि यथोचितम् । दातव्यानि विधानेन रत्नत्रितयवृद्धये ॥१०६

कोई औषधि न तो भूतकालमें हुई है, न वर्तमानमें है और न भविष्यकालमें होगी ही ॥९३॥ भोजन के विना यह शरीर दुर्गन्ध युक्त, विकृत, जीर्ण शीर्ण, विरूप और चेष्टा-शून्य मरे हुएके समान हो जाता है ॥९४॥ भोजनके विना मनुष्य न देख पाता है, न कुछ जान पाता है, न सुनता है, न सूंघता है, न स्पर्श कर पाता है और न बोल ही पाता है ॥९५॥ अन्नका कष्ट पड़नेपर दुर्भिक्षके समय लोग अपनी प्यारी स्त्री, कन्या और प्रिय पुत्रोंको भी बेंच देते हैं और बदलेमें आहारको ग्रहण करते हैं ॥९६॥ जिस क्षुधासे पीड़ित जन नहीं खाने योग्य वस्तुओंको भी खाने लगते हैं, राक्षसीके समान भयंकर वह क्षुधा आहारसे ही नष्ट होती है ॥९७॥ केवल आहारके द्वारा मनुष्यों का शरीर जैसा रक्षित होता है, वैसा अनेक सुवर्ण कोटि दीनारोंसे भी रक्षित नहीं हो पाता है ॥९८॥ जैसे अन्धकारके जालसे आच्छादित आकाश सूर्यसे शीघ्र प्रकाशमान हो जाता है इसी प्रकार भूखसे पीड़ित शरीर आहारसे शीघ्र कान्ति युक्त हो जाता है। अतः आहार दान श्रेष्ठ है और उसे देना चाहिए ॥९९॥

अब आचार्य औषधिदानका वर्णन करते हैं—यतः रोग-सहित साधु तप नहीं कर सकता, अतः उसके रोगको दूर करनेके लिए प्रासुक औषधि देना चाहिए ॥१००॥ यतः देहके विना धर्म संभव नहीं, और धर्मके विना सुख मिलना संभव नहीं, अतः देहकी रक्षाके लिए साधुको औषधि देनी चाहिए ॥१०१॥ संयमका आधार शरीर है, अतः तपस्वियोंके शरीरकी मुक्ति चाहनेवाले पुरुष प्रासुक औषधियोंसे प्रयत्न पूर्वक रक्षा करें ॥१०२॥ अब आचार्य ज्ञान (शास्त्र) दानका वर्णन करते हैं—जिसके द्वारा हित-अहितका विवेक उत्पन्न होता है जिसके द्वारा संयम पाला जाता है, जिसके द्वारा धर्म प्रकाशित होता है, जिसके द्वारा मोह नष्ट होता है, जिसके द्वारा मनका निग्रह होता है और जिससे रागका उच्छेद किया जाता है, ऐसा पाप-नाशक शास्त्र (ज्ञान) दान भव्य जीवोंको देना चाहिए ॥१०३-१०४॥ यतः शास्त्रके विना विवेक जागृत नहीं होता है और उसके विना तप नहीं हो सकता है, अतः तपको करनेके लिए निर्दोष शास्त्रको देना चाहिए॥१०५॥ उपर्युक्त चार दानोंके सिवाय संयमी पुरुषोंको रत्नत्रयधर्मकी वृद्धिके लिए विधिपूर्वक वस्त्र, पात्र,

वर्यमध्यजघन्यानां पात्राणामुपकारकम् । दानं यथायथं देयं वैयावृत्यविधायिना ॥१०७

पोष्यन्ते येन चित्राः सकलसुखफलस्तोमरोपप्रवीणाः
सम्यक्त्वज्ञानचर्या यमनियमतपोवृक्षजातिप्रबन्धाः ।
भव्यक्षोणीषु तद्यः क्षतनिखिलमलं मुञ्चते दानतोयं ।
तुल्यस्तस्योपकारी मधुपरवकृतो भव्यमेघस्य नान्यः ॥१०८

वात्सल्यासक्तचित्तो नयविनयपरो दर्शनालङ्कृतात्मा,
देयादेये विदित्वा वितरति विधिना यो यतिभ्योऽत्र दानम् ।
कीर्तिं कुन्दावदातामिमितगतिमतां पूरयन्तीं त्रिलोकीं,
लब्ध्वा क्षिप्रं स याति क्षपितभवभयं मोक्षमक्षीणसौख्यम् ॥१०९

इत्युपासकाचारे नवमः परिच्छेदः समाप्तः ।

दशमः परिच्छेदः

पात्रकुपात्रापात्राण्यवबुध्य फलार्थिना सदा देयम् । क्षेत्रमनवबुद्धचोप्तं बीजं नहि फलति फलमिष्टम् ।
पात्रं तत्वपटिष्ठैरुत्तममध्यमजघन्यभेदेन । त्रेधा क्षेत्रमिवोक्तं त्रिविधफलनिमित्ततां ज्ञात्वा ॥२
उत्तममुत्तमगुणतो मध्यमगुणतोऽत्र मध्यमं पात्रम् । विज्ञेयं बुद्धिमता जघन्यगुणतो जघन्यं च ॥३
तत्रोत्तमं तपस्वी विरताविरतश्च मध्यमं ज्ञेयम् । सम्यग्दर्शनभूषः प्राणी पात्रं जघन्यं स्यात्[1] ॥४

आश्रय आदि यथायोग्य पात्रका विचारकर देना चाहिए ॥१०६॥ इस प्रकार उत्तम पात्र मुनिजन, मध्यम पात्र एकादश प्रतिमाधारी श्रावक और जघन्य पात्र अविरत सम्यग्दृष्टि, इन तीनों ही प्रकारके पात्रोंको उनका उपकार करनेवाली वस्तु वैयावृत्य करनेवाले गृहस्थ के द्वारा यथायोग्य दानमें देना चाहिए ॥१०७॥ जिस भव्यरूप मेघके जल-दानसे समस्त सुखरूप फलोंके समूहोंके रोपनेमें प्रवीण नाना प्रकारके सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र, यम, नियम, तपरूप वृक्षजातियोंके समुदाय पुष्टिको प्राप्त होते हैं, और जो भव्यजीवरूपी पृथ्वी पर सर्व मलको नाश करनेवाले दानरूप जलको वरसाता है, उस मधुर शब्द करनेवाले भव्यरूप मेघके समान जीवोंका उपकारी और कोई अन्य नहीं है ॥१०८॥ वात्सल्य भावमें जिसका चित्त आसक्त है, नीति और विनयमें तत्पर है, जिसका आत्मा सम्यग्दर्शन से अलंकृत है, ऐसा जो गृहस्थ देय और अदेय वस्तुको जानकर विधिपूर्वक साधुओंको दान देता है, वह अमित ज्ञानियोंके द्वारा कही गई, कुन्द पुष्पके समान उज्ज्वल, और तीन लोकमें व्याप्त होनेवाली कीर्त्तिको पाकर शीघ्र ही अनन्त सुखवाले और संसारके भयको नष्ट करनेवाले मोक्षको प्राप्त करता है ॥१०९॥

इस प्रकार अमितगति विरचित श्रावकाचारमें नवाँ परिच्छेद समाप्त हुआ ।

फलके इच्छुक पुरुष द्वारा सदा ही पात्र, कुपात्र और अपात्रको जानकर ही दान देना चाहिए । क्योंकि क्षेत्रका विचार किये विना बोया गया बीज इष्ट बीजको नहीं फलता है ॥१॥ तत्त्वके जानकारोंने उत्तम, मध्यम और जघन्यके भेदसे पात्रको तीन प्रकारका कहा है । जैसे कि तीन प्रकारके फल पानेके निमित्तसे जानकर क्षेत्रको तीन प्रकारका कहा गया है ॥२॥ बुद्धिमान् पुरुषके द्वारा उत्तम गुणसे उत्तम पात्र, मध्यम गुणसे मध्यम पात्र और जघन्य गुणसे जघन्य पात्र जानने योग्य है ॥३॥ इनमें तपस्वी साधु उत्तम पात्र है, विरताविरत श्रावक मध्यमपात्र है और सम्यग्द-

---

१ म. 'च'. पाठः

जीवगुणमार्गणविधिं विधानतो यो विबुध्य निश्शेषम् । रक्षति जीव नकायं सवितेव परोपकारपरः ॥५
पथ्यं तथ्यं श्रव्यं वचनं हृदयङ्गमं गुणगरिष्ठम् । यो ब्रूते हितकारी परमानसतापतो भीतः ॥६
निर्माल्यकमिव मत्वा परवित्तं यस्त्रिधाऽपि नादत्ते । दन्तान्तरशोधनमपि पतितं दृष्ट्वाऽप्यदत्त मतिः ॥७
तिर्यङ्मानुषदेवाचेतनभेदां चतुर्विधां योषाम् । परिहरति यः स्थिरात्मा मारीमिव सर्वथा घोराम् ८
विविधं चेतनजातं सङ्गं चेतनमचेतनं त्यक्त्वा । यो नादत्ते भूयो वान्तमिवान्नं त्रिधा धीरः ॥९
त्रिविधालम्बनशुद्धिः प्रासुकमार्गेण यो दयाधारः । युगमात्रान्तरदृष्टिः परिहरमाणोऽङ्गिनो याति १०
हृदयं विभूषयन्तीं वाणीं तापापहारिणीं विमलाम् । मुक्तानामिव मालां यो ब्रूते सूत्रसम्बद्धाम् ॥११
षट्चत्वारिंशद्दोषापोढां यो विशुद्धिनवकोटीम् । मृष्टामृष्टसमानो भुक्तिं विदधाति विजिताक्षः १२
द्रव्यं विकृतिपुरःसरमङ्गिग्रामप्रपालनासक्तः । गृह्णाति यो विमुञ्चति यत्नेन दयाङ्गनाश्लिष्टः ॥१३
निर्जन्तुकेऽविरोधे दूरे गूढे विसङ्कटे क्षिपति । उच्चारप्रस्रवणश्लेष्माद्यं यः शरीरमलम् ॥१४

जिनवचनपञ्जरस्थं विहाय बहुदुःखकारणं क्षिप्रम् ।
विदधाति यः स्ववश्यं मर्कटमिव चञ्चलं चित्तम् ॥१५
यो वचनौषधमनघं जन्मजरामरणरोगहरणपरम् ।
बहुशो मौनविधायी ददाति भव्याङ्गिनां महितम् ॥१६

र्शनसे भूषित व्रत-रहित जीव जघन्य पात्र जानना चाहिए ॥४॥ अब उत्तम पात्रका स्वरूप कहते हैं—जो मनुष्य जीवसमास, गुणस्थान और मार्गणाओंके स्वरूपको भली भाँतिसे जानकर सर्व त्रस-स्थावर जीव-समूहकी रक्षा करता है, सूर्यके समान परोपकार करनेमें तत्पर है, जो परके चित्त-सन्तापसे डरता हुआ पथ्य, तथ्य, श्रव्य; हृदय ग्राह्य-गुणगरिष्ठ हितकारी वचन बोलता है, जो पराये धनको निर्माल्यके समान समझकर मन वचन कायसे उसे ग्रहण नहीं करता है, यहाँ तक कि दाँतोंके भीतर लगे मैलको दूर करनेके लिए गिरे हुए तिनके को देखकर भी उसके उठानेकी बुद्धि नहीं करता है, जो स्थिर चित्त तिर्यंची, मनुष्यनी, देवी और अचेतन पुतली रूप चारों प्रकारकी स्त्रियों को भयंकर मारीके समान समझकर उनका परिहार करता है, जो धीर अनेक प्रकारके चेतन और अचेतन सभी परिग्रहोंको छोड़ वमन किये हुए अन्नके समान त्रियोगसे पुनः नहीं ग्रहण करता है, जो दयाको धारण कर त्रियोगकी आलंबन शुद्धिवाला चार हाथ प्रमाण भूमिको देखता हुआ और प्राणियोंकी रक्षा करता हुआ प्रासुक मार्गसे जाता है, जो सूत्र (आगम और धागा) से संबद्ध मोतियोंकी मालाके समान हृदयको भूषित करनेवाली, सन्तापको दूर करनेवाली ऐसी निर्मल वाणीको बोलता है, जो इन्द्रिय-विजयी छयालीस दोष-रहित, नव कोटीसे विशुद्ध, ऐसे रूक्ष-स्निग्ध भोजनको समान मानता हुआ खाता है, जो दयासे आलिंगित शरीर वाला प्राणियोंके समूहकी परिपालनामें आसक्त चित्त होकर विकृति पुरस्सर द्रव्यको अर्थात् हस्तादिके धोने योग्य भस्म आदि को और शास्त्र पीछी कमण्डलु आदि ज्ञान-संयमके साधनोंको यत्न-पूर्वक ग्रहण करता है और यत्न-पूर्वक ही रखता है, जो जीव-रहित, छिद्र-रहित, विरोध-रहित दूरवर्ती गुप्त और संकट-रहित स्थान पर मल मूत्र कफ आदिक शारीरिक मलका क्षेपण करता है, जो वानरके समान चंचल और अनेक दुःखोंका कारणभूत चित्तको जिन वचनरूप पिंजरेमें बन्द कर अपने वशमें रखता है, जो प्रायः मौन धारण करता है, तो भी जरा मरण रोगको दूर करनेवाली निर्दोष औषधिके समान अपनी महती वाणीको भव्य जीवोंके लिए प्रदान करता है, कर्मोका क्षय करनेके लिए कायोत्सर्ग करता है, संसारसे भयभीत है, कर्तव्य और अकर्तव्यमें निपुण है, जो आगमानुमोदित कार्यको

कायोत्सर्गविधायी कर्मक्षयकारणाय भवभीतः। कृत्याकृत्यपरो यः कार्य वितनोति सूत्रमतम् ॥१७
यस्येत्थं स्थेयस्य सम्यग्व्रतसमितिगुप्तयः सन्ति। प्रोक्तं स पात्रमुत्तममुत्तमगुणभाजनं जैनैः ॥१८
रागो द्वेषो मोहो क्रोधो लोभो मदः स्मरो माया। यं परिहरन्ति दूरं दिवाकरमिवान्धकारचयः १९
दर्शनबोधचरित्रत्रितयं यस्यास्ति निर्मलं हृदये। आनन्दितभव्यजनं विमुक्तिलक्ष्मीवशीकरणम् ॥२०
यस्यानवद्यवृत्तेर्जङ्गममिव मंदिरं तपोलक्ष्म्याः। कायक्लेशैरुग्रैः कृशीकृतं राजते गात्रम् ॥२१
यैर्विजिता जगदीशा विविधा विपदः सदा प्रपद्यन्ते। तानीन्द्रियाणि सद्यो महीयसा येन जीयन्ते ॥२२
पूजायामपमाने सौख्ये दुःखे समागमे विगमे। क्षुभ्यति यस्य न चेतः पात्रमसावुत्तमं साधुः ॥२३
यस्य स्वपरविभागो न विद्यते निर्ममत्वचित्तस्य। निर्बाधबोधदीपप्रकाशिताशेपतत्त्वस्य ॥२४
संसारवनकुठारं दातुं कल्पद्रुमं फलमभीष्टम्। यो धत्ते निरवद्यं क्षमादिगुणसाधनं धर्मम् ॥२५
लोकाचारनिवृत्तः कर्ममहाशत्रुमर्दनोद्युक्तः। यो जातरूपधारी स यतिः पात्रं मतं वर्यम् ॥२६

करता है, इस प्रकारसे जिस साधुके सम्यक् महाव्रत, समिति और गुप्तियाँ पाई जाती हैं, उसे जैन लोगोंने उत्तम गुणोंका भाजन उत्तम पात्र कहा है ॥५-१८॥

भावार्थ—इन तेरह श्लोकोंमें क्रमशः पाँच महाव्रत, पाँच समिति, और तीन गुप्तिरूप तेरह प्रकारके चारित्रके धारक साधुको उत्कृष्ट पात्र कहा गया है। अव इसी उत्तम पात्रका और भी विशेष स्वरूप कहते हैं—जैसे अन्धकारका समूह सूर्यको दूरसे ही त्यागता है, इसी प्रकार जिस साधुको राग द्वेष मोह लोभ क्रोध मद कामविकार माया आदि दोष दूरसे ही त्यागते हैं, अर्थात् दूर रहते हैं, जिसके हृदयमें भव्यजनोंको आनन्दित करनेवाला और मोक्ष लक्ष्मीको वशमें करने वाला निर्मल सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्ररूप रत्नत्रय धर्म विद्यमान है, जिस निर्दोप वृत्तिवाले साधुका उग्र कायक्लेशोंसे कृश किया हुआ शरीर तपोलक्ष्मीके जंगम (चलनेवाला) मन्दिरके समान शोभा-को प्राप्त करता है, जिनके द्वारा पराजित हुए जगत्के ईश्वर ब्रह्मा विष्णु महेश इन्द्रादिक देव भी सदा नाना विपदाओंको पाते हैं, ऐसी वलवती इन्द्रियोंको भी जिस महात्माने अति शीघ्र जीत लिया है, जिसका चित्त पूजामें, अपमानमें, सुखमें दुःखमें और संयोगमें वियोगमें क्षोभको प्राप्त नहीं होता है, वह साधु उत्तम पात्र है ॥१९-२३॥ जिसका चित्त ममतासे रहित है, और वाधा-रहित ज्ञानरूप दीपकके प्रकाशसे समस्त तत्त्वोंका ज्ञायक है, ऐसे जिस साधुके अपने और परायेका विभाग नहीं है, जो संसाररूप वनको कुठारके समान और अभीष्ट फलको देनेके लिए कल्पवृक्षके समान क्षमा आदि गुणोंके द्वारा सिद्ध होनेवाले निर्दोप धर्मको धारण करता है, जो लोकाचारसे रहित है, कर्मरूप महाशत्रुओंके मर्दन करनेके लिए उद्यत है, और यथाजातरूप दिगम्बर वेपको धारण करता है, ऐसा साधु उत्तम श्रेष्ठ पात्र माना गया है ॥२४-२६॥ अव मध्यम पात्रका स्वरूप कहते हैं—जो पूर्णमासीके चन्द्रमाके समान उज्ज्वल सम्यग्दर्शनसे भूषित हो, जिसकी व्रत और शीलरूपी लक्ष्मी बढ़ रही हो, जिसकी चित्तवृत्ति सामायिक करनेमें संलग्न हो, निरन्तर चारों पर्वोमें उपवास करनेसे जिसका शरीर कृश हो रहा हो, सचित्त आहारसे जिसका चित्त निवृत्त हो, जो वैरागी हो और दिवामैथुन-सेवनसे रहित हो, जिसने सदा ही दिन और रातमें स्त्री-सेवनका त्याग किया हो, जिसने असंयम-कारक सर्व आरम्भोंका निराकरण कर दिया हो, जिसने सर्व प्रकारके परिग्रहकी इच्छाका निवारण कर दिया हो, जो सावद्य (पाप-युक्त) कार्योंकी अनुमोदना न करता हो, अपने उद्देश्यसे वनाये गये आहारसे जिसकी वुद्धि निवृत्त हो, इस प्रकार ग्यारह प्रतिमाधारी हो और

राकाशशाङ्कोज्ज्वलदृष्टिभूपः, प्रवर्धमानव्रतशीललक्ष्मीः ।
सामायिकारोपितचित्तवृत्तिर्निरन्तरोपापितशोपिताङ्गः ॥२७
सचेतनाहारनिवृत्तचित्तो वैरागिको मुक्तदिनव्यवायः ।
निरस्तशश्वद्वनितोपभोगो निराकृतासंयमकारिकर्मा ॥२८
निवारिताशेषपरिग्रहेच्छः सावद्यकर्मानुमतेरकर्त्ता ।
औद्देशिकाहारनिवृत्तबुद्धिर्दुरन्तसंसारनिपातभीतः ॥२९
उपासकाचारविधिप्रवीणो मन्दीकृताशेषकषायवृत्तिः ।
उत्तिष्ठते यो जननव्यपाये तं मध्यमं पात्रमुदाहरन्ति ॥३०
कुमुदबान्धवदीधितिदर्शनो भवजरामरणार्तिविभीलुकः ।
कृतचतुर्विधसङ्घहिते हितो जननभोगशरीरविरक्तधीः ॥३१
भवति यो जिनशासनभासकः सततनिन्दनगर्हणचञ्चुरः ।
स्वपरतत्त्वविचारणको विदोव्रतविधाननिरुत्सुकमानसः ॥३२
जिनपतीरिततत्त्वविचक्षणो विपुलधर्मफलेक्षणतोषितः ।
सकलजन्तुदयार्द्रितचेतनस्तमिह पात्रमुशन्ति जघन्यकम् ॥३३
चरति यश्चरणं परदुश्चरं विकटघोरकुदर्शनवासितः ।
निखिलसत्त्वहितोद्यतचेतनो वितथकर्कशवाक्यपराङ्मुखः ॥३४
धनकलत्रपरिग्रहनिःस्पृहो नियमसंयमशीलविभूषितः ।
कृतकषायहृषीकविनिर्जयः प्रणिगदन्ति कुपात्रमिमं बुधाः ॥३५
गतकृपः प्रणिहन्ति शरीरिणो वदति यो वितथं परुषं वचः ।
हरति वित्तमदत्तमनेकधा मदनबाणहतो भजतेऽङ्गनाम् ॥३६

इस दुरन्त संसार-सागरमें गिरनेके भयसे डर रहा हो, श्रावकोंके आचार विधिमें प्रवीण हो, जिसने अपनी समस्त कपायवृत्तिको मन्द कर दिया हो, तथा जो संसारके विनाशमें उद्यत हो, ज्ञानियोंने उसे मध्यम पात्र कहा है ॥२७-३०॥

अब जघन्य पात्रका स्वरूप कहते हैं—जिसका सम्यग्दर्शन कुमुदबन्धु—चन्द्रकी किरणोंके समान उज्ज्वल हो, जो जन्म जरा और मरणके दुःखोंसे भयभीत हो, जिसने चतुर्विध संघके हित-का भाव किया हो, संसार शरीर और भोगोंसे विरक्त चित्त हो, जो जिनशासनका प्रभावक हो, निरन्तर अपनी निन्दा और गर्हामें प्रवीण हो, जो स्व-परतत्त्वके विचारनेमें विद्वान् हो, जिसका मन व्रतोंके धारण करनेमें उत्सुक न हो, फिर भी जिनेन्द्रदेवके द्वारा प्ररूपित तत्त्वोंका जानकार हो, धर्मके विशाल फलके देखनेसे सन्तुष्ट हो और सर्व प्राणियोंपर जिसका हृदय दयासे द्रवित हो, ऐसे अविरति सम्यग्दृष्टि जीवको जघन्य पात्र कहते हैं ॥३१-३३॥ अब कुपात्रका स्वरूप कहते हैं—जो विकट घोर मिथ्यात्वसे वासित चित्त हो फिर भी परम दुष्कर तपश्चरण करता हो, जिसका चित्त सकल प्राणियोंके हित करनेमें उद्यत हो, असत्य, कर्कश वचन बोलनेसे पराङ्मुख हो, धन, स्त्री और परिग्रहसे निःस्पृह हो, नियम, संयम और शीलसे विभूपित हो, जिसने कषाय और इन्द्रियोंका विजय किया हो, ऐसे पुरुपको बुधजन कुपात्र कहते हैं ॥३४-३५॥

अब अपात्रका स्वरूप कहते हैं—जो निर्दय होकर प्राणियोंको मारता, जो असत्य और पुरुप

विविधदोषविधायिपरिग्रहः पिवति मद्यमयन्त्रितमानसः।
कृमिकुलाकुलितं ग्रसते[1] फलं कलिलकर्मविधानविशारदः ॥३७
दृढकुटुम्बपरिग्रहपञ्जरः प्रशमशीलगुणव्रतवर्जितः।
गुरुकषायभुजङ्गमसेवितो विषयलोलमपात्रमुशन्ति तम् ॥३८
विबुध्य पात्रं बहुधेति पण्डितैर्विशुद्धबुद्ध्या गुणदोषभाजनम्।
विहाय गर्ह्यं परिगृह्य पावनं शिवाय दानं विधिना वितीर्यते ॥३९
कृतोत्तरासङ्गपवित्रविग्रहो निजालयद्वारगतो निराकुलः।
ससम्भ्रमः स्वीकुरुते तपोधनं नमोऽस्तु,तिष्ठेति कृतध्वनिर्नतः ॥४०
सुसंस्कृते पूज्यतमे गृहान्तरे तपस्विनं स्थापयते विधानतः।
मनीषितानेकफलप्रदायकं सुदुर्लभं रत्नमिवास्तदूषणम् ॥४१
अनेकजन्मार्जितकर्मकर्तिनस्तपोनिधेस्तत्र पवित्रवारिणा।
स सादरं क्षालयते पदद्वयं विमुक्तये मुक्तिसुखाभिलाषिणः ॥४२
प्रसूनगन्धाक्षतदीपिकादिभिः प्रपूज्य मर्त्यामरवर्गपूजितम्।
मुदा मुमुक्षोः पदपङ्कजद्वयं स वन्दते मस्तकपाणिकुड्मलः ॥४३
मनोवचःकायविशुद्धिमञ्जसा विधाय विध्वस्तमनो भवद्विषे।
चतुर्विधाहारमहार्यनिश्चयो ददाति स प्रासुकमात्मकल्पितम् ॥४४

वचन बोलता हो, जो विना दिया धन अनेक अवैध मार्गोसे हरण करता हो, कामवाणसे पीड़ित होकर जो स्त्रीका सेवन करता हो, अनेक दोषोंका विधायक परिग्रह रखता हो, जो मद्यको पीता हो, अनियन्त्रित चित्त हो, जो कृमि-समूहसे भरे हुए मांस और उदुम्बर फलोंको खाता हो, पाप-कर्मोंके करनेमें विशारद हो, जो कुटुम्ब और परिग्रहके दृढ़ पिंजरेमें वन्द हो, जो प्रशमभाव, शील, व्रत और गुणव्रतसे रहित हो, जो प्रवल कषायरूप भुजंगोंसे सेवित हो और इन्द्रियोंके विषयोंका लोलुपी हो, ऐसे पुरुषको अपात्र कहते हैं ॥३६-३८॥ इस प्रकार पंडितजन अपनी विशुद्ध बुद्धिसे गुण और दोषके भाजन अनेक प्रकारके पात्रोंको जानकर निंद्य पात्रको छोड़कर और पवित्र पात्रको ग्रहण कर मोक्ष-प्राप्तिके लिए विधि-पूर्वक दान देते हैं ॥३९॥ अव उत्तम पात्रको आहार देनेकी विधि कहते हैं—जिसने स्नानसे पवित्र होकर धोती और दुपट्टा धारण किया है, जो अपने भवनके द्वारपर खड़ा है, आकुलतासे रहित है. ऐसा श्रावक स्वयं आये हुए तपोधन साधुको देखकर 'नमोऽस्तु', 'तिष्ठ' ऐसी ध्वनि करता हुआ अत्यन्त हर्षके साथ उन्हें स्वीकार करता है, अर्थात् पडिगाहता है, पुनः सुसंस्कृत और पूज्यतम गृहके मध्यमें विधिपूर्वक उस तपस्वीको वैठाता है, पुनः मनोवांछित अनेक फलोंके देनेवाले, अति दुर्लभ निर्दोष रत्नके समान अनेक जन्म-संचित कर्मोंको काटनेवाले और मुक्ति-सुखके अभिलाषी उस तपोनिधिके चरण-युगलको मुक्ति पानेके लिए पवित्र जलसे सादर प्रक्षालन करता है, पुनः मनुष्य और देव गणसे पूजित उस मुमुक्षु साधुके चरण-कमल-युगलक पुष्प, गन्ध, अक्षत, दीपक आदि द्रव्योंसे पूजाकर अपने मस्तकपर हस्त-युगलको जोड़कर रखते हुए उनकी वन्दना करता है, पुनः मन वचन कायकी शुद्धिको करके निश्चयसे कामदेव-रूपी शत्रुके विध्वंसक उस तपोधनको अपने लिए वनाये प्रासुक चतुर्विध आहारको अप-

---

१. मु० 'पलं' पाठः।

अनेन दत्तं विधिना तपस्विनां महाफलं स्तोकमपि प्रजायते ।
वसुन्धरायां वटपादपस्य किं न वीजमुप्तं परमेति विस्तरम् ॥४५
निवेशितं वीजमिलातलेऽनघे विना विधानं न फलावहं यथा ।
तथा न पात्राय वितीर्णमञ्जसा ददाति दानं विधिना विना फलम् ॥४६
सदाऽतिथिभ्यो विनयं वितन्वता निजं प्रदेयं प्रियजल्पिना धनम् ।
प्रजायते कर्कशभाषिणा स्फुटं धनं वितीर्णं गुरुवैरकारणम् ॥४७
निगद्य यः कर्कशमस्तचेतनो निजं प्रदत्ते द्रविणं शठत्वतः ।
सुखाय दुःखोदयकारणं परं मूल्येन गृह्णाति स दुर्मनाः कलिम् ॥४८
सम्यग्भक्तिं कुर्वतः संयतेभ्यो द्रव्यं भावं कालमालोक्य दत्तम् ।
दातुर्दानं भूरि पुण्यं विधत्ते सामग्रीतः सर्वकार्यप्रसिद्धिः ॥४९
वला हकादेकरसं विनिर्गतं यथा पयो भूरिरसं निसर्गतः ।
विचित्रमाधारमवाप्य जायते तथा स्फुटं दानमपि प्रदातृतः ॥५०॥
घटे यथाऽऽमे सलिलं निवेशितं पलायते क्षिप्रमसौ च भिद्यते ।
तथा वितीर्णं विगुणाय निष्फलं प्रजायते दानमसौ च नश्यते ॥५१॥
विना विवेकेन यथा तपस्विना यथा पटुत्वेन विना सरस्वती ।
तथा विधानेन विना वदान्यता न जायते कर्मकरी कदाचन ॥५२॥

रिहार्य नियमके साथ अलोभवृत्तिसे देता है। सारांश—उक्त प्रकारसे पडिगाहना आदि नवधा भक्तिपूर्वक साधुओंको निर्दोष प्रासुक आहार देना चाहिए ॥४०–४४॥

इस उपर्युक्त विधिसे तपस्वियोंको दिया गया थोड़ा सा भी दान महान् फलको उत्पन्न करता है। उत्तम भूमिमें बोया गया वट वृक्षका बीज क्या महा विस्तारको नहीं प्राप्त होता है? होता ही है ॥४५॥ और जैसे निर्दोष भी भूमितल पर विना विधिके बोया गया बीज फल-प्रदायक नहीं होता है, उसी प्रकार विना विधिके पात्रके लिए दिया गया दान भी नियमसे फलको नहीं देता है ॥४६॥ इसलिए सदा ही विनयका विस्तार करते हुए प्रिय वचन बोलनेवाले गृहस्थको अतिथियोंके लिए अपना धन देना चाहिए। क्योंकि कर्कश बोलनेवाले दाताके द्वारा दिया गया धन नियमसे महा वैरका कारण होता है ॥४७॥ जो निर्बुद्धि पुरुप मूर्खतासे कर्कश वचन बोल कर सुख पानेके लिए पात्रोंको धन देता है, वह दुर्बुद्धि धनरूप मूल्यसे परम दुखोंके उदयके कारणभूत पापको ग्रहण करता है ॥४८॥ जो बुद्धिमान् पुरुष द्रव्य, क्षेत्र, काल भावका विचार करके भले प्रकारसे भक्तिको करते हुए संयमी पुरुषोंके लिये दान देता है, वह दान दाताके लिए भारी पुण्यका विधान करता है, क्योंकि सभी कार्योंकी सिद्धि समुचित कारण-सम्पन्न सामग्रीसे होती है ॥४९॥ जैसे मेघसे एक रसवाला निकला हुआ जल नाना प्रकारके आधारोंको पाकर स्वभावतः विभिन्न रसवाला हो जाता है उसी प्रकार दातासे दिया गया एक प्रकारका भी दान पात्रोंके भेदसे स्पष्टतः नाना प्रकारका फल देनेवाला हो जाता है ॥५०॥ जैसे मिट्टीके कच्चे घड़ेमें भरा हुआ जल शीघ्र ही बाहिर निकल जाता है और वह घड़ा भी फूट जाता है, इसी प्रकार गुण-रहित पात्रके लिए दिया गया दान भी निष्फल जाता है और वह पात्र भी विनष्ट हो जाता है ॥५१॥ जैसे विवेकके विना तपस्वीपना सुखकारी नहीं, जैसे चातुर्यके विना सरस्वती सुख कारिणी नहीं है, उसी प्रकार नवधा भक्तिरूप विधि विधानके

यथा वितीर्णं भुजगाय पावनं प्रजायते प्राणहरं विषं पयः ।
भवत्यपात्राय धनं गुणोज्ज्वलं तथा प्रदत्तं बहुदोषकारणम् ॥५३॥
वितीर्य यो दानमसंयदात्मने जनः फलं कांक्षति पुण्यलक्षणम् ।
वितीर्य बीजं ज्वलिते स पावके समीहते सस्यमपास्तदूषणम् ॥५४॥
विमुच्य यः पात्रमवद्यविच्छिदे कुधीरपात्राय ददाति भोजनम् ।
स कर्षितं क्षेत्रमपोह्य सुन्दरं फलाय बीजं क्षिपते बतोपले ॥५५॥
यथा रजोधारिणि पुष्टिकारणं विनश्यति क्षीरमलाबुनि स्थितम् ।
प्ररूढमिथ्यात्वमलाय देहिने तथा प्रदत्तं द्रविणं विनश्यति ॥५६॥
नो दातारं मन्मथाक्रान्तचित्तः, संसारार्तेर्याति पापावलीढः ।
अम्भोराशेर्दुस्तराल्लोहमय्या नावा लोहं तार्यमाणं न दृष्टम् ॥५७॥
ग्रन्थारम्भक्रोधलोभादिपुष्टो ग्रन्थारम्भक्रोधलोभादि पुष्टम् ।
जन्मारातेः रक्षितुं तुल्यदोषी नूनं शक्तो नो गृहस्थं गृहस्थः ॥५८॥
लोभमोहमदमत्सरहीनो लोभमोहमदमत्सरगेहम् ।
पाति जन्मजलधेरपरागो रागवन्तमपहस्तितपापः ॥५९॥
[1]भूरिदोषनिचिताय फलार्थी यो ददाति धनमस्तविचारः ।
तद्ददाति मलिम्लुचहस्ते कानने पुनरपि ग्रहणाय ॥६०॥
दानं यतिभ्यो ददता विधानतो मतिर्विधेया भवदुःखशान्तये ।
दुरन्तसंसारपयोधिपातिनी न भोगबुद्धिर्मनसाऽपि धीमता ॥६१॥

बिना उदारता भी सुखकारी नहीं होती है ॥५२॥ जैसे सांपके लिये पिलाया गया पवित्र भी दूध प्राण-हारी विषको ही उत्पन्न करता है, उसी प्रकार अपात्रके लिए दिया गया उज्ज्वल गुणकारी भी धन अनेक दोषोंका कारण होता है ॥५३॥ जो मनुष्य असंयमी पुरुषको दान देकर पुण्यवाले फलको चाहता है, वह जलती हुई अग्निमें बीजको डाल करके दोष-रहित धान्यको चाहता है ॥५४॥ जो कुबुद्धि पापके नाशके लिए पात्रको छोड़कर अपात्रके लिए भोजन देता है, वह जोते गये सुन्दर खेतको छोड़कर फल-प्राप्तिके लिए पाषाणपर बीज फेंकता है, यह अत्यन्त दुःख है ॥५५

जैसे कड़वी रजको धारण करनेवाली तूंबड़ीमें रखा गया पुष्टिकारक दूध विनष्ट हो जाता है, इसी प्रकार मिथ्यात्वमलसे व्याप्त पुरुषके लिए दिया गया धन भी विनष्ट हो जाता है ॥५६॥ काम विकारसे जिसका चित्त व्याकुल है ऐसा पापसे व्याप्त पात्र संसारके दुःखसे दाताकी रक्षा नहीं कर सकता है। जैसे दुस्तर समुद्रसे लोहमयी नावके द्वारा लोहा तिराया गया किसीने नहीं देखा है ॥५७॥ परिग्रह, आरम्भ और क्रोध-लोभादि कषायोंसे पुष्ट गृहस्थ, परिग्रह, आरम्भ और क्रोध-लोभादि कषायोंसे पुष्ट गृहस्थको संसाररूपी वैरीसे रक्षा करनेके लिए समर्थ नहीं है, क्योंकि दोनों ही समान दोषोंके धारक हैं ॥५८॥ किन्तु लोभ मोह मद मत्सरसे रहित, पापोंसे मुक्त वीतरागी पात्र लोभ, मोह, मद और मत्सरके स्थान और रागवाले दाताकी संसार-समुद्रसे रक्षा करता है ॥५९॥ जो विचार-रहित पुरुष फल पानेका इच्छुक होकर सर्वदोषोंसे भरे हुए पुरुषको धन देता है, वह वापिस पानेके लिए वनके भीतर चोरके हाथमें धनको देता है ॥६०॥ अतएव

१ मु० 'सर्व' पाठः ।

प्रदाय दानं यतिनां महात्मनां यो याचते भोगमनर्थकारणम् ।
मनीषितानेकसुखप्रदं मणिं प्रदाय गृह्णाति स दुर्जरं विषम् ॥६२॥
पन्नगानामिव प्राणिवित्रासिनामर्जने रक्षणे पोषणे सेवने ।
याति घोराणि दुःखानि येषां जनः सन्ति भोगाः कथं ते मता धीमताम् ॥६३॥
श्रद्धीयमाना अपि वञ्चयन्ते निषेव्यमाणा अपि मारयन्ते ।
ये पोष्यमाणा अपि पीडयन्ते ते सन्ति भोगाः कथमर्थनीयाः ॥६४॥
उत्पद्यमाना निलयं स्वकीयं ये हव्यवाहा इव धार्यमाणाः ।
प्रप्लोषयन्ते हृदयं ज्वलन्तस्ते याचनीयाः कथमिन्द्रियार्थाः ॥६५
दत्तप्रलापभ्रमशोकमूर्च्छाः सन्तापयन्तः सकलं शरीरम् ।
ये दुर्निवारां जनयन्ति तृष्णां ज्वरा इवैते न सुखाय सन्ति ॥६६
विश्राण्य दानं कुधियो यतिभ्यो ये प्रार्थयन्ते विषयोपभोगम् ।
ते लाङ्गलैर्गां खलु काञ्चनीयैर्विलिख्य किम्पाकवनं वपन्ति ॥६७
भिन्दन्ति सूत्राय मणिं महार्घं काष्ठाय ते कल्पतरुं लुनन्ति ।
नावं च लोहाय विपाटयन्ते भोगाय दानं ननु ये ददन्ते ॥६८
परैरशक्यं दमितेन्द्रियाश्वाश्चरन्ति धर्मं विषयार्थिनो ये ।
पाषाणमादाय गले महान्तं विशन्ति ते नीरमलभ्यपारम् ॥६९

बुद्धिमान् गृहस्थको चाहिए कि वह विधि पूर्वक साधुओंको दान देते हुए संसारके दुःखोंकी शान्तिके लिए अपनी बुद्धि करें, अर्थात् संसारके दुःखोंसे छूटनेकी भावनासे साधुओंको दान देना चाहिए। किन्तु दुरन्त संसार-समुद्रमें गिरानेवाली भोग-प्राप्तिकी बुद्धि तो मनसे भी नहीं करना चाहिए ॥६१॥ जो व्रती महात्माओंको दान देकर अनर्थके कारणभूत भोगको चाहता है, वह मनोवाञ्छित अनेक सुखोंको देनेवाले मणिको देकर दुर्जर विषको ग्रहण करता है ॥६२॥ प्राणियोंको अतित्रास देनेवाले सांपोंके समान जिन भोगोंके उपार्जनमें, संरक्षणमें, पोषणमें और सेवनमें मनुष्य घोर दुःखोंको प्राप्त होता है, वे भोग बुद्धिमान् पुरुषोंके अभिमत कैसे हो सकते हैं? कभी नहीं हो सकते ॥६३॥ जो भोग श्रद्धायुक्त प्रीति करते हुए भी पुरुषोंको ठगते हैं, सेवन किये जाने पर भी मारते हैं, पोषण किये जाने पर भी पीड़ा देते हैं, वे भोग बुद्धिमानोंके द्वारा चाहने योग्य कैसे हो सकते हैं, कभी नहीं हो सकते ॥६४॥ जैसे जलती हुई अग्नि अपने उपजनेके स्थान घरको ही जला देती है, इसी प्रकार ये मान्यता किये गये इन्द्रियों के विषयभूत भोग जलते हुए हृदयको और भी जलाते हैं ॥६५॥ प्रलाप भ्रम शोक मूर्च्छा आदि को देनेवाले सारे शरीरको सन्ताप पहुंचाने वाले ये भोग दुर्निवार तृष्णाको ही उत्पन्न करते हैं, वे सुखके लिए नहीं हो सकते ॥६६॥ जो कुबुद्धि लोग साधुओंको दान देकर विषयोंके उपभोगकी कामना करते हैं, वे सुवर्णके हलोंसे पृथ्वीको जोतकर उसमें किम्पाक वृक्षोंके वनको बोते हैं ॥६७॥ जो लोग भोगोंकी प्राप्ति के लिए दान देते हैं, वे निश्चयसे सूत्र (धागा) के पानेके लिए महामूल्य मणियोंके हारको तोड़ते हैं, काष्ठके लिए कल्पवृक्षको काटते हैं और लोहाके लिए नावको उखाड़ते हैं, ऐसा मैं मानता हूँ ॥६८॥ दमन किये हैं इन्द्रियरूप अश्व जिन्होंने ऐसे जो संयमी पुरुष विषयोंके अर्थी होकर साधारण अन्य जनोंके द्वारा अशक्य धर्मका आचरण करते हैं, वे अपने गलेमें महान् पाषाणको

दिने दिने ये परिचर्यमाणा विवर्धमानाः परिपीडयन्ति ।
ते कस्य रोगा इव सन्ति भोगा विनिन्दनीया विदुषोऽर्थनीयाः ॥७०

प्रयच्छन्ति सौख्यं सुराधीश्वरेभ्यो न ये जातु भोगाः कथं ते परेभ्यः ।
निशुम्भन्ति ये मत्तमत्र द्विपेन्द्रं न कण्ठीरवास्ते कुरङ्गं त्यजन्ति ॥७१

न याचनीया विदुषेति दोषं विज्ञाय रोगा इव जातु भोगाः ।
किं प्राणहारित्वमवेक्ष्यमाणो जिजीविषुः खादति कालकूटम् ॥७२

भोगाः सम्पद्यमानाः सुरमनुजभवाश्चिन्तितप्राप्तसौख्या
याच्यन्ते लब्धुकामैः कथमपविपदं धर्मतो मुक्तिकान्ताम् ।
सस्यं स्वीकर्तुकामाः क्षुदुरुतरतरोः काण्डविच्छेददक्षं
स्वीकर्तुं किं पलालं फलममलधियः कुर्वते कर्पणं हि ॥७३

त्यक्त्वा भोगाभिलाषं भवमरणजरारण्यनिर्मूलनार्थं,
दत्ते दानं मुदा यो नयविनयपरः संयतेभ्यो यतिभ्यः ।
भुक्त्वा भोगानरोगानमरवरवधूलोचनाम्भोजभानु-
र्नित्यां निर्वाणलक्ष्मीममितगतियतिप्रार्थनीयां स याति ॥७४

इत्युपासकाचारे दशमः परिच्छेदः

बाँध कर अलभ्य अपार तीर वाले समुद्रमें प्रवेश करते हैं ॥६९॥ जो भोग दिन दिन परिचर्या किये जाने पर भी रोगोंके समान बढ़ते हुए मनुष्योंको अति पीड़ा देते हैं, वे अति निन्दनीय भोग किस विद्वान्‌के चाहने योग्य हो सकते हैं ॥७०॥

जो भोग देवोंके स्वामी इन्द्रोंके लिए भी कभी सुख नहीं देते हैं, वे अन्य लोगोंको तो कैसे दे सकते हैं ? जो सिंह इस लोकमें मदोन्मत्त गजराज को मारते हैं, वे हरिणको नहीं छोड़ते हैं ॥७१॥ इस प्रकार विद्वान् पुरुषको चाहिए कि रोगके समान भोगोंके दोष जानकर उनके पानेके लिए कदाचित् भी याचना अर्थात् निदान नहीं करना चाहिए। प्रत्यक्षमें कालकूट विषकी प्राण अपहरण करनेकी शक्तिको देखता हुआ जीनेका इच्छुक पुरुष क्या उसे खाता है ? नहीं खाता ॥७२॥ धर्म सेवन करके सर्व विपदाओंसे रहित मुक्तिरूपी कान्ताकी प्राप्त करनेके इच्छुक पुरुष विना चिन्तवन किये ही स्वयमेव प्राप्त होनेवाले देव और मनुष्य-सम्बन्धी भोगोंकी कैसे याचना करते हैं ? अर्थात् नहीं करते हैं। क्षुधा रूपी विशाल वृक्षके काण्ड-भागके विच्छेदमें दक्ष धान्यको प्राप्त करनेकी इच्छावाले निर्मल बुद्धि पुरुष क्या पलाल (पियार भूसा) को पानेके लिए खेती करते हैं ? नहीं करते हैं ॥७३॥ अत एव भोगोंकी अभिलाषा छोड़कर जन्म जरा मरणरूप वनके निर्मूलन करनेके लिए नय और विनयमें तत्पर जो गृहस्थ हर्षके साथ संयमी साधुओंको दान देता है, वह देवलोककी श्रेष्ठ देवाङ्गनाओंके नयन-कमलोंको विकसित करनेके लिए सूर्य-सदृश होकर रोग-रहित भोगोंको भोगकर अन्तमें अमितगति-यतिसे प्रार्थनीय नित्य निर्वाण-लक्ष्मीको प्राप्त करता है ॥७४॥

इस प्रकार अमितगति-विरचित श्रावकाचारमें दशम परिच्छेद समाप्त हुआ।

एकादशः परिच्छेदः

फलं नाभयदानस्य वक्तुं केनापि पार्यते । यस्याऽऽकल्पं मुखे जिह्वा व्याप्रियन्ते सहस्रशः ॥१
धर्माऽऽर्थकाममोक्षाणां जीवितं मूलमिष्यते । तद्रक्षता न किं दत्तं हरता तन्न किं हृतम् ॥२
गोपालब्राह्मणस्त्रीतः पुण्यभागी यदीष्यते । सर्वप्राणिगणत्रायी नितरां न तदा कथम् ॥३
यद्येकमेकदा जीवं त्रायमाणः प्रपूज्यते । न तथा सर्वदा सर्वं त्रायमाणः कथं बुधैः ॥४
चामीकरमयीमुर्वी ददानः पर्वतैः सह । एकजीवाभयं नूनं ददानस्य समः कुतः ॥५
गुणानां दुरवापाणामर्थितानां महात्मभिः । दयालुर्जायते स्थानं मणीनामिव सागरः ॥६
संयमा नियमाः सर्वे दयालोः सन्ति देहिनः । जायमाना न दृश्यन्ते भूरुहा धरणीमृते ॥ ७
कारणं सर्ववैराणां प्राणिनां विनिपातनम् । तत्सदा त्यज्यतस्त्रेधा कुतो वैरं प्रजायते ॥८
मनोभूरिव कान्ताङ्गः सुवर्णाद्रिरिवः स्थिर । सरस्वानिव गम्भीरो भास्वानिव हि भासुरः[1] ॥९
आदेयः सुभगः सौम्यस्त्यागी भोगी यशोनिधिः । भवत्यभयदानेन चिरंजीवी निरामयः ॥१०
तीर्थकृच्चक्रिदेवानां सम्पदो बुधवन्दिताः । क्षणेनाभयदानेन दीयन्ते दलितापदः ११
तदस्ति न सुखं लोके न भूतं न भविष्यति । यन्न सम्पद्यते सद्यो जन्तोरभयदानतः ॥१२

अब आचार्य सर्वप्रधान अभयदानका फल वर्णन करते हैं—

जिसके मुखमें हजारों जिह्वाएं हों, ऐसा व्यक्ति भी यदि कल्प काल-पर्यन्त अभयदानके फलको कहनेके लिए व्यापार करे, तो भी वह कहनेको समर्थ नहीं हो सकता है ॥१॥ धर्म अर्थ काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थोंका मूल कारण जीवन कहा जाता है। उस जीवनकी रक्षा करने वालेने क्या नहीं दिया ? और जीवनको हरण करने वालेने क्या नहीं हरा ॥२॥ गाय बालक ब्राह्मण और स्त्री इनकी रक्षा करनेसे यदि मनुष्य पुण्यभागी कहा जाता है, तो सर्व प्राणि-समूहकी रक्षा करने वाला अधिक पुण्यभागी कैसे नहीं होगा ? अर्थात् प्राणिमात्रका रक्षक सर्वाधिक पुण्यभागी है ॥३॥ यदि एक बार एक जीवकी रक्षा करने वाला जगत्में पूजा जाता है, तो सर्वदा सर्व प्राणियोंकी रक्षा करनेवाला पुरुष ज्ञानियोंके द्वारा कैसे नहीं पूजा जायगा ॥४॥ सर्व पर्वतोंके साथ सुवर्णमयी पृथ्वीको देनेवाला पुरुष एक जीवको अभय दान देनेवाले पुरुषके साथ निश्चयसे कैसे समान हो सकता है ? नहीं हो सकता ॥५॥ जिस प्रकार सर्व प्रकारके मणियोंका स्थान समुद्र है, उसी प्रकार अति दुर्लभ और महात्माओंसे पूजित सर्व गुणोंका स्थान दयालु पुरुष होता है ॥६॥ दयालु पुरुषके सभी संयम और नियम स्वतः होते हैं। क्योंकि पृथ्वीके विना वृक्ष उत्पन्न होते हुए नहीं दिखाई देते हैं ॥७॥ प्राणियों का विनाश सर्व प्रकारके वैर—भावों का कारण है इसलिए प्राणियों के विनाशको मन वचन कायसे सदा त्याग करनेवाले पुरुषके वैरभाव कैसे प्रवृत्त हो सकता है ॥८॥ अभयदानके फलसे जीव कामदेवके समान सुन्दर देह वाला होता है, सुवर्णाचलके समान स्थिर होता है, सागरके समान गम्भीर होता है, सूर्यके समान भास्वर होता है, सर्व लोगोंका प्यारा होता है, सौभाग्यशाली होता है, सौम्यमूर्त्ति होता है, त्यागी होता है, भोगवान् और यशोनिधान होता है, एवं नीरोग तथा चिरजीवी होता है ॥९-१०॥ संसारमें आपत्तियोंको दूर करने वाली और विद्वानोंसे वन्दित जितनी भी तीर्थंकर, चक्रवर्ती और देवोंकी सम्पदाएं हैं, वे सब अभयदानके द्वारा क्षणभरमें दी जाती हैं ॥११॥ इस संसारमें ऐसा कोई सुख न है, न भूतकालमें था और न आगामी कालमें होगा, जो जीवको अभयदानसे शीघ्र न प्राप्त होता

१. मु० भास्वरः ।

शरीरं ध्रियते येन शमेनेव महाव्रतम् । कस्तस्याहारदानस्य फलं शक्नोति भाषितुम् ॥१३
आहारेण विना कायो न तिष्ठति कदाचन । भास्करेण विना कुत्र वासरो व्यवतिष्ठते १४
शमस्तपो दया धर्मः संयमो नियमो दमः । सर्वे तेन वितीर्यन्ते येनाहारो वितीर्यते ॥१५
चिन्तितं पूजितं भोज्यं क्षीयते तस्य नालये । आहारो भक्तितो येन दीयते व्रतवर्तिनाम् ॥१६
कल्याणानामशेषाणां भाजनं स प्रजायते । सलिलानामिवाम्भोधिर्येनाहारो वितीर्यते ॥१७
स्वयमेव श्रियोऽन्विष्य धनं दातारमन्धसः । आयान्ति तरसा श्रेष्ठाः सुभगं वनिता इव ॥१८
सम्पदस्तीर्थकर्तॄणां चक्रिणामर्धचक्रिणाम् । भजन्त्यशनदं सर्वाः पयोधिमिव निम्नगाः ॥१९
प्रक्षीयन्ते न तस्यार्था ददानस्यापि भूरिशः । ददाना जनतानन्दं चन्द्रस्येव मरीचयः ॥२०
यत्फलं ददतः पृथ्वीं प्रासुकं यच्च भोजनम् । अनयोरन्तरं मन्ये तृणाब्धि-जलयोरिव ॥२१
अन्नदानप्रसादेन यत्र यत्र प्रजायते । तत्र तत्रास्यते[1] भोगैर्न भास्वानिव रश्मिभिः ॥२२
ददानोऽशनमात्रं यत्फलमाप्नोति मानवः । दाता सुवर्णकोटीनां न कदाचन तद् ध्रुवम् ॥२३
विना भोगोपभोगेभ्यश्चिरं जीवति मानवः । न विनाऽऽहारमात्रेण तुष्टिपुष्टिप्रदायिना ॥२४

हो । अर्थात् अभय दानके फलसे सभी सुख प्राप्त होते हैं ॥१२॥ जिस प्रकार समभावके द्वारा महाव्रत पुष्ट होते हैं, उसी प्रकार अभयदानके द्वारा शरीर पुष्ट होता है । ऐसे उस अभयदानके फलको कहनेके लिए कौन पुरुष समर्थ हो सकता है । अर्थात् अभयदानका फल वर्णनातीत है ॥१३॥

अब आचार्य आहार दानका वर्णन करते हैं—आहारके विना यह शरीर किसी भी प्रकारसे नहीं ठहर सकता है जैसे कि सूर्यके विना दिन कहां ठहर सकता है ॥१४॥ जो पुरुष आहार देता है, उसके द्वारा शम, तप, दया, धर्म, संयम, नियम और दम आदि सभी गुण दिये जाते हैं, ऐसा जानना चाहिए ॥१५॥ जो पुरुष भक्तिसे व्रतधारियोंको आहार देता है, उसके घरमें मनोवांछित और प्रशंसनीय भोजन सामग्री कभी क्षयको प्राप्त नहीं होती है ॥१६॥ जो आहार-दान देता है वह समस्त कल्याणोंका भाजन होता है, जैसे कि समुद्र सर्वजलोंका भाजन होता है ॥१७॥ जैसे उत्तम स्त्रियां सौभाग्यशाली पुरुषके पास स्वयं आती हैं, उसी प्रकार आहार दान देनेवाले धन्य-पुरुषके पास सर्व प्रकारकी लक्ष्मियां अन्वेषण करके स्वयमेव शीघ्र आती हैं ॥१८॥ जैसे समस्त नदियां समुद्रको प्राप्त होती हैं, उसी प्रकार तीर्थंकर चक्रवर्ती और अर्धचक्री नारायण आदिकी समस्त सम्पदाएं आहार देनेवाले पुरुषको प्राप्त होती हैं ॥१९॥ जैसे जनताके आनन्दको देने वाली चन्द्रमाकी किरणें कभी क्षीण नहीं होती हैं, उसी प्रकार बहुत भी आहारदान देनेवाले पुरुषकी सम्पदाएं कभी भी क्षयको प्राप्त नहीं होती हैं ॥२०॥ समस्त पृथ्वीके दानका जो फल है और प्रासुक भोजनके दानका जो फल है, इन दोनों में मैं तृण और समुद्र-जलके समान महान् अन्तर मानता हूँ । भावार्थ—तृणकी नोंकपर रखा जल-विन्दु और समुद्रका जल जैसा भू-दान और आहार-दानमें महान् अन्तर है ॥२१॥ अन्न दानके प्रसादसे यह जीव जहां जहां भी उत्पन्न होता है, वहां वहां पर भोगोंसे रिक्त नहीं होता है । जैसे कि सूर्य जहां जहां भी जाय, वह किरणों से रहित नहीं होता है ॥२२॥ केवल आहार दानको देनेवाला मानव जो फल प्राप्त करता है, वह कोटि-सुवर्णके दानसे भी नियमतः कदाचित् भी प्राप्त नहीं होता है ॥२३॥ भोग और उपभोग

---

१. मु० तत्रोज्झ्यते ।

केवलज्ञानतो ज्ञानं निर्वाणसुखतः सुखम् । आहारदानतो दानं नोत्तमं विद्यते परम् ॥२५
अन्धसा क्रियते यावानुपकारः शरीरिणः । न तावान् रत्नकोटीभिः पुञ्जिताभिरिति[1] स्फुटम् ॥२६
हीयन्ते निखिलाश्चेष्टा विना भोजनमात्रया । गुप्तयो व्यवतिष्ठन्ते विना कुत्र तितिक्षया ॥२७
शीर्यते तरसा गात्रं जन्तोर्वर्जितमन्धसा । विना नीरं क्व सस्यस्य कोमलस्य व्यवस्थितिः ॥२८
यथाऽऽहारः प्रियः पुंसां न तथा किञ्चनापरम् । विक्रीयन्ते प्रियाः पुत्रास्तदर्थं कथमन्यथा ॥२९
यत्किञ्चित्सुन्दरं वस्तु दृश्यते भुवनत्रये । तदन्नदायिना क्षिप्रं लभ्यते लीलयाऽखिलम् ॥३०
बहुनाऽत्र किमुक्तेन विना सकलवेदिना । फलं नाऽऽहारदानस्य परः शक्नोति भाषितुम् ॥३१
रक्ष्यते व्रतिनां येन शरीरं धर्मसाधनम् । पार्यते न फलं वक्तुं तस्य भैषज्यदायिनः ॥३२
येनौषधप्रदस्येह वचनैः कथ्यते फलम् । चुलकैर्मीयते तेन पयो नूनं पयोनिधेः ॥३३
वातपित्तकफोत्थानै रोगैरेष न पीड्यते । दावैरिव जलस्थायी भेषजं येन दीयते ॥३४
रोगैर्निपीडितो योगी न शक्तो व्रतरक्षणे । नास्वस्थैः शक्यते कर्तुं स्व-स्वकर्म कदाचन ॥३५
न जायते सरोगत्वं जन्तोरौषधदायिनः । पावकं सेवमानस्य तुषारं हि पलायते ॥३६

के विना मनुष्य चिरकाल तक जीवित रह सकता है। किन्तु तुष्टि और पुष्टिको देनेवाले केवल आहारके विना जीवित नहीं रह सकता है ॥२४॥ इस संसारमें केवलज्ञानसे उत्तम कोई दूसरा ज्ञान नहीं है, निर्वाणके सुखसे श्रेष्ठ कोई सुख नहीं है और आहार दानसे उत्तम कोई दान नहीं है ॥२५॥ भोजनके द्वारा शरीर-धारीका जितना उपकार किया जाता है, उतना उपकार एकत्र पुंज किये कोटि-रत्नोंके द्वारा भी नहीं किया जाता है यह बात स्पष्ट है ॥२६॥ भोजनकी मात्राके विना प्राणीकी समस्त चेष्टाएं नष्ट हो जाती हैं। देखो—क्षमाके विना मन-वचन-काय-गुप्तियां कहाँ ठहर सकती हैं ॥२७॥ आहारके विना प्राणीका शरीर शीघ्र क्षीण हो जाता है। देखो—जलके विना कोमल घासकी स्थिति कहां हो सकती है ॥२८॥ मनुष्योंको जैसा आहार प्यारा है, वैसी और कोई वस्तु प्यारी नहीं है। यदि ऐसा न माना जाय, तो केवल आहार प्राप्त करनेके लिए मनुष्य अपने प्रिय पुत्रोंको कैसे बेंच देते हैं ॥२९॥ तीन भुवनमें जो कुछ भी सुन्दर वस्तु दिखाई देती वह सर्व अन्नदान करने वाले पुरुषको लीला मात्रसे शीघ्र प्राप्त हो जाती है ॥३०॥ इस विषयमें अधिक कहनेसे क्या लाभ है। आहारदानके फलको सर्वज्ञके विना अन्य कोई पुरुष कहनेके लिए समर्थ नहीं है ॥३१॥

अब आचार्य औषधिदानका वर्णन करते हैं—जिस औषधिदानके द्वारा धर्मके साधनभूत व्रती पुरुषोंके शरीरकी रक्षा की जाती है, उस औषधि-दाता पुरुषके पुण्य-फलको कहनेके लिए कोई समर्थ नहीं है ॥३२॥ जो पुरुष ओषधि-दाताके पुण्यफलको इस संसारमें वचनोंसे कहना चाहता है, मानों वह समुद्रके जलको चुल्लुओंसे मापना चाहता है ॥३३॥ जो पुरुष औषधि देता है, वह वात पित्त और कफसे उत्पन्न होनेवाले रोगोंसे पीड़ित नहीं होता है, जैसे कि जलमें स्थित पुरुष दावानलसे पीड़ित नहीं होता है ॥३४॥ रोगोंसे पीड़ित हुआ योगी अपने व्रतके संरक्षणमें समर्थ नहीं हो सकता है। क्योंकि अस्वस्थ पुरुष आकुलताके कारण निराकुल स्वस्थ कार्य कदाचित् भी नहीं कर सकते हैं ॥३५॥ औषधिदान देनेवाले पुरुषका शरीर रोग-सहित कभी नहीं हो सकता है क्योंकि अग्निका सेवन करने वाले पुरुषके पाससे तुषार दूर भाग जाता है ॥३६॥

---

१. मु०—रपि ।

आजन्म जायते यस्य न व्याधिस्तनुतापकः। किं सुखं कथ्यते तस्य सिद्धस्येव महात्मनः ॥३७
निधानमेष कान्तीनां कीर्त्तीनां कुलमन्दिरम्। लावण्यानां नदीनाथो भैषज्यं येन दीयते ॥३८
ध्वातं दिवाकरस्येव शीतं चित्ररुचेरिव। भैषज्यदायिनस्त[1]द्वद्रोगित्वं प्रपलायते ॥३९
आरोग्यं क्रियते येन योगिनां रोगमुक्तये। तदीयस्य न धर्मस्य समर्थः कोऽपि वर्णने ॥४०
चारित्रं दर्शनं ज्ञानं स्वाध्यायो विनयो नयः। सर्वेऽपि विहितास्तेन दत्तं येनौषधं सताम् ॥४१
संसृतिश्छिद्यते येन निर्वृतिर्येन दीयते। मोहो विधूयते येन विवेको येन जन्यते ॥४२
कषायो मर्द्यते येन मानसं येन शम्यते। अकृत्यं त्याज्यते येन कृत्यं येन प्रवर्त्यते ॥४३
तत्त्वं प्रकाश्यते येन येनातत्त्वं निषिध्यते। संयमः क्रियते येन सम्यक्त्वं येन पोष्यते ॥४४
देहिभ्यो दीयते येन तच्छास्त्रं सिद्धिलब्धये। कस्तेन सदृशो धन्यो विद्यते भुवनत्रये ॥४५
मुक्तिः प्रदीयते येन शास्त्रदानेन पावनी। लक्ष्मी सांसारिकीं तस्य प्रददानस्य कः श्रमः ॥४६
लभ्यते केवलज्ञानं यतो विश्वावभासकम्। अपरज्ञानलाभेषु कीदृशी तस्य वर्णना ॥४७
मर्त्यामरश्रियं भुक्त्वा भुवनोत्तमपूजिताम्। ज्ञानदानप्रसादेन जीवो गच्छति निर्वृतिम् ॥४८
चतुरङ्गं फलं येन दीयते शास्त्रदायिना। चतुरङ्गं फलं तेन लभ्यते न कथं स्वयम् ॥४९

जिस पुरुषके शरीरमें सन्ताप-जनक व्याधि जीवन भर नहीं होती है, सिद्धके समान उस महात्माके सुखका क्या वर्णन किया जा सकता है ॥३७॥ जो पुरुष औषधि-दान देता है, वह कान्तिका निधान, कीर्तियोंका कुलमन्दिर और सौन्दर्यका सागर होता है ॥३८॥ जैसे सूर्यके शरीरसे अन्धकार दूर भागता है, और अग्निके शरीरसे शीत दूर भागता है, उसी प्रकार औषधि देनेवाले पुरुषके शरीरसे रोगीपना दूर भागता है ॥३९॥ जिस औषधिदानके द्वारा योगियोंको रोग-मुक्त कर उन्हें आरोग्य प्राप्त कराया जाता है, उस पुरुषके धर्मका फल वर्णन करनेमें कोई भी समर्थ नहीं है ॥४०॥ जिस पुरुषने सज्जनोंको औषधिदान दिया, उसने उन्हें चारित्र, दर्शन, ज्ञान, स्वाध्याय, विनय और नीति आदि सभी कुछ दिया, ऐसा समझना चाहिए ॥४१॥

अब आचार्य शास्त्रदानका वर्णन करते हैं—जिस शास्त्रदान के द्वारा संसारका उच्छेद होता है, जिसके द्वारा निर्वृति (मुक्ति) प्राप्त होती है, जिसके द्वारा मोह विनष्ट होता है, जिसके द्वारा विवेक उत्पन्न होता है, जिसके द्वारा कषायोंका मर्दन किया जाता है, जिसके द्वारा मन शान्त होता है, जिसके द्वारा अकृत्य छूटता है, जिसके द्वारा मनुष्य कर्त्तव्य कार्यमें प्रवृत्त होता है, जिसके द्वारा तत्त्वका प्रकाश होता है और जिसके द्वारा अतत्त्वका निषेध होता है, जिसके द्वारा संयम धारण किया जाता है और जिसके द्वारा सम्यक्त्व पुष्ट होता है, ऐसा शास्त्र-दान सिद्धिकी प्राप्तिके लिए जो प्राणियोंको देता है, उसके समान तीन भुवनमें अन्य कौन धन्यपुरुष है? अर्थात् शास्त्रका दाता पुरुष तीनों लोकोंमें महान् धन्य है ॥४२-४५॥ जिस शास्त्र-दानके द्वारा परमपावन मुक्ति प्रदान की जाती है, उस शास्त्र दानके सांसारिक लक्ष्मीको देनेमें क्या श्रम है ॥४६॥ जिस शास्त्रदानके द्वारा समस्त विश्वका प्रकाशक केवलज्ञान प्राप्त होता है, उसके द्वारा अन्य ज्ञानोंके लाभमें उसका वर्णन कैसा! अर्थात् अन्य ज्ञानोंका पाना तो सहज ही है ॥४७॥ ज्ञान-दानके प्रसादसे जीव तीनों लोकोंमें उत्तम एवं पूज्य मनुष्यों और देवोंकी लक्ष्मीको भोग कर मुक्तिको प्राप्त करता है ॥४८॥ जिस शास्त्रदानके करनेवाले पुरुषके द्वारा चार पुरुषार्थरूप चतुरंग फल दिया जाता है, उसके द्वारा वह शास्त्र-दाता पुरुष स्वयं ही चतुरंगफलको कैसे नहीं

---

१. मु० देहाद्।

केवलज्ञानतो ज्ञानं निर्वाणसुखतः सुखम् । आहारदानतो दानं नोत्तमं विद्यते परम् ॥२५
यन्धसा क्रियते यावानुपकारः शरीरिणः । न तावान् रत्नकोटीभिः पुञ्जिताभिरिति[1] स्फुटम् ॥२६
हीयन्ते निखिलाश्चेष्टा विना भोजनमात्रया । गुप्तयो व्यवतिष्ठन्ते विना कुत्र तितिक्षया ॥२७
शीर्यते तरसा गात्रं जन्तोर्वर्जितमन्धसा । विना नीरं क्व सस्यस्य कोमलस्य व्यवस्थितिः ॥२८
यथाऽऽहारः प्रियः पुंसां न तथा किञ्चनापरम् । विक्रीयन्ते प्रियाः पुत्रास्तदर्थं कथमन्यथा ॥२९
यत्किञ्चित्सुन्दरं वस्तु दृश्यते भुवनत्रये । तदन्नदायिना क्षिप्रं लभ्यते लीलयाऽखिलम् ॥३०
बहुनाऽत्र किमुक्तेन विना सकलवेदिना । फलं नाऽऽहारदानस्य परः शक्नोति भाषितुम् ॥३१
रक्ष्यते व्रतिनां येन शरीरं धर्मसाधनम् । पार्यते न फलं वक्तुं तस्य भैषज्यदायिनः ॥३२
येनौषधप्रदस्येह वचनैः कथ्यते फलम् । चुलकैर्मीयते तेन पयो नूनं पयोनिधेः ॥३३
वातपित्तकफोत्थानै रोगैरेष न पीड्यते । दावैरिव जलस्थायी भेषजं येन दीयते ॥३४
रोगैर्निपीडितो योगी न शक्तो व्रतरक्षणे । नास्वस्थैः शक्यते कर्तुं स्व-स्वकर्म कदाचन ॥३५
न जायते सरोगत्वं जन्तोरौषधदायिनः । पावकं सेवमानस्य तुषारं हि पलायते ॥३६

के विना मनुष्य चिरकाल तक जीवित रह सकता है। किन्तु तुष्टि और पुष्टिको देनेवाले केवल आहारके विना जीवित नहीं रह सकता है ॥२४॥ इस संसारमें केवलज्ञानसे उत्तम कोई दूसरा ज्ञान नहीं है, निर्वाणके सुखसे श्रेष्ठ कोई सुख नहीं है और आहार दानसे उत्तम कोई दान नहीं है ॥२५॥ भोजनके द्वारा शरीर-धारीका जितना उपकार किया जाता है, उतना उपकार एकत्र पुंज किये कोटि-रत्नोंके द्वारा भी नहीं किया जाता है यह बात स्पष्ट है ॥२६॥ भोजनकी मात्राके विना प्राणीकी समस्त चेष्टाएं नष्ट हो जाती हैं। देखो—क्षमाके विना मन-वचन-काय-गुप्तियां कहाँ ठहर सकती हैं ॥२७॥ आहारके विना प्राणीका शरीर शीघ्र क्षीण हो जाता है। देखो—जलके विना कोमल घासकी स्थिति कहां हो सकती है ॥२८॥ मनुष्योंको जैसा आहार प्यारा है, वैसी और कोई वस्तु प्यारी नहीं है। यदि ऐसा न माना जाय, तो केवल आहार प्राप्त करनेके लिए मनुष्य अपने प्रिय पुत्रोंको कैसे बेंच देते हैं ॥२९॥ तीन भुवनमें जो कुछ भी सुन्दर वस्तु दिखाई देती वह सर्व अन्नदान करने वाले पुरुषको लीला मात्रसे शीघ्र प्राप्त हो जाती है ॥३०॥ इस विषयमें अधिक कहनेसे क्या लाभ है। आहारदानके फलको सर्वज्ञके विना अन्य कोई पुरुष कहनेके लिए समर्थ नहीं है ॥३१॥

अब आचार्य औषधिदानका वर्णन करते हैं—जिस औषधिदानके द्वारा धर्मके साधनभूत व्रती पुरुषोंके शरीरकी रक्षा की जाती है, उस औषधि-दाता पुरुषके पुण्य-फलको कहनेके लिए कोई समर्थ नहीं है ॥३२॥ जो पुरुष औषधि-दाताके पुण्यफलको इस संसारमें वचनोंसे कहना चाहता है, मानों वह समुद्रके जलको चुल्लुओंसे मापना चाहता है ॥३३॥ जो पुरुष औषधि देता है, वह वात पित्त और कफसे उत्पन्न होनेवाले रोगोंसे पीड़ित नहीं होता है, जैसे कि जलमें स्थित पुरुष दावानलसे पीड़ित नहीं होता है ॥३४॥ रोगोंसे पीड़ित हुआ योगी अपने व्रतके संरक्षणमें समर्थ नहीं हो सकता है। क्योंकि अस्वस्थ पुरुष आकुलताके कारण निराकुल स्वस्थ कार्य कदाचित् भी नहीं कर सकते हैं ॥३५॥ औषधिदान देनेवाले पुरुषका शरीर रोग-सहित कभी नहीं हो सकता है क्योंकि अग्निका सेवन करने वाले पुरुषके पाससे तुषार दूर भाग जाता है ॥३६॥

---

१. मु०—रपि।

शास्त्रदायी सतां पूज्यः सेवनीयो मनीषिणाम् । वादी वाग्मी कविर्मान्यः ख्यातशिष्यः प्रजायते ॥५०
विचित्ररत्ननिर्माणः प्रोत्तुङ्गो बहुभूमिकः । लभ्यते वासदानेन वासश्चन्द्रकरोज्ज्वलः ॥५१
कोमलानि महार्घाणि विशालानि घनानि च । वासोदानेन वासांसि सम्पद्यन्ते सहस्रशः ॥५२
ददती जनतानन्दं चन्द्रकान्तिरिवामला । जायते पानदानेन वाणी तापापनोदिनी ॥५३
ददानः प्रासुकं द्रव्यं रत्नत्रितयबृंहकम् । काङ्क्षितं सकलं द्रव्यं लभते परदुर्लभम् ॥५४
विश्राणयति यो दानं सेवमानस्तपस्विनः । सेव्यते भुवनाधीशैः स तदादेशकाङ्क्षिभिः ॥५५
यः प्रशंसापरो भूत्वा दानं यच्छति योगिनाम् । प्रशस्यः स सदा सद्भिर्जिनेन्द्र इव नम्यते ॥५६
दत्ते शुश्रूषयित्वा यो दानं संयमशालिनाम् । शुश्रूष्यते बुधैरेष भक्त्या गुरुरिवानिशम् ॥५७
आहृत्य दीयते दानं साधुभ्यो येन सर्वदा । आदरेणैव लोकेन निधानमिव गृह्यते ॥५८
पूजापरायणः स्तुत्वा यो यच्छति महात्मनाम् । त्रिदशैस्तीर्थकारीव स्तावं स्तावं स पूज्यते ॥५९
यद्यद्दानं सतामिष्टं तपः संयमपोषकम् । तत्तद्वितरता भक्त्या प्राप्यते फलमीप्सितम् ॥६०
दानानीमानि यच्छन्ति स्तोकान्यपि महाफलम् । बीजानीव वटादीनां निहितानि विधानतः ॥ ६१

पायगा ! शास्त्रका दान करनेवाला पुरुष सज्जनों के द्वारा पूज्य है, मनीषियोंसे सेवनीय है और वह वादी, वाग्मी, कवि, मान्य एवं प्रसिद्ध शिष्योंवाला होता है ॥४९-५०॥

अब आचार्य वसतिकादानका वर्णन करते हैं—साधुओंकी निवासके योग्य वसतिकाके दानसे मनुष्य नाना प्रकारके रत्नोंसे निर्मित, अति उन्नत, अनेक मंजिलवाला और चन्द्रकी किरणोंसे भी उज्ज्वल प्रासादको प्राप्त करता है ॥५१॥ अब आचार्य वस्त्रदान आदिका फल बतलाते हैं—आर्यिका श्राविका आदि साधर्मी जनोंको वस्त्रदान करनेसे कोमल, बहुमूल्य विशाल और सघन सहस्रों वस्त्र प्राप्त होते हैं ॥५२॥ व्रती पुरुषोंको पीने योग्य पानक प्रदान करनेसे चन्द्रकान्तिके समान निर्मल, जनताको आनन्द देनेवाली और सन्तापको दूर करनेवाली मधुर वाणी प्राप्त होती है ॥५३॥ व्रती पुरुषोंको रत्नत्रयधर्मके बढ़ानेवाले प्रासुक द्रव्यका दान करनेवाला पुरुष मनोवांछित एवं अन्य साधारणजनोंको दुर्लभ ऐसे सर्वद्रव्योंको प्राप्त करता है ॥५४॥ जो पुरुष तपस्वियोंकी सेवा करता हुआ उन्हें दान देता है, वह सुखके वांछक ऐसे भुवनके स्वामी इन्द्रादिके द्वारा सदा सेवित होता है। जो पुरुष योगियोंकी प्रशंसा करता हुआ उन्हें दान देता है, वह पुरुष संसारमें सदा प्रशंसाको प्राप्त करता है, तथा सज्जनोंके द्वारा तीर्थंकरके समान नमस्कारको प्राप्त होता है ॥५५-५६॥ जो सेवा-शुश्रूषा करके संयम-धारण करनेवाले पुरुषोंको दान देता है, वह विद्वानोंके द्वारा भक्तिके साथ निरन्तर गुरुके समान शुश्रूषाको प्राप्त करता है ॥५७॥ जो आदरके साथ सदा साधुओंको दान देता है, वह दाता लोगों के द्वारा निधानके समान ही आदरके साथ ग्रहण किया जाता है ॥५८॥ जो दाता पूजामें तत्पर होकर और स्तुति करके महात्माओंको दान देता है, वह तीर्थंकरके समान इन्द्रोंके द्वारा बार बार स्तुति करके पूजा जाता है ॥५९॥ जो दान तप और संयमका पोषक है, तथा सज्जनोंको अभीष्ट है, उसे भक्तिके साथ दान देनेवाला पुरुष अभीप्सित फलको प्राप्त करता है ॥६०॥ ये ऊपर कहे गये आहारादिक अल्प दान भी महान् फलको देते हैं। जैसे कि विधिपूर्वक भूमिमें बोये गये वट आदिके छोटे बीज महान् वृक्षरूप फलको देते हैं ॥६१॥

जो मिथ्यादृष्टि जीव उत्कृष्ट पात्रोंको दान देता है, वह महान् उदयको प्राप्त होकर

पात्रेभ्यो यः प्रकृष्टेभ्यो मिथ्यादृष्टिः प्रयच्छति। स याति भोगभूमीषु प्रकृष्टासु महोदयः ॥६२
क्रोशत्रयवपुस्तत्र त्रिपल्योपमजीवितः। चिन्ताकल्पितसान्निध्यं सम्भोगसुखमश्नुते ॥६३
सदा मनोऽनुकूलाभिः सेव्यमाना दिवानिशम्। नारीभिर्न गतं कालं जानते भोगभूभुवः ॥६४
मध्यमानां तु पात्राणां दानतो याति मध्यमाम्। कारणस्यानुरूपं हि कार्यं जगति जायते ॥६५
द्विक्रोशोच्छ्रयदेहोऽसौ द्विपल्यायुर्निरामयः। स तत्रास्ते महावासः कान्ताऽऽस्याम्भोजषट्पदः ॥६६
जघन्येभ्यः स पात्रेभ्यो जघन्यां याति दानतः। एकक्रोशोच्छ्रयो भूमिमेकपल्योपमस्थितिः ॥६७
बदरामलकबिभीतकमात्रं त्रिद्व्येकवासरैः क्रमशः। आहारं कल्याणं दिव्यरसं भुञ्जते धन्याः ॥६८
विश्राणयन् यतीनामुत्तममध्यमजघन्यपरिणामैः। दानं गच्छति भूमिरुत्तममध्यमजघन्या वा ॥६९
सर्वे द्वन्द्वपरित्यक्ताः सर्वे क्लेशविवर्जिताः। सर्वे यौवनसम्पन्नाः सर्वे सन्ति प्रियंवदाः ॥७०
मददैन्यश्रमायासक्रोधलोभभयक्लमाः। मुक्तानामिव नो तेषां नाप्यन्यत्र गमागमाः ॥७१
अयमेव विशेषोऽस्ति देवेभ्यो भोगभागिनाम्[2]। यत्ते यान्ति मृता नाकं देवास्तिर्यङ्नरत्वयोः ॥७२
यतो मन्दकषायास्ते ततो यान्ति त्रिविष्टपम्। उक्तं तीव्रकषायत्वं दुर्गतेः कारणं परम् ॥७३
दीयन्ते चिन्तिता भोगा येषां कल्पमहीरुहैः। दशाङ्गैः कः सुखं तेषां शक्तो वर्णयितुं गिरा ॥७४

उत्कृष्ट भोगभूमियोंमें जाता है ॥६२॥ वहाँ पर उसे तीन कोशका शरीर मिलता है और तीन पल्योपमका आयुष्य प्राप्त होता है। वह वहाँपर चिन्तवन मात्रसे ही प्राप्त होनेवाले भोगोंका सुख भोगता है ॥६३॥ भोगभूमिमें उत्पन्न होनेवाले जीव सदा मनोऽनुकूल स्त्रियोंके द्वारा रात्रि-दिन सेवा किये जाते हुए अपने व्यतीत होनेवाले समयको नहीं जानते हैं ॥६४॥ मध्यमपात्रोंको दान देनेसे मिथ्यादृष्टि मनुष्य मध्यम भोगभूमिको प्राप्त होते हैं। क्योंकि संसारमें कारणके अनुरूप ही कार्य होता है ॥६५॥ वहाँपर उसे दो कोश ऊँचा शरीर प्राप्त होता है, दो पल्योपम की आयु होती है, सदा नीरोग रहता है, महान् आवास प्राप्त होता है और सदा सुन्दर स्त्रियोंके नयन-कमलका भ्रमर बना हुआ भोगोंको भोगता है ॥६६॥ वह मिथ्यादृष्टि मनुष्य यदि जघन्य पात्रोंको दान देता है, तो उसके फलसे जघन्य भोगभूमिको प्राप्त होता है, जहाँपर एक कोश ऊँचा शरीर मिलता है और एक पल्योपमकी स्थिति होती है ॥६७॥ उपर्युक्त भोगभूमियोंमें क्रमसे तीन, दो और एक दिनमें बेर, आँवला और बहेडाप्रमाण कल्याणरूप दिव्य रसवाले आहारको वे भोगभूमिके धन्य पुरुष भोगते हैं अर्थात् खाते हैं ॥६८॥ अथवा जो पुरुष साधुजनोंको उत्तम, मध्यम और जघन्य परिणामोंसे दान देता है, वह तदनुरूप उत्तम, मध्यम और जघन्य भोगभूमिको प्राप्त करता है। भोगभूमिके ये युगलिया सभी जीव आजीविकाके द्वन्द्वसे रहित होते हैं, सभी सर्व प्रकारके क्लेशोंसे रहित होते हैं, सभी नवयौवन सम्पन्न होते हैं और सभी प्रियवचन बोलते हैं ॥६९-७०॥ उन भोगभूमियाँ जीवोंके मुक्त जीवोंके समान मद, दैन्य, श्रम, प्रयास, क्रोध, लोभ, भय और क्लेश नहीं होते हैं और न उनका अपने स्थानसे बाहिर गमनागमन होता है ॥७१॥ देवोंसे भोगभूमियोंकी वह ही विशेषता है कि ये भोगभूमियाँ जीव मरकर देवलोकको जाते हैं और देव मरकर मनुष्य और तिर्यंचोंमें उत्पन्न होते हैं ॥७२॥ यतः ये भोगभूमिके जीव मन्द कषायवाले होते हैं, अतः मरकर देवलोक को जाते हैं। क्योंकि दुर्गतिका कारण तीव्रकषायपना कहा गया है ॥७३॥ जिन भोगभूमियोंको दशजातिके कल्पवृक्षोंसे मनोवांछित भोग प्राप्त होते हैं, उनके सुखको वाणीसे कहने के लिए कौन समर्थ है ॥७४॥

---

१. मु० स भोग। २. मु० भोगिनाम्।

न वियोगः प्रियैः सार्धं न संयोगोऽप्रियैः सह । न व्रतं न तपस्तेषां न वैरं न पराभवः ॥७५
यतः स्वस्वामिसम्बन्धस्तेषां नास्ति कदाचन । परच्छन्दानुवर्तित्वं ततस्तेषां कुतस्तनम् ॥७६
नापूर्णे समये सर्वे ते म्रियन्ते कदाचन । रचयन्ति न पैशुन्यं सुखसागरमध्यगाः ॥७७
आयासेन विना भोगी नीरोगीभूतविग्रहः । क्षुतेन पुरुषस्तत्र म्रियते जृम्भयाऽङ्गना ॥७८
ते जायन्ते कलालापं मकरध्वजसन्निभाः । सर्वे भोगक्षमा रम्या दिनानां सप्तसप्तकैः ॥७९
कोमलालापया कान्तः कान्तयाऽऽर्यो निगद्यते । कान्तेनाऽऽर्या पुनः कान्ता चित्रचाटुविधायिना ॥८०
आदेयाः सुभगाः सौम्याः सुन्दराङ्गा वशंवदाः । रमन्ते सह रामाभिः स्वसमाभिर्मिथो मुदा ॥८१
युग्ममुत्पद्यते सार्धं युग्मं यत्र विपद्यते । शोकाक्रन्दादयो दोषास्तत्र सन्ति कुतस्तनाः ॥८२
करि-केसरिणौ यत्र तिष्ठन्तौ बान्धवाविव । एकत्र सर्वदा प्रीत्या सख्यं तत्र किमुच्यते ॥८३
कुपात्रदानतो याति कुत्सितां भोगमेदिनीम् । उप्ते कः कुत्सिते क्षेत्रे सुक्षेत्रफलमश्नुते ॥८४
येऽन्तरद्वीपजाः सन्ति ये नरा म्लेच्छखण्डजाः । कुपात्रदानतः सर्वे ते भवन्ति यथायथम् ॥८५
वर्यमध्यजघन्यासु तिर्यञ्चः सन्ति भूषु ये । कुपात्रदानवृक्षोत्थं भुञ्जन्ते तेऽखिलाः फलम् ॥८६

उन भोगभूमिके जीवोंका न प्रियजनोंके साथ वियोग होता है और न अप्रिय जनोंके साथ संयोग ही होता है। उनके न व्रत है, न तप है, न वैरभाव है और न उनका कभी पराभव ही होता है ॥७५॥ यतः उन भोगभूमियोंके परस्परमें स्वामी और सेवकका सम्बन्ध कभी भी नहीं है, अतः उनके दूसरोंकी इच्छाके अनुकूल चलना कैसे संभव है ॥७६॥ वे सभी भोगभूमियां जीव समय पूर्ण होनेके पूर्व अकालमें कभी भी नहीं मरते हैं और न परस्परमें एक दूसरेके साथ पैशुन्यभाव ही रखते हैं। वे सदा सुख-सागरमें निमग्न रहते हैं ॥७७॥ उन्हें विना परिश्रमके ही भोगोंकी प्राप्ति होती है, उनका शरीर सदा नीरोग रहता है। भोगभूमिया पुरुष आयु पूर्ण होने पर छींकसे मरता है और स्त्री जंभाईसे मरती है ॥७८॥ वे भोगभूमियां जीव मधुर-भाषी और कामदेवके सदृश सुन्दर होते हैं। तथा जन्म लेनेके बाद सात सप्ताहमें अर्थात् ४९ दिनोंमें भोग भोगनेमें समर्थ पूर्ण युवावस्थाको प्राप्त हो जाते हैं ॥७९॥ भोगभूमिया स्त्री अति मधुरवाणीसे अपने पतिको 'आर्य' कह कर सम्बोधन करती है और नाना प्रकारकी चाटुकारी करनेवाला पुरुष अपनी स्त्रीको 'आर्या, आर्ये' कह कर सम्बोधन करता है ॥८०॥ वे भोगभूमियां मनुष्य आदरणीय, सौभाग्य-सम्पन्न, सौम्य, सुन्दर शरीर और प्रियवचन बोलने वाले होते हैं। तथा वे सदा ही अपने समान ही वय-रूपशालिनी स्त्रियोंके साथ हर्षसे परस्पर रमते रहते हैं ॥८१॥ यतः जिस भोगभूमिमें स्त्री-पुरुष युगलरूपसे एक साथ ही उत्पन्न होते हैं और एक साथ ही विनाशको प्राप्त होते हैं, अतः वहाँ पर शोक, आक्रन्दन, रोदन आदि दोष कैसे हो सकते हैं? अर्थात् वहां पर उत्पन्न होनेवालोंके जीवनमें कभी भी शोक आदिका अवसर नहीं आता है ॥८२॥ जिस भोगभूमिमें हाथी और सिंह जैसे जाति-विरोधी जीव भी बन्धु-जनोंके समान एक स्थान पर सर्वदा प्रीतिसे रहते हैं, वहां पर उनकी मित्रताका क्या कहना है ॥८३॥ कुपात्रोंको दान देनेसे मनुष्य कुभोगभूमिमें जाता है, क्योंकि खोटे क्षेत्रमें बीजके बोने पर कौन पुरुष सुक्षेत्रके फलको प्राप्त कर सकता है ॥८४॥ जो अन्तरद्वीपज मनुष्य हैं और जो म्लेच्छखंडज मनुष्य हैं वे सब यथा संभव कुपात्र दानसे उत्पन्न होते हैं ॥८५॥ उत्तम मध्यम और जघन्य भोगभूमियोंमें जो तिर्यंच हैं, वे सब कुपात्र-दानरूप वृक्षसे उत्पन्न हुए फलको भोगते हैं ॥८६॥ यहां आर्यखण्डमें जो दासी, दास और म्लेच्छ पुरुष, तथा हाथी, कुत्ते आदि पशु जो भोग भोगते हुए दिखाई देते हैं, उनके वे भोग निश्चयसे

दासीदासद्विपम्लेच्छसारमेयादयोऽत्र ये। कुपात्रदानतो भोगस्तेषां भोगवतां स्फुटम् ॥८७
दृश्यन्ते नीचजातीनां ये भोगा भोगिनामिह। सर्वे कुपात्रदानेन ते दीयन्ते महोदयाः ॥८८
अपात्राय धनं दत्तं व्यर्थं सम्पद्यतेऽखिलम्। ज्वलिते पावके क्षिप्तं बीजं कुत्राङ्कुरीयते ॥८९
अपात्रदानतः किञ्चिन्न फलं पापतः परम्। लभ्यते हि फलं खेदो वालुका पुञ्जपीडने ॥९०
विश्राणितमपात्राय विधत्तेऽनर्थमूर्जितम्। अपथ्यं भोजनं दत्ते व्याधिं किं न दुरुद्धरम्[1] ॥९१
संस्कृत्य सुन्दरं भोज्यं येनापात्राय दीयते। उत्पाद्य प्रवलं धान्यं दह्यते तेन दुर्धिया ॥९२
शीघ्रं पात्रेण संसारादेकेनापि महीयसा[2]। तार्यन्ते बहवो लोकाः पोतेनेव पयोनिधेः ॥९३
जगदुद्योतते सर्वमेकेनापि विवस्वता। नक्षत्रनिवहैः सर्वैरुदितैरपि नो पुनः ॥९४
एकेनापि सुपात्रेण तार्यते भवनीरधेः। सहस्रैरप्यपात्राणां पुञ्जितैर्न पुनर्जनः ॥९५
अपात्रदानदोषेभ्यो बिभ्यता पुण्यशालिना। विबुध्य यत्नतः पात्रं देयं दानं विधानतः ॥९६
अपात्राय धनं दत्ते यो हित्वा पात्रमुत्तमम्। साधुं विहाय चौराय धनमर्पयति स्फुटम् ॥९७
अपात्रमिव यः पात्रं विबुद्धिरवलोकते। चिन्तामणिमसौ मन्ये मन्यते लोष्टसन्निभम् ॥९८
त्यक्त्वा शर्मप्रदं पात्रमपात्रं स्वीकरोति यः। स कालकूटमादत्ते मुक्त्वा पीयूषमस्तधीः ॥९९

कुपात्रदानसे प्राप्त हुए जानना चाहिए ॥८७॥ तथा यहां पर नाना प्रकारके भोगोंको भोगनेवाले नीच जाति के जो भाग्यशाली लोग दिखाई देते हैं, वे सब कुपात्रदानसे दिये गये भोग हैं ॥८८॥

(जो पुरुष व्रत और सम्यक्त्वसे रहित एवं उन्मार्गगामी होता है, उसे अपात्र कहते हैं।) ऐसे अपात्रके लिए दिया गया समस्त धन व्यर्थ जाता है। क्योंकि जलती हुई अग्निमें फेंका गया बीज कहां अंकुरित हो सकता है ॥८९॥ अपात्रोंको दान देनेसे पापके सिवाय और कुछ भी फल नहीं है। क्योंकि वालूके पुंजके पेलने पर खेदरूप फल ही प्राप्त होता है ॥९०॥ कभी-कभी तो अपात्रके लिए दिया गया दान महान् अनर्थ को करता है। रोगी पुरुषको दिया गया अपथ्य भोजन क्या दुरुद्धर व्याधिको नहीं उत्पन्न करता है? करता ही है ॥९१॥ जो पुरुष सुन्दर भोजन बना करके अपात्रके लिए देता है, वह दुर्बुद्धि उत्तम धान्य उत्पन्न करके उसे जलाता है ॥९२॥ इसलिए अपात्रको कभी दान नहीं देना चाहिए। जैसे एक जहाजके द्वारा बहुतसे लोग समुद्रके पार उतार दिये जाते हैं, उसी प्रकार एक ही गरिष्ठ पात्रके द्वारा अनेक लोग संसार-सागरसे पार उतार दिये जाते हैं ॥९३॥ देखो—एक ही सूर्यके द्वारा सारा जगत् प्रकाशित हो जाता है, किन्तु उदयको प्राप्त सर्व नक्षत्रोंके समूहोंसे भी सारा जगत् प्रकाशित नहीं होता ॥९४॥ इसी प्रकार एक ही सुपात्रके द्वारा अनेक जीव संसार-सागरसे पार उतार दिये जाते हैं, किन्तु सहस्रों अपात्रोंके समूह-द्वारा एक भी जन संसार-सागरसे पार नहीं उतरता है ॥९५॥ इस प्रकार अपात्र दानके दोषोंसे डरनेवाले पुण्यशाली पुरुषों को प्रयत्न पूर्वक पात्रका ज्ञान करके विधिसे उसे दान देना चाहिए ॥९६॥ जो पुरुष उत्तम पात्रको छोड़कर अपात्रके लिए दान देता है, वह निश्चयसे साधु पुरुषको छोड़कर चोरके लिए धन अर्पण करता है ॥९७॥ जो निर्बुद्धि पुरुष पात्रको भी अपात्रके समान देखता है, वह चिन्तामणि रत्नको लोष्टके समान समझता है, ऐसा जानना चाहिए ॥९८॥ जो पुरुष सुख देनेवाले पात्रको छोड़कर दुःखदायी अपात्रको स्वीकार करता है, वह

१. मु० दुस्तरम्। २. मु० गरीयसा।

पात्रापात्रविभागेन मिथ्यादृष्टेरिदं फलम् । उदितं दानजं प्राज्यं सम्यग्दृष्टेर्वदाम्यतः ॥१००
दानं त्रिविधपात्राय सम्यग्दृष्टिर्यथागमम् । ददानो लभते याच्यां कल्याणानां परम्पराम् ॥१०१
पात्राय विधिना दत्वा दानं मृत्वा समाधिना । अच्युतान्तेषु कल्पेषु जायन्ते शुद्धदृष्टयः ॥१०२
उत्पद्योत्पादशय्यायां देहोद्योतितपुष्कराः । सुप्तोत्थिता इव क्षिप्रमुत्तिष्ठन्ति दिवौकसः ॥१०३
निषण्णैस्त्र शय्यायां तैरीक्ष्यन्ते समन्ततः । निकाया देव-देवीनां रचिताञ्जलिकुड्मलाः ॥१०४
स्तुवाना मां स्तवैः श्रव्यैर्दिव्याभरणभासुराः । मूर्ताः केऽमी विलोक्यन्ते पुण्यपुञ्जा इवाभितः ॥१०५
रम्या रामा मयेमाः काश्चित्रचाटुपरायणाः । लावण्याम्बुनिधेर्वेला लोक्यन्ते कलनिस्वनाः ॥१०६
किमिदं दृश्यते स्थानं रामणीयकमन्दिरम् । कथमत्राहमायातः किं स्वप्नोऽयमुतान्यथा ॥१०७
किमकारि मया पुण्यं यातो येनात्र वन्धुरे । न पुण्यव्यतिरेकेण लभते सुखसम्पदम् ॥१०८
इत्थं चिन्तयतां तेषां भवकारणकोऽवधिः । सम्पद्यते तरां दीप्रः पूर्वसम्बन्धसूचकः ॥१०९
ज्ञानेन तेन विज्ञाय दानपुण्यप्रभावतः । त्रिदशीभूतमात्मानं ते व्रजन्ति सुखासिकाम् ॥११०
प्रीतेनामरवर्गेण स्वसम्बन्धेन सादरम् । क्रियमाणं ततस्तुष्टा भजन्ते जननोत्सवम् ॥१११
ज्ञात्वा धर्मप्रसादेन तत्र प्रभवमात्मनः । पूजयन्ति जिनार्चास्ते भक्त्या धर्मस्य वृद्धये ॥११२

नष्टबुद्धि पुरुष अमृतको छोड़कर कालकूट विषको ग्रहण करता है ॥९९॥ यह दानसे उत्पन्न होने वाला फल पात्र-अपात्रके विभागसे मिथ्यादृष्टिकी अपेक्षासे कहा। अब इससे आगे सम्यग्दृष्टिकी अपेक्षा पात्र-दानके फलको कहते हैं ॥१००॥ सम्यग्दृष्टि पुरुष तीन प्रकारके पात्रोंके लिये आगमके अनुसार दान देता हुआ प्रार्थनीय कल्याणोंकी परम्पराको प्राप्त होता है ॥१०१॥ पात्रके लिये विधि-पूर्वक दान देकर और समाधिके साथ मरण करके शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव अच्युत पर्यन्त सोलह स्वर्गोमें उत्पन्न होते हैं ॥१०२॥ वहां स्वर्गोमें उत्पादशय्या पर उत्पन्न होकर अपने शरीरकी कान्तिसे आकाशको प्रकाशमान करते हुए वे देव लोग सोकर उठे हुए के समान शीघ्र उठ बैठते हैं ॥१०३॥ उस उत्पादशय्या पर बैठे बैठे ही वे देव लोग अपने चारों ओर हाथोंकी अंजलि बांधे हुए देव और देवियोंके समुदायोंको देखते हैं ॥१०४॥ और विचारते हैं कि सुनने योग्य सुन्दर स्तवनोंसे मेरी स्तुति करते हुए, भव्य आभरणोंसे भासुरायमान मूर्तमान् पुण्य-पुंजके समान ये कौन मेरे चारों ओर दिखाई दे रहे हैं ? ॥१०५॥ नाना प्रकारकी चाटुकारी करनेमें परायण, कल-कल मधुर शब्द बोलने वाली, सौन्दर्य-सागरकी वेलाके समान ये रमणीक कौनसी स्त्रियां देख रही हैं ॥१०६॥ यह अत्यन्त रमणीक भवनवाला कौन सा स्थान मुझे दिखाई दे रहा है ? मैं ऐसे दिव्य स्थान पर कैसे आया हूँ ? अथवा क्या यह सब स्वप्न है ॥१०७॥ मैंने पूर्णजन्ममें क्या पुण्य किया है कि मैं ऐसे सुन्दर स्थानमें उत्पन्न हुआ हूँ। क्योंकि पुण्यके विना ऐसी सुख-सम्पदा नहीं प्राप्त होती है ॥१०८॥ इस प्रकार चिन्तवन करते हुए उन देवोंके पूर्वरूपके सम्बन्ध-का सूचक, अति देदीप्यमान भव-कारणक अवधिज्ञान उत्पन्न होता है ॥१०९॥ उस ज्ञानके द्वारा यह जानकर कि मैं दानके पुण्य-प्रभावसे यहां देव लोकमें देव उत्पन्न हुआ हूँ' वे लोग सुखरूप समाधानको प्राप्त होते हैं ॥११०॥ तत्पश्चात् प्रीतिको प्राप्त हुए देवगण सादर अपने अपने सम्बन्धको प्रकट करके सन्तुष्ट होते हुए उनका जन्मोत्सव करते हैं और वे देवगण जन्मोत्सवके आनन्दका उपभोग करते हैं ॥१११॥

तदनन्तर धर्मके प्रभावसे स्वर्गलोकमें अपना जन्म जान कर वे देवगण धर्मकी और भी वृद्धिके लिये भक्तिके साथ जिन भगवान्का पूजन करते हैं ॥११२॥ वे देवगण अपने प्रतिबिम्बके

सुखवारिधिमग्नास्ते सेव्यमानाः सुधाशिभिः। सर्वदा व्यवतिष्ठन्ते प्रतिबिम्बैरिवात्मनः ॥११३
ते सर्वे क्लेशनिर्मुक्ता द्वाविंशतिमुदन्वताम्। आसते तत्र भुञ्जाना दानवृक्षफलं सुराः ॥११४
तेषां सुखप्रमां वक्ति वचोभिर्यो महात्मनाम्। प्रयाति पदविक्षेपैर्गगनान्तमसौ ध्रुवम् ॥११५
नवयौवनसम्पन्ना दिव्यभूषणभूषिताः। ते वरेण्यादिसंस्थाना जायन्तेऽन्तर्मुहूर्ततः ॥११६
तेषां खेदमदस्वेदजरारोगादिर्वाजताः। जायन्ते भास्कराकाराः स्फाटिका इव विग्रहाः ॥११७
राजते हृदये तेषां हारयष्टिर्विनिर्मला। निसर्गसम्भवा मूर्ता सम्यग्दृष्टिरिव स्थिता ॥११८
मुकुटो मस्तके तेषामुद्योतितदिगन्तरः। निषधानामिवादित्यं तमोध्वंसी विभासते ॥११९

निधुवनकुशलाभिः पूर्णचन्द्राननाभिः स्तनभरविनताभिर्मन्मथाध्यासिताभिः।
पृथुतरजघनाभिर्वन्धुराभिर्वधूभिः सममलवचोभिः सर्वदा ते रमन्ते ॥१२०
दिवोऽवतीर्योजितचित्तवृत्तयो, महानुभावा भुवि पुण्यशेषतः।
भवन्ति वंशेषु बुधार्चितेषु विशुद्धसम्यक्त्वधना नरोत्तमाः ॥१२१
अवाप्य ते चक्रधरादिसम्पदं मनोरमामत्र विपुण्यदुर्लभाम।
नयन्ति कालं निखिलं निराकुला न लभ्यते किं खलु पात्रदानतः ॥१२२
निषेव्य लक्ष्मीमिति शर्मकारिणीं, प्रथीयसीं द्वित्रिभवेषु कल्मषम्।
प्रदह्यते ज्ञानकृशानुनाऽखिलं, श्रयन्ति सिद्धिं विगतापदं सदा ॥१२३

समान अन्य देवोंसे सेवित होते हुए सदा सुख-सागरमें निमग्न रहते हैं ॥११३॥ वे देवगण सदा सर्व प्रकारके क्लेशोंसे विमुक्त रहते हैं, और दानरूप वृक्षके फलको भोगते हुए बाईस सागरोपम काल तक स्वर्ग लोकमें रहते हैं ॥११४॥ उन महान् भाग्यशाली देवोंके सुखके प्रमाणको जो पुरुष वचनोंसे कहना चाहता है, वह निश्चयसे एक एक पद-निक्षेप करते हुए अनन्त आकाशके अन्तको जाना चाहता है ॥११५॥ वे देव सदा नवयौवनसे सम्पन्न रहते हैं, दिव्य आभूषणों से भूषित रहते हैं, उत्तम प्रथम समचतुरस्रसंस्थानके धारक होते हैं, और अन्तर्मुहूर्तमें ही वे उत्पन्न हो जाते हैं ॥११६॥ उन देवोंके शरीर खेद, मल, प्रस्वेद, जरा, रोग आदिसे रहित और स्फटिक मणिके समान स्वच्छ प्रकाशमान आकार वाले होते हैं ॥११७॥ उनके वक्षःस्थल पर अति निर्मल हारोंकी लड़ी इस प्रकार शोभित होती है, मानों स्वभावसे उत्पन्न हुई मूर्त्तरूप सच्ची दृष्टि ही हृदय पर अवस्थित है ॥११८॥ उन देवोंके मस्तक पर दिशाओंके अन्तरालको प्रकाशित करनेवाला मुकुट इस प्रकार शोभित होता है, मानों निषध पर्वत पर अन्धकारका ध्वंस करनेवाला सूर्य ही प्रकाश-मान हो रहा है ॥११९॥ वे देव सदा ही काम सेवनमें कुशल, पूर्ण चन्द्रके समान मुखवाली, स्तनों-के भारसे नम्रीभूत, कामदेवसे व्याप्त, विशाल जघनवाली और निर्मल वचन बोलनेवाली सुन्दर स्त्रियोंके साथ रमण करते रहते हैं ॥१२०॥ वे देव लोग स्वर्गसे अवतरण करके शेष पुण्यके प्रभाव-से विद्वत्पूज्य वंशोंमें उदार चित्तवृत्तिवाले, विशुद्ध सम्यक्त्वरूप धनके धारक मनुष्योंमें उत्तम ऐसे महानुभाववाले महा मानव उत्पन्न होते हैं ॥१२१॥ वे जीव इस मनुष्य भवमें पुण्यहीन जनोंको अतिदुर्लभ ऐसी चक्रवर्ती आदिकी मनोरम सम्पदाको पाकर निराकुल रहते हुए अपने समस्त जीवन-कालको व्यतीत करते हैं। क्योंकि पात्र दानके पुण्यसे क्या नहीं प्राप्त होता? अर्थात् सभी कुछ प्राप्त होता है ॥१२२॥ इस प्रकार मनुष्य और देवोंके दो-तीन भवोंमें सुखकारिणी विशाल लक्ष्मीका उपभोग करके ध्यानरूप वह्निके द्वारा समस्त पाप कर्मोको जला करके वे सदाके लिए सर्व आपदाओंसे रहित सिद्धि (मुक्ति) को प्राप्त होते हैं ॥१२३॥

विधाय सप्ताष्टभवेषु वा स्फुटं जघन्यतः कल्मषकक्षकर्तनम् ।
व्रजन्ति सिद्धिं मुनिदानवासिता व्रतं चरन्तो जिननाथभाषितम् ॥१२४
पात्रदानमहनीयपादपः शुद्धदर्शनजलेन वर्द्धितः ।
यद्ददाति फलमर्चितं सतां, तस्य को भवति वर्णने क्षमः ॥१२५
गणेशिनाऽमितगतिना यदीरितं, दानजं फलमिदमीर्यते परैः ।
विभासितं दिनमणिना यदम्बरं भास्यते कथमपि दीपकैरिदम् ॥१२६

इत्यमितगत्याचार्यकृतोपासकाचारे एकादशः परिच्छेदः ॥११॥

द्वादशः परिच्छेदः

भावद्रव्यस्वभावा येरुन्नताः कर्मपर्वताः । विभिन्ना ध्यानवज्रेण दुःखव्यालालिसङ्कुलाः ॥१
कर्मक्षयभवाः प्राप्ता मुक्तिदूतीरघच्छिदः । नवकेवलब्धीर्ये पञ्चकल्याणभागिनः ॥२
सर्वभाषामयी भाषा बोधयन्ती जगत्त्रयीम् । आश्चर्यकारिणी येषां ताल्वोष्ठस्पन्दवर्जितः ॥३
वचांसि तापहारीणि पयांसीव पयोमुचः । क्षिपन्तो लोकपुण्येन भूतले विहरन्ति ये ॥४
प्रातिहार्याष्टकं कृत्वा येषां लोकातिशायिनीम् । सपर्या चक्रिरे सर्वे सादरा भुवनेश्वराः ॥५
येषामिन्द्राज्ञया यक्षः स्वर्गशोभाभिभाविनीम् । करोत्यास्थायिकीं कीर्णां लोकत्रितयजन्तुभिः ॥६
आद्यसंहतिसंस्थाना निःस्वेदा क्षीरशोणिता । राजते सुन्दरा येषां सुगन्धिरमला तनुः ॥७

अथवा जघन्यरूपसे सात-आठ भवोंमें पापोंकी कक्षाका क्षय करके मुनिदानकी वासनासे वासित वे जीव जिननाथसे भाषित व्रतोंका आचरण करते हुए सिद्धिको प्राप्त होते हैं ॥१२४॥ शुद्ध सम्यग्दर्शनरूप जलसे बढ़ाया गया यह पात्र दानरूप महान् वृक्ष सज्जनोंको जो उत्तम फल देता है, उसका वर्णन करनेमें कौन समर्थ हो सकता है ? कोई भी नहीं ॥१२५॥ अमित ज्ञानके धारक गणधर देवोंने दानका जो फल वर्णन किया है, वह दूसरे सामान्य लोगोंके द्वारा नहीं कहा जा सकता है । जो आकाश दिनमणि सूर्यके द्वारा प्रकाशित होता है, वह दीपकोंके द्वारा किसी भी प्रकारसे प्रकाशित नहीं हो सकता है ॥१२६॥

इस प्रकार अमितगति-विरचित उपासकाचारमें ग्यारहवां परिच्छेद समाप्त हुआ ।

अब आचार्य जिनदेवकी पूजाका महत्त्व बतलाते हुए पहले जिनदेवके स्वरूपका वर्णन करते हैं—जिन्होंने द्रव्य और भावस्वरूपकी अपेक्षा अति उन्नत और दुःखरूप सर्पोकी पंक्तिसे व्याप्त ऐसे कर्मरूप पर्वतोंको ध्यानरूप वज्रके द्वारा छिन्न-भिन्न कर दिया है, जिन्होंने पापोंके छेदनेवाली तथा कर्मक्षयसे उत्पन्न हुई नव केवललब्धियोंको मुक्तिरूपी स्त्रीकी दूतीके समान प्राप्त कर लिया है जो गर्भ-जन्मादि पंच कल्याणकोंके धारक हैं, जिनकी सर्व भाषामयी भाषा तीनों जगत्को प्रबोध करनेवाली है, और तालु ओष्ठके संयोगसे रहित होनेके कारण जगत्को आश्चर्य करनेवाली है, और जैसे मेघ सन्तापहारी जलको बरसाते हैं, उसी प्रकार जो जगत्के सन्तापको हरनेवाले वचनोंकी वर्षा करते हुए लोगोंके पुण्यसे इस भूतल पर विहार करते हैं, भुवनके ईश्वर इन्द्रादिक जिनके समीप आठ आश्चर्यकारी प्रातिहार्योंको रच कर आदरके साथ जिनकी लोकातिशायिनी पूजाको करते हैं, इन्द्रकी आज्ञासे यक्ष स्वर्गकी शोभाको भी तिरस्कृत करनेवाली और तीन जगत्के प्राणियोंसे व्याप्त ऐसी जिनकी आस्थायिका (सभा-भूमि-या समवसरण) को रचता है, जिनका शरीर आद्य वज्रवृषभनाराचसंहनन और आद्य समच-

येषां द्विष्टः क्षयं याति तुष्टो लक्ष्मीं प्रपद्यते । न रुष्यन्ति न तुष्यन्ति ते तयोः समवृत्तयः ॥८
लक्ष्मीं सातिशयां येषां भुवनत्रयतोषिणीम् । अनन्यभाविनीं शक्तो वक्तुं कश्चिन्न विद्यते ॥९
रागद्वेषमदक्रोधलोभमोहादयोऽखिलाः । येषु दोषा न तिष्ठन्ति तप्तेषु नकुला इव ॥१०
शक्तितो भक्तितोऽर्हन्तो जगतीपतिपूजिताः । ते द्वेधा पूजया पूज्या द्रव्यभावस्वरूपया[1] ॥११
वचोविग्रहसङ्कोचो द्रव्यपूजा निगद्यते । तत्र मानससङ्कोचो भावपूजा पुरातनैः ॥१२
गन्धप्रसूनसान्नाय[2]दीपधूपाक्षतादिभिः । क्रियमाणाऽथवा ज्ञेया द्रव्यपूजा विधानतः ॥१३
व्यापकानां विशुद्धानां जिनानामनुरागतः । गुणानां यदनुध्यानं भावपूजेयमुच्यते ॥१४
द्वेधाऽपि कुर्वतः पूजां जिनानां जितजन्मनाम् । न विद्यते द्वयो लोके दुर्लभं वस्तु पूजितम् ॥१५
यैः कल्मषाष्टकं प्लुष्टं[3] विशुद्धध्यानतेजसा । प्राप्तमष्टगुणैश्वर्यमात्मनीनमनव्ययम् ॥१६
क्षुधातृषाश्रमस्वेदनिद्राह्लोषाद्यभावतः । अन्नपानासनस्नानशयनाभरणादिभिः ॥१७
क्षुधादिनोदनैर्येषां नास्ति जातु प्रयोजनम् । सिद्धे हि वांछिते कार्ये कारणान्वेषणं वृथा ॥१८
कर्मव्यपायतो येषां न पुनर्जन्म जायते । विलयं हि गते बीजे कुतः सम्पद्यतेऽङ्कुरः ॥१९

तुरस्रसंस्थानवाला है, प्रस्वेदरहित है, क्षीर वर्णका रुधिर है, ऐसा निर्मल सुगन्ध मय जिनका सुन्दर शरीर शोभाको प्राप्त हो रहा है, जिनसे द्वेष करनेवाला क्षयको प्राप्त होता है और सन्तुष्ट होनेवाला लक्ष्मीको प्राप्त होता है, फिर भी जो दोनोंमें समवृत्ति रहते हुए न किसीसे रुष्ट होते हैं, और न किसीसे सन्तुष्ट ही होते हैं, जिनकी तीन भुवनको सन्तोष देनेवाली और अन्यमें नहीं पाई जानेवाली ऐसी सातिशय लक्ष्मीका वर्णन करनेके लिए कोई भी पुरुष समर्थ नहीं है, जिनमें राग द्वेष मद क्रोध लोभ मोह आदिक सभी दोष सर्वथा नहीं पाये जाते हैं, जैसे कि तप्त स्थानों पर नेवले नहीं पाये जाते हैं, ऐसे तीनों लोकोंके स्वामियोंसे पूजित अरहन्तदेव द्रव्य और भावस्वरूप दो प्रकारके पूजनके द्वारा शक्तिके अनुसार भक्तिपूर्वक पूजनीय हैं ॥१-११॥ वचन और शरीरका संकोच करना अर्थात् अन्य क्रियाएँ रोककर जिनेन्द्रदेवके सन्मुख करना, यह द्रव्यपूजा कही जाती है। तथा मनका संकोच करना अर्थात् मनको अन्य ओरसे हटाकर जिन भक्तिमें लगाना इसे पुरातन पुरुषोंने भावपूजा कही है ॥१२॥ अथवा गन्ध, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप, अक्षत आदिसे विधिपूर्वक की जानेवाली पूजाको द्रव्यपूजा जानना चाहिए। और निनेन्द्रदेवोंके व्यापक विशुद्ध गुणोंका परम अनुरागसे जो बार-बार चिन्तवन करना सो यह भावपूजा कही जाती है ॥१३-१४॥ संसारको जीतनेवाले जिनेन्द्रदेवोंकी दोनों ही प्रकारसे पूजा करनेवाले पुरुषको दोनों ही लोकोंमें कोई भी श्रेष्ठ वस्तु पाना दुर्लभ नहीं है ॥१५॥

जिन्होंने विशुद्ध ध्यानके तेजसे आठों कर्मोंका विनाश करके अपने अक्षय स्वरूपवाले आठ गुण रूप ऐश्वर्यको प्राप्त कर लिया है, भूख, प्यास, श्रम, प्रस्वेद, निद्रा, हर्ष, विषाद आदिके अभाव होनेसे जिनके क्षुधा आदिके दूर करनेवाले अन्न, पान, आसन, स्नान, शयन और आभूषण आदिसे जिन सिद्ध भगवन्तोंके कदाचित् भी कोई प्रयोजन नहीं रहा है, क्योंकि वांछित कार्यके सिद्ध हो जाने पर कारणोंका अन्वेषण करना वृथा है ॥१६-१८॥ कर्मोंका अभाव हो जानेसे जिनके संसारमें पुनः जन्म नहीं होता है, क्योंकि बीजके ही विनष्ट हो जाने पर अंकुर कैसे उत्पन्न हो सकता है ॥१९॥ जिनके कर्म-जनित राग-द्वेषादिक कोई भी दोष नहीं पाये जाते हैं, क्योंकि निमित्तके नहीं

१. मु० स्वभावया। २. मु० सान्नाह्य। ३. मु० प्लुष्ट्वा।

रागद्वेषादयो दोषा येषां सन्ति न कर्मजाः । निमित्तरहितं क्वापि न नैमित्तं विलोक्यते ॥२०
न निर्वृतिममी मुक्त्वा पुनरायान्ति संसृतिम् । शर्मदं हि पदं मुक्त्वा दुःखदं कः प्रपद्यते ॥२१
सुखस्य प्राप्यते येषां न प्रमाणं कथञ्चन । आकाशस्येव नित्यस्य निर्मलस्य गरीयसः ॥२२
पश्यन्ति ये सुखीभूता लोकाग्रशिखरस्थिताः । लोकं कर्मभ्रुकुंशेन नाटचमानमनारतम् ॥२३
येषां स्मरणमात्रेण पुंसां पापं पलायते । ते पूज्या न कथं सिद्धा मनोवाक्कायकर्मभिः ॥२४
चारयन्त्यनुमन्यन्ते पञ्चाचारं चरन्ति ये । जनका इव सर्वेषां जीवानां हितकारिणः ॥२५
येषां पादपरामर्शैर्जीवा मुञ्चन्ति पातकम् । निखिलं हिमरश्मीनां चन्द्रकान्तोपला इव ॥२६
उपदेशैः स्थिरं येषां चारित्रं क्रियते तराम् । ते पूज्यन्ते त्रिधाऽऽचार्याः पदं वयं यियासुभिः ॥२७
उन्नतेभ्यः ससत्त्वेभ्यो येभ्यो दलितकल्मषाः । जायन्ते पावना विद्याः पर्वतेभ्यः इवापगाः ॥२८
चरन्तः पञ्चधाऽऽचारं भवारण्यदवानलम् । द्वादशाङ्गश्रुतस्कन्धं पाठयन्ति पठन्ति ये ॥२९
येषां वचोह्लदे स्नाता न सन्ति मलिना जनाः । तेऽर्च्यन्ते न कथं दक्षैरुपाध्याया विरेफसः[1] ॥३०
यैरनङ्गानलस्तीव्रः सन्तापितजगत्त्रयः । विध्यापितः शमाम्भोभिः पापपङ्कापहारिभिः ॥३१

रहने पर कहीं पर भी नैमित्तिक कार्य नहीं देखा जाता है ॥२०॥ वे सिद्ध भगवन्त मुक्तिको छोड़कर कभी भी संसारमें नहीं आते हैं। क्योंकि सुख देनेवाले पदको छोड़कर कौन दुःखदायी पदको पाना चाहता है ॥२१॥ जिनके आकाशके समान नित्य, निर्मल और महान् सुखका प्रमाण कभी भी नहीं पाया जा सकता है ॥२२॥

जो लोकके अग्र शिखर पर अवस्थित हो परम सुखी होकर कर्मरूप नटके द्वारा नचाये जानेवाले संसारको निरन्तर देखते रहते हैं, और जिनके स्मरण मात्रसे पुरुषोंके पाप दूर भाग जाते हैं ऐसे वे परम शुद्ध स्वभावी सिद्ध भगवन्त मन वचन कायसे कैसे पूजने योग्य नहीं हैं, अपितु अवश्य ही पूजने योग्य हैं ॥२३-२४॥ जो पाँच प्रकारके आचारका स्वयं आचरण करते है, दूसरोंको आचरण कराते हैं और आचरण करनेवालोंको अनुमति देते हैं, जो पिताके तुल्य सब जीवोंके हितकारी हैं, जैसे कि चन्द्र किरणोंका स्पर्श करके चन्द्रकान्तमणि जलको छोड़ता है, उसी प्रकार जिनके चरणोंका स्पर्श करके जीव अपने पापोंको छोड़ देते हैं, जिनके उपदेशोंसे साधुजन अपने चारित्रको अति दृढ़ करते हैं, वे आचार्य परमेष्ठी श्रेष्ठ पदको जानेके इच्छुक भव्य पुरुषोंके द्वारा मन वचन कायसे पूजे जाते हैं ॥२५-२७॥

जैसे उन्नत पर्वतोंसे पावन नदियां निकलती हैं, उसी प्रकार जिन विद्योन्नत सत्त्वशाली उपाध्यायोंसे पापोंका दलन करनेवाली पवित्र विद्याएँ उत्पन्न होती हैं, जो संसार-कानन को जलानेके लिए दावानलके समान पंच आचारोंका स्वयं आंचरण करते है, जो द्वादशाङ्गरूप श्रुतस्कन्धको स्वयं पढ़ते हैं और अन्य शिष्योंको पढ़ाते हैं, जिनके वचनरूप सरोवरमें स्नान करनेवाले मलिन पुरुष भी मलिन नहीं रहते, प्रत्युत निर्मल हो जाते हैं, ऐसे पाप-रहित उपाध्याय परमेष्ठी चतुर पुरुषोंके द्वारा कैसे नहीं पूजे जाते हैं, अर्थात् अवश्य ही पूजे जाते हैं ॥२८-३०॥ जिन्होंने तीन जगत्को सन्तापित करनेवाले, तीव्र कामरूप अनल (अग्नि) को पापरूप कीचड़के दूर करनेवाले शमभावरूप जल से बुझा दिया है, जो भव-काननको जलानेकी इच्छासे निर्दोष तपको करते हैं, जिन्होंने सर्वप्रकारके परिग्रह को दूर कर दिया है, जो अपने

१. मु० विरेपसः ।

दिधक्षवो भवारण्यं ये कुर्वन्ति तपोऽनघम् । निराकृताखिलग्रन्था निस्स्पृहाः स्वतनावपि ॥३२
निधानमिव रक्षन्ति ये रत्नत्रयमाहृताः । ते सद्भिर्वरिवस्यन्ते साधवो भव्यबान्धवाः ॥३३
अर्चयद्भ्यस्त्रिधा पुंभ्यः पञ्चेति परमेष्ठिनः । नश्यन्ति तरसा विघ्ना बिडालेभ्य इवाऽऽखवः ॥३४
पूजयन्ति न ये दीना भक्तितः परमेष्ठिनः । सम्पद्यते कुतस्तेषां शर्म निन्दितकर्मणाम् ॥३५
इन्द्राणां तीर्थकर्तॄणां केशवानां रथाङ्गिनाम् । सम्पदः सकलाः सद्यो जायन्ते जिनपूजया ॥३६
मानवैर्मानवावासे त्रिदशैस्त्रिदशालये । खेचरैः खेचरावासे पूज्यन्ते जिनपूजकाः ॥३७
सकामा मन्मथालापा निबिडस्तनमण्डलाः । रमणी रमणीयाङ्गा रमयन्ति जिनार्चिनः ॥३८
पवित्रं यन्निरातङ्कं मुक्तानां[1] पदमव्ययम् । दुष्प्रापं विदुषामर्थ्यं प्राप्यते तज्जिनार्चकैः ॥३९
जिनस्तवं जिनस्नानं जिनपूजां जिनोत्सवम् । कुर्वाणो भक्तितो लक्ष्मीं भजते याचितां जनः ॥४०
संसारारातिभीतस्य व्रतानां गुरुसाक्षिकम् । गृहीतानामशेषाणां रक्षणं शीलमुच्यते ॥४१
साक्षीकृता व्रतादाने कुर्वते परमेष्ठिनः । भूपा इव महादुःखं विचारे व्यभिचारिणः ॥४२
एकदा ददते दुःखं नरनाथास्तिरस्कृताः । गुरवो न्यक्कृता दुःखं वितरन्ति भवे भवे ॥४३

शरीरमें भी भी निस्पृह हैं, जो निधानके समान रत्नत्रय धर्मकी अति आदरपूर्वक रक्षा करते हैं, ऐसे भव्य जीवोंके बन्धु साधुजन सज्जनोंके द्वारा निरन्तर आराधना किये जाते हैं ॥३१-३३॥ इस प्रकार उपर्युक्त इन पंच परमेष्ठियोंका मन वचन कायसे पूजन करनेवाले पुरुषोंके सर्व विघ्न इस प्रकारसे शीघ्र विनष्ट हो जाते हैं, जिस प्रकार कि बिलावोंसे मूषक विनष्ट हो जाते हैं ॥३४॥ जो दीन पुरुष पंच परमेष्ठीकी भक्तिसे पूजा नहीं करते हैं उन निन्द्य कर्म करनेवाले पुरुषोंको सुख कहांसे प्राप्त हो सकता है ॥३५॥ जिनेन्द्रदेवकी पूजासे इन्द्रोंकी, तीर्थंकरोंकी, नारायणोंकी और चक्रवर्तियोंकी सर्व सम्पदाएं शीघ्र प्राप्त होती हैं ॥३६॥ जिन देवकी पूजा करने वाले पुरुष मनुष्यलोकमें मानवोंके द्वारा, देवलोकमें देवोंके द्वारा और विद्याधरोंके आवासमें विद्याधरोंके द्वारा पूजे जाते हैं ॥३७॥ जिन भगवान्‌की पूजा करनेवाले मनुष्योंको काम सेवनके लिए उत्सुक, मधुर वचन बोलनेवाली, सघन स्तन-मण्डलोंकी धारक और रमणीय शरीर वाली ऐसी रमणियां रमाती हैं, अर्थात् जिनपूजनके पुण्यबन्धसे स्वर्गादिमें उत्तम स्त्रियोंकी प्राप्ति होती है ॥३८॥ सिद्धोंका जो पद परम पवित्र है, आतंक-रहित है, अव्यय है, दुष्प्राप्य है और विद्वानोंके द्वारा प्रार्थनीय है, वह जिनदेवकी पूजा करनेवाले पुरुषोंको प्राप्त होता है ॥३९॥ जिनदेवका स्तवन, जिनेन्द्रका अभिषेक, जिन पूजा और जिन देवका उत्सव भक्तिसे करनेवाला मनुष्य मनोवांछित लक्ष्मीको प्राप्त करता है ॥४०॥ अब आचार्य आगे शीलका वर्णन करते है—संसाररूप शत्रुसे भयभीत पुरुषके गुरु-साक्षी पूर्वक ग्रहण किये गये समस्त व्रतोंको रक्षा करनेको शील कहते हैं ॥४१॥ व्रत-ग्रहण करनेमें साक्षी किये गये परमेष्ठी व्रतोंके पालने के विचारमें व्यभिचार करने वाले पुरुषको राजाओं के समान महादुःख देते हैं ॥४२॥

भावार्थ—जैसे राजा के सम्मुख की हुई प्रतिज्ञा के भंग करने वाले पुरुषको राजा भारी दण्ड देता है, उसी प्रकार पंच परमेष्ठीकी साक्षी पूर्वक व्रत ग्रहण करके उसे भंग करनेवाला पुरुष महान् दुःख को पाता है। अरहन्तादि परमेष्ठी वीतराग हैं, वे किसी को कुछ दुःख नहीं देते हैं। किन्तु उनकी साक्षीपूर्वक व्रत लेकर उसे भंग करने वाला पुरुष अपने ही मलिन

1. मु० सिद्धानां।

भक्षयित्वा विषं घोरं वरं प्राणा विसर्जिताः। न कदाचिद्व्रतं भग्नं गृहीत्वा सूरिसाक्षिकम् ॥४४
वसनैर्भूषणैर्हीनः सकलैरपि शोभते। शीलेन बुधपूज्येन न पुनर्वर्जितो जनः ॥४५
सहजं भूषणं शीलं शीलं मण्डनमुत्तमम्। पाथेयं पुष्कलं शीलं शीलं रक्षणमूर्जितम् ॥४६
शीलेन रक्षितो जीवो न केनाप्यभिभूयते। महाह्रदनिमग्नस्य किं करोति दवानलः ॥४७
बान्धवाः सुहृदः सर्वे निःशीलस्य पराङ्मुखाः। शत्रवोऽपि दुराराध्याः सम्मुखाः सन्ति शीलिनः ॥४८
शीलतो न परो बन्धुः शीलतो न परः सुहृत्। शीलतो न परा माता शीलतो न परः पिता ॥४९
उपकारो न शीलस्य कर्तुमन्येन शक्यते। कल्पद्रुमः फलं दत्ते परः कुत्र महीरुहः ॥५०
तापेऽपि सुखितः शीली शीलमोची पुनर्जनः। चित्रं जनांगुलिच्छाये स्थितोऽपि परितप्यते ॥५१
कदाचन न केनापि सुशीलः परिभूयते। न तिरस्क्रियते यो हि श्लाघ्यते तस्य जीवितम् ॥५२
भङ्गस्थानपरित्यागी व्रतं पलायतेऽमलम्। तस्करैर्लुट्यते कुत्र दूरतोऽपि पलायितः ॥५३
नानानर्थकरं द्यूतं मोक्तव्यं शीलशालिना। शीलं हि नाश्यते तेन गरलेनेव जीवितम् ॥ ५४

परिणामोंसे पापका उपार्जन कर नरकादिमें दुःखोंको भोगता है, ऐसा अभिप्राय जानना चाहिए। तिरस्कार किये गये राजा लोग तिरस्कार करनेवाले मनुष्यको एक बार ही दुःख देते हैं। किन्तु तिरस्कार किये गये गुरुजन भव-भवमें दुःख देते हैं। यहां पर भी ऊपर कहा भावार्थ जानना ॥४३॥ भयंकर घोर विषको खाकरके प्राणोंका विसर्जन करना उत्तम है, किन्तु गुरुकी साक्षी पूर्वक व्रतको ग्रहण करके उसे भग्न करना कदाचित् भी अच्छा नहीं है ॥४४॥ सर्व वस्त्रोंसे और आभूषणोंसे भी रहित पुरुष यदि विद्वत्पूज्य शीलसे संयुक्त हो, तो शोभाको प्राप्त होता है। किन्तु शीलसे रहित और वस्त्राभूषणोंसे भूषित पुरुष शोभाको नहीं पाता है ॥४५॥ शील सहज भूषण है, शील उत्तम मण्डन है, शील पुष्ट पाथेय (मार्ग भोजन) है और शील ही जीवोंका परम संरक्षण है ॥४६॥ शील से रक्षित पुरुष किसीके द्वारा भी पराभव को प्राप्त नहीं हो सकता। क्योंकि महान् सरोवरमें निमग्न पुरुष का दावानल क्या करेगा ? कुछ भी नहीं कर सकता है ॥४७॥ शीलसे रहित पुरुषके सभी बन्धु और मित्रजन पराङ्मुख हो जाते हैं। किन्तु शीलवान् पुरुषके अत्यन्त दुराराध्य शत्रु भी सन्मुख होकर सहायक होते हैं ॥४८॥ शीलसे श्रेष्ठ कोई बन्धु नहीं, शीलसे श्रेष्ठ कोई मित्र नहीं, शीलसे श्रेष्ठ कोई माता नहीं और शीलसे श्रेष्ठ कोई पिता इस संसारमें नहीं है ॥४९॥ शीलके समान जीवका अन्य कोई उपकार नहीं कर सकता है। कहीं अन्य कोई वृक्ष कल्पद्रुमके समान मनोवांछित फलको दे सकता है ॥५०॥ आचार्य कहते है कि शीलवान् पुरुष ताप (घाम) में खड़ा होकरके भी सुखी है और शीलका छोड़नेवाला व्यक्ति मनुष्योंकी अंगुलियों की छायामें स्थित रहते हुए भी सन्तापको पाता है, यह महान् आश्चर्य है ॥५१॥ उत्तम शीलका धारक पुरुष कभी भी किसीके द्वारा पराभवको प्राप्त नहीं हो सकता है और न किसीके द्वारा तिरस्कृत ही होता है। शीलवान् पुरुषका जीवन ही प्रशंसनीय होता है ॥५२॥ व्रत-भंग होनेके स्थानका परित्यागी पुरुष ही व्रतको निर्मल पालता है। जो चोरों को दूरसे ही देखकर भाग जाता है, वह चोरोंके द्वारा कहां लूटा जा सकता है ॥५३॥ अब आचार्य शील भंग करनेवाले व्यसनोंसे दूर रहनेका उपदेश देते हुए पहले जुआ खेलनेका निषेध करते हैं— शीलवान् पुरुषको नाना अनर्थ करनेवाले द्यूतका त्याग करना ही चाहिए। जैसे विषपानसे-जीवनका नाश होता है, उसी प्रकार जुआ खेलनेसे शीलका नाश होता है ॥५४॥

विषाद: कलहो रोटि: कोपो मान: श्रमो भ्रम: । पैशुन्यं मत्सर: शोक: सर्वे द्यूतस्य बान्धवा: ॥५५
दु:खानि तेन जन्यन्ते जलानीवाम्बुवाहिना । व्रतानि तेन धूयन्ते रजांसीव च वायुना ॥५६
न श्रियस्तत्र तिष्ठन्ति द्यूतं यत्र प्रवर्तते । न वृक्षजातयस्तत्र विद्यन्ते यत्र पावक: ॥५७
मातुरप्युत्तरीयं यो हरते जनपूजितम् । अकर्तव्यं परं तस्य कुर्वत: कीदृशी त्रपा ॥५८
सम्पदं सकलां हित्वा स गृह्णाति महाऽऽपदम् । स्वकुलं मलिनीकृत्य वितनोति च दुर्यश: ॥५९
नरकैरपरै: क्रुद्धैर्नारकस्येव मस्तके । जनस्य कितवैस्तस्य दुर्ज्वालो ज्वाल्यतेऽनल: ॥६०
कर्कशं दु:श्रवं वाक्यं जल्पन्तो वञ्चिता: परे । कुर्वन्ति द्यूतकारस्य कर्णनासादिकर्तनम् ॥६१
विज्ञायेति महादोषं द्यूतं दीव्यन्ति नोत्तमा: । जानाना: पावकोष्णत्वं प्रविशन्ति कथं बुधा: ॥६२
वितनोति दृशो रागं या वात्येव रजोमयी । विध्वंसयति या लोकं शर्वरीव तमोमयी ॥६३
या स्वीकरोति सर्वस्वं चौरीवार्थपरायणा । छलेन या निगृह्णाति शाकिनीवामिषप्रिया ॥६४
वह्निज्वालेव या स्पृष्टा सन्तापयति सर्वत: । शुनीव कुरुते चाटु दानतो याऽतिकश्मला ॥६५
विमोहयति या चित्तं मदिरेव निषेविता । सा हेया दूरतो वेश्या शीलालङ्कारधारिणा ॥६६

विषाद, कलह, राड़, क्रोध, मान, श्रम, भ्रम, पैशुन्य, मत्सर और शोक ये सभी द्यूतके वान्धव हैं। अर्थात् जहाँ द्यूत-सेवन होगा, वहाँ पर सर्व ही दोप उपस्थित रहेंगे ॥५५॥ जैसे मेघोंके द्वारा जल उत्पन्न होता है, उसी प्रकार उस द्यूतके द्वारा दु:ख उत्पन्न होते हैं और जैसे पवनके द्वारा धूलि उड़ा दी जाती है, उसी प्रकार द्यूतके द्वारा व्रत उड़ा दिये जाते हैं ॥५६॥ जहाँ पर द्यूतकी प्रवृत्ति होती है, वहां पर लक्ष्मी नहीं ठहरती है। जहाँ पर अग्नि विद्यमान है, वहाँ पर वृक्षोंकी जातियाँ नहीं रह सकती हैं ॥५७॥ जो द्यूत व्यसनी माताके भी जन-पूजित उत्तरीय (ओढ़नेके वस्त्र) को भी हर ले जाता है, उसे किसी भी नहीं करने योग्य कार्यको करते हुए लज्जा कैसे हो सकती है ॥५८॥ जुआ खेलने वाला पुरुप सर्व सम्पदाका त्याग कर महा आपदाओं को ग्रहण करता है और अपने कुलको मलिन करके अपयशको विस्तारता है ॥५९॥ जैसे क्रोधित नारकी अन्य नारकी के शिर पर भयंकर अग्नि जलाते हैं, उसी प्रकार अन्य जुआरी पुरुष भी हारने वाले जुआरीके मस्तक पर अग्नि जलाते हैं ॥६०॥ जिनका धन ठग लिया गया है, ऐसे जुआरी कर्कश और कर्णोंको दु:खदायी वचनोंको बोलते हुए जुआरीके कान, नाक आदि अंगोंको काटते हैं ॥६१॥ इस प्रकार जुआ खेलनेके महादोषोंको जानकर उत्तम पुरुप जुआ नहीं खेलते हैं। अग्निकी उष्णताको जानते हुए ज्ञानी जन अग्निमें कैसे प्रवेश कर सकते हैं ॥६२॥

अव आचार्य वेश्या-व्यसनका निषेध करते हैं—जो धूलि उड़ानेवाली आँधीके समान आँखों-में रागको विस्तारती है, जो अन्धकारमयी रात्रिके समान लोकका विध्वंस करती है, जो चोरके समान अर्थपरायण होकर दूसरेके सर्व धनका अपहरण करती है, जो मांस-भक्षण-प्रिय राक्षसीके समान लोगोंको निगल जाती है अर्थात् उनके शरीरका सत्त्व खींच कर उन्हें नि:सत्त्व कर देती है, जो अग्नि ज्वालाके समान स्पर्श की हुई सर्व ओरसे सन्ताप उत्पन्न करती है, जो कुत्तीके समान स्वार्थ-साधनके लिए अपने यारकी चाटुकारी करती है, जो दान देनेमें अति कृपण है। अथवा जो धनके देनेसे अति पापिनी कुत्तीके समान खुशामद करती है, और जो मदिराके समान सेवन की गई चित्तको विमोहित करती है, ऐसी वेश्या शीलरूप अलंकारको धारण करनेवाले पुरुषके द्वारा दूरसे ही हेय है ॥६३-६६॥ व्यभिचारी पुरुष सत्य, शौच, शमभाव, शील, संयम, नियम, यम आदि सर्व

सत्यं शीलं शमं शौचं संयमं नियमं दमम् । प्रविशन्ति बहिर्मुक्त्वा विटाः पण्याङ्गनागृहम् ॥६७
तपो व्रतं यशो विद्या कुलीनत्वं दमो दया । छेद्यन्ते वेश्यया सद्यः कुठार्येवाखिला लताः ॥६८
जननी जनको भ्राता तनयस्तनया स्वसा । न सन्ति वल्लभास्तस्य दारिका यस्य वल्लभाः ॥६९
न तस्मै रोचते सेव्यं गुरूणां वचनं हितम् । सशर्करमिव क्षीरं पित्ताकुलितचेतसे ॥७०
वेश्यावक्त्रगतां निन्द्यां लालां पिबति योऽधमः । शुचित्वं मन्यते स्वस्य का पराऽतो विडम्बना ॥७१
यो वेश्यावदनं निस्ते मूढो मद्यादिवासितम् । मद्यमांसपरित्यागव्रतं तस्य कुतस्तनम् ॥७२
वदनं जघनं यस्या नीचलोकमलाविलम् । गणिकां सेवमानस्य तां शौचं बत कीदृशम् ॥७३
या परं हृदये धत्ते परेण सह भाषते । परं निषेवते लुब्धा परमाह्वयते दृशा ॥७४
सरलोऽपि स दक्षोऽपि कुलीनोऽपि महानपि । ययेक्षुरिव निःसारः सुपर्वापि विमुच्यते ॥७५
न सा सेव्या त्रिधा वेश्या शीलरत्नं यियासता । जानानो न हि हिंस्रत्वं व्याघ्रीं स्पृशति कश्चन ॥७६
तिरश्ची मानुषी देवी निर्जीवा च नितम्बिनी । परकीया न भोक्तव्या शीलरत्नवता त्रिधा ॥७७
जीवितं हरते रामा परकीया निषेविता । प्लोषते सर्पिणी दुष्टा स्पृष्टा दृष्टिविषा न किम् ॥७८

गुणोंको वाहिर ही छोड़कर वेश्याके घरमें प्रवेश करते हैं। अर्थात् वेश्याके घरमें प्रवेश करते ही उक्त सर्व धर्मकार्योंका विनाश हो जाता है ॥६७॥ जैसे कुठारीके द्वारा सभी लताएँ विच्छिन्न हो जाती हैं, उसी प्रकार वेश्याके द्वारा तप व्रत यश विद्या कुलीनता इन्द्रिय-दमन और दया आदि गुण शीघ्र विच्छिन्न हो जाते हैं ॥६८॥ जिस पुरुषको वेश्या प्यारी है, उसे माता पिता भाई पुत्र पुत्री और वहिन आदि कोई भी प्यारे नहीं रहते हैं ॥६९॥ वेश्या-व्यसनी पुरुषको गुरुजनोंके हित-कारी सेवन-योग्य वचन भी नहीं रुचते हैं, जैसे कि पित्तसे आकुलित चित्तवाले पुरुषको शक्कर मिला-हुआ दूध भी नहीं रुचता है ॥७०॥ जो अधम पुरुष वेश्याके मुखकी निन्द्य लारको पीता है और फिर भी अपने आपके पवित्रता मानता है, इससे अधिक और क्या विडम्बना हो सकती है ॥७१॥ जो मूढ़ मनुष्य मदिरा आदिसे वासित वेश्याके मुखको चूमता है, उसके मद्य और मांसके परित्यागका व्रत कैसे रह सकता है ॥७२॥ जिस वेश्याका मुख और जघन नीच लोगोंके थूक और मूत्रादि मलसे व्याप्त रहता है, ऐसी वेश्याको सेवन करनेवाले पुरुषके बताओ-पवित्रता कैसे रह सकती है ॥७३॥ जो वेश्या किसी अन्य पुरुषको हृदयमें धारण करती है, किसी और के साथ संभाषण करती है, धनकी लोभिनी होकर किसी अन्यका सेवन करती है और नेत्र-कटाक्षसे किसी और पुरुषको बुलाती है, (वह क्या कभी किसीके साथ सच्चा प्यार कर सकती है) ॥७४॥ जिस वेश्याके द्वारा सरल, सुचतुर, कुलीन और महान् भी पुरुष धन रहित होने पर उत्तम पोर वाले निःसार साँठेके समान छोड़ दिया जाता है, (उस वेश्याके साथ प्रीति करना कहाँ तक उचित है) ॥७५॥ इसलिए शीलरूप रत्नकी रक्षा करनेके इच्छुक पुरुषको मन वचन और कायसे ऐसी वेश्याका कभी सेवन नहीं करना चाहिए। व्याघ्रीकी हिंसकताको जानता हुआ कोई पुरुष उसका स्पर्श नहीं करता है ॥७६॥

अब आचार्य परस्त्री व्यसनका निषेध करते हैं—शीलवान् पुरुषको तिर्यचनी, मनुष्यनी, देवी और निर्जीव काष्ठ पाषाणरूप आकार वाली स्त्री, ये चारों ही प्रकारकी परायी स्त्रियोंको मन वचन कायसे कभी भी नहीं भोगना चाहिए ॥७७॥ सेवन की गई परायी स्त्री मनुष्यके जीवन का अपहरण करती है। दुष्ट दृष्टिविषवाली सर्पिणी स्पर्श किये जाने पर क्या नहीं जलाती है ?

यच्चेह लौकिकं दुःखं परनारीनिषेवणे । तत्प्रसूनं मतं प्राज्ञैर्नारकं दारुणं फलम् ॥७९
स्वजनै रक्ष्यमाणायास्तस्या लाभोऽतिदुष्करः । तापस्तु चिन्त्यमानायां सर्वाङ्गीणो निरन्तरः ॥८०
प्राप्यापि कष्टकष्टेन तां देशे यत्र तत्र वा । किं सुखं लभते भीतः सेवमानस्त्वरान्वितः ॥८१
या हिनस्ति स्वकं कान्तं सा जारं न कथं खला । विडाली याऽत्ति पुत्रं स्वं सा किं मुञ्चति मूषकम्॥८२
यावदृशीं कुचेतस्कः किं वाञ्छति पराङ्गनाम् । न पापतः परो लाभः कदाचित्तत्र विद्यते ॥८३
या स्वं मुञ्चति भर्तारं विश्वासस्तत्र कीदृशः । को विश्वासमृते स्नेहः किं सुखं स्नेहतो विना ॥८४
वधो बन्धो धनभ्रंशस्तापः शोकः कुलक्षयः । आयासः कलहो मृत्युः पारदारिक-बान्धवाः ॥८५
लिङ्गच्छेदं खरारोहं कुलालकुसुमार्चनम् । जननिन्दामभोग्यत्वं लभते पारदारिकः ॥८६
लब्ध्वा विडम्बनां गुर्वीमत्र प्राप्तः स पञ्चताम् । श्वभ्रे यद्दुःखमाप्नोति कस्तद्वर्णयितुं क्षमः ॥८७
एकान्ते यौवन-ध्वान्ते नारीं नेदीयसीं सतीम् । दृष्ट्वा क्षुभ्यति धीरोऽपि का वार्ता कातरे जने ॥८८
जल्पनं हसनं नर्म क्रीडा वक्त्रावलोकनम् । आसनं गमनं स्थानं वर्णनं भिन्नभाषणम् ॥८९
नार्या परिचयं सार्धं कुर्वाणः परकीयया । वृद्धोऽपि दूष्यते प्रायस्तरुणो न कथं पुनः ॥९०

अपितु जलाती ही है ॥७८॥ परस्त्रीके सेवन करने पर इस लोकमें जो लौकिक दुःख प्राप्त होते हैं, ज्ञानियोंने उन्हें तो उसके फूल कहे हैं और नरकोंके दारुण दुःख उसके फल कहे हैं ॥७९॥ स्वजनोंके द्वारा रक्षा की जाती हुई परस्त्रीकी प्राप्ति ही प्रथम तो अतिदुष्कर है। उसे पानेकी चिन्ता करते रहनेपर निरन्तर सर्व अंगमें सन्ताप उत्पन्न होता है ॥८०॥ यदि वह परस्त्री किसी प्रकार अतिकष्टसे प्राप्त भी हो जाय तो जिस किसी स्थानपर भयभीत होकर आतुरतासे युक्त होकर सेवन करता हुआ पुरुष क्या सुख पा सकता है? कुछ भी नहीं ॥८१॥ जो परस्त्री अपने सगे पतिको भी मार डालती है, वह दुष्ट क्या अपने जारको नहीं मार सकती है? जो बिल्ली अपने पुत्रको खा जाती है, वह क्या चूहीको छोड़ देगी ॥८२॥ ऐसी आपदा देनेवाली परस्त्रीको खोटे चित्तवाले पुरुष क्यों भोगते हैं, यह आश्चर्य एवं दुःखकी बात है। परस्त्रीके सेवनमें पापके सिवाय कदाचित् भी कोई लाभ नहीं है ॥८३॥ जो परस्त्री अपने भर्तारको भी छोड़ देती है, उसमें विश्वास कैसा? और विश्वासके विना स्नेह कैसा? तथा स्नेहके विना सुख क्या मिल सकता है ॥८४॥ वध, वन्ध, धन-विनाश, सन्ताप, शोक, कुल-क्षय, परिश्रम, कलह और मृत्यु ये सभी अवगुण परस्त्री-सेवन करनेवाले पुरुषके बान्धव हैं ॥८५॥ परस्त्री-सेवी पुरुष इसी लोकमें लिंगके छेदनको, गधेपर चढ़नेको, कुलाल-कुसुमोंके द्वारा पूजनको अर्थात् गोबरी कंडों आदिकी मारको, जन-निन्दाको और अभोगपना या दुर्भाग्यको प्राप्त होता है ॥८६॥ इस प्रकार इसी लोकमें उक्त प्रकारकी बड़ी-बड़ी विडम्बनाओंको पाकर वह मरणको प्राप्त होता है और नरकोंमें उत्पन्न होकर वहाँ पर जो जो दुःख पाता है, उसे वर्णन करनेके लिए कौन समर्थ है ॥८७॥ एकान्त स्थानपर यौवनके अन्धकारमें अतिवृद्ध सती साध्वी स्त्रीको देखकर धीर-वीर पुरुष भी क्षोभको प्राप्त हो जाता है, तो फिर कायर पुरुषकी तो बात ही क्या है ॥८८॥ परायी स्त्रीके साथ एकान्तमें बोलना, हँसना, मजाक करना, खेलना, उनका मुख देखना अथवा 'वक्र'—पाठ माननेपर तिरछी नजरसे देखना, उनके साथ बैठना, गमन करना, खड़े रहना, किसी बातका वर्णन करना, शील-भेदक संभाषण करना और परिचय प्राप्त करना आदि कार्य करते हुए प्रायः वृद्ध पुरुष भी दोषको प्राप्त होता है, तो फिर जवान पुरुष क्यों नहीं दोषको प्राप्त होगा? अवश्य ही होगा ॥८९-९०॥

विबुध्येति महादोषं पररामा मनीषिभिः । विवर्ज्या दूरतः सद्भिर्भुजङ्गीव भयङ्करा ॥९१
नामापि कुरुते यस्या गृहीतं गुरु कल्मषम् । मृगया सा त्रिधा हेया भवदुःखविभीरुणा ॥९२
त्रस्यन्ति सर्वदा दीनाश्चलतः पर्णतोऽपि ये । हिंस्यन्ते तेऽपि यैर्जीवास्तेभ्यः किं निर्घृणाः परे ॥९३
निरागसः पराधीनाः नश्यन्तो भयविह्वलाः । । कुरङ्गा यैर्निहन्यन्ते पापिष्ठा न परे ततः ॥९४
गृह्णतोऽपि तृणं दन्तैर्देहिनो मारयन्ति ये । व्याघ्रेभ्यस्ते दुराचारा विशिष्यन्ते कथं खलाः ॥९५
ये मारयन्ति निस्त्रिंशा ये मार्यन्ते च विह्वलाः । तेषां परस्परं नास्ति विशेषस्तत्क्षणं विना ॥९६
स्वमांसं परमांसैर्ये पोषयन्ति दुराशयाः । स्वमांसमेव खाद्यन्ते हठतो नारकैरिमे ॥९७
स्वल्पायुर्विकलो रोगी विचक्षुर्बधिरः खलः । वामनः पामनः पण्ढो जायते स भवे भवे ॥९८
दुःखानि यानि दृश्यन्ते दुःसहानि जगत्त्रये । सर्वाणि तानि लभ्यते प्राणिमर्दनकारिणा ॥९९
इति दोषवती मत्वा मृगया हितकांक्षिणा । नानाऽनर्थकरी त्याज्या राक्षसीव विभीषणा ॥१००
भोजनं कुर्वता कार्यं मौनं शीलवता सता । सन्तोषित्वमिवानिन्द्यं भैक्ष्यशुद्धिविधायिना ॥१०१
सर्वदा शस्यते जोषं भोजने तु विशेषतः । रसायनं सदा श्रेष्ठं सरोगित्वे पुनर्न किम् ॥१०२

इस प्रकार परस्त्री-सेवनके महादोषोंको जानकर मनीषी सत्-पुरुषोंको परस्त्री भयंकर सर्पिणीके समान दूरसे ही छोड़ देनी चाहिए ॥९१॥

अब आचार्य मृगया (शिकार) व्यसनका निषेध करते हैं—जिसका नाम लेना भी भारी पापका उपार्जन करता है, वह मृगया संसारके दुःखोंसे डरनेवाले पुरुषको मन वचन कायसे छोड़ देना चाहिए ॥९२॥ जो बेचारे दीन प्राणी पत्तेके हिलनेसे भी सदा त्रासको प्राप्त होते हैं, उन्हें जो मारते हैं उनसे अधिक निर्दयी और कौन हैं ॥९३॥ जो लोग निरपराधी, पराधीन, भय-विह्वल हो भागते हुए ऐसे हरिणोंको मारते हैं, उनसे अधिक और कोई पापी नहीं हैं ॥९४॥ जो दाँतोंसे तृणोंको दबाये हुए हैं, ऐसे हरिणादिकको जो लोग मारते हैं, वे दुष्ट दुराचारी मनुष्य व्याघ्रोंसे कैसे विशिष्ट हैं ? अर्थात् वे व्याघ्रसमान ही हैं ॥९५॥ जो निर्दयी पुरुष जीवोंको मारते हैं और जो भय-विह्वल जीव मारे जाते हैं, उन दोनोंमें परस्पर उस क्षणके विना और कोई विशेषता नहीं है। भावार्थ—वर्तमान समयमें तो मरनेवाले और मारनेवालेमें हीनाधिकता है। किन्तु आगे नरक-गतिमें उत्पन्न होनेपर वे आपसमें एक दूसरेको मारेंगे, अतः वहाँकी अपेक्षा कोई हीनाधिकता नहीं है ॥९६॥ जो दुष्टचित्त जीव दूसरोंके मांससे अपने मांसको पोषित करते हैं, वे जीव हठात् नारकियोंके द्वारा अपने ही मांसको खाते हैं। भावार्थ—जो यहाँपर पराये मांसको खाते हैं, नरकमें उत्पन्न होनेपर वहाँ नारकी उन्हींका मांस काट-काटकर उन्हें खिलाते हैं ॥९७॥ शिकार खेलने-वाला मनुष्य भव भवमें अल्पायुका धारी, विकलांगी, रोगी, अन्धा, बहिरा, दुष्ट, बौना, कोढ़ी और नपुंसक होता है ॥९८॥ इस तीन जगत्में जितने भी दुःसह भयानक दुःख दिखाई देते हैं, वे सर्व दुःख जीवोंका घात करनेवाला प्राणी पाता है ॥९९॥ इस प्रकारसे अत्यन्त दोषवाली मृगयाको जानकर अपना हित चाहनेवाले पुरुषको नाना अनर्थ करनेवाली भयानक राक्षसीके समान उसका त्याग कर देना चाहिए ॥१००॥

अब आचार्य मौनके गुणोंका वर्णन करते हुए भोजनादिके समय मौन-धारण करनेका उपदेश देते हैं—जैसे भिक्षाकी शुद्धिका आचरण करनेवाले साधुको अनिन्द्य सन्तोषपनाके साथ मौन-धारण करना आवश्यक है, उसी प्रकार शीलवान् पुरुषको भी भोजन करते हुए सदा मौन धारण करना चाहिए ॥१०१॥ मौन रहना सदा सदा ही प्रशंसनीय है। फिर भोजनके समयमें तो

सन्तोषो भाव्यते तेन वैराग्यं तेन दृश्यते । संयमः पोष्यते तेन मौनं येन विधीयते ॥१०३
वचोव्यापारतो दोषा ये भवन्ति दुरुत्तराः । ते सर्वेऽपि निवार्यन्ते मौनव्रतविधायिना ॥१०४
सागारोऽपि जनो येन प्राप्यते यतिसंयमम् । मौनस्य तस्य शक्यन्ते केन वर्णयितुं गुणाः ॥१०५
जोषेण विशतो रोधः कल्मषस्य विधीयते । वलिष्ठेन महिष्ठेन सलिलस्येव सेतुना ॥१०६
हुङ्काराङ्गुलिखात्कारभ्रूमूर्द्धचलनादिभिः । मौनं विदधता सञ्ज्ञा विधातव्या न गृद्धये ॥१०७
सार्वकालिकमन्यच्च मौनं द्वेधा विधीयते । भक्तितः शक्तितो भव्यैर्भवभ्रमणभीरुभिः ॥१०८
भव्येन शक्तितः कृत्वा मौनं नियतकालिकम् । जिनेन्द्रभवने देया घण्टिका समहोत्सवम् ॥१०९
न सार्वकालिके मौने निर्वाहव्यतिरेकतः । [1]उद्यापनं परं प्राज्ञैः किञ्चनापि विधीयते ॥११०
आवश्यके मलक्षेपे पापकार्ये विशेषतः । मौनी न पीडयते पापैः सन्नद्धः सायकैरिव ॥१११
कोपादयो न संक्लेशा मौनव्रतफलार्थिना । पुरः पश्चाच्च कर्तव्याः सूद्यते तद्धितैः कृतैः ॥११२
वाचंयमः पवित्राणां गुणानां हित[2]कारिणाम् । सर्वेषां जायते स्थानं मणीनामिव नीरधिः ॥११३

मौन रखना विशेषकर प्रशंसनीय है। रसायनका सेवन सदा ही श्रेष्ठ है, फिर सरोगी होनेपर तो उसका सेवन कैसे श्रेष्ठ नहीं होगा ॥१०२॥ जो पुरुष मौन धारण करता है, उसका सन्तोष दृढ़ होता है, उससे वैराग्य भाव दिखाई देता है और उससे संयम पुष्ट होता है ॥१०३॥ वचनोंके व्यापारसे जो भयंकर दोष उत्पन्न होते हैं, वे सब मौन व्रतके धारण करनेवाले पुरुषके द्वारा सहजमें ही निवारण कर दिये जाते हैं ॥१०४॥

जिस मौनव्रतके द्वारा गृहस्थ भी मनुष्य मुनिके संयमको प्राप्त होता है, उस मौनव्रतके गुण किसके द्वारा वर्णन किये जा सकते हैं ॥१०५॥ जैसे पुख्ता बने हुए महान् बाँधके द्वारा जल रोका जाता है, उसी प्रकार मौनके द्वारा भीतर प्रवेश करते हुए पापोंका निरोध किया जाता है ॥१०६॥ मौनको धारण करनेवाला पुरुष भोजनकी गृद्धिके लिए हुँकार, अंगुलि-चालन, खात्कार (खंखारना), भ्रकुटी चढ़ाना और शिर हिलाना आदिके द्वारा किसी प्रकारका संकेत न करे ॥१०७॥ भवभ्रमणसे भयभीत भव्य पुरुषोंको अपनी शक्तिके अनुसार भक्ति-पूर्वक सर्वकालिक और असार्वकालिक यह दो प्रकारका मौन धारण करना चाहिए। भावार्थ—जीवन-पर्यन्तके लिए धारण किया गया मौन सार्वकालिक कहलाता है। अल्प या नियत समयके लिए धारण किया गया मौन असार्वकालिक कहलाता है ॥१०८॥ नियत कालिक मौन पालन करके भव्य पुरुषको भक्तिसे जिनेन्द्रभवनमें महोत्सव करके एक घण्टा देना चाहिए ॥१०९॥ सार्वकालिक मौनमें निर्वाहके अतिरिक्त और किसी प्रकारके उद्यापनका कुछ भी विधान ज्ञानियोंने नहीं किया है। भावार्थ—असार्वकालिक मौनव्रतकी पूर्णता होनेपर मन्दिरमें घण्टाका दान करना उसका उद्यापन है। किन्तु सार्वकालिक मौनमें उसका पूर्ण रीतिसे निर्वाह करना ही उद्यापन है ॥११०॥ जिस-प्रकार सदा बख्तर (कवच) आदिसे सन्नद्ध योद्धा बाणोंसे पीड़ित नहीं होता है, उसी प्रकार सामायिक आदि छह आवश्यक क्रियाओंके करते समय, मल-मूत्रके क्षेपणके समय, भोजनके समय और विशेषकर मैथुन-सेवनादि पापकार्योंके करते समय मौन-धारण करनेवाला पुरुष पापोंसे पीड़ित नहीं होता है ॥१११॥ मौनव्रतके फलार्थी पुरुषको भोजनादिके करनेके पूर्व या पश्चात् क्रोधादिक अथवा किसी प्रकारका संक्लेशादिक नहीं करना चाहिए। क्योंकि कषाय या संक्लेशादि करनेसे मौनव्रतका विनाश हो जाता है ॥११२॥ जैसे समुद्र सर्व प्रकारके मणियोंका स्थान है, उसी-प्रकार वचनका संयम पालनेवाला मौन-धारक पुरुष सभी सुखकारी पवित्र गुणोंका स्थान हो जाता

---

१. मु० उद्योतनं। २. मु० सुख—।

वाणी मनोरमा तस्य शास्त्रसन्दर्भगर्भिता । आदेया जायते येन क्रियते मौनमुज्ज्वलम् ॥११४
पदानि यानि विद्यन्ते वन्दनीयानि कोविदैः । सर्वाणि तानि लभ्यन्ते प्राणिना मौनकारिणा ॥११५
निर्मलं केवलज्ञानं लोकालोकावलोकनम् । लीलया लभ्यते येन किं तेनान्यन्न कांक्षितम् ॥११६
रागो निवार्यते येन धर्मो येन विवर्धते । पापं निहन्यते येन संयमो येन जन्यते ॥११७
अनेकजन्मसंबद्धकर्मकाननपावकः । उपवासः स कर्तव्यो नीरागीभूतचेतसा ॥११८
उपेत्याक्षाणि सर्वाणि निवृत्तानि स्वकार्यतः । वसन्ति यत्र स प्राज्ञैरुपवासोऽभिधीयते ॥११९
स सार्वकालिको जैनैरेकोऽन्योऽसार्वकालिकः । द्विविधः कथ्यते शक्तो हृषीकाश्वनियन्त्रणे ॥१२०
तत्राद्यो म्रियमाणस्य वर्तमानस्य चापरः । कालानुसारतः कार्यं क्रियमाणं महाफलम् ॥१२१
वर्तमानो मतस्त्रेधा स वर्यो मध्यमोऽधमः । कर्त्तव्यः कर्मनाशाय निजशक्त्यनुगूहकैः ॥१२२
चतुर्णां यत्र भुक्तीनां त्यागो वर्यश्चतुर्विधः । उपवासः सपानीयस्त्रिविधो मध्यमो मतः ॥१२३
भुक्तिद्वयपरित्यागे द्विविधो[1] गदितोऽधमः । उपवासस्त्रिधाऽप्येष शक्तित्रितयसूचकः ॥१२४

है अर्थात् मौन धारण करनेवाले पुरुषको सभी उत्तम गुण स्वयं प्राप्त होते हैं ॥११३॥ जो पुरुष उज्ज्वल निर्दोष मौनका पालन करता है, उसकी वाणी शास्त्र-सन्दर्भसे युक्त, मनोहर और सबके द्वारा आदरणीय हो जाती है ॥११४॥ संसारमें विद्वानोंके द्वारा वंदनीय जितने भी पद हैं, वे सब मौन-धारण करनेवाले प्राणीको प्राप्त होते हैं ॥११५॥ जिस मौनव्रतके द्वारा लोक और अलोकका अवलोकन करनेवाला निर्मल केवलज्ञान लीलामात्रसे प्राप्त हो जाता है, उससे अन्य मनोवांछित कौनसी वस्तु नहीं मिलेगी ? सर्व ही मिलेंगी ॥११६॥

अब आचार्य उपवासका वर्णन करते हैं—जिसके द्वारा इन्द्रियोंके विषयोंका राग दूर किया जाता है, जिसके द्वारा धर्मकी वृद्धि होती है, जिसके द्वारा पाप विनष्ट होते हैं, जिसके द्वारा संयम उत्पन्न होता है और जो अनेक जन्मोंमें बँधे हुए कर्मरूप काननको जलानेके लिए अग्निके समान है, ऐसा उपवास राग-रहित चित्तसे व्रती पुरुषको करना चाहिए ॥११७-११८॥ जिसमें सर्व इन्द्रियाँ अपने अपने कार्यसे निवृत्त होकर आत्माके समीप निवास करती हैं, उसे उपवास कहते हैं । ऐसा उपवास ज्ञानी जनोंको करना चाहिए ॥११९॥ जिन देवोंने इन्द्रियरूप घोड़ोंके नियन्त्रण करनेमें समर्थ वह उपवास दो प्रकारका कहा है—एक सार्वकालिक और दूसरा असार्वकालिक ॥१२०॥ इनमेंसे पहला सार्वकालिक उपवास समाधिसे मरनेवाले पुरुषके कहा गया है । और दूसरा असार्वकालिक उपवास विद्यमान पुरुषके कालके नियमानुसार किया जाता है और महाफलको देता है ॥१२१॥ वर्तमान पुरुषके द्वारा किया जानेवाला असार्वकालिक उपवास तीन प्रकारका माना गया है—उत्तम, मध्यम और अधम । यह तीनों ही प्रकारका उपवास अपनी शक्तिको नहीं छिपा करके कर्मोंका नाश करनेके लिए व्रतीजनोंको करना चाहिए ॥१२२॥ जिस उपवासमें चारों प्रकारके भोजनका त्याग हो, वह उत्तम उपवास है । जिसमें पानी मात्र रखकर शेष तीन प्रकारके आहारका त्याग किया जाय, वह मध्यम उपवास माना गया है । जिसमें खाद्य और स्वाद्य इन दो प्रकारके आहारका त्यागकर लेह्य और पेयरूप दो प्रकारका आहार ग्रहण किया जाय, वह अधम उपवास कहा गया है । यह तीनों ही प्रकारका उपवास श्रावककी तीन प्रकारकी शक्तिका सूचक है ॥१२३-१२४॥

---

१. मु० त्रिविधो ।

प्रहरद्वितये भुक्त्वा समेत्याचार्यसन्निधिम् । वन्दित्वा भक्तितः कृत्वा कायोत्सर्गं यथागमम् ॥१२५
पञ्चाङ्गप्रणतिं कृत्वा गृहीत्वा सूरिवाक्यतः । उपवासं पुनः कृत्वा कायोत्सर्गं विधानतः ॥१२६
आचार्यं स्तवतः स्तुत्वा वन्दित्वा गणनायकम् । दिनद्वयं ततो नेयं स्वाध्यायासक्तचेतसा ॥१२७
विधाय साक्षिणं सूरिं गृह्यमाणः पटीयसा । सम्पद्यते तरामेष व्यवहार इव स्थिरः ॥१२८
सर्वभोगोपभोगानां कर्त्तव्या विरतिस्त्रिधा । शयितव्यं महीपृष्ठे प्रासुके कृतसंस्तरे ॥१२९
विहाय सर्वमारम्भमसंयमविवर्धकम् । विरक्तचेतसा स्थेयं यतिनेव पटीयसा ॥१३०
तृतीये वासरे कृत्वा सर्वमावश्यकादिकम् । भोजयित्वाऽतिथिं भक्त्या भोक्तव्यं गृहमेधिना ॥१३१
उपवासः कृतोऽनेन विधानेन विरागिणा । हिनस्त्येकोऽपि रेफांसि तमांसीव दिवाकरः ॥१३२
उपवासं विना शक्तो न परः स्मरमर्दने । सिंहेनैव विदीर्यन्ते सिन्धुरा मदमन्थराः ॥१३३
उपवासेन सन्तप्ते क्षिप्रं नश्यति पातकम् । ग्रीष्मार्काध्यासिते तोयं कियत्तिष्ठति पल्वले[1] ॥१३४
नित्यो नैमित्तिकश्चेति द्वेधाऽसौ कथितो बुधैः । प्रोषधे स मतो नित्यो बहुधाऽन्ये व्यवस्थिताः ॥१३५

अब आचार्य उत्तम उपवास करनेकी विधि कहते हैं—उपवास करनेके पहले दिन दोपहरके समय भोजन करके, आचार्यके समीप आकर, भक्तिसे उनकी वन्दनाकर, कायोत्सर्ग करके यथाक्रमसे पंचांग नमस्कार करे। पुनः आचार्यके वचनोंसे उपवासको ग्रहण कर और पुनः कायोत्सर्ग करके विधिपूर्वक आचार्यकी स्तुति करके तथा गणनायककी वन्दना करके स्वाध्यायमें चित्त लगाकर दो दिन व्यतीत करना चाहिए ॥१२५-१२७॥ भावार्थ—यहाँपर जो दो दिन स्वाध्यायपूर्वक बितानेका निर्देश किया है, उसका अभिप्राय यह है कि एक दिनमें आठ पहर होते है। पूर्वोक्त रीतिसे उपवास करनेवाला पर्वके पूर्ववर्ती दिनके मध्याह्न कालमें भोजन करके भोजनका परित्याग किया । पुनः पर्वके दिन पूरे आठ पहर भोजन नहीं किया । पुनः पर्वके अगले दिन मध्याह्न कालमें भोजन किया। इस प्रकार पर्वके पूर्ववर्ती दिनके दो पहर, रात्रिके चार पहर, पर्वके दिनके आठ पहर और अगले दिनके दो पहर इस प्रकार सोलह पहरतक अन्न-जलका त्याग रहनेसे दो दिन धर्मध्यानपूर्वक वितानेका आचार्यने उल्लेख किया है। आचार्यकी साक्षी करके चतुर पुरुषके द्वारा ग्रहण किया गया उपवास अति स्थिरताको प्राप्त होता है। जैसे कि वड़े पुरुषकी साक्षीसे किया गया व्यवहार स्थिर होता है। उपवासके दिन सर्व प्रकारके भोग और उपभोगोंका मन वचन कायसे त्याग करना चाहिए भूतल पर प्रासुक विस्तर विछाकर सोना चाहिए, और असंयमका बढ़ानेवाला सर्व आरम्भ छोड़कर विरक्त चित्त हो चतुर पुरुषको साधुके समान रहना चाहिए। तीसरे दिन सर्व आवश्यक क्रिया आदिको करके और भक्तिके साथ अतिथिको भोजन करा करके गृहस्थको स्वयं भोजन करना चाहिए। इस प्रकारकी विधिसे विरागी पुरुषके द्वारा किया गया एक भी उपवास अनेक भवके पापोंका नाश कर देता है, जैसे कि सूर्य अन्धकारका नाश कर देता है ॥१२८-१३२॥ उपवासके विना अन्य कोई व्रतादिक कामदेवके मर्दन करनेमें समर्थ नहीं हैं। क्योंकि मदसे उन्मत्त हाथी सिंहके द्वारा ही विदीर्ण किये जाते हैं ॥१३३॥ उपवाससे तपाये गये पुरुषके पाप शीघ्र नष्ट हो जाते है। ग्रीष्म ऋतुके सूर्यसे तपाये गये भूतलपर जल कितनी देर ठहर सकता है ॥१३४॥ ज्ञानियोंने नित्य और नैमित्तिकसे भेदसे यह उपवास दो प्रकारका कहा है। अष्टमी और चतुर्दशी पर्वके दिन किया जानेवाला नित्य उपवास कहा जाता है और अन्य दिन-

1. मु० भूतले ।

उपवासा विधीयन्ते ये पञ्चम्यादिगोचराः । उक्ता नैमित्तिकाः सर्वे ते कर्मक्षपणक्षमाः ॥१३६
गुरुतरकर्मजालसलिलं भवभक्षकरं बहुपरिणाममेघनिवहप्रसवं[1] प्रसभम् ।
क्षपयति सर्वमुग्र उपवासपयोजपतिर्विरचितसंवृति[2] निखिलदेहितडागततेः ॥१३७
जनयति यो विधूय विपदं रभसाऽपचितिं[3] घटयति सम्पदं त्रिदशमानववर्गनुताम्[4] ।
विधिविहितस्य तस्य पुरुषः श्रुतकेवलिनो वदति फलं न कोऽप्यनशनस्य परो भुवने ॥१३८
रचयति यस्त्रिधा व्रतमिदं महितं महितैरमितगतिश्चतुर्विधमनन्यमनाः पुरुषः ।
भवशतसञ्चितं कलिलमेष निहत्य पुनः[5] शिवपदमेति शाश्वतमपास्तसमस्तमलम् ॥१३९

इत्युपासकाचारे द्वादशः परिच्छेदः ।

त्रयोदशः परिच्छेदः

शशाङ्कामलसम्यक्त्वो व्रताभरणभूषितः । शीलरत्नमहाखानिः पवित्रगुणसागरः ॥१
ऋजुभूतमनोवृत्तिर्गुरुशुश्रूषणोद्यतः । जिनप्रवचनाभिज्ञः श्रावकः सप्तधोत्तमः ॥२
निसर्गजरुचौ जन्तावेकान्तरुचिराजिते । असहाये महाप्राज्ञे सदायतनसेवके ॥३

विशेषोंपर किया जानेवाला उपवास नैमित्तिक कहलाता है, जो कि अनेक प्रकारका शास्त्रोंमें बताया गया है ॥१३५॥ पंचमी, एकादशी आदिके दिन जो उपवास किये जाते हैं, वे नैमित्तिक कहे गये हैं। ये सभी नित्य-नैमित्तिक उपवास कर्मोका क्षय करनेमें समर्थ हैं ॥१३६॥

संवरको धारण करनेवालेका समस्त प्राणियोंरूप तालावोंकी पंक्तिमें भरे हुए, संसाररूप वृक्षको उत्पन्न करनेवाले, नाना प्रकारके कषाय परिणामरूप मेघोंसे उत्पन्न हुए ऐसे अतिगुरु कर्मजाल रूप उग्र जलको उपवासरूप सूर्य शीघ्र ही सुखा देता है ॥१३७॥ जो उपवास वेगसे संचित हुई विपत्तियोंका विनाशकर देव और मनुष्य वर्गकी उत्तम सम्पदाको शीघ्र घटित करता है, ऐसे विधिपूर्वक किये गये उपवासके फलको श्रुतकेवलीके सिवाय और कोई पुरुष इस लोकमें नहीं कह सकता है ॥१३८॥ इस प्रकार महापुरुषोंके द्वारा पूजित इस चतुर्विध व्रतको मन वचन काय द्वारा जो अमितगति पुरुष एकाग्रचित्तसे धारण करता है, वह सैकड़ों भवोंके संचित पापको विनष्ट करके पुनः सर्वमलोंसे रहित होकर शाश्वत शिवपदको प्राप्त करता है ॥१३९॥

इस प्रकार अमितगति विरचित उपासकाध्ययनमें बारहवाँ परिच्छेद समाप्त हुआ ।

अब आचार्य श्रावकके विशेष गुणोंका वर्णन करते हैं—

शंकादि दोषोंसे रहित चन्द्रमाके समान निर्मल सम्यक्त्वका धारक, व्रतरूप आभरणसे भूषित, शीलरूप रत्नकी महाखानि, पवित्र गुणोंका सागर, सरल मन और बुद्धिवाला, गुरुकी सेवा शुश्रूषा करनेमें उद्यत, तथा जिन-आगमका ज्ञाता, ऐसे सात प्रकारका उत्तम श्रावक होता है ॥१-२॥ आगे कहे जानेवाले गुणोंसे युक्त पुरुषमें सम्यग्दर्शन निश्चय रूपसे रहता है—जिसके तत्त्वोंकी स्वभाव-जनित श्रद्धा हो, जो आत्मप्रतीतिपर एकान्त दृढ़ रुचिसे विराजमान हो, परकी सहायता-

---

१. मु०—प्रभवं । २. मु० संवृतेः । ३. मु०—सोपचितिं । ४. मु०—मताम् ।
५. मु० घनं ।

कृतानायतनत्यागे परदृष्टयविमोहिते । शासनासादनाहीने जिनशासनबृंहके ॥४
सोपानं सिद्धिसौधस्य कल्मषक्षपणक्षमम् । ज्ञानचारित्रयोर्हेतुः स्थिरं तिष्ठति दर्शनम् ॥५
न निरस्यति सम्यक्त्वं जिनशासनभावितः । गृहीतं वह्निसन्तप्तो लोहपिण्ड इवोदकम् ॥६
दर्शनज्ञानचारित्रतपस्सु विनयं परम् । करोति परमश्रद्धस्तितीर्षुर्भववारिधिम् ॥७
जिनेशानां विमुक्तानामाचार्याणां विपश्चिताम् । साधूनां जिनचैत्यानां जिनराद्धान्तवेदिनाम् ॥८
कर्त्तव्या महती भक्तिः सपर्या गुणकीर्तनम् । अपवादतिरस्कारः सम्भ्रमः शुभदृष्टिभिः[1] ॥९
आगमाध्ययनं कार्यं कृतकालादिशुद्धिना । विनयारूढचित्तेन बहुमानविधायिना ॥१०
कुर्वताऽवग्रहं योग्यं सूरिनिह्नवमोचिना । परमां कुर्वता शुद्धिं व्यञ्जनार्थद्वयस्थिताम् ॥११
संयमे संयमाधारे संयमप्रतिपादिनि । आदरं कुर्वतो ज्ञेयश्चारित्रविनयः परः ॥१२
महातपःस्थिते साधौ तपःकार्ये ससंयमे । भक्तिमात्यन्तिकीं प्राहुस्तपसो विनयं बुधाः ॥१३
सम्यक्त्वचरणज्ञानतपांसीमानि जन्मिनाम् । निस्तारणसमर्थानि दुःखोर्मिभवनीरधेः ॥१४
चतुर्विधमिदं[2] साधोः पोष्यमाणमहर्निशम् । सिद्धिं साधयते सद्यः प्रार्थितां नृपतेरिव ॥१५
सिषाधयिषते सिद्धिं चतुरङ्गमृतेऽत्र यः । स पोतेन विना मूढस्तितीर्षति पयोनिधिम् ॥१६

से रहित दृढ़ आत्मविश्वासी हो, महान् बुद्धिमान् हो, उत्तम धर्मस्थानोंका सेवक हो, अनायतनों अर्थात् कुधर्मस्थानोंका त्यागी हो, मिथ्यामतोंसे विमोहित न हो, जिनशासनको आसादनासे रहित हो, जिनशासनका बढ़ाने वाला हो, ऐसे पुरुषमें मुक्तिरूप महलके सोपान स्वरूप, ज्ञान-चारित्रका हेतु और कर्मोके क्षय करनेमें समर्थ ऐसा सम्यग्दर्शन स्थिर होकर ठहरता है ॥३–५॥ जिनशासन-की भली-भाँतिसे भावना करनेवाला पुरुष सम्यक्त्वको नहीं त्यागता है। जैसे अग्निसे सन्तप्त लोहेका पिण्ड ग्रहण किये गये जलको नहीं त्यागता है ॥६॥ जो पुरुष श्रद्धालु है और संसार-सागर-से पार उतरना चाहता है, वह दर्शन ज्ञान चारित्र और तपमें परम विनयको धारण करता है ॥७॥ जिनेन्द्रदेव, सिद्धपरमेष्ठी, आचार्य, महाज्ञानी उपाध्याय, साधुगण, जिन चैत्य और जिन सिद्धान्त-के वेत्ताओंकी महाभक्ति पूजा और गुणस्तुति उत्तम सम्यग्दृष्टियोंको करनी चाहिए। तथा जैन शासनमें उठे हुए अपवादका सोत्साह निराकरण करना चाहिए यह दर्शन विनय है ॥८–९॥ काल आदिकी शुद्धिको करके, और चित्तमें विनय भाव धारण करके, बहुत सम्मानको करते हुए, योग्य अवग्रह (प्रतिज्ञा) करके, अपने गुरुका निह्नव त्याग कर शब्दकी, अर्थकी और दोनोंकी परम शुद्धि को रखते हुए आगमका अध्ययन करना चाहिए। यह ज्ञानविनय है ॥१०–११॥

संयममें, संयमके आधारभूत साधुओंमें, संयमके-प्रतिपादन करनेवाले आचार्य और उपाध्याय-में परम आदरभाव रखनेवाले पुरुषके चारित्रविनय जानना चाहिए ॥१२॥ महान् तपमें स्थित साधुमें और संयम-युक्त तपके कार्यमें अत्यन्त भक्ति रखनेको ज्ञानियोंने तपकी विनय कहा है ॥१३॥ ये सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपरूप चार आराधनाएँ प्राणियोंको दुःख रूप तरंगोंसे युक्त संसाररूप समुद्रसे पार उतारनेमें समर्थ हैं ॥१४॥ रात्रि-दिन पोषण की गई ये चार प्रकारकी आराधनाएँ साधुको शीघ्र ही मुक्तिको सिद्ध करती हैं। जैसे कि भली प्रकार पोषण की गई राजाकी चतुरंग सेना वांछित कार्यको सिद्ध करती है ॥१५॥ जो अज्ञानी पुरुष इस लोकमें चार आराधनाओंके विना सिद्धिको साधन करना चाहता है, वह जहाजके विना ही समुद्रको तिरना

---

१. मु०–दृष्टिता। २. मु० चतुरङ्ग—।

लोकद्वयेऽपि सौख्यानि दृश्यन्ते यानि कानिचित् । जन्यन्ते तानि सर्वाणि चतुरङ्गेण देहिनः ॥१७
निरस्यति रजः सर्वं न्यायं[1] सूचयते हितम् । मातेव कुरुते किं न चतुरङ्गनिषेवणा ॥१८
चतुरङ्गमपाकृत्य कुर्वते कर्म ये परम् । कल्पद्रुममपाकृत्य ते भजन्ति विषद्रुमम् ॥१९
चतुरङ्गं सुखं दत्ते यत्तत्कर्म परं कथम् । यत्करोति सुहृत्कार्यं तन्न वैरी कदाचन ॥२०
ये सन्ति साधवोऽन्ये[2] च चतुरङ्गविभूषणाः । विधेयो विनयस्तेषां मनोवाक्कायकर्मभिः ॥२१
गुणानामनवद्यानां तदीयानामनारतम् । चिन्तनीयं पटीयोभिरुपबृंहणकारणम् ॥२२
ध्यायतो योगिनां पथ्यमपथ्यप्रतिषेधनम् । मानसो विनयः साधोर्जायते [3]शुद्धिसाधकः ॥२३
यश्चिन्तयति साधूनामनिष्टं दुष्टमानसः । सर्वानिष्टखनिर्मूढो जायते स भवे भवे ॥२४
दुर्भगो विकलो मूर्खो निर्विवेको नपुंसकः । नीचकर्मकरो नीचो यतिदूषणचिन्तकः ॥२५
विज्ञायेति महाप्राज्ञाः संयतानामरेफसाम् । सञ्चिन्तयन्ति नानिष्टं त्रिविधेन कदाचन ॥२६
श्रवणीयमनाक्षेपं सपर्याप्रतिपादकम् । अनवज्ञापरं तथ्यं मधुरं हृदयङ्गमम् ॥२७
वचनं वदतः पथ्यं रागद्वेषाद्यनाविलम् । वाचिको विनयोऽवाचि वचनीयनिखर्वकः ॥२८
अभ्याख्यानतिरस्कारकारकं गुणदूषकम् । न वाच्यं वचनं भक्तैस्तपोधनविनिन्दकम् ॥२९
वदन्ति दूषणं दीना ये साधूनामनेनसाम् । ते भवन्ति दुराचारा दूष्या जन्मनि जन्मनि ॥३०

चाहता है ॥१६॥ इस लोक और परलोकमें जितने कुछ भी सुख दिखाई देते हैं, वे सब जीवको इस चतुरंगी आराधनाके द्वारा ही प्राप्त होते हैं ॥१७॥ भली-भाँतिसे सेवित यह चतुर्विध आराधना माताके समान कर्म-रजको दूर करती है, न्याय युक्त कर्तव्यको सूचित करती है और ऐसा कौन सा हितकारी कार्य है, जिसे यह न करती हो ॥१८॥ जो पुरुष इस चतुरंगी आराधनाको छोड़कर मुक्ति प्राप्तिके लिये अन्य कार्य करते हैं, वे कल्पवृक्षको छोड़कर विष वृक्षकी सेवा करते हैं ॥१९॥ यह चतुर्विध आराधना जो सुख देती है, वह अन्य कार्य कैसे दे सकता है ? मित्र जो सुखका कार्य करता है, वह वैरी कदाचित् भी नहीं कर सकता ॥२०॥ जो साधु इस चतुर्विध आराधनाओंसे विभूषित हैं, वे धन्य हैं और उनकी विनय मन वचन कायसे करना चाहिए ॥२१॥ निर्दोष गुणोंका बुद्धिमान् पुरुषोंको निरन्तर चिन्तवन करना चाहिए, क्योंकि वह धर्म बढ़ानेका कारण है ॥२२॥ योगियोंके पथ्य (हित) रूप और अपथ्यका निषेध करनेवाले गुणका चिन्तवन करते हुए साधुके सिद्धिका साधक मानसिक विनय होता है ॥२३॥ जो दुष्टचित्त पुरुष साधुओंका अनिष्ट चिन्तवन करता है, वह मूढ भव भवमें सभी अनिष्टोंकी खानि होता है ॥२४॥ यतियोंके दोषोंका चिन्तवन करनेवाला पुरुष भव भवमें दुर्भागी विकलागी मूर्ख अविवेकी नपुंसक और नीचकर्म करनेवाला होता है ॥२५॥ ऐसा जानकर महान् ज्ञानी पुरुष पाप-रहित साधुओंके अनिष्टका त्रियोगसे कदाचित् भी चिन्तवन नहीं करते हैं ॥२६॥ यह मानसिक विनयका वर्णन किया ।

अब वाचनिक विनयका वर्णन करते हैं—सुननेके योग्य, आक्षेप-रहित, पूजा-उपासनाके प्रतिपादक, अवज्ञा-रहित; सत्य, मधुर, हृदयको प्रिय, पथ्य और राग-द्वेषादिसे रहित वचन बोलनेवाले पुरुषके वचन-सम्बन्धी दोषोंका दूर करनेवाला वाचनिक विनय कहा गया है ॥२७-२८॥ भक्त श्रावकोंको साधुके दोष प्रकट करनेवाले, तिरस्कार करनेवाले, गुणोंमें दोष लगानेवाले और उनकी निन्दा करनेवाले वचन कभी नहीं कहना चाहिए ॥२९॥ जो अज्ञानी हीन जन दोष-रहित साधुओंके दोष कहते हैं, वे जन्म-जन्ममें दुराचारी और दोषोंके भाजन होते हैं ॥३०॥ यति-निन्दा

१. मु० ज्ञेयं । २. मु० धन्याः । ३. मु० सिद्धि- ।

अनादेयगिरो गर्ह्याः क्लेशिनः शोकिनो जडाः । यतिनिन्दापराः सन्ति जन्मद्वितयदूषिताः ॥३१
किं चित्रमपरं तस्माद्यदुदासीनचेतसाम् । वन्दका वन्दितास्तेषां निन्दकाः सन्ति निन्दिताः ॥३२
यादृशः क्रियते भावः फलं तत्रास्ति तादृशम् । यादृशं चर्च्यते रूपं तादृशं दृश्यतेऽब्दके ॥३३
व्रतिनां निन्दकं वाक्यं विबुद्धचेति न सर्वदा । मनोवाक्काययोगेन वक्तव्यं हितमिच्छता ॥३४
अभ्युत्थानासनत्यागप्रणिपाताञ्जलिक्रिया । आयाति संयते कार्या यात्यनुव्रजनं पुनः ॥३५
आयातं ये तपोराशिं विलोक्यापि न कुर्वते । अभ्युत्थानासनत्यागौ नेभ्यः सन्त्यधमाः परे ॥३६
यत्र यत्र विलोक्यन्ते संयता यतमानसाः । तत्र तत्र प्रणन्तव्या विनयोद्यतमानसैः ॥३७
शय्योपवेशनस्थानगमनादीनि सर्वदा । विधातव्यानि नीचानि संयताराधनापरैः ॥३८
पुण्यवन्तो वयं येषामाज्ञां यच्छन्ति योगिनः । मन्यमानैरिति प्राज्ञैः कर्तव्यं यतिभाषितम् ॥३९
निष्ठीवनमवष्टम्भं जृम्भणं गात्रभञ्जनम् । असत्यभाषणं नर्म हास्यं पादप्रसारणम् ॥४०
अभ्याख्यानं करस्फोटं करेण करताडनम् । विकारमङ्गसंस्कारं वर्जयेद्यतिसन्निधौ ॥४१
उच्चस्थानस्थितैः कार्या वदना न तपस्विनाम् । न गतिर्वामतः कार्या विनीतैर्न च पृष्ठतः ॥४२
त्रिधेति विनयोऽध्यक्षः करणीयो मनीषिभिः । परोक्षेऽपि स साधूनामाज्ञाकरणलक्षणः ॥४३

करनेवाले पुरुष अनादरणीय वचन वाले, निन्द्य, क्लेश-युक्त, रोगी शोकी मूर्ख और दोनों जन्मोंको दूषित करनेवाले होते हैं ॥३१॥ इससे अधिक आश्चर्यकी और क्या बात हो सकती है कि उदासीन चित्त रहनेवाले साधुओंको वन्दना करनेवाले इस संसारमें वन्दनीय होते हैं और निन्दा करनेवाले पुरुष निन्दाके पात्र होते हैं ॥३२॥ जो मनुष्य इस जन्ममें जैसा भाव करता है उसे पर भवमें वैसा ही फल प्राप्त होता है। मनुष्य जैसा रूप बनाता है, दर्पणमें वैसा ही दिखाई देता है ॥३३॥ ऐसा जानकर अपना हित चाहनेवाले पुरुषको व्रतियोंके निन्दक वाक्य कभी भी मन वचन कायसे नहीं बोलना चाहिए ॥३४॥ यह वाचनिक विनय है। अब कायिक विनयका वर्णन करते हैं—संयमी साधुके आनेपर उठकर खड़ा होना, अपने आसनका त्याग करना, नमस्कार करना, हाथ जोड़कर अंजुली बाँधना आदि क्रियाएँ भक्तिसे करना चाहिए। तथा उनके चलने पर पीछे-पीछे चलना चाहिए ॥३५॥ जो पुरुष तपोराशि साधुको आता हुआ देखकर भी उठकर खड़े नहीं होते और अपना आसन-त्याग नहीं करते हैं उनसे अधम और कोई साधु मनुष्य नहीं है ॥३६॥ जहाँ-जहाँ पर भी संयत मनवाले साधुजन दिखाई देवें, वहाँ-वहाँ पर विनयसे उद्यत चित्तवाले श्रावकोंको उन्हें नमस्कार करना चाहिए ॥३७॥ साधुओंकी आराधनामें तत्पर श्रावकोंको सदा ही साधुओंसे नीचे स्थानपर सोना उठना व बैठना, और गमनादिक क्रिया करना चाहिए ॥३८॥ 'हम लोग पुण्यवान् हैं, जिनपर योगीजन आज्ञा करते हैं' ऐसा मानते हुए ज्ञानीजनोंको साधुओं द्वारा कहा गया कार्य विनयके साथ करना चाहिए ॥३९॥ साधुओंके समीप थूकना, सहारा लेकर बैठना, जंभाई लेना, शरीरके अंगोंका चटकाना, असत्य बोलना, हंसी-मजाक करना, पैर पसारना, गुप्त बात कहना, चुटकी बजाना, हाथसे हाथ ताड़ना अर्थात् ताली बजाना, अंगोंकी विकाररूप चेष्टा करना और अंगोंका संस्कार करना, इत्यादि अयोग्य कार्योंको नहीं करना चाहिए ॥४०-४१॥ ऊँचे स्थानपर बैठकर उन्हें बाईं ओर या पीछेकी ओर करके तपस्वियोंकी वन्दना नहीं करना चाहिए तथा विनीत पुरुषोंको साधुके साथ गमन करते समय न उन्हें बाईं ओर करके गमन करना चाहिए और न पीछेकी ओर करके आगे गमन करना चाहिए ॥४२॥

इस प्रकार मनीषीजनोंको मानसिक वाचनिक और कायिक यह तीन प्रकारका प्रत्यक्ष

संघे चतुर्विधे भक्त्या रत्नत्रितयराजिते । विधातव्यो यथायोग्यं विनयो नयकोविदैः ॥४४
विनयेन विहीनस्य व्रतशीलपुरस्सराः । निष्फलाः सन्ति निश्शेषा गुणा गुणवतां मताः ॥४५
विनश्यन्ति समस्तानि व्रतानि विनयं विना । सरोरुहाणि तिष्ठन्ति सलिलेन विना कथम् ॥४६
निर्वृतिस्तरसा वश्या विनयेन विधीयते । आत्मनीनसुखाधारा सौभाग्येनेव कामिनी ॥४७
सम्यग्दर्शनचारित्रतपोज्ञानानि देहिना । अवाप्यन्ते विनीतेन यशांसीव विपश्चिता ॥४८
तस्य कल्पद्रुमो भृत्यस्तस्य चिन्तामणिः करे । तस्य सन्निहितो यक्षो विनयो यस्य निर्मलः ॥४९
आराध्यन्तेऽखिला येन त्रिदशाः सपुरन्दराः । सङ्घस्याराधने तस्य विनीतस्यास्ति कः श्रमः ॥५०
क्रोधमानादयो दोषाश्छिद्यन्ते येन वैरदाः । न वैरिणो विनीतस्य तस्य सन्ति कथञ्चन ॥५१
कालत्रयेऽपि ये लोके विद्यन्ते परमेष्ठिनः । तेन विनीतेन निश्शेषाः पूजिता वन्दिताः स्तुताः ॥५२
गर्वो निखर्व्यते तेन जन्यते गुरुगौरवम् । आर्जवं दर्श्यते स्वस्य विनयं[1] वितनोति यः ॥५३
विनीतस्यामला कीर्तिर्बम्भ्रमीति महीतलम् । सुखयन्ती जनं सेव्या कान्तिः शीतरुचेरिव ॥५४
विनयः कारणं मुक्तेर्विनयः कारणं श्रियः । विनयः कारणं प्रीतेर्विनयः कारणं मतेः ॥५५

विनय करना चाहिए। तथा साधुजनोंके परोक्षमें भी उनकी आज्ञाको पालन करना ही है लक्षण जिसका ऐसा परोक्ष विनय करना चाहिए ॥४३॥ नयविशारद जनोंको रत्नत्रयसे विराजित चतुर्विध संघपर भक्तिके साथ यथायोग्य विनय करना चाहिए। क्योंकि विनयसे रहित पुरुषके व्रत-शीलपूर्वक शेष समस्त गुण निष्फल हैं, ऐसा गुणीजनोंका मत है ॥४४-४५॥ विनयके विना समस्त व्रत उसी प्रकारसे विनष्ट हो जाते हैं, जिस प्रकार कि जलके विना कमल नष्ट हो जाते हैं। क्योंकि सरोवरमें जलके विना कमल कैसे जीवित रह सकते हैं ॥४६॥ जिस प्रकार सौभाग्यके द्वारा कामिनी स्त्री वशमें आजाती है, उसी प्रकार विनयके द्वारा आत्माके हितरूप सुखकी आधारभूत मुक्तिरूपी स्त्री भी शीघ्र ही अवश्य वशमें की जाती है ॥४७॥ जैसे विद्वान् पुरुष अपनी विद्वत्ताके द्वारा यशको प्राप्त करता है, उसी प्रकार प्राणीगण भी विनयसे सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और ज्ञानको प्राप्त करते हैं ॥४८॥ जिस पुरुषके पास निर्मल विनय गुण होता है, उसका कल्पवृक्ष दास है, उसके हाथमें चिन्तामणि आ गया है और सर्व कार्यका कर्त्ता यक्ष समीपस्थ है, ऐसा जानना चाहिए ॥४९॥ जिस विनीत पुरुषके द्वारा इन्द्र-सहित समस्त देवगण आराधना किये जाते हैं अर्थात् सेवक बन जाते हैं, उस विनीत पुरुषकी संघकी आराधना करनेमें क्या परिश्रम है, अर्थात् कुछ भी नहीं है ॥५०॥ जिस विनयके द्वारा वैर-भावके देने और बढ़ानेवाले क्रोध मान आदिक दोष नाश किये जाते हैं, उस विनयके धारक विनीत पुरुषके वैरी किसी भी प्रकार नहीं हो सकते हैं ॥५१॥

इस लोकमें तीनों कालोंमें जितने भी परमेष्ठी विद्यमान हैं, वे सब विनीत पुरुषके द्वारा पूजे, वंदे और स्तुति किये गये समझना चाहिए ॥५२॥ जो मनुष्य विनयका विस्तार करता है, उसके द्वारा गर्वका विनाश किया जाता है, गुरुजनोंका गौरव बढ़ाया जाता है और अपना सरल-भाव प्रकट किया जाता है ॥५३॥ विनयवान् पुरुषकी निर्मल कीर्ति महीतलपर अतिशयरूपसे परिभ्रमण करती है, अर्थात् सर्व जगत्में फैलती है और चन्द्रकी कान्तिके समान जगत्के प्रणियोंको सुख उपजाती है ॥५४॥ विनय मुक्तिका कारण हैं, विनय लक्ष्मीका कारण है, विनय प्रीति

---

१. मु० प्रश्रयं।

विनयेन विना पुंसो न सन्ति गुणसम्पदः । न बीजेन विना क्वापि जायन्ते सस्यजातयः ॥५६
प्रश्रयेण विना लक्ष्मीं यः प्रार्थयति दुर्मनाः । स मूल्येन विना नूनं रत्नं स्वीकर्तुमिच्छति ॥५७
का सम्पदविनीतस्य का मैत्री चलचेतसः । का तपस्या विशीलस्य का कीर्तिः कोपवर्तिनः ॥५८
न शठस्येह यस्यास्ति तस्यामुत्र कथं सुखम् । न कच्छे कर्कटी यस्य गृहे तस्य कुतस्तनी ॥५९
लाभालाभौ विबुद्धचेति भो विनीताविनीतयोः । विनीतेन सदा भाव्यं विमुच्याविनयं त्रिधा ॥६०
कृतान्तैरिव दुर्वारैः पीडितानां परीषहैः । वैयावृत्त्यं विधातव्यं मुमुक्षूणां विमुक्तये ॥६१
दुर्भिक्षे नरके घोरे चौरराजाद्युपद्रुते । कर्मक्षयाय कर्त्तव्या व्यावृतिर्व्रतवर्तिनाम् ॥६२
आचार्येऽध्यापके वृद्धे गणरक्षे प्रवर्तके । शैक्षे तपोधने सङ्घे गणे ग्लाने दशस्वपि ॥६३
प्रासुकैरौषधैर्योग्यैर्मनसा वपुषा गिरा । विधेया व्यावृतिः सद्भिर्भवभ्रान्ति जिहासुभिः ॥६४
तपोभिर्दुष्करै रोगैः पीडयमानं तपोधनम् । यो दृष्ट्वोपेक्षते शक्तो निर्धर्मा न ततः परः ॥६५
गृहस्थोऽपि यतिर्ज्ञेयो वैयावृत्त्यपरायणः । वैयावृत्त्यविनिर्मुक्तो न गृहस्थो न संयतः ॥६६
वैयावृत्त्यपरः प्राणी पूज्यते संयतैरपि । लभते न कुतः पूजामुपकारपरायणः ॥६७
संयमो दर्शनं ज्ञानं स्वाध्यायो विनयो नयः । सर्वेऽपि तेन दीयन्ते वैयावृत्त्यं तनोति यः ॥६८

का कारण है और विनय बुद्धिका भी कारण है ॥५५॥ विनयके विना पुरुषको गुणरूप सम्पदा प्राप्त नहीं होती है, जैसे बीजके विना कहीं भी धान्यकी जातियाँ उत्पन्न नहीं होती हैं ॥५६॥ जो दुर्बुद्धि पुरुष विनयके विना लक्ष्मीको चाहता है, वह निश्चयसे मूल्यके विना ही रत्नको पानेकी इच्छा करता है ॥५७॥ अविनीत अर्थात् विनय-रहित पुरुषके सम्पदा कहां ? चंचल चित्त मनुष्य की मित्रता कैसी ? शील-रहित पुरुषके तपस्या कहाँ और क्रोधी पुरुषकी कीर्ति कैसे संभव है ॥५८॥ जिस शठ पुरुषके इस लोकमें सन्तोष रूप सुख नहीं है, उसके परलोकमें सुख कहाँसे प्राप्त हो सकता है ? जिसकी कछवाडीमें ककड़ी नहीं है, उसके घरमें वह कहांसे हो सकती है ॥५९॥ इसलिए हे भक्त पुरुषो, विनयवान् और अविनयीके इस प्रकारके लाभ और अलाभको जान करके अविनयको त्रियोगसे छोड़कर सदा विनीत रहना चाहिए ॥६०॥ इस प्रकार विनयका वर्णन किया।

अब आचार्य वैयावृत्त्य तपका वर्णन करते हैं—यमराजके समान दुर्निवार परीषहोंसे पीड़ित मोक्षाभिलाषी साधुजनोंकी वैयावृत्त्य मोक्ष-प्राप्तिके लिए करना चाहिए ॥६१॥ दुर्भिक्षके समय, मारीके आनेपर, रोगके होनेपर तथा चोर, राजा आदिके उपद्रव होनेपर कर्मक्षयके लिए व्रती पुरुषोंकी वैयावृत्त्य करना चाहिए ॥६२॥ संसारके परिभ्रमणके त्यागकी इच्छा रखनेवाले सज्जन पुरुषोंको आचार्य, उपाध्याय, वृद्ध मुनि, गणरक्षक, प्रवर्त्तक, शैक्ष्य, तपस्वी, संघ, गण और ग्लान (रोगी) साधु, इन दशों ही प्रकारके साधुओंकी योग्य प्रासुक औषधियोंके द्वारा मन वचन और कायसे वैयावृत्त्य करनी चाहिए ॥६३–६४॥ सामर्थ्यवान् हो करके भी जो पुरुष तपोंसे और दुष्कर रोगोंसे पीडित तपोधन साधुको देखकर उपेक्षा करता है, अर्थात् उनकी वैयावृत्त्य नहीं करता है, उससे अन्य और कोई अधर्मी नहीं है ॥६५॥

वैयावृत्त्यमें तत्पर गृहस्थ भी साधुके समान जानना चाहिए। जो वैयावृत्त्यसे रहित है, वह पुरुष न गृहस्थ है और न साधु ही है ॥६६॥ वैयावृत्त्य करनेवाला प्राणी संयमी पुरुषोंके द्वारा भी पूजा जाता है। दूसरेके उपकारको करनेवाला पुरुष पूजाको कैसे नहीं पाता है ? अर्थात् अवश्य ही पूजाको पाता है ॥६७॥ जो पुरुष वैयावृत्य करता है, वह संयम दर्शन ज्ञान स्वाध्याय

निर्वृतिर्दीयते तेन तेन धर्मो विधास्यते । आगमोऽध्याप्यते तेन क्रियते तेन वा न किम् ॥६९
समाधिर्विहितस्तेन जिनाज्ञा तेन पालिता । धर्मो विस्तारितस्तेन तीर्थं तेन प्रवर्तितम् ॥७०
दुष्प्रापं तीर्थकर्तृत्वं त्रैलोक्यक्षोभणक्षमम् । प्राप्यते व्यावृतेर्यस्यास्तस्याः किं न परं फलम् ॥७१
परस्यापोह्यते दुःखं सदा येनोपकुर्वता । सम्पद्यते कथं तस्य क्व कार्यं कारणं विना ॥७२
सेव्यो दीर्घायुरादर्यो नीरोगो निरुपद्रवः । वदान्यः सुन्दरो दक्षो जायते स प्रियंवदः ॥७३
स धार्मिकः स सद्दृष्टिः स विवेकी स कोविदः । स तपस्वी स चारित्री व्यावृत्तिं विदधाति यः ॥७४
आश्रित्य भक्तितः सूरिं रत्नत्रितयभूषितम् । प्रायश्चित्तं विधातव्यं गृहीत्वा व्रतशुद्धये ॥७५
न सदोषः क्षमः कर्तुं दोषाणां व्यपनोदनम् । कर्दमाक्तं कथं वासः कर्दमेण विशोध्यते ॥७६
दोषमालोचितं ज्ञानी सूरिरीशो व्यपोहितुम् । अज्ञानेनैव वैद्येन व्याधिः क्वापि चिकित्स्यते ॥७७
आलोच्यजु स्वभावेन ज्ञानिने संयतात्मने । तदीयवाक्यतः कार्यं प्रायश्चित्तं मनीषिणा ॥७८
प्राञ्जलीभूय कर्तव्या सूरेरालोचना त्रिधा । विपाके दुःखदं कार्यं वक्रभावेन निर्मितम् ॥७९

विनय, नय आदि सभी कुछ देता है। क्योंकि वैयावृत्यसे स्वास्थ्य-लाभ करनेपर ही संयम-पालनादि संभव हैं ॥६८॥ जिस पुरुषके द्वारा वैयावृत्य करनेसे निराकुलता प्रदान की जाती है, उसके द्वारा धर्म साधन कराया जाता है, और आगमका पठन-पाठन कराया जाता है। अथवा अधिक क्या कहें—वैयावृत्य करनेवालेके द्वारा क्या नहीं कराया जाता? अर्थात् सभी उत्तम कार्य कराये जाते हैं ॥६९॥ जिस पुरुषने साधुजनोंकी वैयावृत्य की, उसने उन्हें समाधि कराई, उसने जिनेन्द्रकी आज्ञा-का पालन किया, उसने धर्मका विस्तार किया और उसने तीर्थका प्रवर्तन किया ॥७०॥ जिस वैयावृत्यके द्वारा तीन लोकको क्षोभित करने वाला अत्यन्त कष्टसे पाने योग्य ऐसा तीर्थकरपना प्राप्त होता है, उस वैयावृत्य करनेका अन्य क्या फल नहीं प्राप्त हो सकता है? अर्थात् सभी कुछ प्राप्त हो सकता है ॥७१॥ सदा परोपकार करनेवाले जिस पुरुषके द्वारा अन्यके दुःख दूर किये जाते हैं, उसके दुःख कैसे प्राप्त हो सकता है? अर्थात् कभी वह दुखी नहीं हो सकता। क्योंकि कारणके विना कार्य कहाँ हो सकता है ॥७२॥ वैयावृत्य करनेवाला पुरुष सत्पुरुषोंके द्वारा सेव्य होता है, दीर्घायु होता है, आदरणीय, नीरोग, उपद्रव-रहित, उदार, प्रियभाषी, सुन्दर और चतुर होता है ॥७३॥ जो पुरुष वैयावृत्य करता है, वह धर्मात्मा है, वह सम्यग्दृष्टि है, वह विवेकी है, वह विद्वान् है, वह तपस्वी है और यह चारित्रका धारक है ॥७४॥ इस प्रकार वैयावृत्यका वर्णन किया।

अब आचार्य प्रायश्चित्त तपका वर्णन करते हैं—व्रतको ग्रहण करके उसमें लगनेवाले दोषों-की शुद्धिके लिये रत्नत्रयसे विभूषित आचार्यका आश्रय लेकर भक्तिसे अपने दोषोंका प्रायश्चित्त करना चहिए ॥७५॥ जो आचार्य स्वयं ही दोष युक्त है, वह अन्यके दोषोंको दूर करनेमें समर्थ नहीं है। क्योंकि कीचड़से लिप्त वस्त्र कीचड़से कैसे शुद्ध किया जा सकता है? अर्थात् कभी भी शुद्ध नहीं किया जा सकता है ॥७६॥ ज्ञानवान् आचार्य ही शिष्यके द्वारा कहे गये दोषको दूर करने-में समर्थ है। क्योंकि अज्ञानी वैद्यके द्वारा कहीं पर भी व्याधिकी चिकित्सा नहीं की जा सकती है ॥७७॥ इसलिए ज्ञानी संयमी आचार्यके आगे सरल भावसे अपने दोषोंकी आलोचना करके उनके वचनानुसार मनीषी मुनि और गृहस्थोंको प्रायश्चित्त करना चाहिये ॥७८॥ मन वचन कायको सरल करके अंजलि बाँधकर आचार्यके आगे आलोचना करना चाहिए। क्योंकि कुटिल भावसे किया गया कार्य परिणामके समय दुःखदायी होता है ॥७९॥ प्रायश्चित्तसे जिसके दोषोंकी शुद्धि

फलाय जायते पुंसो न चारित्रमशोधितम् । मलग्रस्तानि सस्यानि कीदृशं कुर्वते फलम् ॥८०
वाचना च्छनाऽऽम्नायाऽनुप्रेक्षा धर्मदेशना । स्वाध्यायः पञ्चधा कृत्यः पञ्चमीं गतिमिच्छता ॥८१
तपोऽन्तरानन्तरभेदभिन्ने तपोविधौ किञ्चन पापहारि ।
स्वाध्यायतुल्यं न विलोक्यतेऽन्यद्धृषीकदोषप्रशमप्रवीणम् ॥८२
स्वाध्यायमत्यस्य चलस्वभावं न मानसं यन्त्रयितुं समर्थः ।
शक्नोति नोन्मूलयितुं प्रवृद्धं तमः परो भास्करमन्तरेण ॥८३
यां स्वाध्यायः पापहानिं विधत्ते कृत्वैकाग्र्यं नोपवासः क्षमस्ताम् ।
शक्तः कर्तुं संयतानां[1] न कार्यं लोके दृष्टोऽसंयतो[2] दुष्टचेष्टः ॥८४
विज्ञातनिःशेषपदार्थजातः कर्मास्रवद्वारपिधानकारी ।
भूत्वा विधत्ते स्वपरोपकारं स्वाध्यायवर्ती बुधपूजनीयः ॥८५
यद्बुद्धतत्त्वो विधुनोति सद्यो विध्वंसिताशेषहृषीकदोषः ।
तपोविधानैर्भवकोटिलक्षैर्नूनं तदज्ञो न धुनोति कर्म ॥८६

नहीं की गई है, ऐसा चारित्र पुरुषको फल नहीं देता है। क्योंकि मलसे दूषित धान्य उत्तम फलको कैसे उत्पन्न कर सकता है ॥८०॥ इस प्रकार प्रायश्चित्त तपका वर्णन किया। अब आचार्य स्वाध्याय तपका वर्णन करते हैं—पंचमीगति मुक्तिको चाहनेवाले पुरुषोंको वाचना, पृच्छना, आम्नाय, अनुप्रेक्षा और धर्मदेशनारूप पाँच प्रकारका स्वाध्याय करना चाहिए ॥८१॥ विशेषार्थ—आगमके निर्दोष शब्द और अर्थका भव्योंको पढ़ाना–सिखाना वाचना स्वाध्याय है। संशयके दूर करनेके लिए तत्त्वका रहस्य गुरुजनोंसे पूछना पृच्छना स्वाध्याय है। आगमके पाठका शुद्ध उच्चारण करना कंठस्थ याद करना आम्नाय स्वाध्याय है। पदार्थके शास्त्र-प्ररूपित स्वरूपका वार-वार चिन्तवन करना अनुप्रेक्षा स्वाध्याय है। दूसरोंके लिए धर्मका उपदेश देना धर्मदेशना नामक स्वाध्याय है। इन पाँच प्रकारोंमें से जहाँ जब जो संभव एवं आवश्यक हो, वहाँ पर उस स्वाध्यायको करते रहना चाहिए। अन्तरंग और बाह्यके भेदसे भिन्न बारह प्रकारके तपो-विधानमें पापोंका दूर करनेवाला और इन्द्रियोंके दोषोंके प्रशमन करनेमें प्रवीण ऐसा स्वाध्यायके समान अन्य और कोई तप नहीं है ॥८२॥ इस चंचल स्वभाववाले मनको नियंत्रित करनेके लिए स्वाध्यायको छोड़कर अन्य कोई तप समर्थ नहीं है। बढ़े हुए अन्धकारको उन्मूलन करनेके लिए सूर्यके अतिरिक्त और कौन समर्थ हो सकता है ॥८३॥ एकाग्र होकर किया हुआ स्वाध्याय जितनी पाप हानिको करता है, उतनी पाप हानिको करनेके लिए उपवास समर्थ नहीं है। क्योंकि संयत पुरुषोंके कार्यको करनेके लिए लोकमें दुष्ट चेष्टावाला असंयत मनुष्य समर्थ नहीं हो सकता है। प्रतियोंमें संवृत पाठ भी पाया जाता है, तदनुसार संवर-मुक्त पुरुषोंके कार्यको संवर-रहित दुष्ट चित्त पुरुष नहीं कर सकता, ऐसा अर्थ होता है ॥८४॥ स्वाध्याय करनेवाला पुरुष श्रुतज्ञानके बलसे समस्त पदार्थ-समूहको जानता है, कर्मोंके आनेके द्वारोंको बन्द करता है, तथा अपना और पराया उपकार करता है, अतएव वह विद्वज्जनोंके द्वारा पूजनीय होता है ॥८५॥ जो तत्त्वोंका ज्ञाता है और जिसने इन्द्रियों-के समस्त दोषोंको विध्वस्त कर दिया है, ऐसा ज्ञानी पुरुष शीघ्र (एक अन्तर्मुहूर्तमें) जितने कर्मका विनाश करता है, उतने ही कर्मका विनाश अज्ञानी पुरुष लाखों करोड़ों भवोंमें सहस्रों

१. मु० संवृतानां। २. मु० असंवृतो।

निरस्तसर्वाक्षकषायवृत्तिर्विधीयते येन शरीरिवर्गः ।
प्ररूढजन्माङ्कुरशोषपूषा स्वाध्यायतोऽन्योस्ति ततो न योगः ॥८७
गुणाः पवित्राः शमसंयमाद्या विबोधहीनाः क्षणतश्चलन्ति ।
कालं कियन्तं तलपुष्पपूर्णास्तिष्ठन्ति वृक्षाः क्षतमूलबन्धाः ॥८८
जानात्यकृत्यं न जनो न कृत्यं जैनेश्वरं वाक्यमबुध्यमानः ।
करोत्यकृत्यं विजहाति कृत्यं ततस्ततो गच्छति दुःखमुग्रम् ॥८९
अनात्मनीनं परिहर्तुकामा गृहीतुकामाः पुनरात्मनीनम् ।
पठन्ति शश्वज्जिननाथवाक्यं समस्तकल्याणविधायि सन्तः ॥९०
सुखाय ये सूत्रमपास्य जैनं मूढाः प्रयन्ते वचनं परेषाम् ।
तापच्छिदे ते परिहृत्य[1] तोयं भजन्ति कल्पक्षयकालवह्निम् ॥९१
विहाय वाक्यं जिनचन्द्रदृष्टं परं न पीयूषमिहास्ति किञ्चित् ।
मिथ्यादृशां वाक्यमपास्य नूनं पश्यामि नो किञ्चन कालकूटम् ॥९२
विधीयते येन समस्तमिष्टं कल्पद्रुमेनेव महाफलेन ।
आवर्ज्या यां विश्वजनीनवृत्तिर्मुक्त्वा परं कर्म जिनागमोऽसौ ॥९३

तपों विधानोंके द्वारा निश्चयसे नहीं कर सकता है ॥८६॥ जिस स्वाध्यायके द्वारा प्राणिवर्ग समस्त इन्द्रियों और कषायोंकी प्रवृत्तिसे रहित किया जाता है और जो बढ़ते हुए भवाङ्कुरके सुखानेके लिए सूर्य सदृश है, ऐसे स्वाध्यायसे अन्य और कोई योग (ध्यान) नहीं है ॥८७॥

कषायोंकी मन्दता रूप प्रशम भाव और संयम आदिक जितने भी पवित्र गुण हैं, वे सब यदि ज्ञानसे रहित हैं, तो क्षण मात्रमें चलायमान हो जाते हैं। जिन वृक्षोंका मूल जड़-बन्धन विनष्ट हो गया है, ऐसे पत्र-पुष्पोंसे परिपूर्ण भी वृक्ष कितने समय तक खड़े रह सकते हैं ॥८८॥ भावार्थ—सर्व गुणोंका मूल आधार ज्ञान है, उसके विना अन्य गुण अधिक कालतक ठहर नहीं सकते। अतः स्वाध्यायके द्वारा ज्ञानार्जन करना आवश्यक है। जिनराजके कहे वचनोंको नहीं जाननेवाला मनुष्य कृत्य (करने योग्य) और अकृत्य (नहीं करने योग्य) को नहीं जानता है इसलिए वह अकृत्य कर्मको करता है और कृत्य कार्यको छोड़ता है। और इसीसे वह उग्र दुःखको प्राप्त होता है ॥८९॥ जो सन्त पुरुष आत्माके अकल्याणकारी मिथ्यात्वादिको छोड़नेके इच्छुक हैं, तथा आत्माके कल्याणकारी सम्यक्त्वादिको ग्रहण करनेके अभिलाषी हैं, वे सर्वप्रकारके कल्याणोंको करनेवाले जिनेन्द्रदेवके वचनोंको निरन्तर पढ़ते हैं ॥९०॥

जो मूढ़जन सुख पानेके लिए जैन सूत्र (आगम) को छोड़कर अन्य मिथ्यादृष्टियोंके वचनोंका आश्रय लेते हैं, वे मानो अपने सन्तापको दूर करने के लिए जलको छोड़कर कल्पान्तके समयवाली प्रलयकालकी अग्निका सेवन करते हैं ॥९१॥ जिनेन्द्रचन्द्रके द्वारा उपदिष्ट वाक्यको छोड़कर इस लोकमें अन्य कुछ भी उत्तम अमृत नहीं है। तथा मिथ्यादृष्टियोंके वाक्यको छोड़कर निश्चयसे मैं अन्य कोई कालकूट विषको नहीं देखता हूँ ॥९२॥ जिस जिनागमके अभ्याससे महान् फलदायक कल्पवृक्षके समान समस्त इष्ट अर्थ प्राप्त होते हैं, ऐसे इस विश्व-कल्याणकारी जिनागमका अन्य सर्व कार्य छोड़कर निरन्तर अभ्यास करना चाहिए ॥९३॥ इस प्रकार स्वाध्यायतप-

१. मु० परिमुच्य ।

परेऽपि ये सन्ति तपोविशेषा जिनेन्द्रचन्द्रोदितसूत्रदृष्टाः ।
स्वशक्तितस्ते निखिला विधेया विधानतः कर्मनिकर्तनाय ॥९४
सौख्यं स्वस्थं दीयते येन नित्यं रागावेशश्छिद्यते येन सद्यः ।
येनानन्दो जन्यते याचनीयस्तं सन्तोषं कुर्वते केन भव्याः ॥९५
नेष्टं दातुं कोऽप्युपायः समर्थः सौख्यं नृणामस्ति सन्तोषतोऽन्यः ।
अम्भोजानां कः प्रबोधं विधातुं शक्तो हित्वा भानुमन्तं न दृष्टः ॥९६
विमुच्य सन्तोषमपास्तबुद्धिः सुखाय यः काङ्क्षति कञ्चनान्यम् ।
दारिद्र्यहानाय स कल्पवृक्षं निरस्य गृह्णाति विषद्रुमं हि ॥९७
क्रोधलोभमदमत्सरशोका धर्महानिपटवः परिहार्याः ।
व्याधयो न सुखघातपटिष्ठाः पोषयन्ति कृतिनः सुखकांक्षाः ॥९८
सत्त्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोदं सङ्क्लिश्यमानेषु कृपापरत्वम् ।
मध्यस्थभावो विपरीतवृत्तौ सदा विधेयो विदुषा शिवाय ॥९९
अनश्वरश्रीप्रतिबन्धकेषु प्रभूतदोषोपचितेषु नित्यम् ।
विरागभावः सुधिया विधेयो भवाङ्गभोगेषु विनश्वरेषु ॥१००
श्रावकधर्मं भजति विशिष्टं योऽनघचित्तोऽमितगतिदृष्टम् ।
गच्छति सौख्यं विगलितकष्टं स क्षययित्वा सकलमनिष्टम् ॥१०१

इत्युपासकाचारे त्रयोदशः परिच्छेदः ॥

का वर्णन किया। उपर्युक्त वैयावृत्य, स्वाध्याय आदिके सिवाय अन्य भी जो तपोविशेष जिनेन्द्र-चन्द्रोपदिष्ट आगममें प्रतिपादन किये गये हैं, उन सबको भी अपनी शक्तिके अनुसार कर्मोंके काटनेके लिए विधिपूर्वक करना चाहिए ॥९४॥ जिसके द्वारा आत्मीय नित्य सुख प्रदान किया जाता है, जिसके द्वारा रागका आवेश शीघ्र छेदा जाता है और जिसके द्वारा मनोवांछित आनन्द उत्पन्न होता है, उस सन्तोषको कौन भव्य पुरुष धारण नहीं करते हैं। अर्थात् ऐसे परम सुख और शान्तिके देनेवाले सन्तोषको धारण करना चाहिए ॥९५॥ मनुष्योंको अभीष्ट सुख देनेके लिए सन्तोषके सिवाय अन्य कोई उपाय समर्थ नहीं है। कमलोंको विकसित करनेके लिए सूर्यके सिवाय और कौन समर्थ देखा गया है ॥९६॥ जो नष्टबुद्धि पुरुष सुख पानेके लिए सन्तोषको छोड़कर अन्य काम-भोगादिककी आकांक्षा करता है, वह दरिद्रताको दूर करनेके लिए कल्पवृक्षको छोड़कर नियमसे विषवृक्षको ग्रहण करता है ॥९७॥ धर्मकी हानि करनेमें दक्ष ऐसे क्रोध लोभ मद मत्सर और शोकका परिहार करना चाहिए। क्योंकि सुखके इच्छुक ज्ञानीजन सुखका घात करनेवाली व्याधियोंको पोषण नहीं करते हैं ॥९८॥ विद्वानोंको आत्मकल्याणके लिए सदा सर्व प्राणियोंपर मैत्रीभाव, गुणी जनोंपर प्रमोदभाव, दुखी जीवोंपर करुणाभाव और विपरीत दृष्टि-वालोंपर माध्यस्थभाव रखना चाहिए ॥९९॥ अविनाशी लक्ष्मीके प्रतिबन्धक, अनेक दोषोंसे संयुक्त और विनश्वर ऐसे संसार, शरीर और इन्द्रिय-भोगोंमें ज्ञानीको सदा विरागभाव रखना चाहिए ॥१००॥ इस प्रकार अमितज्ञानी जिनेन्द्रदेवसे उपदिष्ट तथा अमितगति आचार्यसे प्ररूपित ऐसे विशिष्ट श्रावक धर्मको जो निर्मलचित्त पुरुष धारण करता है, वह सकल अनिष्टोंका क्षय करके सर्व कष्टोंसे रहित ऐसे अविनाशी सुखको प्राप्त होता है ॥१०१॥

इस प्रकार अमितगति-विरचित श्रावकाचारमें तेरहवाँ परिच्छेद समाप्त हुआ।

चतुर्दशः परिच्छेदः

यौवनं नगनदीस्यदोपमं शारदाम्बुदविलासि जीवितम् ।
स्वप्नलब्धधनविभ्रमं धनं स्थावरं किमपि नास्ति तत्त्वतः ॥१
विग्रहा गदभुजङ्गमालया सङ्गमा विगमदोषदूषिताः ।
सम्पदोऽपि विपदाकटाक्षिता नास्ति किञ्चिदनुपद्रवं स्फुटम् ॥२
प्रीतिकीर्तिमतिकान्तिभूतयः पाकशासनशरासनस्थिराः ।
अध्वनीनपथसङ्गसङ्गमाः सन्ति मित्रपितृपुत्रबान्धवाः ॥३
मोक्षमेकमपहाय कृत्रिमं नास्ति वस्तु किमपीह शाश्वतम् ।
किञ्चनापि सहगामि नात्मनो ज्ञानदर्शनमपास्य पावनम् ॥४
सन्ति ते त्रिभुवने न देहिनो येन यान्ति समवर्तिमन्दिरम् ।
शक्रचापखचिता हि कुत्र ते ये व्रजन्ति[1] न विनाशमम्बुदाः ॥५
देहपंजरमपास्य जर्जरं यत्र तीर्थपतयोऽपि पूजिताः ।
यान्ति पूर्णसमये शिवास्पदं तत्र के जगति नात्र गत्वराः ॥६
यं करोति पुरतो यमराजो भक्षणाय भुवने क्षुधितात्मा ।
कानने मृगमिव द्विपवैरी तस्य नास्ति शरणं भुवि कोऽपि ॥७

अब आचार्य बारह अनुप्रेक्षाओंका वर्णन करते हुए पहली अनित्यानुप्रेक्षाका स्वरूप कहते हैं—

मनुष्यका यौवन तो पर्वतकी नदीके वेगके समान है, जीवन शरद् ऋतुके मेघके विलास समान है अर्थात् क्षणमात्रमें विलयको प्राप्त हो जाता है। तथा यह धन स्वप्नमें पाये हुए धनके समान झूठा है। वास्तवमें यहाँ कोई भी वस्तु स्थिर नहीं है ॥१॥ ये शरीर रोगरूप सर्पोंके घर हैं, इष्ट वस्तुओंके संयोग वियोगके दोषसे दूषित हैं, तथा सम्पदाएँ भी विपदाओंके कटाक्षसे युक्त हैं। अतः यह स्पष्ट है कि इस संसारमें कोई भी वस्तु उपद्रव-रहित नहीं हैं ॥२॥ प्रीति, कीर्त्ति, वुद्धि, कान्ति और विभूति ये सब इन्द्र-धनुषके समान अस्थिर हैं, और ये मित्र पुत्र पिता बन्धुजन मार्गमें मिले हुए पथिकोंके संयोगके समान शीघ्र ही विछुड़ जानेवाले हैं ॥३॥ एकमात्र मोक्षको छोड़कर शेष सब कृत्रिम वस्तुओंमें से कोई भी वस्तु इस लोकमें शाश्वत नहीं है। तथा पवित्र आत्मीय गुण ज्ञान दर्शनको छोड़कर आत्माके साथ और कुछ भी जाने वाला नहीं है ॥४॥ तीन लोकमें ऐसे कोई भी प्राणी नहीं हैं जो कि यमराजके मन्दिरको न जाते हों? अर्थात् सभी प्राणी मरणको प्राप्त होते हैं। इन्द्र-धनुषसे संयुक्त ऐसे कौनसे मेघ हैं, जो कि विनाशको प्राप्त न होते हों ॥५॥ जब आयुके पूर्ण हो जानेपर जगत्पूज्य तीर्थंकर देव भी इस जर्जर देह-पंजरको छोड़कर मोक्ष-धामको चले जाते हैं, तब फिर ऐसे वे कौन जन हैं जो कि यम-मन्दिरको जानेवाले न हों? अर्थात् सभी प्राणी जाने वाले हैं ॥६॥ इस प्रकार अनित्य भावना कही।

अब अशरणानुप्रेक्षाको कहते हैं—भूखी है आत्मा जिसकी ऐसा यमराज संसारमें जिस जीवको खानेके लिए आगे करता है, उस जीवकी रक्षा करनेके लिए लोकमें कोई भी शरण नहीं

---

१. मु० भजन्ति।

अन्तकेन यदि विग्रहभाजः स्वीकृतस्य समपत्स्यत पाता।
रक्षितः सुरवरैरमरिष्यन्नो तदा सुर-वधूनिकुरम्बः ॥८
यं निहन्तुममरा न समर्था हन्यते न स परैः समवर्ती।
यो द्विपैर्न समदैरपि भग्नो भज्यते हि शशकैर्न स वृक्षः ॥९
स्यन्दनद्विपपदातितुरङ्गैर्मन्त्रतन्त्रजपपूजनहोमैः।
शक्यते न स खलु रक्षितुमङ्गी जीवितव्यपगमे म्रियमाणः ॥१०
ये धरन्ति धरणीं सह शैलैर्ये क्षिपन्ति सकलं ग्रहचक्रम्।
ते भवन्ति भुवने न स कश्चिद्यो निहन्ति तरसा यमराजम् ॥११
यो हिनस्ति रभसेन बलिष्ठानिन्द्रचन्द्ररविकेशवरामान्।
रक्षको भवति कश्चन मृत्योर्निघ्नतो भवभृतो न ततोऽत्र ॥१२
चित्रजीवाकुलायां तनूभागिना कुर्वता चेष्टितं सर्वदा मोहिना।
गृह्णता मुञ्चता विग्रहं संसृतौ नर्तकेनेव रङ्गक्षितौ भ्रम्यते ॥१३
श्वसिति रोदिति सीदति खिद्यते स्वपिति रुष्यति तुष्यति ताम्यति।
लिखति दीव्यति सीव्यति नृत्यति भ्रमति जन्मवने कलिलाकुलः ॥१४
जनकस्तनयस्तनयो जनको जननी गृहिणी गृहिणी जननी।
भगिनी दुहिता दुहिता भगिनी भवतीति बताङ्गिगणो बहुशः ॥१५

है। जैसे कि वनमें सिंह जब हरिणको भक्षण करनेको उद्यत हो, तब उसे बचानेके लिए कोई भी संसारमें शरण नहीं है ॥७॥ यदि यमराजसे ग्रसित प्राणीको बचाने वाला कोई होता, तो उत्तम देवों और इन्द्रोंसे सुरक्षित देवाङ्गनाओंका समुदाय कभी नहीं मरता ॥८॥ जिस यमराजको मारनेके लिए देवगण भी समर्थ नहीं हैं, वह यमराज दूसरे प्राणियोंके द्वारा नहीं मारा जा सकता है। जो वृक्ष मदोन्मत्त हाथियोंके द्वारा भी भग्न नहीं किया जा सकता, वह शशकों (खरगोशों) के द्वारा कैसे भग्न किया जा सकता है ॥९॥ जीवनके समाप्त होनेपर मरते हुए प्राणीकी रक्षा करने लिए रथ हाथी प्यादे घोड़े, तथा मंत्र तंत्र जप पूजन और हवन भी निश्चयसे समर्थ नहीं हैं ॥१०॥ संसारमें ऐसे पुरुष हैं जो पर्वतोंके साथ पृथिवीको धारण कर सकते हैं और ऐसे भी पुरुषोंका होना संभव है जोकि समस्त ग्रहचक्रको उठाकर फेंक सकते हैं। किंतु जो यमराजको शीघ्र मार सके, ऐसा कोई पुरुष इस भुवनमें नहीं है ॥११॥ जो मृत्यु रूप यमराज बड़े बलशाली इन्द्र चन्द्र सूर्य नारायण और बलभद्रको अतिशीघ्र मार देता है, उस मृत्युसे संसारके प्राणियोंको मारनेसे बचाने वाला इस संसारमें कोई भी रक्षक नहीं है ॥१२॥ इस प्रकार अशरण भावना कही।

अब संसारानुप्रेक्षाको कहते हैं—नाना प्रकारके जीवोंसे भरी हुई इस संसाररूपी रंगभूमि पर नाना प्रकारकी चेष्टाएं करते हुए यह मोही शरीरधारी शरीरको ग्रहण करते और छोड़ते हुए सर्वदा परिभ्रमण करता रहता है ॥१३॥ पाप कर्मसे व्याकुल हुआ यह जीव सर्वदा संसाररूप वनमें कभी श्वास लेता है, कभी रोता है, कभी पीड़ित होता है, कभी खेद खिन्न होता है, कभी सोता है, कभी रुष्ट होता है, कभी सन्तुष्ट होता है, कभी तमतमाता है, कभी लिखता है, कभी खेलता है, कभी कपड़े सीता है और कभी नाचता है। इस प्रकार नाना प्रकारकी चेष्टाएँ करता हुआ घूमता रहता है ॥१४॥ इस संसारमें आज जो पिता है, मरकर कल वह पुत्र बन जाता है, आज जो पुत्र है

कलिलजालवशः स्वयमात्मनो भवति यत्र सुतो निजमातरि ।
किमपरं बत तत्र निगद्यते विविधदुःखखनौ जननार्णवे ॥१६
किमपि वेत्ति शिशुर्न हिताहितं विविध[1]दुःखमुपैति युवा परम् ।
विकलतां भजते स्थविरस्तरां भवति शर्म कदा बत संसृतौ ॥१७
न सोऽस्ति सम्बन्धविधिर्जगत्त्रये समं समस्तैरपि देहधारिभिः ।
अवापि यो न भ्रमता भवार्णवे शरीरिणा कर्मनियन्त्रितात्मना ॥१८
यत्र चित्रैर्विवर्तैः परावर्त्यते कर्मणाऽनारतं भ्रम्यमाणो जनः ।
दुःसहं दुर्वचं मानसं कायिकं तत्र दुःखं न किं संसृतावश्नुते ॥१९
देहबान्धवनिमित्तमङ्गिना पापकर्म विविधं विधीयते ।
एककेन बृहती विषह्यते नारकीं गतिमुपेयुषा व्यथा ॥२०
पद्मपत्रनयना मनोरमाः कारयन्ति दुरितं दुरुत्तरम् ।
दुर्गतिं विकटदुःखसङ्कटामेककस्य शरणं न गच्छतः ॥२१
मातृतातसुतदारबान्धवाः शर्मदा मम मुधेति तप्यते ।
कर्म पूर्वमपहाय विद्यते नात्र कोऽपि सुखदुःखकारकः ॥२२

वह पिता बन जाता है। माता गृहिणी बन जाती है, गृहिणी माता बन जाती है, बहिन पुत्री बन जाती है और पुत्री बहिन बन जाती है। यह बहुत दुःखकी बात है कि प्राणिगण इस प्रकार परस्परमें नाना प्रकारके सम्बन्धोंको प्राप्त होते हुए संसारमें परिभ्रमण करते रहते हैं ॥१५॥ विविध दुःखोंकी खानिरूप इस संसार-समुद्रमें इससे अधिक और आश्चर्य और दुःखकी क्या बात हो सकती है कि जहाँ पर पाप-जालके वश होकर स्वयं यह जीव अपनी माताके गर्भमें अपना पुत्र हो सकता है ॥१६॥ बाल्यावस्थामें बालक अपने हित और अहितको कुछ भी नहीं जानता है, युवा पुरुष वियोगके परम दुःखको प्राप्त होता है और वृद्ध पुरुष अत्यन्त विकलताको प्राप्त होता है। फिर बताओ संसारमें जीवके सुख कब होता है ॥१७॥ कर्मरूप यंत्रसे प्रेरित इस देहधारी आत्माने संसार-समुद्रमें परिभ्रमण करते हुए तीन लोकमें ऐसा कोई भी नाते रिश्तेदारीका सम्बन्ध नहीं है, जो कि समस्त देहधारियोंके साथ अनन्तवार नहीं पाया हो ॥१८॥ जिस संसारमें कर्मके वशसे निरन्तर परिभ्रमण करता हुआ यह जीव नाना प्रकारकी पर्यायोंसे परिवर्त्तित होता रहता है, उस संसारमें बताओ ऐसा कौन-सा दुःसह वाचनिक मानसिक और कायिक दुःख है, जो न इसने भोगा हो ? अर्थात् सभी प्रकारके दुःख इस जीवने अनन्तवार भोगे हैं ॥१९॥ यह संसार भावना कही।

अब एकत्वानुप्रेक्षा कहते हैं—यह जीव शरीर और बन्धु जनोंके निमित्त नाना प्रकारके पापकर्म करता है, किन्तु उसके फलसे नारकगतिको प्राप्त होकर अकेला ही वहाँकी भारी व्यथाको सहता है ॥२०॥ कमलपत्रके समान नेत्रवाली ये मनोहर स्त्रियाँ दुस्तर पापको कराती हैं। किन्तु उस पापके फलसे विकट दुःखोंसे व्याप्त दुर्गतिको अकेले जाते हुए इस जीवका कोई शरण नहीं है ॥२१॥ ये माता पिता पुत्र स्त्री और बन्धुजन मेरे हैं, ऐसा मान कर यह जीव सदा निरर्थक संतप्त होता रहता है। किन्तु पूर्व कर्मको छोड़ करके इस संसारमें जीवको कोई सुख या दुःखका देने वाला नहीं है ॥२२॥ इस लोकमें अपने कर्मसे उत्पन्न हुई वेदनाको प्राप्त हुए जीवका यत्नसे

---

१. मु० विरह।

वेदनां गतवतः स्वकर्मजामत्र यो न विदधाति किञ्चन ।
किं करिष्यति परत्र यत्नतो देहजादिनिवहः स पालितः ॥२३
एकको भ्रमति दुःखकानने याति निर्वृतिनिवासमेककः ।
एककः श्रयति दुःखमेककः शर्म याति न परोऽस्य विद्यते ॥२४
जन्ममृत्युरतिकीर्तिसम्पदामेकको भवति भाजनं सदा ।
नास्ति कोऽपि सचिवः शरीरिणो द्रव्यमुक्तिमपहाय तत्त्वतः ॥२५
अनादिरात्माऽनिधनः सचेतनो विधाय यः कर्म फलस्य भोजकः ।
हिताहितादानविमोक्षकोविदस्ततः शरीरं विपरीलमात्मनः ॥२६
सदाऽपि यो यत्नशतैः प्रपाल्यते न यत्र कायोऽपि निजः स देहिनः ।
परं स्वकीयं किमु तत्र विद्यते प्रवर्तते यत्र ममेति मोहितः ॥२७
विमुच्य जन्तोरुपयोगमञ्जसा न दर्शनज्ञानमयं परं निजम् ।
परत्र सर्वत्र ममेति शेमुषी प्रवर्तते मोहपिशाचनिर्मिता ॥२८
भवन्ति ये कार्मणयोगसम्भवाः परेऽत्र भावा वपुरात्मजादयः ।
विहाय ते दुःखपरम्परां परां परं न किञ्चिद्वितरीतुमीशते ॥२९
अनात्मनीना भवदुःखहेतवो विनश्वराः कर्मभवा यतोऽखिलाः ।
ततो न बाह्येषु विशुद्धबुद्धयो ममेति बुद्धिं मनसाऽपि कुर्वते ॥३०

पालन किया हुआ यह पुत्र आदिका समूह जब कुछ उपकार नहीं कर सकता है, तब वह परलोकमें क्या उपकार करेगा ? अर्थात् कुछ भी नहीं करेगा ॥२३॥ यह जीव इस भववनमें अकेला ही भ्रमण करता है और अकेला ही मुक्तिधामको जाता है। अकेला ही यह दुःख भोगता है और अकेला ही सुख भोगता है। इसका दूसरा कोई सगा-साथी नहीं है ॥२४॥ यह जीव सदा अकेला ही जन्म मरण, प्रीति, कीर्त्ति और सम्पदाओंका भाजन होता है। इस देहधारीका कोई भी सचिव या साथी एक मुक्तिदशाको छोड़कर वास्तवमें और कोई नहीं है ॥२५॥ यह एकत्वभावना कही।

अब अन्यत्वानुप्रेक्षा कहते हैं—यह आत्मा अनादि है, अनन्त है, सचेतन है, कर्मोंका कर्त्ता है और कर्मोंके फलका भोक्ता है, तथा हितके ग्रहण और अहितके छोड़नेमें कुशल है। किन्तु शरीर आत्माके उक्त स्वभावसे विपरीत है, अर्थात् आदि और अन्तवाला है, जड़ है, न वह कर्मका कर्त्ता-भोक्ता है और न हित-अहितका जानने वाला है। अतएव यह सिद्ध होता है कि आत्मा और शरीर ये दो भिन्न पदार्थ हैं ॥२६॥ जो शरीर इस संसारमें सदा ही सैकड़ों प्रयत्नोंसे पालन किया जाता है, वह शरीर भी जब जीवका निजी नहीं है, तब अन्य वस्तु अपनी कैसे हो सकती है, जिसमें कि 'यह मेरी वस्तु है' ऐसा कहकर मोहित हुआ यह जीव प्रवृत्ति करता है ॥२७॥ जीवके दर्शन-ज्ञानमयी उपयोगको छोड़कर निश्चयसे कोई पर वस्तु अपनी नहीं है। फिर भी आश्चर्य है कि मोह पिशाचसे निर्मित 'यह मेरा है' ऐसी बुद्धि सर्वत्र पर पदार्थोंमें सदा लगी रहती है ॥२८॥ कर्मोंके संयोगसे उत्पन्न हुए जितने भी शरीर, पुत्र आदिक पर पदार्थ संसारमें हैं, दुःखकी उत्कट परम्पराके सिवाय और कुछ भी देनेके लिए समर्थ नहीं हैं। अर्थात् उनसे सुख पानेकी कल्पना करना व्यर्थ है ॥२९॥ कर्मोंके संयोगसे उत्पन्न हुए जितने भी पदार्थ हैं, वे सब आत्माके हितकारी नहीं हैं, संसारके दुःखोंके कारण हैं

न विद्यते यत्र कलेवरं निजं स्वकीयबुद्धचा मनसि व्यवस्थितम् ।
तदीयसम्वन्धभवाः सुतादयः परे कथं तत्र निजा निगद्यताम् ॥३१
करोति बाह्येषु ममेति शेमुषीं परेष्वयं यावदनर्थकारिणीम् ।
न निर्ममस्तावदमुष्य संसृतेरिति त्रिधा सा विदुषा विमुच्यताम् ॥३२
क्षणादमेध्याः शुचयोऽपि भावाः संसर्गमात्रेण भवन्ति यस्य ।
शरीरतः सन्ततपूतगन्धेस्ततः परं किञ्चन नास्त्यशौचम् ॥३३
वहुप्रकाराशुचिराशिपूर्णे शुक्रास्रजाते शुचिता क्व काये ।
अमेध्यपूर्णः किममेध्यकुम्भो दृष्टो हि मेध्यत्वमुपाददानः ॥३४
मज्जास्थिमेदोमलमांसखानिं विगर्हणीयं कृमिजालगेहम् ।
देहं दधानः शुचिताभिमानं मूर्खो विधत्ते न विशुद्धबुद्धिः ॥३५
स्रवन्नवस्रोतविचित्रगूथं यो वारिणा शोधयते शरीरम् ।
अङ्गाय दुग्धेन निघृष्य मन्ये विशुद्धमङ्गारमसौ विधत्ते ॥३६
न हन्यते तेन जलेन पापं विवर्ध्यते येन विवर्ध्य रागम् ।
यद्यस्य जन्म[1]प्रभवे समर्थं तत्तस्य दृष्टं न विनाशकारि ॥३७
विनाश्यते चेत्सलिलेन पापं धर्मस्तदानीं क्रियते किमर्थम् ।
आरोहणं कोऽपि करोति वृक्षे फले हि हस्तेन न लभ्यमाने ॥३८

और विनाशीक हैं। इस लिए निर्मल बुद्धिवाले ज्ञानी जन बाह्य पदार्थोमें 'यह मेरा है' ऐसी बुद्धिको मनसे भी नहीं करते हैं ॥३०॥ जहां 'यह मेरा है' इस प्रकारकी आत्मबुद्धिसे मनमें अवस्थित यह शरीर भी अपना नहीं है, वहां उस शरीरके सम्बन्धसे उत्पन्न हुए ये पर पुत्रादिक निजी कैसे हो सकते हैं, यह कहो ? अर्थात् जब यह शरीर ही अपना नहीं, तो पुत्रादिक अपने कैसे हो सकते हैं ॥३१॥ जब तक यह अज्ञानी जीव बाहिरी पर पदार्थोमें 'यह मेरा है' ऐसी अनर्थ-कारिणी बुद्धिको करता है, तब तक इसका संसारसे निकलना संभव नहीं है, अतः ज्ञानी जनोंको पर पदार्थोमें ममत्वबुद्धि मन वचन कायसे छोड़ देना चाहिए ॥३२॥ यह अन्यत्व भावना कही।

अब अशुचिभावना कहते हैं—जिस शरीरके संसर्गमात्रसे पवित्र भी पदार्थ क्षण भरमें अपवित्र हो जाते हैं, ऐसे निरन्तर दुर्गन्धमय शरीरसे अन्य और कोई भी वस्तु अपवित्र नहीं है ॥३३॥ अनेक प्रकारकी अशुचि वस्तुओंसे भरे हुए और रज-वीर्यसे उत्पन्न हुए इस शरीरमें पवित्रता कहाँ सम्भव है ? विष्ठासे भरा हुआ अपवित्र घड़ा क्या पवित्रताको प्राप्त होता हुआ कहीं देखा गया है ॥३४॥ मज्जा, हड्डी, मेदा, मल-मूत्र और मांसकी खानिवाला, तथा कृमिजालका घर ऐसे निन्दनीय शरीरको धारण करते हुए मूर्ख मनुष्य ही पवित्रताका अभिमान करता है, किन्तु विशुद्ध बुद्धिवाला पुरुष ऐसे निन्द्य शरीरमें पवित्रताका भाव नहीं करता है ॥३५॥ जिसके नौ द्वारोंसे निरन्तर मल-मूत्रादिक वहते रहते हैं, ऐसे शरीरको जो जलसे शुद्ध करना चाहता है, वह काले कोयलेको दूधसे घर्षण करके निर्मल बनाना चाहता है, ऐसा मैं मानता हूँ ॥३६॥ जिस जलके द्वारा धोनेसे शरीरका राग वढ़कर पाप बढ़ता है, उस जलसे वह पाप कैसे विनष्ट किया जा सकता है ? जो वस्तु जिसके उत्पन्न करनेमें समर्थ है, वह उसका विनाश करनेवाली नहीं देखी गई है ॥३७॥ यदि जलसे पाप विनष्ट किया जाता है, तो बताओ—धर्म किसलिए

१. म० वर्ण–।

माघेन तीव्रः क्रियते शशाङ्को ग्रीष्मेण भानुर्यदि नाम शीतः।
देहस्तदानीं पयसा विशुद्धो विधीयते दुर्वचगूथयूथः ॥३९
सज्ज्ञानसम्यक्त्वचरित्रतोयैर्विगाह्यमानैर्मनसाऽपि जीवः।
विशोध्यमानस्तरसा पवित्रैर्नाशुद्धिमभ्येति भवान्तरेऽपि ॥४०
रन्ध्रैरिवाम्बु विततैरुदधौ तरण्डे जीवे मनोवचनकायविकल्पजालैः।
जन्मार्णवे विशति कर्म विचित्ररूपं सद्यो निमज्जनविधायि सुदुर्निवारम् ॥४१
चित्रेण कर्मपवनेन नियुज्यमानः प्राणिप्लवो बहुविधासुखभाण्डपूर्णः।
संसारसागरमसारमलभ्यपारं भूरिभ्रमं भ्रमति कालमनन्तमानम् ॥४२
कर्माददाति यदयं भविनः कषायः संसारदुःखमविधाय न तद् व्यपैति।
यद्वन्धनं हि विदधाति विपक्षवर्गस्तन्नाम कस्य विरचय्य सुखं प्रयाति ॥४३
भेदाः सुखासुखविधानविधौ समर्था ये कर्मणो विविधबन्धरसा भवन्ति।
जन्तोः शुभाशुभमनःपरिणामजन्यास्तैर्भ्रम्यते भववने चिरमेष जीवः[1] ॥४४
गृह्णाति कर्म सुखदं शुभयोगवृत्त्या दुःखप्रदायि तु यतोऽशुभयोगवृत्त्या।
आद्या सुखार्थिभिरतः सततं विधेया हेया परा प्रचुरकष्टनिदानभूता ॥४५

किया जाता है ? हाथसे फलके प्राप्त किये जानेपर कोई भी पुरुष वृक्षपर आरोहण नहीं करता है ॥३८॥ यदि माघ मासके द्वारा चन्द्रमा तीव्र सन्तप्त किया जाय और ग्रीष्मऋतुके द्वारा सूर्य शीतल किया जाय, ये दोनों असम्भव कार्य सम्भव हों, तो निन्दनीय मल-मूत्रका पुंज यह देह भी जलसे शुद्ध होता है ऐसा माना जा सकता है ॥३९॥ इस लिए मनके द्वारा अवगाहन किये गये पवित्र सम्यक्त्व, ज्ञान और चारित्ररूप जलसे शीघ्र शुद्ध किया गया यह जीव अन्य भवमें भी अशुद्धिको प्राप्त नहीं होता है ॥४०॥ भावार्थ—जलादिसे पवित्रता मानना मिथ्या है। जीवकी शुद्धि रत्नत्रय रूप धर्मके परिपालनसे ही होती है। यह अशुचि भावना कही।

अब आस्रवानुप्रेक्षा कहते हैं—जिस प्रकार समुद्रके विस्तृत छिद्रोंके द्वारा नावके भीतर जल प्रवेश करता है, उसी प्रकार संसाररूप समुद्रमें पड़े हुए जीवके भीतर मन वचन कायके विकल्पजालोंसे अति दुर्निवार और शीघ्र डुबानेवाला नाना प्रकारका कर्म प्रवेश करता है ॥४१॥ तीव्र-मन्द आदि अनेक प्रकारके पवनके द्वारा प्रेरित और नाना प्रकारके दुःखरूप भांडों (वर्तनों) से परिपूर्ण यह प्राणीरूपी नौका इस असार अगम अपार और भारी भंवरवाले संसार-सागरमें अनन्तकाल तक परिभ्रमण करती रहती है ॥४२॥ जीवका जो यह कषायभाव कर्मको ग्रहण करता है, वह जीवको सांसारिक दुःख दिये विना दूर नहीं होता है। जैसे शत्रुवर्ग जो वन्धन बाँधता है, वह किसे सुख दे करके जाता है ? अर्थात् वह तो दुःख दे करके ही छूटता है ॥४३॥ जीवके नाना प्रकारके शुभ-अशुभ मनके परिणामोंसे उत्पन्न हुए, सुख और दुःख देनेकी विधिमें समर्थ जो अनेक प्रकारके अनुभागबन्धके रस-भेदवाले कर्म बँधते हैं, उनके द्वारा यह जीव इस भयंकर भव-वनमें चिरकालतक परिभ्रमण कराया जाता है ॥४४॥ यतः शुभयोगकी परिणतिसे यह जीव सुखदायी पुण्यकर्मको ग्रहण करता है और अशुभ योगकी परिणतिसे दुःखदायक पापकर्मको ग्रहण करता है, अतः सुखार्थीजनोंको आद्य जो शुभयोग परिणति है, वह नित्य करना चाहिए

१. मु० भीमे।

एकप्रकारमपि योगवशादुपेतं कुर्वन्ति कर्म विविधं विविधाः कषायाः।
एकस्वभावमुपगम्य जलं घनेभ्यः प्राप्य प्रदेशमुपयाति न किं विभेदम् ॥४६
मिथ्यात्वदौर्वृत्यकषाययोगप्रमाददोषा विविधप्रकाराः।
कर्मास्रवाः सन्ति शरीरभाजां जलास्रवा वा सरसां प्रवाहाः ॥४७
संवरणं तरसा दुरितानामास्रवरोधकरेषु नरेषु।
आगमनस्य कृते हि निरोधे कुत्र विशन्ति जलानि सरस्सु ॥४८
नश्यति कर्म कदाचन जन्तोः संवरेण विना न गृहीतम्।
शुष्यति कुत्र जलं हि तडागे सङ्गमने बहुधाऽभिनवस्य ॥४९
योगनिरोधकरस्य सुदृष्टेरस्तकषायरिपोर्विरतस्य।
यत्नपरस्य नरस्य समस्तं संवृतिमृच्छति नूतनमेनः ॥५०
धर्मधरस्य परीषहजेतुर्वृत्तवतः समितस्य सुगुप्तेः।
आगमवासितमानसवृत्तेः सङ्गतिरस्ति न कर्मरजोभिः ॥५१
दर्शनबोधचरित्रतपोभिश्चेतसि कल्मषमेति न तुष्टे[1]।
शूरतरैः पुरुषैः कृतरक्षे शत्रुबलं विशति क्व पुरे हि ॥५२
पातकमास्रवति स्थिररूपं संभृतिमाप्नवतां न यतीनाम्।
वर्मधरान्न नरान् रणरङ्गे क्वापि भिनत्ति शिलीमुखजालम् ॥५३

और प्रचुर कष्ट देनेकी करणभूत दूसरी अशुभयोग प्रवृत्ति छोड़ना चाहिए ॥४५॥ योगके वशसे ग्रहण किये गये एक प्रकारके भी कर्मको नाना प्रकारकी कषाय नाना प्रकारका फल देनेवाला कर देती हैं। जैसे मेघोंसे एक स्वभाववाला जल नीम ईख आदि विभिन्न जातिके वृक्षोंके प्रदेशको प्राप्त होकर क्या कटुक मिष्ट आदि अनेक भेदको नहीं प्राप्त हो जाता है ? अर्थात् हो ही जाता है ॥४६॥ मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग और प्रमादरूप दोष शरीरधारियोंके नाना प्रकारके कर्मास्रवके कारण हैं। जैसे कि सरोवरके प्रवाह उसमें जलके आनेके कारण हैं ॥४७॥ यह आस्रव भावना कही।

अब संवरानुप्रेक्षा कहते हैं—सम्यक्त्वादि भावोंके द्वारा आस्रवका निरोध करनेवाले मनुष्योंमें कर्मोंके आनेका शीघ्र संवर होता हैं क्योंकि जलआगमनके द्वारोंका निरोध कर दिये जानेपर सरोवरोंमें जल कहाँ प्रवेश कर सकते हैं ॥४८॥ संवरके विना ग्रहण किया हुआ जीवका कर्म कदाचित् भी नष्ट नहीं होता है। जैसे कि अनेक द्वारोंसे नवीन जलका संगम होते रहने पर सरोवरमें जल कहाँ सूख सकता है ॥४९॥ योगोंका निरोध करनेवाले, सम्यग्दृष्टि, कषायरूप शत्रुके विनाशक, संयमी और सावधान पुरुषके समस्त नवीन कर्म संवरको प्राप्त होता है ॥५०॥ भावार्थ—कर्मास्रवके कारणभूत मिथ्यात्वादिक भावोंके दूर होनेपर कर्मका आना रुकता ही है। जो मनुष्य उत्तम क्षमादि दशधर्मोंका धारण करनेवाला है, परीषहोंका विजेता है, सामानिकादि चारित्रका धारक है, ईर्यादि समितियोंसे संयुक्त है, गुप्तियोंसे सुरक्षित है और जैनागमसे जिसकी चित्तवृत्ति सुवासित है, उस पुरुषके कर्मरूप रजसे संगति नहीं हो सकती है ॥५१॥ सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र और तपसे युक्त चित्तमें पापकर्म प्रवेश नहीं कर पाता है, जैसे कि अत्यन्तशूरवीर पुरुषोंसे जिसकी रक्षा की जा रही है, ऐसे नगरमें शत्रुओंकी सेना कहाँ प्रवेश कर सकती है ॥५२॥ स्थिररूप आत्माका अनुभव करनेवाले आत्मज्ञानी साधुओंके

---

१. मु० जुष्टे।

कामकषायहृषीकनिरोधं यो विदधाति परैरसुसाध्यम् ।
केवललोकविलोकितलोको याति स मुक्तिपुरीमनपायाम्[1] ॥५४

दृढीकृतो याति न कर्मपर्वतः शरीरिणां निर्जरया विना क्षयम् ।
न धान्यपुञ्जः प्रलयं प्रपद्यते व्ययं विना क्वापि विवर्धितश्चिरम् ॥५५

निरन्तरानेकभवार्जितस्य या पुरातनस्य क्षतिरेकदेशतः ।
विपाकजापाकजभेदतो द्विधा यतीश्वरास्तां निगदन्ति निर्जराम् ॥५६

अनेहसा या कलिलस्य निर्जरा विपाकजां तां कथयन्ति सूरयः ।
अपाकजाता भवदुःखखर्विणी विधीयते या तपसा गरीयसा ॥५७

विपाकजायामुदितस्य कर्मणो मता परस्यामखिलस्य विच्युतिः ।
यतो द्वितीयाऽत्र ततो विधानतः सदा विधेया कुशलेन निर्जरा ॥५८

तपोभिरुग्रैः सति संवरे रजो निषूद्यमानं सकलं पलायते ।
निरास्रवं वारि विवस्वदंशुभिर्न शोष्यमाणं सरसोऽवतिष्ठते ॥५९

परेण जीवस्तपसा प्रतापितो विनिर्मलत्वं रभसा प्रपद्यते ।
सुवर्णशैलस्य मलोऽवतिष्ठते प्रताप्यमानस्य कृशानुना कथम् ॥६०

कर्मका आस्रव नहीं होता है। जैसे कि रणभूमिमें कवचधारी मनुष्योंको वाणोंका समूह कहीं भी नहीं भेद सकता है ॥५३॥ जो मनुष्य साधारण जनोंके द्वारा असाध्य ऐसे काम-विकार, कषाय और इन्द्रिय-विषयोंका निरोध करता है, वह केवलज्ञानको प्राप्तकर उसके द्वारा समस्त लोकको देखता हुआ अपाय-रहित एवं अति कठिनतासे पाने योग्य ऐसी मुक्तिपुरीको जाता है ॥५४॥ इस प्रकार संवर भावना कही।

अब निर्जरानुप्रेक्षा कहते हैं—जीवोंके साथ दृढ़रूपसे बँधा हुआ कर्मरूपी पर्वत निर्जराके विना क्षयको प्राप्त नहीं होता है। जैसेकि चिरकालतक वृद्धिको प्राप्त हुआ धान्यका पुंज व्ययके विना कभी भी विनाशको नहीं प्राप्त हो सकता है ॥५५॥ निरन्तर अनेक भवोंमें उपार्जित पुरातन कर्मके एकदेश विनाशको निर्जरा कहते हैं। यतीश्वरोंने विपाकजा और अविपाकजाके भेदसे निर्जराको दो प्रकारका कहा है ॥५६॥ अपनी स्थितिके पूर्ण होनेपर यथाकाल होनेवाली कर्मकी निर्जराको आचार्य विपाकजा निर्जरा कहते हैं। जो उग्र तपके द्वारा संसारके दुःखोंका विनाश करनेवाली निर्जरा की जाती है, वह अविपाकजा निर्जरा कहलाती है ॥५७॥ विपाकजा निर्जरामें तो उदयको प्राप्त हुए कर्मकी ही हानि होती है, किन्तु दूसरी अविपाकजा निर्जरामें उदय और अनुदय प्राप्त सभी कर्मका विनाश होता है। इसलिए कुशल पुरुषको सदा विधिपूर्वक दूसरी अविपाकजा निर्जरा करनी चाहिए ॥५८॥ नवीन कर्मोंका संवर होनेपर उग्रतपोंके द्वारा निर्जरा किया जानेवाला कर्मरूप समस्त रज पलायमान हो जाता है। क्योंकि नवीन जलके आगमनसे रहित सरोवरका पुरातन जल सूर्यकी किरणोंके द्वारा सुखाये जानेपर ठहरता नहीं है ॥५९॥ उत्कृष्ट तपके द्वारा तपाया गया जीव शीघ्र निर्मलताको प्राप्त होता है। अग्निके द्वारा भली भांतिसे तपाये गये सुवर्ण पाषाणका मल कैसे ठहर सकता है? अर्थात् नहीं ठहर सकता ॥६०॥ यह निर्जरा भावना कही।

१. मु० दुरवापाम्।

व्योममध्यगमकृत्रिमं स्थिरं लोकमङ्गिनिवहेन सङ्कुलम् ।
सप्तरज्जुघनसम्मितं जिना वर्णयन्ति पवमानवेष्टितम् ॥६१
जन्ममृत्युकलितेन जन्तुना कर्मवैरिवशवर्तिना सता ।
यो न तत्र बहुशो विगाहितो विद्यते न विषयः स कश्चन ॥६२
भूरिशोऽत्र सुखदुःखदायिनीमूर्[1]तिजातिगतियोनिसम्पदः ।
यन्त्रितो विविधकर्मशृङ्खलैः का न निर्विशति चेतनश्चिरम् ॥६३
बान्धवो भवति शात्रवोऽपि वा कोऽत्र कस्य निजकार्यवर्जितः ।
बन्धुरेष मम शत्रुरेष वा शेमुषीमिति करोति मोहितः ॥६४
देवमर्त्यपशुनारकेष्वयं दुःखजालकलितेष्वनारतम् ।
कामकोपमदलोभवासितो वर्तते भवविपर्ययाकुलः ॥६५
जन्मवर्तिनिवहो वियुज्यते युज्यते स्वकृतकर्मभिः पुनः ।
शुष्कपत्रनिवहः[2] परस्परं मारुतैरिव विभीमवृत्तिभिः ॥६६
एष वेष्टयति भोगकांक्षया कोशकार इव लालया स्वयम् ।
कर्मबीजभवया विनिन्द्यया घोरमृत्युभयदानदक्षया ॥६७
चेतसीति सततं वितन्वतो लोकरूपमुपजायते परा ।
राक्षसी त इव संसृतेः स्फुटं धर्मकर्मजननी विरक्तता ॥६८

अब लोकभावना कहते हैं—यह लोक अनन्त आकाशके मध्यमें अवस्थित है, अकृत्रिम है, स्थिर है, प्राणियोंके समूहसे भरा हुआ है, सातराजुके घन प्रमाण (७×७×७=३४३) तीन सौ तैतालीस राजु है और तीन वातवलयोंसे वेष्टित है, ऐसा लोकका स्वरूप जिन देव वर्णन करते हैं ॥६१॥ कर्मरूप वैरीके वशवर्ती होकर जन्म-मरणको करते हुए इस जीवने इस लोकमें ऐसा कोई भी स्थान नहीं है, जिसे कि अनेकवार अवगाहन न किया हो ॥६२॥ इस लोकमें विविध कर्म-शृंखलासे बँधे हुए इस चेतन प्राणीने भारी सुख-दुःख देनेवाली ऐसी कौनसी मूर्ति, जाति, गति, योनि और सम्पदा है जिसे अनन्तवार न प्राप्त किया हो ? अर्थात् सभीको पाया है ॥६३॥ इस लोकमें अपने कार्यसे रहित होकर अर्थात् विना स्वार्थके कौन किसका बान्धव या वैरी होता है ? किन्तु मोहसे मोहित हुआ यह जीव ऐसी बुद्धि करता है कि यह मेरा बन्धु है और यह मेरा शत्रु है ॥६४॥ दुःखोंके समूहसे भरे हुए देव मनुष्य पशु और नारक पर्यायमें निरन्तर काम क्रोध मद और लोभसे वासित हुआ यह जीव सांसारिक विपरीत बुद्धिसे आकुल-व्याकुल होता रहता है ॥६५॥ अपने द्वारा किये गये पूर्व कर्मोंसे संसारी जीवोंका समूह सदा संयुक्त और वियुक्त होता रहता है। जैसे कि प्रचण्ड वेग वाले पवनोंसे उड़ाया गया सूखे पत्रोंका समूह परस्पर संयुक्त और वियुक्त होता रहता है ॥६६॥ यह जीव कर्मरूप बीजसे उत्पन्न होने वाली, घोर मृत्युके भयको देनेमें दक्ष और अति निन्द्य ऐसी भोगोंकी आकांक्षासे स्वयंको कर्मोसे वेष्टित करता रहता है, जैसे कि कोशाका कीड़ा अपनी लारसे स्वयंको वेष्टित करता रहता है ॥६७॥ इस प्रकारसे चित्तमें निरन्तर लोकका स्वरूप विचारते हुए राक्षसीके समान इस संसारसे धर्म-कार्यकी जननी, परम उदासीनतारूप विरक्ति उत्पन्न होती है ॥६८॥ यह लोक भावना कही।

१. मु० 'भूति' पाठः। २. मु० निकरः।

देशजातिकुलरूपकल्पताजीवितव्यबलवीर्यसम्पदः ।
देशनाग्रहणबुद्धिधारणाः सन्ति देहिनिवहस्य दुर्लभाः ॥६९
हन्त तासु सुखदानकोविदा ज्ञानदर्शनचरित्रसङ्गतिः ।
लभ्यते तनुभृताऽतिकृच्छ्रतः कामिनीष्विव कृतज्ञता सती ॥७०
साधुलोकमहिता प्रमादतो बोधिरत्र यदि जातु नश्यति ।
प्राप्यते न भविना तदा पुनर्नीरधाविव मनोरमो मणिः ॥७१
हन्त बोधिमपहाय शर्मणे योऽधमो वितनुते धनार्जनम् ।
जीविताय विषवल्लरीं स्फुटं सेवतेऽमृतलतामपास्य सः ॥७२
योऽत्र धर्ममुपलभ्य मुञ्चते क्लेशमेष लभतेऽतिदारुणम् ।
यो निधानमनघं व्यपोहते खिद्यते स नितरां किमद्भुतम् ॥७३
मुञ्चता जननमृत्युयातनां गृह्णता च शिवतातिमुत्तमाम् ।
शाश्वतीं मतिमता विधीयते बोधिरद्रिपतिचूलिका स्थिरा ॥७४
निरुपमनिरवद्यशर्ममूलं हितमभिपूजितमस्तसर्वदोषम् ।
भजति जिननिवेदितं स धर्मं भजति जनः सुखभाजनं सदा यः ॥७५
व्यपनयति भवं दुरन्तदुःखं वितरति मुक्तिपदं निरामयं यः ।
भवति कृतधिया त्रिधा विधेयः सकलसमीहितसाधनः स धर्मः ॥७६

अब बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा कहते हैं—धर्म-धारण करनेके योग्य देश जाति कुल रूप सौन्दर्य दीर्घायु बल वीर्य सम्पदा, जिनवाणीका उपदेश, उसके ग्रहण करनेकी बुद्धि और उसे धारण करनेकी शक्ति इतनी बातोंका मिलना जीव-समुदायको उत्तरोत्तर दुर्लभ हैं ॥६९॥ आचार्य खेद प्रकट करते हुए कहते हैं कि उपर्युक्त सामग्रीमें भी सुख देनेमें प्रवीण ऐसी सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चारित्रकी संगति यह प्राणी अति कष्टसे प्राप्त करता है, जैसे कि स्त्रियोंमें सुन्दर कृतज्ञता अति कष्टसे पाई जाती है ॥७०॥ इस लोकमें साधुजनोंसे पूजित रत्नत्रयकी प्राप्तिरूप यह बोधि यदि कदाचित् प्रमादसे नष्ट हो जाती है, तो वह फिर संसारी जीवको नहीं प्राप्त होती है। जैसे कि समुद्रमें गिरा हुआ मनोहर मणि पुनः नहीं प्राप्त होता है ॥७१॥ यह बड़े दुःखकी बात है कि ऐसी अतिदुर्लभ बोधिको पाकरके भी जो अधम पुरुष उसे छोड़कर सुखके लिए धनका उपार्जन करता है, वह अमृतलताको छोड़कर जीवित रहनेके लिए नियमसे विषवेलिका सेवन करता है ॥७२॥ जो मनुष्य इस भवमें ऐसे उत्तम धर्मको पाकरके छोड़ता है, वह अतिदारुण क्लेशको पाता है। जो निर्दोष धनके भण्डारको छोड़ता है, वह अत्यन्त खेदित होता ही है, इसमें क्या आश्चर्य है ॥७३॥ जो मतिमान् पुरुष जन्म-मरणकी यातनाको छोड़ता है और उत्तम कल्याण-परम्पराको ग्रहण करता है, वह सुमेरुकी स्थिर चूलिकाके समान रत्नत्रयकी प्राप्तिरूप बोधिको शाश्वत नित्य बनाता है ॥७४॥ यह बोधिदुर्लभ भावना कही।

अब धर्मानुप्रेक्षा कहते हैं—जो जीव जिनभाषित, निरुपम, निष्पाप, सुखका मूलकारण, हितकारक, जगत्पूजित और सर्व दोषरहित ऐसे जिनधर्मका सेवन करता है, वह जीव सदा ही सुखका भाजन होता है ॥७५॥ जो धर्म दुरन्त दुःखवाले संसारको दूर करता है और निरामय मुक्तिपदको देता है, ऐसा सर्व मनोरथोंका साधन करने वाला वह धर्म मनीषी [illegible]

मनुजभवमवाप्य यो न धर्मं विषयसुखाकुलितः करोति पथ्यम् ।
मणिकनकनगं समेत्य मन्ये पिपतिषति स्फुटमेष जीवितार्थी ॥७७
कलुषयति कुधीर्निरस्तधर्मो भवशतमेकभवस्य कारणं यः ।
अभिलषितफलानि दातुमीशं त्यजति तृणार्थितया स कल्पवृक्षम् ॥७८
शमयमनियमव्रताभिरामं चरति न यो जिनधर्ममस्तदोषम् ।
भवमरणनिपीडितो दुरात्मा भ्रमति चिरं भवकानने स भीमे ॥७९
विगलितकलिलेन येन युक्तो भवति नरो भुवनस्य पूजनीयः ।
शुचिवचनमनःशरीरवृत्त्या भजति बुधो न कथं तमत्र धर्मम् ॥८०
क्षान्तिर्मार्दवमार्जवं निगदितं सत्यं शुचित्वं तप-
स्त्यागोऽकिञ्चनता मुमुक्षुपतिभिर्ब्रह्मव्रतं संयमः ।
धर्मस्येति जिनोदितस्य दशधा निर्दूषणं लक्षणं
कुर्वाणो भवयन्त्रणाविरहितो मुक्त्यङ्गनां श्लिष्यति ॥८१
योऽनुप्रेक्षा द्वादशापीति नित्यं भव्यो भक्त्या ध्यायति ध्यानशीलः ।
हेयादेयाशेषतत्त्वावबोधी सिद्धिं सद्यो याति स ध्वस्तकर्मा ॥८२
सूचिततत्त्वं ध्वस्तकुतत्त्वं भवभयविदलनदमयमकथनम् ।
यो हृदि धत्ते पापनिवृत्त्यै शुचिरुचिरुचिरं जिनपतिवचनम् ॥८३

कायसे धारण करनेके योग्य है ॥७६॥ मनुष्य भवको पाकरके जो जीव विषय सुखसे आकुलित होकर हितकारी पथ्यरूप धर्मका आचरण नहीं करता है, वह रत्न-सुवर्णके पर्वतको प्राप्त होकरके भी जीनेका इच्छुक होकर उससे नीचे गिरनेकी इच्छा करता है, ऐसा मैं नियमसे मानता हूँ ॥७७॥ जो कुबुद्धि पुरुष धर्म छोड़कर एक भवके कारण अनेक भवोंको विगाड़ता है, वह अभिलषित फलोंको देनेमें समर्थ कल्प वृक्षको तृणका इच्छुक होकर छोड़ता है, ऐसा मैं मानता हूँ ॥७८॥ जो दुरात्मा पुरुष शम यम नियम और व्रतोंसे अभिराम, तथा सर्व दोषोंसे रहित ऐसे जिनधर्मका आचरण नहीं करता है, वह जन्म-मरणसे पीड़ित होता हुआ इस भयंकर भव-काननमें चिरकाल तक परिभ्रमण करता है ॥७९॥ जिस निष्पाप धर्मसे संयुक्त मनुष्य जगत्का पूजनीय हो जाता है, उस धर्मको इस लोकमें ज्ञानी जन पवित्र मन वचन और कायकी प्रवृत्तिसे कैसे नहीं सेवन करते है ? अर्थात् सेवन करते ही हैं ॥८०॥ मोक्षके अभिलाषी जनोंके स्वामी जिनदेवोंने धर्म दश प्रकारका कहा है—क्षमा मार्दव आर्जव सत्य शौच संयम तप त्याग आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्य। जो जीव जिनोपदिष्ट इस दश प्रकारके निर्दोप लक्षण वाले धर्मका पालन करता है, वह भवयंत्रणासे रहित होकर मुक्तिरूपी अंगना का आलिंगन करता है ॥८१॥ इस प्रकार धर्म भावना कही।

जो ध्यानशील भव्य भक्तिसे नित्य ही इन बारह भावनाओंका चिन्तवन करता है, वह समस्त हेय-उपादेय तत्त्वका ज्ञाता बनकर और कर्मोका नाश कर शीघ्र ही सिद्धिको प्राप्त होता है ॥८२॥ जो पुरुष तत्त्वको प्रकट करनेवाले, कुतत्त्वके विनाशक, भव-भवके विदलन करने वाले इन्द्रिय-दमन और पाप-विरमणरूप संयमका कथन करने वाले, तथा पवित्ररुचिसे सुन्दर ऐसे जिनेन्द्रदेवके वचनको पापोंकी निवृत्तिके लिए हृदयमें धारण करता है, वह केवलज्ञानरूप प्रकाशसे सर्वलोकको प्रकाशित कर स्वयं सर्व जगत्को देखता हुआ मुनिराजों और देवराजोंसे पूजित,

केवललोकालोकितलोकोऽमितगतियतिपतिसुरपतिमहिताम् ।
याति स सिद्धिं पावनशुद्धिं विगलितकलिमलगुणमणिसहिताम् ॥८४

इत्युपासकाचारे चतुर्दशः परिच्छेदः ।

पञ्चदशः परिच्छेदः

नियम्य करणग्रामं व्रतशीलगुणावृतैः[1] । सर्वो विधीयते भव्यैर्विधिरेष विमुक्तये ॥१
न सा सम्पद्यते जन्तोः सर्वकर्मक्षयं विना । रजोऽपहारिणी वृष्टिर्वलाहकमिवोजिता ॥२
समस्तकर्मविश्लेषो ध्यानेनैव विधीयते । न भास्करं विनाऽन्येन हन्यते शार्वरं तमः ॥३
यत्नः कार्यो बुधैर्ध्याने कर्मभ्यो मोक्षकांक्षिभिः । रोगेभ्यो दुःखकारिभ्यो व्याधितैरिव भेषजे ॥४
आद्यत्रिसंहतेः साधोरान्तर्मौहूर्तिकं परम् । वस्तुन्येकत्र चित्तस्य स्थैर्यं ध्यानमुदीर्यते ॥५
तदन्येषां यथाशक्ति मनोरोधविधायिनाम् । एकद्वित्रिचतुःपञ्चषडादिक्षणगोचरम् ॥६
साधकः साधनं साध्यं फलं चेति चतुष्टयम् । विबोद्धव्यं विधानेन बुधैः सिद्धिं विधित्सुभिः ॥७
संसारी साधको भव्यः साधनं ध्यानमुज्ज्वलम् । निर्वाणं कथ्यते साध्यं फलं सौख्यमनश्वरम् ॥८
आर्तं रौद्रं तथा[2] धर्म्यं शुक्लं चेति चतुर्विधम् । ध्यानं ध्यानवतां मान्यैर्भवनिर्वाणकारणम् ॥९

कल्मषसे रहित एवं अनन्त गुणरूप मणियोंसे सहित ऐसी पावन शुद्धिवाली सिद्धि (मुक्ति) को प्राप्त करता है ॥८३-८४॥

इस प्रकार अमितगति-विरचित श्रावकाचारमें चौदहवाँ परिच्छेद समाप्त हुआ ।

अब आचार्य ध्यानका वर्णन करते हैं—व्रत शील और गुणोंसे संयुक्त भव्य पुरुष मुक्तिकी प्राप्तिके लिए अपने इन्द्रियोंके समूहका नियमन करके यह आगे कहे जानेवाली सर्व विधिका पालन करते हैं ॥१॥ वह मुक्ति सर्व कर्मोंके क्षय हुए विना जीवको नहीं प्राप्त हो सकती है। जैसे कि मेघके विना धूलिको दूर करने वाली उत्तम वर्षा नहीं हो सकती है ॥२॥ सर्व कर्मोका अभाव ध्यानके द्वारा ही किया जाता है । क्योंकि सूर्यके विना रात्रिका अन्धकार अन्यके द्वारा दूर नहीं किया जा सकता है ॥३॥ इसलिए कर्मोसे मोक्ष पानेकी आकांक्षा रखने वाले ज्ञानी जनोंको ध्यानमें प्रयत्न करना चाहिए। जैसे कि दुःखकारी रोगोंसे छुटकारा पानेके लिए रोगी पुरुष औषधिके लिए प्रयत्न करते हैं ॥४॥

अब ध्यानका स्वरूप कहते हैं—आदिके तीन संहननोंमेंसे किसी एक संहननके धारक साधुकी उत्कृष्ट अन्तमुहूर्त तक जो एक वस्तुके चिन्तवनमें चित्तकी स्थिरता रहती है, उसे ध्यान कहते हैं ॥५॥ उक्त उत्तम तीन संहननोंके सिवाय अन्य संहनन-धारक और मनका निरोध करने वाले पुरुषोंके उनकी सामर्थ्यके अनुसार एक दो तीन चार पांच छह आदि क्षणों तक चित्तकी स्थिरता रहती है ॥६॥ सिद्धिके इच्छुक ज्ञानी जनोंको ध्यानका साधक, साधन, साध्य और फल इन चार बातोंका विधिपूर्वक ज्ञान करना चाहिए ॥७॥ आचार्य उक्त चारों बातोंका स्पष्टीकरण करते हैं—संसारी भव्य पुरुष ध्यानका साधक होता है, उज्ज्वल ध्यान साधन है, मोक्ष साध्य है और अविनश्वर सुख ध्यानका फल है ॥८॥

अब ध्यानके भेद कहते हैं—आर्त्तध्यान रौद्रध्यान, धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान यह चार

१. मु० दृतैः । २. मु० मतं ।

संसारकारणं पूर्वं परं निर्वृतिकारणम् । इत्याद्यं द्वितयं त्याज्यमादेयमपरं बुधैः ॥१०
प्रियायोगाप्रियायोगपीडालक्ष्मीविचिन्तनम् । आर्तं चतुर्विधं ज्ञेयं तिर्यग्गतिनिबन्धनम् ॥११
रौद्रं हिंसानृतस्तेयभोगरक्षणचिन्तनम् । ज्ञेयं चतुर्विधं शक्तं श्वभ्रभूमिप्रवेशने ॥१२
आज्ञापायविपाकानां चिन्तनं लोकसंस्थितेः । चतुर्धाऽभिहितं धर्म्यं निमित्तं नाकशर्मणः ॥१३
शुक्लं पृथक्त्ववीतर्कवीचारं प्रथमं मतम् । जिनैरेकत्ववीतर्कावीचारं च द्वितीयकम् ॥१४
अन्यत्सूक्ष्मक्रियं तुर्यं समुच्छिन्नक्रियं मतम् । इत्थं चतुर्विधं शुक्लं सिद्धिसौधप्रवेशकम् ॥१५
आर्तं तनूमतां ध्यानं प्रमत्तान्तगुणाश्रितम् । संयतासंयतान्तानां रौद्रं ध्यानं प्रवर्तते ॥१६
अनपेतस्य धर्मस्य धर्मतो दशभेदतः । चतुर्थः पञ्चमः षष्ठः सप्तमश्च प्रवर्तकः ॥१७

प्रकारका ध्यान ध्यानवालोंके मान्य गणधरादि देवोंने क्रमशः संसार और मोक्षका कारणभूत कहा है ॥९॥ उनमेंसे आदिके दो ध्यान संसारके कारण हैं और अन्तिम दो ध्यान मोक्षके कारण हैं। अतः ज्ञानी जनोंको आदिके दो ध्यान छोड़ना चाहिए और अन्तके दो ध्यान ग्रहण करना चाहिए ॥१०॥

अब आर्त्तध्यानका वर्णन करते हैं—प्रिय वस्तुके वियोगका, अप्रिय वस्तुके आयोग (संयोग) की पीड़ाके दूर करनेका और लक्ष्मीकी प्राप्तिका चिन्तवन करना, यह चार प्रकारका आर्त्तध्यान है। इसे तिर्यग्गतिका कारण जानना चाहिए ॥११॥

अब रौद्रध्यानका वर्णन करते हैं—हिंसा करनेका, झूठ बोलनेका, चोरी करनेका तथा भोगोंकी रक्षाका चिन्तवन करना, यह चार प्रकारका रौद्रध्यान है। यह नरकभूमिमें प्रवेश करानेमें समर्थ है, ऐसा जानना चाहिए ॥१२॥

अब धर्म्यध्यानका वर्णन करते हैं—सर्वज्ञदेवकी आज्ञाका चिन्तवन करना, सांसारिक दुःखोंके विनाशका चिन्तवन करना, कर्मोंके विपाक (फल) का चिन्तवन करना और लोकके संस्थानका विचार करना यह चार प्रकारका धर्म्यध्यान है, जो कि स्वर्गके सुखका कारण कहा गया है ॥१३॥

अब शुक्लध्यानका वर्णन करते हैं—पहला पृथक्त्ववितर्कवीचार, दूसरा एकत्ववितर्क-अवीचार, तीसरा सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और चौथा समुच्छिन्न क्रिया निवृत्ति यह चार प्रकारका शुक्लध्यान जिन भगवान्ने कहा है, जो कि मुक्ति-महलमें प्रवेश करानेका कारण है ॥१४-१५॥

विशेपार्थ—वस्तुके द्रव्य गुण और पर्यायका परिवर्तन करते हुए चिन्तवन करना पृथक्त्व-वितर्कवीचार है। किसी एक द्रव्य, गुण या पर्यायका आश्रय लेकर चिन्तवन करना एकत्ववितर्क विचार है। योगोंको बादररूपसे सूक्ष्म क्रियामें परिणत होना सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति शुक्लध्यान है। योगोंकी क्रियाके विच्छिन्न होनेको समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति शुक्लध्यान कहते हैं। इनमेंसे पहला शुक्लध्यान आठवेंसे ग्यारहवें गुणस्थान तक रहता है। दूसरा शुक्लध्यान बारहवें गुणस्थानमें होता है। तीसरा शुक्लध्यान तेरहवें गुणस्थानके अन्तमें और चौथा शुक्लध्यान चौदहवें गुणस्थानमें होता है।

अब ध्यानके स्वामियोंको कहते हैं—आर्त्तध्यान छठे प्रमत्तसंयत गुणस्थान तकके जीवोंके होता है। रौद्रध्यान संयतासंयत नामक पांचवें गुणस्थान तक के जीवोंके होता है ॥१६॥ धर्मसे संयुक्त धर्म्यध्यान आज्ञाविचय आदिके भेदसे दश प्रकारका कहा गया है और इसके प्रवर्तक या आराधक स्वामी चौथे, पांचवें, छठे और सातवें गुणस्थानके धारक जीव होते हैं ॥१७॥

समर्थं निर्मलीकर्तुं शुक्लं रत्नशिखास्थिरम् । अपूर्वकरणादीनां मुमुक्षूणां प्रवर्तते ॥१८
अह्नायोद्धूयते सर्वं कर्म ध्यानेन सञ्चितम् । वृद्धं समीरणेनेव वलाहककदम्बकम् ॥१९
ध्यानद्वयेन पूर्वेण जन्यन्ते कर्मपर्वताः । वज्रेणेव विभिद्यन्ते परेण सहसा पुनः ॥२०
यो ध्यानेन विना मूढः कर्मच्छेदं चिकीर्षति । कुलिशेन विना शैलं स्फुटमेष विभित्सति ॥२१
ध्यानेन निर्मलेनाऽऽशु हन्यते कर्मसञ्चयः । हुताशनकणेनापि प्लुष्यते[1] किं न काननम् ॥२२

विशेषार्थ—धर्म्यध्यानके वे दश भेद इस प्रकार हैं—अपायविचय उपायविचय जीवविचय अजीवविचय विपाकविचय विरागविचय भवविचय संस्थानविचय आज्ञाविचय और हेतुविचय। इनका स्वरूप संक्षेपमें इस प्रकार है—संसारमें परिभ्रमण करते और नाना प्रकारके दुःखोंको उठाते हुए ये जीव कैसे इनसे छूटें ? मैं भी कैसे इनसे छूटूं ? इस प्रकारके चिन्तवन करनेको अपायविचय धर्मध्यान कहते हैं। सांसारिक दुःखोंसे छूटनेकी कारणभूत मन वचन कायकी उत्तम प्रवृत्ति मेरे कब वा कैसे हो, ऐसा विचारना उपाय विचय धर्मध्यान है। जीव उपयोग स्वरूप है, अपने शुभ-अशुभ कर्मोका कर्त्ता और उनके फलका भोक्ता है, असंख्यात प्रदेशी है, सूक्ष्म एवं अमूर्त हैं, इत्यादिरूपसे जीवके स्वरूपका चिन्तवन करना जीवविचयधर्मध्यान है। अजीवद्रव्यका स्वरूप और उनके भेदोंका विचार करना अजीवविचय धर्मध्यान है। आठ कर्मोके फल देनेका, उनके शुभ-अशुभ अनुभागका विचारना विपाकविचयधर्मध्यान है। यह शरीर अशुचि है, अशुचिका बीज है, कर्मबन्धका कारण है, इसमें रति करना नरक-निगोदका कारण है, इत्यादि रूपसे वैराग्यका चिन्तवन करना विरागविचय धर्मध्यान है। यह जीव नाना योनियोंमें जरायुज, अण्डज आदि नाना प्रकारके जन्मोंको धारण करता हुआ, एक भवसे अन्य भवमें ऋजुगति, वक्रगतिसे गमन करता रहता है; संसारमें परिभ्रमण करते हुए इस जीवने अनन्त भवपरिवर्तन किये हैं—इत्यादि विचार करना भवविचय धर्मध्यान है। लोकके आकारका चिन्तवन करना संस्थानविचय धर्मध्यान है। अतीन्द्रिय पदार्थोका ज्ञान छद्मस्थ जीवोंके नहीं हो सकता है, अतः उनके विषयमें वीतराग सर्वज्ञ देवकी आज्ञाको प्रमाण मानकर परलोक, बन्ध, मोक्ष आदिका विचार करना आज्ञाविचय धर्मध्यान है। आगमके किसी विवादास्पद विषयको तर्ककी कसौटीपर कसकर स्याद्वादनयके द्वारा उसका निर्धारण करना हेतुविचय धर्मध्यान है। इन दशों भेदोंका विवेचन चारित्रसारसे जानना चाहिए।

आत्माको निर्मल करनेके लिए समर्थ और रत्नकी ज्योतिके समान स्थिर ऐसा शुक्लध्यान आठवें अपूर्वकरण आदि गुणस्थानवर्त्ती मुमुक्षु साधुओंके होता है ॥१८॥ चिरकालसे संचित सब कर्म ध्यानके द्वारा शीघ्र उड़ा दिये जाते हैं, जिस प्रकार कि बढ़े हुए बादलोंका समुदाय पवनके द्वारा उड़ा दिया जाता है ॥१९॥ पूर्वके आर्त्त और रौद्र इन दो ध्यानोंके द्वारा कर्म रूप पर्वत उत्पन्न किये जाते हैं और अन्तके धर्म और शुक्ल इन दो ध्यानोंके द्वारा वे वज्रके समान सहसा छिन्न-भिन्न कर दिये जाते हैं ॥२०॥ ध्यानके विना जो मूढ़ कर्मोका छेद करना चाहता है, वह निश्चयसे वज्रके विना पर्वतका भेदन करना चाहता है ॥२१॥ निर्मल ध्यानके द्वारा कर्मोका संचय शीघ्र विनष्ट कर दिया जाता है। क्या अग्निके कण-द्वारा वन जला नहीं दिया जाता है ? अर्थात् जला ही दिया जाता है ॥२२॥ ध्यानको करनेकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको ध्याता ध्येय ध्यानकी

---

1. मु० 'स्नुष्यते' पाठः।

ध्यानं विधित्सता ज्ञेयं ध्याता ध्येयं विधिः फलम् । विधेयानि प्रसिद्धयन्ति सामग्रीतो विना न हि २३
निसर्गमार्दवोपेतो निष्कषायो जितेन्द्रियः । निर्ममो निरहङ्कारः पराजितपरीषहः ॥२४
हेयोपादेयतत्त्वज्ञो लोकाचारपराङ्मुखः । विरक्तः कामभोगेषु भवभ्रमणभीरुकः ॥२५
लाभेऽलाभे सुखे दुःखे शत्रौ मित्रे प्रियेऽप्रिये । मानापमानयोस्तुल्यो मृत्युजीवितयोरपि ॥२६
निरालस्यो निरुद्वेगो जितनिद्रो जितासनः । सर्वव्रतकृताभ्यासः सन्तुष्टो निष्परिग्रहः ॥२७
सम्यक्त्वालङ्कृतः शान्तो रम्यारम्यनिरुत्सुकः । निर्भयो भाक्तिकः श्राद्धो वीरो [1]वैरागिकोऽशठः ॥२८
निर्निदानो निरापेक्षो विभङ्क्षुर्देहपञ्जरम् । भव्यः प्रशस्यते ध्याता यियासुः पदमव्ययम् ॥२९
ध्येयं पदस्थपिण्डस्थरूपस्थारूपभेदतः । ध्यानस्यालम्बनं प्राज्ञैश्चतुर्विधमुदाहृतम् ॥३०
यानि पञ्चनमस्कारपदादीनि मनीषिणा । पदस्थं ध्यातुकामेन तानि ध्येयानि तत्त्वतः ॥३१
मरुत्सखशिखो वर्णो भूतान्तः शशिशेखरः । आद्यलघ्वादिको ज्ञात्वा ध्यातुः पापं निषूदते ॥३२

विधि और ध्यानका फल ये चार बातें जानने योग्य हैं। क्योंकि योग्य सामग्रीके विना करने योग्य कार्य सिद्ध नहीं होते हैं ॥२३॥

अब ध्यान करनेवाले ध्याताका स्वरूप कहते हैं—जो स्वभावसे ही कोमल परिणामोंसे युक्त हो, कषाय-रहित हो, इन्द्रिय-विजेता हो, ममत्व-रहित हो, अहंकार-रहित हो, परीषहोंको पराजित करनेवाला हो, हेय और उपादेयतत्त्वका ज्ञाता हो, लोकाचारसे पराङ्मुख हो, काम-भोगोंसे विरक्त हो, भव-भ्रमणसे भयभीत हो, लाभ-अलाभमें, सुख-दुःखमें, शत्रु-मित्रमें, प्रिय-अप्रियमें, मान-अपमानमें और जीवन-मरणमें समभावका धारक हो, आलस्य-रहित हो, उद्वेग-रहित हो, निद्रा-विजयी हो, आसन-विजेता अर्थात् दृढ़ासन हो, अहिंसादि सर्व व्रतोंका अभ्यासी हो, सन्तोष-युक्त हो, परिग्रह-रहित हो, सम्यग्दर्शनसे अलंकृत हो, शान्त हो, सुन्दर और असुन्दर वस्तुमें निरुत्सुक हो, भय-रहित हो, देव गुरु शास्त्रकी भक्ति करनेवाला हो, श्रद्धागुणसे युक्त हो, कर्म-शत्रुओंके जीतनेमें शूर-वीर हो, वैराग्य-युक्त हो, मूर्खता-रहित हो अर्थात् ज्ञानवान् हो, निदान-रहित हो, परकी अपेक्षासे रहित हो, अर्थात् स्वावलम्बी हो, शरीररूप पिंजरेके भेदनेका इच्छुक हो और जो अविनाशी शिवपदको जानेका अभिलाषी हो, ऐसा ध्याता भव्य पुरुष प्रशंसनीय होता है ॥२४-२९॥

अब ध्येयका स्वरूप कहते हैं—ध्यानके आलम्बनको ध्येय कहते हैं। वह ज्ञानियोंने पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ और रूपातीतके भेदसे चार प्रकारका कहा है ॥३०॥

अब पहले पदस्थध्यानका स्वरूप कहते हैं—पदस्थ ध्यानको ध्यानेकी इच्छा करनेवाले मनीषी पुरुषको पंच नमस्कार पद आदि जितने भी परमेष्ठी-वाचक मन्त्र पद हैं, उन्हें निश्चयसे चिन्तवन करना चाहिए ॥३१॥

अब उन्हीं मन्त्रपदोंका स्पष्टीकरण करते हैं—अग्निकी शिखावाचक रेफ या रकार वर्ण जिसके ऊपर है, ऐसा जो सबका अन्तिमवर्ण ह कार है और चन्द्र जिसके शेखरस्वरूप है, तथा आदिका लघु अक्षर अकार जिसके आदिमें है, ऐसा 'अर्हं' पद जान

---

१. मु० 'वैरंगिको' पाठः ।

स्थितोऽसि आ उ सा मन्त्रश्चतुष्पत्रे कुशेशये । ध्यायमानः प्रयत्नेन कर्मोन्मूलयतेऽखिलम् ॥३३
तन्नाभौ हृदये वक्त्रे ललाटे मस्तके स्थितम् । गुरुप्रसादतो बुद्ध्वा चिन्तनीयं कुशेशयम् ॥३४
अयुय[1]वित्यमी वर्णाः स्थिताः पद्मे चतुर्दले । विश्राणयन्ति पञ्चापि सम्यग्ज्ञानानि चिन्तिताः ॥३५
स्थितपञ्चनमस्काररत्नत्रयपदैर्दलैः । अष्टभिः कलिते पद्मे स्वरकेसरराजिते ॥३६
स्थितोऽर्हंसित्ययं मन्त्रो ध्यायमानो विधानतः । ददाति चिन्तितां लक्ष्मीं कल्पवृक्ष इवोर्जिताम् ॥३७

करके ध्यान करने पर ध्याताके पापको विनष्ट करता है ॥३२॥ तथा चार पत्रवाले कमलमें और मध्यकर्णिकापर क्रमशः 'अ सि आ उ सा' अक्षररूप मन्त्र का प्रयत्नपूर्वक ध्यान किया जाय तो वह ध्याताके सर्व कर्मोंका उन्मूलन करता है ॥३३॥ उसकी रचना इस प्रकार है—

इसी चार पत्रवाले कमलको नाभिमें, हृदयमें, मुखमें, ललाट-पर और मस्तकपर गुरुप्रसादसे जानकर चिन्तवन करना चाहिए ॥३४॥ 'अ इ उ ए' ये चार वर्ण चार पत्रवाले कमलपर स्थापितकर यदि चिन्तवन किये जावें तो वे पाँचों ही ज्ञानोंको प्रदान करते हैं, ॥३५॥ यथा—

आठ पत्रवाले कमलपर पंचनमस्कारमन्त्रके पाँच पद और रत्नत्रयके तीन पद स्थापित करके तथा मध्यकर्णिकाकी केसर पर १६ स्वरोंको स्थापित करके और मध्यमें 'अर्हं' स्थापित कर यदि यह मन्त्र विधिपूर्वक ध्यान किया जाता है तो कल्पवृक्षके समान श्रेष्ठ लक्ष्मीको प्रदान करता है ॥३६-३७॥ इस मन्त्रकी रचना इस प्रकार है—

1. अ इ उ य उ ।

हसतींकारस्तोमः सोऽहं मध्यस्थितो विगतमूर्द्धा । पार्श्वप्रणवचतुष्को ध्येयो द्विप्रान्तकृतमायः ॥३८
सहस्रा द्वादश प्रोक्ता जपहोमविचक्षणैः । ॐ जोग्गेत्यादिमन्त्रस्य तद्भागो दशमः पुनः ॥३९

मन्त्रः—ॐ जोग्गे मग्गे तच्चे भूदे भव्वे भविस्से अक्खे पक्खे जिणपारस्से स्वाहा । अयं मन्त्रः, जाप्यं द्वादशसहस्रं १२००० । होमः द्वादशशतम् १२०० ।

चक्रस्योपरिजाप्येन जातिपुष्पैर्मनोरमैः । विद्या सूचयते सम्यक् स्वप्ने सर्वं शुभाशुभम् ॥४०

पार्श्वभागमें चार प्रणव (ॐ) और प्रान्त भागमें दो माया (ह्रीं) वर्णों को रखकर मध्यमें सः हः स्थापित कर प्रमाद रहित हो कर उक्त मंत्र का ध्यान करना चाहिए ॥३८॥ विशेषार्थ—भाषावचनिकाकार स्व० पं० भागचन्द्रजीने श्लोक ३२ से ४८ तक का अर्थ नहीं लिखा है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि इनका अर्थ हमकौं यथार्थ सर्व प्रतिभास्या नाहीं, तातैं नहीं लिख्या है।' श्री दिगम्बराचार्य शुभचन्द्रकृत ज्ञानार्णवमें तथा श्वेताम्बराचार्य हेमचन्द्रकृत योगशास्त्रमें इस श्लोकके अर्थपरक बहुत कुछ समतावाले श्लोक मिलते हैं, जो कि नीचे टिप्पणीमें दिये गये हैं, इन दोनोंमें परस्पर बहुत कुछ समानता होने पर भी मध्यवर्ती ह्लीं पद योगशास्त्रमें अधिक मिलता है। मराठी अनुवाद वाले प्रस्तुत ग्रन्थमें भी इस श्लोक का अर्थ नहीं लिखा है। केवल इतना लिखा है कि इस प्रकारसे इस मन्त्र का ध्यान करे।

योगशास्त्रके गुजराती अनुवादमें लिखा है कि ह्रीं ओं ओं सः ह्मलीं हं ओं ओं ह्रीं' इस प्रमाण चिन्तवन करे। मुद्रित एवं वि० सं० १८७८ के हस्तलिखित ऐ० प० दि० जैन सरस्वती भवन के ज्ञानार्णवमें ह्रीं ॐ ॐ सः ह्रीं हं सः' ऐसे मंत्र को लिखा है। परन्तु 'प्रणव युगलस्य युग्मं' पद का अर्थ चार ओंकार होता है, अतः तदनुसार 'ह्रीं ॐ ॐ सः हं ॐ ॐ ह्रीं' ऐसा मन्त्र होना चाहिए। प्रस्तुत श्लोकके प्रथम चरण 'हसतींकारस्तोमः' का स्पष्ट भाव मुझे भी समझनेमें नहीं आया है। फिर भी यह पद मराठी अनुवाद सहित मुद्रित चित्र गत 'क्ष्मीं' या योगशास्त्रके श्लोकके चतुर्थ चरणगत 'ह्मलीं' पद विशेष का द्योतक प्रतीत होता है। मन्त्र शासनके वेत्ताजनोंसे इसका ठीक भाव समझ कर ही इसमें कहे गये मंत्रका जाप करना चाहिए।

जप और होम करनेमें विचक्षण पुरुषोंने 'ॐ जोग्गे' इत्यादि मंत्रका जाप १२ हजार करने को कहा है, तथा उसका दशम भाग होम करना कहा है। पूर्ण मंत्र इसप्रकार है—'ॐ जोग्गे मग्गे

---

१. प्रणवयुगलस्य युग्मं पार्श्वे मायायुगं विचिन्तयति ।
मूर्द्धस्थं हंसपदं कृत्वा व्यस्तं वितन्तद्रात्मा ॥
(ज्ञानार्णव, प्रक० २८, श्लो० ८९)

द्विपार्श्वप्रणवद्वन्द्वं प्रान्तयोर्मायया वृतम् ।
सोऽहं मध्येऽधिमूर्द्धानं ह्मलीकारं विचिन्तयेत् ॥
(योगशास्त्र, प्रकाश ८, श्लो० ६३)

ॐ ह्रीँकारद्वयान्तस्थो हंकारो रेफभूषितः। ध्यातव्योऽष्टदले पद्मे कल्मषक्षपणक्षमः ॥४१
सप्ताक्षरं महामन्त्रं ॐ ह्रीँकारपदानतम्। विदिग्दलगतं तत्र स्वाहान्तं विनिवेशयेत् ॥४२
दिशिस्वाहान्तमों ह्रीँ हूँ[1] नमो ह्रौँ[2] ह्रः पदोत्तमम्।
तत्र स्वाहान्तमों ह्रीँ हूँ कर्णिकायां विनिक्षिपेत् ॥४३
तत्पद्मं त्रिगुणीभूतं मायाबीजेन वेष्टयेत्। विचिन्तयेच्छुचीभूतः स्वेष्टकृत्यप्रसिद्धये ॥४४
पद्मस्योपरि यत्नेन हेयादेयोपलब्धये। मन्त्रेणानेन कर्तव्यो जपः पूर्वविधानतः ॥४५
ॐ ह्रीँ णमो अरहंताणं नमः।[3] इति मूलमन्त्रः। जाप्य १०००० । होमः १०००।

तच्चे भूदे भव्वे भविस्से अक्खे पक्खे जिणपारस्से स्वाहा'। इस मंत्रका १२००० प्रमाण जाप करे और १२०० प्रमाण आहुति देवे ॥३९॥ नाभि, हृदय और मस्तक पर कमल चक्र से ऊपर मनोहर मालती के पुष्पों द्वारा उपर्युक्त मंत्रका जाप करने से उक्त विद्या स्वप्नमें सर्व शुभ और अशुभ फल को उत्तम प्रकार से सूचित करती है ॥४०॥

आठ पत्रवाले कमलमें ॐ ह्रीँ इन दोनोंके अन्तमें स्थित रेफ-युक्त अहं पद अर्थात् 'अर्हँ' इस मन्त्रका ध्यान करना चाहिए। ॐ ह्रीं अर्हँ यह मन्त्र सर्व पापों के क्षय करनेमें समर्थ है भावार्थ—कमलके प्रत्येक पत्र पर तथा कर्णिकाके मध्यमें 'ॐ ह्रीँ अर्हँ' इस मन्त्रका ध्यान करे ॥४१॥

आठ दलवाले कमलके विदिशावाले पत्रों पर 'ॐ ह्रीँ' पदसे युक्त तथा अन्तमें 'स्वाहा' पद-सहित 'णमो अरहंताणं' इस सात अक्षर वाले मंत्र को स्थापित करे। पुनः दिशावाले पत्रों पर आदिमें 'ॐ' पद तथा अन्तमें 'स्वाहा' पदके साथ क्रमशः 'ह्रीँ हूँ ह्रौँ ह्रः' इन पदों से युक्त 'णमो अरहंताणं, इस मन्त्र को स्थापित करे। कर्णिका में 'ॐ ह्रीँ अर्हँ स्वाहा' यह मंत्र लिखे। इस कमलको 'ह्रीँ' इस मायाबीज से तीन वार वेष्टित करे। इस प्रकारके यन्त्र को कमल के ऊपर लिखकर पवित्र होकर अपने इष्ट कार्य की सिद्धि के लिए, तथा हेय उपादेय की प्राप्तिके लिए 'ॐ' ह्रीं णमो अरहंताणं ह्रं नमः इस मंत्रका पूर्वोक्त विधिसे जप करना चाहिए ॥४२-४५॥

उक्त कमलकी रचना इस प्रकार है—
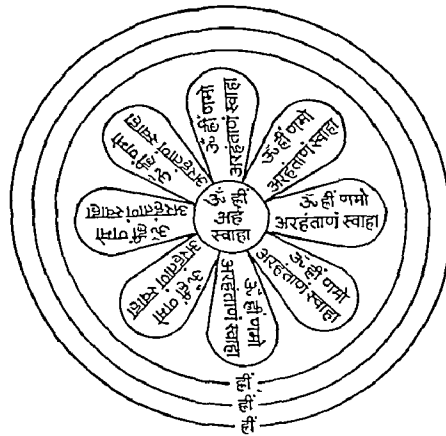
'ॐ ह्रीँ णमो अरहंताणं नमः' यह मूल मंत्र है। इसका जाप १० हजार करे और एक हजार होम करे।

---

१. मु० हं। २. ह्रीं। ३. मु० ॐ ह्रीं हं नमो हं णमो अरहंताणं ह्रीं नमः।

सव्येनाप्रतिचक्रेण फडिति प्रत्येकमक्षरम् । कोणषट्के विचक्राय स्वाहा बाह्येऽपसव्यतः ॥४६
निवेश्य विधिना दक्षो मध्ये तस्य निवेशयेत् । भूतान्तं बिन्दुसंयुक्तं चिन्तयेच्च विशुद्धधीः ॥४७
विधाय वलयं बाह्ये तस्य मध्ये विधानतः । णमो जिणाणमित्याद्यैः पूरयेत् प्रणवादिकैः ॥४८

ॐ णमो जिणाणं १ । ॐ णमो परमोहिजिणाणं २ । ॐ णमो सव्वोहिजिणाणं ३ । ॐ णमो अणंतोहिजिणाणं ४ । ॐ णमो कोट्ठबुद्धीणं ५ । ॐ णमो बीजबुद्धीणं ६ । ॐ णमो पदाणुसारीणं ७ । ॐ णमो संभिण्णसोदराणं ८ । ॐ णमो उज्जुमदीणं ९ । ॐ णमो विउलमदीणं १० । ॐ णमो दसपुव्वीणं ११ । ॐ णमो चोद्दसपुव्वीणं १२ । ॐ णमो अट्ठंगणिमित्तकुसलाणं १३ । ॐ णमो विगुव्वणइड्ढिपत्ताणं १४ । ॐ णमो विज्जाहराणं १५ । ॐ णमो चारणाणं १६ । ॐ णमो पण्णसमणाणं १७ । ॐ णमो आगासगामीणं १८ । ॐ णमो

छह कोणवाला चक्र बनाकर भीतरी छह कोण में बांई ओर से 'अप्रतिचक्रे फट्' इन अक्षरों को लिखे, तथा बाहिरी छह कोणों के मध्य में 'विचक्राय स्वाहा' इन अक्षरोंको दक्ष पुरुष विधिसे स्थापित करे। पुनः वह विशुद्ध बुद्धि ध्याता पुरुष मध्यवर्ती स्थान में रेफ बिन्दु संयुक्त अन्तिम अक्षर 'ह' का अर्थात् 'हँ' पदका चिन्तवन करे। पुनः इसके बाहिरी भागमें वलयाकार बनाकर और विधि पूर्वक उसके विभाग कर 'णमो जिणाणं' इत्यादि पदोंको प्रणवादि पदों के साथ अर्थात् 'ॐ ह्रीँ अर्हं, के साथ लिखे। अन्तमें 'ओँ ज्रौं झ्रौं श्री ह्री धृति कीर्ति वुद्धि लक्ष्मी स्वाहा' इन पदों के द्वारा उक्त वलयको पूरित करे। इस यंत्र की आराधना करनेके पूर्व पांचों अंगुलियों पर पंचनमस्कार मंत्रको स्थापित करते हुए सकलीकरण करे। यथा—'ॐ णमो अरहंताणं ह्राँ स्वाहा, यह मंत्र बोलकर अंगूठे की शुद्धि करे, 'ॐ णमो सिद्धाणं ह्रीं स्वाहा' यह बोलकर तर्जनीकी शुद्धि करे, ॐ णमो आयरियाणं ह्रूँ स्वाहा' यह बोलकर मध्यमाकी शुद्धि करे, ॐ णमो उवज्झायाणं ह्रौं स्वाहा' यह बोलकर अनामिकाकी शुद्धि करे और 'ॐ णमो लोए सव्वसाहूणं ह्रः स्वाहा' यह मंत्र बोलकर कनिष्ठा अंगुलीकी शुद्धि करे। इस प्रकार तीन वार अंगुलियों पर मंत्र-विन्यास करके पुनः मस्तकके ऊपर तथा, पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर वाले शरीर-भाग पर मंत्र-विन्यास करके जप प्रारम्भ करे ॥४६-४८॥

उपर्युक्त यन्त्रकी रचना इस प्रकार है—

गण धर वलय यंत्र
ह्रीं
क्रौं
अर्हते
नमः
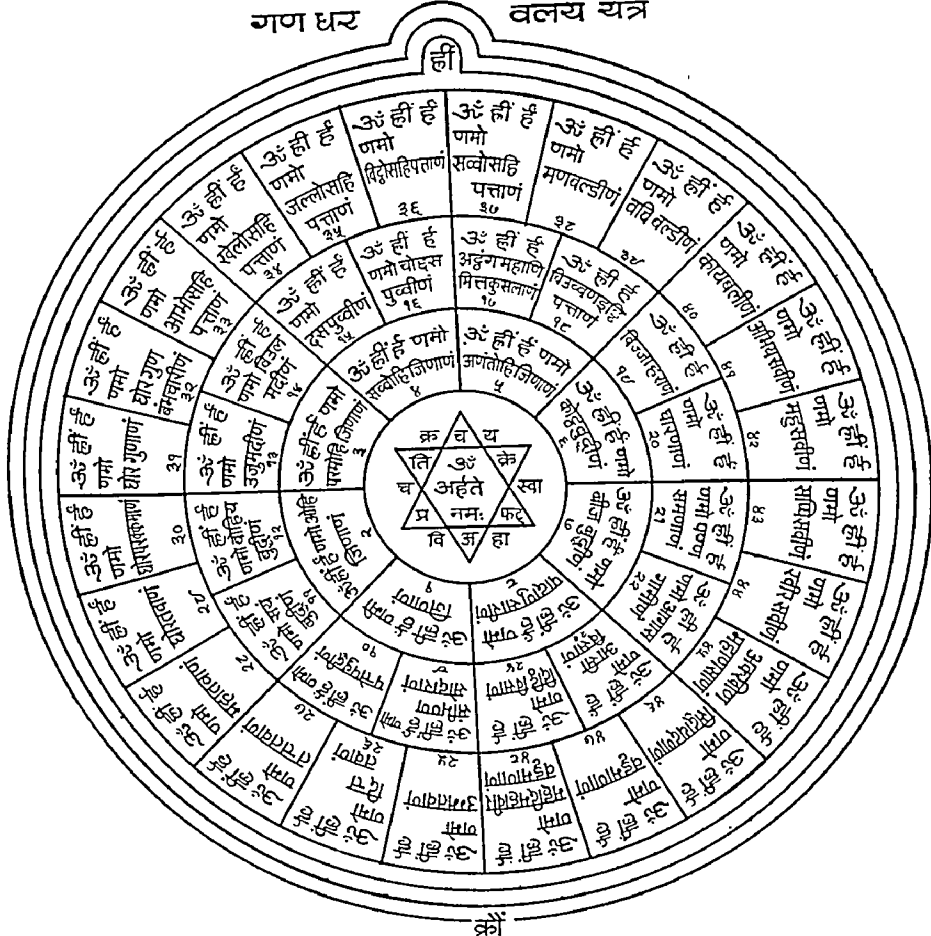
ॐ ज्रौं झ्रौं श्री ह्री धृति कीर्ति बुद्धि लक्ष्मी स्वाहा, इति पदैर्वलयं पूरयेत् । एवं पञ्च-नमस्कारेण पञ्चाङ्गुलिन्यस्तेन सकलीक्रियते । ॐ णमो अरहंताणं ह्रां स्वाहा अङ्गुष्ठे । ॐ णमो सिद्धाणं ह्रीं स्वाहा तर्जन्याम् । ॐ णमो आयरियाणं ह्रूं स्वाहा मध्यमायाम् । ॐ णमो उवज्झायाणं ह्रौं स्वाहा अनामिकायाम् । ॐ णमो लोए सव्वसाहूणं ह्रः स्वाहा कनिष्ठिकायाम् । एवं वारत्रय-मङ्गुलीषु विन्यस्य मस्तकस्योपरि पूर्वदक्षिणापरोत्तरेषु विन्यस्य जपं कुर्यात् ।

अभिधेया नमस्कारपदैर्ये परमेष्ठिनः । पदस्थास्ते विधीयन्ते शब्देऽर्थस्य व्यवस्थितेः ॥४९
अनन्तदर्शनज्ञानसुखवीर्यैरलङ्कृतम् । प्रातिहार्याष्टकोपेतं नरामरनमस्कृतम् ॥५०
शुद्धस्फटिकसंकाशशरीरमुरुतेजसम् । घातिकर्मक्षयोत्पन्ननवकेवललब्धिकम् ॥५१
विचित्रातिशयाधारं लब्धकल्याणपञ्चकम् । स्थिरधीः साधुरर्हन्तं ध्यायत्येकाग्रमानसः ॥५२
पिण्डस्थो ध्यायते यत्र जिनेन्द्रो हतकल्मषः । तत्पिण्डपञ्चकध्वंसि पिण्डस्थं ध्यानमिष्यते ॥५३
प्रतिमायां समारोप्य स्वरूपं परमेष्ठिनः । ध्यायतः शुद्धचित्तस्य रूपस्थं ध्यानमिष्यते ॥५४
सिद्धरूपं विमोक्षाय निरस्ताशेषकल्मषम् । जिनरूपमिव ध्येयं स्फटिकप्रतिविम्बितम् ॥५५
अरूपं ध्यायति ध्यानं परं संवेदनात्मकम् । सिद्धरूपस्य लाभाय नीरूपस्य निरेनसः ॥५६
वहिरन्तः परश्चेति त्रेधाऽऽत्मा परिकीर्तितः । प्रथमं द्वितयं हित्वा परात्मानं विचिन्तयेत् ॥५७
वहिरात्माऽऽत्मविभ्रान्तिः शरीरे मुग्धचेतसः । या चेतस्यात्मविभ्रान्तिः सोऽन्तरात्माऽभिधीयते ॥५८
श्यामो गौरः कृशः स्थूलः काणः कुण्ठोऽवलो वली । वनिता पुरुषः पण्ढो विरूपो रूपवानहम् ॥५९

नमस्कार वाले पदोंके द्वारा जो परमेष्ठी कहे जाते हैं, वे पदस्थ कहलाते हैं, क्योंकि शब्दमें अर्थ की व्यवस्था मानी गई हैं ॥४९॥ इस प्रकार पदस्थ ध्यानका वर्णन किया। अव पिण्डस्थ ध्यानका वर्णन करते हैं—एकाग्र चित्तवाला स्थिरवुद्धि साधु अनन्त दर्शन ज्ञान सुख वीर्यसे अलं-कृत, आठ प्रातिहार्यो से संयुक्त, मनुष्य और देवोंसे पूजित, शुद्ध स्फटिक मणिके सदृश निर्मल-शरीर और महान् तेजके धारक, घातिया कर्मोंके क्षय से उत्पन्न हुई नौ केवललब्धिके स्वामी, नाना प्रकारके अतिशयोंके आधार और पांच कल्याणकोंको प्राप्त होने वाले ऐसे अरहन्त परमेष्ठी को पिण्डस्थ ध्यानमें ध्याता है ॥५०-५२॥ जिस परमौदारिक शरीररूप पिण्ड में स्थित पापोंके विनाशक जिनेन्द्रदेव ध्याये जाते हैं, वह औदारिकादि पांच शरीर रूप पिण्डका नाशक पिण्डस्थ ध्यान कहा जाता हैं ॥५३॥ अव रूपस्थ ध्यानका स्वरूप कहते हैं—परमेष्ठीके स्वरूपको प्रतिमामें आरोपण करके ध्यान करनेवाले शुद्धचित्त पुरुषके ध्यानको रूपस्थ ध्यान कहते हैं ॥५४॥ अव अरूपस्थ या रूपातीत ध्यानका स्वरूप कहते हैं—समस्त कर्मोसे रहित सिद्धभगवान्‌के स्वरूपका स्फटिक में प्रतिविम्वित जिनराजके रूपके समान रूप रस गन्ध स्पर्श से रहित, केवलज्ञानात्मक ध्यान करना अरूपस्थ ध्यान है। यह रूपातीत और सर्व कर्मरहित निर्मल सिद्ध स्वरूपकी प्राप्तिके लिए ध्याया जाता है ॥५५-५६॥ अव आत्माके तीन भेदों का वर्णन करते हैं—वहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा—इस प्रकार आत्मा तीन प्रकार का कहा गया है। इनमेंसे प्रथम और द्वितीय भेदको छोड़कर परमात्माका चिन्तवन करना चाहिए। जिस मूढ़ वुद्धि पुरुषको शरीरमें आत्माकी भ्रान्ति है, वह वहिरात्मा है। चित्तमें जिसे आत्माकी भ्रान्ति है, वह अन्तरात्मा कहा जाता है ॥५७-५८॥

भावार्थ—अन्य आचार्यो ने केवल वहिरात्मा को त्याज्य कहा है और यहां पर अन्तरा-

जातदेहात्मविभ्रान्तेरेषा भवति कल्पना । विवेकं पश्यतः पुंसो न पुनर्देहदेहिनोः ॥६०
शत्रुमित्रपितृभ्रातृमातृकान्तासुतादयः । देहसम्बन्धतः सन्ति न जीवस्य निसर्गजाः ॥६१
श्वाभ्रस्तिर्यङ् नरो देवो भवामीति विकल्पना । श्वाभ्रतिर्यङ्नृदेवाङ्ग¹सङ्गतो न स्वभावतः ॥६२
बालकोऽहं कुमारोऽहं तरुणोऽहमहं जरी । एता देहपरीणामजनिताः सन्ति कल्पनाः ॥६३
विदग्धः पण्डितो मूर्खो दरिद्रः साधनोऽधनः । कोपनोऽसूयको मूढो द्विष्टस्तुष्टोऽशठः शठः ॥६४
सज्जनो दुर्जनो दीनो लुब्धो मत्तोऽपमानितः । जातचित्तात्मसम्भ्रान्ते¹रेषा भवति शेमुषी ॥६५
देहे यात्ममतिर्जन्तोः सा वर्द्धयति संसृतिम् । आत्मन्यात्ममतिर्या सा सद्यो नयति निर्वृतिम् ॥६६
यो जागर्त्याऽऽत्मनः कार्ये कायकार्यं स मुञ्चति । यः स्वपित्यात्मनः कार्ये कायकार्यं करोति सः ॥६७
ममेदमहमस्यास्मि स्वामी देहादिवस्तुनः । यावदेषा मतिर्बाह्ये तावद्ध्यानं कुतस्तनम् ॥६८

त्माको त्याज्य कहा है, सो यह विरोध कैसा ? ऐसी शंका नहीं करना चाहिए। कारण कि यहां पर चेतनके विकार रूप मन, राग-द्वेषादिकको आत्मस्वरूप माननेवालेके लिए अन्तरात्मा कहा गया है, सो वह त्यागने योग्य ही है। जहां पर 'सम्यग्दृष्टिको अन्तरात्मा कहा गया है, वह उपादेय ही है, ऐसा विवक्षाभेद जानना। अब वहिरात्माका स्वरूप कहते हैं—जो अपने को मैं काला हूं, मैं गोरा हूँ, मैं पतला हूं, मैं मोटा हूं, मैं काणा हूं, मैं विकलांग हूं, मैं निर्वल हूं, मैं सवल हूं, मैं स्त्री हूं, मैं पुरुप हूं, मैं नपुंसक हूं, मैं कुरूप हूं, मैं रूपवान हूं, इस प्रकार शरीरमें आत्माकी भ्रान्तिवाले जिस पुरुषकी कल्पना होती है और जिसे देह और देही (जीव) का भेद दिखाई नहीं देता, उसे वहिरात्मा कहते हैं। किन्तु जिसे देह और देहीका भेद दिखाई देता है, ऐसे सम्यग्दृष्टि पुरुषके उक्त प्रकारकी कल्पना नहीं होती है ॥ ५९-६० ॥ यह शत्रु है, यह मित्र है, यह पिता है, यह भाई है, यह माता है, यह स्त्री है और ये पुत्रादिक हैं, ऐसी कल्पनाएं देहके सम्वन्धसे जीवकी होती हैं, किन्तु ये शत्रु-मित्रादिकके सम्वन्ध स्वभाव-जनित नहीं हैं ॥ ६१ ॥ मैं नारकी हूं, मैं तिर्यंच हूं, मैं मनुष्य हूं और मैं देव हूं, यह कल्पना नारकी, तिर्यंच, मनुष्य और देवगतिके शरीरके संगसे होती है, स्वभावसे नहीं है ॥ ६२ ॥ मैं वालक हूं, मैं कुमार हूं, मैं जवान हूं, मैं बूढ़ा हूं, ये सव कल्पनाएं देहके परिवर्तन से उत्पन्न होती हैं, ॥ ६३ ॥ मैं चतुर हूं, विद्वान् हूं, मूर्ख हूं, दरिद्र हूं, धनिक हूं, निर्धन हूं, क्रोधी हूं, ईर्ष्यालु हूं, मूढ हूं, द्वेषी हूं, सन्तुष्ट हूं, ज्ञानी हूं, अज्ञानी हूं, सज्जन हूं, दुर्जन हूं, दीन हूं, लोभी हूं, उन्मत्त हूं, अपमानित हूं, ऐसी वुद्धिरूप कल्पना चित्तमें आत्माकी भ्रान्तिवाले पुरुषके होती है ॥ ६४-६५ ॥

जीवकी शरीरमें जो आत्मबुद्धि होती है, वह संसारको वढ़ाती है। किन्तु आत्मामें जो आत्मवुद्धि होती है, वह शीघ्र ही मुक्तिको ले जाती है ॥ ६६ ॥ जो पुरुप आत्माके कार्यमें जागता है, वह शरीरके कार्यको छोड़ता है। किन्तु जो आत्माके कार्यमें सोता है, वह शरीरके कार्यको करता है ॥ ६७ ॥ जव तक 'यह मेरा है' और 'मैं इसका स्वामी हूं' ऐसी वुद्धि वाहिरी देहादि वस्तुमें लगी रहेगी, तव तक ध्यान कहांसे हो सकता है ? अर्थात् देहादिक परपदार्थमें आत्मवुद्धि वनी रहने तक तो आर्त्त-रौद्र ध्यान ही होंगे 'शुद्ध ध्यान कहांसे संभव है ॥ ६८ ॥ 'मैं किसीका नहीं हूं, और न कोई वाहरी पदार्थ मेरा है,' ऐसी वुद्धि जव साधकके प्रकट होती है,

---

१. 'मु'०—'

नाहं कस्यापि मे कश्चिन्न भावोऽस्ति वहिस्तनः । यदैषा शेमुषी साधोः शुद्धध्यानं तदा मतम् ।।६९
रागद्वेषमदक्रोधलोभमन्मथमत्सराः । न यस्य मानसे सन्ति तस्य ध्यानेऽस्ति योग्यता ।।७०
रागद्वेषादिभिः क्षिप्तं मनः स्थैर्यं प्रचाल्यते । कांचनस्येव काठिन्यं दीप्यमानैर्हुताशनैः ।।७१
विद्यमाने कषायेऽस्ति मनसि स्थिरता कथम् । कल्पांतपवनैः स्थैर्यं तृणं कुत्र प्रपद्यते ।।७२
अक्षय्यकेवलालोकविलोकितचराचरम् । अनन्तवीर्यशर्माणममूर्त्तमनुपद्रवम् ।।७३
निरस्तकर्मसंबंधं सूक्ष्मं नित्यं निरास्रवम् । ध्यायतः परमात्मानमात्मनः कर्मनिर्जरा ।।७४
आत्मानमात्मना ध्यायन्नात्मा भवति निर्वृतः । घर्षयन्नात्मनाऽऽत्मानं पावकीभवति द्रुमः ।।७५
न यो विविक्तमात्मानं देहादिभ्यो विलोकते । स मज्जति भवांभोधौ लिंगस्थोऽपि दुरुत्तरे ।।७६
सविज्ञानमविज्ञानं विनश्वरमनश्वरम् । सदानात्मीयमात्मीयं सुखदं दुःखकारणम् ।।७७
अनेकमेकमंगादि मन्यमानो निरस्तधीः । जन्ममृत्युजरावर्त्ते बंभ्रमीति भवोदधौ ।।७८
आत्मनो देहतोऽन्यत्वं चिन्तनीयं मनीषिणा । शरीरभारमोक्षाय सायकस्येव कोशतः ।।७९
या देहात्मैकताबुद्धिः सा मज्जयति संसृतौ । सा प्रापयति निर्वाणं या देहात्मविभेदधीः ।।८०
यः शरीरात्मनोरैक्यं सर्वथा प्रतिपद्यते । पृथक्त्वशेमुषी तस्य गूथमाणिक्ययोः कथम् ।।८१

तभी उसके शुद्धध्यान माना गया है ।। ६९ ।। राग द्वेष मद क्रोध लोभ काम-विकार और मत्सर भाव जिस पुरुषके मनमें नहीं होते हैं, उसके ध्यान की योग्यता होती है ।। ७० ।। राग-द्वेषादिकसे विक्षिप्त हुए मनकी स्थिरता चलायमान हो जाती है। जैसे कि देदीप्यमान अग्निसे सोनेकी कठिनता भी पिघल जाती है ।। ७१ ।। मनमें कषायके विद्यमान रहने पर स्थिरता कैसे संभव है? प्रलयकालके पवन द्वारा उड़ाये गये तृण स्थिरताको कहां पा सकते हैं ।। ७२ ।। जिन्होंने अक्षय केवलज्ञानके द्वारा सर्व चर-अचर जगत्को देख लिया है, जो अनन्त वल और सुखके धारक हैं, अमूर्त्त हैं, उपद्रव-रहित हैं, जिन्होंने सर्व कर्मोंके सम्वन्धको दूर कर दिया है, सूक्ष्म स्वरूपी हैं, नित्य हैं और कर्मोके आस्रवसे सर्वथा रहित हैं, ऐसे सिद्ध परमात्माका ध्यान करनेवाले जीवके कर्मोंकी निर्जरा होती है ।। ७३-७४ ।। आत्माके द्वारा आत्माको ध्याता हुआ यह आत्मा निर्वृत्त होता हुआ स्वयं सिद्धपरमात्मा वन जाता है। जैसे कि अपने आपसे घर्षणको प्राप्त हुआ वृक्ष अग्नि वन जाता है ।। ७५ ।। जो पुरुष देहादिकसे अपने आपको भिन्न नहीं देखता है, वह मुनि-लिंगमें स्थित हो करके भी इस दुस्तर संसार-समुद्रमें डूवता है ।। ७६ ।। जो अज्ञानी जीव अचेतनको चेतन मानता है, विनश्वरको अविनश्वर मानता है, परायेको अपना मानता है, दुःखके कारणको सुखदायी मानता है और शरीर-रागादि अनेक विभिन्न पदार्थोंको एक मानता है, वह जन्म-जरा-मरणरूप भंवर वाले संसार-समुद्रमें चिरकाल तक परिभ्रमण करता है ।। ७७-७८ ।। इसलिए शरीरके भारसे मुक्ति पानेके लिए ज्ञानी जनोंको तरकस से वाणके समान देहसे आत्माकी भिन्नता-का चिन्तवन करना चाहिए ।।७९।। देहमें जो आत्माके एकत्वकी वुद्धि है, वह संसार में डुवाती है और देहसे आत्माके भिन्नत्वकी जो वुद्धि है,वह निर्वाणको प्राप्त कराती है ।। ८० ।।

जो जीव शरीर और आत्मामें सर्वथा एकपना मानते हैं, उनके विष्टा और माणिकमें भिन्नपनेकी वुद्धि कैसे हो सकती है? भावार्थ—आत्मा तो माणिक रत्नके समान पवित्र है और शरीर विष्टाके समान अपवित्र है। जो विष्टामें पड़े रत्नके समान शरीरमें अवरुद्ध चेतन आत्मा-रामको एक माने, उन मिथ्या दृष्टि जीवोंका कल्याण कहाँ संभव है ।। ८१ ।। जैसे नेत्रका विषय

देहचेतनयोर्भेदो भिन्नज्ञानोपलब्धितः । सर्वदा विदुषा ज्ञेयश्चक्षुःघ्राणार्थयोरिव ॥८२
न यस्य हानितो हानिर्न वृद्धिर्वृद्धितो भवेत् । जीवस्य सह देहेन तेनैकत्वं कुतस्तनम् ॥८३
तत्त्वतः सह देहेन यस्य नानात्वमात्मनः । किं देहयोगजैस्तस्य सहैकत्वं सुतादिभिः ॥८४
ममत्वधिषणा येषां पुत्रमित्रादिगोचरा । साऽऽत्मरूपपरिच्छेदच्छेदिनी मोहकल्पिता ॥ ८५
पत्तनं काननं सौधमेषाऽनात्मधियां मतिः । निवासो दृष्टतत्त्वानामात्मैवास्त्यक्षयोऽमलः ॥८६

शुद्धस्य जीवस्य निरस्तमूर्तेः सर्वे विकाराः परकर्मजन्याः ।
मेघादिजन्या इव तिग्मरश्मेर्विनश्वराः संति विभास्वरस्य ॥८७
दृष्टात्मतत्त्वो द्रविणादिलक्ष्मीं न मन्यते कर्मभवां स्वकीयाम् ।
विपक्षलक्ष्मीं भुवने विवेकी प्रपद्यते चेतसि कः स्वकीयाम् ॥८८
ज्ञानदर्शनमयं निरामयं मृत्युसंभवविकारवर्जितम् ।
आमनन्ति सुधियोऽत्र चेतनं सूक्ष्ममव्ययमपास्तकल्मषम् ॥८९
विग्रहं कृमिनिकायसंकुलं दुःखदं हृदि विचिंतयंति ये ।
गुप्तिबद्धमिव ते सचेतनं मोचयन्ति तनुयन्त्रमन्त्रितम् ॥९०
स्थित्वा प्रदेशे विगतोपसर्गे पर्यंकबंधस्थितपाणिपद्मः ।
नासाग्रसंस्थापितदृष्टिपातो मन्दीकृतोच्छ्वासविवृद्धवेगः॥९१

रूप और घ्राणका विषय गन्ध ये दोनों भिन्न-भिन्न हैं, इसी प्रकार भिन्न-भिन्न ज्ञानकी उपलब्धि होनेसे शरीर और चेतन आत्माका भेद भी विद्वान्‌को सदा ही जानना चाहिए ॥ ८२ ॥ जिस शरीरकी हानिसे जीवकी कोई हानि नहीं होती और जिस शरीरकी वृद्धिसे जीवकी कोई वृद्धि नहीं होती है, उस जीवका देहके साथ एकपना कैसे हो सकता है ॥ ८३ ॥ तात्त्विकरूपसे जिस आत्माका देहके साथ भिन्नपना है, उसका देहके संयोगसे उत्पन्न हुए पुत्रादिके साथ एकपना कैसे हो सकता है ॥ ८४ ॥ जिन जीवोंके पुत्र-मित्रादि-विषयक ममत्व बुद्धि लग रही है, वह मोहकर्म-कल्पित है और आत्माके ज्ञानस्वरूपको छेदने वाली है ॥ ८५ ॥ मेरा निवास नगर है, वन है और भवन है, ऐसी बुद्धि आत्म-ज्ञानसे रहित मिथ्यादृष्टि जीवोंके होती है। किन्तु जिन्होंने वस्तु-स्वरूपको जाना है, ऐसे आत्मदर्शी ज्ञानियोंका निवास तो अक्षय निर्मल आत्मा ही है ॥ ८६ ॥ अमूर्त शुद्ध जीवके राग-द्वेषादि सभी विकार भाव कर्मोदय-जनित हैं। जैसे कि प्रकाशमान सूर्यके मेघादि-जनित विनश्वर विभाव देखे जाते हैं ॥ ८७ ॥ जिस पुरुषने आत्मतत्त्वको जाना है, वह कर्म-जनित धनादिसम्पदाको अपनी नहीं मानता है। लोकमें ऐसा कौन विवेकी पुरुष है जो अपने शत्रुकी लक्ष्मीको मनमें अपनी समझता हो ॥ ८८ ॥ ज्ञानीजन तो जन्म मरण आदि विकारोंसे रहित, निरामय, सूक्ष्म, अव्यय और कर्ममल रहित ज्ञान-दर्शनमयी शुद्ध चेतनको ही अपना मानते हैं ॥ ८९ ॥ जो ज्ञानी पुरुष अपने मनमें शरीरको कृमिजालसे भरा हुआ और दुखोंका देनेवाला चिन्तवन करते हैं, वे शरीररूप यन्त्रसे बंधे हुए सचेतन आत्मारामको गुप्त बन्धनसे बंधे हुए किसी पुरुषके समान छुड़ाते हैं ॥ ९० ॥

मनीषी पुरुष उपसर्ग-रहित किसी एकान्त प्रदेशमें जा कर, पद्मासनसे बैठकर, हस्त कमल-को उस पर रख कर, अपनी दृष्टिको नासाके अग्रभाग पर स्थापित कर, श्वासोच्छ्वासके बढ़े हुए वेगको मन्द कर, चंचल स्वभाववाले मनको वशमें कर, इन्द्रियोंकी विषय-प्रवृत्तिको जीतकर और

विधाय वश्यं चपलस्वभावं मनो मनीषी विजिताक्षवृत्तिः।
विमुक्तये ध्यायति ध्वस्तदोषं विविक्तमात्मानमनन्यचित्तः ॥९२

अभ्यस्यतो ध्यानमनन्यवृत्तेरित्थं विधानेन निरन्तरायम्।
व्यपैति पापं भवकोटिवद्धं महाशमस्येव कषायजालम् ॥९३

ध्यानं पटिष्ठेन विधीयमानं कर्माणि भस्मीकुरुते विशुद्धम्।
किं प्रेर्यमाणः पवनेन नाग्निश्चितानि सद्यो दहतींधनानि ॥९४

त्यागेन हीनस्य कुतोऽस्ति कीर्त्तिः सत्येन हीनस्य कुतोऽस्ति पूजा।
न्यायेन हीनस्य कुतोऽस्ति लक्ष्मी ध्यानेन हीनस्य कुतोऽस्ति सिद्धिः ॥९५

तपांसि रौद्राण्यनिशं विधत्तां शास्त्राण्यधीतामखिलानि नित्यम्।
धत्तां चरित्राणि निरस्ततन्द्रो न सिध्यति ध्यानमृते तथापि ॥९६

ध्यानं यदह्नाय ददाति सिद्धिं न तस्य खेदः परशर्मदाने।
क्षयानलं हन्ति यदभ्रवृन्दं न तस्य खेदः परवह्निघाते ॥९७

तपोऽन्तरानन्तरभेदभिन्ने तपोविधाने द्विविधे कदाचित्।
समस्तकर्मक्षपणे समर्थं ध्यानेन शुद्धेन समं न दृष्टम् ॥९८

ध्यानस्य दृष्ट्वेति फलं विशालं मुमुक्षुणाऽऽलस्यमपास्य कार्यम्।
कार्ये प्रमाद्यंति न शक्तिमन्तो विलोकमानाः फलभूरिलाभम् ॥९९

तपोविधानैर्बहुजन्मलक्षैर्यो दह्यते संचितकर्मराशिः।
क्षणेन स ध्यानहुताशनेन प्रवर्त्तमानेन विनिर्मलेन ॥१००

एकाग्रचित्त होकर सर्व दोष-रहित अपनी एक मात्र निर्मल आत्माका ध्यान करता है ॥९१-९२॥ इस प्रकार पूर्वोक्त विधान से निरन्तराय ध्यानका अभ्यास करनेवाले एकाग्रचित्त पुरुषके कोटि भवोंके बँधे पाप नष्ट हो जाते हैं जैसे कि महान् प्रशमभावके धारकके कषायोंका समूह नष्ट हो जाता है ॥९३॥ चतुर ज्ञानी पुरुषके द्वारा किया गया निर्मल ध्यान कर्मोको भस्म कर देता है। पवनके द्वारा प्रेरणाको प्राप्त अग्नि संचित ईंधनको क्या शीघ्र नहीं जला देती है ॥९४॥ दानसे हीन पुरुषकी कीर्ति कैसे संभव है? सत्यसे रहित मनुष्यकी पूजा कैसे हो सकती है? न्यायसे रहित पुरुषको लक्ष्मी कैसे प्राप्त हो सकती है और ध्यानसे रहित पुरुषको सिद्धि (मुक्ति) कैसे मिल सकती है? अर्थात् नहीं मिल सकती है ॥९५॥ भले ही कोई पुरुष निरन्तर भयंकर तपोंको करे, भले ही कोई सदा समस्त शास्त्रोंको पढ़े और भले ही कोई मनुष्य आलस्य-रहित होकर चारित्र धारण करे, तथापि ध्यानके विना वह सिद्धि को नहीं पाता है। अर्थात् सभी धर्म-कार्योमें ध्यान प्रदान है ॥९६॥ जो ध्यान शीघ्र सिद्धिको प्रदान करता है, अर्थात् परम अतीन्द्रिय शिव—सुखको देता है, उसको इन्द्रियज सांसारिक सुखके देनेमें क्या खेद हो सकता है? जो मेघ-समूह प्रलयाग्निका नाश करता है, उसे अन्य अग्निके बुझानेमें कोई खेद नहीं होता है ॥९७॥ अन्तरंग और वाह्य तपके भेदसे भिन्न दो प्रकारके तपोविधानमें समस्त कर्मोके क्षय करनेमें समर्थ शुद्ध ध्यानके समान अन्य तप नहीं देखा गया है ॥९८॥ इस प्रकार ध्यानके विशाल फलको देखकर मुमुक्षु पुरुषको आलस्य छोड़कर ध्यान करना चाहिए। क्योंकि शक्तिशाली पुरुष भारी फलका लाभ देखते हुए अपने अभीष्ट कार्यमें प्रमाद नहीं करते हैं ॥९९॥ अनेकों लाखों जन्मोंमें किये गये नाना प्रकारके

देहचेतनयोर्भेदो भिन्नज्ञानोपलब्धितः । सर्वदा विदुषा ज्ञेयश्चक्षुःघ्राणार्थयोरिव ॥८२
न यस्य हानितो हानिर्न वृद्धिर्वृद्धितो भवेत् । जीवस्य सह देहेन तेनैकत्वं कुतस्तनम् ॥८३
तत्त्वतः सह देहेन यस्य नानात्वमात्मनः । किं देहयोगजैस्तस्य सहैकत्वं सुतादिभिः ॥८४
ममत्वधिषणा येषां पुत्रमित्रादिगोचरा । साऽऽत्मरूपपरिच्छेदच्छेदिनी मोहकल्पिता ॥ ८५
पत्तनं काननं सौधमेषाऽनात्मधियां मतिः । निवासो दृष्टतत्त्वानामात्मैवास्त्यक्षयोऽमलः ॥८६

शुद्धस्य जीवस्य निरस्तमूर्त्तेः सर्वे विकाराः परकर्मजन्याः ।
मेघादिजन्या इव तिग्मरश्मेर्विनश्वराः संति विभास्वरस्य ॥८७
दृष्टात्मतत्त्वो द्रविणादिलक्ष्मीं न मन्यते कर्मभवां स्वकीयाम् ।
विपक्षलक्ष्मीं भुवने विवेकी प्रपद्यते चेतसि कः स्वकीयाम् ॥८८
ज्ञानदर्शनमयं निरामयं मृत्युसंभवविकारवर्जितम् ।
आमनन्ति सुधियोऽत्र चेतनं सूक्ष्ममव्ययमपास्तकल्मषम् ॥८९
विग्रहं कृमिनिकायसंकुलं दुःखदं हृदि विचिंतयंति ये ।
गुप्तिवद्धमिव ते सचेतनं मोचयन्ति तनुयन्त्रमन्त्रितम् ॥९०
स्थित्वा प्रदेशे विगतोपसर्गे पर्यकवंधस्थितपाणिपद्मः ।
नासाग्रसंस्थापितदृष्टिपातो मन्दीकृतोच्छ्वासविवृद्धवेगः॥९१

रूप और घ्राणका विषय गन्ध ये दोनों भिन्न-भिन्न हैं, इसी प्रकार भिन्न-भिन्न ज्ञानकी उपलब्धि होनेसे शरीर और चेतन आत्माका भेद भी विद्वान्‌को सदा ही जानना चाहिए ॥ ८२ ॥ जिस शरीरकी हानिसे जीवकी कोई हानि नहीं होती और जिस शरीरकी वृद्धिसे जीवकी कोई वृद्धि नहीं होती है, उस जीवका देहके साथ एकपना कैसे हो सकता है ॥ ८३ ॥ तात्त्विकरूपसे जिस आत्माका देहके साथ भिन्नपना है, उसका देहके संयोगसे उत्पन्न हुए पुत्रादिके साथ एकपना कैसे हो सकता है ॥ ८४ ॥ जिन जीवोंके पुत्र-मित्रादि-विषयक ममत्व बुद्धि लग रही है, वह मोहकर्म-कल्पित है और आत्माके ज्ञानस्वरूपको छेदने वाली है ॥ ८५ ॥ मेरा निवास नगर है, वन है और भवन है, ऐसी बुद्धि आत्म-ज्ञानसे रहित मिथ्यादृष्टि जीवोंके होती है। किन्तु जिन्होंने वस्तु-स्वरूपको जाना है, ऐसे आत्मदर्शी ज्ञानियोंका निवास तो अक्षय निर्मल आत्मा ही है ॥ ८६ ॥ अमूर्त्त शुद्ध जीवके राग-द्वेषादि सभी विकार भाव कर्मोदय-जनित हैं। जैसे कि प्रकाशमान सूर्यके मेघादि-जनित विनश्वर विभाव देखे जाते हैं ॥ ८७ ॥ जिस पुरुषने आत्मतत्त्वको जाना है, वह कर्म-जनित धनादिसम्पदाको अपनी नहीं मानता है। लोकमें ऐसा कौन विवेकी पुरुष है जो अपने शत्रुकी लक्ष्मीको मनमें अपनी समझता हो ॥ ८८ ॥ ज्ञानीजन तो जन्म मरण आदि विकारोंसे रहित, निरामय, सूक्ष्म, अव्यय और कर्ममल रहित ज्ञान-दर्शनमयी शुद्ध चेतनको ही अपना मानते हैं ॥ ८९ ॥ जो ज्ञानी पुरुष अपने मनमें शरीरको कृमिजालसे भरा हुआ और दुखोंका देनेवाला चिन्तवन करते हैं, वे शरीररूप यन्त्रसे वंधे हुए सचेतन आत्मारामको गुप्त वन्धनसे वंधे हुए किसी पुरुषके समान छुड़ाते हैं ॥ ९० ॥

मनीषी पुरुष उपसर्ग-रहित किसी एकान्त प्रदेशमें जा कर, पद्मासनसे वैठकर, हस्त कमल-को उस पर रख कर, अपनी दृष्टिको नासाके अग्रभाग पर स्थापित कर, श्वासोच्छ्वासके बढ़े हुए वेगको मन्द कर, चंचल स्वभाववाले मनको वशमें कर, इन्द्रियोंकी विषय-प्रवृत्तिको जीतकर और

विधाय वश्यं चपलस्वभावं मनो मनीषी विजिताक्षवृत्तिः।
विमुक्तये ध्यायति ध्वस्तदोषं विविक्तमात्मानमनन्यचित्तः ॥९२
अभ्यस्यतो ध्यानमनन्यवृत्तेरित्थं विधानेन निरन्तरायम्।
व्यपैति पापं भवकोटिबद्धं महाशमस्येव कषायजालम् ॥९३
ध्यानं पटिष्ठेन विधीयमानं कर्माणि भस्मीकुरुते विशुद्धम्।
किं प्रेर्यमाणः पवनेन नाग्निश्चितानि सद्योऽदहतींधनानि ॥९४
त्यागेन हीनस्य कुतोऽस्ति कीर्त्तिः सत्येन हीनस्य कुतोऽस्ति पूजा।
न्यायेन हीनस्य कुतोऽस्ति लक्ष्मी ध्यानेन हीनस्य कुतोऽस्ति सिद्धिः ॥९५
तपांसि रौद्राण्यनिशं विधत्तां शास्त्राण्यधीतामखिलानि नित्यम्।
धत्तां चरित्राणि निरस्ततन्द्रो न सिध्यति ध्यानमृते तथापि ॥९६
ध्यानं यदह्लाय ददाति सिद्धिं न तस्य खेदः परशर्मदाने।
क्षयानलं हन्ति यदभ्रवृन्दं न तस्य खेदः परवह्निघाते ॥९७
तपोऽन्तरानन्तरभेदभिन्ने तपोविधाने द्विविधे कदाचित्।
समस्तकर्मक्षपणे समर्थं ध्यानेन शुद्धेन समं न दृष्टम् ॥९८
ध्यानस्य दृष्ट्वेति फलं विशालं मुमुक्षुणाऽऽलस्यमपास्य कार्यम्।
कार्ये प्रमाद्यंति न शक्तिमन्तो विलोकमानाः फलभूरिलाभम् ॥९९
तपोविधानैर्बहुजन्मलक्षैर्यो दह्यते संचितकर्मराशिः।
क्षणेन स ध्यानहुताशनेन प्रवर्त्तमानेन विनिर्मलेन ॥१००

एकाग्रचित्त होकर सर्व दोष-रहित अपनी एक मात्र निर्मल आत्माका ध्यान करता है ॥९१-९२॥ इस प्रकार पूर्वोक्त विधान से निरन्तराय ध्यानका अभ्यास करनेवाले एकाग्रचित्त पुरुषके कोटि भवोंके बँधे पाप नष्ट हो जाते हैं जैसे कि महान् प्रशमभावके धारकके कषायोंका समूह नष्ट हो जाता है ॥९३॥ चतुर ज्ञानी पुरुषके द्वारा किया गया निर्मल ध्यान कर्मोंको भस्म कर देता है। पवनके द्वारा प्रेरणाको प्राप्त अग्नि संचित ईंधनको क्या शीघ्र नहीं जला देती है ॥९४॥ दानसे हीन पुरुषकी कीर्ति कैसे संभव है? सत्यसे रहित मनुष्यकी पूजा कैसे हो सकती है? न्यायसे रहित पुरुषको लक्ष्मी कैसे प्राप्त हो सकती है और ध्यानसे रहित पुरुषको सिद्धि (मुक्ति) कैसे मिल सकती है? अर्थात् नहीं मिल सकती है ॥९५॥ भले ही कोई पुरुष निरन्तर भयंकर तपोंको करे, भले ही कोई सदा समस्त शास्त्रोंको पढ़े और भले ही कोई मनुष्य आलस्य-रहित होकर चारित्र धारण करे, तथापि ध्यानके विना वह सिद्धि को नहीं पाता है। अर्थात् सभी धर्म-कार्योंमें ध्यान प्रदान है ॥९६॥ जो ध्यान शीघ्र सिद्धिको प्रदान करता है, अर्थात् परम अतीन्द्रिय शिव—सुखको देता है, उसको इन्द्रियज सांसारिक सुखके देनेमें क्या खेद हो सकता है? जो मेघ-समूह प्रलयाग्निका नाश करता है, उसे अन्य अग्निके बुझानेमें कोई खेद नहीं होता है ॥९७॥ अन्तरंग और बाह्य तपके भेदसे भिन्न दो प्रकारके तपोविधानमें समस्त कर्मोंके क्षय करनेमें समर्थ शुद्ध ध्यानके समान अन्य तप नहीं देखा गया है ॥९८॥ इस प्रकार ध्यानके विशाल फलको देखकर मुमुक्षु पुरुषको आलस्य छोड़कर ध्यान करना चाहिए। क्योंकि शक्तिशाली पुरुष भारी फलका लाभ देखते हुए अपने अभीष्ट कार्यमें प्रमाद नहीं करते हैं ॥९९॥ अनेकों लाखों जन्मोंमें किये गये नाना प्रकारके

निर्वाणहेतौ[1] भवपातभीतैर्ध्याने प्रयत्नः परमो विधेयः ।
यियासुभिर्मुक्तिपुरीमबाधामुपायहीना न हि साध्यसिद्धिः ॥१०१
देहात्मनोरात्मवता वियोगो मनः स्थिरीकृत्य तथा विचिन्त्यः ।
हेतुर्भवानर्थपरम्परायाः स्वप्नेऽपि योगो न यथाऽस्ति भूयः ॥१०२
निरस्तसर्वेन्द्रियकार्यजातो यो देहकार्यं न करोति किंचित् ।
स्वात्मीयकार्योद्यतचित्तवृत्तिः स ध्यानकार्यं विदधाति धन्यः ॥१०३
यद्धिण्डमानं जगदन्तराले धर्त्तुं न शक्यं मनुजामरेन्द्रैः ।
तन्मानसं यो विदधाति वश्यं ध्यानं स धीरो विदधात्यवश्यम् ॥१०४
बाणैः समं पंचभिरुग्रवेगैर्विद्धस्त्रिलोकस्थितजीववर्गः ।
न मन्मथस्तिष्ठति यस्य चित्ते विनिश्चलस्तिष्ठति तस्य योगः ॥१०५
न रोषो न तोषो न मोषो न दोषो न कामो न कम्पो न दामो न लोभः ।
न मानो न माया न खेदो न मोहो यदीयेऽस्ति चित्ते तदीयेऽस्ति योगः ॥१०६
प्रवर्द्धमानोद्धतसेवनायां जीवस्य गुप्ताविव मन्यते यः ।
शरीरकुट्यां वसतिं महात्मा हानाय तस्या यतते स शीघ्रम् ॥१०७

उपवासादि तपोंके द्वारा जितनी संचित कर्मराशि जलाई जाती है, उतनी कर्मराशि अति निर्मलता पूर्वक किये गये ध्यानरूप हुताशनके द्वारा क्षणभरमें जला दी जाती है ॥१००॥ इसलिए जो संसारमें पड़नेसे भयभीत पुरुष हैं, और बाधारहित मुक्तिपुरीको जानेके इच्छुक हैं, उन्हें निर्वाणके कारण-भूत ध्यानमें परम प्रयत्न करना चाहिए। क्योंकि उपायके विना अभीष्ट साध्यकी सिद्धि नहीं होती है ॥१०१॥ आत्मज्ञानी पुरुषको मन स्थिर करके देह और आत्माकी विभिन्नता का इस प्रकारसे चिन्तवन करना चाहिए, कि संसारके अनर्थोकी परम्पराका कारणभूत इस देहका संयोग आगे फिर स्वप्नमें भी कभी नहीं होवे ॥१०२॥ जो पुरुष सर्व इन्द्रियोंके विषयभूत कार्यसमूहको दूर करके देहके कुछ भी कार्यको नहीं करता है और अपने आत्मीय कार्यके करनेमें उद्यत चित्तवृत्ति होकर ध्यानके कार्यको करता है, वह पुरुष धन्य है ॥१०३॥

जगत्के अन्तरालमें डोलता हुआ जो मन नरेन्द्र, देवेन्द्र और अहमिन्द्रोंके द्वारा भी वशमें करनेके लिए शक्य नहीं है, उस मनको जो अपने वशमें कर लेता है, वह धीर-वीर पुरुष अवश्य ध्यानको करने में समर्थ होता है ॥१०४॥ अपने उग्र पंच बाणोंसे जिस कामदेवने त्रिलोकमें स्थित समस्त प्राणिवर्गको विद्ध कर रक्खा है, वह कामदेव जिसके मनमें नहीं रहता है, उसका ध्यानरूप योग निश्चल रह सकता है ॥१०५॥ जिसके चित्तमें न द्वेष है, न राग है, न चोरीका भाव है, न अन्याय आदि कोई दोष है, न कामभाव है, न कम्पन है, न दम्भ है, न लोभ है, न मान है, न माया है, न खेद है और न मोह है ; उसी पुरुषके चित्तमें ध्यान हो सकता है ॥१०६॥ जो महान् आत्मा दुःख रूप उद्धत परिणतिसे प्रवर्धमान इस शरीररूपी कुटीमें अवस्थित जीवको कारागारमें निबद्ध पुरुषके समान मानता है, वही पुरुष उस शरीररूप कुटीके विनाशके लिए शीघ्र प्रयत्न करता है ॥१०७॥ जो पुरुष समाधिके विध्वंस करनेमें अतिकुशल ऐसे लोक-व्यवहाररूप जालको कभी भी नहीं करता है, और जिसकी चित्तवृत्ति सर्व सांसारिक कार्योंसे निस्पृह है उसी पुरुषके

१. मु०-हेतोर्भव-।

समाधिविध्वंसविधौ पटिष्ठं न जातु लोकव्यवहारपाशम् ।
करोति यो निस्पृहचित्तवृत्तिः प्रवर्तते ध्यानममुष्य शुद्धम् ॥१०८
विधीयते ध्यानमवेक्षमाणैर्यद्बुद्धबोधैरिह लोककार्यम् ।
रौद्रं तदार्त्तं च वदन्ति सन्तः कर्मद्रुमच्छेदनबद्धकांक्षाः ॥१०९
सांसारिकं सौख्यमवाप्तुकामैर्ध्यानं विधेयं न विमोक्षकारि ।
न कर्षणं सस्यविधायि लोके पलाललाभाय करोति कोऽपि ॥११०
अभ्यस्यमानं बहुधा स्थिरत्वं यथैति दुर्बोधमपीह शास्त्रम् ।
नूनं तथा ध्यानमपीति मत्वा ध्यानं सदाऽभ्यस्यतु मोक्तुकामः ॥१११
अवाप्य मानुष्यमिदं सुदुर्लभं करोति यो ध्यानमनन्यमानसः ।
भनक्ति संसारदुरंतपंजरं स्फुटं स सद्यो गुरुदुःखमन्दिरम् ॥११२
यो जिनदृष्टं शमयमसहितं ध्यानमपाकृतसकलविकारः ।
ध्यायति धन्यो मुनिजनमहितं चित्तनिवेशितपरमविचारः ॥११३
नाकिनिकायस्तुतपदकमलोदीर्णदुरुत्तरभवभयदुःखाम् ।
याति स भव्योऽमितगतिरनघां मुक्तिमनश्वरनिरुपमसौख्याम् ॥११४
यदर्थमात्रापदवाक्यहीनं मया प्रमादादिह किञ्चनोक्तम् ।
तन्मे क्षमित्वा विदधातु देवी सरस्वती केवलबोधलक्ष्मीम् ॥११५

इत्यमितगति-विरचिते उपासकाचारे पञ्चदशः परिच्छेदः समाप्तः

निर्मल ध्यान होता है ॥१०८॥ जो बोध-रहित अज्ञानी पुरुष लौकिक कार्यकी इच्छा रखते हुए ध्यान करते हैं, उसे कर्मरूप वृक्षको छेदनेमें कमर बांधकर उद्यत सन्त जन रौद्र और आर्त्त ध्यान कहते हैं ॥१०९॥ मोक्षके सुखको करनेवाला ध्यान सांसारिक सुखके पानेकी इच्छासे ज्ञानियोंको नहीं करना चाहिए। क्योंकि लोकमें धान्यको उत्पन्न करनेवाला कृषिकार्य कोई भी भूसेके लाभके लिए नहीं करता है ॥११०॥ जैसे अत्यन्त कठिन भी शास्त्र निरन्तर अनेक प्रकारसे अभ्यास किये जाने पर स्थिरताको प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकारसे ध्यानको भी मानकर मुक्ति पानेके इच्छुक पुरुषको निश्चयसे ध्यानका सदा अभ्यास करना चाहिए ॥१११॥ इस अति दुर्लभ मनुष्यभवको पा करके जो पुरुष एकाग्र चित्त होकर ध्यानको करता है, वह भारी दुखोंके गृहरूप इस दुःखदायी संसार पिंजरको शीघ्र भेदता है ॥११२॥

जो पुरुष सकल विकारोंको दूर कर और चित्तमें परम शुद्ध विचारोंको अवस्थित कर जिनेन्द्रोपदिष्ट कषायोंके निरोधरूप शमभावसे और पंच पापोंके त्यागरूप संयमभावसे युक्त मुनि-जन-पूजित ध्यानको ध्याता है वह पुरुष धन्य है ॥११३॥ परम शुद्ध ध्यानको करनेवाला ऐसा भव्य पुरुष अमितज्ञानी होकर और देव-समूहसे पूजित चरण-कमलवाला बन कर दुरुतर भव-भयके दुःखोंसे रहित, निर्दोष, अविनश्वर, अनुपम सुखवाली मुक्तिको प्राप्त करता है ॥११४॥

इस ग्रन्थमें मैंने प्रमादसे यदि अर्थ, मात्रा, पद और वाक्यसे हीन कुछ भी कहा हो तो सरस्वती देवी उसके लिए मुझे क्षमा करके केवलज्ञानरूप लक्ष्मी को देवें ॥११५॥

इस प्रकार अमितगति आचार्य विरचित
उपासकाध्ययनमें पन्द्रहवाँ परिच्छेद

ग्रन्थकर्तुः प्रशस्तिः

अभूत्समो यस्य न तेजसेनः स शुद्धबोधोऽजनि देवसेनः।
मुनीश्वरो निर्जितकर्मसेनः पादारविन्दप्रणतेन्द्रसेनः ॥१
दोषान्धकारपरिमर्दनबद्धकक्षो भूतस्ततोऽमितगतिर्भुवनप्रकाशः।
तिग्मद्युतेरिव दिनः कमलाव बोधी मार्गप्रबोधनपरो बुधपूजनीयः ॥२
विद्वत्समूहार्चितचित्रशिष्यः श्रीनेमिषेणोऽजनि तस्य शिष्यः।
श्रीमाथुरानूकनभःशशाङ्कः सदा विधूताऽऽर्हततत्त्वशङ्कः ॥३
माधवसेनोऽजनि महनीयः संयतनाथो जगति जनीयः।
जीवनराशेरिव मणिराशी रम्यतमोऽस्तोऽखिलतिमिराशी ॥४
विजितनाकिनिकायमवज्ञया जयति यो मदनं पुरुविक्रमम्।
त्यजति मा किमयं परनाशधीरिति कषायगणो विगतो यतः ॥५
तस्मादजायत नयादिव साधुवादः शिष्टार्चितोऽमितगतिर्जगति प्रतीतः।
विज्ञातलौकिकहिताहितकृत्यवृत्तेराचार्यवर्यपदवीं दधतः पवित्राम् ॥६
अयं तडित्वानिव वर्षणं घनो रजोपहारी धिषणापरिष्कृतः।
उपासकाचारमिमं महामनाः परोपकाराय महन्नतोऽकृत ॥७

जिनके चरणारविन्दोंमें इन्द्रोंकी सेना नम्रीभूत है, जिन्होंने कर्मोंकी सेनाको जीता है और जो शुद्ध ज्ञानके धारक हैं, ऐसे देवसेन मुनिराज इस कालमें हुए। जिनके तेजकी समता सूर्य भी नहीं कर सकता था ॥१॥ उन देवसेनके शिष्य अमितगति हुए, जो कि सूर्यके समान दोषरूप अथवा दोषा (रात्रि) रूप अन्धकारके परिमर्दन करनेमें कमर कसे हुए थे, समस्त भुवनके प्रकाशक थे, भव्यरूप कमलों को प्रवुद्ध कर उन्हें सन्मार्गका ज्ञान करानेवाले थे और ज्ञानियोंके द्वारा पूजनीय थे ॥२॥ उनके शिष्य श्री नेमिषेण हुए जिनके अनेक शिष्य विद्वद्वृन्दसे पूजित थे, जो श्री माथुरसम्प्रदायरूप आकाशको प्रकाशित करनेवाले चन्द्रमाके समान थे और जो सदा ही जैनमत-प्रतिपादित तत्त्वों में शंकाएं उठानेवालोंका भलीभांतिसे निराकरण करते थे ॥३॥ नेमिषेणके शिष्य माधवसेन हुए, जो कि महान् पूज्य थे, साधुओंके स्वामी थे, और जगज्जनोंके परम हितैषी थे। जैसे जल-राशि (समुद्र) से अतिरमणीय मणिराशि उत्पन्न होती है और जैसे क्षीरसागरसे सर्वलोकका अन्धकारनाशक चन्द्रमा प्रकट हुआ माना जाता है, उसी प्रकार श्री नेमिषेणसे उनके शिष्य माधवसेन प्रकट हुए ॥४॥ जिसने देव-समूहके जीतनेवाले कामदेवको भी तिरस्कार करके जीत लिया है, जो महान् पराक्रमी है. पर (शत्रु) पक्षके नाश करनेमें जिसकी वुद्धि लग रही है, ऐसा माधवसेन मुझे क्यों छोड़ेगा, यह सोचकर ही मानों कषायोंका समूह उनसे दूर भाग गया। अर्थात् वे माधवसेन काम-जयी और कषायरहित थे ॥५॥ जैसे न्यायनीतिसे साधुवाद प्रकट होता है, उसी प्रकार लौकिक हित-अहितरूप कर्त्तव्योंके ज्ञाता, और पवित्र आचार्य पदवीके धारक उन माधवसेनसे शिष्टजनों के द्वारा पूजित और जगत्‌में प्रसिद्ध मैं अमितगति हुआ ॥६॥ जैसे विजली-युक्त मेघ जलकी वर्षा करके जगत्‌की रजको दूर करता है, उसी प्रकार वुद्धिसे परिष्कृत, महामना और महोदयवाले इस अमितगतिने भव्य जीवोंके उपकारके लिए इस उपासकाचार (श्रावकाचार) को वनाया ॥७॥ इस ग्रन्थमें जो सिद्धान्त-विरुद्ध कहा गया है, वह ज्ञानीजनोंको संशोधन करके

यदत्र सिद्धान्तविरोधि भाषितं विशोध्य सद्ग्राह्यमिमं मनीषिभिः।
पलालमत्यस्य न सारकांक्षिभिः किमत्र शालिः परिगृह्यते जनैः ॥८॥
यावत्तिष्ठति शासनं जिनपतेः पापापहारोद्यतं यावद् ध्वंसयते हिमेतररुचिर्विश्वं तमः शार्वरम्।
यावद् धरयते महीध्रखचितं पातत्रयी विष्टपं तावच्छास्त्रमिदं करोतु विदुषामभ्यस्यमानं मुदम्॥

ग्रहण करना चाहिए। जैसे कि धान्यरूप सारके इच्छुक पुरुष इस लोकमें भूसेको छोड़कर क्या शालिको ग्रहण नहीं करते हैं ? करते ही हैं ॥८॥

ग्रन्थकार की अन्तिम मंगल-कामना

जब तक पापोंके दूर करनेमें उद्यत यह जिनेन्द्रदेवका जैन शासन संसारमें विद्यमान रहे, जब तक उष्ण किरणवाला यह सूर्य रात्रिकालीन अन्धकारका नाश करता रहे, और जबतक तीनों वातवलय पर्वतोंसे व्याप्त इस विश्वको धारण करते रहें, तब तक पठन-पाठन रूपसे अभ्यास किया जाता हुआ यह उपासकाचार-शास्त्र विद्वानोंके आनन्दको करता रहे ॥९॥

०

सिरि वसुणंदि आइरियविरइय

वसुनन्दि-श्रावकाचार

सुरवइतिरीडमणिकिरणवारिधाराहिसित्तपयकमलं[1]। वरसयलविमलकेवलपयासियासेसतच्चत्थं ॥१
सायारो णायारो भवियाणं जेण[2] देसिओ धम्मो। णमिऊण तं जिणिंदं सावयधम्मं परूवेमो ॥२
विउलगिरि[3]पव्वए णं इंदभूइणा सेणियस्स जह सिट्ठं। तह गुरुपरिवाडीए भणिज्जमाणं णिसामेह ॥३
दंसण-वय-सामाइय-पोसह-सचित्त-राइ[4] भत्ते य। बंभारंभ-परिग्गह-अणुमण-उद्दिट्ठ-देसविरयम्मि ॥४
एयारस ठाणाइं सम्मत्तविवज्जियस्स जीवस्स। जम्हा ण संति तम्हा सम्मत्तं सुणह वोच्छामि ॥५
अत्तागमतच्चाणं जं सद्दहणं सुणिम्मलं होइ। संकाइदोसरहियं तं सम्मत्तं मुणेयव्वं ॥६
अत्ता दोसविमुक्को पुव्वापरदोसवज्जियं वयणं। तच्चाइं जीवदव्वाइ[5]याइं समयम्हि णेयाणि ॥७

छुह-तण्हा[6] भय-दोसो राओ मोहो जरा रुजा चिंता।
मिच्चू[7] खेओ सेओ अरइ मओ विम्हओ जम्मं ॥८

णिद्दा तहा विसाओ दोसा एएहिं वज्जिओ अत्ता। वयणं तस्स पमाणं [8]संतत्थपरूवयं जम्हा ॥९

देवेन्द्रोंके मुकुटोंमें लगी हुई मणियोंकी किरणरूपी जलधारासे जिनके चरण-कमल अभिषिक्त हैं, जो सर्वोत्कृष्ट निर्मल केवलज्ञानके द्वारा समस्त तत्त्वार्थको प्रकाशित करनेवाले हैं और जिन्होंने भव्य जीवोंके लिए श्रावकधर्म और मुनिधर्मका उपदेश दिया है, ऐसे श्री जिनेन्द्रदेवको नमस्कार करके हम (वसुनन्दि) श्रावकधर्मका प्ररूपण करते हैं ॥१-२॥ विपुलाचल पर्वतपर (भगवान् महावीरके समवसरणमें) इन्द्रभूति नामक गौतम गणधरने विम्बसार नामक श्रेणिक महाराजको जिस प्रकारसे श्रावकधर्मका उपदेश दिया है उसी प्रकार गुरु-परम्परासे प्राप्त वक्ष्यमाण श्रावकधर्मको, हे भव्य जीवो, तुम लोग सुनो ॥३॥ देशविरति नामक पंचम गुणस्थानमें दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषध, सचित्तत्याग, रात्रिभुक्तित्याग, ब्रह्मचर्य, आरम्भत्याग, परिग्रहत्याग, अनुमतित्याग और उद्दिष्टत्याग, ये ग्यारह स्थान (प्रतिमा, कक्षा या श्रेणी-विभाग) होते हैं ॥४॥ उपर्युक्त ग्यारह स्थान यतः (चूंकि) सम्यक्त्वसे रहित जीवके नहीं होते हैं, अतः (इसलिए) मैं सम्यक्त्वका वर्णन करता हूँ, सो हे भव्य जीवो, तुम लोग सुनो ॥५॥ आप्त (सत्यार्थ देव) आगम (शास्त्र) और तत्त्वोंका शंकादि (पच्चीस) दोष-रहित जो अतिनिर्मल श्रद्धान होता है, उसे सम्यक्त्व जानना चाहिए ॥६॥ आगे कहे जानेवाले सर्व दोषोंसे विमुक्त पुरुषको आप्त कहते हैं। पूर्वापर दोषसे रहित (आप्तके) वचनको आगम कहते हैं और जीवद्रव्य आदिक तत्त्व हैं, इन्हें समय अर्थात् परमागमसे जानना चाहिए ॥७॥ क्षुधा, तृषा, भय, द्वेष, राग, मोह, जरा, रोग, चिन्ता, मृत्यु, खेद, स्वेद (पसीना), अरति, मद, विस्मय, जन्म, निद्रा और विषाद, ये अट्ठारह दोष कहलाते हैं, जो आत्मा इन दोषोंसे रहित है, वही आप्त कहलाता है। तथा उसी आप्तके वचन प्रमाण हैं, क्योंकि वे विद्यमान अर्थके

---

१ ध. जुअलं। २ द. जिणेण। ३ झ. द. इरि। ४ द. ध. राय। ५ ध. दिवाइं। ६ ध. तम्हा। ७ द. मच्चुस्सेओखेओ। ८ ध. सुतत्थ।

जीवाजीवासव-बंध-संवरो णिज्जरा तहा मोक्खो। एयाइं सत्त तच्चाइं सद्दहंतस्स[1] सम्मत्तं ॥१०

जीवतत्त्व-वर्णन

सिद्धा संसारत्था दुविहा जीवा जिणेहिं पण्णत्ता। असरीरा णंतचउट्टय[2]ण्णिया णिव्वुदा सिद्धा ॥११
संसारत्था दुविहा थावर-तसभेयओ[3] मुणेयव्वा। पंचविह थावरा खिदिजलग्गिवाऊवणप्फइणो ॥१२
पज्जत्तापज्जत्ता वायर-सुहुमा णिगोय णिच्चियरा। पत्तेय-[4]पइट्ठियरा थावरकाया अणेयविहा ॥१३
वि-ति-चउ-पंचिंदियभेयओ तसा चउव्विहा मुणेयव्वा।
पज्जत्तियरा सण्णियरभेयओ हुंति वहुभेया ॥१४
आउ-कुल-जोणि-मग्गण-गुण-जीवुवओग[5]-पाण-सण्णाहिं। णाऊण जीवदव्वं सद्दहणं होइ कायव्वं ॥१५

अजीवतत्त्व-वर्णन

दुविहा अजीवकाया उ रूविणो[6] अरूविणो मुणेयव्वा।
खंधा देस-पएसा अविभागी रूविणो चदुधा ॥१६
सयलं मुणेहिं[7] खंधं अद्धं देसो पएसमद्धद्धं। परमाणू अविभागी पुग्गलदव्वं जिणुद्दिट्ठं ॥१७
पुढवी जलं च छाया चउरिंदियविसय-कम्म-परमाणू। अइथूलथूलथूलं सुहुमं सुहुमं च[8] अइसुहुमं[9] ॥१८

प्ररूपक हैं ॥८-९॥ जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष, ये सात तत्त्व कहलाते हैं और उनका श्रद्धान करना सम्यक्त्व कहलाता है ॥१०॥ सिद्ध और संसारी, ये दो प्रकारके जीव जिनेन्द्र भगवान्‌ने कहे हैं। जो शरीर-रहित हैं, अनन्त-चतुष्टय अर्थात् अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्यसे संयुक्त हैं तथा जन्म-मरणादिकसे निर्वृत्त हैं, उन्हें सिद्ध जीव जानना चाहिए ॥११॥ स्थावर और त्रसके भेदसे संसारी जीव दो प्रकारके जानना चाहिए। इनमें स्थावर जीव पाँच प्रकारके हैं—पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक ॥१२॥ पर्याप्त-अपर्याप्त, वादर-सूक्ष्म, नित्यनिगोद-इतरनिगोद, प्रतिष्ठितप्रत्येक और अप्रतिष्ठितप्रत्येकके भेदसे स्थावरकायिक जीव अनेक प्रकारके होते हैं ॥१३॥ द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रियके भेदसे त्रसकायिक जीव चार प्रकारके जानना चाहिए। ये ही त्रस जीव पर्याप्त-अपर्याप्त और संज्ञी-असंज्ञी आदिक प्रभेदोंसे अनेक प्रकारके होते हैं ॥१४॥ आयु, कुल, योनि, मार्गणास्थान, गुणस्थान, जीवसमास, उपयोग, प्राण और संज्ञाके द्वारा जीवद्रव्यको जानकर उसका श्रद्धान करना चाहिए ॥१५॥ (विशेष अर्थके लिए परिशिष्ट देखिये) अजीवद्रव्यको रूपी और अरूपीके भेदसे दो प्रकारका जानना चाहिए। इनमें रूपी अजीवद्रव्य स्कंध, देश, प्रदेश और अविभागीके भेदसे चार प्रकारका होता है। सकल पुद्गलद्रव्यको स्कंध, स्कंधके आधे भागको देश, आधेके आधेको अर्थात् देशके आधेको प्रदेश और अविभागी अंशको परमाणु जानना चाहिए, ऐसा जिनेन्द्र भगवान्‌ने कहा है ॥१६-१७॥ अतिस्थूल (वादर-वादर), स्थूल (वादर), स्थूल-सूक्ष्म, सूक्ष्म और सूक्ष्म-सूक्ष्म, इस प्रकार पृथिवी आदिकके छः भेद होते हैं ॥ (इन छहोंके दृष्टान्त इस प्रकार हैं—पृथिवी अतिस्थूल पुद्गल है। जल स्थूल है। छाया स्थूल-सूक्ष्म है। चार इन्द्रियोंके

---

१ ध. सद्दहणं। २ ध.-ट्ठयणिया। ३ ध. भेददो। ४ झ. ध. पयट्ठियरा। ५. द. ओय। ६ ध. रूविणोऽरूविणो। ७. द. ध. मुणेहि। ८. चकारात् 'सुहुमथूलं' ग्राह्यम्। ९ मुद्रित पुस्तकमें इस गाथाके स्थानपर निम्न दो गाथाएं पाई जाती हैं—

चउविहमरूविदव्वं धम्माधम्मंवराणि कालो य। गइ-ठाणुग्गहणलक्खणाणि तह वट्टण[1]गुणो य ॥१९
परमत्थो ववहारो दुविहो कालो जिणेहिं पण्णत्तो। लोयायासपएसट्ठियाणवो मुक्खकालस्स ॥२०
गोणसमयस्स[2] एए कारणभूया जिणेहि णिद्दिट्ठा। तीदाणागदभूओ ववहारो णंतसमओ य ॥२१
परिणामि-जीव-मुत्ताइएहिं णाऊण दव्वसब्भावं। जिणवयणमणुसरंतेहिं थिरमइ होइ कायव्वा ॥२२

परिणामि जीव मुत्तं सपएसं एयखित्त किरिया य।
णिच्चं कारणकत्ता सव्वगदमियरम्हि अपवेसो ॥२३
दुण्णि य एयं एयं पंच य तिय एय दुण्णि चउरो य।
पंच य एयं एयं मूलस्स य उत्तरे णेयं ॥२४
सुहुमा अवायविसया खणखइणो अत्थपज्जया दिट्ठा।
वंजणपज्जाया पुण थूला गिरगोयरा चिरविवत्था ॥२५

विषय अर्थात् स्पर्श, रस, गंध और शब्द सूक्ष्म-स्थूल हैं। कर्म सूक्ष्म हैं और परमाणु सूक्ष्म-सूक्ष्म है) ॥१८॥ धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल ये चार प्रकारके अरूपी अजीवद्रव्य हैं। इनमें आदिके तीन क्रमशः गतिलक्षण, स्थितिलक्षण और अवगाहनलक्षणवाले हैं तथा काल वर्तनालक्षण है ॥१९॥ जिनेन्द्र भगवान्ने कालद्रव्य दो प्रकारका कहा है—परमार्थकाल और व्यवहारकाल। मुख्यकालके अणु लोकाकाशके प्रदेशोंपर स्थित हैं। इन कालाणुओंको व्यवहारकालका कारणभूत जिनेन्द्र भगवान्ने कहा है। व्यवहारकाल अतीत और अनागत-स्वरूप अनन्त समयवाला कहा गया है ॥२०-२१॥ परिणामित्व, जीवत्व और मूर्त्तत्वके द्वारा द्रव्यके सद्भावको जानकर जिन भगवान्के वचनोंका अनुसरण करते हुए भव्य जीवोंको अपनी बुद्धि स्थिर करना चाहिए ॥२२॥ उपर्युक्त छह द्रव्योंमेंसे जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य परिणामी हैं। एक जीवद्रव्य चेतन है और सब द्रव्य अचेतन हैं। एक पुद्गल द्रव्य मूर्त्तिक है और सब द्रव्य अमूर्त्तिक हैं। जीव, पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाश ये पाँच द्रव्य प्रदेशयुक्त हैं, इसीलिए बहुप्रदेशी या अस्तिकाय कहलाते हैं। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाश, ये तीन द्रव्य एक-एक (और एक क्षेत्रावगाही) हैं। एक आकाशद्रव्य क्षेत्रवान् है, अर्थात् अन्य द्रव्योंको क्षेत्र (अवकाश) देता है। जीव और पुद्गल, ये दो द्रव्य क्रियावान् हैं। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल, ये चार द्रव्य नित्य हैं, (क्योंकि, इनमें व्यंजनपर्याय नहीं है।) पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्ति काय, आकाश और काल, ये पांच द्रव्य कारणरूप हैं। एक जीवद्रव्य कर्त्ता है। एक आकाश-द्रव्य सर्वव्यापी है। ये छहों द्रव्य एक क्षेत्रमें रहनेवाले हैं, तथापि एक द्रव्यका दूसरेमें प्रवेश नहीं है। इस प्रकार छहों मूलद्रव्योंके उपर्युक्त उत्तर गुण जानना चाहिए ॥२३-२४॥ पर्यायके दो भेद हैं—अर्थपर्याय और व्यंजनपर्याय। इनमें अर्थपर्याय सूक्ष्म हैं, अवाय (ज्ञान) विषयक है अतः

अइथूलथूलथूलं थूलं सुहुमं च सुहुमथूलं च।
सुहुमं च सुहुमसुहुमं धराइयं होइ छब्भेयं ॥१८
पुढवी जलं च छाया चउरिंदियविसय कम्मपरमाणू।
छव्विहभेयं भणियं पुग्गलदव्वं जिणिंदेहिं ॥१९

ये दोनों गाथाएं गो० जीवकांडमें क्रमशः ६०२ और ६०१ नं० पर कुछ शब्दभेदके साथ पाई जाती हैं। १ ब. ध. वत्तण०। २ व्यवहारकालस्य।

परिणामजुदो जीओ गइगमणुवलंभओ असंदेहो ।
तह पुग्गलो य पाहणपहुइ-परिणामदंसणा णाउं ॥२६॥
वंजणपरिणइविरहा धम्मादीआ हवे अपरिणामा ।
अत्यपरिणाममासिय सव्वे परिणामिणो अत्था ॥२७॥
जीवो हु जीवदव्वं एक्कं चिय चेयणाचुया सेसा ।
मुत्तं पुग्गलदव्वं रूवादिविलोयणा ण सेसाणि ॥२८॥
सपएस पंच कालं मुत्तूण पएससंचया णेया । अपएसो खलु कालो पएसबंधच्चुदो जम्हा ॥२९
धम्माधम्मागासा एगसरूवा पएसअविओगा । ववहारकाल-पुग्गल-जीवा हु अणेयरूवा ते ॥३०॥
आगासमेव खित्तं अवगाहणलक्खणं जदो भणियं । सेसाणि पुणोऽखित्तं अवगाहणलक्खणाभावा ॥३१
[1]सक्किरिय जीव-पुग्गल गमणागमणाइ-किरियउवलंभा ।
सेसाणि पुण वियाणसु किरियाहीणाणि तदभावा ॥३२
मुत्ता[2] जीवं कायं णिच्चा सेसा पयासिया समये । वंजणपरिणामचुया इयरे तं परिणयं पत्ता ॥३३

शब्दसे नहीं कही जा सकती हैं और क्षण-क्षणमें बदलती हैं। किन्तु व्यंजनपर्याय स्थूल है, शब्द-गोचर हैं अर्थात् शब्दसे कही जा सकती हैं और चिरस्थायी हैं ॥२५॥ जीव परिणामयुक्त अर्थात् परिणामी है, क्योंकि उसका स्वर्ग, नरक आदि गतियोंमें निःसन्देह गमन पाया जाता है। इसी प्रकार पाषाण, मिट्टी आदि स्थूल पर्यायोंके परिणमन देखे जानेसे पुद्गलको परिणामी जानना चाहिए ॥२६॥ धर्मादिक अर्थात् धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल, ये चार द्रव्य व्यंजनपर्यायके अभावसे अपरिणामी कहलाते हैं। किन्तु अर्थपर्यायकी अपेक्षा सभी पदार्थ परिणामी माने जाते हैं, क्योंकि अर्थपर्याय सभी द्रव्योंमें होती हैं ॥२७॥ एक जीवद्रव्य ही जीवत्व धर्मसे युक्त है, और शेष सभी द्रव्य चेतनासे रहित हैं। एक पुद्गलद्रव्य ही मूर्त्तिक है, क्योंकि, उसीमें ही रूप, रसादिक देखे जाते हैं। शेष समस्त द्रव्य अमूर्त्तिक हैं, क्योंकि, उनमें रूपादिक नहीं देखे जाते हैं ॥२८॥

कालद्रव्यको छोड़कर शेष पाँच द्रव्य सप्रदेशी जानना चाहिए; क्योंकि उनमें प्रदेशोंका संचय पाया जाता है। कालद्रव्य अप्रदेशी है, क्योंकि, वह प्रदेशोंके बंध या समूहसे रहित है, अर्थात् कालद्रव्यके कालाणु भिन्न-भिन्न ही रहते हैं ॥२९॥ धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाश, ये तीनों द्रव्य एक-स्वरूप हैं, अर्थात् अपने स्वरूप या आकारको बदलते नहीं हैं, क्योंकि इन तीनों द्रव्योंके प्रदेश परस्पर अवियुक्त हैं अर्थात् समस्त लोकाकाशमें व्याप्त हैं। व्यवहारकाल, पुद्गल और जीव, ये तीन द्रव्य अनेकस्वरूप हैं, अर्थात् वे अनेक रूप धारण करते हैं ॥३०॥ एक आकाश-द्रव्य ही क्षेत्रवान है, क्योंकि, उसका अवगाहन लक्षण कहा गया है। शेष पाँच द्रव्य क्षेत्रवान् नहीं हैं, क्योंकि उनमें अवगाहन लक्षण नहीं पाया जाता है ॥३१॥ जीव और पुद्गल ये दो क्रिया-वान् हैं, क्योंकि इनमें गमन, आगमन आदि क्रियाएँ पाई जाती हैं। शेष चार द्रव्य क्रिया-रहित हैं, क्योंकि उनमें हलन-चलन आदि क्रियाएँ नहीं पाई जाती हैं ॥३२॥ जीव और पुद्गल, इन दो द्रव्योंको छोड़कर शेष चारों द्रव्योंको परमागममें नित्य कहा गया है, क्योंकि उनमें व्यंजन-पर्याय नहीं पाई जाती हैं। जीव और पुद्गल, इन दो द्रव्यों में व्यंजन-पर्याय पाई जाती हैं, इसलिए वे

१ ध 'सक्किरिया पुणु जीवा पुग्गल गमणाइ'। २ झ. मोत्तुं, ब. मोत्तूं।

चउविहमरूविदव्वं धम्माधम्मंवराणि कालो य। गइ-ठाणुग्गहणलक्खणाणि तह वट्टण[1]गुणो य ॥१९
परमत्थो ववहारो दुविहो कालो जिणेहिं पण्णत्तो। लोयायासपएसट्ठियाणवो मुक्खकालस्स ॥२०
गोणसमयस्स[2] एए कारणभूया जिणेहि णिद्दिट्ठा। तीदाणागदभूओ ववहारो णंतसमओ य ॥२१
परिणामि-जीव-मुत्ताइएहि णाऊण दव्वसब्भावं। जिणवयणमणुसरंतेहि थिरमइ होइ कायव्वा ॥२२

परिणामि जीव मुत्तं सपएसं एयखित्त किरिया य।
णिच्चं कारणकत्ता सव्वगदमियरम्हि अपवेसो ॥२३
दुण्णि य एयं एयं पंच य तिय एय दुण्णि चउरो य।
पंच य एयं एयं मूलस्स य उत्तरे णेयं ॥२४
सुहुमा अवायविसया खणखइणो अत्थपज्जया दिट्ठा।
वंजणपज्जाया पुण थूला गिरगोयरा चिरविवत्था ॥२५

विषय अर्थात् स्पर्श, रस, गंध और शब्द सूक्ष्म-स्थूल हैं। कर्म सूक्ष्म हैं और परमाणु सूक्ष्म-सूक्ष्म है) ॥१८॥ धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल ये चार प्रकारके अरूपी अजीवद्रव्य हैं। इनमें आदिके तीन क्रमशः गतिलक्षण, स्थितिलक्षण और अवगाहनलक्षणवाले हैं तथा काल वर्तनालक्षण है ॥१९॥ जिनेन्द्र भगवान्‌ने कालद्रव्य दो प्रकारका कहा है—परमार्थकाल और व्यवहारकाल। मुख्यकालके अणु लोकाकाशके प्रदेशोंपर स्थित हैं। इन कालाणुओंको व्यवहारकालका कारणभूत जिनेन्द्र भगवान्‌ने कहा है। व्यवहारकाल अतीत और अनागत-स्वरूप अनन्त समयवाला कहा गया है ॥२०-२१॥ परिणामित्व, जीवत्व और मूर्त्तत्वके द्वारा द्रव्यके सद्भावको जानकर जिन भगवान्‌के वचनोंका अनुसरण करते हुए भव्य जीवोंको अपनी बुद्धि स्थिर करना चाहिए ॥२२॥ उपर्युक्त छह द्रव्योंमेंसे जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य परिणामी हैं। एक जीवद्रव्य चेतन है और सब द्रव्य अचेतन हैं। एक पुद्गल द्रव्य मूर्त्तिक है और सब द्रव्य अमूर्तिक हैं। जीव, पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाश ये पाँच द्रव्य प्रदेशयुक्त हैं, इसीलिए बहुप्रदेशी या अस्तिकाय कहलाते हैं। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाश, ये तीन द्रव्य एक-एक (और एक क्षेत्रावगाही) हैं। एक आकाशद्रव्य क्षेत्रवान् है, अर्थात् अन्य द्रव्योंको क्षेत्र (अवकाश) देता है। जीव और पुद्गल, ये दो द्रव्य क्रियावान् हैं। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल, ये चार द्रव्य नित्य हैं, (क्योंकि, इनमें व्यंजनपर्याय नहीं है।) पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल, ये पांच द्रव्य कारणरूप हैं। एक जीवद्रव्य कर्त्ता है। एक आकाशद्रव्य सर्वव्यापी है। ये छहों द्रव्य एक क्षेत्रमें रहनेवाले हैं, तथापि एक द्रव्यका दूसरेमें प्रवेश नहीं है। इस प्रकार छहों मूलद्रव्योंके उपर्युक्त उत्तर गुण जानना चाहिए ॥२३-२४॥ पर्यायके दो भेद हैं—अर्थपर्याय और व्यंजनपर्याय। इनमें अर्थपर्याय सूक्ष्म हैं, अवाय (ज्ञान) विषयक है अतः

अइथूलथूलथूलं थूलं सुहुमं च सुहुमथूलं च।
सुहुमं च सुहुमसुहुमं धराइयं होइ छब्भेयं ॥१८
पुढवी जलं च छाया चउरिंदियविसय कम्मपरमाणू।
छव्विहभेयं भणियं पुग्गलदव्वं जिणिंदेहिं ॥१९

ये दोनों गाथाएं गो० जीवकांडमें क्रमशः ६०२ और ६०१ नं० पर कुछ शब्दभेदके साथ पाई जाती हैं। १ ब, ध. वत्तण०। २ व्यवहारकालस्य।

परिणामजुदो जीओ गइगमणुवलंभओ असंदेहो।
तह पुग्गलो य पाहणपहुइ-परिणामदंसणा णाउं ॥२६॥
वंजणपरिणइविरहा धम्मादीआ हवे अपरिणामा।
अत्थपरिणाममासिय सव्वे परिणामिणो अत्था ॥२७॥
जीवो हु जीवदव्वं एक्कं चिय चेयणाचुया सेसा।
मुत्तं पुग्गलदव्वं रूवादिविलोयणा ण सेसाणि ॥२८॥

सपएस पंच कालं मुत्तूण पएससंचया णेया। अपएसो खलु कालो पएसबंधच्चुदो जम्हा ॥२९
धम्माधम्मागासा एगसरूवा पएसअविओगा। ववहारकाल-पुग्गल-जीवा हु अणेयरूवा ते ॥३०॥
आगासमेव खित्तं अवगाहणलक्खणं जदो भणियं। सेसाणि पुणोऽखित्तं अवगाहणलक्खणाभावा ॥३१

[1]सक्किरिय जीव-पुग्गल गमणागमणाइ-किरियउवलंभा।
सेसाणि पुण वियाणसु किरियाहीणाणि तदभावा ॥३२

मुत्ता[2] जीवं कायं णिच्चा सेसा पयासिया समये। वंजणपरिणामचुया इयरे तं परिणयं पत्ता ॥३३

शब्दसे नहीं कही जा सकती हैं और क्षण-क्षणमें बदलती हैं। किन्तु व्यंजनपर्याय स्थूल है, शब्द-गोचर हैं अर्थात् शब्दसे कही जा सकती हैं और चिरस्थायी हैं ॥२५॥ जीव परिणामयुक्त अर्थात् परिणामी है, क्योंकि उसका स्वर्ग, नरक आदि गतियोंमें निःसन्देह गमन पाया जाता है। इसी प्रकार पाषाण, मिट्टी आदि स्थूल पर्यायोंके परिणमन देखे जानेसे पुद्‌गलको परिणामी जानना चाहिए ॥२६॥ धर्मादिक अर्थात् धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल, ये चार द्रव्य व्यंजनपर्यायके अभावसे अपरिणामी कहलाते हैं। किन्तु अर्थपर्यायकी अपेक्षा सभी पदार्थ परिणामी माने जाते हैं, क्योंकि अर्थपर्याय सभी द्रव्योंमें होती हैं ॥२७॥ एक जीवद्रव्य ही जीवत्व धर्मसे युक्त है, और शेष सभी द्रव्य चेतनासे रहित हैं। एक पुद्‌गलद्रव्य ही मूर्त्तिक है, क्योंकि, उसीमें ही रूप, रसादिक देखे जाते हैं। शेष समस्त द्रव्य अमूर्त्तिक हैं, क्योंकि, उनमें रूपादिक नहीं देखे जाते हैं ॥२८॥

कालद्रव्यको छोड़कर शेष पाँच द्रव्य सप्रदेशी जानना चाहिए; क्योंकि उनमें प्रदेशोंका संचय पाया जाता है। कालद्रव्य अप्रदेशी है, क्योंकि, वह प्रदेशोंके बंध या समूहसे रहित है, अर्थात् कालद्रव्यके कालाणु भिन्न-भिन्न ही रहते हैं ॥२९॥ धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाश, ये तीनों द्रव्य एक-स्वरूप हैं, अर्थात् अपने स्वरूप या आकारको बदलते नहीं हैं, क्योंकि इन तीनों द्रव्योंके प्रदेश परस्पर अवियुक्त हैं अर्थात् समस्त लोकाकाशमें व्याप्त हैं। व्यवहारकाल, पुद्‌गल और जीव, ये तीन द्रव्य अनेकस्वरूप हैं, अर्थात् वे अनेक रूप धारण करते हैं ॥३०॥ एक आकाश-द्रव्य ही क्षेत्रवान है, क्योंकि, उसका अवगाहन लक्षण कहा गया है। शेष पाँच द्रव्य क्षेत्रवान् नहीं हैं, क्योंकि उनमें अवगाहन लक्षण नहीं पाया जाता है ॥३१॥ जीव और पुद्‌गल ये दो क्रिया-वान् हैं, क्योंकि इनमें गमन, आगमन आदि क्रियाएँ पाई जाती हैं। शेष चार द्रव्य क्रिया-रहित हैं, क्योंकि उनमें हलन-चलन आदि क्रियाएँ नहीं पाई जाती हैं ॥३२॥ जीव और पुद्‌गल, इन दो द्रव्योंको छोड़कर शेष चारों द्रव्योंको परमागममें नित्य कहा गया है, क्योंकि उनमें व्यंजन-[illegible] नहीं पाई जाती हैं। जीव और पुद्‌गल, इन दो द्रव्यों में व्यंजन-पर्याय पाई जाती हैं, इसलि[illegible]

१ घ 'सक्किरिया पुणु जीवा पुग्गल गमणाइ'। २ झ. मोत्तुं, ब. मोत्तूं।

जीवस्सुवयारकरा कारणभूया हु पंच कायाई। जीवो सत्ता[1]भूओ सो ताणं[2] ण कारणं होइ ॥३४
कत्ता सुहासुहाणं कम्माणं फल[3]भोयओ जम्हा। जीवो तप्फलभोया भोया सेसा ण कत्तारा[4] ॥३५
सव्वगदत्ता सव्वगमायासं णेव सेसगं दव्वं। अप्परिणामादीहि य बोहव्वा ते पयत्तेण ॥३६

[5]ताण पवेसो वि तहा णेओ अण्णेण्णमणुपवेसेण।
णिय-णियभावं पि सया एगीहुंता वि ण मुयंति ॥३७
अण्णोण्णं पविसंता दिंता उग्गासमण्णमण्णेसिं।
मेल्लंता[6] वि य णिच्चं सग-सगभावं ण वि चयंति[7] ॥३८

आस्रवतत्त्व-वर्णन

मिच्छत्ताविरइ-कसाय-जोयहेऊहिं[8] आसवइ कम्मं।
जीवम्हि उवहिमज्झे जह सलिलं छिद्दणावाए ॥३९ ❀
अरहंतभत्तियाइसु सुहोवओगेण आसवइ पुण्णं। विवरीएण दु[9] पावं णिद्दिट्ठं जिणवरिंदेहि ॥४०

बंधतत्त्व-वर्णन

[10]अण्णोण्णाणुपवेसो जो जीवपएसकम्मखंधाणं।
सो पयडि-ट्ठिदि-अणुभव-पएसदो चउविहो बंधो ॥४१‡

परिणामी और अनित्य हैं ॥३३॥ पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल, ये पाँचों द्रव्य जीवका उपकार करते हैं, इसलिए वे कारणभूत हैं। किन्तु जीव सत्तास्वरूप है, इसलिए वह किसी भी द्रव्यका कारण नहीं होता है ॥३४॥ जीव शुभ और अशुभ कर्मोका कर्त्ता है, क्योंकि वह कर्मोके फलको प्राप्त होता है और इसलिए वह कर्मफलका भोक्ता है। किन्तु शेष द्रव्य न कर्मोके कर्त्ता हैं और न भोक्ता ही हैं ॥३५॥ सर्वत्र व्यापक होनेसे आकाशको सर्वगत कहते हैं। शेष कोई भी द्रव्य सर्वगत नहीं है। इस प्रकार अपरिणामित्व आदि के द्वारा इन द्रव्योंको प्रयत्नके साथ जानना चाहिए ॥३६॥ यद्यपि ये छहों द्रव्य एक दूसरेमें प्रवेश करके एक ही क्षेत्रमें रहते हैं, तथापि एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यमें प्रवेश नहीं जानना चाहिए। क्योंकि, ये सब द्रव्य एक क्षेत्रावगाही हो करके भी अपने-अपने स्वभावको नहीं छोड़ते हैं ॥३७॥ कहा भी है—छहों द्रव्य परस्परमें प्रवेश करते हुए, एक दूसरेको अवकाश देते हुए और परस्पर मिलते हुए भी अपने-अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते हैं ॥३८॥ जिस प्रकार समुद्रके भीतर छेदवाली नावमें पानी आता है, उसी प्रकार जीवमें मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग इन चार कारणों के द्वारा कर्म आस्रवित होता है ॥३९॥ अरहंतभक्ति आदि पुण्यक्रियाओंमें शुभोपयोगके होनेसे पुण्यका आस्रव होता है। और विपरीत अशुभोपयोग से पापका आस्रव होता है, ऐसा श्रीजिनेन्द्रदेवने कहा है ॥४०॥ जीवके प्रदेश और कर्मके स्कन्धोंका परस्परमें मिलकर एकमेक होजाना बंध कहलाता है। वह बन्ध प्रकृति, स्थिति,

१ झ. ब. संतय०। २ ब. ताण। ३ ब. फलयभोयओ। ४ द. कत्तारो, प. कत्तार। ५ ध. 'ताणि', प. 'णाण'। ६ झ. उक्तं। ७ पंचास्ति० गा० ७। ८ झ. -हेदूहि। ९ ब. उ। १० ध. अण्णुण्णा।

❀ मिथ्यात्वादिचतुष्केन जिनपूजादिना च यत्।
कर्माशुभं शुभं जीवमास्पन्दे स्यात्स आस्रवः ॥१६ —गुण० श्राव०

‡ स्यादन्योऽन्यप्रदेशानां प्रवेशो जीवकर्मणोः।
स बन्धः प्रकृतिस्थित्यनुभावादिस्वभावकः ॥१७

संवरतत्त्व-वर्णन

सम्मत्तेहिं वएहिं य कोहाइकसायणिग्गहगुणेहि । जोगणिरोहेण तहा कम्मासवसंवरो होइ ॥४२†

निर्जरातत्त्व-वर्णन

सविवागा अविवागा दुविहा पुण णिज्जरा मुणेयव्वा ।
सव्वेसिं जीवाणं पढमा विदिया तवस्सीणं ॥४३‡
जह रुद्धम्मि पवेसे सुस्सइ सरपाणियं रविकरेहिं ।
तह आसवे णिरुद्धे तवसा कम्मं मुणेयव्वं ॥४४

मोक्षतत्त्व-वर्णन

णिस्सेसकम्ममोक्खो मोक्खो जिणसासणे समुद्दिट्ठो ।
तम्हि कए जीवोऽयं अणुहवइ अणंतयं सोक्खं ॥४५❀
णिद्देसं सामित्तं साहणमहियरण-ठिदि-विहाणाणि[1] ।
एएहि सव्वभावा जीवादीया मुणेयव्वा ॥४६
सत्त वि तच्चाणि मए भणियाणि जिणागमाणुसारेण ।
एयाणि सद्दहंतो सम्माइट्ठी मुणेयव्वो ॥४७

अनुभव (अनुभाग) और प्रदेशके भेदसे चार प्रकारका होता है ॥४१॥ सम्यग्दर्शन, व्रत और क्रोधादि कषायोंके निग्रहरूप गुणोंके द्वारा तथा योग-निरोधसे कर्मों का आस्रव रुकता है अर्थात् संवर होता है ॥४२॥ सविपाक और अविपाकके भेदसे निर्जरा दो प्रकार की जाननी चाहिए। इनमेंसे पहली सविपाक निर्जरा सब संसारी जीवोंके होती है, किन्तु दूसरी अविपाक निर्जरा तपस्वी साधुओंके होती है। जिस प्रकार नवीन जलका प्रवेश रुक जानेपर सरोवरका पुराना पानी सूर्यकी किरणोंसे सूख जाता है, उसी प्रकार आस्रवके रुक जानेपर संचित कर्म तपके द्वारा नष्ट हो जाता है, ऐसा जानना चाहिए ॥४३-४४॥ समस्त कर्मों के क्षय हो जानेको जिनशासनमें मोक्ष कहा गया है। उस मोक्षके प्राप्त करनेपर यह जीव अनन्त सुखका अनुभव करता है ॥४५॥ निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान, इन छह अनुयोगद्वारोंसे जीव आदिक सर्व पदार्थ जानना चाहिए ॥४६॥ (इनका विशेष परिशिष्टमें देखिये) ये सातों तत्त्व मैंने जिनागमके अनुसार कहे हैं। इन तत्त्वोंका श्रद्धान करनेवाला जीव सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये ॥४७॥

---

१ निर्देशः स्वरूपाभिधानम् । स्वामित्वमाधिपत्यम् । साधनमुत्पत्तिकारणम् । अधिकरणमधिष्ठानम् । स्थितिः कालपरिच्छेदः । विधानं प्रकारः ।

† सम्यक्त्वव्रतैः कोपादिनिग्रहाद्योगरोधतः ।
कर्मास्रवनिरोधो यः सत्संवरः स उच्यते ॥१८॥

‡ सविपाकाविपाकाथ निर्जरा स्याद् द्विधादिमा ।
संसारे सर्वजीवानां द्वितीया सुतपस्विनाम् ॥१९॥ —गुण० श्राव०

❀ निर्जरा-संवराभ्यां यो विश्वकर्मक्षयो भवेत् ।
स मोक्ष इह विज्ञेयो भव्यैर्ज्ञानसुखात्मकः ॥२०॥ —गुण० श्राव०

सम्यक्त्व के आठ अङ्ग

णिस्संका णिक्कंखा[1] णिव्विदिगिच्छा अमूढदिट्ठी य ।
उवगूहण ठिदियरणं वच्छल्ल पहावणा चेव ॥४८॥
संवेओ णिव्वेओ णिंदा गरहा[2] उवसमो भत्ती । [+]वच्छल्लं अणुकंपा अट्ठ गुणा हुंति सम्मत्ते ॥४९॥
पाठान्तर—पूया अदण्णजणणं[3] अरुहाईणं पयत्तेण ॥
इच्चाइगुणा वहवो सम्मत्तविसोहिकारया भणिया ।
जो उज्जमेदि एसु[4] सम्माइट्ठी जिणक्खादो ॥५०॥
संकाइदोसरहिओ णिस्संकाइगुणजुयं परमं । कम्मणिज्जरणहेऊ तं सुद्धं होइ सम्मत्तं ॥५१

‡ अङ्गोंमें प्रसिद्ध होनेवालोंके नाम

रायगिहे णिस्संको चोरो णामेण अंजणो भणिओ । चंपाए णिक्कंखा वणिगसुदा णंतमइणामा ॥५२
णिव्विदिगिच्छो राओ उद्दायणु णाम रुइवरणयरे । रेवइ महुरा णयरे अमूढदिट्ठी मुणेयव्वा ॥५३
ठिदियरणगुणपउत्तो मागहणयरम्हि वारिसेणो दु । हत्थणापुरम्हि णयरे वच्छल्लं विण्हुणा रइयं ॥५४
उवगूहणगुणजुत्तो जिणयत्तो तामलित्तणयरीए । वज्जकुमारेण कया पहावणा चेव महुराए[5] ॥५५
एरिसगुण अट्ठजुयं सम्मत्तं जो धरेइ दिढचित्तो । सो हवइ सम्मदिट्ठी सद्दहमाणो पयत्थे य ॥५६
पंचुंवरसहियाइं सत्त वि विसणाइं जो विवज्जेइ । सम्मत्तविसुद्धमई सो दंसणसावओ भणिओ ॥५७

निःशंका, निःकांक्षा, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना, ये सम्यक्त्वके आठ अंग होते हैं ॥४८॥ सम्यग्दर्शन होनेपर संवेग, निर्वेग, निन्दा, गर्हा, उपशम, भक्ति, वात्सल्य और अनुकम्पा ये आठ गुण उत्पन्न होते हैं ॥४९॥ (पाठान्तरका अर्थ—अर्हन्तादिककी पूजा और गुणस्मरणपूर्वक निर्दोष स्तुति प्रयत्न पूर्वक करना चाहिये।) उपर्युक्त आदि अनेक गुण सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि करनेवाले कहे गये हैं। जो जीव इन गुणोंकी प्राप्तिमें उद्यम करता है, उसे जिनेन्द्रदेवने सम्यग्दृष्टि कहा है ॥५०॥ जो शंकादि दोषोंसे रहित है, निःशंकादि परम गुणोंसे युक्त है और कर्म-निर्जराका कारण है, वह निर्मल सम्यग्दर्शन है ॥५१॥ राजगृह नगरमें अंजन नामक चोर निःशंकित अंगमें प्रसिद्ध कहा गया है। चम्पानगरीमें अनन्तमती नामकी वणिकपुत्री निःकांक्षित अंग में प्रसिद्ध हुई। रुचिवर नगरमें उद्दायन नामका राजा निर्विचिकित्सा अंगमें प्रसिद्ध हुआ। मथुरानगरमें रेवती रानी अमूढदृष्टि अंगमें प्रसिद्ध जानना चाहिये। मागधनगर (राजगृह) में वारिषेण नामक राजकुमार स्थितिकरण गुणको प्राप्त हुआ। हस्तिनापुर नामके नगरमें विष्णुकुमार मुनिने वात्सल्य अंग प्रकट किया है। ताम्रलिप्तनगरीमें जिनदत्त सेठ उपगूहन गुणसे युक्त प्रसिद्ध हुआ है और मथुरा नगरीमें वज्रकुमारने प्रभावना अंग प्रकट किया है ॥५२-५५॥ जो जीव दृढ़चित्त होकर जीवादिक पदार्थो का श्रद्धान करता हुआ उपर्युक्त इन आठ गुणोंसे युक्त सम्यक्त्व को धारण करता है, वह सम्यग्दृष्टि कहलाता है ॥५६॥ सम्यग्दर्शनसे विशुद्ध है बुद्धि जिसकी, ऐसा जो जीव पाँच उदुम्बरफल सहित सातों ही व्यसनोंका त्याग करता

---

१ इ. झ. 'णिस्संकियणिक्कंखिय' इति पाठः। २ झ. गरुहा। ३ झ. घ. प. प्रतिपु गाथोत्तरार्धस्यायं पाठः 'पूया अवण्णजणणं अरुहाईणं पयत्तेण'। ४ अदोषोद्भावनम्। ५ झ. 'एदे'।

‡ झ प्रतौ पाठोऽयमधिकः—'अतो गाथाषट्कं भावसंग्रहग्रन्थात्'। + भाव सं० गा० २८०-२८३।

उंबर-वड-पिप्पल-पिपरीय[1]-संधाण-तरुपसूणाइं। णिच्चं तससंसिद्धाइं[2] ताइं परिवज्जियव्वाइं ॥५८
जूयं मज्जं मंसं वेसा पारद्धि-चोर-परयारं। दुग्गइगमणस्सेदाणि हेउभूदाणि पावाणि ॥५९*

द्यूतदोष-वर्णन

जूयं खेलंतस्स हु कोहो माया य माण-लोहा[3] य। एए हवंति तिव्वा पावइ पावं तदो वहुगं ॥६०
पावेण तेण जर-मरण-वीचिपउरम्मि दुक्खसलिलम्मि। चउगइगमणावत्तम्मि हिंडइ भवसमुद्दम्मि ६१
तत्थ वि दुक्खमणंतं छेयण-भेयण विकत्तणाईणं। पावइ सरणविरहिओ[4] जूयस्स फलेण सो जीवो ६२
ण गणेइ इट्ठमित्तं ण गुरुं ण य मायरं पियरं वा। जूवंधो वुज्जाइं कुणइ अकज्जाइं वहुयाइं ॥६३
सजणे य परजणे वा देसे सव्वत्थ होइ णिल्लज्जो। माया वि ण विस्सासं वच्चइ जूयं रमंतस्स ६४
अग्गि-विस-चोर-सप्पा दुक्खं थोवं कुणंति[5] इहलोए। दुक्खं जणेइ जूयं णरस्स भयसयसहस्सेसु ॥६५
अक्खेहि णरो रहिओ ण मुणइ सेसिंदिएहिं वेएइ। जूयंधो ण य केण वि जाणइ संपुण्णकरणो वि ६६
अलियं करेइ सवहं जंपइ मोसं भणेइ अइदुट्ठं। पासम्मि वहिणि-मायं सिसुं पि हणेइ कोहंधो ॥६७
ण य भुंजइ आहारं णिद्दं ण लहेइ रत्ति-दिण्णं ति। कत्थ वि ण कुणेइ रइं अत्थइ चिंताउरो[6] णिच्चं ॥

है, वह दर्शनश्रावक कहा गया है ॥५७॥ ऊंवर, वड़, पीपल, कठूमर और पाकर फल, इन पांचों उदुम्बर फल, तथा सधानक (अचार) और वृक्षोंके फूल ये सव नित्य त्रसजीवोंसे संसिक्त अर्थात् भरे हुए रहते हैं इसलिए इन सवका त्याग करना चाहिए ॥५८॥ जूआ, शराव, मांस, वेश्या, शिकार, चोरी, परदार-सेवन, ये सातों व्यसन दुर्गति-गमनके कारणभूत पाप हैं ॥५९॥ जूआ खेलनेवाले पुरुषके क्रोध, मान, माया और लोभ ये चारों कषाय तीव्र होती हैं, जिससे जीव अधिक पापको प्राप्त होता है ॥६०॥ उस पापके कारण यह जीव जन्म, जरा, मरणरूपी तरंगोंवाले, दुःख-रूप सलिलसे भरे हुए और चतुर्गति-गमनरूप आवर्तो (भंवरों) से संयुक्त ऐसे संसार-समुद्रमें परिभ्रमण करता है ॥६१॥ उस संसारमें जूआ खेलनेके फलसे यह जीव शरण-रहित होकर छेदन, भेदन, कर्त्तन आदिके अनन्त दुःखको पाता है, ॥६२॥ जूआ खेलनेसे अन्धा हुआ मनुष्य इष्ट-मित्र को कुछ नहीं गिनता है, न गुरुको, न माताको और न पिताको ही कुछ समझता है, किन्तु स्वच्छन्द होकर पापमयी वहुतसे अकार्योको करता है ॥६३॥ जूआ खेलनेवाला पुरुष स्वजनमें, परजनमें, स्वदेशमें, परदेशमें, सभी जगह निर्लज्ज हो जाता है। जूआ खेलनेवाले का विश्वास उसकी माता तक भी नहीं करती है ॥६४॥ इस लोकमें अग्नि, विष, चोर और सर्प तो अल्प दुःख देते हैं, किन्तु जूआका खेलना मनुष्यके हजारों लाखों भवोंमें दुःखको उत्पन्न करता है ॥६५॥ आँखोंसे रहित मनुष्य यद्यपि देख नहीं सकता है. तथापि शेष इन्द्रियोंसे तो जानता है। परन्तु जूआ खेलनेमें अन्धा हुआ मनुष्य सम्पूर्ण इन्द्रियोंवाला हो करके भी किसीके द्वारा कुछ नहीं जानता है ॥६६॥ वह झूठी शपथ करता है, झूठ वोलता है, अति दुष्ट वचन कहता है और क्रोधान्ध होकर पासमें खड़ी हुई वहिन, माता और वालकको भी मारने लगता है ॥६७॥ जुआरी मनुष्य चिन्तासे न आहार करता है, न रात-दिन नींद लेता है, न कहीं पर किसी भी वस्तुसे प्रेम करता है, किन्तु

---

१ द. पंपरीय। २ प. संहिद्धाइं। ३ झ. 'लोहो' इति पाठः। ४ व. विरहियं इति पाठः। ५ ब. 'करंति' इति पाठः। ६ झ. -'वरो' इति पाठः।

* द्यूतमच्चामिषं वेश्याखेटचौर्यपराङ्गनाः।
सप्तैव तानि पापानि व्यसनानि त्यजेत्सुधीः ॥११४॥ गुण० श्राव०।

इच्चेवमाइवहवो दोसे[1] णाऊण जूयरमणम्मि । परिहरियव्वं णिच्चं दंसणगुणमुव्वहंतेण ।।६९

मद्यदोष-वर्णन

मज्जेण णरो अवसो कुणेइ कम्माणि णिंदणिज्जाइं । इहलोए परलोए अणुहवइ अणंतयं दुक्खं ।।७०
अइलंघिओ विचिट्ठो पडेइ रत्थाययंगणे[2] मत्तो । पडियस्य सारमेया वयणं विलिहंति जिब्भाए ।।७१
उच्चारं पस्सवणं तत्थेव कुणंति तो समुल्लवइ । पडिओ वि सुरा मिट्ठो पुणो वि मे देइ मूढमई ।।७२
जं किंचि तस्स दव्वं अजाणमाणस्स हिप्पइ परेहिं । लहिऊण किंचि सण्णं इदो तदो धावइ खलंतो ।।७३
जेणज्ज मज्झ दव्वं गहियं दुट्ठेण सें जमो कुद्धो । कहिं जाइ सो जिवंतो सीसं छिंदामि खग्गेण ।।७४
एवं सो गज्जंतो कुविओ गंतूण मंदिरं णिययं । घित्तूण लउडि सहसा रुट्ठो भंडाइं फोडेइ ।।७५
णिययं पि सुयं वहिणिं अणिच्छमाणं बला विधंसेइ । जंपइ अजंणिज्जं ण विजाणइ किं प मयमत्तो।। ७६
इय अवराइं बहुसो काऊण बहूणि लज्जणिज्जाणि । अणुवंधइ बहु पावं मज्जस्स वसंगदो संतो ।।७७
पावेण तेण बहुसो जाइ-जरा-मरणसावयाइण्णे । पावइ अणंतदुक्खं पडिओ संसारकंतारे ।।७८
एवं बहुप्पयारं दोसं णाऊण[3] मज्जपाणम्मि । मण-वयण-काय-कय-कारिदाणुमोएहिं वज्जिज्जो ।।७९

निरन्तर चिन्तातुर रहता है ।।६८।। जुआ खेलनेमें उक्त अनेक भयानक दोष जान करके दर्शनगुण-*को धारण करने वाले अर्थात् दर्शन प्रतिमायुक्त उत्तम पुरुषको जूआका नित्य ही त्याग करना* चाहिए ।।६९।। मद्य-पानसे मनुष्य उन्मत्त होकर अनेक निंदनीय कार्योंको करता है, और इसी-लिए इस लोक तथा परलोकमें अनन्त दुःखों को भोगता है ।।७०।। मद्यपायी उन्मत्त मनुष्य लोक-मर्यादाका उल्लंघन कर बेसुध होकर रथ्यांगण (चौराहे) में गिर पड़ता है और इस प्रकार पड़े हुए उसके (लार वहते हुए) मुखको कुत्ते जीभसे चाटने लगते हैं ।।७१।। उसी दशामें कुत्ते उसपर उच्चार (टट्टी) और प्रस्रवण (पेशाव) करते हैं। किन्तु वह मूढ़मति उसका स्वाद लेकर पड़े-पड़े ही पुनः कहता है कि सुरा (शराव) बहुत मीठी है, मुझे पीनेको और दो ।।७२।। उस बेसुध पड़े हुए मद्यपायीके पास जो कुछ द्रव्य होता है, उसे दूसरे लोग हर ले जाते हैं। पुनः कुछ संज्ञाको प्राप्तकर अर्थात् कुछ होशमें आकर गिरता-पड़ता इधर-उधर दौड़ने लगता है ।।७३।। और इस प्रकार वकता जाता है कि जिस वदमाशने आज मेरा द्रव्य चुराया है और मुझे क्रुद्ध किया है, उसने यमराजको ही क्रुद्ध किया है, अब वह जीता बचकर कहाँ जायगा, मैं तलवार से उसका शिर काटूँगा ।।७४।। इस प्रकार कुपित वह गरजता हुआ अपने घर जाकर लकड़ीको लेकर रुष्ट हो सहसा भांडों (बर्तनों) को फोड़ने लगता है ।।७५।। वह अपने ही पुत्रको, वहिनको, और अन्य भी सबको-जिनको अपनी इच्छाके अनुकूल नहीं समझता है, बलात् मारने लगता है और नहीं बोलने योग्य वचनोंको वकता है। मद्य-पानसे प्रवल उन्मत्त हुआ वह भले-बुरेको कुछ भी नहीं जानता है ।।७६।। मद्यपानके वशको प्राप्त हुआ वह इन उपर्युक्त कार्योंको, तथा और भी अनेक लज्जा-योग्य निर्लज्ज कार्योंको करके बहुत पापका बंध करता है ।।७७।। उस पापसे वह जन्म, जरा और मरणरूप श्वापदों (सिंह, व्याघ्र आदि क्रूर जानवरोंसे) आकीर्ण अर्थात् भरे हुए संसार-रूपी कान्तार (भयानक वन) में पड़कर अनन्त दुःखको पाता है ।।७८।। इस तरह मद्यपानमें अनेक प्रकारके दोषोंको जान करके मन, वचन और काय, तथा कृत, कारित और अनुमोदनासे उसका

---

१ झ. 'दोषा' इति पाठः । २ ब. रत्थाइयंगणे । प. रत्थाएयंगणे । ३ झ. नाऊण ।

मधुदोष-वर्णन

जह मज्जं तह य महू जणयदि पावं णरस्स अइबहुयं । असुइ व्व णिंदणिज्जं वज्जेयव्वं पयत्तेण ॥८०

दट्ठूण असणमज्झे पडियं जइ मच्छियं पि णिट्ठिवइ ।
कह मच्छियंडयाणं णिज्जासं[1] णिग्घिणो पिवइ ॥८१

भो भो जिब्भिंदियलुद्धयाणमच्छेरयं[2] पलोएह । किमि मच्छियणिज्जासं महुं पवित्तं भणंति जदो ॥८२
लोगे वि सुप्पसिद्धं बारह गामाइ जो डहइ अदओ । तत्तो सो अहिययरो पाविट्ठो जो महुं हणइ ८३
जो अवलेहइ[3] णिच्चं णिरयं[4] सो जाइ[5] णत्थि संदेहो । एवं णाऊण[6] फुडं वज्जेयव्वं महुं तम्हा ॥८४

मांसदोष-वर्णन

मंसं अमेज्झसरिसं किमिकुलभरियं दुगंधबीभच्छं । पाएण छिवेउं जं ण तीरए तं कहं भोत्तुं ॥८५
मंसासणेण वड्ढइ दप्पो दप्पेण मज्जमहिलसइ । जूयं पि रमइ तो तं पि वण्णिए पाउणइ दोसे ॥८६

लोइय[7] सत्थम्मि वि वण्णियं जहा गयणगामिणो विप्पा ।
भुवि मंसासणेण पडिया तम्हा ण पउंजए[8] मंसं ॥८७

वेश्यादोष-वर्णन

कारुय-किराय-चंडाल-डोंब-पारसियाणमुच्छिट्ठं । सो भक्खेइ जो वसइ एयरत्तिं पि वेस्साए[9] ॥८८

त्याग करना चाहिए ॥७९॥ मद्यपानके समान मधु-सेवन भी मनुष्यके अत्यधिक पापको उत्पन्न करता है। अशुचि (मल-मूत्र वमनादिक) के समान निंदनीय इस मधुका प्रयत्नपूर्वक त्याग करना चाहिए ॥८०॥ भोजनके मध्यमें पड़ी हुई मक्खी को भी देखकर यदि मनुष्य उसे उगल देता है अर्थात् मुँहमें रखे हुए ग्रास को थूक देता है तो आश्चर्य है कि वह मधु-मक्खियोंके अंडोंके निर्दयतापूर्वक निकाले हुए घृणित रसको अर्थात् मधुको निर्दय या निर्घृण बनकर कैसे पी जाता है ॥८१॥ भो-भो लोगो, जिह्वेन्द्रिय-लुब्धक (लोलुपी) मनुष्योंके आश्चर्य को देखो, कि लोग मक्खियोंके रसस्वरूप इस मधुको कैसे पवित्र कहते हैं ॥८२॥ लोकमें भी यह कहावत प्रसिद्ध है कि जो निर्दयी बारह गाँवोंको जलाता है, उससे भी अधिक पापी वह है जो मधु-मक्खियोंके छत्तेको तोड़ता है ॥८३॥ इस प्रकार के पाप-बहुल मधुको जो नित्य चाटता है–खाता है, वह नरकमें जाता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। ऐसा जानकर मधुका त्याग करना चाहिए ॥८४॥

मांस अमेध्य अर्थात् विष्टाके समान है, कृमि अर्थात् छोटे-छोटे कीड़ोंके समूहसे भरा हुआ है, दुर्गन्धियुक्त है, बीभत्स है और पैरसे भी छूने योग्य नहीं है, तो फिर भला वह मांस खानेके लिए योग्य कैसे हो सकता है ॥८५॥ मांस खानेसे दर्प बढ़ता है, दर्पसे वह शराब पीने की इच्छा करता है और इसीसे वह जुआ भी खेलता है। इस प्रकार वह प्रायः ऊपर वर्णन किये गये सभी दोषोंको प्राप्त होता है ॥८६॥ लौकिक शास्त्रमें भी ऐसा वर्णन किया गया है कि गगनगामी अर्थात् आकाशमें चलनेवाले भी ब्राह्मण मांसके खानेसे पृथ्वीपर गिर पड़े। इसलिए मांसका उपयोग नहीं करना चाहिए ॥८७॥ जो कोई भी मनुष्य एक रात भी वेश्याके साथ निवास करता है, वह कारु अर्थात् लुहार, चमार, किरात (भील), चंडाल, डोंब (भंगी) और पारसी आदि नीच लोगोंका

---

१ झ. निर्यासं निश्चोटनं निवोडनमिति । प. निःपीलनम् । ध. निर्यासम् । २ झ. ध. मच्छेयर । ३ आस्वादयति । ४ झ. णियं । ५ प. जादि । ६ झ. नाऊण । ७ ब. लोइये । ८ इ. 'ण वज्जए', भ. 'ण पवज्जए' इति पाठः । ९ झ. ब. वेसाए ।

इच्चेवमाइवहवो दोसे[1] णाऊण जूयरमणम्मि । परिहरियव्वं णिच्चं दंसणगुणमुव्वहंतेण ॥६९

मद्यदोष-वर्णन

मज्जेण णरो अवसो कुणेइ कम्माणि णिंदणिज्जाइं । इहलोए परलोए अणुहवइ अणंतयं दुक्खं ॥७०
अइलंघिओ विचिट्ठो पडेइ रत्थाययंगणे[2] मत्तो । पडियस्स सारमेया वयणं विलिहंति जिब्भाए ॥७१
उच्चारं पस्सवणं तत्थेव कुणंति तो समुल्लवइ । पडिओ वि सुरा मिट्ठो पुणो वि मे देइ मूढमई ॥७२
जं किंचि तस्स दव्वं अजाणमाणस्स हिप्पइ परेहिं । लहिऊण किंचि सण्णं इदो तदो धावइ खलंतो ॥७३
जेणज्ज मज्झ दव्वं गहियं दुट्ठेण सें जमो कुद्धो । कहिं जाइ सो जिवंतो सीसं छिंदामि खग्गेण ॥७४
एवं सो गज्जंतो कुविओ गंतूण मंदिरं णिययं । घित्तूण लउडि सहसा रुट्ठो भंडाइं फोडेइ ॥७५
णिययं पि सुयं वहिणिं अणिच्छमाणं बला विधंसेइ । जंपइ अजंपणिज्जं ण विजाणइ किं प मयमत्तो॥ ७६
इय अवराइं बहुसो काऊण बहूणि लज्जणिज्जाणि । अणुबंधइ बहु पावं मज्जस्स वसंगदो संतो ॥७७
पावेण तेण बहुसो जाइ-जरा-मरणसावयाइण्णे । पावइ अणंतदुक्खं पडिओ संसारकंतारे ॥७८
एवं बहुप्पयारं दोसं णाऊण[3] मज्जपाणम्मि । मण-वयण-काय-कय-कारिदाणुमोएहिं वज्जिज्जो ॥७९

निरन्तर चिन्तातुर रहता है ॥६८॥ जुआ खेलनेमें उक्त अनेक भयानक दोष जान करके दर्शनगुण-को धारण करने वाले अर्थात् दर्शन प्रतिमायुक्त उत्तम पुरुषको जूआका नित्य ही त्याग करना चाहिए ॥६९॥ मद्य-पानसे मनुष्य उन्मत्त होकर अनेक निंदनीय कार्योंको करता है, और इसी-लिए इस लोक तथा परलोकमें अनन्त दु:खों को भोगता है ॥७०॥ मद्यपायी उन्मत्त मनुष्य लोक-मर्यादाका उल्लंघन कर बेसुध होकर रथ्यांगण (चौराहे) में गिर पड़ता है और इस प्रकार पड़े हुए उसके (लार बहते हुए) मुखको कुत्ते जीभसे चाटने लगते हैं ॥७१॥ उसी दशामें कुत्ते उसपर उच्चार (टट्टी) और प्रस्रवण (पेशाब) करते हैं। किन्तु वह मूढ़मति उसका स्वाद लेकर पड़े-पड़े ही पुन: कहता है कि सुरा (शराब) बहुत मीठी है, मुझे पीनेको और दो ॥७२॥ उस बेसुध पड़े हुए मद्यपायीके पास जो कुछ द्रव्य होता है, उसे दूसरे लोग हर ले जाते हैं। पुन: कुछ संज्ञाको प्राप्तकर अर्थात् कुछ होशमें आकर गिरता-पड़ता इधर-उधर दौड़ने लगता है ॥७३॥ और इस प्रकार बकता जाता है कि जिस बदमाशने आज मेरा द्रव्य चुराया है और मुझे क्रुद्ध किया है, उसने यमराजको ही क्रुद्ध किया है, अब वह जीता बचकर कहाँ जायगा, मैं तलवार से उसका शिर काटूँगा ॥७४॥ इस प्रकार कुपित वह गरजता हुआ अपने घर जाकर लकड़ीको लेकर रुष्ट हो सहसा भांडों (बर्तनों) को फोड़ने लगता है ॥७५॥ वह अपने ही पुत्रको, बहिनको, और अन्य भी सबको–जिनको अपनी इच्छाके अनुकूल नहीं समझता है, बलात् मारने लगता है और नहीं बोलने योग्य वचनोंको बकता है। मद्य-पानसे प्रबल उन्मत्त हुआ वह भले-बुरेको कुछ भी नहीं जानता है ॥७६॥ मद्यपानके वशको प्राप्त हुआ वह इन उपर्युक्त कार्योंको, तथा और भी अनेक लज्जा-योग्य निर्लज्ज कार्योंको करके बहुत पापका बंध करता है ॥७७॥ उस पापसे वह जन्म, जरा और मरणरूप श्वापदों (सिंह, व्याघ्र आदि क्रूर जानवरोंसे) आकीर्ण अर्थात् भरे हुए संसार-रूपी कान्तार (भयानक वन) में पड़कर अनन्त दु:खको पाता है ॥७८॥ इस तरह मद्यपानमें अनेक प्रकारके दोषोंको जान करके मन, वचन और काय, तथा कृत, कारित और अनुमोदनासे उसका

---

१ झ. 'दोषा' इति पाठ: । २ ब. रत्थाइयंगणे । प. रत्थाएयंगणे । ३ झ. नाऊण ।

मधुदोष-वर्णन

जह मज्जं तह य महू जणयदि पावं णरस्स अइवहुयं । असुइ व्व णिंदणिज्जं वज्जेयव्वं पयत्तेण ॥८०

दट्ठूण असणमज्झे पडियं जइ मच्छियं पि णिट्ठिवइ ।
कह मच्छियंडयाणं णिज्जासं[1] णिग्घिणो पिवइ ॥८१

भो भो जिब्भिंदियलुद्धयाणमच्छेरयं[2] पलोएह । किमि मच्छियणिज्जासं महुं पवित्तं भणंति जदो ॥८२

लोगे वि सुप्पसिद्धं बारह गामाइ जो डहइ अदओ । तत्तो सो अहिययरो पाविट्ठो जो महुं हणइ ८३

जो अवलेहइ[3] णिच्चं णिरयं[4] सो जाइ[5] णत्थि संदेहो । एवं णाऊण[6] फुडं वज्जेयव्वं महुं तम्हा ॥८४

मांसदोष-वर्णन

मंसं अमेज्झसरिसं किमिकुलभरियं दुगंधवीभच्छं । पाएण छिवेउं जं ण तीरए तं कहं भोत्तुं ॥८५

मंसासणेण वड्ढइ दप्पो दप्पेण मज्जमहिलसइ । जूयं पि रमइ तो तं पि वण्णिए पाउणइ दोसे ॥८६

लोइय[7] सत्थम्मि वि वण्णियं जहा गयणगामिणो विप्पा ।
भुवि मंसासणेण पडिया तम्हा ण पउंजए[8] मंसं ॥८७

वेश्यादोष-वर्णन

कारुय-किराय-चंडाल-डोंब-पारसियाणमुच्छिट्ठं । सो भक्खेइ जो वसइ एयरत्तिं पि वेस्साए[9] ॥८८

त्याग करना चाहिए ॥७९॥ मद्यपानके समान मधु-सेवन भी मनुष्यके अत्यधिक पापको उत्पन्न करता है। अशुचि (मल-मूत्र वमनादिक) के समान निंदनीय इस मधुका प्रयत्नपूर्वक त्याग करना चाहिए ॥८०॥ भोजनके मध्यमें पड़ी हुई मक्खी को भी देखकर यदि मनुष्य उसे उगल देता है अर्थात् मुँहमें रखे हुए ग्रास को थूक देता है तो आश्चर्य है कि वह मधु-मक्खियोंके अंडोंके निर्दयतापूर्वक निकाले हुए घृणित रसको अर्थात् मधुको निर्दय या निर्घृण बनकर कैसे पी जाता है ॥८१॥ भो-भो लोगो, जिह्वेन्द्रिय-लुब्धक (लोलुपी) मनुष्योंके आश्चर्य को देखो, कि लोग मक्खियोंके रसस्वरूप इस मधुको कैसे पवित्र कहते हैं ॥८२॥ लोकमें भी यह कहावत प्रसिद्ध है कि जो निर्दयी बारह गाँवोंको जलाता है, उससे भी अधिक पापी वह है जो मधु-मक्खियोंके छत्तेको तोड़ता है ॥८३॥ इस प्रकार के पाप-बहुल मधुको जो नित्य चाटता है—खाता है, वह नरकमें जाता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। ऐसा जानकर मधुका त्याग करना चाहिए ॥८४॥

मांस अमेध्य अर्थात् विष्टाके समान है, कृमि अर्थात् छोटे-छोटे कीड़ोंके समूहसे भरा हुआ है, दुर्गन्धियुक्त है, बीभत्स है और पैरसे भी छूने योग्य नहीं है, तो फिर भला वह मांस खानेके लिए योग्य कैसे हो सकता है ॥८५॥ मांस खानेसे दर्प बढ़ता है, दर्पसे वह शराब पीने की इच्छा करता है और इसीसे वह जुआ भी खेलता है। इस प्रकार वह प्रायः ऊपर वर्णन किये गये सभी दोषोंको प्राप्त होता है ॥८६॥ लौकिक शास्त्रमें भी ऐसा वर्णन किया गया है कि गगनगामी अर्थात् आकाशमें चलनेवाले भी ब्राह्मण मांसके खानेसे पृथ्वीपर गिर पड़े। इसलिए मांसका उपयोग नहीं करना चाहिए ॥८७॥ जो कोई भी मनुष्य एक रात भी वेश्याके साथ निवास करता है, वह कारु अर्थात् लुहार, चमार, किरात (भील), चंडाल, डोंब (भंगी) और पारसी आदि नीच लोगोंका

---

१ झ. निर्यासं निश्चोटनं निवोडनमिति । प. निःपीलनम् । ध. निर्यासम् । २ झ. ध. मच्छेयर । ३ आस्वादयति । ४ झ. निर्यं । ५ प. जादि । ६ झ. नाऊण । ७ ब. लोइये । ८ इ. 'ण वज्जए', भ. 'ण पवज्जए' इति पाठः । ९ झ. ब. वेसाए ।

रत्तं णाऊण[1] णरं सव्वस्सं[2] हरइ वंचणसएहिं । काऊण मुयइ पच्छा पुरिसं चम्मट्ठिपरिसेसं ॥८९

पभणइ पुरओ एयस्स सामी मोत्तूणं णत्थि[3] मे अण्णो ।
उच्चइ[4] अण्णस्स पुणो करेइ चाडूणि बहुयाणि ॥९०

माणी कुलजो सूरो वि कुणइ दासत्तणं पि णोचाणं । वेस्सा[5]कएण बहुगं अवमाणं सहइ कामंधो ॥९१
जे मज्जमंसदोसा वेस्सा[6]गमणम्मि होंति ते सव्वे । पावं पि तत्थ हिट्ठं पावइ णियमेण सविसेसं ॥९२
पावेण तेण दुक्खं पावइ संसार-सायरे घोरे । तम्हा परिहरियव्वा वेस्सा[7] मण-वयण-काएहिं ॥९३

पारद्धिदोष-वर्णन

सम्मत्तस्स पहाणो अणुकंवा वणिओ गुणी जम्हा । पारद्धिरमणसीलो सम्मत्तविराहओ तम्हा ॥९४
दट्ठूण मुक्ककेसं पलायमाणं तहा पराहुत्तं । रद[8]धरियतिणं[9] सूरा कयापराहं वि ण हणंति ॥९५

णिच्चं पलायमाणो तिण[10]चारी तह णिरवराहो वि ।
कह णिग्घणो हणिज्जइ[11]आरण्णणिवासिणो वि मए ॥९६
गो-वंभणित्थिघायं परिहरमाणस्स होइ[12] जह धम्मो ।
सव्वेसिं जीवाणं दयाए[13] ता किं ण सो हुज्जा ॥९७

जूठा खाता है। क्योंकि, वेश्या इन सभी नीच लोगोंके साथ समागम करती है ॥८८॥ वेश्या, मनुष्य को अपने ऊपर आसक्त जानकर सैकड़ों प्रवंचनाओं से उसका सर्वस्व हर लेती है और पुरुषको अस्थि-चर्म परिशेष करके, अर्थात् जब उसमें हाड़ और चाम ही अवशेष रह जाता है, तब उसको छोड़ देती है ॥८९॥ वह एक पुरुषके सामने कहती है कि तुम्हें छोड़कर अर्थात् तुम्हारे सिवाय मेरा कोई स्वामी नहीं है। इसी प्रकार वह अन्य से भी कहती है और अनेक चाटुकारियां अर्थात् खुशामदी बातें करती है ॥९०॥ मानी, कुलीन और शूरवीर भी मनुष्य वेश्यामें आसक्त होनेसे नीच पुरुषोंकी दासता (नौकरी या सेवा) को करता है और इस प्रकार वह कामान्ध होकर वेश्याओं के द्वारा किये गये अनेकों अपमानोंको सहन करता है ॥९१॥ जो दोष मद्य और मांसके सेवनमें होते हैं, वे सब दोष वेश्यागमनमें भी होते हैं। इसलिए वह मद्य और मांस सेवनके पापको तो प्राप्त होता ही है, किन्तु वेश्या-सेवनके विशेष अधम पापको भी नियम से प्राप्त होता है ॥९२॥ वेश्या-सेवन-जनित पापसे यह जीव घोर संसार-सागरमें भयानक दु:खोंको प्राप्त होता है, इसलिए मन, वचन और कायसे वेश्याका सर्वथा त्याग करना चाहिए ॥९३॥ सम्यग्दर्शनका प्रधान गुण यत: अनुकंपा अर्थात् दया कही गई है, अत: शिकार खेलनेवाला मनुष्य सम्यग्दर्शनका विराधक होता है ॥९४॥ जो मुक्त-केश हैं, अर्थात् भयके मारे जिनके रोंगटे (बाल) खड़े हुए हैं, ऐसे भागते हुए तथा पराङ्मुख अर्थात् अपनी ओर पीठ किये हुए हैं और दाँतोंमें तृण अर्थात् घासको दावे हुए हैं, ऐसे अपराधी भी दीन जीवोंको शूरवीर पुरुष नहीं मारते हैं ॥९५॥ भयके कारण नित्य भागनेवाले, घास खानेवाले तथा निरपराधी और वनोंमें रहनेवाले ऐसे भी मृगोंको निर्दयी पुरुष कैसे मारते हैं? (यह महा आश्चर्य है!) ॥९६॥ यदि गौ, ब्राह्मण और स्त्री-घातका परिहार करनेवाले पुरुपको धर्म होता है तो सभी जीवोंकी दयासे वह धर्म क्यों नहीं होगा? ॥९७॥ जिस

---

१ झ. नाऊण, २ व. सव्वं सहरइ। ३ झ. व. 'णत्थि' स्थाने 'तं ण' इति पाठ:। ४ झ. वुच्चइ। ५, ६, ७ झ.व. वेसा०। ८ झ. दंत०। ९ व. तणं। १० व. तण०। ११ झ. व. हणिज्जा। १२ व. हवइ। १३ व. दयायि।

गो-बंभण-महिलाणं विणिवाए हवइ जह महापावं । तह इयरपाणिघाए वि होइ पावं ण संदेहो ॥९८
महु-मज्ज-मंससेवी पावइ पावं चिरेण जं घोरं । तं एयदिणे पुरिसो लहेइ पारद्धि रमणेण ॥९९
संसारम्मि अणंतं दुक्खं पाउणदि तेण पावेण । तम्हा विवज्जियव्वा पारद्धी देसविरएण ॥१००

चौर्यदोष-वर्णन

परदव्वहरणसीलो इह-परलोए असायबहुलाओ । पाउणइ जायणाओ ण कयावि सुहं पलोएइ ॥१०१
हरिऊण परस्स धणं चोरो परिवेवमाणसव्वंगो । चइऊण णिययगेहं[1] धावइ उप्पहेण संतत्तो[2] ॥१०२

किं केण वि दिट्ठो हं ण वेत्ति हियएण धगधगंतेण ।
ल्हुक्कइ पलाइ[3] पखलइ णिद्दं ण लहेइ भयविट्ठो[4] ॥१०३
ण गणेइ माय-वप्पं गुरु-मित्तं सामिणं तवस्सिं वा ।
पबलेण[5] हरइ छलेण किंचिण्णं[6] किंपि जं तेसिं ॥१०४

लज्जा तहाभिमाणं जस-सीलविणासमादणासं च । परलोयभयं चोरो अगणंतो साहसं कुणइ ॥१०५
हरमाणो परदव्वं दट्ठूणारक्खिएहिं तो सहसा । रज्जूहिं बंधिऊणं घिप्पइ सो मोरबंधेण ॥१०६
हिंडाविज्जइ टिंटे रत्थासु चढाविऊण खरपुट्ठिं । वित्थारिज्जइ चोरो एसो त्ति जणस्स मज्झम्मि ॥

प्रकार गौ, ब्राह्मण और स्त्रियों के मारनेमें महापाप होता है, उसी प्रकार अन्य प्राणियोंके घातमें भी महापाप होता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥९८॥ चिरकाल तक मधु, मद्य और मांसका सेवन करनेवाला जिस घोर पापको प्राप्त होता है, उस पापको शिकारी पुरुष एक दिन भी शिकार के खेलनेसे प्राप्त होता है ॥९९॥ उस शिकार खेलनेके पापसे यह जीव संसारमें अनन्त दुःखको प्राप्त होता है। इसलिए देशविरत श्रावकको शिकारका त्याग करना चाहिए ॥१००॥ पराये द्रव्यको हरनेवाला, अर्थात् चोरी करनेवाला मनुष्य इस लोक और परलोक में असाता-बहुल, अर्थात् प्रचुर दुःखोंसे भरी हुई अनेकों यातनाओंको पाता है और कभी भी सुखको नहीं देखता है ॥१०१॥ पराये धनको हर कर भय-भीत हुआ चोर थर-थर काँपता है और अपने घरको छोड़कर संतप्त होता हुआ वह उत्पथ अर्थात् कुमार्गसे इधर-उधर भागता फिरता है ॥१०२॥ क्या किसीने मुझे देखा है, अथवा नहीं देखा है, इस प्रकार धक् धक् करते हुए हृदयसे कभी वह चोर लुकता-छिपता है, कभी कहीं भागता है और इधर-उधर गिरता है तथा भयाविष्ट अर्थात् भयभीत होनेसे नींद नहीं ले पाता है ॥१०३॥ चोर अपने माता, पिता, गुरु, मित्र, स्वामी और तपस्वीको भी कुछ नहीं गिनता है; प्रत्युत जो कुछ भी उनके पास होता है, उसे भी बलात् या छलसे हर लेता है ॥१०४॥ चोर लज्जा, अभिमान, यश और शीलके विनाशको, आत्माके विनाशको और परलोकके भयको नहीं गिनता हुआ चोरी करनेका साहस करता है ॥१०५॥ चोरको पराया द्रव्य हरते हुए देखकर आरक्षक अर्थात् पहरेदार कोटपाल आदिक रस्सियोंसे बांधकर, मोरबंधसे अर्थात् कमरकी ओर हाथ बाँधकर पकड़ लेते हैं ॥१०६॥ और फिर उसे टिंटा अर्थात् जुआखाने या गलियोंमें घुमाते हैं और गधेकी पीठ पर चढ़ाकर 'यह चोर है' ऐसा लोगोंके बीचमें घोषित कर उसकी बदनामी फैलाते हैं ॥१०७॥ और भी जो कोई मनुष्य दूसरेका धन हरता है, वह इस

१ ब. णिययप्रगेहं। २ झ. ब. संतट्ठो। ३ म. पलायमाणो। ४ झ. भयघत्थो, ब. झयवच्छो। ५ [illegible]लिउ। ६ झ. किं घणं, ब. किं वणं।

रत्तं णाऊण[1] णरं सव्वस्सं[2] हरइ वंचणसएहिं । काऊण मुयइ पच्छा पुरिसं चम्मट्ठिपरिसेसं ॥८९

पभणइ पुरओ एयस्स सामी मोत्तूणं णत्थि[3] मे अण्णो ।
उच्चइ[4] अण्णस्स पुणो करेइ चाडूणि बहुयाणि ॥९०

माणी कुलजो सूरो वि कुणइ दासत्तणं पि णोचाणं । वेस्सा[5]कएण बहुगं अवमाणं सहइ कामंधो ॥९१
जे मज्जमंसदोसा वेस्सा[6]गमणम्मि होंति ते सव्वे । पावं पि तत्थ हिट्ठं पावइ णियमेण सविसेसं ॥९२
पावेण तेण दुक्खं पावइ संसार-सायरे घोरे । तम्हा परिहरियव्वा वेस्सा[7] मण-वयण-काएहिं ॥९३

पारद्धिदोप-वर्णन

सम्मत्तस्स पहाणो अणुकंवा वणिओ गुणी जम्हा । पारद्धिरमणसीलो सम्मत्तविराहओ तम्हा ॥९४
दट्ठूण मुक्ककेसं पलायमाणं तहा पराहुत्तं । रद[8]धरियतिणं[9] सूरा कयावराहं वि ण हणंति ॥९५

णिच्चं पलायमाणो तिण[10]चारी तह णिरवराहो वि ।
कह णिग्घणो हणिज्जइ[11]आरण्णणिवासिणो वि मए ॥९६
गो-वंभणित्थिघायं परिहरमाणस्स होइ[12] जह धम्मो ।
सव्वेसिं जीवाणं दयाए[13] ता किं ण सो हुज्जा ॥९७

जूठा खाता है। क्योंकि, वेश्या इन सभी नीच लोगोंके साथ समागम करती है ॥८८॥ वेश्या, मनुष्य को अपने ऊपर आसक्त जानकर सैकड़ों प्रवंचनाओं से उसका सर्वस्व हर लेती है और पुरुषको अस्थि-चर्म परिशेप करके, अर्थात् जब उसमें हाड़ और चाम ही अवशेष रह जाता है, तब उसको छोड़ देती है ॥८९॥ वह एक पुरुषके सामने कहती है कि तुम्हें छोड़कर अर्थात् तुम्हारे सिवाय मेरा कोई स्वामी नहीं है। इसी प्रकार वह अन्य से भी कहती है और अनेक चाटुकारियां अर्थात् खुशामदी बातें करती है ॥९०॥ मानी, कुलीन और शूरवीर भी मनुष्य वेश्यामें आसक्त होनेसे नीच पुरुषोंकी दासता (नौकरी या सेवा) को करता है और इस प्रकार वह कामान्ध होकर वेश्याओं के द्वारा किये गये अनेकों अपमानोंको सहन करता है ॥९१॥ जो दोष मद्य और मांसके सेवनमें होते हैं, वे सव दोष वेश्यागमनमें भी होते हैं। इसलिए वह मद्य और मांस सेवनके पापको तो प्राप्त होता ही है, किन्तु वेश्या-सेवनके विशेष अधम पापको भी नियम से प्राप्त होता है ॥९२॥ वेश्या-सेवन-जनित पापसे यह जीव घोर संसार-सागरमें भयानक दुःखोंको प्राप्त होता है, इसलिए मन, वचन और कायसे वेश्याका सर्वथा त्याग करना चाहिए ॥९३॥ सम्यग्दर्शनका प्रधान गुण यतः अनुकंपा अर्थात् दया कही गई है, अतः शिकार खेलनेवाला मनुष्य सम्यग्दर्शनका विराधक होता है ॥९४॥ जो मुक्त-केश हैं, अर्थात् भयके मारे जिनके रोंगटे (वाल) खड़े हुए हैं, ऐसे भागते हुए तथा पराङ्मुख अर्थात् अपनी ओर पीठ किये हुए हैं और दाँतोंमें तृण अर्थात् घासको दावे हुए हैं, ऐसे अपराधी भी दीन जीवोंको शूरवीर पुरुप नहीं मारते हैं ॥९५॥ भयके कारण नित्य भागनेवाले, घास खानेवाले तथा निरपराधी और वनोंमें रहनेवाले ऐसे भी मृगोंको निर्दयी पुरुप कैसे मारते हैं ? (यह महा आश्चर्य है !) ॥९६॥ यदि गौ, ब्राह्मण और स्त्री-घातका परिहार करनेवाले पुरुषको धर्म होता है तो सभी जीवोंकी दयासे वह धर्म क्यों नहीं होगा ? ॥९७॥ जिस

---

१ झ. नाऊण, २ ब. सव्वं सहरइ। ३ झ. ब. 'णत्थि' स्थाने 'तं ण' इति पाठः। ४ झ. वुच्चइ। ५, ६, ७ झ.ब. वेसा०। ८ झ. दंत०। ९ ब. तणं। १० ब. तण०। ११ झ. ब. हणिज्जा। १२ ब. हवइ। १३ ब. दयावि।

रत्तं णाऊण[1] णरं सव्वस्सं[2] हरइ वंचणसएहिं । काऊण मुयइ पच्छा पुरिसं चम्मट्ठिपरिसेसं ॥८९

पभणइ पुरओ एयस्स सामी मोत्तूणं णत्थि[3] मे अण्णो ।
उच्चइ[4] अण्णस्स पुणो करेइ चाडूणि बहुयाणि ॥९०

माणी कुलजो सूरो वि कुणइ दासत्तणं पि णोचाणं । वेस्सा[5]कएण बहुगं अवमाणं सहइ कामंधो ॥९१
जे मज्जमंसदोसा वेस्सा[6]गमणम्मि होंति ते सव्वे । पावं पि तत्थ हिट्ठं पावइ णियमेण सविसेसं ॥९२
पावेण तेण दुक्खं पावइ संसार-सायरे घोरे । तम्हा परिहरियव्वा वेस्सा[7] मण-वयण-काएहिं ॥९३

पारद्धिदोष-वर्णन

सम्मत्तस्स पहाणो अणुकंवा वणिओ गुणो जम्हा । पारद्धिरमणसीलो सम्मत्तविराहओ तम्हा ॥९४
दट्ठूण मुक्ककेसं पलायमाणं तहा पराहुत्तं । रद[8]धरियतिणं[9] सूरा कयापराहं वि ण हणंति ॥९५

णिच्चं पलायमाणो तिण[10]चारी तह णिरवराहो वि ।
कह णिग्घणो हणिज्जइ[11]आरण्णणिवासिणो वि मए ॥९६
गो-बंभणित्थिघायं परिहरमाणस्स होइ[12] जह धम्मो ।
सव्वेसिं जीवाणं दयाए[13] ता किं ण सो हुज्जा ॥९७

जूठा खाता है। क्योंकि, वेश्या इन सभी नीच लोगोंके साथ समागम करती है ॥८८॥ वेश्या, मनुष्य को अपने ऊपर आसक्त जानकर सैकड़ों प्रवंचनाओं से उसका सर्वस्व हर लेती है और पुरुषको अस्थि-चर्म परिशेष करके, अर्थात् जब उसमें हाड़ और चाम ही अवशेष रह जाता है, तब उसको छोड़ देती है ॥८९॥ वह एक पुरुषके सामने कहती है कि तुम्हें छोड़कर अर्थात् तुम्हारे सिवाय मेरा कोई स्वामी नहीं है। इसी प्रकार वह अन्य से भी कहती है और अनेक चाटुकारियां अर्थात् खुशामदी बातें करती है ॥९०॥ मानी, कुलीन और शूरवीर भी मनुष्य वेश्यामें आसक्त होनेसे नीच पुरुषोंकी दासता (नौकरी या सेवा) को करता है और इस प्रकार वह कामान्ध होकर वेश्याओं के द्वारा किये गये अनेकों अपमानोंको सहन करता है ॥९१॥ जो दोष मद्य और मांसके सेवनमें होते हैं, वे सब दोष वेश्यागमनमें भी होते हैं। इसलिए वह मद्य और मांस सेवनके पापको तो प्राप्त होता ही है, किन्तु वेश्या-सेवनके विशेष अधम पापको भी नियम से प्राप्त होता है ॥९२॥ वेश्या-सेवन-जनित पापसे यह जीव घोर संसार-सागरमें भयानक दुःखोंको प्राप्त होता है, इसलिए मन, वचन और कायसे वेश्याका सर्वथा त्याग करना चाहिए ॥९३॥ सम्यग्दर्शनका प्रधान गुण यतः अनुकंपा अर्थात् दया कही गई है, अतः शिकार खेलनेवाला मनुष्य सम्यग्दर्शनका विराधक होता है ॥९४॥ जो मुक्त-केश हैं, अर्थात् भयके मारे जिनके रोंगटे (बाल) खड़े हुए हैं, ऐसे भागते हुए तथा पराङ्मुख अर्थात् अपनी ओर पीठ किये हुए हैं और दाँतोंमें तृण अर्थात् घासको दाबे हुए हैं, ऐसे अपराधी भी दीन जीवोंको शूरवीर पुरुष नहीं मारते हैं ॥९५॥ भयके कारण नित्य भागनेवाले, घास खानेवाले तथा निरपराधी और वनोंमें रहनेवाले ऐसे भी मृगोंको निर्दयी पुरुष कैसे मारते हैं? (यह महा आश्चर्य है!) ॥९६॥ यदि गौ, ब्राह्मण और स्त्री-घातका परिहार करनेवाले पुरुषको धर्म होता है तो सभी जीवोंकी दयासे वह धर्म क्यों नहीं होगा? ॥९७॥ जिस

---

१ झ. नाऊण, २ ब. सव्वं सहरइ। ३ झ. ब. 'णत्थि' स्थाने 'तं ण' इति पाठः। ४ झ. वुच्चइ। ५, ६, ७ झ. ब. वेसा० । ८ झ. दंत० । ९ ब. तणं । १० ब. तण० । ११ झ. ब. हणिज्जा । १२ ब. हवइ । १३ ब. दयायि ।

अह भुंजइ परमहिलं अणिच्छमाणं बला धरेऊणं ।
किं तत्थ हवइ सुक्खं पच्चेल्लिउ पावए दुक्खं ॥११८
अह कावि पावबहुला असई णिण्णासिऊण णियसीलं ।
सयमेव[1] पच्छियाओ[2] उवरोहवसेण अप्पाणं ॥११९
जइ देइ तह वि तत्थ सुण्णहर-खंडदेउलयमज्झम्मि[3] ।
सच्चित्ते भयभीओ[4] सोक्खं किं तत्थ पाउणइ ॥१२०
सोऊण किं पि सद्दं सहसा परिवेवमाणसव्वंगो ।
ल्हुक्कइ पलाइ पखलइ चउद्दिसं णियइ भयभीओ ॥१२१
जइ पुण केण वि दीसइ णिज्जइ तो बंधिऊण णिवगेहं ।
चोरस्स णिग्गहं सो तत्थ वि पाउणइ सविसेसं ॥१२२
पेच्छह मोहविणडिओ लोगो दट्ठूण एरिसं दोसं ।
पच्चक्खं तह वि खलो परित्थिमहिलसदि[5] दुच्चित्तो ॥१२३
परलोयम्मि अणंतं दुक्खं पाउणइ इहभवसमुद्दम्मि ।
परयारा परमहिला तम्हा तिविहेण वज्जिज्जा ॥१२४

सप्तव्यसनदोष-वर्णन

रज्जब्भंसं वसणं बारह संवच्छराणि वणवासो । पत्तो तहावमाणं जूएण जुहिट्ठिलो राया ॥१२५
उज्जाणम्मि रमंता तिसाभिभूया जल त्ति णाऊण । पिबिऊण जुण्णमज्जं णट्ठा ते[6] जादवा तेण ॥
मंसासणेण गिद्धो[7] वगरक्खो एग[8]चक्कणयरम्मि । रज्जाओ पब्भट्ठो अयसेण मुओ गओ णरयं ॥

नहीं चाहनेवाली किसी पर-महिलाको जबर्दस्ती पकड़कर भोगता है, तो वैसी दशामें वह उसमें क्या सुख पाता है ? प्रत्युत दुःखको ही पाता है ॥११८॥ यदि कोई पापिनी दुराचारिणी अपने शीलको नाश करके उपरोधके वशसे कामी पुरुषके पास स्वयं उपस्थित भी हो जाय, अपने आपको सौंप भी देवे ॥११९॥ तो भी उस शून्य गृह या खंडित देवकुल के भीतर रमण करता हुआ वह अपने चित्तमें भय-भीत होनेसे वहाँ पर क्या सुख पा सकता है ? ॥१२०॥ वहाँ पर कुछ भी जरा-सा शब्द सुनकर सहसा थर-थर काँपता हुआ इधर-उधर छिपता है, भागता है, गिरता है और भय-भीत हो चारों दिशाओंको देखता है ॥१२१॥ इसपर भी यदि कोई देख लेता है तो वह बांधकर राज-दरबारमें लाया जाता है और वहांपर वह चोरसे भी अधिक दंडको पाता है ॥१२२॥ मोहकी विडम्बनाको देखो कि परस्त्री-मोहसे मोहित हुए खल लोग इस प्रकारके दोषों को प्रत्यक्ष देखकर भी अपने चित्तमें परायी स्त्रीकी अभिलाषा करते हैं ॥१२३॥ परस्त्री-लम्पटी परलोकमें इस संसार-समुद्रके भीतर अनन्त दुःखको पाता है। इसलिए परिगृहीत या अपरिगृहीत परस्त्रियोंको मन वचन कायसे त्याग करना चाहिये ॥१२४॥

जूआ खेलनेसे युधिष्ठिर राजा राज्यसे भ्रष्ट हुए, बारह वर्ष तक वनवासमें रहे तथा अपमानको प्राप्त हुए ॥१२५॥ उद्यानमें क्रीड़ा करते हुए प्याससे पीड़ित होकर यादवोंने पुरानी शराबको 'यह जल है' ऐसा जानकर पिया और उसीसे वे नष्ट हो गये ॥१२६॥ एकचक्र

---

१ झ. सयमेवं । २ घ.–प्रस्थिता । ३ झ. मज्झयारम्मि । ४ झ. म. भयभीदो । ५ झ. ब. भो चित्तं । ६ झ. ब. तो । ७ म. लुद्धो । ८ ब. एय० ।

सव्वत्थ णिवुणबुद्धी वेसासंगेण चारुदत्तो वि। खइऊण धणं पत्तो दुक्खं परदेसगमणं च ॥१२८
होऊण चक्कवट्टी चउदहरयणाहिओ[1] वि संपत्तो। मरिऊण वंभदत्तो णिरयं पारद्धिरमणेण ॥१२९
णासावहारदोसेण दंडणं पाविऊण सिरिभूई। मरिऊण अट्टझाणेण हिंडिओ दीहसंसारे ॥१३०
होऊण खयरणाहो वियक्खणो अद्धचक्कवट्टी वि। मरिऊण गओ[2] णरयं परित्थिहरणेण लंकेसो ॥
एदे[3] महाणुभावा दोसं एक्केक्क-विसण[4]-सेवाओ। पत्ता जो पुण सत्त वि सेवइ वण्णिज्जए किं सो १३२
साकेते[5] सेवंतो सत्त वि वसणाइं रुद्ददत्तो वि। मरिऊण गओ णिरयं भमिओ पुण दीहसंसारे १३३

नरकगतिदुःख-वर्णन

सत्तण्हं विसणाणं फलेण संसार-सायरे जीवो। जं पावइ वहुदुक्खं तं संखेवेण वोच्छामि ॥१३४
अइणिट्ठुरफरुसाइं पूइ-रुहिराइं अइदुगंधाइं। असुहावहाइं णिच्चं णिरएसुप्पत्तिठाणाइं ॥१३५
तो तेसु समुप्पण्णो आहारेऊण पोग्गले असुहे[6]। अंतोमुहुत्तकाले पज्जत्तीओ समाणेइ ॥१३६
उववायाओ णिवडइ पज्जत्तयओ दंडत्ति[7] महिवीढे[8]। अइकक्खडमसहंतो सहसा उप्पडदि पुण पडइ
जइ को वि उसिणणरए मेरुपमाणं खिवेइ लोहंडं। ण वि पावइ धरणितलं विलिज्ज[9] तं अंतराले वि
अह तेवडं[10] तत्तं खिवेइ को वि सीयणरयम्मि। सहसा धरणिमपत्तं सडिज्ज[11] तं खंडखंडहिं ॥१३९॥

नामक नगर में मांस खानेमें गृद्ध वक राक्षस राज्यपदसे भ्रष्ट हुआ, अपयशसे मरा और नरक गया ॥१२७॥ सर्व विषयोंमें निपुण वुद्धि चारुदत्तने भी वेश्याके संगसे धनको खोकर दुःख पाया और परदेशमें जाना पड़ा ॥१२८॥ चक्रवर्ती होकर और चौदह रत्नोंके स्वामित्वको प्राप्त होकर भी व्रह्मदत्त शिकार खेलनेसे मरकर नरकमें गया ॥१२९॥ न्यासापहार अर्थात् धरोहरको अपहरण करनेके दोषसे दंड पाकर श्रीभूति आर्तध्यानसे मरकर संसार में दीर्घकाल तक रुलता फिरा ॥१३०॥ विचक्षण, अर्धचक्रवर्ती और विद्याधरोंका स्वामी होकर भी लंकाका स्वामी रावण परस्त्रीके हरणसे मरकर नरकमें गया ॥१३१॥ ऐसे ऐसे महानुभाव एक एक व्यसनके सेवन करने से दुःखको प्राप्त हुए। फिर जो सातों ही व्यसनों को सेवन करता है, उसके दुःखका क्या वर्णन किया जा सकता है ॥१३२॥ साकेत नगरमें रुद्रदत्त सातों ही व्यसनोंको सेवन करके मरकर नरक में गया और फिर दीर्घकाल तक संसारमें भ्रमता फिरा ॥१३३॥ सातों व्यसनोंके फलसे जीव संसार-सागरमें जो भारी दुःख पाता है, उसे मैं संक्षेपसे कहता हूँ ॥१३४॥ नरकोंमें नारकियोंके उत्पन्न होनेके स्थान अत्यन्त निष्ठुर स्पर्शवाले हैं, पीप और रुधिर आदिक अति दुर्गन्धित और अशुभ पदार्थ उनमें निरन्तर वहते रहते हैं। उनमें उत्पन्न होकर नारकी जीव अशुभ पुद्गलोंको ग्रहण करके अन्त-र्मुहूर्त कालमें पर्याप्तियोंको सम्पन्न कर लेता है ॥१३५-१३६॥ वह नारकी पर्याप्तियोंको पूरा कर उपपादस्थानसे दंडेके समान महीपृष्ठपर गिर पड़ता है। पुनः नरकके अति कर्कश धरातलको नहीं सहन करता हुआ वह सहसा ऊपरको उछलता है और फिर नीचे गिर पड़ता है ॥१३७॥ यदि कोई उष्णवेदनावाले नरकमें मेरु-प्रमाण लोहेके गोले फेंके, तो वह भूतलको नहीं प्राप्त होकर अन्तरालमें ही विला जायगा अर्थात् गल जायगा। (नरकोंमें ऐसी उष्ण वेदना है) ॥१३८॥ यदि

---

१ व. -रयणीहिओ। २ व. गयउ। ३ प. एए। ४ झ. व. वसण०। ५ प. साकेए। ६ व. असुहो। ७ झ. दड त्ति, उदउ त्ति। ८ ब.प. महिवट्टे म. महीविट्ठे। ९ इ. विलयम् जत्तंत०, झ. विलज्जंतं, विलिज्जंतं अंत०। म. विलयं जात्यंत०। मूला राधना गा० १५६३। १० झ. तेवडं, व. ते वट्टं। ११ झ. संडेज्ज, म. सडेज्ज। मूलारा. १५६४।

तं तारिससीदुण्हं खेत्तसहावेण होइ णिरएसु। विसहइ जावज्जीवं वसणस्स फलेणिमो जीओ ॥१४०
तो तम्हि जायमत्ते सहसा दट्ठूणु णारया सव्वे। पहरंति सत्ति-मुग्गर[1]-तिसूल-णाराय-खग्गेहिं ॥१४१
तो खंडिय[2]-सव्वंगो करुणपलावं रुवेइ दीणमुहा। पभणंति तओ रुट्ठा किं कंदसि रे दुरायारा ॥१४२
जोव्वणमएण मत्तो लोहकसाएण रंजिओ पुव्वं। गुरुवयणं लंघित्ता जूयं रमियो जं आसि[3]। १४३
तस्स फलमुदयमागयमलं हि रुयणेण[4] विसह रे[5] दुट्ठ। रोवंतो वि ण छुट्टसि कयावि[6] पुव्वकयकम्मस्स
एवं सोऊण तओ माणसदुक्खं वि[7] से समुप्पण्णं। तो दुविह-दुक्खदड्ढो रोसाइट्ठो इमं भणइ ॥१४५
जइ वा[8] पुव्वम्मि भवे जूयं रमियं मए मदवसेण। तुम्हं[9] को अवराहो कओ वला जेण मं[10] हणह[11]।
एवं भणिए घित्तूण सुट्ठु रुट्ठेहिं अग्गिकुंडम्मि। पज्जजलम्मि णिहित्तो डज्झइ सो [12]अंगमंगेसु ॥१४७
तत्तो णिस्सरमाणं दट्ठूण ज्झसरेहिं[13] अहव कुंतेहिं। पिल्लेऊण रडंतं तत्थेव छुहंति अदयाए ॥१४८
हा मुयह मं मा पहरह पुणो वि ण करेमि एरिसं पावं। दंतेहि अंगुलोओ धरेइ करुणं[14] पुणो रुवइ ॥
ण मुयंति तह वि पावा पेच्छह लीलाए कुणइ जं जीवो[15]। तं पावं विलवंतो एयहिं[16] दुक्खेहिं णित्थरइ[17]

कोई उतने ही वड़े लोहेके गोलेको शीतवेदनावाले नरकमें फेंके, तो वह धरणीतलको नहीं प्राप्त होकर ही सहसा खंड खंड होकर विखर जायगा। (नरकोंमें ऐसी शीतवेदना है) ॥१३९॥ नरकोंमें इस प्रकारकी सर्दी और गर्मी क्षेत्रके स्वभाव से होती है। सो व्यसनके फलसे यह जीव ऐसी तीव्र शीत-उष्ण वेदनाको यावज्जीवन सहा करता है ॥१४०॥ उस नरकमें जीवके उत्पन्न होनेके साथ ही उसे देखकर सभी नारकी सहसा—एकदम शक्ति, मुद्गर, त्रिशूल, वाण और खड्गसे प्रहार करने लगते हैं ॥१४१॥ नारकियोंके प्रहारसे खंडित हो गये हैं सर्व अंग जिसके, ऐसा वह नवीन नारकी दीन-मुख होकर करुण प्रलाप करता हुआ रोता है। तब पुराने नारकी उसपर रुष्ट होकर कहते हैं कि रे दुराचारी, अव क्यों चिल्लाता है ॥१४२॥ यौवनके मदसे मत्त होकर और लोभकपायसे अनुरंजित होकर पूर्व भवमें तूने गुरुवचनको उल्लंघन कर जूआ खेला है ॥१४३॥ अब उस पापका फल उदय आया है, इसलिए रोनेसे वस कर, और रे दुष्ट, अब उसे सहन कर। रोनेसे भी पूर्व-कृत्त कर्मके फलसे कभी भी नहीं छूटेगा ॥१४४॥ इस प्रकारके दुर्वचन सुननेसे उसके भारी मानसिक दुःख भी उत्पन्नहोता है। तब वह शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकारके दुःखसे दग्ध होकर और रोषमें आकर इस प्रकार कहता है ॥१४५॥ यदि मैंने पूर्व भवमें मदके वश होकर जूआ खेला है, तो तुम्हारा क्या अपराध किया है, जिसके कारण जवर्दस्ती तुम मुझे मारते हो ॥१४६॥ ऐसा कहनेपर अतिरुष्ट हुए वे नारकी उसे पकड़कर प्रज्वलित अग्निकुण्डमें डाल देते हैं, जहां पर वह अंग-अंगमें अर्थात् सर्वाङ्ग में जल जाता है ॥१४७॥ उस अग्निकुण्डसे निकलते हुए उसे देखकर झसरोंसे (शस्त्र-विशेपसे) अथवा भालोंसे छेदकर चिल्लाते हुए उसे निर्दयता-पूर्वक उसी कुण्डमें डाल देते हैं ॥१४८॥ हाय, मुझे छोड़ दो, मुझ पर मत प्रहार करो, मैं ऐसा पाप फिर नहीं करूँगा, इस प्रकार कहता हुआ वह दांतोंसे अपनी अंगुलियां दवाता है और करुण प्रलाप-पूर्वक पुनः पुनः रोता है ॥१४९॥ तो भी वे पापी नारकी उसे नहीं छोड़ते हैं। देखो, जीव जो पाप लीलासे—कुतूहल मात्रसे, करता है, उस पापसे विलाप करते हुए वह उपर्युक्त दुःखोंको

---

१ व. मोग्गर-। २ व. खंडय०। ३ इ. जं मांसि। ४ व. रुण्णेण। ५ इ. नं, झ. व. तं०। ६ व. कयाइं। ७ इ. झ. मः विसेसमुप्पण्णं। ८ इ. व. या। ९ इ. तुम्हे, झ. तोम्हि, व. तोहितं। १० इ. महं, म. हं। ११ इ. हणहं। १२ इ. मुद्ध, म. मुधा। १३ इ. तासे हि, म. ता सही। १४ झ. व. कलुणं। १५ इ. जूवो। १६ व. एयहं। १७ म. णित्थरी हं हो। प. णिच्छरइ।

तत्तो पलाइऊणं कह वि य माएण[1]दड्डसव्वंगो। गिरिकंदरम्मि सहसा पविसइ सरण त्ति मण्णंतो ॥

तत्थ वि पडंति उवरिं सिलाउ तो ताहिं[2] चुण्णिओ संतो।
गलमाणरुहिरधारो रडिऊण खणं तओ णीइ[3] ॥१५२

णेरइयाण सरीरं कीरइ जइ तिलपमाणखंडाइ। पारद-रसुव्व लग्गइ अपुण्णकालम्मि ण मरेइ ॥१५३
तत्तो पलायमाणो रुंभइ सो णारएहिं दट्ठूण। पाइज्जइ[4] विलवंतो अय-तंवय[5]-कलयलं[6] तत्तं ॥१५४
पच्चारिज्जइ जं ते[7] पीयं मज्जं महुं च पुव्वभवे। तं[8] पावफलं पत्तं पिवेहि अयकलयलं घोरं ॥१५५

कह वि तओ जइ छुट्टो असिपत्तवणम्मि विसइ भयभीओ।
णिवडंति तत्थ[9] पत्ताइं खग्गसरिसाइं अणवरयं ॥१५६
तो तम्हि पत्तपडणेण छिण्णकर-चरण भिण्णपुट्ठि-सिरो।
पगलंतरुहिरधारो कंदंतो सो तओ णीइ[10] ॥१५७

तुरियं पलायमाणं सहसा धरिऊण णारया कूरा। छित्तूण तस्स मंसं तुंडम्मि छुहंति[11] तस्सेव ॥१५८
भोत्तुं अणिच्छमाणं णियमंसं तो भणंति रे दुट्ठ। अइमिट्ठं भणिऊण भक्खंतो आसि जं पुव्वं ॥१५९

भोगता है ॥१५०॥ जबर्दस्ती जला दिये गये हैं सर्व अंग जिसके, ऐसा वह नारकी जिस किसी प्रकार उस अग्निकुण्डसे भागकर पर्वतकी गुफामें 'यहां शरण मिलेगा' ऐसा समझता हुआ सहसा प्रवेश करता है ॥१५१॥ किन्तु वहांपर भी उसके ऊपर पत्थरोंकी शिलाएं पड़ती हैं, तब उनसे चूर्ण चूर्ण होता हुआ और जिसके खूनकी धाराएँ बह रही हैं, ऐसा होकर चिल्लाता हुआ क्षणमात्रमें वहांसे निकल भागता है ॥१५२॥ नारकियोंके शरीरके यदि तिल-तिलके बराबर भी खंड कर दिये जावें, तो भी वह पारेके समान तुरन्त आपसमें मिल जाते हैं, क्योंकि, अपूर्ण कालमें अर्थात् असमयमें नारकी नहीं मरता है ॥१५३॥ उस गुफामेंसे निकलकर भागता हुआ देखकर वह नारकियोंके द्वारा रोक लिया जाता है और उनके द्वारा उसे जबर्दस्ती तपाया हुआ लोहा तांबा आदिका रस पिलाया जाता है ॥१५४॥ वे नारकी उसे याद दिलाते हैं कि पूर्व भवमें तूने मद्य और मधुको पिया है, उस पापका फल प्राप्त हुआ है, अतः अब यह घोर 'अयकलकल' अर्थात् लोहा, तांबा आदिका मिश्रित रस पी ॥१५५॥

यदि किसी प्रकार वहांसे छूटा, तो भयभीत हुआ वह असिपत्र वनमें, अर्थात् जिस वनके वृक्षोंके पत्ते तलवारके समान तीक्ष्ण होते हैं, उसमें 'यहां शरण मिलेगा' ऐसा समझकर घुसता है। किन्तु वहांपर भी तलवारके समान तेज धारवाले वृक्षोंके पत्ते निरन्तर उसके ऊपर पड़ते हैं ॥१५६॥ जब उस असिपत्रवनमें पत्तोंके गिरनेसे उसके हाथ, पैर, पीठ, शिर आदि कट-कटकर अलग हो जाते हैं, और शरीरसे खूनकी धारा बहने लगती है, तब वह चिल्लाता हुआ वहांसे भी भागता है ॥१५७॥ वहांसे जल्दी भागते हुए उसे देखकर क्रूर नारकी सहसा पकड़कर और उसका मांस काटकर उसीके मुँहमें डालते हैं ॥१५८॥ जब वह अपने मांसको नहीं खाना चाहता है, तब वे नारकी कहते हैं कि, अरे दुष्ट, तू तो पूर्व भवमें परजीवोंके मांसको बहुत मीठा कहकर खाया

---

१ झ. वयमाएण, व वपमाएण। २ इ. तेहि। ३ म. णियइ। ४ व. णाइज्जइ। म. पाविज्जइ। ५ इ. अयवयं, य. असंसंवय। ६ कलयलं—ताम्र-शीसक-तिल-सर्ज्जरस-गुग्गुल-सिक्थक-लवण-जतु-वज्रलेपाः क्वाथयित्वा मिलिता 'कलकल' इत्युच्यन्ते। मूलारा० गा० १५६९ आशाधरी टीका। ७ व. म. तो। ८ व. तव। ९ झ. वच्छ०। १० इ. म. णियइ। ११ इ. छहंति।

तं किं ते विस्सरियं जेण मुहं कुणसि रे पराहुत्तं ।
एवं भणिऊण कुसिं छुहिंति तुंडम्मि पज्जलियं ॥१६०
अइतिव्वदाहसंताविओ तिसावेयणासमभिभूओ ।
किमि-पूइ-रुहिरपुण्णं वइतरणिणइं तओ विसइ ॥१६१
तत्थ वि पविट्ठमित्तो[1] खारुण्हजलेण दड्ढसव्वंगो ।
णिस्सरइ तओ तुरिओ हाहाकारं पकुव्वंतो ॥१६२
दट्ठूण णारया णीलमंडवे[2] तत्तलोहपडिमाओ ।
आलिंगाविंति तहिं धरिऊण बला विलवमाणं ॥१६३
अगणित्ता गुरुवयणं परित्थि-वेसं च आसि सेवंतो ।
एण्हिं तं पावफलं ण सहसि किं रुवसि तं जेण ॥१६४
पुव्वभवे जं कम्मं पंचिंदियवसगएण जीवेण । हसमाणेण विवद्धं तं किं णित्थरसि[3] रोवंतो ॥१६५
किकवाय-गिद्ध-वायसरूवं धरिऊण णारया चेव ।
[4]पहरंति वज्जमयतुंड-तिक्खणहरेहिं[5] दयरहिया ॥१६६
धरिऊण उड्ढजंघं करकच-चक्केहिं केइ फाडंति ।
मुसलेहिं मुग्गरेहिं य चुण्णी चुण्णी कुणंति[6] परे ॥१६७
जिब्भाछेयण णयणाण फोडणं दंतचूरणं दलणं । मलणं कुणंति खंडंति केई तिलमत्तखंडेहिं ॥१६८

करता था ॥१५९॥ सो क्या वह तू भूल गया है, जो अब अपना मांस खानेसे मुँहको मोड़ता है, ऐसा कहकर जलते हुए कुशको उसके मुखमें डालते हैं ॥१६०॥ तब अति तीव्र दाहसे संतापित होकर और प्यासकी प्रबल वेदनासे परिपीड़ित हो वह (प्यास बुझानेकी इच्छासे) कृमि, पीप और रुधिरसे परिपूर्ण वैतरणी नदीमें घुसता है ॥१६१॥ उसमें घुसते ही खारे और उष्ण जलसे उसका सारा शरीर जल जाता है, तब वह तुरन्त ही हाहाकार करता हुआ वहांसे निकलता है ॥१६२॥

नारकी उसे भागता हुआ देखकर और पकड़कर काले लोहेसे बनाये गये नील-मंडपमें ले जाकर विलाप करते हुए उसे जबर्दस्ती तपाई हुई लोहेकी प्रतिमाओंसे (पुतलियोंसे) आलिंगन कराते हैं ॥१६३॥ और कहते हैं कि—गुरुजनोंके वचनोंको कुछ नहीं गिनकर पूर्वभव में तूने परस्त्री और वेश्याका सेवन किया है । अब इस समय उस पापके फलको क्यों नहीं सहता है, जिससे कि रो रहा है ॥१६४॥ पूर्वभवमें पांचों इन्द्रियोंके वश होकर हँसते हुए रे पापी जीव, तूने जो कर्म बांधे हैं, सो क्या उन्हें रोते हुए दूर कर सकता है ? ॥१६५॥ वे दया-रहित नारकी जीव ही कृकवाक (कुक्कुट—मुर्गा) गिद्ध, काक, आदिके रूपोंको धारण करके वज्रमय चोंचोंसे, तीक्ष्ण नखों और दांतों-सेउसे नोचते हैं ॥१६६॥ कितने ही नारकी उसे ऊर्ध्वजंघ कर अर्थात् शिर नीचे और जांघें ऊपर कर करकच (करोंत या आरा) और चक्रसे चीर फाड़ डालते हैं। तथा कितने ही नारकी उसे मूसल और मुद्गरोंसे चूरा-चूरा कर डालते हैं ॥१६७॥ कितने ही नारकी जीभ काटते हैं, आंखें फोड़ते हैं, दांत तोड़ते हैं और सारे शरीरका दलन-मलन करते हैं । कितने ही नारकी तिल-प्रमाण खंडोंसे उसके टुकड़े-टुकड़े कर डालते हैं ॥१६८॥ कितने ही नारकी तपाये हुए तीक्ष्ण रेतीले-

१ ब. सत्तो, प. म. मित्ता । २ काललोहघटितमंडपे । मूलाराधना गा० १५६९ विजयो. टीका । ३ प. णिरसि, झ. ब. णिच्छरसि । ४ प. पहणंति । ५ इ. तिक्खणहिं । मूलारा० १५७१ । ६ म. चुण्णीकुव्वंति परे णिरया ।

अण्णे कलंववालुय[1] थलम्मि तत्तम्मि पाडिऊण पुणो। लोट्टाविंति रडंतं णिहणंति घसंति भूमीए ॥
असुरा वि कूरपावा तत्थ वि गंतूण पुव्ववेराइं। सुमराविऊण तओ जुद्धं[2] लायंति अण्णोण्णं ॥१७०
सत्तेव अहोलोए पुढवीओ तत्थ सयसहस्साइं। णिरयाणं चुलसीई सेढिंद-पइण्णयाण हवे ॥१७१

रयणप्पह-सक्करपह-वालुप्पह-पंक-धूम-तमभासा।
तमतमपहा य पुढवीणं जाण अणुवत्थणामाइं[3] ॥१७२
पढमाए पुढवीए वाससहस्साइं वह जहण्णाऊ।
समयम्मि वण्णिया सायरोवमं होइ उक्कस्सं[4] ॥१७३
पढमाइ जमुक्कस्सं विदियाइसु साहियं जहण्णं तं।
तिय सत्त दस य सत्तरस दुसहिया वीस तेत्तीसं ॥१७४

सायरसंखा एसा कमेण विदियाइ जाण पुढवीसु। उक्कस्साउपमाणं णिद्दिट्ठं जिणवरिंदेहि ॥१७५
एत्तियपमाणकालं सारीरं माणसं बहुपयारं। दुक्खं सहेइ तिव्वं वसणस्स फलेणिमो जीवो ॥१७६

तिर्यंचगतिदुःख-वर्णन

तिरियगईए वि तहा थावरकाएसु बहुपयारेसु। अच्छइ अणंतकालं हिंडंतो जोणिलक्खेसु ॥१७७

कहमवि णिस्सरिऊणं तत्तो वियलिंदिएसु संभवइ।
तत्थ वि किलिस्समाणो कालमसंखेज्जयं वसइ ॥१७८

मैदानमें डालकर रोते हुए उसे लोट-पोट करते हैं, मारते हैं और भूमिपर घसीटते हैं ॥१६९॥

क्रूर और पापी असुर जातिके देव भी वहां जाकर और पूर्वभवके वैरोंकी याद दिलाकर उन नारकियोंको आपसमें लड़वाते हैं ॥१७०॥ अधोलोकमें सात पृथिवियाँ हैं, उनमें श्रेणीबद्ध, इन्द्रक और प्रकीर्णक नामके चौरासी लाख नरक हैं ॥१७१॥ उन पृथिवियोंके रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमप्रभा और तमस्तमप्रभा (महातमप्रभा) ये अन्वर्थ अर्थात् सार्थक नाम जानना चाहिए ॥१७२॥ परमागममें प्रथम पृथिवीके नारकियोंकी जघन्य आयु दश हजार वर्षकी कही गई है और उत्कृष्ट आयु एक सागरोपम होती है ॥१७३॥ प्रथमादिक पृथिवियोंमें जो उत्कृष्ट आयु होती है, कुछ अधिक अर्थात् एक समय अधिक वही द्वितीयादिक पृथिवियोंमें जघन्य आयु जानना चाहिए। जिनेन्द्र भगवान्‌ने द्वितीयादिक पृथिवियोंमें उत्कृष्ट आयुका प्रमाण क्रमसे तीन सागर, सात सागर, दश सागर, सत्तरह सागर, बाईस सागर और तैंतीस सागर प्रमाण कहा है ॥१७४–१७५॥ व्यसन-सेवनके फलसे यह जीव इतने (उपर्युक्त-प्रमाण) काल तक नरकोंमें अनेक प्रकारके शारीरिक और मानसिक तीव्र दुःखको सहन करता है ॥१७६॥

इसी प्रकार व्यसन-सेवनके फलसे यह जीव तिर्यञ्च गतिकी लाखों योनिवाली बहुत प्रकारकी स्थावरकायकी जातियोंमें अनन्त काल तक भ्रमण करता रहता है ॥१७७॥ उस स्थावरकायमेंसे किसी प्रकार निकलकर विकलेन्द्रिय अर्थात् द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवोंमें उत्पन्न होता है, तो वहां भी क्लेश उठाता हुआ असंख्यात काल तक परिभ्रमण करता रहता है ॥१७८॥

---

१ कलंववालुयं—कदंवप्रसूनाकारा वालुकाचितदुःप्रवेशाः वज्रदलालंकृत-खदिरांगार-कणप्रकरोपमानाः। मूलारा० गा० १५६८ विजयोदया टीका। २ ब. जुप्पं। ३ इ. अनुतृतय०, म अणुवट्ठ०। ४ मुद्रितप्रतौ गाथेयं रिक्ता।

तो खिल्लविल्लजोएण कह वि पंचिदिएसु उववण्णो ।
तत्थ वि असंखकालं जोणिसहस्सेसु परिभमइ ॥१७९
छेयण-भेयण-ताडण-तासण-णिल्लंछणं तहा दमणं ।
णिक्खलण-मलण-दलणं पउलण उक्कत्तणं चेव[1] ॥१८०
[2]बंधण-भारारोवण लंछण पाणण्णरोहणं सहणं ।
सीउण्ह-भुक्ख-तण्हादिजाण तह पिल्लयविओयं[3] ॥१८१
†इच्चेवमाइ बहुयं दुक्खं पाउणइ तिरियजोणीए[4] ।
विसणस्स फलेण जदो वसणं परिवज्जए तम्हा ॥१८२

मनुष्यगतिदुःख-वर्णन

मणुयत्ते[5] वि य जीवा दुक्खं पावंति बहुवियप्पेहिं ।
इट्ठाणिट्ठेसु सया वियोय-संयोयजं तिव्वं ॥१८३
उप्पण्णपढमसमयम्हि कोई जणणीइ छंडिओ संतो ।
कारणवसेण इत्थं सीउण्ह-भुक्ख-तण्हाउरो मरइ ॥१८४
बालत्तणे वि जीवो माया-पियरेहि कोवि परिहीणो । उच्छिट्ठं भक्खंतो जीवइ दुक्खेण परगेहे ॥१८५

यदि कदाचित् खिल्लविल्ल योगसे* पंचेन्द्रियोंमें उत्पन्न हो गया, तो वहां भी असंख्यात काल तक हजारों योनियोंमें परिभ्रमण करता रहता है ॥१७९॥ तिर्यञ्च योनिमें छेदन, भेदन, ताड़न, त्रासन, निर्लांछन (बधिया करना), दमन, निक्खलन (नाक छेदन), मलन, दलन, प्रज्वलन, उत्कर्तन, बंधन, भारारोपण, लांछन (दागना), अन्न-पान-रोधन, तथा शीत, उष्ण, भूख, प्यास आदि बाधाओंको सहता है, और पिल्लों (बच्चों) के वियोग-जनित दुखको भोगता है। ॥१८०-१८१॥ इस प्रकार व्यसनके फलसे यह जीव तिर्यञ्च-योनिमें उपर्युक्त अनेक दुःख पाता है, इस-लिए व्यसनका त्याग कर देना चाहिए ॥१८२॥ मनुष्य भवमें भी व्यसनके फलसे ये जीव सदैव बहुत प्रकारसे इष्ट-अनिष्ट पदार्थोमें वियोग-संयोगज तीव्र दुःख पाते हैं ॥१८३॥ उत्पन्न होनेके प्रथम समयमें ही कारणवशसे माताके द्वारा छोड़े गये कितने ही जीव इस प्रकार शीत, उष्ण, भूख और प्याससे पीड़ित होकर मर जाते हैं ॥१८४॥ बालकपनमें ही माता-पितासे रहित कोई जीव

१ मूलारा० गा० १५८२ । २ मूलारा० गा० १५८३ । ३ स्तनन्धयवियोगमित्यर्थः । ४ ध. प. जाईए। ५ झ. ब. मणुयत्तेण । (मणुयत्तणे)

† इतः पूर्वं झ. ब. प्रत्योः इमे गाथेऽधिके उपलभ्येते—

तिरिएहिं खज्जमाणो दुट्ठमणुस्सेहिं हम्ममाणो वि । सव्वत्थ वि संतट्ठो विसहदे भीमं ॥१॥
अण्णोण्णं खज्जंता तिरिया पावंति दारुणं दुक्खं । माया वि जत्थ भक्खदि अण्णो को तत्थ राखेदि ॥२॥

तिर्यंचोंके द्वारा खाया गया, दुष्ट शिकारी लोगोंके द्वारा मारा गया और सब ओरसे संत्रस्त होता हुआ भय-जनित भयंकर दुःख को सहता है ॥१॥ तिर्यंच परस्परमें एक दूसरेको खाते हुए दारुण दुःख पाते हैं । जिस योनिमें माता भी अपने पुत्रको खा लेती है, वहां दूसरा कौन रक्षा कर सकता है ॥२॥

—स्वामिकार्ति० अनु०, गा० ४१-४२

* भाड़में भुनते हुए धान्यमें से दैववशात् जैसे कोई एक दाना उछलकर बाहिर आ पड़ता है उसी प्रकार दैववशात् एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रियोंमें से कोई एक जीव निकलकर पञ्चेन्द्रियोंमें उत्पन्न हो जाता है, तब उसे खिल्लविल्ल योगसे उत्पन्न होना कहते हैं ।

पुव्वं दाणं दाऊण को वि सधणो जणस्स अहजोगं ।
पच्छा सो धणरहिओ ण लहइ कूरं पि जायंतो ॥१८६
अण्णो उ पावरोएण[1] बाहिओ णयर-वज्झदेसम्मि ।
अच्छइ सहायरहिओ ण लहइ सघरे वि चिट्ठेउं ॥१८७
तिसओ वि भुक्खिओ[2] हं पुत्ता मे देहि[3] पाणमसणं च ।
एवं कूवंतस्स[4] वि ण कोइ वयणं च से देइ ॥१८८
तो रोय-सोयभरिओ सव्वेसिं सव्वहियाउ[5] दाऊण ।
दुक्खेण मरइ पच्छा धिगत्थु मणुयत्तणमसारं ॥१८९
अण्णाणि एवमाईणि जाणि दुक्खाणि मणुयलोयम्मि ।
दीसंति ताणि पावइ वसणस्स फलेणिमो जीवो ॥१९०

देवगतिदुःख-वर्णन

किंचुवसमेण पावस्स कह वि देवत्तणं वि संपत्तो ।
तत्थ वि पावइ दुक्खं विसणज्जियकम्मपागेण ॥१९१
दट्ठूण महड्ढीणं देवाणं ठिइज्जरिद्धिमाहप्पं । अप्पड्ढिओ विसूरइ माणसदुक्खेण डज्झंतो ॥१९२
हा मणुयभवे उप्पज्जिऊण तव-संजमं वि लद्धूण । मायाए जं वि कयं[6] देवदुग्गयं तेण संपत्तो ॥१९३
कंदप्प-किब्भिसासुर-वाहण-सम्मोह[7]-देवजाईसु । जावज्जीवं णिवसइ विसहंतो माणसं दुक्खं ॥१९४

पराये घरमें जूठन खाता हुआ दुःखके साथ जीता है ॥१८५॥ यदि कोई मनुष्य पूर्वभवमें मनुष्योंको यथायोग्य दान देकर इस भवमें धनवान् भी हुआ और पीछे (पापके उदयसे) धन-रहित हो गया, तो मांगनेपर खानेको कूर (भात) तक नहीं पाता है ॥१८६॥ कोई एक मनुष्य पापरोग अर्थात् कोढ़से पीड़ित होकर नगरसे बाहर किसी एकान्त प्रदेशमें सहाय-रहित होकर अकेला रहता है, वह अपने घरमें भी नहीं रहने पाता ॥१८७॥ मैं प्यासा हूं और भूखा भी हूं; बच्चो, मुझे अन्न जल दो—खाने-पीनेको दो—इस प्रकार चिल्लाते हुए भी उसको कोई वचनसे भी आश्वासन तक नहीं देता है ॥१८८॥ तब रोग-शोकसे भरा हुआ वह सब लोगोंको नाना प्रकारके कष्ट देकरके पीछे स्वयं दुःखसे मरता है । ऐसे असार मनुष्य जीवनको धिक्कार है ॥१८९॥ इन उपर्युक्त दुःखोंको आदि लेकर जितने भी दुःख मनुष्यलोकमें दिखाई देते हैं, उन सबको व्यसनके फलसे यह जीव पाता है ॥१९०॥ यदि किसी प्रकार पापके कुछ उपशम होनेसे देवपना भी प्राप्त हुआ तो, वहांपर भी व्यसन-सेवनसे उपार्जित कर्मके परिपाकसे दुःख पाता है ॥१९१॥ देव-पर्यायमें महर्द्धिक देवोंकी अधिक स्थिति-जनित ऋद्धिके माहात्म्यको देखकर अल्प ऋद्धिवाला वह देव मानसिक दुःखसे जलता हुआ, विसूरता (झूरता) रहता है ॥१९२॥ और सोचा करता है कि हाय, मनुष्य-भवमें भी उत्पन्न होकर और तप-संयमको भी पाकर उसमें मैंने जो मायाचार किया, उसके फलसे मैं इस देव-दुर्गतिको प्राप्त हुआ हूँ, अर्थात् नीच जातिका देव हुआ हूँ ॥१९३॥ कन्दर्प, किल्विपिक, असुर, वाहन, सम्मोहन आदि देवोंकी कुजातियोंमें इस प्रकार मानसिक दुःख सहता हुआ वह यावज्जीवन निवास करता है ॥१९४॥ देवगतिमें छह मास आयुके शेष रह जानेपर वस्त्र और आभूषण मैले

१ कुष्टरोगेणेत्यर्थः । २ ध. 'पभुक्खिओ' ३ ब. देह । ४ (कूजंतस्स ?) । ५ ब. सवहियाउ । सर्वाहितान् इत्यर्थः । ६ इ. कं कप्पं, झ. वि जं कयं । ७ इ. समोह ।

छम्मासाउयसेसे वत्थाहरणाइं हुंति मलिणाइं। णाऊण चवणकालं अहिययरं रुयइ सोगेण ॥१९५

हा हा कह णिल्लोए[1] किमिकुलभरियम्मि अइदुगंधम्मि।
णवमासं पुइ-रुहिराउलम्मि गब्भम्मि वसियव्वं ॥१९६

किं करमि[2] कत्थ वच्चमि कस्स साहामि जामि कं सरणं।
ण वि अत्थि एत्थ बंधू जो मे धारेइ णिवडंतं ॥१९७

वज्जाउहो[3] महप्पा एरावण-वाहणो सुरिंदो वि। जावज्जीवं सो सेविओ वि ण धरेइ मं तहवि ॥१९८

जइ मे होहिहि मरणं ता होज्जउ किंतु मे समुप्पत्ती।
एगिंदिएसु जाइज्जा णो मणुस्सेसु कइया वि ॥१९९

अहवा किं कुणइ पुराज्जियम्मि उदयागयम्मि कम्मम्मि।
सक्को वि जदो ण तरइ अप्पाणं रक्खिउं काले ॥२००

एवं बहुप्पयारं सरणविरहिओ खरं विलवमाणो। एइंदिएसु जायइ मरिऊण तओ णियाणेण ॥२०१

तत्थ वि अणंतकालं किलिस्समाणो सहेइ बहुदुक्खं।
मिच्छत्तसंसियमई जीवो किं किं दुक्खं[4] ण पाविज्जइ[5] ॥२०२

पिच्छह[6] दिव्वे भोये जीवो भोत्तूण देवलोयम्मि। एइंदिएसु जायइ धिगत्थु[7] संसारवासस्स ॥२०३

एवं बहुप्पयारं दुक्खं संसार-सायरे घोरे। जीवो सरण-विहीणो विसणस्स फलेण पाउणइ ॥२०४॥

दर्शनप्रतिमा

*पंचुंबरसहियाइं परिहरेइ इय[8] जो सत्त विसणाइं। सम्मत्तविसुद्धमई सो दंसणसावयो भणिओ ॥

अर्थात् कान्ति-रहित हो जाते हैं, तब वह अपना च्यवन-काल जानकर शोकसे और भी अधिक रोता है ॥१९५॥ और कहता है कि हाय हाय, किस प्रकार अब मैं मनुष्य-लोकमें कृमि-कुल-भरित, अति दुर्गन्धित, पीप और खूनसे व्याप्त गर्भमें नौ मास रहूँगा? ॥१९६॥ मैं क्या करूँ, कहाँ जाऊँ, किससे कहूँ, किसको प्रसन्न करूँ, किसके शरण जाऊँ? यहाँ पर मेरा कोई भी ऐसा बन्धु नहीं है, जो यहाँसे गिरते हुए मुझे बचा सके ॥१९७॥ वज्रायुध, महात्मा, ऐरावत हाथीकी सवारी-वाला और यावज्जीवन जिसकी सेवा की है, ऐसा देवोंका स्वामी इन्द्र भी मुझे यहाँ नहीं रख सकता है ॥१९८॥ यदि मेरा मरण हो, तो भले ही हो, किन्तु मेरी उत्पत्ति एकेन्द्रियोंमें होवे, पर मनुष्योंमें तो कदाचित् भी नहीं होवे ॥१९९॥ अथवा अब क्या किया जा सकता है, जब कि पूर्वो-पार्जित कर्मके उदय आनेपर इन्द्र भी मरण-कालमें अपनी रक्षा करनेके लिए शक्त नहीं है ॥२००॥ इस प्रकार शरण-रहित होकर वह देव अनेक प्रकारके करुण विलाप करता हुआ निदानके फलसे वहाँसे मरकर एकेन्द्रियोंमें उत्पन्न होता है ॥२०१॥ वहाँ पर भी अनन्त काल तक क्लेश पाता हुआ बहुत दुःखको सहन करता है। सच बात तो यह है कि मिथ्यात्वसे संसिक्त बुद्धिवाला जीव किस-किस दुःखको नहीं पाता है ॥२०२॥ देखो, देवलोकमें दिव्य भोगोंको भोगकर यह जीव एकेन्द्रियोंमें उत्पन्न होता है ऐसे संसार-वासको धिक्कार है ॥२०३॥ इस तरह अनेक प्रकारके दुःखोंको घोर संसार-सागरमें यह जीव शरण-रहित होकर अकेला ही व्यसनके फलसे प्राप्त होता है ॥२०४॥ जो सम्यग्दर्शनसे विशुद्ध-बुद्धि जीव इन पंच उदुम्बर सहित सातों व्यसनोंका परित्याग

1 नृलोके। 2 इ. करम्मि। 3 वज्रायुधः। 4 ब. प्रतौ 'दुक्खं' इति पाठो नास्ति। 5 झ. पाविज्जा। प. पापिज्ज। 6 प. पेच्छह। 7 ब. धिगत्थ 8 प. ध. प्रत्योः इय पदं गाथारम्भेऽस्ति।

* उदुंबराणि पंचैव सप्त च व्यसनान्यपि। वर्जयेद्यः सः सागारो भवेद्दार्शनिकाह्वयः ।।११२। गुण०श्रा०

एवं दंसणसावयठाणं पढमं समासओ भणियं । वयसावयगुणठाणं एत्तो विदियं पवक्खामि ॥२०६

द्वितीय व्रतप्रतिमा-वर्णन

ꕥपंचेव अणुव्वयाइं गुणव्वयाइं हवंति पुण[1] तिण्णि ।
सिक्खावयाणि चत्तारि जाण विदियम्मि ठाणम्मि ॥२०७

पाणाइवायविरई सच्चमदत्तस्स वज्जणं चेव । थूलयड बंभचेरं[2] इच्छाए गंथपरिमाणं ॥२०८
ते तसकाया जीवा पुव्वुद्दिट्ठा ण हिंसियव्वा[3] ते । एइंदिया वि णिक्कारणेण पढमं वयं थूलं ॥२०९
‡अलियं ण जंपणीयं पाणिवहकरं तु सच्चवयणं पि । रायेण य दोसेण य णेयं विदियं[4] वयं थूलं ॥२१०
†पुर-गाम-पट्टणाइसु पडियं णट्ठं च णिहियं वीसरियं । परदव्वमगिण्हंतस्स होइ थूलवयं तदियं[5] ॥२११
*पव्वेसु इत्थिसेवा अणंगकीडा सया विवज्जंतो । थूलयडबंभयारी जिणेहि भणिओ पवयणम्मि ॥२१२
जं परिमाणं कीरइ धण-धण्ण-हिरण्ण-कंचणाईणं ।
तं जाण[6] पंचमवयं णिद्दिट्ठमुवासयज्झयणे ॥२१३ (१)

गुणव्रत-वर्णन

पुव्वुत्तर-दक्खिण-पच्छिमासु काऊण जोयणपमाणं ।
परदो[7] गमणणियत्ती दिसि विदिसि गुणव्वयं पढमं ॥२१४ (२)

करता है, वह प्रथम प्रतिमाधारी दर्शन-श्रावक कहा गया है ॥२०५॥ इस प्रकार दार्शनिक श्रावक-का पहला स्थान संक्षेपसे कहा । अब इससे आगे व्रतिक श्रावकका दूसरा स्थान कहता हूँ ॥२०६॥ द्वितीय स्थानमें, अर्थात् दूसरी प्रतिमामें पाँचों ही अणुव्रत, तीन गुणव्रत, तथा चार शिक्षाव्रत होते हैं ऐसा जानना चाहिए ॥२०७॥ स्थूल प्राणातिपातविरति, स्थूल सत्य, अदत्त वस्तुका वर्जन, स्थूल ब्रह्मचर्य और इच्छानुसार स्थूल परिग्रहका परिमाण ये पांच अणुव्रत होते हैं ॥२०८॥ जो त्रसजीव पहले वतलाये गये हैं, उन्हें नहीं मारना चाहिए और निष्कारण अर्थात् विना प्रयोजन एकेन्द्रिय जीवोंको भी नहीं मारना चाहिए, यह पहला स्थूल अहिंसाव्रत है ॥२०९॥ रागसे अथवा द्वेषसे झूठ वचन नहीं बोलना चाहिए और प्राणियोंका घात करनेवाला सत्य वचन भी नहीं बोलना चाहिए, यह दूसरा स्थूल सत्यव्रत जानना चाहिए ॥२१०॥ पुर, ग्राम, पत्तन, क्षेत्र आदिमें पड़ा हुआ, खोया हुआ, रखा हुआ, भूला हुआ, अथवा रख करके भूला हुआ पराया द्रव्य नहीं लेनेवाले जीवके तीसरा स्थूल अचौर्यव्रत होता है ॥२११॥ अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्वके दिनोंमें स्त्री-सेवन और सदैव अनंगक्रीड़ाका त्याग करने वाले जीवको प्रवचनमें जिनेन्द्र भगवान्‌ने स्थूल ब्रह्मचारी कहा है ॥२१२॥ धन, धान्य, हिरण्य, सुवर्ण आदिका जो परिमाण किया जाता है, वह पंचम अणुव्रत जानना चाहिए, ऐसा उपासकाध्ययनमें कहा गया है ॥२१३॥ पूर्व, उत्तर, दक्षिण और पश्चिम

---

१ व. तद । (तह ?) २ व. वंभचेरो । ३ इ. हिंसयव्वा । ४ इ. झ. विइयं, वियं । ५ व. तइयं । ६ व. जाणि । ७ व. परओ ।

ꕥ पंचधाणुव्रतं यस्य त्रिविधं च गुणव्रतम् । शिक्षाव्रतं चतुर्धा स्यात्सः भवेद् व्रतिको यतिः ॥१३०॥

‡ क्रोधादिनापि नो वाच्यं वचोऽसत्यं मनीषिणा । सत्यं तदपि नो वाच्यं यत्स्यात् प्राणिविघातकम् ॥१३४॥

† ग्रामे चतुःपथादौ वा विस्मृतं पतितं धृतम् । परद्रव्यं हिरण्यादि वर्ज्यं स्तेयविवर्जिना ॥१३५॥

* स्त्रीसेवानंगरमणं यः पर्वणि परित्यजेत् । सः स्थूलब्रह्मचारी च प्रोक्तं प्रवचने जिनैः ॥१३६। —गुण० श्राव०

(१) धनधान्यहिरण्यादिप्रमाणं यद्विधीयते । ततोऽधिके च दातास्मिन् निवृत्तिः सोऽपरिग्रहः ॥१३७॥

(२) दिग्देशानर्थदण्डविरतिः स्याद् गुणव्रतम् । सा दिशाविरतिर्या स्याद्दिशानुगमनप्रमा ॥१४०॥

वय-भंगकारणं होइ जम्मि देसम्मि तत्थ णियमेण ।
कीरइ गमणणियत्ती तं जाण गुणव्वयं विदियं[1] ॥२१५ (१)
अय-दंड-पास-विक्कय-कूड-तुलामाण-कूरसत्ताणं ।
जं संगहो[2] ण कीरइ तं जाण गुणव्वयं तदियं[3] ॥२१६ (२)

शिक्षाव्रत-वर्णन

जं परिमाणं कीरइ मंडण-तंबोल-गंध-पुप्फाणं । तं भोयविरइ भणियं पढमं सिक्खावयं सुत्ते ॥२१७(३)

सगसत्तीए महिला-वत्थाहरणाण जं तु परिमाणं ।
तं परिभोयणिवुत्ती[4] विदियं[5] सिक्खावयं जाण ॥२१८ (४)

अतिहिस्स संविभागो तइयं सिक्खावयं मुणेयव्वं । तत्थ वि पंचहियारा णेया सुत्ताणुमग्गेण ॥२१९ (५)
पत्तंतर दायारो दाणविहाणं तहेव दायव्वं । दाणस्स फलं णेया पंचहियारा कमेणेदे ॥२२० (६)

दिशाओंमें योजनोंका प्रमाण करके उससे आगे दिशाओं और विदिशाओंमें गमन नहीं करना, यह प्रथम दिग्व्रत नामका गुणव्रत है ॥२१४॥ जिस देशमें रहते हुए व्रत-भंगका कारण उपस्थित हो, उस देशमें नियमसे जो गमननिवृत्ति की जाती है, उसे दूसरा देशव्रत नामका गुणव्रत जानना चाहिए ॥२१५॥ लोहेके शस्त्र तलवार, कुदाली वगैरहके, तथा दंडे और पाश (जाल) आदिके वेंचनेका त्याग करना, झूठी तराजू और कूट मान अर्थात् नापने-तोलने आदिके बाँटोंको कम नहीं रखना, तथा बिल्ली, कुत्ता आदि क्रूर प्राणियोंका संग्रह नहीं करना, सो यह तीसरा अनर्थदण्डत्याग नामका गुणव्रत जानना चाहिए ॥२१६॥ मंडन अर्थात् शारीरिक शृङ्गार, ताम्बूल, गंध और पुष्पादिकका जो परिमाण किया जाता है, उसे उपासकाध्ययन सूत्रमें भोगविरति नामका प्रथम शिक्षाव्रत कहा गया है ॥२१७॥ अपनी शक्तिके अनुसार स्त्री-सेवन और वस्त्र-आभूषणोंका जो परिमाण किया जाता है, उसे परिभोग-निवृत्ति नामका द्वितीय शिक्षाव्रत जानना चाहिए ॥२१८॥ अतिथिके संविभागको तीसरा शिक्षाव्रत जानना चाहिए। इस अतिथिसंविभागके पाँच अधिकार उपासकाध्ययन सूत्रके अनुसार (निम्न प्रकार) जानना चाहिए॥२१९॥ पात्रोंका भेद, दातार, दान-विधान, दातव्य अर्थात् देने योग्य पदार्थ और दानका फल, ये पाँच अधिकार क्रमसे जानना चाहिए॥२२०॥

---

१ इ. झ. व. विइयं। २ व. संगहे। ३ इ. झ. प. तइयं, व. तियइं। ४ व. णियत्ती। ५ झ. विइयं, व. वीय।

(१) यत्र व्रतस्य भंगः स्याद्देशे तत्र प्रयत्नतः। गमनस्य निवृत्तिर्या सा देशविरतिर्मता ॥१४१॥
(२) कूटमानतुला-पास-विष-शस्त्रादिकस्य च। क्रूरप्राणिभृतां त्यागस्तत्तृतीयं गुणव्रतम् ॥१४२॥
(३) भोगस्य चोपभोगस्य संख्यानं पात्रसत्क्रिया। सल्लेखनेति शिक्षाख्यं व्रतमुक्तं चतुर्विधम् ।१४३।
यः सकृद् भुज्यते भोगस्ताम्बूलकुसुमादिकम्।
तस्य या क्रियते संख्या भोगसंख्यानमुच्यते ॥१४४॥—गुण० श्राव०
(४) उपभोगो मुहुर्भोग्यो वस्त्रस्याभरणादिकः। या यथाशक्तितः संख्या सोपभोगप्रमोच्यते ॥१४५
(५) स्वस्य पुण्यार्थमन्यस्य रत्नत्रयसमृद्धये। यद्दीयतेऽत्र तद्दानं तत्र पञ्चाधिकारकम् ॥१४६॥
(६) पात्रं दाता दानविधिर्देयं दानफलं तथा। अधिकारा भवन्त्येते दाने पञ्च यथाक्रमम् ॥१४७॥

एवं दंसणसावयठाणं पढमं समासओ भणियं । वयसावयगुणठाणं एत्तो विदियं पवक्खामि ॥२०६

द्वितीय व्रतप्रतिमा-वर्णन

※पंचेव अणुव्वयाइं गुणव्वयाइं हवंति पुण[1] तिण्णि ।
सिक्खावयाणि चत्तारि जाण विदियम्मि ठाणम्मि ॥२०७

पाणाइवायविरई सच्चमदत्तस्स वज्जणं चेव । थूलयड बंभचेरं[2] इच्छाए गंथपरिमाणं ॥२०८

ते तसकाया जीवा पुव्वुद्दिट्ठा ण हिंसियव्वा[3] ते । एइंदिया वि णिक्कारणेण पढमं वयं थूलं ॥२०९

‡अलियं ण जंपणीयं पाणिवहकरं तु सच्चवयणं पि । रायेण य दोसेण य णेयं विदियं[4] वयं थूलं ॥२१०

†पुर-गाम-पट्टणाइसु पडियं णट्ठं च णिहिय वीसरियं । परदव्वमगिण्हंतस्स होइ थूलवयं तदियं[5] ॥२११

★पव्वेसु इत्थिसेवा अणंगकीडा सया विवज्जंतो । थूलयडबंभयारी जिणेहि भणिओ पवयणम्मि ॥२१२

जं परिमाणं कीरइ धण-धण्ण-हिरण्ण-कंचणाईणं ।
तं जाण[6] पंचमवयं णिद्दिट्ठमुवासयज्झयणे ॥२१३ (१)

गुणव्रत-वर्णन

पुव्वुत्तर-दक्खिण-पच्छिमासु काऊण जोयणपमाणं ।
परदो[7] गमणणियत्ती दिसि विदिसि गुणव्वयं पढमं ॥२१४ (२)

करता है, वह प्रथम प्रतिमाधारी दर्शन-श्रावक कहा गया है ॥२०५॥ इस प्रकार दार्शनिक श्रावकका पहला स्थान संक्षेपसे कहा । अब इससे आगे व्रतिक श्रावकका दूसरा स्थान कहता हूँ ॥२०६॥ द्वितीय स्थानमें, अर्थात् दूसरी प्रतिमामें पाँचों ही अणुव्रत, तीन गुणव्रत, तथा चार शिक्षाव्रत होते हैं ऐसा जानना चाहिए ॥२०७॥ स्थूल प्राणातिपातविरति, स्थूल सत्य, अदत्त वस्तुका वर्जन, स्थूल ब्रह्मचर्य और इच्छानुसार स्थूल परिग्रहका परिमाण ये पांच अणुव्रत होते हैं ॥२०८॥ जो त्रसजीव पहले वतलाये गये हैं, उन्हें नहीं मारना चाहिए और निष्कारण अर्थात् विना प्रयोजन एकेन्द्रिय जीवोंको भी नहीं मारना चाहिए, यह पहला स्थूल अहिंसाव्रत है ॥२०९॥ रागसे अथवा द्वेषसे झूठ वचन नहीं बोलना चाहिए और प्राणियोंका घात करनेवाला सत्य वचन भी नहीं बोलना चाहिए, यह दूसरा स्थूल सत्यव्रत जानना चाहिए ॥२१०॥ पुर, ग्राम, पत्तन, क्षेत्र आदिमें पड़ा हुआ, खोया हुआ, रखा हुआ, भूला हुआ, अथवा रख करके भूला हुआ पराया द्रव्य नहीं लेनेवाले जीवके तीसरा स्थूल अचौर्यव्रत होता है ॥२११॥ अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्वके दिनोंमें स्त्री-सेवन और सदैव अनंगक्रीड़ाका त्याग करने वाले जीवको प्रवचनमें जिनेन्द्र भगवान्‌ने स्थूल ब्रह्मचारी कहा है ॥२१२॥ धन, धान्य, हिरण्य, सुवर्ण आदिका जो परिमाण किया जाता है, वह पंचम अणुव्रत जानना चाहिए, ऐसा उपासकाध्ययनमें कहा गया है ॥२१३॥ पूर्व, उत्तर, दक्षिण और पश्चिम

---

१ ब. तद । (तह ?) २ ब. बंभचेरो । ३ इ. हिंसयव्वा । ४ इ. झ. विइयं, वियं । ५ ब. तइयं । ६ ब. जाणि । ७ ब. परओ ।

※ पंचधाणुव्रतं यस्य त्रिविधं च गुणव्रतम् । शिक्षाव्रतं चतुर्धा स्यात्सः भवेद् व्रतिको यतिः ॥१३०॥

‡ क्रोधादिनापि नो वाच्यं वचोऽसत्यं मनीषिणा । सत्यं तदपि नो वाच्यं यत्स्यात् प्राणिविघातकम् ॥१३४॥

† ग्रामे चतुःपथादौ वा विस्मृतं पतितं धृतम् । परद्रव्यं हिरण्यादि वर्ज्यं स्तेयविवर्जिना ॥१३५॥

★ स्त्रीसेवानंगरमणं यः पर्वणि परित्यजेत् । सः स्थूलब्रह्मचारी च प्रोक्तं प्रवचने जिनैः ।१३६। —गुण० श्राव०

(१) धनधान्यहिरण्यादिप्रमाणं यद्विधीयते । ततोऽधिके च दातास्मिन् निवृत्तिः सोऽपरिग्रहः ॥१३७॥

(२) दिग्देशानर्थदण्डविरतिः स्याद् गुणव्रतम् । सा दिशाविरतिर्या स्याद्दिगानुगमनप्रमा ॥१४०॥

वय-भंगकारणं होइ जम्मि देसम्मि तत्थ णियमेण ।
कीरइ गमणणियत्ती तं जाण गुणव्वयं विदियं[1] ॥२१५ (१)
अय-दंड-पास-विक्कय-कूड-तुलामाण-कूरसत्ताणं ।
जं संगहो[2] ण कीरइ तं जाण गुणव्वयं तदियं[3] ॥२१६ (२)

शिक्षाव्रत-वर्णन

जं परिमाणं कीरइ मंडण-तंबोल-गंध-पुप्फाणं । तं भोयविरइ भणियं पढमं सिक्खावयं सुत्ते ॥२१७(३)
सगसत्तीए महिला-वत्थाहरणाण जं तु परिमाणं ।
तं परिभोयणिवुत्ती[4] विदियं[5] सिक्खावयं जाण ॥२१८ (४)
अतिहिस्स संविभागो तइयं सिक्खावयं मुणेयव्वं । तत्थ वि पंचहियारा णेया सुत्ताणुमग्गेण ॥२१९ (५)
पत्तंतर दायारो दाणविहाणं तहेव दायव्वं । दाणस्स फलं णेया पंचहियारा कमेणेदे ॥२२० (६)

दिशाओंमें योजनोंका प्रमाण करके उससे आगे दिशाओं और विदिशाओंमें गमन नहीं करना, यह प्रथम दिग्व्रत नामका गुणव्रत है ॥२१४॥ जिस देशमें रहते हुए व्रत-भंगका कारण उपस्थित हो, उस देशमें नियमसे जो गमननिवृत्ति की जाती है, उसे दूसरा देशव्रत नामका गुणव्रत जानना चाहिए ॥२१५॥ लोहेके शस्त्र तलवार, कुदाली वगैरहके, तथा दंडे और पाश (जाल) आदिके वेंचनेका त्याग करना, झूठी तराजू और कूट मान अर्थात् नापने-तोलने आदिके बाँटोंको कम नहीं रखना, तथा बिल्ली, कुत्ता आदि क्रूर प्राणियोंका संग्रह नहीं करना, सो यह तीसरा अनर्थदण्डत्याग नामका गुणव्रत जानना चाहिए ॥२१६॥ मंडन अर्थात् शारीरिक शृङ्गार, ताम्बूल, गंध और पुष्पादिकका जो परिमाण किया जाता है, उसे उपासकाध्ययन सूत्रमें भोगविरति नामका प्रथम शिक्षाव्रत कहा गया है ॥२१७॥ अपनी शक्तिके अनुसार स्त्री-सेवन और वस्त्र-आभूषणोंका जो परिमाण किया जाता है, उसे परिभोग-निवृत्ति नामका द्वितीय शिक्षाव्रत जानना चाहिए ॥२१८॥ अतिथिके संविभागको तीसरा शिक्षाव्रत जानना चाहिए। इस अतिथिसंविभागके पाँच अधिकार उपासकाध्ययन सूत्रके अनुसार (निम्न प्रकार) जानना चाहिए॥२१९॥ पात्रोंका भेद, दातार, दान-विधान, दातव्य अर्थात् देने योग्य पदार्थ और दानका फल, ये पाँच अधिकार क्रमसे जानना चाहिए ॥२२०॥

---

१ इ. झ. व. विइयं । २ व. संगहे । ३ इ. झ. प. तइयं, व. तियइं । ४ व. णियत्ती । ५ झ. विइयं, व. वीय ।

(१) यत्र व्रतस्य भंगः स्याद्देशे तत्र प्रयत्नतः । गमनस्य निवृत्तिर्या सा देशविरतिर्मता ॥१४१॥
(२) कूटमानतुला-पास-विप-शस्त्रादिकस्य च । क्रूरप्राणिभृतां त्यागस्तत्तृतीयं गुणव्रतम् ॥१४२॥
(३) भोगस्य चोपभोगस्य संख्यानं पात्रसत्क्रिया । सल्लेखनेति शिक्षाख्यं व्रतमुक्तं चतुर्विधम् ।१४३।
यः सकृद् भुज्यते भोगस्ताम्बूलकुसुमादिकम् ।
तस्य या क्रियते संख्या भोगसंख्यानमुच्यते ॥१४४॥—गुण० श्राव०
(४) उपभोगो मुहुर्भोग्यो वस्त्रस्याभरणादिकः । या यथाशक्तितः संख्या सोपभोगप्रमोच्यते ॥१४५
(५) स्वस्य पुण्यार्थमन्यस्य रत्नत्रयसमृद्धये । यद्दीयतेऽत्र तद्दानं तत्र पञ्चाधिकारकम् ॥१४६॥
(६) पात्रं दाता दानविधिर्देयं दानफलं तथा । अधिकारा भवन्त्येते दाने पञ्च यथाक्रमम् ॥१४७॥

पात्रभेद-वर्णन

तिविहं मुणेह पत्तं उत्तम-मज्झिम-जहण्णभेएण। वय-णियम-संजमधरो उत्तमपत्तं हवे साहू ॥२२१(१)

एयारस ठाणठिया मज्झिमपत्तं खु सावया भणिया।
अविरयसम्माइट्ठी जहण्णपत्तं मुणेयव्वं ॥२२२ (२)
वय-तव-सीलसमग्गो सम्मत्तविवज्जिओ कुपत्तं तु।
सम्मत्त-सील-वयवज्जिओ अपत्तं हवे जीओ ॥२२३ (३)

दातार-वर्णन

सद्धा भत्ती तुट्ठी विण्णाणमलुद्धया[1] खमा सत्ती[2]। जत्थेदे सत्त गुणा तं दायारं पसंसंति ॥२२४ (४)

दानविधि-वर्णन

पडिगहमुच्चट्ठाणं[3] पादोदयमच्चणं च पणमं च।
मण-वयण-कायसुद्धी एसणसुद्धी य दाणविही ॥२२५ (५)

पत्तं णियघरदारे दट्ठूणण्णत्थ वा विमग्गित्ता। पडिगहणं कायव्वं णमोत्थु ठाहु त्ति भणिऊण ॥२२६

णेऊण णिययगेहं णिरवज्जाणु तह उच्चठाणम्मि।
ठविऊण तओ चलणाण धोवणं होइ कायव्वं ॥२२७
पाओदयं पवित्तं सिरम्मि काऊण अच्चणं कुज्जा।
गंधक्खय-कुसुम-णेवज्ज-दीव-धूवेहिं य फलेहिं ॥२२८

उत्तम, मध्यम और जघन्यके भेदसे तीन प्रकारके पात्र जानना चाहिए। उनमें व्रत, नियम और संयमका धारण करनेवाला साधु उत्तम पात्र है ॥२२१॥ ग्यारह प्रतिमा-स्थानोंमें स्थित श्रावक मध्यम पात्र कहे गये हैं, और अविरत सम्यग्दृष्टि जीवको जघन्य पात्र जानना चाहिए ॥२२२॥ जो व्रत, तप और शीलसे सम्पन्न है, किन्तु सम्यग्दर्शनसे रहित है, वह कुपात्र है। सम्यक्त्व, शील और व्रतसे रहित जीव अपात्र है ॥२२३॥

जिस दातारमें श्रद्धा, भक्ति, संतोष, विज्ञान, अलुब्धता, क्षमा और शक्ति, ये सात गुण होते हैं, ज्ञानी जन उस दातारकी प्रशंसा करते हैं ॥२२४॥ प्रतिग्रह अर्थात् पड़िगाहना—सामने जाकर लेना, उच्चस्थान देना अर्थात् ऊँचे आसन पर बिठाना, पादोदक अर्थात् पैर धोना, अर्चा करना, प्रणाम करना, मनःशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि और एषणा अर्थात् भोजनकी शुद्धि, ये नौ प्रकारकी दानकी विधि है ॥२२५॥ पात्रको अपने घरके द्वारपर देखकर, अथवा अन्यत्रसे विमार्गण कर—खोजकर, 'नमस्कार हो, ठहरिए,' ऐसा कहकर प्रतिग्रहण करना चाहिए ॥२२६॥ पुनः अपने

---

१ ब. मलुद्धदया। २ प. ध. सत्तं। ३ ध. उच्च।

(१) पात्रं त्रिधोत्तमं चैतन्मध्यमं च जघन्यकम्। सर्वसंयमसंयुक्तः साधुः स्यात्पात्रमुत्तमम् ॥१४८॥
(२) एकादशप्रकारोऽसौ गृही पात्रमनुत्तमम्। विरत्या रहितं सम्यग्दृष्टिपात्रं जघन्यकम् ॥४९॥
(३) तपःशीलव्रतैर्युक्तः कुदृष्टिः स्यात्कुपात्रकम्। अपात्रं व्रतसम्यक्त्वतपःशीलविवर्जितम् ॥१५०॥
—गुण० श्रा०

(४) श्रद्धा भक्तिश्च विज्ञानं तुष्टिः शक्तिरलुब्धता। क्षमा च यत्र सप्तैते गुणा दाता प्रशस्यते ॥१५१॥
(५) स्थापनोच्चासनपाद्यपूजाप्रणमनैस्तथा। मनोवाक्कायशुद्धया वा शुद्धो दानविधिः स्मृतः ॥१५२॥
—गुण० श्राव०

पुप्फंजलिं खिवित्ता पयपुरओ वंदणं तओ कुज्जा। चइऊण अट्ट-रुद्दे मणसुद्धी होइ कायव्वा ॥२२
णिट्ठुर-कक्कस वयणाइवज्जणं तं वियाण वचिसुद्धि। सव्वत्थ संपुडंगस्स होइ तह कायसुद्धी वि ॥२३०
*चउदसमलपरिसुद्धं जं दाणं सोहिऊण जइणाए। संजमिजणस्स दिज्जइ सा णेया एसणासुद्धी ॥२३१
दाणसमयम्मि एवं[1] सुत्तणुसारेण णव विहाणाणि। भणियाणि मए एण्हिं दायव्वं वण्णइस्सामि ॥२३२

दातव्य-वर्णन

आहारोसह-सत्थाभयभेओ जं चउव्विहं दाणं। तं वुच्चइ[2] दायव्वं णिद्दिट्ठमुवासयज्झयणे ॥२३३

असणं पाणं खाइमं साइयमिदि चउविहो वराहारो।
पुव्वुत्त-णव-विहाणेहिं तिविहपत्तस्स दायव्वो ॥२३४

अइवुड्ढ-बाल-मूयंध-बहिर-देसंतरीय-रोडाणं[3]। जहजोग्गं दायव्वं करुणादाण त्ति भणिऊण ॥२३५
उववास-वाहि-परिसम-किलेस-[4]परिपीडयं मुणेऊण। पत्थं सरीरजोग्गं भेसजदाणं पि दायव्वं ॥२३६

आगम-सत्थाइं लिहाविऊण दिज्जंति जं जहाजोग्गं।
तं जाण सत्थदाणं जिणवयणज्झावणं च तहा ॥२३७

घरमें ले जाकर निरवद्य अर्थात् निर्दोष तथा ऊंचे स्थानपर बिठाकर, तदनन्तर उनके चरणोंको धोना चाहिए ॥२२७॥ पवित्र पादोदकको शिरमें लगाकर पुनः गंध, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप और फलोंसे पूजन करना चाहिए ॥२२८॥ तदनन्तर चरणोंके सामने पुष्पांजलि क्षेपण कर वंदना करे। तथा, आर्त और रौद्र ध्यान छोड़कर मनःशुद्धि करना चाहिए ॥२२९॥ निष्ठुर और कर्कश आदि वचनोंके त्याग करनेको वचनशुद्धि जानना चाहिए। सब ओर संपुटित अर्थात् विनीत अंग रखनेवाले दातारके कायशुद्धि होती है ॥२३०॥ चौदह मल-दोपोंसे रहित, यतनासे शोधकर संयमी जनको जो आहारदान दिया जाता है, वह एषणा-शुद्धि जानना चाहिए ॥२३१॥

विशेषार्थ—नख, जंतु, केश, हड्डी, मल, मूत्र, मांस, रुधिर, चर्म, कंद, फल, मूल, बीज और अशुद्ध आहार ये भोजन-सम्बन्धी चौदह दोष होते हैं। इस प्रकार उपासकाध्ययन सूत्रके अनुसार मैंने दानके समयमें आवश्यक नौ विधानों को कहा। अब दातव्य वस्तुका वर्णन करूँगा ।२३२। आहार, औषध, शास्त्र और अभयके भेदसे जो चार प्रकारका दान है, वह दातव्य कहलाता है, ऐसा उपासकाध्ययनमें कहा गया है ॥२३३॥ अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य ये चार प्रकारका श्रेष्ठ आहार पूर्वोक्त नवधा भक्तिसे तीन प्रकारके पात्रको देना चाहिए ॥२३४॥ अति वृद्ध, बालक, मूक (गूँगा), अंध, बधिर (बहिरा) देशान्तरीय (परदेशी) और रोगी दरिद्री जीवोंको 'करुणादान दे रहा हूँ' ऐसा कहकर अर्थात् समझकर यथायोग्य आहार आदि देना चाहिए ॥२३५॥ उपवास, व्याधि, परिश्रम और क्लेशसे परिपीड़ित जीवको जानकर अर्थात् देखकर शरीरके योग्य पथ्यरूप औषधदान भी देना चाहिए ॥२३६॥ जो आगम-शास्त्र लिखाकर यथायोग्य पात्रोंको दिये जाते हैं, उसे शास्त्र-दान जानना चाहिए। तथा जिन-वचनोंका अध्यापन कराना—पढ़ाना भी शास्त्रदान है ॥२३७॥

---

१ झ. ब. एयं। २ इ. वच्चइ,। ३ दरिद्राणाम्। ४ झ. पडि०।

† झ. घ. ब. प्रतिपु गाथेयमधिकोपलभ्यते—

णह-जंतु-रोम-अट्ठी-कण-कुंडय-मंस-रुहिर-चम्माइं। कंद-फल-मूल-बीया छिण्ण मला चउद्दसा होंति ॥१॥
—मूलाचार ४८४

जं कीरइ परिरक्खा णिच्चं मरण-भयभीरुजीवाणं। तं जाण अभयदाणं सिहामणिं सव्वदाणाणं ॥२३८

दानफल-वर्णन

अण्णाणिणो वि जम्हा कज्जं ण कुणंति णिप्फलारंभं।
तम्हा दाणस्स फलं समासदो वण्णइस्सामि ॥२३९

जह उत्तमम्मि खित्ते[1] पइण्णमण्णं सुबहुफलं होइ। तह दाणफलं णेयं दिण्णं तिविहस्स पत्तस्स ॥२४०

जह मज्झिमम्मि खित्ते[2] अप्पफलं होइ वावियं वीयं।
मज्झिमफलं विजाणह कुपत्तदिण्णं तहा दाणं ॥२४१

जह ऊसरम्मि खित्ते[3] पइण्णवीयं ण किं पि[4] रुहेइ।
फलवज्जियं वियाणह अपत्तदिण्णं तहा दाणं ॥२४२

कम्हि [5]अपत्तविसेसे दिण्णं दाणं दुहावहं होइ। जह विसहरस्स दिण्णं तिव्वविसं जायए खीरं ॥२४३

मेहावीणं[6] एसा सामण्णपरूवणा मए उत्ता। इण्हिं पभणामि फलं समासओ मंदबुद्धीणं ॥२४४

मिच्छादिट्ठी भद्दो दाणं जो देइ उत्तमे पत्ते। तस्स फलेणुववज्जइ सो उत्तमभोयभूमीसु ॥२४५

जो मज्झिमम्मि पत्तम्मि देइ दाणं खु वामदिट्ठी वि।
सो मज्झिमासु जीवो उप्पज्जइ भोयभूमीसु ॥२४६

जो पुण जहण्णपत्तम्मि देइ दाणं तहाविहो वि णरो।
जायइ फलेण जहण्णसु भोयभूमीसु सो जीवो ॥२४७

जायइ कुपत्तदाणेण वामदिट्ठी कुभोयभूमीसु। अणुमोयणेण तिरिया वि उत्तट्ठाणं जहाजोग्गं ॥२४८

मरणसे भयभीत जीवोंका जो नित्य परिरक्षण किया जाता है, वह सर्व दानोंका शिखामणिरूप अभयदान जानना चाहिए ॥२३८॥ चूँकि, अज्ञानीजन भी निष्फल आरम्भवाले कार्यको नहीं करते हैं, इसलिए मैं दानका फल संक्षेपसे वर्णन करूँगा ॥२३९॥ जिस प्रकार उत्तम खेतमें बोया गया अन्न बहुत अधिक फलको देता है, उसी प्रकार त्रिविध पात्रको दिये गये दानका फल जानना चाहिए ॥२४०॥ जिस प्रकार मध्यम खेतमें बोया गया बीज अल्प फल देता है, उसी प्रकार कुपात्र-में दिया गया दान मध्यम फलवाला जानना चाहिए ॥२४१॥ जिस प्रकार ऊसर खेतमें बोया गया बीज कुछ भी नहीं ऊगता है उसी प्रकार कुपात्रमें दिया गया दान भी फल-रहित जानना चाहिए ॥२४२॥ प्रत्युत किसी अपात्रविशेपमें दिया गया दान अत्यन्त दुःखका देनेवाला होता है। जैसे विपधर सर्पको दिया गया दूध तीव्रविपरूप हो जाता है ॥२४३॥ मेधावी अर्थात् बुद्धिमान् पुरुषोंके लिए मैंने यह उपर्युक्त दानके फलका सामान्य प्ररूपण किया है। अब मन्दवुद्धिजनोंके लिए संक्षेपसे (किन्तु पहलेकी अपेक्षा विस्तारसे) दानका फल कहता हूँ ॥२४४॥

जो मिथ्यादृष्टि भद्र अर्थात् मन्दकपायी पुरुप उत्तम पात्रमें दान देता है, उसके फलसे वह उत्तम भोगभूमियोंमें उत्पन्न होता है ॥२४५॥ जो मिथ्यादृष्टि भी पुरुप मध्यम पात्रमें दान देता है, वह जीव मध्यक भोगभूमियोंमें उत्पन्न होता है ॥२४६॥ और जो तथाविध अर्थात् उक्त प्रकार का मिथ्यादृष्टि भी मनुष्य जघन्य पात्रमें दानको देता है, वह जीव उस दानके फलसे जघन्य भोग-भूमियोंमें उत्पन्न होता है ॥२४७॥ मिथ्यादृष्टि जीव कुपात्रको दान देनेसे कुभोगभूमियोंमें उत्पन्न

१, २, ३, झ. व. छित्ते। ४ झ. किंचि रु होइ, व. किंपि विरु होइ। ५ झ. व. उ पत्त०। ६ प्रतिपु 'मेहाविऊण' इति पाठः।

बद्धाउगा सुदिट्ठी[1] अणुमोयणेण तिरिया वि । णियमेणुववज्जंति य ते उत्तमभोगभूमीसु ॥२४९
तत्थ वि दहप्पयारा कप्पदुमा दिंति उत्तमे भोए । खेत्त[2]सहावेण सया पुव्वज्जियपुण्णसहियाणं ॥२५०
मज्जंग-तूर-भूसण-जोइस-गिह-भायणंग-दीवंगा । वत्थंग-भोयणंगा मालंगा सुरतरू दसहा ॥२५१
अइसरसमइसुगंधं दिट्ठं[3] चि य जं[4] जणेइ अहिलासं । इंदिय-बलपुट्ठियरं मज्जंगा पाणयं दिंति ॥२५२
तय-वितय घणं सुसिरं वज्जं तूरंगपायवा दिंति । वरमउड-कुंडलाइय-आभरणं भूसणदुमा वि ॥२५३

ससि-सूरपयासाओ अहियपयासं कुणंति जोइदुमा ।
णाणाविहपासाए दिंति सया गिहदुमा दिव्वे ॥२५४

कच्चोल[5]-कलस-थालाइयाइं भायणदुमा पयच्छंति । उज्जोयं दीवदुमा कुणंति गेहस्स मज्झम्मि ॥
वर-पट्ट-चीण-खोमाइयाइं वत्थाइं दिंति वत्थदुमा । वर-चउविहमाहारं भोयणरुक्खा पयच्छंति ॥२५६
वर बहुल[6] परिमलामोयमोइयासामुहाउ मालाओ । मालादुमा पयच्छंति विविहकुसुमेहिं रइयाओ ॥
उक्किट्ठभोयभूमीसु जे णरा उदय-सुज्ज-समतेया । छधणुसहस्सुत्तुंगा हुंति तिपल्लाउगा सव्वे ॥

होता है। दानकी अनुमोदना करनेसे तिर्यञ्च भी यथायोग्य उपर्युक्त स्थानोंको प्राप्त करते हैं. अर्थात् मिथ्यादृष्टि तिर्यञ्च उत्तम पात्र दानकी अनुमोदनासे उत्तम भोगभूमिमें, मध्यम पात्रदानकी अनुमोदनासे मध्यम भोगभूमिमें, जघन्य पात्रदानकी अनुमोदनासे जघन्य भोगभूमिमें जाता है इसी प्रकार कुपात्र और अपात्र दानकी अनुमोदनासे भी तदनुकूल फलको प्राप्त होता है ॥२४८॥

बद्धायुष्क सम्यग्दृष्टि अर्थात् जिसने मिथ्यात्व अवस्थामें पहिले मनुष्यायुको बाँध लिया है, और पीछे सम्यग्दर्शनको उत्पन्न किया है, ऐसे मनुष्य पात्रदान देनेसे और उक्त प्रकारके ही तिर्यञ्च पात्र-दानकी अनुमोदना करनेसे नियमसे वे उत्तम भोगभूमियोंमें उत्पन्न होते हैं ॥२४९॥ उन भोगभूमियोंमें दश प्रकारके कल्पवृक्ष होते हैं, जो पूर्वोपार्जित पुण्य-संयुक्त जीवों को क्षेत्रस्व-भावसे सदा ही उत्तम भोगोंको देते हैं ॥२५०॥ मद्यांग, तूर्यांग, भूषणांग, ज्योतिरंग, गृहांग, भाजनांग, दीपांग, वस्त्रांग, भोजनांग और मालांग ये दश प्रकारके कल्पवृक्ष होते हैं ॥२५१॥ अति सरस, अति सुगन्धित, और जो देखने मात्रसे ही अभिलाषाको पैदा करता है, ऐसा इन्द्रिय-बलका पुष्टि कारक पानक (पेय पदार्थ) मद्यांगवृक्ष देते हैं ॥२५२॥ तूर्यांग जातिके कल्पवृक्ष तत, वितत, घन और सुषिर स्वरवाले बाजोंको देते हैं। भूषणांग जातिके कल्पवृक्ष उत्तम मुकुट, कुण्डल आदि आभू-षणोंको देते हैं ॥२५३॥ ज्योतिरंग जातिके कल्पवृक्ष चन्द्र और सूर्यके प्रकाशसे भी अधिक प्रकाश को करते हैं। गृहांग जातिके कल्पवृक्ष सदा नाना प्रकारके दिव्य प्रासादों (भवनों) को देते हैं ।२५४। भाजनांग जातिके कल्पवृक्ष बाटली, कलश, थाली आदि भाजनोंको देते हैं। दीपांग जातिके कल्प-वृक्ष घरके भीतर प्रकाशको किया करते हैं ॥२५५॥ वस्त्रांग जातिके कल्पवृक्ष उत्तम रेशमी, चीनी और कोशे आदिके वस्त्रोंको देते हैं। भोजनांग जातिके कल्पवृक्ष उत्तम चार प्रकारके आहारको देते हैं ॥२५६॥ मालांग जातिके कल्पवृक्ष नाना प्रकारके पुष्पोंसे रची हुई और प्रवर, बहुल, परि-मल सुगंधसे दिशाओंके मुखोंको सुगंधित करनेवाली मालाओंको देते हैं ॥२५७॥ उत्तम भोगभूमियों में जो मनुष्य उत्पन्न होते हैं, वे सब उदय होते हुए सूर्यके समान तेजवाले, छह हजार धनुष ऊँचे और तीन पल्यकी आयुवाले होते हैं ॥२५८॥

---

१ इ. सद्दिट्ठी, व. सदिट्ठी। २ झ. व. छित्त०। इ. छेत्त०। ३ झ. प. दिट्ठविय। ४ झ. 'जं' इति पाठो नास्ति। ५ ब. कंचोल। ६ व. बहल।

देहस्सुच्चत्तं मज्झिमासु चत्तारि धणुसहस्साइं। पल्लाणि दुण्णि आऊ पुण्णिंदुसमप्पहा पुरिसा ॥
दोधणुसहस्सुत्तुंगा[1] मणुया पल्लाउगा जहण्णासु। उत्ततकणयवण्णा[2] हवंति पुण्णाणुभावेण ॥२६०
जे पुण कुभोयभूमीसु सक्कर-समसायमट्टियाहारा[3]। फल-पुप्फाहारा केई तत्थ पल्लाउगा सव्वे ॥
जायंति जुयल-जुयला उणवण्णदिणेहिं जोव्वणं तेहिं। समचउरससंठाणा वरवज्जसरीरसंघयणा[4] ॥
वाहत्तरि[5]-कलसहिया चउसट्ठिगुणण्णिया तणुकसाया। बत्तीसलक्खणधरा उज्जमसीला विणीया य॥
णवमासाउगि सेसे गब्भं धरिऊण सूई[6]-समयम्हि। सुहमिच्चुणा मरित्ता णियमा देवत्तु पावंति ॥२६४
जे पुण सम्माइट्ठी विरयाविरया वि तिविहपत्तस्स। जायंति दाणफलओ कप्पेसु महड्ढिया देवा ॥२६५
अच्छरसयमज्झगया तत्थाणुहविऊण विविहसुरसोक्खं। तत्तो चुया समाणा[7] मंडलियाईसु जायंते[8]।
तत्थ वि बहुप्पयारं मणुयसुहं भुंजिऊण णिव्विग्घं। विगदभया[9] वेरग्गकारणं किंचि दट्ठूण ॥२६७
पडिबुद्धिऊण चइऊण णिवसिरिं संजमं ण घित्तूण। उप्पाइऊण णाणं केई गच्छंति णिव्वाणं ॥२६८
अण्णे उ सुदेवत्तं सुमाणुसत्तं पुणो पुणो लहिऊण[10]। सत्तट्ठभवेहि तओ करंति कम्मक्खयं णियमा ॥
एवं पत्तविसेसं दाणविहाणं फलं च णाऊण। अतिहिस्स संविभागो कायव्वो देसविरदेहिं[11] ॥२७०

मध्यम भोगभूमियोंमें देहकी ऊंचाई चार हजार धनुष है, दो पल्यकी आयु है, और सभी पुरुष पूर्णचन्द्रके समान प्रभावाले होते हैं ॥२५९॥ जघन्य भोगभूमियोंमें पूण्यके प्रभावसे मनुष्य दो हजार धनुष ऊंचे, एक पल्यकी आयुवाले और तपाये गये स्वर्णके समान वर्णवाले होते हैं ॥२६०॥ जो जीव कुभोगभूमियोंमें उत्पन्न होते हैं, उनमेंसे कितने ही वहांपर स्वभावतः उत्पन्न होनेवाली शक्करके समान स्वादिष्ट मिट्टीका आहार करते हैं, और कितने ही वृक्षोंसे उत्पन्न होनेवाले फल-पुष्पोंका आहार करते हैं और ये सभी जीव एक पल्यकी आयुवाले होते हैं ॥२६१॥ भोगभूमिमें जीव युगल-युगलिया उत्पन्न होते हैं और वे उनचास दिनोंमें यौवन दशाको प्राप्त हो जाते हैं। वे सब समचतुरस्र संस्थानवाले और श्रेष्ठ वज्रवृषभशरीरसंहननवाले होते हैं ॥२६२॥ वे भोगभूमियां पुरुष जीव बहत्तर कला-सहित और स्त्रियां चौसठ गुणोंसे समन्वित, मन्दकषायी, बत्तीस लक्षणोंके धारक, उद्यमशील और विनीत होते हैं ॥२६३॥ नौ मास आयुके शेष रह जानेपर गर्भको धारण करके प्रसूति-समयमें सुख मृत्युसे मरकर नियमसे देवपनेको पाते हैं ॥२६४॥ जो अविरत सम्यग्दृष्टि और देशसंयत जीव हैं, वे तीनों प्रकारके पात्रोंको दान देनेके फलसे स्वर्गोमें महर्द्धिक देव होते हैं ॥२६५॥ वहांपर सैकड़ों अप्सराओंके मध्यमें रहकर नाना प्रकारके देव-सुखोंको भोगकर आयुके अन्तमें वहांसे च्युत होकर मांडलिक राजा आदिकोंमें उत्पन्न होते हैं ॥२६६॥ वहाँपर भी नाना प्रकारके मनुष्य-सुखोंको निर्विघ्न भोगकर भय-रहित होते हुए वे कोई भी वैराग्यका कारण देखकर प्रतिबुद्धित हो, राज्यलक्ष्मीको छोड़कर और संयमको ग्रहण कर कितने ही केवलज्ञानको उत्पन्न कर निर्वाणको प्राप्त होते हैं और कितने ही जीव सुदेवत्व और सुमानुषत्वको पुनः पुनः प्राप्तकर सात-आठ भवके पश्चात् नियमसे कर्मक्षयको करते हैं ॥२६७-२६९॥ इस प्रकार पात्रकी विशेषताको, दानके विधानको और उसके फलको जानकर देशविरती श्रावकोंको अतिथिका संविभाग अर्थात् दान अवश्य करना चाहिए ॥२७०॥

---

१ इ. सहसा तुंगा। २ म. उत्तमकंचणवण्णा। ३. इ—मट्टियायारा। ४ म.—संहणणा। ५ इ. वावत्तर, झ. ब. वावत्तरि। ६. इ सूय०। ७ इ. समाण, झ, समासा। ८ प. जायंति। ९ ब. विगदब्भयाइ। १० ब. लहिओ। ११ प. विरएहिं।

सत्तमि-तेरसि दिवसम्मि अतिहिजणभोयणावसाणम्मि ।
भोत्तूण भुंजणिज्जं तत्थ वि काऊण मुहसुद्धिं ॥२८१

पक्खालिऊण वयणं कर-चरणे णियमिऊण तत्थेव । पच्छा जिणिंदभवणं गंतूण जिणं णमंसित्ता २८२
गुरुपुरओ किदियम्मं[1] वंदणपुव्वं कमेण काऊण । गुरुसक्खियमुववासं गहिऊण चउव्विहं विहिणा ।
वायण-कहाणुपेहण-सिक्खावण-चिंतणोवओगेहिं । णेऊण दिवससेसं अवराण्हियवंदणं किच्चा ॥२८४
रयणि समयम्हि ठिच्चा काउस्सग्गेण णिययसत्तीए । पडिलेहिऊण भूमिं अप्पपमाणेण संथारं २८५
दाऊण किंचि रत्तिं सइऊण[2] जिणालए णियघरे वा । अहवा सयलं रत्तिं काउस्सग्गेण णेऊण २८६
पच्चूसे उट्ठित्ता वंदणविहिणा जिणं णमंसित्ता । तह दव्व-भावपुज्जं जिण-सुय-साहूण काऊण ।२८७
उत्तविहाणेण तहा दियहं रत्तिं पुणो वि गमिऊण । पारणदिवसम्मि पुणो पूयं काऊण पुव्वं व २८८
गंतूण णिययगेहं अतिहिविभागं च तत्थ काऊण । जो भुंजइ तस्स फुडं पोसहविहि उत्तमं होइ २८९*
जह उक्कस्सं तह मज्झिमं वि पोसहविहाणमुद्दिट्ठं । णवर विसेसो सलिलं छंडित्ता[3] वज्जए सेसं ॥
मुणिऊण गुरुवकज्जं सावज्जविवज्जियं णियारंभं । जइ कुणइ तं पि कुज्जा सेसं पुव्वं व णायव्वं ॥

को अपनी शक्तिके अनुसार एक मासके चारों पर्वोमें करना चाहिए ॥२८०॥ सप्तमी और त्रयोदशीके दिन अतिथिजनके भोजनके अन्तमें स्वयं भोज्य वस्तुका भोजनकर वहींपर मुख-शुद्धिको करके, मुखको और हाथ-पैरोंको धोकर वहाँपर ही उपवास सम्बन्धी नियम करके पश्चात् जिनेन्द्र-भवन जाकर और जिनभगवान्‌को नमस्कार करके गुरुके सामने वन्दनापूर्वक क्रमसे कृतिकर्मको करके, गुरुकी साक्षीसे विधिपूर्वक चारों प्रकारके आहारके त्यागरूप उपवासको ग्रहण कर शास्त्र-वाचन, धर्मकथा-श्रवण-श्रावण, अनुप्रेक्षा-चिन्तन, पठन-पाठन आदिके उपयोग द्वारा दिवस व्यतीत करके तथा आपराह्णिक-वंदना करके, रात्रिके समय अपनी शक्तिके अनुसार कायोत्सर्गसे स्थित होकर, भूमिका प्रतिलेखन (संशोधन) करके, और अपने शरीरके प्रमाण विस्तर लगाकर रात्रिमें कुछ समय तक जिनालय अथवा घरमें सोकर, अथवा सारी रात्रि कायोत्सर्गसे विताकर प्रातःकाल उठकर वंदनाविधिसे जिन भगवान्‌को नमस्कार कर, तथा देव, शास्त्र और गुरुका द्रव्य वा भावपूजन करके पूर्वोक्त विधानसे उसी प्रकार सारा दिन और सारी रात्रिको फिर भी विताकर पारणाके दिन अर्थात् नवमी या पूर्णमासीको पुनः पूर्वके समान पूजन करके तत्पश्चात् अपने घर जाकर और वहाँ अतिथिको आहारदान देकर जो भोजन करता है, उसके निश्चयसे उत्तम प्रोषधविधि होती है ॥२८१–२८९॥ जिस प्रकारका उत्कृष्ट प्रोषध विधान कहा गया है, उसी प्रकारका मध्यम प्रोषध विधान भी जानना चाहिए। केवल विशेषता यह है कि जलको छोड़कर शेप तीनों प्रकारके आहारका त्याग करना चाहिए ॥२९०॥ जरूरी कार्यको समझकर सावद्य-रहित अपने घरू आरम्भ-

---

१ ब. किरियम्मि । २ ध. झ. ब. प्रतिपु 'णाऊण' इति पाठः । ३ ब. छड्डित्ता ।

* उत्तमो मध्यमश्चैव जघन्यश्चेति स त्रिधा । यथाशक्तिर्विधातव्यः कर्मनिर्मूलनक्षमः ॥१७०॥
सप्तम्यां च त्रयोदश्यां जिनार्चा पात्रसत्क्रियाम् । विधाय विधिवच्चैकभक्तं शुद्धवपुस्ततः ॥१७१॥
गुर्वादिसन्निधिं गत्वा चतुराहारवर्जनम् । स्वीकृत्य निखिलां रात्रिं नयेच्च सत्कथानकैः ॥१७२॥
प्रातः पुनः शुचिर्भूत्वा निर्माप्यार्हत्पूजनम् । सोत्साहस्तदहोरात्रं सद्ध्यानाध्ययनैर्नयेत् ॥१७३॥
तत्पारणाह्नि निर्माप्य जिनार्च्चा पात्रसत्क्रियाम् । स्वयं वा चैकभक्तं यः कुर्यात्तस्योत्तमो हि सः ॥१७४॥
मध्यमोऽपि भवेदेवं स त्रिधाहारवर्जनम् । जलं मुक्त्वा जघन्यस्त्वेकभक्तादिरनेकधा ॥१७५॥

आयंबिल[1] णिव्वयडी[2] एयट्ठाणं च एयभत्तं वा । जं कीरइ तं णेयं जहण्णयं पोसहविहाणं ॥२९२‡
*सिरण्हाणुव्वट्टण-गंध-मल्लकेसाइदेहसंकप्पं । अण्णं पि रागहेउं विवज्जए पोसहदिणम्मि ॥२९३
एवं चउत्थठाणं विवण्णियं पोसहं समासेण । एत्तो कमेण सेसाणि सुणह संखेवओ वोच्छं ॥२९४

सचित्तत्यागप्रतिमा

जं वज्जिज्जइ हरियं तुय[3]-पत्त-पवाल-कंद-फल-बीयं ।
अप्पासुगं च सलिलं सचित्तणिव्वित्ति तं ठाणं ॥२९५*

रात्रिभुक्तित्यागप्रतिमा

मण-वयण-काय-कय-[4]कारियाणुमोएहिं मेहुणं णवधा ।
दिवसम्मि जो विवज्जइ गुणम्मि सो सावओ छट्ठो ॥२९६ (१)

ब्रह्मचर्यप्रतिमा

पुव्वुत्तणवविहाणं पि मेहुणं सव्वदा[5] विवज्जंतो ।
इत्थिकहाइणिवित्तो[6] सत्तमगुणबंभयारी सो ॥२९७ (२)

को यदि करना चाहे, तो उसे भी कर सकता है। किन्तु शेष विधान पूर्वके समान ही जानना चाहिए ॥२९१॥ जो अष्टमी आदि पर्वके दिन आचाम्ल, निर्विकृति, एकस्थान, अथवा एकभक्तको करता है, उसे जघन्य प्रोषध विधान जानना चाहिए ॥२९२॥ (विशेषार्थ परिशिष्टमें देखो।) प्रोषधके दिन शिरसे स्नान करना, उबटना करना, सुगंधित द्रव्य लगाना, माला पहनना, बालों आदिका सजाना, देहका संस्कार करना, तथा अन्य भी रागके कारणोंको छोड़ देना चाहिए ॥२९३॥ इस प्रकार प्रोषध नामका चौथा प्रतिमास्थान संक्षेपसे वर्णन किया। अब इससे आगे शेष प्रतिमा-स्थानोंको संक्षेपसे कहूँगा, सो सुनो ॥२९४॥

जहाँपर हरित त्वक् (छाल), पत्र, प्रवाल, कंद, फल, बीज, और अप्रासुक जल त्याग किया जाता है, वह सचित्त-विनिवृत्तिवाला पाँचवाँ प्रतिमास्थान है ॥२९५॥ जो मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना, इन नौ प्रकारोंसे दिनमें मैथुनका त्याग करता है, वह प्रतिमारूप गुण-स्थानमें छठा श्रावक है, अर्थात् छठी प्रतिमाधारी है ॥२९६॥ जो पूर्वोक्त नौ प्रकारके मैथुनको सर्वदा त्याग करता हुआ स्त्रीकथा आदिसे भी निवृत्त हो जाता है, वह सातवें प्रतिमारूप गुणका

---

१ आयंविल—अम्लं चतुर्थो रसः, स एव प्रायेण व्यंजने यत्र भोजने ओदन-कुल्माप-सक्तुप्रभृतिके तदाचामाम्लम्। आयंविलमपि तिविहं उक्किट्ठ-जहण्ण-मज्झिमदएहिं। तिविहं जं विउलपूवाइ पकप्पए तत्थ ॥१०२॥ मिय-सिंधव-सुंठि मिरीमेही सोवच्चलं च विडलवणे। हिंगुसुगंधिसु पाए पकप्पए साइयं वत्थु ॥१०३॥ अभिधानराजेन्द्र। २ व. णिग्घियडी। ३ इ. झ. तय०। ४ व. किरियाणु०। ५ व. सव्वहा। ६ झ. व. णियत्तो।

‡ स्नानमुद्वर्तनं गन्धं माल्यं चैव विलेपनम्। यच्चान्यद् रागहेतुः स्याद्वर्ज्यं तत्प्रोपधोऽखिलम् ॥१७६॥
* मूलं फलं च शाकादि पुष्पं बीजं करीरकम्। अप्रासुकं त्यजेन्नीरं सचित्तविरतो गृही ॥१७८॥
—गुण० श्राव०

(१) स दिवा-ब्रह्मचारी यो दिवा स्त्रीसंगमं त्यजेत्।
(२) स सदा ब्रह्मचारी यः स्त्रीसंगं नवधा त्यजेत् ॥१७९॥

आरम्भनिवृत्तप्रतिमा

जं किंचि गिहारंभं बहु थोगं[1] वा सया विवज्जेइ।
आरंभणियत्तमई सो अट्ठमु सावओ भणिओ ॥२९८ (१)

परिग्रहत्यागप्रतिमा

मोत्तूण वत्थमेत्तं परिग्गहं जो विवज्जए सेसं।
तत्थ वि मुच्छं ण करेइ जाणइ सो सावओ णवमो ॥२९९ (२)

अनुमतित्यागप्रतिमा

पुट्ठो वाऽपुट्ठो वा णियगेहिं परेहिं च सगिहकज्जम्मि।
अणुमणणं जो ण कुणइ वियाण सो सावओ दसमो ॥३०० (३)

उद्दिष्टत्यागप्रतिमा

एयारसम्मि ठाणे उक्किट्ठो सावओ हवे दुविहो।
वत्थेक्कधरो पढमो कोवीणपरिग्गहो विदिओ[2] ॥ ३०१ (४)

*धम्मिल्लाणं चयणं[3] करेइ कत्तरि छुरेण वा पढमो। ठाणाइसु पडिलेहइ[4] उवयरणेण पयडप्पा ॥

धारी ब्रह्मचारी श्रावक है ॥२९७॥ जो कुछ भी थोड़ा या बहुत गृहसम्बन्धी आरम्भ होता है, उसे जो सदाके लिए त्याग करता है, वह आरम्भसे निवृत्त हुई है बुद्धि जिसकी, ऐसा आरम्भत्यागी आठवाँ श्रावक कहा गया है ॥२९८॥ जो वस्त्रमात्र परिग्रहको रखकर शेष सब परिग्रहको छोड़ देता है और स्वीकृत वस्त्रमात्र परिग्रहमें भी मूर्च्छा नहीं करता है, उसे परिग्रहत्यागप्रतिमाधारी नवाँ श्रावक जानना चाहिए ॥२९९॥ स्वजनोंसे और परजनोंसे पूछा गया जो श्रावक अपने गृह-सम्बन्धी कार्यमें अनुमोदना नहीं करता है, उसे अनुमतित्याग प्रतिमाधारी दसवाँ श्रावक जानना चाहिए ॥३००॥ ग्यारहवें प्रतिमास्थानमें गया हुआ मनुष्य उत्कृष्ट श्रावक कहलाता है। उसके दो भेद हैं, प्रथम एक वस्त्रका रखनेवाला और दूसरा कोपीन (लंगोटी) मात्र परिग्रहवाला ॥३०१॥ प्रथम उत्कृष्ट श्रावक (जिसे कि क्षुल्लक कहते हैं) धम्मिल्लोंका चयन अर्थात् हजामत कैंचीसे अथवा उस्तरेसे कराता है। तथा, प्रयत्नशील या सावधान होकर पीछी आदि उपकरणसे स्थान

१ झ. थोवं। २ झ. ब. विइओ। ३ ब. वयणं। ४ ब. लेहइ मि।

(१) सः स्यादारम्भविरतो विरमेद्योऽखिलादपि।
पापहेतोः सदाऽऽरम्भात्सेवाकृष्यादिकात्सदा ॥१८०॥

(२) निर्मूर्च्छं वस्त्रमात्रं यः स्वीकृत्य निखिलं त्यजेत्।
बाह्यं परिग्रहं स स्याद्विरक्तस्तु परिग्रहात् ॥१८१॥

(३) पृष्टोऽपृष्टोऽपि नो दत्तेऽनुमतिं पापहेतुके।
ऐहिकाखिलकार्ये योऽनुमतिविरतोऽस्तु सः ॥१८२॥— गुण० श्राव०

(४) गेहादि व्याश्रमं त्यक्त्वा गुर्वन्ते व्रतमाश्रितः। भैक्ष्याशीः यस्तपस्तप्येदुद्दिष्टविरतो हि सः ॥१८३॥

* उद्दिष्टविरतो द्वेधा स्यादाद्यो वस्त्रखण्डभाक्। संमूर्ध्वजानां वपनं कर्त्तनं चैव कारयेत् ॥१८४॥
गच्छेन्नाकारितो भोक्तुं कुर्याद्भिक्षां यथाशनम्।
पाणिपात्रेऽन्यपात्रे वा भजेद्भुक्तिं निविष्टवान् ॥१८५॥
भुक्त्वा प्रक्षाल्य पादं (त्रं) च गत्वा च गुरुसन्निधिम्।
चतुर्धान्नपरित्यागं कृत्वाऽऽलोचनमाश्रयेत् ॥१८६॥—गुण० श्रा०

भुंजेइ पाणिपत्तम्मि भायणे वा सइं समुवइट्ठो । उववासं पुण णियमा चउव्विहं कुणइ पव्वेसु ॥३०३

पक्खालिऊण पत्तं पविसइ चरियाय पंगणे ठिच्चा ।
भणिऊण धम्मलाहं जायइ भिक्खं सयं चेव ॥३०४

सिग्घं लाहालाहे अदीणवयणो णियत्तिऊण तओ । अण्णमि गिहे वच्चइ दरिसइ मोणेण कायं[1] वा ॥
जइ अद्धवहे[2] कोइ वि भणइ पत्थेइ भोयणं कुणह । भोत्तूण णिययभिक्खं तस्सण्णं भुंजए सेसं ३०६

अह ण भणइ तो भिक्खं भमेज्ज णियपोट्टपूरणपमाणं ।
पच्छा एयम्मि गिहे जाएज्ज पासुगं सलिलं ॥३०७

जं किं पि पडियभिक्खं भुंजिज्जो सोहिऊण जत्तेण । पक्खालिऊण पत्तं गच्छिज्जो गुरुसयासम्मि ॥
जइ एवं ण रएज्जो काउंरिसगिहम्मि[3] चरियाए । पविसत्ति एयभिक्खं पवित्तिणियमणं[4] ता कुज्जा॥
गंतूण गुरुसमीवं पच्चक्खाणं चउव्विहं विहिणा । गहिऊण तओ सव्वं आलोचेज्जा पयत्तेण ॥३१०*

एमेव होइ विइओ णवरिविसेसो कुणिज्ज णियमेण ।
लोचं धरिज्ज पिच्छं भुंजिज्जो पाणिपत्तम्मि ॥३११ (१)

आदिका प्रतिलेखन अर्थात् संशोधन करता है ॥३०२॥ पाणि-पात्रमें या थाली आदि भाजनमें (आहार रखकर) एक वार बैठकर भोजन करता है। किन्तु चारों पर्वोंमें चतुर्विध आहारको त्यागकर उपवास नियमसे करता है ॥३०३॥ पात्रको प्रक्षालन करके चर्याके लिए श्रावकके घरमें प्रवेश करता है और आंगनमें ठहरकर 'धर्म-लाभ' कहकर स्वयं ही भिक्षा मांगता है ॥३०४॥ भिक्षा-लाभके अलाभमें अर्थात् भिक्षा न मिलनेपर, अदीन-मुख वहाँसे शीघ्र निकलकर दूसरे घरमें जाता है और मौन से अपने शरीरको दिखलाता है ॥३०५॥ यदि अर्ध-पथमें, अर्थात् मार्गके बीचमें ही कोई श्रावक मिले और प्रार्थना करे कि भोजन कर लीजिए तो पूर्व घरसे प्राप्त अपनी भिक्षाको खाकर, शेष अर्थात् जितना पेट खाली रहे, तत्प्रमाण उस श्रावकके अन्नको खावे ॥३०६॥ यदि कोई भोजनके लिए न कहे, तो अपने पेटके पूरण करनेके प्रमाण भिक्षा प्राप्त करने तक परिभ्रमण करे, अर्थात् अन्य अन्य श्रावकोंके घर जावे। आवश्यक भिक्षा प्राप्त करनेके पश्चात् किसी एक घरमें जाकर प्रासुक जल माँगे ॥३०७॥ जो कुछ भी भिक्षा प्राप्त हुई हो, उसे शोधकर भोजन करे और यत्नके साथ अपने पात्रको प्रक्षालनकर गुरुके पासमें जावे ॥३०८॥ यदि किसीको उक्त विधिसे गोचरी करना न रुचे, तो वह मुनियोंके गोचरी कर जानेके पश्चात् चर्याके लिए प्रवेश करे, अर्थात् एक भिक्षाके नियमवाला उत्कृष्ट श्रावक चर्याके लिए किसी श्रावक जनके घरमें जावे और यदि इस प्रकार भिक्षा न मिले, तो उसे प्रवृत्ति-नियमन करना चाहिए, अर्थात् फिर किसीके घर न जाकर उपवास का नियम कर लेना चाहिए ॥३०९॥ पश्चात् गुरुके समीप जाकर विधिपूर्वक चतुर्विध (आहारके त्यागरूप) प्रत्याख्यान ग्रहण कर पुनः प्रयत्नके साथ सर्वदोषोंकी आलोचना करे ॥३१०॥ इस प्रकार ही अर्थात् प्रथम उत्कृष्ट श्रावकके समान ही द्वितीय उत्कृष्ट श्रावक होता है, केवल विशेषता यह है कि उसे नियमसे केशोंका लोंच करना चाहिए, पीछी रखना चाहिए और पाणिपात्रमें खाना चाहिए ॥३११॥ दिनमें प्रतिमायोग धारण करना अर्थात् नग्न होकर

---

१ ब. कायव्वं । २ प. अट्ठवहे । ३ काउंरिसिगोहणम्मि । ४. ध. णियमेणं ।

(१) द्वितीयोऽपि भवेदेवं स तु कौपीनमात्रवान् । कुर्याल्लोचं धरेत्पिच्छं पाणिपात्रेऽशनं भजेत् ।१८।

दिणपडिम-वीरचरिया-तियालजोगेसु णत्थि अहियारो ।
सिद्धंत-रहस्साण वि अज्झयणं देसविरदाणं[1] ॥३१२ (१)
उद्दिट्ठपिंडविरओ दुवियप्पो सावओ समासेण । एयारसम्मि ठाणे भणिओ सुत्ताणुसारेण ॥३१३

रात्रिभोजनदोष-वर्णन

एयारसेसु पढमं वि[2] जदो णिसिभोयणं कुणंतस्स ।
ठाणं ण ठाइ[3] तम्हा णिसिभुत्तिं परिहरे णियमा ॥३१४
चम्मट्ठि-कीड-उंदुर[4]-भुयंग-केसाइ असणमज्झम्मि ।
पडियं ण किं पि पस्सइ भुंजइ सव्वं पि णिसिसमये ॥३१५
दीउज्जोयं जइ कुणइ तह वि चउरिंदिया अपरिमाणा ।
णिवडंति दिट्ठिराएण मोहिया असणमज्झम्मि ॥३१६
इयएरिसमाहारं भुंजंतो आदणासमिह लोए । पाउणइ परभवम्मि चउगइ संसारदुक्खाइं ॥३१७
एवं बहुप्पयारं[5] दोसं[6] णिसिभोयणम्मि णाऊण । तिविहेण राइभुत्ती परिहरियव्वा हवे तम्हा ३१८

श्रावकके अन्य कर्तव्य

विणओ विज्जाविच्चं कायकिलेसो य पुज्जणविहाणं ।
सत्तीए जहजोग्गं कायव्वं देसविरएहिं ॥३१९ (२)

दिनभर कायोत्सर्ग करना, वीरचर्या अर्थात् मुनिके समान गोचरी करना, त्रिकाल योग अर्थात् गर्मीमें पर्वतके शिखरपर, वरसातमें वृक्षके नीचे, और सर्दीमें नदीके किनारे ध्यान करना, सिद्धान्त-ग्रन्थोंका अर्थात् केवली, श्रुतकेवली-कथित गणधर, प्रत्येकबुद्ध और अभिन्नदशपूर्वी साधुओंसे निर्मित ग्रन्थोंका अध्ययन और रहस्य अर्थात् प्रायश्चित्त शास्त्रका अध्ययन, इतने कार्योंमें देशविरती श्रावकोंका अधिकार नहीं है ॥३१२॥ ग्यारहवें प्रतिमास्थानमें उपासकाध्ययन-सूत्रके अनुसार संक्षेपसे मैंने उद्दिष्ट आहारके त्यागी दोनों प्रकारके श्रावकोंका वर्णन किया ॥३१३॥

चूँकि, रात्रिको भोजन करनेवाले मनुष्यके ग्यारह प्रतिमाओंमेंसे पहली भी प्रतिमा नहीं ठहरती है, इसलिए नियमसे रात्रिभोजनका परिहार करना चाहिए ॥३१४॥ भोजनके मध्य गिरा हुआ चर्म, अस्थि, कीट-पतंग, सर्प और केश आदि रात्रिके समय कुछ भी नहीं दिखाई देता है, और इसलिए रात्रिभोजी पुरुष सबको खा जाता है ॥३१५॥ यदि दीपक जलाया जाता है, तो भी पतंगे आदि अगणित चतुरिन्द्रिय जीव दृष्टिरागसे मोहित होकर भोजनके मध्य गिरते हैं ॥३१६॥ इस प्रकारके कीट-पतंगयुक्त आहारको खानेवाला पुरुष इस लोकमें अपनी आत्माका या अपने आपका नाश करता है, और परभवमें चतुर्गतिरूप संसारके दुःखोंको पाता है ॥३१७॥ इस प्रकार रात्रिभोजनमें वहुत प्रकारके दोष जान करके मन, वचन, कायसे रात्रि भोजनका परिहार करना चाहिए ॥३१८॥ देशविरत श्रावकोंको अपनी शक्तिके अनुसार यथायोग्य विनय, वैयावृत्य, काय-क्लेश और पूजन-विधान करना चाहिए ॥३१९॥ दर्शनविनय, ज्ञानविनय, चारित्रविनय और

---

१ प. व. विरयाणं । २ ध. पि । ३ व. वाइ । ४ व. दुदुर । ५ ध. दुंदुर । ध. प्पयारे । ६ ध. दोसे ।

(१) वीरचर्या-दिनच्छाया सिद्धान्ते निह्यसंश्रुतौ ।
त्रैकालिके योऽवयोगेऽस्य विद्यते नाधिकारिता ॥१८८॥—गुण० श्राव०

(२) विनयः स्याद्वैयावृत्यं कायक्लेशस्तथार्चना । कर्त्तव्या देशविरतैर्यथाशक्ति यथागमम् ॥१९०॥

विनयका वर्णन

दंसण-णाण-चरित्ते तव उवयारम्मि पंचहा विणओ।
पंचमगइगमणत्थं[1] कायव्वो देसविरएण ॥३२० (१)
णिस्संकिय-संवेगाइ जे गुणा वण्णिया मए[2] पुव्वं।
तेसिमणुपालणं जं वियाण सो दंसणो विणओ ॥३२१ (२)
णाणे णाणुवयरणे य णाणवंतम्मि तह य भत्तीए।
जं पडियरणं कीरइ णिच्चं तं णाणविणओ हु ॥३२२ (३)
पंचविहं चारित्तं अहियारा जे य वण्णिया तस्स। जं तेसिं बहुमाणं वियाण चारित्तविणओ सो ३२३
बालो यं बुड्ढो यं संकप्पं वज्जिऊण तवसीणं[3]।
जं पणिवायं कीरइ तवविणयं तं वियाणेहि[4] ॥३२४ (४)
उवयारिओ वि विणओ मण-वचि-काएण होइ तिवियप्पो।
सो पुण दुविहो भणिओ पच्चक्ख-परोक्खभेएण ॥३२५ (५)
जं दुप्परिणामाओ मणं णियत्ताविऊण सुहजोए।
ठाविज्जइ सो विणओ जिणेहि माणस्सिओ भणिओ ॥३२६ (६)

उपचारविनय, यह पाँच प्रकारका विनय पंचमगति गमन अर्थात् मोक्ष-प्राप्तिके लिए श्रावकको करना चाहिए ॥३२०॥ निःशंकित, संवेग आदि जो गुण मैंने पहले वर्णन किये हैं, उनके परिपालनको दर्शन-विनय जानना चाहिए ॥३२१॥ ज्ञानमें, ज्ञानके उपकरण शास्त्र आदिकमें, तथा ज्ञानवंत पुरुषमें भक्तिके साथ नित्य जो अनुकूल आचरण किया जाता है, वह ज्ञानविनय है ॥३२२॥ परमागममें पांच प्रकारका चारित्र और उसके जो अधिकारी या धारण करनेवाले वर्णन किये गये हैं, उनके आदर-सत्कारको चारित्रविनय जानना चाहिए ॥३२३॥ यह बालक है, यह वृद्ध है, इस प्रकारका संकल्प छोड़कर तपस्वी जनोंका जो प्रणिपात अर्थात् आदरपूर्वक वंदन आदि किया जाता है, उसे तप विनय जानना चाहिए ॥३२४॥ औपचारिक विनय भी मन, वचन, कायके भेदसे तीन प्रकारकी होती है और वह तीनों प्रकारका विनय प्रत्यक्ष और परोक्षके भेदसे दो प्रकारका कहा गया है ॥३२५॥ जो मनको खोटे परिणामोंसे हटाकर शुभयोगमें स्थापन किया जाता है अर्थात् लगाया जाता है, उसे जिन भगवान्‌ने मानसिक विनय कहा है ॥३२६॥

---

१ ध. गमणत्थे। २ इ. मया। ३ म. तवस्सीणं। ४ झ. प. वियाणेहिं।

(१) दर्शनज्ञानचारित्रैस्तपसाऽप्युपचारतः। विनयः पंचधा स स्यात्समस्तगुणभूषणः ॥१९१॥

(२) निःशंकित्वादयः पूर्वं ये गुणा वर्णिता मया। यत्तेषां पालनं स स्याद्विनयो दर्शनात्मकः १९२।

(३) ज्ञाने ज्ञानोपचारे च..........................

(४) यहाँका पाठ मुद्रित प्रतिमें नहीं है और उसकी आदर्शभूत पंचायती मन्दिर देहलीकी हस्तलिखित प्रतिमें भी पत्र टूट जानेसे पाठ उपलब्ध नहीं है।—संपादक।

(५) मनोवाक्काय भेदेन..........................। प्रत्यक्षेतरभेदेन सापि स्याद्विविधा पुनः।

(६) दुर्ध्यानात्समाकृष्य शुभध्यानेन धार्यते। मानसं त्वनिशं प्रोक्तो मानसो विनयो हि सः ॥१९७॥

हिय-मिय पुज्जं[1] सुत्ताणुवीचि अफरसमकक्कसं वयणं ।
संजमिजणम्मि जं चाडुभासणं वाचिओ विणओ ॥३२७ (१)
किरियम्मब्भुट्ठाणं णवणंजलि आसणुवकरणदाणं ।
एते पच्चुग्गमणं च गच्छमाणे अणुव्वजणं ॥३२८ (२)
कायाणुरूवमद्दणकरणं कालाणुरूवपडियरणं । संथारभणियकरणं उवयरणाणं च पडिलिहणं ॥३२९
इच्चेवमाइ काइयविणओ रिसि-सावयाण कायव्वो ।
जिणवयणमणुगणंतेण देसविरएण जहजोग्गं ॥३३० (३)
इय पच्चक्खो एसो भणिओ गुरुणा विणा वि आणाए ।
अणुवट्टिज्जए जं तं परोक्खविणओ त्ति विण्णेओ ॥३३१ (४)
विणएण ससंकुज्जलजसोहधवलियदियंतओ पुरिसो ।
सव्वत्थ हवइ सुहओ तहेव आदिज्जवयणो य ॥३३२ (५)
जे केइ वि उवएसा इह-परलोए सुहावहा संति ।
विणएण गुरुजणाणं[2] सव्वे पाउणइ ते पुरिसा ॥३३३ (६)

हित, मित, पूज्य, शास्त्रानुकूल तथा हृदयपर चोट नहीं करनेवाले कोमल वचन कहना और संयमी जनोंमें चाटु (नर्म) भाषण करना सो वाचिक विनय है ॥३२७॥ साधु और श्रावकोंका कृतिकर्म अर्थात् वंदना आदि करना, उन्हें देख उठकर खड़े होना, नमस्कार करना, अंजली जोड़ना, आसन और उपकरण देना, अपनी तरफ आते देखकर उनके सन्मुख जाना, और जानेपर उनके पीछे-पीछे चलना, उनके शरीरके अनुकूल मर्दन करना, समयके अनुसार अनुकरण या आचरण करना, संस्तर आदि करना, उनके उपकरणोंका प्रतिलेखन करना, इत्यादिक कायिक विनय है। यह कायिक विनय जिनवचनका अनुकरण करनेवाले देशविरती श्रावकको यथायोग्य करना चाहिए ॥३२८-३३०॥ इस प्रकारसे यह तीनों प्रकारका प्रत्यक्ष विनय कहा। गुरुके विना अर्थात् गुरुजनोंके नहीं होनेपर भी उनकी आज्ञाके अनुसार मन, वचन, कायसे जो अनुवर्तन किया जाता है, वह परोक्ष-विनय है, ऐसा जानना चाहिए ॥३३१॥ विनयसे पुरुष शशांक (चन्द्रमा) के समान उज्ज्वल यशःसमूहसे दिगन्तको धवलित करता है। विनयसे वह सर्वत्र सुभग अर्थात् सब जगह सबका प्रिय होता है और तथैव आदेयवचन होता है, अर्थात् उसके वचन सब जगह आदरपूर्वक ग्रहण किये जाते हैं ॥३३२॥ जो कोई भी उपदेश इस लोक और परलोकमें जीवोंको सुखके देने-वाले होते .उन सबको मनुष्य गुरुजनोंकी विनयसे प्राप्त करते हैं ॥३३३॥

---

१ ब. पुज्जा । २ प्रतिपु 'गुरुजणाओ' इति पाठः ।

(१) वचो हितं मितं पूज्यमनुवीचिवचोऽपि च । यद्यतिमनुवर्तेत वाचिको विनयोऽस्तु सः ॥१९८॥
(२) गुरुस्तुतिक्रियायुक्ता नमनोच्चासनार्पणम् । सम्मुखो गमनं चैव तथा वाऽनुव्रजक्रिया ॥१९९॥
(३) अंगसंवाहनं योग्यप्रतीकारादिनिर्मितिः । विधीयते यतीनां यत्कायिको विनयो हि सः ॥२००॥
(४) प्रत्यक्षोऽप्ययमेतस्य परोक्षस्तु विनापि वा । गुरूंस्तदाज्ञयैव स्यात्प्रवृत्तिः धर्मकर्मसु ॥२०१॥
(५) शशांकनिर्मला कीर्त्तिः सौभाग्यं भाग्यमेव च । आदेयवचनत्वं च भवेद्विनयतः सताम् ॥२०२॥
(६) विनयेन समं किंचिन्नास्ति मित्रं जगत्त्रये । यस्मात्तेनैव विद्यानां रहस्यमुपलभ्यते ॥२०३॥
—गुण० श्राव०

देविंद-चक्कहर-मंडलीयरायाइ जं सुहं लोए। तं सव्वं विणयफलं णिव्वाणसुहं तहा[1] चेव ॥३३४

सामण्णा वि य विज्जा ण विणयहीणस्स सिद्धिमुवयाइ।
किं पुण णिव्वुइविज्जा विणयविहीणस्स सिज्झेइ[2] ॥३३५
सत्तू वि मित्तभावं जम्हा उवयाइ विणयसीलस्स।
विणओ तिविहेण तओ कायव्वो देसविरएण ॥३३६ (१)

वैयावृत्यका वर्णन

अइबाल-वुड्ढ-रोगाभिभूय-तणुकिलेससत्ताणं। चाउव्वण्णे संघे जहजोग्गं तह मणुण्णाणं ॥३३७ (२)
कर-चरण-पिट्ठ-सिरसाणं मद्दण-अब्भंग-सेवकिरियाहिं। उव्वत्तण-परियत्तण-पसारणकुंचणाईहिं ३३८
पडिजग्गणेहिं[3] तणुजोय-भत्त-पाणेहिं भेसजेहिं तहा। उच्चराईण विकिंचणेहिं तणुधोवणेहिं च ॥३३९
संथारसोहणेहि य विज्जावच्चं सया पयत्तेण। कायव्वं सत्तीए णिव्विदिगिच्छेण भावेण ॥३४०

णिस्संकिय-संवेगाइय जे गुणा वण्णिया मणो[4] विसया।
ते होंति पायडा पुण[5] विज्जावच्चं करंतस्स ॥३४१
देह-तव-णियम-संजम-सील-समाही य अभयदाणं च।
गइ मइ बलं च दिण्णं विज्जावच्चं करंतेण ॥३४२ (३)

संसारमें देवेन्द्र, चक्रवर्ती, और मांडलिक राजा आदिके जो सुख प्राप्त हैं, वह सब विनय का ही फल है। और इसी प्रकार मोक्षका सुख पाना भी विनयका ही फल है ॥३३४॥ जब साधारण विद्या भी विनय-रहित पुरुषके सिद्धिको प्राप्त नहीं होती है, तो फिर क्या मुक्तिको प्राप्त करनेवाली विद्या विनय-विहीन पुरुषके सिद्ध हो सकती है? अर्थात् कभी नहीं सिद्ध हो सकती ॥३३५॥ चूंकि, विनयशील मनुष्यका शत्रु भी मित्रभावको प्राप्त हो जाता है, इसलिए श्रावकको मन, वचन, कायसे विनय करना चाहिए ॥३३६॥ मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका इस चार प्रकारके चतुर्विध संघमें अतिबाल, अतिवृद्ध, रोगसे पीड़ित अथवा अन्य शारीरिक क्लेश-से संयुक्त जीवोंका, तथा मनोज्ञ अर्थात् लोकमें प्रभावशाली साधु या श्रावकोंका यथायोग्य हाथ, पैर, पीठ और शिरका दवाना, तेलमर्दन करना, स्नानादि कराना, अंग सेकना, उठाना, बैठाना, अंग पसारना, सिकोड़ना, करवट दिलाना, सेवा-शुश्रूषा आदि समयोचित कार्योंके द्वारा, शरीरके योग्य पथ्य अन्न-जल द्वारा, तथा औषधियोंके द्वारा, उच्चार (मल), प्रस्रवण (मूत्र) आदि के दूर करनेसे, शरीरके धोनेसे, और संस्तर (बिछौना) के शोधनेसे सदा प्रयत्नपूर्वक ग्लानि-रहित भावसे शक्तिके अनुसार वैयावृत्य करना चाहिए ॥३३७-३४०॥ निःशंकित आदि और संवेग आदि जो मनोविषयक गुण पहले वर्णन किये गये हैं, वे सब गुण वैयावृत्य करनेवाले जीवके प्रकट होते हैं ॥३४१॥ वैयावृत्यको करनेवाले श्रावकके द्वारा देह, तप, नियम, संयम और शीलका समाधान, अभय दान तथा गति, मति और बल दिया जाता है ॥३४२॥ भावार्थ—साधु जन या श्रावक आदि

---

१ प. तहच्चेव। २ इ. सिज्झेह, झ. सिज्झिहइ, ब. सब्भिहइ। ३ इ. पडित्तग्गा०, ब. पडिज्जग्ग०। ४ ब. मुणे। ५ ध. गुण।

(१) विद्वेषिणोऽपि मित्रत्वं प्रयान्ति विनयाद्यतः। तस्मात्त्रेधा विधातव्यो विनयो देशसंयतैः ॥२०४॥
(२) बालवार्धक्यरोगादिक्लिष्टे संघे चतुर्विधे। वैयावृत्यं यथाशक्तिर्विधेयं देशसंयतैः ॥२०५॥
(३) वपुस्तपोबलं शीलं गति-बुद्धि-समाधयः। निर्मलं नियमादि स्याद्वैयावृत्यकृतार्पणम् ॥२०६॥
—गुण० श्रा०

गुणपरिणामो जायइ जिणिंद-आणा य पालिया होइ ।
जिणसमय-तिलयभूओ लब्भइ अयतो वि गुणरासी ॥३४३
भमइ जए जसकित्ती सज्जणसुइ-हियय-णयण-सुहजणणी ।
अण्णेवि य होंति गुणा विज्जावच्चेण इहलोए ॥३४४ (१)
परलोए वि सरूवो चिराउसो रोय-सोय-परिहीणो ।
वल-तेय-सत्तजुत्तो जायइ अखिलप्पयाओ वा ॥३४५
जल्लोसहि-सव्वोसहि-अक्खीणमहाणसाइरिद्धीओ । अणिमाइगुणा य तहा विज्जावच्चेण पाउणइ ॥
किं जंपिएण बहुणा तिलोहसंखोहकारयमहंतं । तित्थयरणामपुण्णं विज्जावच्चेण अज्जेइ ॥३४७
तरुणियण-णयण-मणहारिरूव-बल-तेय-सत्तसंपण्णो । जाओ विज्जावच्चं पुव्वं काऊण वसुदेवो ३४८
वारवईए[1] विज्जाविच्चं किच्चा असंजदेणावि । तित्थयरणामपुण्णं समज्जियं वासुदेवेण ॥३४९
एवं णाऊण फलं विज्जावच्चस्स परमभत्तीए । णिच्छयजुत्तेण सया कायव्वं देसविरएण ॥३५०

जब रोग आदिसे पीड़ित होकर अपने व्रत, संयम आदिके पालनेमें असमर्थ हो जाते हैं, यहाँ तक कि पीड़ाकी उग्रतासे उनकी गति, मति आदि भी भ्रष्ट होने लगती है और वे मृतप्राय हो जाते हैं, उस समय सावधानीके साथ की गई वैयावृत्ति उनके लिए संजीवनी वटीका काम करती है, वे मरनेसे बच जाते हैं, गति, मति यथापूर्व हो जाती है और वे पुनः अपने व्रत, तप, संयम आदिकी साधनाके योग्य हो जाते हैं, इसलिए ग्रन्थकारने यह ठीक ही कहा है कि जो वैयावृत्त्य करता है, वह रोगी साधु आदिको अभयदान, व्रत-संयम-समाधान और गति-मति प्रदान करता है, यहाँ तक कि वह जीवन-दान तक देता है और इस प्रकार वैयावृत्त्य करनेवाला सातिशय अक्षय पुण्यका भागी होता है। वैयावृत्त्य करनेसे गुण-परिणमन होता है, अर्थात् नवीन सद्‌गुणोंका प्रादुर्भाव और विकास होता है, जिनेन्द्र-आज्ञाका परिपालन होता है, और अयत्न अर्थात् प्रयत्नके विना भी गुणोंका समूह प्राप्त होता है तथा वह जिन-शासनका तिलकभूत प्रभावक व्यक्ति होता है ॥३४३॥ सज्जन पुरुषोंके श्रोत्र, नयन और हृदयको सुख देनेवाली उसकी यशःकीर्ति जगमें फैलती है, तथा अन्य भी वहुतसे गुण वैयावृत्त्यसे इस लोकमें प्राप्त होते हैं ॥३४४॥ वैयावृत्त्यके फलसे परलोकमें भी जीव सुरूपवान्, चिरायुष्क, रोग-शोकसे रहित, वल, तेज और सत्त्वसे युक्त तथा पूर्ण प्रतापी होता है ॥३४५॥ वैयावृत्त्यसे जल्लौषधि, सर्वौषधि, और अक्षीणमहानस आदि ऋद्धियाँ, तथा अणिमा आदि अष्ट गुण प्राप्त होते हैं ॥३४६॥ अधिक कहनेसे क्या, वैयावृत्त्य करनेसे यह जीव तीन लोकमें संक्षोभ अर्थात् हर्ष और आश्चर्यको करानेवाला महान् तीर्थङ्कर नामका पुण्य उपार्जन करता है ॥३४७॥ वसुदेवका जीव पूर्वभवमें वैयावृत्त्य कर तरुणीजनोंके नयन और मनको हरण करने वाले रूप, वल, तेज और सत्त्वसे सम्पन्न वसुदेव नामका कामदेव हुआ ॥३४८॥ द्वारावतीमें व्रत-संयमसे रहित असंयत भी वासुदेव श्रीकृष्णने वैयावृत्त्य करके तीर्थंकर नामक पुण्यप्रकृतिका उपार्जन किया ॥३४९॥ इस प्रकार वैयावृत्त्यके फलको जानकर दृढ़ निश्चय होकर परम भक्तिके साथ श्रावकको सदा वैयावृत्त्य करना चाहिए ॥३५०॥

१ द्वारावत्याम् ।

(१) वैयावृत्यकृतः किञ्चिद्दुर्लभं न जगत्त्रये ।
विद्या कीर्तिः यशो लक्ष्मीः धीः सौभाग्यगुणेष्वपि ॥२०७॥—गुण० श्रा०

कायक्लेशका वर्णन

आयंबिल णिव्वियडी एयट्ठाणं छट्ठमाइखवणेहिं। जं कीरइ तणुतावं कायकिलेसो मुणेयव्वो ॥३५१(१)
मेहाविणरा एएण चेव बुज्झंति[1] बुद्धिविहवेण। ण य मंदबुद्धिणो तेण किं पि वोच्छामि सविसेसं ॥

पंचमी व्रतका वर्णन

आसाढ कत्तिए फग्गुणे य सियपंचमीए गुरुमूले। गहिऊण विहिं विहिणा पुव्वं काऊण जिणपूजा[2] ॥
पडिमासमेक्कखमणेण जाव वासाणि पंच मासा य।
अविच्छिण्णा[3] कायव्वा मुत्तिसुहं जायमाणेण ॥३५४
अवसाणे पंच घडाविऊण पडिमाओ जिणवरिंदाणं। तह पंच पोत्थयाणि य लिहाविऊणं ससत्तीए ॥
तेसिं पइट्ठयाले जं किं पि पइट्ठजोग्गमुवयरणं। तं सव्वं कायव्वं पत्तेयं पंच पंच संखाए ॥३५६
सहिरण्ण पंचकलसे पुरओ वित्थारिऊण वत्थमुहे। पक्कण्णं बहुभेयं फलाणि विविहाणि तह चेव ॥
दाणं च जहाजोग्गं दाऊण चउव्विहस्स संघस्स। उज्जवणविही एवं कायव्वा देसविरयण ॥३५८
उज्जवणविही ण तरइ काउं जइ को वि अत्थपरिहीणो।
तो विउणा कायव्वा उववासविही पयत्तेण ॥३५९
जइ अंतरम्मि कारणवसेण एक्को व दो व उपवासा[4]।
ण कओ तो मूलाओ पुणो वि सा होइ कायव्वा ॥३६०

आचाम्ल, निर्विकृति, एकस्थान (एकाशन), चतुर्थभक्त अर्थात् उपवास, षष्ठ भक्त अर्थात् वेला, अष्टमभक्त अर्थात् तेला आदिके द्वारा जो शरीरको कृश किया जाता है, उसे कायक्लेश जानना चाहिए ॥३५१॥ बुद्धिमान् मनुष्य तो इस संक्षिप्त कथनसे ही अपनी बुद्धिके वैभव द्वारा कायक्लेशके विस्तृत स्वरूपको समझ जाते हैं। किन्तु मन्दबुद्धि जन नहीं समझ पाते हैं, इसलिए कायक्लेशका कुछ विस्तृत स्वरूप कहूँगा ॥३५२॥ आषाढ़, कार्तिक या फाल्गुन मासमें शुक्ला पंचमीके दिन पहले जिन-पूजनको करके पुनः गुरुके पाद-मूलमें विधिपूर्वक विधिको ग्रहण करके, अर्थात् उपवासका नियम लेकर, प्रतिमास एक क्षमणके द्वारा अर्थात् एक उपवास करके पाँच वर्ष और पाँच मास तक मुक्ति-सुखको चाहनेवाले श्रावकोंको अविच्छिन्न अर्थात् विना किसी नागाके लगातार यह पंचमीव्रत करना चाहिए ॥३५३–३५४॥ व्रत पूर्ण हो जानेपर जिनेन्द्र भगवान्‌की पाँच प्रतिमाएँ बनवाकर, तथा पाँच पोथियों (शास्त्रों) को लिखाकर अपनी शक्तिके अनुसार उनकी प्रतिष्ठाके लिए जो कुछ भी प्रतिष्ठाके योग्य उपकरण आवश्यक हों, वे सब प्रत्येक पाँच पाँचकी संख्यासे बनवाना चाहिए ॥३५५-३५६॥ हिरण्य-सुवर्ण सहित अर्थात् जिनके भीतर सोना, चाँदी, माणिक आदि रखे गये हैं, और जिनके मुख वस्त्रसे बँधे हुए हैं, ऐसे पाँच कलशोंको जिनेन्द्र-वेदिकाके सामने रखकर, तथैव नानाप्रकारके पकवान और विविध फलोंको भी रखकर और चतुर्विध संघको यथायोग्य दान देकर देशविरत श्रावकोंको इस प्रकार व्रत उद्यापन विधि करना चाहिए ॥३५७–३५८॥ यदि कोई धन-हीन श्रावक उद्यापनकी विधि करनेके लिए समर्थ न हो, तो उसे विधिपूर्वक यत्नके साथ उपवास-विधि दुगुनी करना चाहिए ॥३५९॥ यदि व्रत करते हुए वीचमें

---

१ व. वुज्झंति। ध. जुज्झति। २ प. पुज्जा। ३ ध. अविछिण्णा। ४ ध. उववासो।

(१) आचाम्लं निर्विकृत्यैकभक्त-षष्ठाष्टमादिकम्।
यथाशक्तिश्च क्रियते कायक्लेशः स उच्यते ॥२०८॥

एस कमो णायव्वो सव्वविहीणं भणिज्जमाणाणं। एवं णाऊण फुडं ण पमाओ होइ कायव्वो ॥३६१
पंचमिउववासविहिं किच्चा देविंद-चक्कवट्टित्ते। भोत्तूण दिव्वभाए पच्छा पाउणदि णिव्वाणं ३६२

रोहिणीव्रत-वर्णन

विहिणा गहिऊण विहिं रोहिणिरिक्खम्मि पंच वासाणि।
पंच य मासा जाव उ[1] उपवासं तम्मि रिक्खम्मि ॥३६३
काऊणुज्जवणं पुण पुव्वविहाणेण होइ कायव्वं। णवरि विसेसो पडिमा कायव्वा वासुपुज्जस्स ३६४
तस्स फलेणित्थी वा पुरिसो सोयं[2] ण पिच्छइ कया वि।
भोत्तूण विउलभोए पच्छा पाउणइ णिव्वाणं ॥३६५

अश्विनीव्रत-वर्णन

गहिऊणस्सिणिरिक्खम्मि विहिं रिक्खेसु सत्तवीसेसु।
रिक्खं पडि एक्केक्को उववासो होइ कायव्वो ॥३६६
एवं काऊण विहिं सत्तीए जो करेइ उज्जवणं। भुत्तूणब्भुदयसुहं सो पावइ अक्खयं सुक्खं ॥३६७

सौख्यसम्पत्तिव्रत-वर्णन

एया पडिवा बीया उ दुण्णि तीया उ तिण्णि चउत्थीओ[3]। चत्तारि पंच य छट्ठीउ छट्ठेव ॥३६८
सत्तेव सत्तमीओ अट्ठट्ठम्मिओ य णव य णवमीओ।
दस दसमीओ य तहा एयारस एयारसीओ य ॥३६९

किसी कारणवश एक या दो उपवास न किये जा सके हों, तो मूलसे अर्थात् प्रारम्भ से लेकर पुनः वही उपवास विधि करना चाहिए ।।३६०।। यह क्रम आगे कहे जाने वाले सभी व्रत-विधानोंका जानना चाहिए, ऐसा भले प्रकार जानकर कभी भी ग्रहण किये गये व्रतमें प्रमाद नहीं करना चाहिए ।।३६१।। श्रावक इस पंचमीव्रत के उपवास-विधानको करके देवेन्द्र और चक्रवर्त्तियोंके दिव्य भोग भोगकर पीछे निर्वाण पदको प्राप्त करता है ।।३६२।। रोहिणी नक्षत्रमें विधिपूर्वक व्रत-विधिको ग्रहणकर पाँच वर्ष और पाँच मास तक उसी नक्षत्रमें उपवासको ग्रहणकर, पुनः अर्थात् व्रतपूर्ण होनेके पश्चात् पूर्वोक्त विधानसे उसका उद्यापन करना चाहिए। यहाँ केवल विशेपता यह है कि प्रतिमा वासुपूज्य भगवान्‌की बनवाना चाहिए ।।३६३-३६४।। इस रोहिणी व्रतके फलसे स्त्री हो, या पुरुष, वह कभी भी शोकको नहीं देखता है, अर्थात् उसका जीवन रोग-शोक-रहित सुखसे व्यतीत होता है और वह विपुल भोगोंको भोगकर पीछे निर्वाण-सुखको प्राप्त होता है ।।३६५।। अश्विनी नक्षत्रमें व्रत-विधि को ग्रहणकर पुनः सत्ताईस नक्षत्रोंमें प्रत्येक अश्विनी नक्षत्रपर एक-एक उपवास करना चाहिए। इस प्रकार अश्विनी व्रतकी विधिको करके जो अपनी शक्तिके अनुसार उद्यापन करता है, वह अभ्युदय अर्थात् स्वर्गके सुखको भोगकर अक्षय मुक्ति-सुखको प्राप्त करता है ।।३६६-३६७।। प्रतिपदा आदिक तिथियोंमें यथोक्त संख्याके क्रमसे प्रति-पदाका एक, द्वितीयाके दो, तृतीयाके तीन, चतुर्थीके चार, पंचमीके पाँच, षष्ठीके छह, सप्तमीके सात, अष्टमीके आठ, नवमीके नौ, दशमीके दस, एकादशीके ग्यारह, द्वादशीके बारह, त्रयोदशीके

---

१ झ. जाओ। २ शोकं। ३ ब. चोत्थीओ।

वारस य बारसीओ तेरह तह तेरसीओ णायव्वा । चोद्दस य चोद्दसीओ पण्णारस पुण्णिमाओ य ॥
उववासा कायव्वा जहुत्तसंखाकमेण एयासु । एसा णामेण विहि विण्णेया सुक्खसंपत्ती ॥३७१
एयस्से संजायइ फलेण अब्भुदयसुक्खसंपत्ती । कमसो मुत्तिसुहस्स वि तम्हा कुज्जाप यत्तेण ॥३७२

नन्दीश्वरपंक्तिव्रत-वर्णन

काऊण अट्ठ एयंतराणि रइयरणगेसु चत्तारि । दहिमुहसेलेसु पुणो अंजणजिणचेइए छट्ठं ॥३७३
णंदीसरम्मि दीवे एवं चउसु वि दिसासु कायव्वा । उववासा एस विहि णंदीसरपंति णामेण ॥३७४
जं किं पि देवलोए महड्ढिदेवाण माणुसाण सुहं । भोत्तूण सिद्धिसोक्खं पाउणइ फलेण एयस्स ॥३७५

विमानपंक्तिव्रत-वर्णन

एयंतरोववासा चत्तारि चउद्दिसासु काऊण । छट्ठं मज्झे एवं तिसट्ठिखुत्तो विहिं कुज्जा ॥३७६
पट्ठवणे णिट्ठवणे छट्ठं मज्झम्मि अट्ठयं च तहा । एस विही णायव्वा विमाणपंति त्ति णामेण ॥३७७
फलमेयस्से भोत्तूण देव-मणुएसु इंदियजसुक्खं । पच्छा पावइ मोक्खं थुणिज्जमाणो सुरिंदेहिं ।३७८
उद्देसमेत्तमेयं कीरइ अण्णं पि जं ससत्तीए । सुत्तुत्तत्तवविहाणं कायकिलेसु त्ति तं विंति ॥३७९

जिण-सिद्ध-सूरि-पाठय-साहूणं जं सुयस्स विहवेण ।
कीरइ विविहा पूजा वियाण तं पूजणविहाणं ॥३८० (१)

तेरह, चतुर्दशीके चौदह और पूर्णमासीके पन्द्रह उपवास करना चाहिए। इस उपवास-विधिका नाम सौख्यसंपत्तिव्रत जानना चाहिए। इस व्रत-विधिके फलसे अभ्युदय-सुखकी संप्राप्ति होती है और क्रमसे मुक्तिसुखकी भी प्राप्ति होती है। इसलिए प्रयत्नके साथ इस व्रतको करना चाहिए। ॥३६८–३७२॥ नन्दीश्वर द्वीपमें एक दिशासम्बन्धी आठ रतिकर पर्वतोंमें विद्यमान जिन-बिम्ब सम्बन्धी आठ एकान्तर उपवास करके, पुनः चार दधिमुख नामक शैलोंमें विद्यमान जिनबिम्ब सम्बन्धी चार एकान्तर उपवास करके, पुनः एक अंजनगिरिस्थ जिनबिम्ब सम्बन्धी षष्ठमभक्त अर्थात् एक बेला करे। इस प्रकार चारों ही दिशाओं में उपवास करना चाहिए। इस उपवास-विधिका नाम नन्दीश्वर पंक्ति व्रत है। इस व्रतके फलसे देवलोकमें महर्द्धिक देवोंके जो कुछ भी सुख हैं और मनुष्योंके जितने सुख हैं, उन्हें भोगकर यह जीव सिद्धि-सुखको प्राप्त होता है ॥३७३–३७५॥ चारों दिशाओंमें स्थित चार श्रेणीबद्ध विमान सम्बन्धी चार एकान्तर उपवास करके, पुनः मध्यमें स्थित इन्द्रक विमान सम्बन्धी एक षष्ठभक्त अर्थात् बेला करे। इस प्रकार यह विधि तिरेसठ वार करना चाहिए। प्रस्थापन अर्थात् व्रत-प्रारम्भ करनेके दिन और निष्ठापन अर्थात् व्रत समाप्त होनेके दिन बेला करे, तथा मध्यमें अष्टम भक्त अर्थात् तेला करे। इस उपवास-विधिका नाम विमान-पंक्ति व्रत जानना चाहिए ॥३७६–३७७॥ इस व्रत-विधानके फलसे यह जीव देव और मनुष्योंमें इन्द्रिय-जनित सुख भोगकर पीछे देवेन्द्रोंसे स्तुति किया जाता हुआ मोक्षको पाता है ॥३७८॥ व्रतोंका यह उद्देशमात्र वर्णन किया गया है। इनके अतिरिक्त अन्य भी सूत्रोक्त तप-विधानको जो अपनी शक्तिके अनुसार करता है, उसें आचार्योंने कायक्लेश इस नामसे कहा है ॥३७९॥ अर्हन्त जिनेन्द्र, सिद्ध भगवान्, आचार्य, उपाध्याय और साधुओंकी तथा शास्त्रकी जो वैभवसे नाना प्रकार की पूजा की जाती है, उसे पूजन-विधान जानना चाहिए ॥३८०॥ नाम, स्थापना,

---

(१) गुरूणामपि पंचानां या यथाभक्ति-शक्तितः । क्रियतेऽनेकधा पूजा सोऽर्चनाविधिरुच्यते ।२११।

णाम-ट्ठवणा-दव्वे खित्ते काले वियाण भावे य।
छव्विहपूया भणिया समासओ जिणवरिंदेहिं ॥३८१ (१)

नामपूजा

उच्चारिऊण णामं अरुहाईणं विसुद्धदेसम्मि।
पुप्फाणि जं खिविज्जंति वण्णिया[1] णामपूया सा ॥३८२ (२)

स्थापना पूजा

सब्भावासब्भावा दुविहा ठवणा जिणेहि पण्णत्ता। सायारवंतवत्थुम्मि जं गुणारोवणं पढमा ॥३८३
अक्खय-वराडओ वा अमुगो एसो[2] त्ति णिययबुद्धीए।
संकप्पिऊण वयणं एसा विइया असब्भावा ॥३८४ (३)
हुंडावसप्पिणीए विइया ठवणा ण होदि[3] कायव्वा। लोए कुलिंगमइमोहिए जदो होइ संदेहो ३८५(४)
कारावगिंदपडिमा पइट्ठलक्खणविहि फलं चेव। एदे पंचहियारा णायव्वा पढमठवणाए ॥३८६(५)

कारापक-लक्षण

भागी वच्छल्ल-पहावणा-खमा-सच्च-मद्दवोवेदो। जिणसासण-गुरुभत्तो सुत्ते कारावगो भणिदो ३८७

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा संक्षेपसे छह प्रकारकी पूजा जिनेन्द्रदेवने कही है ।।३८१।। अरहन्त आदिका नाम उच्चारण करके विशुद्ध प्रदेशमें जो पुष्प क्षेपण किये जाते हैं, वह नाम-पूजा जानना चाहिए।।३८२।। जिन भगवान्ने सद्भावस्थापना और असद्भावस्थापना, यह दो प्रकारकी स्थापना पूजा कही है। आकारवान् वस्तुमें जो अरहन्त आदिके गुणोंका आरोपण करना, सो यह पहली सद्भावस्थापना पूजा है। और अक्षत, वराटक (कौड़ी या कमलगट्टा) आदिमें अपनी बुद्धिसे यह अमुक देवता है ऐसा संकल्प करके उच्चारण करना, सो यह असद्भावस्थापना पूजा जानना चाहिए।।३८३–३८४।। हुंडावसर्पिणी कालमें दूसरी असद्भावस्थापना पूजा नहीं करना चाहिए, क्योंकि, कुलिंग-मतियोंसे मोहित इस लोकमें संदेह हो सकता है ।।३८५।। पहली सद्भाव-वस्थापना-पूजामें कारापक अर्थात् प्रतिमाको बनवाकर उसकी प्रतिष्ठा करानेवाला, इन्द्र अर्थात् प्रतिष्ठाचार्य, प्रतिमा, प्रतिष्ठाकी लक्षणविधि, और प्रतिष्ठाका फल, ये पाँच अधिकार जानना चाहिए ।।३८६।। भाग्यवान्, वात्सल्य, प्रभावना, क्षमा, सत्य और मार्दव गुणसे संयुक्त, जिन अर्थात् देव, शासन अर्थात् शास्त्र और गुरुकी भक्ति करनेवाला प्रतिष्ठाशास्त्रमें कारापक कहा गया है

---

१ व वाण्णिया। २ इ. व. एसु।. ३ य. ब. होई।

(१) स नाम-स्थापना-द्रव्य-क्षेत्र-कालाच्च भावतः।
पोढार्चाविधिरुद्दिष्टो विधेयो देशसंयतैः ॥२१२॥—गुण० श्राव०

(२) नामोच्चारोऽर्हतादीनां प्रदेशे परितः शुचौ। यः पुष्पाक्षतनिक्षेपा क्रियते नामपूजनम् ॥२१३॥

(३) सद्भावेतरभेदेन स्थापना द्विविधा मता। सद्भावस्थापना भावे साकारे गुणरोपणम् ॥२१४॥
उपलादौ निराकारे शुचौ संकल्पपूर्वकम्। स्थापनं यदसद्भावः स्थापनेति तदुच्यते ॥२१५॥

(४) हुंडावसर्पिणीकाले द्वितीया स्थापना बुधैः। न कर्त्तव्या यतो लोके समूलसंशयो भवेत् ॥२१६॥

(५) निर्मापकेन्द्रप्रतिमा प्रतिष्ठालक्ष्म तत्फलम्। अधिकाराश्च पंचैते सद्भावस्थापने स्मृताः ।२१७।
—गुणभूषण श्रावकाचार

इंद्र-लक्षण

देश-कुल-जाइसुद्धो णिरुवम-अंगो विसुद्धसम्मत्तो। पढमाणिओयकुसलो पइट्ठलक्खणविहिविदण्णू ॥
सावयगुणोववेदो उवासयज्झयणसत्थथिरबुद्धी। एवं गुणो पइट्ठाइरिओ जिणसासणे भणिओ ३८९

प्रतिमा-विधान

*मणि-कणय-रयण-रुप्पय-पित्तल-मुत्ताहलोवलाईहिं।
पडिमालक्खणविहिणा जिणाइपडिमा घडाविज्जा ॥३९०

बारह-अंगंगी जा[1] दंसणतिलया चरित्तवत्थहरा। चोद्दहपुव्वाहरणा ठावेयव्वा य सुयदेवी ॥३९१
अहवा जिणागमं पुत्थएसु सम्मं लिहाविऊण तओ। सुहतिहि-लग्ग-मुहुत्ते आरंभो होइ कायव्वो ३९२

प्रतिष्ठा-विधान

अट्ठदसहत्थमेत्तं भूमिं संसोहिऊण जइणाए। तस्सुवरि मंडओ पुण कायव्वो तप्पमाणेण ॥३९३
चउतोरण-चउदारोवसोहिओ विविहवत्थकयभूसो। धुव्वंतधय-वडाओ णाणापुप्फोवहारड्ढो ॥३९४
लंबंतकुसुमदामो वंदणमालाहिभूसियदुवारो। दारुवरि उहयकोणेसु पुण्णकलसेहि रमणीओ ॥३९५
तस्स वहुमज्झदेसे पइट्ठसत्थम्मि वुत्तमाणेण। समचउरंसं पीठं सव्वत्थ समं च काऊण ॥३९६
चउसु वि दिसासु तोरण-वंदणमालोववेददारणि। [2]णंदावत्ताणि तहा दिढाणि रइऊण कोणेसु ॥३९७
पडिचीणणेत्तपट्टाइएहिं वत्थेहिं वहुविहेहिं तहा। उल्लोविऊण उवरिं चंदोवयमणिविहाणेहिं ॥३९८

॥३८७॥ जो देश, कुल और जातिसे शुद्ध हो, निरुपम अंगका धारक हो, विशुद्ध सम्यग्दृष्टि हो, प्रथमानुयोगमें कुशल हो, प्रतिष्ठाकी लक्षण-विधिका जानकार हो, श्रावकके गुणोंसे युक्त हो, उपासकाध्ययन (श्रावकाचार) शास्त्रमें स्थिरवुद्धि हो, इस प्रकारके गुणवाला जिनशासनमें प्रतिष्ठाचार्य कहा गया है ॥३८८-३८९॥ मणि, स्वर्ण, रत्न, चाँदी, पीतल, मुक्ताफल (मोती) और पाषाण आदिसे प्रतिमाकी लक्षणविधिपूर्वक अरहंत, सिद्ध आदिकी प्रतिमा बनवाना चाहिए ॥३९०॥ जो श्रुतज्ञानके बारह अंग-उपांगवाली है, सम्यग्दर्शनरूप तिलकसे विभूषित है, चारित्ररूप वस्त्रकी धारक है, और चौदह पूर्वरूप आभरणोंसे मंडित है, ऐसी श्रुतदेवी भी स्थापित करना चाहिए ॥३९१॥ अथवा जिनागमको पुस्तकोंमें सम्यक् प्रकार लिखाकर तत्पश्चात् शुभ तिथि, शुभ लग्न और शुभ मुहूर्त्तमें प्रतिष्ठाका आरम्भ करना चाहिए ॥३९२॥ आठ-दस हाथ प्रमाण लम्बी-चौड़ी भूमिको यत्तनाके साथ भले प्रकार शुद्ध करके उसके ऊपर तत्प्रमाण मंडप बनाना चाहिए। वह मंडप चार तोरणोंसे और चार द्वारोंसे सुशोभित हो, नाना प्रकारके वस्त्रोंसे विभूषित हो, जिसपर ध्वजा-पताकाएँ फहरा रही हों, जो नाना पुष्पोपहारोंसे युक्त हो, जिसमें पुष्प-मालाएँ लटक रही हों, जिसके दरवाजे वंदन-मालाओंसे विभूषित हों, जो द्वारके ऊपर दोनों कोनोंमें जल-परिपूर्ण कलशोंसे रमणीक हो। उस मंडपके वहुमध्यदेशमें, अर्थात् ठीक बीचोंबीच प्रतिष्ठाशास्त्रमें कहे हुए प्रमाणसे समचतुरस्र अर्थात् चौकोण पीठ (चबूतरा) बनाकर और उसे सर्वत्र समान करके, चारों ही दिशाओंमें तोरण और वंदनमालाओंसे संयुक्त द्वारोंको बनाकर, तथा कोनोंमें दृढ़, मजबूत और स्थिर नंद्यावर्त बनाकर, चीनपट्ट (चाइना सिल्क), कोशा नादि नाना प्रकारके

१ ध. अंगंगिज्जा। २ झ. वज्जावत्ताणि, म. प. छत्तावत्ताणि। ध. छज्जावत्ताणि।
* स्वर्णरत्नमणिरौप्यनिर्मितं स्फाटिकामलशिलाभवं तथा।
उत्थिताम्बुजमहासनांगितं जैनबिम्बमिह शस्यते बुधैः ॥६९॥——वसुविन्दुप्रतिष्ठापाठ

संभूसिऊण चंदद्धचंदवुव्वुयवरायलाईहिं । मुत्तादामेहिं तहा किंकिणिजालेहिं विविहेहिं ॥३९९
छत्तेहिं चामरेहिं य दप्पण-भिंगार-तालवट्टेहिं । कलसेहि पुप्फवडिलिय-सुपइट्ठय-दीवणिवहेहिं ४००
एयं रयणं काऊण तओ अब्भंतरम्मि भागम्मि । रइऊण विविहभंडेहिं वेइयं चउसु कोणेसु ॥४०१
इंदो तह दायारो पासुयसलिलेण धारणादिण्हे[1] । पक्खालिऊण देहं पच्छा भोत्तूण महुरण्णं ॥४०२
उववासं पुण पोसहविहिणा गहिऊण गुरुसयासम्मि । णव-धवलवत्थभूसो सिरिखंडविलित्तसव्वंगो ॥
आहरण-वासियाईहिं भूसियंगो सगं सवुद्धीए । सक्कोहमिइ वियप्पिय विसेज्ज जागावणिं इंदो ४०४
पुव्वुत्तवेइमज्जे लिहेज्ज चुण्णेण पंचवण्णेण[2] । पिहुकण्णियं पइट्ठाकलावविहिणा सुकंदुत्थं[3] ॥४०५
रंगावलिं च मज्झे ठविज्ज सियवत्थपरिवुडं पीठं । उचिदेसु तह पइट्ठोवयरणदव्वं च ठाणेसु ॥४०६
एवं काऊण तओ ईसाणदिसाए वेइयं दिव्वं । रइऊण ण्हवणपीठं तिस्से मज्झम्मि ठावेज्जो ॥४०७
अरुहाईणं पडिमं विहिणा संठाविऊण तस्सुवरिं । धूलीकलसहिसेयं कराविए सुत्तहारेण ॥४०८
वत्थादियसम्माणं कायव्वं होदि तस्स सत्तीए । *पोक्खणविहिं च मंगलरवेण कुज्जा तओ कमसो ॥

नेत्राकर्षक वस्त्रोंसे निर्मित चन्द्रकान्तमणि तुल्य चतुष्कोण चँदोवेको तानकर, चन्द्र, अर्धचन्द्र, वुद्बुद, वराटक (कौड़ी) आदिसे तथा मोतियोंकी मालाओंसे, नाना प्रकारकी छोटी घण्टियोंके समूहसे, छत्रोंसे, चमरोंसे, दर्पणोंसे, भृङ्गारोंसे, तालवृन्तोंसे, कलशोंसे, पुष्प-पटलोंसे, सुप्रतिष्ठक (स्वस्तिक) और दीप-समूहोंसे आभूषित करे। इस प्रकारकी रचना करके पुनः उस चबूतरेके आभ्यन्तर भागमें चारों कोणोंमें विविध भाँड़ों (वर्तनों) से वेदिका बनाना चाहिए ॥३९३–४०१॥ धारणाके दिन अर्थात् प्रतिष्ठा करते समय उपवास ग्रहण करनेके पहले इन्द्र (प्रतिष्ठाचार्य) और दातार (प्रतिष्ठा-कारापक) प्रासुक जलसे देहको प्रक्षालनकर अर्थात् स्नानकर तत्पश्चात् मधुर अन्नको खाकर, पुनः गुरुके पासमें प्रोषधविधिसे उपवासको ग्रहणकर, नवीन, उज्ज्वल श्वेत वस्त्रोंसे विभूषित हो, श्रीखण्ड चन्दनसे सर्व अंगको लिप्तकर, आभरण और वासिका (सुगंधित द्रव्य या चूर्ण आदि) से विभूपित-अंग होकर, अपने आपको अपनी वुद्धिसे मैं इन्द्र हूँ ऐसा संकल्प करके वह इन्द्र (और प्रतिष्ठाकारक) यज्ञावनि अर्थात् प्रतिष्ठामंडपमें प्रवेश करे ॥४०२–४०४॥

प्रतिष्ठा-मंडपमें जाकर तत्रस्थ पूर्वोक्त वेदिकाके मध्यमें पंच वर्णवाले चूर्णके द्वारा प्रतिष्ठाकलापकी विधिसे पृथु अर्थात् विशाल कर्णिकावाले नील कमलको लिखे और उसमें रंगा-वलिको भरकर उसके मध्यमें श्वेत वस्त्रसे परिवृत पीठ अर्थात् सिंहासन या ठौनाको स्थापित कर तथा प्रतिष्ठामें आवश्यक उपकरण द्रव्य उचित स्थानोंपर रखे ॥४०५-४०६॥ इस प्रकार उपर्युक्त कार्य करके पुनः ईशान दिशामें एक दिव्य वेदिका रचकर, उसके मध्यमें एक स्नान-पीठ अर्थात् अभिषेकार्थ सिंहासन या चौकी वगैरहको स्थापित करे। और उसके ऊपर विधिपूर्वक अरहंत आदिकी प्रतिमाको स्थापित कर सूत्रधार अर्थात् प्रतिमा वनानेवाले कारीगरके द्वारा धूलिकलशा-भिषेक करावे। तत्पश्चात् उस सूत्रधारका अपनी शक्तिके अनुसार वस्त्रादिकसे सन्मान करना चाहिये। तत्पश्चात् क्रमशः प्रोक्षणविधिको मांगलिक वचन गीतादिसे करे। (धूलीकलशाभिषेक और प्रोक्षणविधिके जाननेके लिए परिशिष्ट देखिए) ॥४०७–४०९॥ तत्पश्चात् आकर-शुद्धिके

---

१ इ दियहं, झ व दियहे, व प दियहो। २ पंचवर्णचूर्ण-श्वेतमुक्ताचूर्ण, पीत-हारिद्रपीतमणिचूर्ण, हरित-वैडूर्यरत्नचूर्ण, रत्न-माणिक्य-ताम्रमणिचूर्ण, कृष्ण-गरुत्मणिचूर्ण, (वसुविन्दु प्रतिष्ठापाठ)। ३ इ झ ध फ सुकंदुट्ठं, व सुकंदुट्टं। नीलोत्पलमित्यर्थः।

तप्पाओग्गुवयरणं अप्पसमीवं णिविसिऊण तओ। आगरसुद्धिं कुज्जा पइट्ठसत्थुत्तमग्गेण ॥४१०

एवं काऊण तओ खुहियसमुद्दोव्व गज्जमाणेहिं। वरभेरि-करड-काहल-जय-घंटा-संख-णिवहेहिं ४११

गुलुगुलुगुलंत तविलेहिं कंसतालेहिं झमझमंतेहिं। घुम्मंत पडह-मद्दल[१]-हुडुक्कमुक्खेहिं विविहेहिं ४१२

गिज्जंत संधिवंधाइएहिं गेएहिं[२] वहुपयारेहिं। वीणावंसेहिं तहा आणयसद्देहिं रम्मेहिं ॥४१३

वहुहाव-भाव-विब्भम-विलास-कर-चरण-तणुवियारेहिं।
णच्चंत णवरसुब्भिण्ण-णाडएहिं विविहेहिं ॥४१४

थोत्तेहिं मंगलेहिं य उच्चाहसएहिं महुरवयणस्स। धम्माणुरायरत्तस्स चाउव्वण्णस्स संघस्स ॥४१५

भत्तीए पिच्छमाणस्स तओ उच्चाइऊण जिणपडिमं।
उस्सिय[३]सियायवत्तं सियचामरधुव्वमाण[४]सव्वंगं ॥४१६

आरोविऊण सीसे काऊण पयाहिणं जिणगेहस्स। विहिणा ठविज्ज पुव्वुत्तवेइयामज्झपीठम्मि ॥४१७

चिट्ठेज्ज-जिणगुणारोवणं कुणंतो जिणिंदपडिविंवे। इट्ठविलग्गस्सुदए चंदणतिलयं तओ दिज्जा ४१८

सव्वावयवेसु पुणो मंतण्णासं कुणिज्ज पडिमाए। विविहच्चणं च कुज्जा कुसुमेहिं वहुप्पयारेहिं ४१९

दाऊण मुहपडं धवलवत्थजुयलेण मयणफलसहियं।
अक्खय-चरु-दीवेहिं य धूवेहिं फलेहिं विविहेहिं ॥४२०

वलिवत्तिएहिं जावारएहिं[५] य सिद्धत्थपण्णरुक्खेहिं। पुव्वुत्तुवयरणेहि य[६] रएज्ज पुज्जं सविहवेण ४२१

योग्य उपकरणोंको अपने समीप रखकर प्रतिष्ठाशास्त्रमें कहे हुए मार्गके अनुसार आकर शुद्धिको करे। (आकरशुद्धिके विशेष स्वरूपको जाननेके लिए परिशिष्ट देखिए) ॥४१०॥ इस प्रकार आकरशुद्धि करके पुनः क्षोभित हुए समुद्रके समान गर्जना करते हुए उत्तमोत्तम भेरी, करड, काहल, जयजयकार शब्द, घण्टा और शंखोंके समूहोंसे गुल-गुल शब्द करते हुए तवलोंसे, झम-झम शब्द करते हुए कंसतालोंसे, घुम-घुम शब्द करते हुए नाना प्रकारके ढोल, मृदंग, हुड़ुक्क आदि मुख्य-मुख्य वाजोंसे, सुर-आलाप करते हुए संधिवंधादिकोंसे अर्थात् सारंगी आदिसे, और नाना प्रकारके गीतोंसे, सुरम्य वीणा, बाँसुरीसे तथा सुन्दर आणक अर्थात् वाद्यविशेषके शब्दोंसे नाना प्रकारके हाव, भाव, विभ्रम, विलास तथा हाथ, पैर और शरीरके विकारोंसे अर्थात् विविध नृत्योंसे नाचते हुए नौ रसोंको प्रकट करनेवाले नाना नाटकोंसे, स्तोत्रोंसे, मांगलिक शब्दोंसे, तथा उत्साह-शतोंसे अर्थात् परम उत्साहके साथ मधुरभाषी, धर्मानुराग-रक्त और भक्तिसे उत्सवको देखनेवाले चातुर्वर्ण संघके सामने, जिसके ऊपर श्वेत आतपत्र (छत्र) तना है, और श्वेत चामरोंके ढोरनेसे व्याप्त है सर्व अंग जिसका, ऐसी जिनप्रतिमाको वह प्रतिष्ठाचार्य अपने मस्तकपर रखकर और जिनेन्द्रगृहकी प्रदक्षिणा करके, पूर्वोक्त वेदिकाके मध्य-स्थित सिंहासनपर विधिपूर्वक प्रतिमाको स्थापित कर, जिनेन्द्र-प्रतिविम्ब अर्थात् जिन-प्रतिमामें जिन-भगवान्‌के गुणोंका आरोपण करता हुआ, पुनः इष्ट लग्नके उदयमें अर्थात् शुभ मुहूर्तमें प्रतिमाके चन्दनका तिलक लगावे। पुनः प्रतिमाके सर्व अंगोपांगोंमें मंत्रन्यास करे और विविध प्रकारके पुष्पोंसे नाना पूजनोंको करे। तत्पश्चात् मदनफल (मैनफल या मैनार) सहित धवल वस्त्र-युगलसे प्रतिमाके मुखपट देकर अर्थात् वस्त्रसे मुखको आवृत कर, अक्षत, चरु, दीपसे, विविध धूप और फलोंसे, बलि-वर्त्तिकोंसे

---

१ व. मंद्दल। २ इ. गएहिं, व. गोएहिं। ३ व. उब्भिय। ४ इ. दोलिमाण०। ५ म. जुवारेहिं। ६ घ. प. परए।

रत्ति जग्गिज्ज[1] पुणो तिसट्ठि[2]सलायपुरिससुकहाहिं । संघेण समं पुज्जं पुणो वि कुज्जा पहायम्मि ॥

एवं चत्तारि दिणाणि जाव कुज्जा तिसंझ जिणपूजा ।
*नेत्तुम्मीलणपुज्जं चउत्थण्हवणं तओ कुज्जा ॥४२३

एवं ण्हवणं काऊण सत्थमग्गेण संघमज्झम्मि । तो वक्खमाणविहिणा जिणपयपूया य कायव्वा ॥४२४

गहिऊण सिसिरकर-किरण-णियर-धवलयर-रययभिंगारं ।
मोत्तिय-पवाल-मरगय-सुवण्ण-मणि-खचिय[3]-वरकंठं ॥४२५

सयवत्त-कुसुम[4] कुवलय-रजपिंजर-सुरहि-विमल-जलभरियं ।
जिणचरण-कमलपुरओ खिविज्जि ओ तिण्णि धाराओ ॥४२६

कप्पूर-कुंकुमायरु-तुरुक्कमीसेण चंदणरसेण । वरबहलपरिमलामोयवासियासासमूहेण ॥४२७

वासाणुमग्गसंपत्तमुइयमत्तालिरावमुहलेण । सुरमउडघिट्ठचलणं[5] भत्तीए समलहिज्ज जिणं ॥४२८

ससिकंतखंडविमलेहिं विमलजलसित्त अइ[6]सुयंधेहिं । जिणपडिमपइट्ठयज्जिविसुद्धपुण्णंकुरेहिं व ४२९

वर कलम-सालितंडुलचएहिं सुछंडिय[7] दीहसयलेहिं ।
मणुय-सुरासुरमहियं पुज्जिज्ज जिणिंदपयजुयलं ॥४३०

अर्थात् पूजार्थ निर्मित अगरबत्तियोंसे, जावारकोंसे, सिद्धार्थ (सरसों) और पर्ण वृक्षोंसे तथा पूर्वोक्त उपकरणोंसे पूर्ण वैभवके साथ या अपनी शक्तिके अनुसार पूजा रचे ॥४११-४२१॥ पुनः संघके साथ तिरेसठ शलाका पुरुषोंकी सुकथालापोंसे रात्रिको जगे अर्थात् रात्रि जागरण करे और फिर प्रातःकाल संघके साथ पूजन करे ॥४२२॥ इस प्रकार चार दिन तक तीनों संध्याओंमें जिन-पूजन करे। तत्पश्चात् नेत्रोन्मीलन पूजन और चतुर्थ अभिषेक करे ॥४२३॥

इस प्रकार शास्त्रके अनुसार संघके मध्यमें जिनाभिषेक करके आगे कही जानेवाली विधिसे जिनेन्द्र भगवान्के चरण-कमलोंकी पूजा करना चाहिये ॥४२४॥ मोती, प्रवाल, मरकत, सुवर्ण और मणियोंसे जटित श्रेष्ठ कण्ठवाले, शतपत्र (रक्त कमल) कुसुम, और कुवलय (नील कमल) के परागसे पिंजरित एवं सुरभित विमल जलसे भरे हुए शिशिरकर (चन्द्रमा) की किरणोंके समूहसे भी अति धवल रजत (चाँदी) के भृङ्गार (झारी) को लेकर जिनभगवान्के चरण-कमलोंके सामने तीन धाराएँ छोड़ना चाहिए ॥४२५-४२६॥ कपूर, कुंकुम, अगर, तगरसे मिश्रित, सर्वश्रेष्ठ विपुल परिमल (सुगन्ध) के आमोदसे आशासमूह अर्थात् दशों दिशाओंको आवासित करनेवाले और सुगन्धिके मार्गके अनुकरणसे आये हुए प्रमुदित एवं मत्त भ्रमरोंके शब्दोंसे मुखरित, चंदनरसके द्वारा, (निरन्तर नमस्कार किये जानेके कारण) सुरोंके मुकुटोंसे जिनके चरण घिस गये हैं, ऐसे श्रीजिनेन्द्रको भक्तिसे विलेपन करे ॥४२७-४२८॥ चन्द्रकान्तामणिके खंड समान निर्मल, तथा विमल (स्वच्छ) जलसे धोये हुए और अतिसुगंधित, मानों जिनप्रतिमाकी प्रतिष्ठासे उपार्जन किये गये विशुद्ध पुण्यके अंकुर ही हों, ऐसे अखंड और लम्वे उत्तम कलमी और शालि-धान्यसे उत्पन्न तन्दुलोंके समूहसे, मनुष्य सुर और असुरोंके द्वारा पूजित श्रीजिनेन्द्रके चरण-

---

१ ब. जग्गेज्ज । प. जगोज । २ ब. तेसट्ठि । ३ ब. खविय । ४ ध. प. कमल । ५ म. चरणं । ६ झ. मिउ । ७ ब. सुछडिय ।

* विदध्यात्तेन गन्धेन चामीकरशलाकया । चक्षुरुन्मीलनं शक्रः पूरकेन शुभोदये ॥४१८॥
—वसुविन्दुप्रतिष्ठापाठ

मालइ-कयंब-कणयारि-चंपयासोय-वउल-तिलएहिं । मंदार-णायचंपय-पउमुप्पल-सिंदुवारेहिं ॥४३१

कणवीर-मल्लियाहिं[1] कचणार-मचकुंद-किंकराएहिं ।
सुरवणज[2] जूहिया-पारिजातय[3]-जासवण-टगरेहिं ॥४३२

सोवण्ण-रुप्पि-मेहिय[4]मुत्तादामेहिं बहुवियप्पेहिं । जिणपय-पंकयजुयलं पुज्जिज्ज सुरिंदसयमहियं ॥
दहि-दुद्ध-सप्पिमिस्सेहि कलमभत्तेहि बहुप्पयारेहि । तेवट्ठि-विंजणेहि य बहुविहपक्कण्णभेएहि ॥४३४
रुप्पय-सुवण्ण-कंसाइथालिणिहिएहि विविहभक्खेहि । पुज्जं वित्थारिज्जो भत्तीए जिणिंदपयपुरओ ॥
दीवेहि णियपहोहामियक्कतेएहि धूमरहिएहि । मंदं चलमंदाणिलवसेण णच्चंत अच्चीहि ॥४३६
घणपडलकम्मणिवहव्व दूर[6]मवसारियंधयारेहि । जिणचरणकमलपुरओ कुणिज्ज रयणं सुभत्तीए ॥

कालायरु-णह-चंदह-कप्पूर[7]-सिल्हारसाइदव्वेहि[8] ।
णिप्पणधूमवत्तीहिं परिमलाय[10]त्तियालीहि ॥४३८

उग्गसिहादेसियसग्ग-मोक्खमग्गेहि बहलधूमेहिं । धूविज्ज जिणिंदपयारविंदजुयलं सुरिंदणुयं ॥४३९
जंबीर-मोच-दाडिम-कवित्थ[11]-पणस-णालिएरेहिं । हिंताल-ताल-खज्जूर-णिंबु-नारंग-चारेहिं[12] ॥४४०

युगलको पूजे ॥४२९-४३०॥ मालती, कदम्ब, कर्णकार (कनेर), चंपक, अशोक, वकुल, तिलक, मन्दार, नागचम्पक, पद्म (लाल कमल), उत्पल (नीलकमल), सिंदुवार (वृक्षविशेष या निर्गुण्डी), कर्णवीर (कर्नेर), मल्लिका, कचनार, मचकुन्द, किंकरात (अशोकवृक्ष), देवोंके नन्दनवनमें उत्पन्न होनेवाले कल्पवृक्ष, जुही, पारिजातक, जपाकुसुम, और तगर (आदि उत्तम वृक्षोंसे उत्पन्न) पुष्पोंसे, तथा सुवर्ण, चाँदीसे निर्मित फूलोंसे और नाना प्रकारके मुक्ताफलोंकी मालाओंके द्वारा, सौ जातिके इन्द्रोंसे पूजित जिनेन्द्रके पद-पंकज-युगलको पूजे ॥४३१-४३३॥ चाँदी, सोना, और काँसे आदिकी थालियोंमें रखे हुए दही, दूध और घीसे मिले हुए नाना प्रकारके चाँवलोंके भातसे, तिरेसठ प्रकारके व्यंजनोंसे, तथा नाना प्रकारकी जातिवाले पकवानोंसे और विविध भक्ष्य पदार्थोंसे भक्तिके साथ जिनेन्द्र-चरणोंके सामने पूजाको विस्तारे अर्थात् नैवेद्यसे पूजन करे ॥४३४-४३५॥ अपने प्रभासमूहसे अमित (अगणित) सूर्योंके समान तेजवाले, अथवा अपने प्रभापुञ्जसे सूर्यके तेजको भी तिरस्कृत या निराकृत करनेवाले, धूम-रहित, तथा धीरे-धीरे चलती हुई मन्द वायुके वशसे नाचती हुई शिखाओंवाले, और मेघ-पटलरूप कर्मसमूहके समान दूर भगाया है अंधकारको जिन्होंने, ऐसे दीपकोंसे परमभक्तिके साथ जिन-चरण-कमलोंके आगे पूजनकी रचना करे, अर्थात् दीपसे पूजन करे ॥४३६-४३७॥ कालागुरु, अम्बर, चन्द्रक, कर्पूर, शिलारस (शिलाजीत) आदि सुगंधित द्रव्योंसे बनी हुई, जिसकी सुगन्धसे लुब्ध होकर भ्रमर आ रहे हैं, तथा जिसकी ऊँची शिखा मानों स्वर्ग और मोक्षका मार्ग ही दिखा रही है, और जिसमेंसे बहुत-सा धुआँ निकल रहा है, ऐसी धूपकी वत्तियोंसे देवेन्द्रोंसे पूजित श्रीजिनेन्द्रके पादारविन्द-युगलको धूपित करे, अर्थात् उक्त प्रकारकी धूपसे पूजन करे ॥४३८-४३९॥

जंबीर (नीबू विशेष), मोच (केला), दाडिम (अनार), कवित्थ (कवीट या कैंथा), पनस, नारियल, हिंताल, ताल, खजूर, निम्बु, नारंगी, अचार (चिरौंजी), पूगीफल (सुपारी),

---

१ ध. प. मल्लिया । २ झ. ब. ध. प. सुरपुण्ण । ३ ध. प. पारियाय । ४ ब. सेहिय (निवृत्त इत्यर्थः) । ५ निराकृत इत्यर्थः । ६ प. ब. ध. मुवसा० । ७ झ. ब. तुरुक्क । ८ झ. ब. दिव्वेहिं । ९ प. वत्तीहि । १० इ पंति०, झ. यट्टि०, ब. यड्ढि० । ११ ब. कपिह । १२ झ. वारेहि ।

रत्ति जग्गिज्ज[1] पुणो तिसट्ठि[2]सलायपुरिससुकहाहिं। संघेण समं पुज्जं पुणो वि कुज्जा पहायम्मि ॥

एवं चत्तारि दिणाणि जाव कुज्जा तिसंझ जिणपूजा।
*नेत्तुन्मीलणपुज्जं चउत्थण्हवणं तओ कुज्जा ॥४२३

एवं ण्हवणं काऊण सत्थमग्गेण संघमज्झम्मि। तो वक्खमाणविहिणा जिणपयपूया य कायव्वा ॥४२४

गहिऊण सिसिरकर-किरण-णियर-धवलयर-रययभिंगारं।
मोत्तिय-पवाल-मरगय-सुवण्ण-मणि-खचिय[3]-वरकंठं ॥४२५
सयवत्त-कुसुम[4] कुवलय-रजपिंजर-सुरहि-विमल-जलभरियं।
जिणचरण-कमलपुरओ खिविज्जि ओ तिण्णि धाराओ ॥४२६

कप्पूर-कुंकुमायरु-तुरुक्कमीसेण चंदणरसेण। वरवहलपरिमलामोयवासियासासमूहेण ॥४२७
वासाणुमग्गसंपत्तमुइयमत्तालिरावमुहलेण। सुरमउडघिट्ठचलणं[5] भत्तीए समलहिज्ज जिणं ॥४२८
ससिकंतखंडविमलेहिं विमलजलसित्त अइ[6]सुयंधेहिं। जिणपडिमपइट्ठयज्जिविसुद्धपुण्णंकुरेहिं व ४२९

वर कलम-सालितंडुलचएहिं सुछंडिय[7] दीहसयलेहिं।
मणुय-सुरासुरमहियं पुज्जिज्ज जिणिंदपयजुयलं ॥४३०

अर्थात् पूजार्थ निर्मित अगरबत्तियोंसे, जावारकोंसे, सिद्धार्थ (सरसों) और पर्ण वृक्षोंसे तथा पूर्वोक्त उपकरणोंसे पूर्ण वैभवके साथ या अपनी शक्तिके अनुसार पूजा रचे ॥४११–४२१॥ पुनः संघके साथ तिरेसठ शलाका पुरुषोंकी सुकथालापोंसे रात्रिको जगे अर्थात् रात्रि जागरण करे और फिर प्रातःकाल संघके साथ पूजन करे ॥४२२॥ इस प्रकार चार दिन तक तीनों संध्याओंमें जिन-पूजन करे। तत्पश्चात् नेत्रोन्मीलन पूजन और चतुर्थ अभिषेक करे ॥४२३॥

इस प्रकार शास्त्रके अनुसार संघके मध्यमें जिनाभिषेक करके आगे कही जानेवाली विधिसे जिनेन्द्र भगवान्‌के चरण-कमलोंकी पूजा करना चाहिये ॥४२४॥ मोती, प्रवाल, मरकत, सुवर्ण और मणियोंसे जटित श्रेष्ठ कण्ठवाले, शतपत्र (रक्त कमल) कुसुम, और कुवलय (नील कमल) के परागसे पिंजरित एवं सुरभित विमल जलसे भरे हुए शिशिरकर (चन्द्रमा) की किरणोंके समूहसे भी अति धवल रजत (चाँदी) के भृङ्गार (झारी) को लेकर जिनभगवान्‌के चरण-कमलोंके सामने तीन धाराएँ छोड़ना चाहिए ॥४२५–४२६॥ कपूर, कुंकुम, अगर, तगरसे मिश्रित, सर्वश्रेष्ठ विपुल परिमल (सुगन्ध) के आमोदसे आशासमूह अर्थात् दशों दिशाओंको आवासित करनेवाले और सुगन्धिके मार्गके अनुकरणसे आये हुए प्रमुदित एवं मत्त भ्रमरोंके शब्दोंसे मुखरित, चंदनरसके द्वारा, (निरन्तर नमस्कार किये जानेके कारण) सुरोंके मुकुटोंसे जिनके चरण घिस गये हैं, ऐसे श्रीजिनेन्द्रको भक्तिसे विलेपन करे ॥४२७–४२८॥ चन्द्रकान्तामणिके खंड समान निर्मल, तथा विमल (स्वच्छ) जलसे धोये हुए और अतिसुगंधित, मानों जिनप्रतिमाकी प्रतिष्ठासे उपार्जन किये गये विशुद्ध पुण्यके अंकुर ही हों, ऐसे अखंड और लम्बे उत्तम कलमी और शालि-धान्यसे उत्पन्न तन्दुलोंके समूहसे, मनुष्य सुर और असुरोंके द्वारा पूजित श्रीजिनेन्द्रके चरण-

---

१ व. जग्गेज्ज। प. जगोज। २ व. तेसट्ठि। ३ व. खविय। ४ ध. प. कमल। ५ म. चरणं। ६ झ. मिउ। ७ व. सुछडिय।

* विदध्यात्तेन गन्धेन चामीकरशलाकया। चक्षुरुन्मीलनं शक्रः पूरकेन शुभोदये ॥४१८॥
—वसुविन्दुप्रतिष्ठापाठ

मालइ-कयंब-कणयारि-चंपयासोय-वउल-तिलएहिं । मंदार-णायचंपय-पउमुप्पल-सिंदुवारेहिं ॥४३१

कणवीर-मल्लियाहिं[1] कचणार-मचकुंद-किंकराएहिं ।
सुरवणज[2] जूहिया-पारिजातय[3]-जासवण-टगरेहिं ॥४३२

सोवण्ण-रुप्पि-मेहिय[4]मुत्तादामेहिं बहुवियप्पेहिं । जिणपय-पंकयजुयलं पुज्जिज्ज सुरिंदसयमहियं ॥
दहि-दुद्ध-सप्पिमिस्सेहिं कलमभत्तेहिं बहुप्पयारेहिं । तेवट्ठि-विजणेहिं य बहुविहपक्कण्णभेएहिं ॥४३४
रुप्पय-सुवण्ण-कंसाइथालिणिहिएहिं विविहभक्खेहिं । पुज्जं वित्थारिज्जो भत्तीए जिणिंदपयपुरओ ॥
दीवेहिं णियपहोहामियक्कतेएहि[5] धूमरहिएहिं । मंदं चलमंदाणिलवसेण णच्चंत अच्चीहिं ॥४३६
घणपडलकम्मणिवहव्व दूर[6]मवसारियंधयारेहिं । जिणचरणकमलपुरओ कुणिज्ज रयणं सुभत्तीए ॥

कालायरु-णह-चंदह-कप्पूर[7]-सिल्हारसाइदव्वेहिं[8] ।
णिप्पणधूमवत्तीहिं[9] परिमलाय[10]त्तियालीहिं ॥४३८

उग्गसिहादेसियसग्ग-मोक्खमग्गेहि बहलधूमेहिं । धूविज्ज जिणिंदपयारविंदजुयलं सुरिंदणुयं ॥४३९
जंबीर-मोच-दाडिम-कवित्थ[11]-पणस-णालिएरेहिं । हिंताल-ताल-खज्जूर-णिंबु-नारंग-चारेहिं[12] ॥४४०

युगलको पूजे ॥४२९–४३०॥ मालती, कदम्ब, कर्णकार (कनेर), चंपक, अशोक, वकुल, तिलक, मन्दार, नागचम्पक, पद्म (लाल कमल), उत्पल (नीलकमल), सिंदुवार (वृक्षविशेष या निर्गुण्डी), कर्णवीर (कर्नेर), मल्लिका, कचनार, मचकुन्द, किंकरात (अशोकवृक्ष), देवोंके नन्दनवनमें उत्पन्न होनेवाले कल्पवृक्ष, जुही, पारिजातक, जपाकुसुम, और तगर (आदि उत्तम वृक्षोंसे उत्पन्न) पुष्पोंसे, तथा सुवर्ण, चाँदीसे निर्मित फूलोंसे और नाना प्रकारके मुक्ताफलोंकी मालाओंके द्वारा, सौ जातिके इन्द्रोंसे पूजित जिनेन्द्रके पद-पंकज-युगलको पूजे ॥४३१–४३३॥ चाँदी, सोना, और काँसे आदिकी थालियोंमें रखे हुए दही, दूध और घीसे मिले हुए नाना प्रकारके चाँवलोंके भातसे, तिरेसठ प्रकारके व्यंजनोंसे, तथा नाना प्रकारकी जातिवाले पकवानोंसे और विविध भक्ष्य पदार्थोंसे भक्तिके साथ जिनेन्द्र-चरणोंके सामने पूजाको विस्तारे अर्थात् नैवेद्यसे पूजन करे ॥४३४–४३५॥ अपने प्रभासमूहसे अमित (अगणित) सूर्योंके समान तेजवाले, अथवा अपने प्रभापुञ्जसे सूर्यके तेजको भी तिरस्कृत या निराकृत करनेवाले, धूम-रहित, तथा धीरे-धीरे चलती हुई मन्द वायुके वशसे नाचती हुई शिखाओंवाले, और मेघ-पटलरूप कर्मसमूहके समान दूर भगाया है अंधकारको जिन्होंने, ऐसे दीपकोंसे परमभक्तिके साथ जिन-चरण-कमलोंके आगे पूजनकी रचना करे, अर्थात् दीपसे पूजन करे ॥४३६-४३७॥ कालागुरु, अम्बर, चन्द्रक, कर्पूर, शिलारस (शिलाजीत) आदि सुगंधित द्रव्योंसे बनी हुई, जिसकी सुगन्धसे लुब्ध होकर भ्रमर आ रहे हैं, तथा जिसकी ऊँची शिखा मानों स्वर्ग और मोक्षका मार्ग ही दिखा रही है, और जिसमेंसे बहुत-सा धुआँ निकल रहा है, ऐसी धूपकी वत्तियोंसे देवेन्द्रोंसे पूजित श्रीजिनेन्द्रके पादारविन्द-युगलको धूपित करे, अर्थात् उक्त प्रकारकी धूपसे पूजन करे ॥४३८-४३९॥

जंबीर (नीबू विशेष), मोच (केला), दाडिम (अनार), कवित्थ (कवीट या कैंथा), पनस, नारियल, हिंताल, ताल, खजूर, निम्बु, नारंगी, अचार (चिरौंजी), पूगीफल (सुपारी),

---

१ ध. प. मल्लिया । २ झ. ब. ध. प. सुरपुण्ण । ३ ध. प. पारियाय । ४ ब. सेहिय (निवृत्त इत्यर्थः) । ५ निराकृत इत्यर्थः । ६ प. ब. ध. मुवसा० । ७ झ. ब. तुरुक्क । ८ झ. ब. दिव्वेहिं । ९ प. वत्ताहिं । १० इ पंति०, झ. यट्टि०, ब. यड्ढि० । ११ ब. कपिह । १२ झ. ब. वारेहि ।

पूईफल-तिंदु-आमलय-जंबु-विल्लाइसुरहिमिट्ठेहिं। जिणपयपुरओ रयणं फलेहि कुज्जा सुपक्केहिं॥
अट्ठविहमंगलाणि य बहुविहपूजोवयरणदव्वाणि।
धूवदहणाइ[1] तहा जिणपूयत्थं[2] वितीरिज्जा॥४४२
एवं चलपडिमाए ठवणा भणिया थिराए एमेव।
णवरिविसेसो आगरसुद्धिं कुज्जा सुठाणम्मि॥४४३
चित्तपडिलेवपडिमाए दप्पणं दाविऊण पडिविंबे[3]। तिलयं दाऊण तओ मुहवत्थं दिज्ज पडिमाए॥
आगरसुद्धिं च करेज्ज दप्पणे अह व अण्णपडिमाए।
एत्तियमेत्तविसेसो सेसविही जाण पुव्वं व॥४४५
एवं चिरंतणाणं पि कट्टिमाकट्टिमाण पडिमाणं। जं कीरइ बहुमाणं ठवणापुज्जं हि तं जाण॥४४६
जे पुव्वसमुद्दिट्ठा ठवणापूयाए पंच अहियारा। चत्तारि तेसु भणिया अवसाणे पंचमं भणिओ॥४४७

द्रव्य-पूजा

दव्वेण य दव्वस्स य जा पूजा जाण दव्वपूजा सा। दव्वेण गंध-सलिलाइपुव्वभणिएण कायव्वा॥(१)
तिविहा दव्वे पूजा सचित्ताचित्तमिस्सभेएण। पच्चक्खजिणाईणं सचित्तपूजा[4] जहाजोग्गं॥४४९

तेन्दु, आँवला, जामुन, विल्वफल आदि अनेक प्रकारके सुगंधित, मिष्ट और सुपक्व फलोंसे जि॰ चरणोंके आगे रचना करे अर्थात् पूजन करे॥४४०-४४१॥ आठ प्रकारके मंगल-द्रव्य और अने॰ प्रकारके पूजाके उपकरण द्रव्य, तथा धूप-दहन (धूपायन) आदि जिन-पूजनके लिए वितरण क॰ ॥४४२॥ इस प्रकार चलप्रतिमाकी स्थापना कही गई है, स्थिर या अचल प्रतिमाकी स्थापना भ॰ इसी प्रकार की जाती है। केवल इतनी विशेषता है कि आकरशुद्धि स्वस्थानमें ही करे। (भि॰ या विशाल पाषाण और पर्वत आदिपर) चित्रित अर्थात् उकेरी गई, प्रतिलेपित अर्थात् रं॰ आदिसे बनाई या छापी गई प्रतिमाका दर्पणमें प्रतिबिम्ब दिखाकर और मस्तकपर तिल॰ देकर तत्पश्चात् प्रतिमाके मुखवस्त्र देवे। आकरशुद्धि दर्पणमें करे अथवा अन्य प्रतिमामें करे इतना मात्र ही भेद है, अन्य नहीं। शेष विधि पूर्वके समान ही जानना चाहिये॥४४३-४४५॥ इसी प्रकार चिरन्तन अर्थात् अत्यन्त पुरातन कृत्रिम और अकृत्रिम प्रतिमाओंका भी जो बहु॰ सम्मान किया जाता है, अर्थात् पुरानी प्रतिमाओंका जीर्णोद्धार, अविनय आदिसे रक्षण, मेला उत्सव आदि किया जाता है, वह सब स्थापना पूजा जानना चाहिए॥४४६॥ स्थापना-पूजाके जो पाँच अधिकार पहले (गाथा नं० ३८९ में) कहे थे, उनमेंसे आदिके चार अधिकार तो कह दिये गये हैं, अवशिष्ट एक पूजाफल नामका जो पंचम अधिकार है, उसे इस पूजन अधिकारके अन्तमे कहेंगे॥४४७॥ जलादि द्रव्यसे प्रतिमादि द्रव्यकी जो पूजा की जाती है, उसे द्रव्य पूजा जानना चाहिए। वह द्रव्यसे अर्थात् जल-गंध आदि पूर्वमें कहे गये पदार्थ-समूहसे (पूजन-सामग्रीसे) करना चाहिए॥४४८॥ द्रव्य-पूजा, सचित्त, अचित्त और मिश्रके भेदसे तीन प्रकारकी है। प्रत्यक्ष उपस्थित जिनेन्द्र भगवान् और गुरु आदिका यथायोग्य पूजन करना सो सचित्तपूजा है। उनके अर्थात् जिन,

---

१ झ. ब. भूयाणाईहि। २ झ. ब. पूयट्ठं। ३ ब. विंबो। ४ ब. ध. पुज्जा।

(१) जलगंधादिकैर्द्रव्यैः पूजनं द्रव्यपूजनम्। द्रव्यस्याप्यथवा पूजा सा तु द्रव्यार्चना मता॥२१९॥
—गुण० श्रा०

तेसिं च सरीराणं दव्वसुदस्स वि अचित्तपूजा सा ।
जा[1] पुण दोण्हं कीरइ णायव्वा मिस्सपूजा सा ॥४५० (१)

अहवा आगम-णोआगमाइभेएण बहुविहं दव्वं । णाऊण दव्वपूजा कायव्वा सुत्तमग्गेण ॥४५१

क्षेत्र-पूजा

जिणजम्मण-णिक्खमणे णाणुप्पत्तीए तित्थचिण्हेसु ।
णिसिहीसु खेत्तपूजा पुव्वविहाणेण कायव्वा ॥४५२ (२)

काल-पूजा

गब्भावयार-जम्माहिसेय-णिक्खमण-णाण-णिव्वाणं ।
जम्हि दिणे संजादं[2] जिणण्हवणं तद्दिणे कुज्जा ॥४५३
इक्खुरस-सप्पि-दहि-खीर-गंध-जलपुण्णविविहकलसेहिं ।
णिसिजागरणं च संगीय-णाडयाईहिं कायव्वं ॥४५४
णंदीसरट्ठदिवसेसु तहा अण्णेसु उचियपव्वेसु ।
जं कीरइ जिणमहिमं विण्णेया कालपूजा सा ॥४५५ (३)

भाव-पूजा

काऊणाणंतचउट्ठयाइगुणकित्तणं जिणाईणं । जं वंदणं तियालं कीरइ भावच्चणं तं खु ॥४५६

तीर्थंकर आदिके शरीरकी, और द्रव्यश्रुत अर्थात् कागज आदिपर लिपिबद्ध शास्त्रकी जो पूजा की जाती है, वह अचित्त पूजा है। और जो दोनों का पूजन किया जाता है वह मिश्रपूजा जानना चाहिए ॥४४९–४५०॥ अथवा आगमद्रव्य, नो आगमद्रव्य आदिके भेदसे अनेक प्रकारके द्रव्यनिक्षेपको जानकर शास्त्र-प्रतिपादित मार्गसे द्रव्यपूजा करना चाहिए ॥४५१॥ जिन भगवान्की जन्म-कल्याणभूमि, निष्क्रमणकल्याणकभूमि, केवलज्ञानोत्पत्तिस्थान, तीर्थचिह्नस्थान और निषीधिका अर्थात् निर्वाण-भूमियोंमें पूर्वोक्त विधानसे क्षेत्रपूजा करना चाहिए, अर्थात् यह क्षेत्रपूजा कहलाती है ॥४५२॥ जिस दिन तीर्थङ्करोंके गर्भावतार, जन्माभिषेक, निष्क्रमणकल्याणक, ज्ञानकल्याणक और निर्वाणकल्याणक हुए हैं, उस दिन इक्षुरस, घृत, दधि, क्षीर, गंध और जलसे परिपूर्ण विविध अर्थात् अनेक प्रकारके कलशोंसे, जिन भगवान्का अभिषेक करे तथा संगीत, नाटक आदिके द्वारा जिनगुणगान करते हुए रात्रि-जागरण करना चाहिए। इसी प्रकार नन्दीश्वर पर्वतके आठ दिनोंमें तथा अन्य भी उचित पर्वोंमें जो जिन-महिमा की जाती है, वह कालपूजा जानना चाहिए ॥४५३–४५५॥ परम भक्तिके साथ जिनेन्द्रभगवान्के अनन्तचतुष्टय आदि गुणोंका कीर्त्तन करके जो

१ ध. जो। २ प. ध. संजायं।

(१) चेतनं वाऽचेतनं वा मिश्रद्रव्यमिति त्रिधा। साक्षाज्जिनादयो द्रव्यं चेतनाख्यं तदुच्यते ॥२२०॥
तद्वपुर्द्रव्यं शास्त्रं वाऽचित्तं मिश्रं तु तद्द्वयम्। तस्य पूजनतो द्रव्यपूजनं च त्रिधा मतम् ।२२१।
(२) जन्म-निःक्रमणज्ञानोत्पत्तिक्षेत्रे जिनेशिनाम्। निषिध्यास्वपि कर्त्तव्या क्षेत्रे पूजा यथाविधि ।२२२।
(३) कल्याणपंचकोत्पत्तिर्यस्मिन्नह्नि जिनेशिनाम्। तदह्नि स्थापना पूजाऽवश्यं कार्या सुभक्तितः २२३
पर्वण्यष्टाह्निकेऽन्यस्मिन्नपि भक्त्या स्वशक्तितः। महामहविधानं यत्तत्कालार्चनमुच्यते ॥२२४॥
—गुण० श्रा०

पंचणमोक्कारपएहिं अहवा जावं कुणिज्ज सत्तीए[1] ।
अहवा जिणिंदथोत्तं वियाण भावच्चणं तं पि ॥४५७
पिंडत्थं च पयत्थं रूवत्थं रूववज्जियं अहवा ।
जं झाइज्जइ झाणं भावमहं तं विणिद्दिट्ठं ॥४५८ (१)

पिंडस्थ-स्थान

सियकिरणविप्फुरंतं अट्ठमहापाडिहेरपरियरियं ।
झाइज्जइ जं णिययं[2] पिंडत्थं जाण तं झाणं ॥४५९ (२)

अहवा णाहिं च वियप्पिऊण[3] मेरुं अहोविहायम्मि । झाइज्ज[4] अहोलोयं तिरियम्मं तिरियए वीए ॥
उड्ढम्मि उड्ढलोयं कप्पविमाणाणि संधपरियंते[5] । गेविज्जमया गीवं अणुद्दिसं हणुपएसम्मि ॥४६१

विजयं च वइजयंतं जयंतमवराजियं च सव्वत्थं ।
झाइज्ज मुहपएसे णिलाडदेसम्मि सिद्धसिला ॥४६२ (३)

तस्सुवरि सिद्धणिलयं जह सिहरं जाण उत्तमंगम्मि । एवं जं णियदेहं झाइज्जइ तं पि पिंडत्थं ४६३

त्रिकाल वंदना की जाती है, उसे निश्चयसे भावपूजा जानना चाहिए ॥४५६॥ अथवा पंच णमोकार पदोंके द्वारा अपनी शक्तिके अनुसार जाप करे । अथवा जिनेन्द्रके स्तोत्र अर्थात् गुणगान करनेको भावपूजन जानना चाहिए ॥४५७॥ अथवा पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत रूप जो चार प्रकारका ध्यान किया जाता है; उसे भी भावपूजा कहा गया है ॥४५८॥ श्वेत किरणोंसे विस्फुरायमान, और अष्ट महाप्रातिहार्योंसे परिवृत (संयुक्त) जो निजरूप अर्थात् केवली तुल्य आत्मस्वरूपका ध्यान किया जाता है, उसे पिंडस्थ ध्यान जानना चाहिए ॥४५९॥ अथवा, अपने नाभिस्थानमें मेरुपर्वतकी कल्पना करके उसके अधोविभागमें अधोलोकका ध्यान करे । नाभिसे ऊर्ध्वभागमें ऊर्ध्वलोकका चिन्तवन करे ? स्कन्धपर्यन्त भागमें कल्पविमानोंका, ग्रीवास्थानपर नवग्रैवेयकोंका, हनुप्रदेश अर्थात् ठोड़ीके स्थानपर नव अनुदिशोंका, मुखप्रदेशपर विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धिका ध्यान करे । ललाट देशमें सिद्धशिला, उसके ऊपर उत्तमांगमें लोकशिखरके तुल्य सिद्धक्षेत्रको जानना चाहिए । इस प्रकार जो निज देहका ध्यान किया जाता है, उसे भी पिंडस्थ ध्यान जानना चाहिए ॥४६०–४६३॥ एक अक्षरको आदि लेकर अनेक प्रकारके

---

१ म. सुभत्तीए । २ म. णियरूवं । ३ इ. वियप्पेऊण । ४ इ. झाइज्जइं । ५ ध. परेयंतं प. परियंतं

(१) स्मृत्वानन्तगुणोपेतं जिनं सन्ध्यात्रयेऽर्चयेत् । वन्दना क्रियते भक्त्या तद्भावार्चनमुच्यते ।२
जाप्यः पंचपदानां वा स्तवनं वा जिनेशिनः । क्रियते यद्यथाशक्तिस्तद्वा भावार्चनं मतम्
पिण्डस्थं च पदस्थं च रूपस्थं रूपवर्जितम् । तद्ध्यानं ध्यायते यद्वा भावपूजेति सम्मतम् ।

(२) शुद्धस्फटिकसंकाशं प्रातिहार्याष्टकान्वितम् । यद् ध्यायतेऽर्हतो रूपं तद् ध्यानं पिण्डसंज्ञकम्
अधोभागमधोलोकं मध्यांशं मध्यमं जगत् । नाभौ प्रकल्पयेन्मेरुं स्वर्गाणां स्कन्धमूर्ध्वतः

(३) ग्रैवेयका स्वग्रीवायां हन्वामनुदिशान्यपि । [illegible] न्मुखं पंच सिद्धस्थानं ललाटके ॥२
मूर्ध्नि लोकाग्रमित्येवं लोकत्रितयसन्निभम् । [illegible] नदेहस्थं पिण्डस्थं तदपि स्मृतम् ।

—गुण०

पदस्थ-ध्यान

जं झाइज्जइ उच्चारिऊण परमेट्ठिमंतपयममलं ।
एयक्खरादि विविहं पयत्थझाणं मुणेयव्वं ॥४६४ (१)
सुण्णं अयारपुरओ झाइज्जो उड्ढरेह-बिंदुजुयं ।
पावंधयारमहणं समंतओ फुरियसियतेयं ॥४६५ (२)
अ सि आ उ सा सुवण्णा झायव्वा णंतसत्तिसंपण्णा ।
चउपत्तकमलमज्झे पढमाइकमेण णिविसिऊणं ॥४६६ (३)
ते च्चिय वण्णा अट्ठदल पंचकमलाण मज्झदेसेसु ।
णिसिऊण सेसपरमेट्ठि अक्खरा चउसु पत्तेसु ॥४६७
रयणत्तय-तव-पडिमा-वण्णा णिविसिऊण सेसपत्तेसु ।
सिर-वयण-कंठ-हियए णाहिपएसम्मि झायव्वा ॥४६८
अहवा णिलाडदेसे पढमं बीयं विसुद्धदेसम्मि ।
दाहिणदिसाइ णिविसिऊण सेसकमलाणि झाएज्जो ॥४६९ (४)

पंच परमेष्ठीवाचक पवित्र मंत्रपदोंका उच्चारण करके जो ध्यान किया जाता है, उसे पदस्थ ध्यान जाना चाहिए ॥४६४॥

विशेषार्थ—ओं यह एक अक्षरका मन्त्र है। अर्हं, सिद्ध ये दो अक्षरके मन्त्र हैं। ओं नमः यह तीन अक्षरका मन्त्र है। अरहंत, अर्हं नमः, यह चार अक्षरका मन्त्र है। अ सि आ उ सा यह पाँच अक्षरका मन्त्र है। ओं नमः सिद्धेभ्यः यह छह अक्षरका मन्त्र है। इसी प्रकार ओं ह्रीं नमः, ओं ह्रीं अर्हं नमः, ओं ह्रीं श्रीं अर्हं नमः, अर्हन्त, सिद्ध, अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसाधुभ्यो नमः इत्यादि पंचपरमेष्ठी या जिन, तीर्थङ्कर वाचक नामपदोंका ध्यान पदस्थ ध्यानके ही अन्तर्गत है।

पापरूपी अन्धकारका नाश करनेवाला और चारों ओरसे सूर्यके समान स्फुरायमान शुक्ल तेज-वाला ऐसा तथा ऊर्ध्वरेफ और बिन्दुसे युक्त अकारपूर्वक हकारका, अर्थात् अर्हं इस मन्त्रका ध्यान करे ॥४६५॥ चार पत्रवाले कमलके भीतर प्रथमादि क्रमसे अनन्त शक्ति-सम्पन्न अ, सि, आ, उ, सा इन सुवर्णोंको स्थापितकर ध्यान करना चाहिए। अर्थात् कमलके मध्यभागस्थ कर्णिकामें अं (अरहंत) को, पूर्व दिशाके पत्रपर सि (सिद्ध) को, दक्षिण दिशाके पत्रपर आ (आचार्य) को, पश्चिम दिशाके पत्रपर उ (उपाध्याय) को और उत्तर दिशाके पत्रपर सा (साधु) को स्थापित कर उनका ध्यान करे ॥४६६॥ पुनः अष्टदलवाले कमलके मध्यदेशमें दिशासम्बन्धी चार पत्रोंपर उन्हीं वर्णोंको स्थापित करके, अथवा पंचपरमेष्ठीके वाचक अन्य अक्षरोंको स्थापित करके तथा विदिशा सम्बन्धी शेष चार पत्रोंपर रत्नत्रय और तपवाचक पदोंके प्रथम वर्णोंको अर्थात् दर्शनका

(१) एकाक्षरादिकं मंत्रमुच्चार्य परमेष्ठिनाम्। क्रमस्य चिन्तनं यत्तत्पदस्थध्यानसंज्ञकम् ॥२३२॥
(२) अकारपूर्वकं शून्यं रेफानुस्वारपूर्वकम्। पापान्धकारनिर्णाशं ध्यातव्यं तु सितप्रभम् ॥२३३॥
(३) चतुर्दलस्य पद्मस्य कर्णिकायंत्रमन्तरम्। पूर्वादिदिक्क्रमान्न्यस्य पदाद्यक्षरपंचकम् ॥२३४॥
(४) तच्चाष्टपत्रपद्मानां तदेवाक्षरपंचकम्। पूर्ववन्न्यस्य दृग्ज्ञानचारित्रतपसामपि ॥२३५॥
विदिक्ष्वाद्यक्षरं न्यस्य ध्यायेन्मूर्ध्नि गले हृदि। नाभौ वक्त्रेऽथवा पूर्वं ललाटे मूर्ध्नि वापरम् ॥
चत्वारि यानि पद्मानि दक्षिणादिदिशास्वपि। विन्यस्य चिन्तयेन्नित्यं पापनाशनहेतवः ॥२३७॥ —गुण० श्राव०

अट्ठदलकमलमज्झे झाएज्ज णहं दुरेहबिंदुजुयं । सिरिपंचणमोक्कारेहिं वलइयं पत्तरेहासु[1] ॥४७०

णिसिऊण णमो अरहंताणं पत्ताइमट्ठवग्गेहिं ।
भणिऊण वेढिऊण य मायाबीएण तं तिउणं ॥४७१ (२)
आयास-फलिहसंणिह-तणुप्पहासलिलणिहिणिव्वुडंतं ।
णर-सुरतिरीडमणिकिरणसमूहरंजियपयंबुरुहो ॥४७२

वरअट्ठपाडिहेरेहिं परिउट्ठो समवसरणमज्झगओ । परमप्पाणंतचउट्ठयण्णिओ पवणमग्गट्ठो ॥४७३ (२)
एरिसओ च्चिय परिवारवज्जिओ खीरजलहिमज्झे वा । वरखीरवण्णकंदुत्थ[2] कण्णियामज्झदेसट्ठो ॥
खीरुवहिसलिलधाराहिसेयधवलीकयंगसव्वंगो । जं झाइज्जइ एवं रूवत्थं जाण तं झाणं ॥४७५ (३)

रूपातीत-ध्यान

वण्ण-रस-गंध-फासेहिं वज्जिओ णाण-दंसणसरूवो ।
जं झाइज्जइ एवं तं झाणं रूवरहियं ति ॥४७६ (४)

द, ज्ञानका ज्ञा, चारित्रका चा और तपका त इन अक्षरोंको क्रमशः स्थापित करके इस प्रकारके अष्ट दलवाले कमलका शिर, मुख, कण्ठ, हृदय और नाभिप्रदेश, इन पाँच स्थानोंमें ध्यान करना चाहिए। अथवा प्रथम कमलको ललाट देशमें, द्वितीय कमलको विशुद्धदेश अर्थात् मस्तकपर और शेष कमलोंको दक्षिण आदि दिशाओंमें स्थापित करके उनका ध्यान करना चाहिए ॥४६७-४६९॥ अष्ट दलवाले कमलके भीतर कर्णिकामें दो रेफ और बिन्दुसे युक्त हकारके अर्थात् 'ह्र्ं' पदको स्थापन करके कर्णिकाके बाहर पत्ररेखाओंपर पंच णमोकार पदोंके द्वारा वलय बनाकर उनमें क्रमशः 'णमो अरहंताणं' आदि पाँचों पदोंको स्थापित करके और आठों पत्रोंको आठ वर्णोंके द्वारा चित्रित करके पुनः उसे मायाबीजके द्वारा तीन बार वेष्टित करके उसका ध्यान करे।४७०-४७१॥ आकाश और स्फटिकमणिके समान स्वच्छ एवं निर्मल अपने शरीरकी प्रभारूपी सलिलनिधि (समुद्र) में निमग्न, मनुष्य और देवोंके मुकुटोंमें लगी हुई मणियोंकी किरणोंके समूहसे अनुरंजित हैं चरण-कमल जिनके, ऐसे, तथा श्रेष्ठ आठ महाप्रातिहार्योंसे परिवृत, समवसरणके मध्यमें स्थित, परम अनन्त चतुष्टयसे समन्वित, पवनमार्गस्थ अर्थात् आकाशमें स्थित, अरहन्त भगवान्‌का जो ध्यान किया जाता है, वह रूपस्थ ध्यान है। अथवा ऐसे ही अर्थात् उपर्युक्त सर्व शोभासे समन्वित किन्तु समवसरणादि परिवारसे रहित, और क्षीरसागरके मध्यमें स्थित, अथवा उत्तम क्षीरके समान धवल वर्णके कमलकी कर्णिकाके मध्यदेशमें स्थित, क्षीरसागरके जलकी धाराओंके अभिषेकसे धवल हो रहा है सर्वांग जिनका ऐसे अरहन्त परमेष्ठीका जो ध्यान किया जाता है, उसे रूपस्थ ध्यान जानना चाहिए ॥४७२-४७५॥

---

१ ब. रेहेसु । २ ब. कंदुट्ट ।

(१) मध्येऽष्टपत्रपद्मस्य खं द्विरेफं सबिन्दुकम् । स्वरपंचपदावेष्टयं विन्यस्यास्य दलेषु तु ॥२३८॥
भृत्वा वर्गाष्टकं पत्रं प्रान्ते न्यस्यादिमं पदम् । मायाबीजेन संवेष्टयं ध्येयमेतत्सुशर्मदम् ।२३९।

(२) आकाशस्फटिकाभासः प्रातिहार्याष्टकान्वितः । सर्वामरैः सुसंसेव्योऽप्यनन्तगुणलक्षितः ।२४०।
नभोमार्गेऽथवोक्तेन वर्जितः क्षीरनीरधीः । मध्ये शशांकसंकाशनीरे जातस्थितो जिनः ॥२४१॥
—गुण० श्रा०

(३) क्षीराम्भोधिः क्षीरधाराशुभ्राशेषाङ्गसङ्गमः । एवं यच्चिन्त्यते तत्स्याद् ध्यानं रूपस्थनामकम् ॥
(४) गन्धवर्णरसस्पर्शवर्जितं बोधदृङ्मयम् । यच्चिन्त्यतेऽर्हद्रूपं तद्ध्यानं रूपवर्जितम् ॥२४३॥

अहवा आगम-णोआगमाइ[1]भेएहिं सुत्तमग्गेण । णाऊण भावपुज्जा कायव्वा देसविरएहिं ॥४७७
एसा छव्विहपूजा णिच्चं धम्माणुरायरत्तेहिं । जहजोग्गं कायव्वा सव्वेहिं पि देसविरएहिं ॥४७८(१)
एयारसंगधारी जीहसहस्सेण सुरवरिंदो वि । पूजाफलं ण सक्कइ णिस्सेसं वण्णिउं जम्हा ॥४७९

तम्हा हं णियसत्तीए थोयवयणेण किं पि वोच्छामि ।
धम्माणुरायरत्तो भवियजणो होइ जं सव्वो[2] ॥४८०
[3]कुत्थुंभरिदलमेत्ते[4] जिणभवणे जो ठवेइ जिणपडिमं ।
सरिसवमेत्तं पि लहेइ सो णरो तित्थयरपुण्णं ॥४८१
जो पुण जिणिंदभवणं समुण्णयं परिहि-तोरणसमग्गं ।
णिम्मावइ तस्स फलं को सक्कइ वण्णिउं सयलं ॥४८२ (२)

जलधाराणिक्खेवेण पावमलसोहणं हवे णियमं । चंदणलेवेण णरो जावइ सोहग्गसंपण्णो ॥४८३

जायइ अक्खयणिहि-रयणसामिओ अक्खएहि अक्खोहो ।
अक्खीणलद्धिजुत्तो अक्खयसोक्खं च पावेइ ॥४८४

कुसुमेहिं कुसेसयवयणु तरुणीजणणयण-कुसमवरमाला-वलएणच्चियदेहो जयइ कुसुमाउहो चेव ४८५

वर्ण, रस, गंध और स्पर्शसे रहित, केवल ज्ञान-दर्शन स्वरूप जो सिद्ध परमेष्ठीका या शुद्ध आत्माका ध्यान किया जाता है, वह रूपातीत ध्यान है ॥४७६॥ अथवा आगमभावपूजा और नोआगमभावपूजा आदिके भेदसे शास्त्रानुसार भावपूजाको जानकर वह श्रावकोंको करना चाहिए ॥४७७॥ इस प्रकार यह छह प्रकारकी पूजा धर्मानुरागरक्त सर्व देशव्रती श्रावकोंको यथायोग्य नित्य ही करना चाहिए ॥४७८॥ जबकि ग्यारह अंगका धारक, देवोंमें सर्वश्रेष्ठ इन्द्र भी सहस्र जिह्वाओंसे पूजाके समस्त फलको वर्णन करनेके लिए समर्थ नहीं है, तब मैं अपनी शक्तिके अनुसार थोड़ेसे वचन द्वारा कुछ कहूँगा, जिससे कि सर्व भव्य जन धर्मानुरागमें अनुरक्त हो जावें ॥४७९-४८०॥ जो मनुष्य कुन्थुम्भरी (धनिया) के दलमात्र अर्थात् पत्र बराबर जिनभवन बनवाकर उसमें सरसोंके बराबर भी जिनप्रतिमाको स्थापन करता है, वह तीर्थंकर पद पानेके योग्य पुण्यको प्राप्त करता है, तब जो कोई अति उन्नत और परिधि, तोरण आदिसे संयुक्त जिनेन्द्रभवन बनवाता है, उसका समस्त फल वर्णन करनेके लिए कौन समर्थ हो सकता है ॥४८१-४८२॥ पूजनके समय नियमसे जिन भगवान्के आगे जलधाराके छोड़नेसे पापरूपी मैलका संशोधन होता है। चन्दनरसके लेपसे मनुष्य सौभाग्यसे सम्पन्न होता है ॥४८३॥ अक्षतोंसे पूजा करनेवाला मनुष्य अक्षय नौ निधि और चौदह रत्नोंका स्वामी चक्रवर्ती होता है, सदा अक्षोभ अर्थात् रोग-शोक-रहित निर्भय रहता है, अक्षीण लब्धिसे सम्पन्न होता है और अन्तमें अक्षय मोक्ष-सुखको पाता है ॥४८४॥ पुष्पोंसे पूजा करनेवाला मनुष्य कमलके समान सुन्दर मुखवाला, तरुणीजनोंके

---

१ झ. ब. णोआगमेहिं । २ ध. सव्वे । ३ ध. कुस्तुंवरी दलय । प. कुस्तंभरिदलमेत्ते अर्धकठूंवरि फलमात्रे । ४ धणियादलमात्रे ।

(१) इत्येषा षड्विधा पूजा यथाशक्ति स्वभक्तितः । यथाविधिर्विधातव्या प्रयतैर्देशसंयतैः ॥२४४॥
—गुण० श्राव०

(२) कुंस्तुवरखण्डमात्रं यो निर्माप्य जिनालयम् । स्थापयेत्प्रतिमां स स्यात् त्रैलोक्यस्तुतिगोचरः २४५
यस्तु निर्मापयेत्तुङ्गं जिनचैत्यं मनोहरम् । वक्तुं तस्य फलं शक्तः कथं सर्वविदोऽखिलम् २४६
—गुण० श्राव०

जायइ णिविज्जदाणेण[1] सत्तिगो कंति-तेय-संपण्णो । लावण्णजलहिवेलातरंगसंपावियसरीरो ॥४८६
दीवेहिं दीवियासेसजीवदव्वाइतच्चसब्भावो । सब्भावजणियकेवलपईवतेएण होइ णरो ॥४८७

धूवेण सिसिरयरधवलकित्तिधवलियजयत्तओ पुरिसो ।
जायइ फलेहि संपत्तपरमणिव्वाणसोक्खफलो ॥४८८

घंटाहिं घंटसद्दाउलेसु पवरच्छराणमज्झम्मि । संकीडइ सुरसंघायसेविओ वरविमाणेसु ॥४८९
छत्तेहिं[2] एयछत्तं भुंजइ पुहवी सवत्तपरिहीणो[3] । चामरदाणेण तहा विज्जिज्जइ चमरणिवहेहिं ४९०
अहिसेयफलेण णरो अहिसिंचिज्जइ सुदंसणस्सुवरिं । खीरोयजलेण सुरिंदप्पमुहदेवेहिं भत्तीए ॥४९१

विजयपडाएहिं णरो संगाममुहेसु विजइओ होइ ।
छक्खंडविजयणाहो णिप्पडिवक्खो जसस्सी[4] य ॥४९२

किं जंपिएण बहुणा तीसु वि लोएसु किं पि जं सोक्खं । पूजाफलेण सव्वं पाविज्जइ णत्थि संदेहो ॥
अणुपालिऊण एवं सावयधम्मं तओवसाणम्मि । सल्लेहणं च विहिणा काऊण समाहिणा कालं ॥
सोहम्माइसु जायइ कप्पविमाणेसु अच्चुयंतेसु । उववादगिहे कोमलसुयंधसिलसंपुडस्संते[5] ॥४९५
अंतोमुहुत्तकालेण तओ पज्जत्तिओ समाणेइ । दिव्वामलदेहधरो जायइ णवजुव्वणो चेव ॥४९६
समचउरससंठाणो रसाइधाऊहिं वज्जियसरीरो । दिणयरसहस्सतेओ णवकुवलयसुरहिणिस्सासो ॥

नयनोंसे और पुष्पोंकी उत्तम मालाओंके समूहसे समर्चित देहवाला कामदेव होता है ॥४८५॥ नैवेद्यके चढ़ानेसे मनुष्य शक्तिमान्, कान्ति और तेजसे सम्पन्न, और सौन्दर्यरूपी समुद्रकी वेला (तट) वर्ती तरंगोंसे संप्लावित शरीरवाला अर्थात् अतिसुन्दर होता है ॥४८६॥ दीपोंसे पूजा करनेवाला मनुष्य सद्भावोंके योगसे उत्पन्न हुए केवलज्ञानरूपी प्रदीपके तेजसे समस्त जीवद्रव्यादि तत्त्वोंके रहस्यको प्रकाशित करनेवाला अर्थात् केवलज्ञानी होता है ॥४८७॥ धूपसे पूजा करनेवाला मनुष्य चन्द्रमाके समान धवल कीर्तिसे जगत्त्रयको धवल करनेवाला अर्थात् त्रैलोक्यव्यापी यशवाला होता है । फलोंसे पूजा करनेवाला मनुष्य परम निर्वाणका सुखरूप फल पानेवाला होता है ॥४८८॥ जिनमन्दिरमें घंटा समर्पण करनेवाला पुरुष घंटाओंके शब्दसे आकुल अर्थात् व्याप्त, श्रेष्ठ विमानोंमें सुर-समूहसे सेवित होकर प्रवर-अप्सराओंके मध्यमें क्रीड़ा करता है ॥४८९॥ छत्र-प्रदान करनेसे मनुष्य, शत्रुरहित होकर पृथ्वीको एक-छत्र भोगता है । तथा चमरोंके दानसे चमरोंके समूहों द्वारा परिवीजित किया जाता है, अर्थात् उसके ऊपर चमर ढोरे जाते हैं ॥४९०॥ जिनभगवान्‌के अभिषेक करनेके फलसे मनुष्य सुदर्शनमेरुके ऊपर क्षीरसागरके जलसे सुरेन्द्र प्रमुख देवोंके द्वारा भक्तिके साथ अभिषिक्त किया जाता है ॥४९१॥ जिन-मन्दिरमें विजय-पताकाओंके देनेसे मनुष्य संग्रामके मध्य विजयी होता है । तथा षट्खंडरूप भारतवर्षका निष्प्रतिपक्ष स्वामी और यशस्वी होता है ॥४९२॥ अधिक कहने से क्या लाभ है, तीनों ही लोकोंमें जो कुछ भी सुख है, वह सब पूजाके फलसे प्राप्त होता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥४९३॥ इस प्रकार श्रावकधर्मको परिपालन कर और उसके अन्तमें विधिपूर्वक सल्लेखना करके समाधिसे मरण कर अपने पुण्यके अनुसार सौधर्म स्वर्गको आदि लेकर अच्युत स्वर्ग पर्यन्त कल्पविमानोंमें उत्पन्न होता है । वहांके उपपाद-गृहोंके कोमल एवं सुगन्धयुक्त शिला-सम्पुटके मध्य में जन्म लेकर अन्तर्मुहूर्त काल द्वारा अपनी छहों पर्याप्तियोंको सम्पन्न कर लेता है तथा अन्तर्मुहूर्तके ही भीतर दिव्य निर्मल देहका धारक

---

१ ब. णिवेज्ज । २ झ. छत्तिहिं । ३ सपत्नपरिहीनः । ४ ब. जसंसी । ५ झ. प. संपुडस्संतो ।

पडिबुज्झिऊण सुत्तुट्ठिओ व्व संखाइमहुरसद्देहिं। दट्ठूण सुरविभूइं विंभियहियओ पलोएइ ॥४९८

किं सुमिणदंसणमिणं ण वेत्ति जा चिट्ठए वियप्पेण।
आयंति तक्खणं चिय थुइमुहला आयरक्खाई ॥४९९
जय जीव णंद वड्ढाइचारुसद्देहि सोयरम्मेहिं।
अच्छरसयाउ[1] वि तओ कुणंति चाडूणि विविहाणि[2] ॥५००

एवं थुणिज्जमाणो[3] सहसा णाऊण ओहिणाणेण। गंतूण ण्हाणगेहं वुड्डुणवाविम्हि ण्हाऊण ॥५०१
आहरणगिहम्मि तओ सोलसहाभूसणं च गहिऊण। पूजोवयरणसहिओ गंतूण जिणालए सहसा ५०२
वरवज्जविविहमंगलरवेहिं गंधक्खयाइदव्वेहिं। महिऊण जिणवरिंदं थुत्तसहस्सेहिं थुणिऊण ॥५०३
गंतूण सभागेहं अणेयसुरसंकुलं परमरम्मं। सिंहासणस्स उवरिं चिट्ठइ देवेहिं थुव्वंतो ॥५०४
उस्सियसियायवत्तो सियचामरधुव्वमाणसव्वंगो। पवरच्छराहिं कीडइ दिव्वट्ठगुणप्पहावेण ॥५०५
दीवेसु सायरेसु य सुरसरितीरेसु[4] सेलसिहरेसु। अखलियगमणागमणो देवुज्जाणाइसु रमेइ ॥५०६
आसाढ कत्तिए फग्गुणे य णंदीसरट्ठदिवसेसु। विविहं करेइ महिमं णंदीसरचेइय[5]गिहेसु ॥५०७
पंचसु मेरुसु तहा विमाणजिणचेइएसु विविहेसु। पंचसु कल्लाणेसु य करेइ पुज्जं बहुवियप्पं ॥५०८

एवं नवयौवनसे युक्त हो जाता है। वह देव समचतुरस्र संस्थानका धारक, रसादि धातुओंसे रहित शरीरवाला, सहस्र सूर्योके समान तेजस्वी, नवीन नीलकमलके समान सुगन्धि निःश्वासवाला होता है ॥४९४-४९७॥

सोकर उठे हुए राजकुमारके समान वह देव शंख आदि बाजोंके मधुर शब्दोंसे जागकर देव-विभूतिको देखकर और आश्चर्यसे चकितहृदय होकर इधर उधर देखता है। क्या यह स्वप्न दर्शन है, अथवा नहीं, या यह सब वास्तविक है, इस प्रकार विकल्प करता हुआ वह जब तक बैठता है कि उसी क्षण स्तुति करते हुए आत्मरक्षक आदि देव आकर, जय (विजयी हो), जीव (जीते रहो), नन्द (आनन्दको प्राप्त हो), वर्द्धस्व (वृद्धिको प्राप्त हो), इत्यादि श्रोत्र-सुखकर सुन्दर शब्दोंसे नाना चाटुकार करते हैं। तभी सैकड़ों अप्सराएँ भी आकर उनका अनुकरण करती हैं ॥४९८-५००॥ इस प्रकार देव और देवांगनाओंसे स्तुति किया गया वह देव सहसा उत्पन्न हुए अवधिज्ञानसे अपना सब वृत्तान्त जानकर, स्नानगृहमें जाकर स्नान-वापिकामें स्नान कर तत्पश्चात् आभरणगृहमें जाकर सोलह प्रकारके आभूषण धारण कर पुनः पूजनके उपकरण लेकर सहसा या शीघ्र जिनालयमें जाकर उत्तम बाजोंसे, तथा विविध प्रकारके मांगलिक शब्दोंसे और गंध, अक्षत आदि द्रव्योंसे जिनेन्द्र भगवान्का पूजन कर, और सहस्रों स्तोत्रोंसे स्तुति करके तत्पश्चात् अनेक देवोंसे व्याप्त और परम रमणीक सभा-भवनमें जाकर अनेक देवोंसे स्तुति किया जाता हुआ, श्वेत छत्र को धारण करता हुआ और श्वेत चमरोंसे कम्पमान या रोमांचिक है सर्व अंग जिसका, ऐसा वह देव सिंहासनके ऊपर बैठता है। (वहाँपर वह) उत्तम अप्सराओं के साथ क्रीड़ा करता है, और अणिमा, महिमा आदि दिव्य आठ गुणोंके प्रभावसे द्वीपोंमें, समुद्रोंमें, गंगा आदि नदियोंके तीरोंपर, शैलोंके शिखरोंपर, तथा नन्दनवन आदि देवोद्यानोंमें अस्खलित (प्रतिबन्ध-रहित) गमनागमन करता हुआ आनन्द करता है ॥५०१-५०६॥ वह देव आषाढ़, कार्तिक और फाल्गुन मासमें नन्दीश्वर पर्वके आठ दिनोंमें, नन्दीश्वर द्वीपके जिन चैत्यालयोंमें जाकर अनेक प्रकारकी पूजा महिमा

---

१ झ. अच्छरसहिओ, ब. अच्छरसमओ। २ ध. विविहाणं। ३ प. माणा। ४ इ. सरित्तीसु। ५ प. घरेसु।

इच्चाइबहुविणोएहिं तत्थ विणेऊण सगट्ठिई तत्तो। उव्वट्टिओ समाणो चक्कहराईसु जाएइ ॥५०९
भोत्तूण मणुयसोक्खं पस्सिय वेरग्गकारणं किं चि। मोत्तूण रायलच्छी तणं व गहिऊण चारित्तं॥
काऊण तवं घोरं लद्धीओ तप्फलेण लद्धूण। अट्ठगुणे[1]सरियत्तं च किं ण जिज्झइ[2] तवेण जए ॥५११
बुद्धि तवो वि य लद्धी विउव्वणलद्धी तहेव ओसहिया।
रस-बल-अक्खीणा वि य रिद्धीओ सत्त पण्णत्ता ॥५१२
अणिमा महिमा लघिमा पागम्म वसित्त कामरूवित्तं। ईसत्त पावणं तह अट्ठगुणा वण्णिया समए॥
एवं काऊण तवं पासुयठाणम्मि तह य गंतूण। पलियंकं बंधित्ता काउस्सग्गेण वा ठिच्चा ॥५१४
जइ खाइयसद्दिट्ठी पुव्वं खवियाउ सत्त पयडीओ। सुर-णिरय-तिरिक्खाऊ तम्हि भवे णिट्ठियं चेव॥
अह वेदगसद्दिट्ठी पमत्तठाणम्मि अप्पमत्ते वा। सरिऊण धम्मझाणं सत्त वि णिट्ठवइ पयडीओ ॥५१६
काऊण पमत्तेयरपरियत्त[3]सयाणि खवयपाउग्गो। होऊण अप्पमत्तो विसोहिमाऊरिऊण खणं ॥५१७
करणं अधापवत्तं पढमं पडिवज्जिऊण सुक्कं च। जायइ अपुव्वकरणो कसायखवणुज्जओ[4] वीरो॥
एक्केक्कं ठिदिखंडं[5] पाडइ अंतोमुहुत्तकालेण। ठिदिखंड[6]पडणकाले अणुभागसयाणि पाडेइ ॥५१९

करता है। इसी प्रकार पाँचों मेरुपर्वतोंपर, विमानोंके जिन चैत्यालयोंमें, और अनेकों पंच कल्याणकोंमें नाना प्रकारकी पूजा करता है। इस प्रकार इन पुण्य-वर्धक और आनन्दकारक नाना विनोदोंके द्वारा स्वर्गमें अपनी स्थितिको पूरी करके वहाँसे च्युत होता हुआ वह देव मनुष्यलोकमें चक्रवर्ती आदिकोंमें उत्पन्न होता है ॥५०७–५०९॥ मनुष्य लोकमें मनुष्योंके सुखको भोगकर और कुछ वैराग्यका कारण देखकर, राज्यलक्ष्मीको तृणके समान छोड़कर, चारित्रको ग्रहण कर, घोर तपको करके और तपके फलसे विक्रियादि लब्धियोंको प्राप्त कर अणिमादि आठ गुणोंके ऐश्वर्यको प्राप्त होता है। जगमें तपसे क्या नहीं सिद्ध होता ? सभी कुछ सिद्ध होता है ॥५१०–५११॥ बुद्धि-ऋद्धि, तपऋद्धि, विक्रियाऋद्धि, औषधऋद्धि, रसऋद्धि, बलऋद्धि और अक्षीण महानस ऋद्धि, इस प्रकार ये सात ऋद्धियाँ कही गई हैं ॥५१२॥ अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राकाम्य, वशित्व, कामरूपित्व, ईशत्व, और प्राप्यत्व, ये आठ गुण परमागममें कहे गये हैं ॥५१३॥ इस प्रकार वह मुनि तपश्चरण करके, तथा प्रासुक स्थानमें जाकर और पर्यंकासन बाँधकर अथवा कायोत्सर्गसे स्थित होकर, यदि वह क्षायिक-सम्यग्दृष्टि है, तो उसने पहले ही अनन्तानुबन्धी-चतुष्क और दर्शनमोहत्रिक, इन सात प्रकृतियोंका क्षय कर दिया है, अतएव देवायु, नारकायु और तिर्यगायु इन तीनों प्रकृतियोंको उसी भवमें नष्ट अर्थात् सत्त्व-व्युच्छिन्न कर चुका है। और यदि वह वेदक-सम्यग्दृष्टि है, तो प्रमत्त गुणस्थानमें, अथवा अप्रमत्त गुणस्थानमें धर्मध्यानका आश्रय करके उक्त सातों ही प्रकृतियोंका नाश करता है। पुनः प्रमत्त और अप्रमत्त गुणस्थानमें सैकड़ों परिवर्तनोंको करके, क्षपक श्रेणिके प्रायोग्य सातिशय अप्रमत्त संयत होकर क्षणमात्रमें विशोधिको आपूरित करके और प्रथम अधःप्रवृत्तकरणको और शुक्लध्यानको प्राप्त होकर कषायोंके क्षपण करनेके लिए उद्यत वह वीर अपूर्वकरण संयत हो जाता है ॥५१४–५१८॥ अपूर्वकरण गुणस्थानमें वह अन्तर्मुहूर्तकाल-के द्वारा एक एक स्थितिखंडको गिराता है। एक स्थितिखंडके पतनकालमें सैकड़ों अनुभागखण्डोंका पतन करता है। इस प्रकार प्रतिसमय अनन्तगुणो विशुद्धिसे विशुद्ध होता हुआ अनिवृत्तिकरण

१ झ. ध. प. गुणी। २ झ. सन्भुं। ध. प. सज्झं (साध्यमित्यर्थः)। ३ ध. प. परियत।
४ इ. ध. णुज्जिओ। ५ व. कंडं। ६ व. कंड।

गच्छइ विसुद्धमाणो पडिसमयमणंतगुणविसोहीए। अणियट्टिगुणं तत्थ वि सोलह पयडीओ पाडेइ ५२०
अट्ठ कसाए च तओ णवुंसयं तहेव इत्थिवेयं च। छण्णोकसाय पुरिसं कमेण कोहं पि संछुहइ ॥५२१
कोहं माणे माणं मायाए तं पि छुहइ लोहम्मि। बायरलोहं[1] पि तओ कमेण णिट्ठवइ तत्थेव ॥५२२
अणुलोहं वेदंतो संजायइ सुहुमसंपरायो सो। खविऊण सुहुमलोहं खीणकसाओ तओ होइ ॥५२३
तत्थेव सुक्कझाणं विदियं पडिवज्जिऊण तो तेण। णिद्दा-पयलाउ दुए दुचरिमसमयम्मि पाडेइ ५२४

णाणंतरायदसयं दंसण चत्तारि चरिमसमयम्मि।
हणिऊण तक्खणे च्चिय सजोगिकेवलिजिणो होइ ॥५२५

तो सो तियालगोयर-अणंतगुणपज्जयप्पयं वत्थुं। जाणइ पस्सइ जुगवं णवकेवललद्धिसंपण्णो ॥५२६
दाणे लाहे भोए परिभोए वीरिए सम्मत्ते। णवकेवललद्धीओ दंसण णाणे चरित्ते य ॥५२७
उक्कस्सं च जहण्णं पज्जायं विहरिऊण सिज्झेइ। सो अकयसमुग्घाओ जस्साउसमाणि कम्माणि ॥

गुणस्थानको प्राप्त होता है। वहाँपर पहले सोलह प्रकृतियों का नष्ट करता है ॥५१९–५२०॥

विशेषार्थ—वे सोलह प्रकृतियाँ ये हैं—नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यग्गति, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, द्वीन्द्रियजाति, त्रीन्द्रियजाति, चतुरिन्द्रियजाति, स्त्यानगृद्धि, निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, उद्योत, आतप, एकेन्द्रियजाति, साधारण, सूक्ष्म और स्थावर। इन प्रकृतियोंको अनिवृत्तिकरण गुणस्थानके प्रथम भागमें क्षय करता है। सोलह प्रकृतियोंका क्षय करनेके पश्चात् आठ मध्यम कषायोंको, नपुंसकवेदको, तथा स्त्रीवेदको, हास्यादि छह नोकषायोंको और पुरुषवेदको नाश करता है और फिर क्रमसे संज्वलन क्रोधको भी संक्षुभित करता है। पुनः संज्वलनक्रोधको संज्वलनमानमें, संज्वलनमानको संज्वलन मायामें और संज्वलन मायाको भी बादर-लोभमें संक्रामित्त करता है। तत्पश्चात् क्रमसे बादर लोभको भी उसी अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमें निष्ठापन करता है, अर्थात् सूक्ष्म लोभरूपसे परिणत करता है ॥५२१–५२२॥ तभी सूक्ष्मलोभका वेदन करनेवाला वह सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानवर्त्ती सूक्ष्मसाम्पराय संयत होता है। तत्पश्चात् सूक्ष्म लोभका भी क्षय करके वह क्षीणकषाय नामक बारहवें गुणस्थानमें जाकर क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ होता है। वहाँपर ही द्वितीय शुक्लध्यानको प्राप्त करके उसके द्वारा बारहवें गुणस्थानके द्विचरम समयमें निद्रा और प्रचला, इन दो प्रकृतियोंको नष्ट करता है। चरम समयमें ज्ञानावरण कर्मकी पाँच, अन्तरायकर्मकी पाँच और दर्शनावरणकी चक्षुदर्शन आदि चार इन चौदह प्रकृतियोंका क्षय करके वह तत्क्षण ही सयोगि-केवली जिन हो जाता है ॥५२३–५२५॥ तब वह नव केवललब्धियोंसे सम्पन्न होकर त्रिकाल-गोचर अनन्त गुण-पर्यायात्मक वस्तुको युगपत् जानता और देखता है। क्षायिकदान, क्षायिक लाभ, क्षायिक भोग, क्षायिक परिभोग, क्षायिक वीर्य, क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक दर्शन (केवल दर्शन), क्षायिक ज्ञान, (केवल ज्ञान), और क्षायिक चारित्र (यथाख्यात चारित्र), ये नव केवललब्धियाँ हैं ॥५२६–५२७॥ वे सयोगि केवली भगवान् उत्कृष्ट और जघन्य पर्याय-प्रमाण विहार करके, अर्थात् तेरहवें गुणस्थानका उत्कृष्ट काल—आठ वर्ष और अन्तर्मुहूर्त-कम पूर्वकोटी वर्षप्रमाण है और जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है, सो जिस केवलीकी जितनी आयु है, तत्प्रमाण काल तक नाना देशोंमें विहार कर और धर्मोपदेश देकर सिद्ध होते हैं। (इनमें कितने ही सयोगिकेवली समुद्घात करते हैं और कितने ही नहीं करते हैं।) सो जिस केवलीके आयु कर्मकी

१ झ. लोहम्मि। प. लोयम्मि।

जस्स ण हु आउसरिसाणि णामागोयाणि वेयणीयं च ।
सो कुणइ समुग्घायं णियमेण जिणो ण संदेहो ॥५२९
छम्मासाउगसेसे उप्पण्णं जस्स केवलं होज्ज[1] ।
सो कुणइ समुग्घायं इयरो पुण होइ भयणिज्जो ॥५३०
अंतोमुहुत्तसेसाउगम्मि दंडं कवाड पयरं च ।
जगपूरणसथ पयरं कवाडदंडं णियतणुपमाणं च ॥५३१
एवं पएसपसरण-संवरणं कुणइ अट्ठसमएहिं । होंहिति जोइचरिमे अघाइकम्माणि सरिसाणि ॥५३२
बायरमण-वचिजोगे रुंभइ तो थूलकायजोगेण । सुहुमेण तं पि रुंभइ सुहुमे मण-वयणजोगे य ॥५३३
सो सुहुमकायजोगे वट्टंतो झाइए तइयसुक्कं । रुंभित्ता तं पि पुणो अजोगिकेवलिजिणो होइ ॥५३४
बावत्तरि पयडीओ चउत्थसुक्केण तत्थ घाएइ ।
दुचरिमसमयम्हि तओ तेरस चरिमम्मि णिट्ठवइ ॥५३५
तो तम्मि चेव समये लोयग्गे उड्ढगमणसब्भाओ । संचिट्ठइ असरीरो पवरट्ठगुणप्पओ णिच्चं ॥५३६
सम्मत्त णाण दंसण वीरिय सुहमं तहेव अवगहणं ।
अगुरुलहुमव्वावाहं सिद्धाणं वण्णिया गुणट्ठेदे ॥५३७*

स्थितिके बराबर शेष नाम, गोत्र और वेदनीय कर्मकी स्थिति होती है, वे तो समुद्घात किये बिना ही सिद्ध होते हैं। किन्तु जिनके नाम, गोत्र और वेदनीय कर्म आयु के बराबर नहीं हैं, वे सयोगिकेवली जिन नियमसे समुद्घात करते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥५२८–५२९॥ छह मासकी आयु अवशेष रहनेपर जिसके केवलज्ञान उत्पन्न होता है, वे केवली समुद्घात करते हैं, इतर केवली भजनीय हैं, अर्थात् समुद्घात करते भी हैं और नहीं भी करते हैं ॥५३०॥ सयोगिकेवली अन्तर्मुहूर्त-प्रमाण आयुके शेष रह जानेपर (शेष कर्मोंकी स्थितिको समान करनेके लिए) आठ समयोंके द्वारा दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण, पुनः प्रतर, कपाट, दंड और निज देह-प्रमाण, इस प्रकार आत्म-प्रदेशोंका प्रसारण और संवरण करते हैं। तब सयोगिकेवली गुणस्थानके अन्तमें अघातिया कर्म सदृश स्थितिवाले हो जाते हैं ॥५३१–५३२॥ तेरहवें गुणस्थानके अन्तमें सयोगिकेवली जिनेन्द्र वादरकाययोगसे वादर मनोयोग और वादर वचनयोगका निरोध करते हैं। पुनः सूक्ष्म-काययोगसे सूक्ष्म मनोयोग और सूक्ष्म वचनयोगका निरोध करते हैं। तब सूक्ष्म काययोग में वर्तमान सयोगिकेवली जिन तृतीय शुक्लध्यानको ध्याते हैं और उसके द्वारा उस सूक्ष्म काययोग का भी निरोध करके वे चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोगिकेवली जिन हो जाते हैं ॥५३३–५३४॥ उस चौदहवें गुणस्थानके द्विचरम समयमें चौथे शुक्लध्यानसे वहत्तर प्रकृतियोंका घात करता है और अन्तिम समय में तेरह प्रकृतियोंका नाश करता है। उस ही समयमें ऊर्ध्वगमन स्वभाववाला यह जीव शरीर-रहित और प्रकृष्ट अष्ट-गुण-सहित होकर नित्यके लिए लोकके अग्र भागपर निवास करने लगता है ॥५३५–५३६॥ सम्यक्त्व, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्तवीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अगुरु-

१ इ. म. णाणं ।
* म और इ प्रतिमें ये दो गाथाएं और अधिक पाई जाती हैं :—
मोहक्खएण सम्मं केवलणाणं हणेइ अण्णाणं । केवलदंसण दंसण अणंतविरियं च अन्तराएण ॥१॥
सुहुमं च णामकम्मं आउहणणेण हवइ अवगहणं । गोयं च अगुरुलहुयं अव्वाबाहं च वेयणीयं च ॥२॥

जं किं पि सोक्खसारं तिसु वि लोएसु मणुय-देवाणं ।
तमणंतगुणं पि ण एयसमयसिद्धाणुभूयसोक्खसमं ॥५३८
सिज्झइ तइयम्मि भवे पंचमए कोवि सत्तमट्ठमए । भुंजिवि सुर-मणुयसुहं पावेइ कमेण सिद्धपयं ॥

लघुत्व और अव्याबाधत्व, ये सिद्धोंके आठ गुण वर्णन किये गये हैं ॥५३७॥ तीनों ही लोकोंमें मनुष्य और देवोंके जो कुछ भी उत्तम सुखका सार है, वह अनन्तगुणा हो करके भी एक समयमें सिद्धोंके अनुभव किये गये सुखके समान नहीं है ॥५३८॥ (उत्तम रीतिसे श्रावकोंका आचार पालन करनेवाला कोई गृहस्थ) तीसरे भवमें सिद्ध होता है, कोई क्रमसे देव और मनुष्योंके सुखको भोग-कर पाँचवें, सातवें या आठवें भवमें सिद्ध पदको प्राप्त करते हैं ॥५३९॥

०

प्रशस्ति

आसी ससमय-परसमयविदू सिरिकुंदकुंदसंताणे । भव्वयणकुमुयवणसिसिरयरो सिरिणंदिणामेण ॥

किती जस्सिंदुसुब्भा सयलभुवणमज्झे जहिच्छं भमित्ता,

णिच्चं सा सज्जणाणं हियय-वयण-सोए णिवासं करेई ।

जो सिद्धंतंबुरासिं सुणयतरणमासेज्ज लीलावतिण्णो,

वण्णेउं को समत्थो सयलगुणगणं से वियड्ढो[1] वि लोए ॥५४१

सिस्सो तस्स जिणिंदसासणरओ सिद्धंतपारंगओ, खंती-मद्दव-लाहवाइदसहाधम्मम्मि णिच्चुज्जओ ।
पुण्णेंदुज्जलकित्तिपूरियजओ चारित्तलच्छीहरो, संजाओ णयणंदिणाममुणिणो भव्वासयाणंदओ ॥
सिस्सो तस्स जिणागम-जलणिहिवेलातरंगधोयमणो । संजाओ सयलजए विक्खाओ णेमिचन्दु त्ति ॥
तस्स पसाएण मए आइरियपरंपरागयं सत्थं । वच्छल्लयाए रइयं भवियाणमुवासयज्झयणं ॥५४४
जं किं पि एत्थ भणियं अयाणमाणेण पवयणविरुद्धं । खमिऊण पवयणधरा सोहित्ता तं पयासंतु ५४५
छच्च सया पण्णासुत्तराणि एयस्स गंथपरिमाणं । वसुणंदिणा णिवद्धं वित्थयरियव्वं वियड्ढेहिं ५४६

श्री कुन्दकुन्दाचार्यकी आम्नायमें स्व-समय और पर-समयका ज्ञायक, और भव्यजनरूप कुमुदवनके विकसित करनेके लिए चन्द्र-तुल्य श्रीनन्दि नामक आचार्य हुए ॥५४०॥ जिसकी चन्द्रसे भी शुभ्र कीर्ति सकल भुवनके भीतर इच्छानुसार परिभ्रमण कर पुनः वह सज्जनोंके हृदय, मुख और श्रोत्रमें नित्य निवास करती है, जो सुनयरूप नावका आश्रय करके सिद्धान्तरूप समुद्रको लीलामात्रसे पार कर गये, उस श्रीनन्दि आचार्यके सकल गुणगणोंको कौन विचक्षण वर्णन करनेके लिए लोकमें समर्थ है ? ॥५४१॥ उस श्रीनन्दि आचार्यका शिष्य, जिनेन्द्र-शासनमें रत, सिद्धान्तका पारंगत, क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि दश प्रकारके धर्ममें नित्य उद्यत, पूर्णचन्द्रके समान उज्ज्वल कीर्त्तिसे जगको पूरित करनेवाला, चारित्ररूपी लक्ष्मीका धारक और भव्य जीवोंके हृदयोंको आनंद देनेवाला ऐसा नयनन्दि नामका मुनि हुआ ॥५४२॥ उस नयनन्दिका शिष्य, जिनागम रूप जलनिधिकी वेला-तरंगोंसे धुले हुए हृदयवाला नेमिचन्द्र इस नामसे सकल जगत्में विख्यात हुआ ॥५४३॥ उन नेमिचन्द्र आचार्यके प्रसादसे मैंने आचार्य-परम्परासे आया हुआ यह उपासकाध्ययन शास्त्र वात्सल्य भावनासे प्रेरित होकर भव्य जीवोंके लिए रचा है ॥५४४॥ अजानकार होनेसे जो कुछ भी इसमें प्रवचन-विरुद्ध कहा गया हो, सो प्रवचनके धारक (जानकार) आचार्य मुझे क्षमाकर और उसे शोधकर प्रकाशित करें ॥५४५॥ वसुनन्दिके द्वारा रचे गये इस ग्रन्थका परिमाण (अनुष्टुप् श्लोकोंकी अपेक्षा) पचास अधिक छह सौ अर्थात् छह सौ पचास (६५०) है । विचक्षण पुरुषोंको इस ग्रन्थका विस्तार करना चाहिए, अथवा जो बात इस ग्रन्थमें संक्षेपसे कही गई है, उसे वे लोग विस्तारके साथ प्रतिपादन करें ॥५४६॥

इत्युपासकाध्ययनं वसुनन्दिना कृतमिदं समाप्तम् ।

०

---

१ ब. सेवियट्ठो, म. सेवियंतो । (विदग्ध इत्यर्थः)

सावयधम्मदोहा

णवकारेप्पिणु पंचगुरु दूरिदलियदुहकम्मु । संखेवें पयडक्खरहिं अक्खमि[1] सावयधम्मु ॥१

दुज्जणु सुहियउ होउ जगि सुयण पयासिउ जेण ।
अमिउ विसें वासक तमहिं[2] जिम मरगउ[3] कच्चेण ॥२

जहँ[4] समिलहिं सायरगयहिं दुल्लहु जूवहं रंधु । तहँ[5] जीवहं भवजलगयहं मणुयत्तण संबंधु ॥३
सुहु सारउ मणुयत्तणहं तं सुहु धम्मायत्तु । धम्मु अरे[6] जिय तं करहि जं अरहंतें[7] वुत्तु ॥४
अरहंतु वि दोसहिं रहिउ जासु[8] वि केवलणाणु । णाणमुणिय कालत्तयहो वयणु वि तासु पमाणु ॥५
तं पायडु जिणवरवयणु गुरु उवएंसें[9] होइ । अंधारइं विणु दीवयें अहव कि पिछइ कोइ ॥६
संजमु सीलु सउच्चु तउ जसु सूरिहिं गुरु सोइ । दाहछेयकसघायखमु उत्तमु कंचणु होइ ॥७
मग्गइं गुरुउवएसियइं णर सिवपट्टणि जंति । तं विणु वग्घहं वणयरहं चोरहं पिंडि वि पडंति ॥८
एयारहविहु तं कहिउ रे जिय सावयधम्मु । सत्तिए परिपालंतयहं सहलउ माणुस जम्मु ॥९
पंचुंवरहं णिवित्ति जसु विसणु[10] ण एक्कु वि होइ । सम्मत्ते सुविसुद्धमइ पढमउ सावउ होइ ॥१०
पंचाणुव्वय जो धरइ णिम्मल गुणवय तिण्णि । सिक्खावयइं चयारि जसु सो बीयउ मणि गण्णि ॥

अति दु:खदायी कर्मोंके दलन करनेवाले पञ्च परमगुरुओंको नमस्कार करके मैं संक्षेपसे प्राकृत भाषाके शब्दों द्वारा श्रावकके धर्मको कहता हूँ ॥१॥ दुर्जन सुखी होवे, जिसने जगत्में सुजनको प्रकाशित किया है, जैसे कि विषसे अमृत, अन्धकारसे दिन और काचसे मरकतमणि प्रकाशित होता है ॥२॥ जैसे समुद्रमें गिरी हुई समिलाके लिए जुंवाका छेद पाना दुर्लभ है, उसी प्रकार भव-जलमें पड़े जीवको मनुष्यपनेका सम्बन्ध होना दुर्लभ है ॥३॥ मनुष्यपनेका सार सुख है, वह सुख धर्मके अधीन है। धर्म भी वह है जिसे अरहन्त देवने कहा है। अतएव रे जीव, तू उस धर्मका पालन कर ॥४॥ अरहन्तदेव भी वे हैं जो कि राग-द्वेषादि अठारह दोषोंसे रहित हैं और जिनके केवलज्ञान है। उस केवलज्ञानके द्वारा त्रिकालवर्ती सर्व पदार्थोंके जाननेवाले उन अरहन्त-देवके वचन भी प्रमाण हैं ॥५॥ वह जिनवरका वचन गुरुके उपदेशसे प्रकट होता है। अथवा अन्धकारमें दीपकसे बिना क्या कोई कुछ देख सकता है ॥६॥ जिस सूरिमें संयम, शील, शौच और तप है, वही गुरु है। दाह, छेदन, कसौटी—कष और घन-घातको सहन करनेवाला सुवर्ण ही उत्तम होता है ॥७॥ गुरुके द्वारा उपदिष्ट मार्गसे मनुष्य शिवपुरको जाते हैं। उसके बिना मनुष्य कालरूप व्याघ्र, कषायरूप भील और इन्द्रियरूप चोरोंके पिण्डमें पड़ जाते हैं ॥८॥

हे जीव, वह श्रावकधर्म ग्यारह प्रकारका कहा गया है। शक्तिके अनुसार उसका परिपालन करनेवाले जीवोंका मनुष्यजन्म सफल है ॥९॥ जिसके पाँच उदुम्बर फलोंका त्याग है, व्यसन एक भी नहीं है, और सम्यक्त्वके द्वारा जिसकी वुद्धि सुविशुद्ध है, वह प्रथम दर्शन प्रतिमाका धारक श्रावक है ॥१०॥ जो अतिचार-रहित निर्मल पाँच अणुव्रतोंको और तीन गुणव्रतोंको धारण करता

---

१ द. अक्खिय। २ म. तमिण। ३ द मरगय। ४ म जिह। ५ म तिह। ६ अ. द. अरि। ७ म अरहंतइ। ८ म जसु पुणु। ९ म उवएसइं। १० म वसणु।

चउरट्ठहं दोसहं रहिउ पुव्वायरियकमेण। जिणु वंदइ संझइं तिहिं सो तिज्जउ णियमेण ॥१२
उभयचउद्दसि अट्ठमिहिं जो पालइ उववासु। सो चउत्थु सावउ भणिउ दुक्कियकम्मविणासु ॥१३
पंचमु सावउ[1] जाणि जसु हरियहं णाहि पवित्ति। मणवयकार्यहिं छट्ठयहिं दिवसहिं णारिणिवित्ति ॥
बंभयारि सत्तमु भणिउ अट्ठमु चत्तारंभु। मुक्कपरिग्गहु जाणि जिय णवमउ वज्जियडंभु[2] ॥१५
अणुमइ देइ ण पुच्छियउ दसमउ जिण-उवइट्ठु। एयारहमउ तं दुविहु णउ भुंजइ उद्दिट्ठु[3] ॥१६

एयवत्थु पहिलउ विदिउ कयकोवीणपवित्ति।
कत्तरि-लोयणिहियचिहुर सइं पुणु भोज्जँणिवित्त ॥१७

ए ठाणइं एयारसइं सम्मत्तें मुक्काइं। हुंति ण पउमइं सरवरहं विणु पाणिय सुक्काहं ॥१८
अत्तागमतच्चाइयहं जं णिम्मलु सद्धाणु। संकाइयदोसहं रहिउ तं सम्मत्तु वियाणु ॥१९
संकाइय अट्ठट्ठ मय परिहरि मूढय[5] तिण्णि। जे छह कहिय अणायदण दंसण-मल अवगण्णि ॥२०

मुणि[6] दंसणु जिय जेण विणु सावय-गुण ण हु होइ।
जह सामग्गि विवज्जियहं सिज्झइ कज्जु ण कोइ ॥२१

है, एवं जिसके चार शिक्षाव्रत हैं, उसे अपने मनमें दूसरी व्रत प्रतिमाका धारक श्रावक मानो ॥११॥ जो पूर्वाचार्योंके क्रमानुसार बत्तीस दोषोंसे रहित होकर तीनों संध्याओंमें जिनदेवकी वन्दना करता है, वह नियमसे तीसरी सामायिक प्रतिमाका धारक श्रावक है ॥१२॥ जो प्रत्येक मासकी दोनों चतुर्दशी और अष्टमीको दुष्कृत कर्मोका विनाश करनेवाला उपवास धारण करता है, वह चौथी प्रोषध प्रतिमाका धारक श्रावक है ॥१३॥ जिसकी हरित सचित्त वस्तुओंके भक्षणमें प्रवृत्ति नहीं है, वह पाँचवीं सचित्त त्याग प्रतिमाका धारक श्रावक है। जिसके मन-वचन-कायसे दिनमें स्त्री-सेवनकी निवृत्ति है, वह छठी दिवामैथुनत्याग प्रतिमाका धारक श्रावक है ॥१४॥

स्त्री-सेवनका सर्वथा त्यागी ब्रह्मचारी सातवाँ श्रावक है। आरम्भका त्यागी आठवाँ श्रावक है। परिग्रहका त्यागी और दंभसे रहित मनुष्यको हे भव्यजीव, नवमी प्रतिमाका धारक जानो ॥१५॥ जो पूछनेपर भी गृह-कार्योंके करनेमें अनुमति नहीं देता है, उसे जिनदेवने दसवाँ अनुमति-त्यागी श्रावक कहा है। जो उद्दिष्ट भोजन नहीं करता है, वह उद्दिष्टत्यागी ग्यारहवाँ श्रावक है। वह दो प्रकारका है ॥१६॥ उनमें पहिला एक वस्त्र धारण करता है और दूसरा केवल लंगोटी रखता है। पहिला कैंची (या उस्तरे) से केश दूर करता है और दूसरा केशोंका लोंच करता है। ये दोनों ही स्वयं भोजन बनानेकी निवृत्ति रखते हैं ॥१७॥ श्रावकके ये ग्यारह प्रतिमारूप स्थान हैं। ये स्थान सम्यक्त्वसे रहित जीवोंके नहीं होते हैं। जैसे कि पानीके बिना सूखे सरोवरमें कमल नहीं होते हैं ॥१८॥

आप्त, आगम और तत्त्वादिकोंका जो शंकादि दोषोंसे रहित निर्मल श्रद्धान है, उसे ही सम्यक्त्व जानना चाहिए ॥१९॥ शंकादिक आठ दोष, आठ मद, तीन मूढ़ता और छह अनायतन ये सम्यग्दर्शनके पच्चीस दोष कहे गये हैं, इनका परिहार करना चाहिए ॥२०॥ हे जीव, उसे सम्यग्दर्शन जानो, जिसके बिना श्रावकका कोई भी गुण नहीं होता है। जैसे कि सामग्रीसे रहित पुरुषका कोई कार्य सिद्ध नहीं होता है ॥२१॥

---

१ म जसु कच्चासणहं। २ म दंभु। ३ ब उवइट्ठु। ४ ब भोय-। झ 'किय सहुसंगणिवित्ति' इति पाठान्तरम्। ५ म मूढा। ६ ब सुय। म सुणि।

मज्जु मंसु महु परिहरहि करि पंचुंवर दूरि । आयहं[1] अंतरि अट्ठहंमि तस उप्पज्जइं भूरि ॥२२
महु आसायउ थोडउ वि णासइ पुण्णु वहुत्तु । वइसाणरहं तिडिक्कड[2] वि काणणु डहइ महंतु ॥२३
अणउवइट्ठइ[3] मण्णियइं महुपरिहरियउ होइ । जं कीरइ तं कारियइ एहु अहाणउ लोइ ॥२४

सव्व[4]इं कुसुमइं छंडियइं करि पंचुंवर-चाउ ।
हुंति विमुक्कइं मंडणइं जइ मुक्कउ अणुराउ ॥२५

अट्ठइ पालइ मूलगुण पियइ जु गालिउ णीरु । अह चित्तें सुविसुद्धइणा सुज्झइ[5] सव्व सरीरु ॥२६
जेण अगालिउ जलु पियउ जाणिज्जइ ण पवाणु । जो तं पियइ अगालिउ सो धीवरहं पहाणु ॥२७
आमिससरिसउ भासियउ सो अंधउ जो खाइ । दोहि मुहुत्तहिं उप्परिहिं लोणिउ सम्मुच्छाइ ॥२८
संगें मज्जामिसरयहं मइलिज्जइ सम्मत्तु । अंजणगिरिसंगें ससिहि किरणइं काला हुंति ॥२९
अच्छउ भोयणु ताहं घरि सिट्ठहं वयणु ण जुत्तु । ताहं समउ जं [6]वासियइं मइलिज्जइ सम्मत्तु ॥३०
तामच्छउ तहं भंडयहु[7] पक्कासणलित्ताहं । हुंति ण जोग्गइं सावयहं तहं भोयण पत्ताहं[8] ॥३१
चम्मट्ठइं पीयइं जलइं तामच्छउ दूरेण । दंसणसुद्धि ण होइ तसु खद्धइ घियतिल्लेण ॥३२

मद्य मांस और मधुका परिहार करो, पाँच उदुम्बरफलोंको दूर करो। इन आठोंके भीतर भारी त्रसजीव उत्पन्न होते हैं ॥२२॥ थोड़ा-सा भी खाया हुआ मधु वहुत पुण्यका नाश करता है। अग्निका छोटा सा भी तिलंगा महावनोंको भी जला देता है ॥२३॥ मधु खानेका दूसरोंको उपदेश न देनेसे, तथा अनुमोदना न करनेसे मधुका परिहार होता है। क्योंकि जो स्वयं करता है और दूसरों से कराता है, वे दोनों समान हैं, यह कहावत लोकमें प्रसिद्ध है ॥२४॥ सर्व प्रकारके पुष्पोंके खानेका त्याग कर, तभी पंच उदुम्बरोंका त्याग संभव होगा। यदि आभूषण पहिरनेका अनुराग छूट जाय तो आभूषण स्वयं ही छूट जाते हैं ॥२५॥ इस प्रकार जो आठ मूल गुणोंको पालता है और जो वस्त्र-गालित जल पीता है, तथा जिसका चित्त सुविशुद्ध है, उसका सर्वशरीर शुद्ध है ॥२६॥ जो अगालित जल पीता है, वह जिन आज्ञाको नहीं जानता है। जो अगालित जलको पीता है, वह धीवरोंमें प्रधान है ॥२७॥

दो मुहूर्त्तके ऊपर लोनी (मक्खन) में सम्मूर्च्छन जीव उत्पन्न हो जाते हैं, इसलिए वह मांस-सदृश कही गई है। जो उस लोनीको खाता है, वह अन्धा है, अर्थात् हेय-उपादेयके ज्ञानसे रहित है ॥२८॥ मद्य और मांस-सेवनमें निरत पुरुषोंके संगसे सम्यग्दर्शन मलिन हो जाता है। अंजनगिरिके संगसे चन्द्रकी धवल किरणें भी काली हो जाती हैं ॥२९॥ उन मद्य-मांस-भोजियोंके घरमें भोजन करना तो दूर रहा, शिष्टजनोंको उनके साथ वचन बोलना भी योग्य नहीं है। जो उन लोगोंके साथ निवास करते हैं, उनका सम्यक्त्व मलिन हो जाता है ॥३०॥ उन मद्य-मांस-भोजियोंके घरके पकाये हुए भोजनसे लिप्त भाण्ड (वर्तन) तो रहने ही दो, उनके (सूखे) कांसे आदिके पात्रोंमें भोजन वनाना या करना भी श्रावकके योग्य नहीं है ॥३१॥

जो चर्ममें रखे हुए जलको पीता है, वह तो दूर ही रहे, जो चर्ममें रखे घी और तेलको

---

१ ब आयहिं। २ म तिडिक्किडउ। ३ ब टि० उपदेशेन विना, अनुमोदेन विना। ४ झ सग्गइ। ५ झ. सुच्चइ। ६ झ म जें कारणइं। ७ ब टि० तेषां मद्यमांसरतानां पुरुषाणां भाण्डानां भोजनं तावदास्ताम्, सा वार्ता तिष्ठतु। कथम्भूतानां भाण्डानां पक्वाशनलिप्तानाम्। ८ ब तेषां कांस्यादिपात्राणां अपि भोजनं न युक्तम्।

रुहिरामिसु चम्मट्ठि सुर पच्चक्खिउ[1] बहु[2] जंतु। अंतराय पालहु भविय दंसणसुद्धिणिमित्तु ॥३३
मूलउ णाली भिसु[3] ल्हसणु तुंबउ करउ कलिंगु। सूरणु फुल्लत्थाणयहिं, भक्खहिं दंसणभंगु ॥३४
अण्णु जि तुललिउ फुल्लियउ, सायहु चलियउ जं जि।
दो दिण वसियउ दहि महिउ ण हु भुंजिज्जइ तं जि ॥३५
वे दल मीसिउ दहि महिउ जुत्तु ण सावय होइ। खढइ दंसण-भंगु पर सम्मत्तु वि मइलेइ ॥३६
तंबोलोसहि जलु मुइवि अत्थम्मिए सूरि। भोग्गासण फल अहिलसइं तं किउ दंसणदूरि ॥३७
जूएं धणहु ण हाणि पर वयहं मि होइ विणासु। लग्गउ कट्ठु ण डहइ पर इयरहं डहइ हुयासु ॥३८
जइ देखेवउ छंडियउ ता जिय छंडिउ जूउ। अह अग्गिहिं उल्हावियइं अवस ण उट्ठइ धूउ ॥३९
दय जि मूलु धम्मंघियहु[4] सो उप्पाडिउ तेण। फलदलकुसुमहं कवण कह आमिसु भक्खिउ तेण ॥
पिट्ठि[5]-मंसु जइ छंडियउ ता जिय छंडिउ मांसु। जह अपथ्यें वारियए वारिउ वाहि पवेसु ॥४१
मुहुवि लिहिवि मुत्तइं सुणहु एहु जि मज्जहु दोसु।
मत्तउ बहिणि जि अहिलसइ, ते तहु णरय पवेसु ॥४२

भी खाता है, उसके भी सम्यग्दर्शनकी शुद्धि नहीं होती है ॥३२॥ रुधिर, मांस, चर्म, अस्थि, मदिरा, प्रत्याख्यात (त्यागी) वस्तु और बहुत जन्तुओंसे परिपूर्ण वस्तुका सम्यग्दर्शनकी शुद्धिके निमित्त हे भव्य, अन्तराय पालन करना चाहिए। अर्थात् भोजनके समय उक्त वस्तुओंके थालीमें आते ही भोजनका त्याग कर देना चाहिए ॥३३॥ कन्दमूल, कमलनाल, कमल-मूल (जड़), लहसुन, तुम्बा, करड, कलिंग, सूरण, फूल और अथाना (अचार) इनके भक्षण करनेपर सम्यग्दर्शनका भंग होता है ॥३४॥ इसी प्रकार अन्य जो सुले घुने, पुष्पित, अंकुरित एवं स्वाद-चलित जो-जो पदार्थ हैं, उन्हें भी नहीं खाना चाहिए, तथा दो दिनका वासी दही और मही (छांछ) भी नहीं खाना चाहिए ॥३५॥ द्विदल-मिश्रित दही और मही भी श्रावकके खाने योग्य नहीं है। इनके खानेसे सम्यग्दर्शनका भंग होता है और सम्यक्त्व रहे भी, तो वह मलिन हो जाता है ॥३६॥

ताम्बूल, औषधि और जलको छोड़कर जो सूर्यके अस्तंगत होनेपर भोज्य, अशन और फलाहारकी अभिलाषा करते हैं, वे अपनेसे सम्यग्दर्शनको दूर करते हैं ॥३७॥

जूआ खेलनेसे केवल धनकी ही हानि नहीं होती, पर व्रतोंका भी विनाश होता है। काठमें लगी हुई अग्नि केवल उसे ही नहीं जलाती है, किन्तु दूसरोंको भी जला देती है ॥३८॥ यदि जूआका देखना भी छोड़ दिया, तो हे जीव, जूआका खेलना छूट गया। जैसे अग्निके बुझा देनेपर अवश्य ही धुंआ नहीं उठता है ॥३९॥

धर्मरूपी वृक्षका मूल दया ही है। जिसने उसे जड़मूलसे उखाड़ डाला, वहाँ पर धर्मरूप-वृक्षके पत्र, फल और पुष्पोंकी कथा कहाँ संभव है। ऐसे मनुष्यने तो मांस ही भक्षण कर लिया समझना चाहिए ॥४०॥ जिसने दाल आदिकी पीठीरूप मांस का खाना छोड़ दिया उस जीवने मांस को छोड़ दिया, ऐसा समझना चाहिए। जैसे अपथ्य-सेवनके निवारणसे व्याधिका प्रवेश निवारण हो जाता है ॥४१॥

मदिरा पीनेवाले बेहोश मनुष्यका मुख चाँट कर कुत्ता भी मुखमें मूत जाता है, यह मद्य-पानका महा दोष है। मदिरा पानसे उन्मत्त हुआ पुरुष अपनी बहिनकी भी काम-सेवनके लिए

---

१ ब नियमयुक्तवस्तुनियमभंगे सति। २ ब जन्तोर्वधं दृष्ट्वा। ३ ब 'हिस' पाठः। टि० पद्मिनीकन्दम्। ४ ब धर्मांह्रिपस्य। ५ म. पुट्ठि०। ब पिष्टेन निष्पादितम्।

मज्जु मुक्क मुक्कह मयहं अण्णु जि वेसा मुक्क । जह वाहिहिं विणिवारियहिं वेयण होइ न इक्क ॥
वेसहिं लग्गिवि धणियधणु तुट्टइ वंधउ मित्तु । मुच्चइ णरु सव्वहिं गुणहिं वेसागिहं[1] पइसंतु ॥४४
कामकहा परिचत्तियइ जिय दारिय परिचत्त । अह कंदें उप्पाडियइ वेलिहिं पत्त समत्त ॥४५
पारद्धउ परणिग्घिणउ हणइ णिरारिउ जेण । भयभग्गा मु[2]हगहियतिण णरयहं गच्छइ तेण ॥४६
मुक्क सुणहमंजरपमुह जइ मुक्की पारद्धि । वीयइं रुद्धइं पाणियइं रुद्धीअंकुरलद्धि ॥४७
चोरी चोर हणेइ पर बहुय किलेसहं खाणि । देइ अणत्थु कुडुंवहमि गोत्तहु जस-धणहाणि ॥४८
मुक्कहं कूडतुलाइयहं चोरी मुक्की होइ । अहव वणिज्जइं छंडियइं दाणु ण मग्गइ कोइ ॥४९

परतिय वह-बंधण ण पर अण्णु वि णरयणिसेणि ।
विसकंदलि धारइ[3] ण पर करइ वि पाणहं हाणि ॥५०

जइ अहिलासु णिवारियउ ता वारिउ पर-यारु । अह णाइक्कें जित्तइण जित्तउ सयलु खंधारु ॥५१
वसणइ तावच्छंतु[4] जिय परिहर वसणासत्त । सुक्कहं संसग्गें हरिय पेक्खह तरु डज्झंत ॥५२
मूलगुणा इय एत्तडइं हियडइ थक्कइ जासु । धम्मु अहिंसा देउ जिणु रिसि गुरु दंसणु तासु ॥५३
जसु दंसणु तसु माणुसहं दोस पणासइ जंति । जहिं पएसि णिवसइ गरुडु तहि किं विसहर ठंति ५४

अभिलाषा करता है, जिससे कि उसका नरकमें प्रवेश होता है ॥४२॥ जिसने मद्य-पान छोड़ दिया, उसने सभी मद-कारक वस्तुओंको छोड़ दिया। तथा उसने वेश्याका भी त्याग कर दिया समझना चाहिए। जैसे कि व्याधियोंके निवारण हो जानेपर एक भी वेदना नहीं होती है ॥४३॥ वेश्या-सेवनमें लगे हुए धनिक पुरुषका सर्वधन समाप्त हो जाता है, उसके बंधु मित्र भी छूट जाते हैं और वेश्याके घरमें प्रवेश करनेवाला पुरुष सभी गुणोंसे विमुक्त हो जाता है ॥४४॥ हे जीव, काम-कथाके परित्यागसे वेश्याका परित्याग भी हो जाता है। जैसे जड़-कन्दके उखाड़ देनेपर बेलिके पत्ते समाप्त हो जाते हैं, अर्थात् स्वयं सूख जाते हैं ॥४५॥

शिकारी अतिनिर्दयी होता है, जो निरपराध, भयभीत और मुखमें तिनकोंको दावे हुए हरिणोंको मारता है, इससे वह नरकको जाता है ॥४६॥ यदि शिकार खेलना छोड़ दिया है, तो कुत्ता, बिल्ली, शिकारी हिंसक प्राणियोंको पालना भी छोड़। बीजको पानी देना रोक देनेपर अंकुरकी उत्पत्तिका अवरोध हो जाता है ॥४७॥

चोरी चोरका हनन करती ही है, पर अन्य भी बहुतसे क्लेशोंकी खानि है। वह कुटुम्बका भी अनर्थ करती है और गोत्रके यश एवं धनकी भी हानि करती है ॥४८॥ कूट-तुलादिके छोड़ देनेपर चोरी छूटती है। जैसे कि वाणिज्यके छोड़ देनेपर कोई दान नहीं माँगता है ॥४९॥

परस्त्री वध-बन्धन ही नहीं, अपितु वह नरककी नसेनी भी है। विषवृक्षकी जड़ मूर्च्छित ही नहीं करती, किन्तु प्राणोंकी भी हानि करती है ॥५०॥ यदि काम-अभिलाषाका निवारण कर दिया, तो परदाराका भी त्याग हो गया। जैसे नायकके जीत लेनेपर सकल स्कन्धावार (सैन्य) जीता समझा जाता है ॥५१॥

हे जीव, व्यसनोंका सेवन तो दूर रहे, व्यसनोंमें आसक्त पुरुषोंके संसर्गका भी परिहार कर। देखो—सूखे वृक्षोंके संसर्गसे हरे वृक्ष भी जल जाते हैं ॥५२॥

इस प्रकार ये उपर्युक्त मूलगुण जिसके हृदयमें निवास करते हैं, और जिसका धर्म अहिंसा,

---

१ झ म-घरि। २ म जिय। ३ म घारइ। ४ म तावइं छंडि। ब टि० तावत्तिष्ठन्तु।

दंसणरहिय जि तउ करहिं ताहं वि णिप्फल णिट्ठ।
विणु बीयइं कणभरणमिय भणु किं खेत्ती दिट्ठ ॥५५

दंसणसुद्धिए सुद्धयहं होइ सयल वयणिट्ठ। अह कप्पडि अणतोरियइ किम लग्गइ मंजिट्ठ ॥५६
दंसणभूमिहिं बाहिरा जिय वय-रुक्ख ण हुंति। विणु वयरुक्खहं सुक्खफल आयासहु ण पडंति ॥५७
छुडु[1] दंसणु गड्ढायरहु हियडइ णिच्चलु जाउ। वय-पासाउ समाढवउ चंचल धणु जिय आउ ॥५८
अणुवयगुणसिक्खावयइं ताइं जि बारह हुंति। भुंजाइवि णर-सुर-सुहइं जिउ णिव्वाणहु णिंति ॥५९
मणवयकायहिं दयकरहि जेम ण ढुक्कइ पाउ। उरि सण्णाहें बद्धइण अवस ण लग्गइ घाउ ॥६०

अलिउ कसायहिं मा चवहिं अलिएं गउ वसुराउ।
जहिं णिविट्ठु साखंडु तहं डालहु होइ पपाउ[3] ॥६१

णासइ धणु तसु घरतणउ जो परदव्व हरेइ। गेहि [4]कवेडउ पेसियउ काइं ण काइं करेइ ॥६२
मणि[5] इच्छिया परमहिल रावणु सीय विणट्ठु। दिट्ठिइं मारइ दिट्ठिविसु ता को जीवइ दट्ठु ॥६३
पसुधण-धण्णइं खेत्तियइं करि परिमाणपवित्ति। वलियइं[6] बहुयइं बंधणइं दुक्करु तोडहुं जंति ॥६४

देव जिन एवं ऋषि गुरु हैं, उसीके सम्यग्दर्शन है ॥५३॥ जिस मनुष्यके सम्यग्दर्शन है, उसके दोष विनाशको प्राप्त हो जाते हैं। जिस प्रदेशमें गरुड निवास करता है, वहाँ पर क्या विषधर सर्प ठहर सकते हैं ॥५४॥

जो जीव सम्यग्दर्शनसे रहित होकर तप करते हैं, उनकी क्रियानिष्ठा निष्फल है। बीजके विना, कहो कहीं कण-भारसे झुकी हुई खेती देखी गई है ॥५५॥ सम्यग्दर्शनकी शुद्धिसे शुद्ध पुरुषों-के ही सर्व व्रतोंकी निष्ठा होती है। हरडा-फिटकरीके लगाये विना कपड़े पर मंजीठका रंग क्या चढ़ सकता है ॥५६॥ हे जीव, सम्यग्दर्शनकी भूमिसे बाहिर व्रतरूपी वृक्ष नहीं होते हैं और व्रत वृक्षोंके विना सुखरूपी फल आकाशसे नहीं टपकते हैं ॥५७॥ जब सम्यग्दर्शन हृदयमें गाढ़ रूपसे निश्चल दृढ़ हो जावे, तब उस सम्यग्दर्शन रूपी नींवकी भूमि पर व्रतरूपी प्रासादको बनाना शीघ्र आरम्भ करो। हे जीव, यह धन और आयु चंचल है ॥५८॥

पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ये श्रावकके बारह व्रत होते हैं। ये व्रत मनुष्य और देवोंके सुखोंका उपभोग कराकर जीवको निर्वाण पद तक ले जाते हैं ॥५९॥ मन वचन कायसे दया कर, जिससे कि पाप न ढूँके। वक्षःस्थलपर कवच बाँधनेसे अवश्य ही शस्त्रके घाव नहीं लगते हैं ॥६०॥ कषायसे असत्य मत बोल। असत्य से वसुराजा नरक गया। जिस शाखापर उसका खंडन करने वाला बैठा है, उस डालीका प्रपात (पतन) होता ही है ॥६१॥ जो पर-द्रव्यका हरण करता है, उसके घरका धन भी नष्ट हो जाता है। जिसने अपने घरमें डाकूका प्रवेश कराया है, वह क्या क्या नहीं करेगा ॥६२॥ रावणने परस्त्री सीताकी मनमें इच्छा की, तो वह रावण विनष्ट हो गया। दृष्टिविष सर्प देखने मात्रसे मार डालता है, फिर उसके द्वारा डसे जाने पर तो कौन जी सकता है ॥६३॥ पशु-धन, धान्य, खेती आदिमें परिमाण करके प्रवृत्ति कर। बहुत बल (आँटें) वाले बन्धनोंका तोड़ना दुष्कर होता है ॥६४॥

---

१ यदा। २ ब टि० समारोपयत यूयम्। ३ म पमाउ। ४ ब धाडउ। ५ म माणइं। ६ ब टि० वलवत्तराणि बहुबन्धनानि त्रोटने सति दुस्तराणि भवन्ति।

भोगहं करहि पमाणु जिय इंदिय म करि सदप्पु। हुंति ण भल्ला पोसिया दुद्धें काला सप्पु ॥६५

दिसि विदिसिहिं परिमाणु करि जिय बहु जायइ जेण।
[1]सावकलियहिं [2]आसागयहिं संजमु पालिउ[3] तेण ॥६६

लोहु लक्ख विसु सणु मयणु दुट्ठभरणु पसुभारु।
छंडि अणत्थहं पिंडि [4]पडिउ किम तरिहहि[5] संसारु ॥६७

संझहिं तिहिं सामाइयउं उप्पज्जइ बहु पुण्णु। कालि वरिट्ठइं भंति कउ जइ[6] उप्पज्जइ धण्णु ॥६८

चिरकयकम्महं खउ करइ पव्वदिणहिं[7] उववासु। अहवा सोसइ सर-सलिलु भंति ण गिंभि दिणेसु ॥

पत्तहं दिज्जइ दाणु जिय कालि विहाणें तंपि।
अह विहि-विरहिउ वावियउ बीउ वि फलइ ण किंपि ॥७०

सण्णासेण मरंतयहं लब्भइ इच्छियलद्धि। इत्थु ण कायउ भंति करि जहिं साहसु तहिं सिद्धि ॥७१

ए बारह वय जो करइ सो गच्छइ सुरलोइ। सहसणयणु धरणिंदि जहिं वण्णइ ताहं विभोइ ॥७२

आउसंति सग्गहु चइवि उत्तमवंसहं हुंति। भुंजिवि हरि-बल-चक्किसुहु पुणु तवयरणु करंति ॥७३

उक्किट्ठइं विहिं तिहिं भवहिं भुंजिवि सुर-णरसोक्खु।
जंति जहण्णइं धुणियरय भवि सत्तट्ठमि मोक्खु ॥७४

हे जीव, भोगोंका भी प्रमाण कर, इन्द्रियोंको दर्प-युक्त मत कर। दूधसे पोषण किये गये काले साँप भले नहीं होते हैं ॥६५॥ दिशा-विदिशाओंमें गमनागमनका प्रमाण कर, क्योंकि इससे जीव-घात होता है। जिसने आशारूपी गजोंको सांखलोंसे बाँधा, उसने संयमका पालन किया। कुछ प्रतियोंमें 'मोक्कलियइं' पाठ है, तदनुसार यह अर्थ होता है कि जिसने आशारूपी गजोंको उन्मुक्त छोड़ा, उसने अपने संयमका निपात कर दिया, इस अर्थमें 'पालिउ' के स्थान पर 'पाडिउ' पाठ समझना चाहिए, क्योंकि संस्कृत और प्राकृत भाषामें ड और ल में व्यत्यय देखा जाता है ॥६६॥ लोह, लाख, विष, सन, मैन इनका बेचना, दुष्ट जीवोंका पालना और पशुओं पर भार लादना इनको छोड़। अनर्थोंके समूहमें पड़कर संसारको किस प्रकार तरेगा ॥६७॥

तीनों संन्ध्याओंमें सामायिक करनेसे बहुत पुण्य उत्पन्न होता है। समय पर वर्षा होनेसे यदि धान्य उत्पन्न हो, तो इसमें भ्रांति क्या है ॥६८॥ पर्वके दिन किया गया उपवास चिर कालके किये हुए कर्मोंका क्षय करता है। अथवा गर्मीके दिनोंमें सूर्य सरोवरके जलको सुखा देता है, इसमें कोई भ्रान्ति नहीं है ॥६९॥ हे भव्य जीव, योग्य कालमें योग्य विधानके साथ पात्रोंको दान देना चाहिए। क्योंकि विधिसे रहित बोया गया बीज कुछ भी फल नहीं देता है ॥७०॥ संन्याससे मरण करनेवाले श्रावकोंको इच्छित ऋद्धि प्राप्त होती है, इसमें कुछ भी भ्रान्ति न करो। क्योंकि जहाँ साहस होता है, वहाँ पर अवश्य सिद्धि होती है ॥७१॥ जो जीव इन बारह व्रतोंका पालन करता है, वह देवलोक जाता है, जहाँ पर सहस्र नयन इन्द्र और धरणेन्द्र भी उसकी विभूतिका वर्णन करते हैं ॥७२॥ आयुषके अन्तमें स्वर्गसे च्युत होकर उत्तम वंशवाले मनुष्योंमें उत्पन्न होते हैं और नारायण, बलभद्र एवं चक्रवर्तीके सुख भोगकर पुनः तपश्चरण करते हैं ॥७३॥ वे भव्य

---

१ म मोक्कलियइं। २ ब टि० आशा वांछा एव गर्त्तः, आशा गजो वा। ३ ब टि० अथवा डलयो रैक्यं संयमः पातितः। ४ ब टि० पेटके समूहे। ५ झ तरिसहि। ६ ख उप्पज्जइ बहु धण्णु। ७ झ-दिणइं।

संगचाउ जे करहिं जिय ताहं ण वय भज्जंति । अह किं लग्गहिं चोरडा जे दूरे णासंति ॥७५
एहु धम्मु जो आयरइ बंभणु सुद्दु वि कोइ । सो सावउ किं सावयहं अण्णु कि सिरि मणि होइ ॥
मज्जु मंसु महु परिहरइ संपइ सावउ सोइ । णीरुक्खइ एरंडवणि किं ण भवाई होइ ॥७७
सावयधम्महिं सयलहंमि दाणु पहाणु सुवुत्तु । तं दिज्जइ विणएण सहु बुज्झिवि पत्तु अपत्तु ॥७८
उत्तमु पत्तु मुणिंदु जगि मज्झिमु सावउ सिट्ठु । अविरयसम्माइट्ठि जणु पभणिउ पत्तु कणिट्ठु ॥७९
पत्तहं जिणउवएसियहं तीहिंमि देइ जु दाणु । कल्लाणइं पंचइं लहिवि भुंजइ सोक्खणिहाणु ॥८०
दंसणरहिय कुपत्त जइ दिण्णइ ताह कुभोउ । खारघडइ अह णिवडियउ णीरु वि खारउ होइ ॥८१
हय-गय-सुणहहं दारियहं मिच्छादिट्ठिहिं भोय । ते कुपत्तदाणंघिवह फल जाणहु बहुभेय[1] ॥८२

तं अपत्तु आगमि भणिउ ण उ वय दंसण जासु ।
णिप्फलु दिण्णउ होइ तसु जह ऊसरि वउ[2] सासु ॥८३

हारिउ ते धणु अप्पणउं दिण्णु अपत्तहं जेण । [3]उप्पहिं चोरहं अप्पियउ खोजु ण पत्तउ केण ॥८४
एक्कु वि तारइ भवजलहिं वहु दायार सुपत्तु । सुपरोहण एक्क वि वहुय दीसइ पारहु णितु ॥८५
दाणु [4]कुपत्तहं दोसडइ वोलिज्जइ ण हु भंति । पत्थरु पत्थरणाव कहिं दीसइ उत्तारंति ॥८६

जीव उत्कृष्ट रूपसे दो-तीन भवोंमें देव-मनुष्योंके सुख भोग कर और जघन्य रूपसे सात-आठ भवोंमें कर्म-रजको दूर कर मोक्षको जाते हैं ॥७४॥ जो जीव परिग्रहका त्याग करते हैं, उनके व्रत भंग नहीं होते हैं। क्या उन सुभटोंके पीछे चोर लग सकते हैं, जो उनको देखकर दूरसे ही भागते हैं ॥७५॥ जो कोई भी ब्राह्मण या शूद्र इस उपर्युक्त धर्मका आचरण करता है, वह श्रावक है। और क्या श्रावकके शिर पर कोई मणि रहता है ॥७६॥ सम्प्रति इस पंचमकालमें जो मद्य मांस और मधुका त्याग करता है, वही श्रावक है। क्या अन्य वृक्षोंसे रहित एरण्ड-वनमें छाया नहीं होती है ॥७७॥ श्रावकके सर्व धर्मोमें दान देना प्रधान धर्म कहा गया है। इसे पात्र-अपात्रका विवेक कर विनयके साथ देना चाहिए ॥७८॥ जगत्में उत्तम पात्र मुनीन्द्र और मध्यमपात्र श्रावक कहा गया है। अविरत सम्यग्दृष्टि मनुष्य कनिष्ठ (जघन्य) पात्र कहा गया है ॥७९॥ जिनदेवके द्वारा उपदिष्ट उक्त तीनों ही प्रकारके पात्रोंको जो दान देता है, वह पंच कल्याणकोंको प्राप्त करके सुखके निधान शिव-पदका उपभोग करता है ॥८०॥

सम्यग्दर्शनसे रहित कुपात्रको यदि दान दिया जाता है, तो उससे कुभोग प्राप्त होते हैं। जैसे खारे घड़ेमें डाला हुआ पानी भी खारा हो जाता है ॥८१॥ मिथ्यादृष्टि घोड़े, हाथी, कुत्ते और वेश्याओंको जो भोग प्राप्त हैं, वे सब कुपात्रदानरूपी वृक्षके नाना प्रकारके फल जानो ॥८२॥

जिसके व्रत और सम्यग्दर्शन नहीं हैं, आगममें उसे अपात्र कहा गया है। उसे दिया गया दान निष्फल होता है, जैसे कि ऊसर भूमिमें वोया गया धान्य निष्फल जाता है ॥८३॥ जिसने अपात्रको दान दिया, उसने अपना धन खोया। उत्पथमें चोरोंको अर्पण किया गया धन किसने वापिस खोज पाया है ॥८४॥

एक ही सुपात्र अनेक दातारोंको भवसागरसे पार उतार देता है। एक ही उत्तम जहाज अनेक पुरुषोंको पार लगाता हुआ देखा जाता है ॥८५॥ कुपात्रको दान देना दोषयुक्त कहा गया

---

१ व मिथ्यादृष्टीनां हयादीनां ये भोगा भवन्ति तत्सर्वं कुपात्रदानवृक्षस्य फलं ज्ञेयम्। २ म कउ।
३ टि० उत्पथे। ४ म अपत्तहं।

जइ गिहत्थु दाणेण विणु जगि पभणिज्जइ कोइ।
ता गिहत्थु पक्खि वि हवइ जें घरु ताह वि होइ ॥८७
धम्मु करउं जइ होइ धणु इहु दुव्वयणु म बोल्लि।
हक्कारउ जमभडतणउ आवइ अज्जु कि कल्लि ॥८८

काइं बहुत्तइं संपयइं जा[2] किवणहं घरि होइ। [3]उवहि णीरु खारें भरिउ पाणिउ पियइ ण कोइ ॥८९
पत्तहं दिण्णउ थोवडउ रे जिय होइ बहुत्तु। वडहं बीउ धरिणिहिं पडिउ वित्थरु लेइ महंत्तु ॥९०
धम्मसरूवें परिणवइ चाउवि पत्तहं दिण्णु। साइयजलु सिप्पिहिं गयउ मुत्तिउ होइ रवण्णु ॥९१
जं दिज्जइ तं पावियइ एउ ण वयणु विसुद्धु। गाइ पइण्णइं खडभुसइं कि ण पयच्छइ दुद्धु ॥९२
जो घरि हुंतइं धणकणइं मुणिहिं कुभोयणु देइ। जम्मि जम्मि दालिद्दडउ पुट्ठि ण तहु छंडेइ ॥९३
कहिं भोयण [4]सहुं भिट्टडी दिण्णु कुभोयणु जेण। हुंतइं बीयइं घरि पउरि ववियं ववूलइं तेणं ॥९४
जं जिय दिज्जइ इत्थु भवि तं लब्भइ परलोइ। मूलें सिंचइ तरुवरहं फलु डालहिं पुणु होइ ॥९५
पत्तहं दाणइं दिण्णइण मिच्छादिट्ठि वि जंति। उत्तमाइं भोयावणिहिं इच्छिउ भोउ लहंति ॥९६
कम्मु ण खेत्तिय सेव जहिं ण उ वाणिज्जपयासु। घरि घरि दसविह[6]कप्पयर ते पूरहिं अहिलासु ॥
कि कि देइ ण धम्मतरु दाण-सलिल-सिंचंतु। जइ मिच्छत्त हुयासणहु रक्खिज्जइ डज्झंतु ॥९८
धम्मु करंतहं होइ धणु इत्थु ण कायउं[7] भंति। जलु कड्ढंतहं कूवयहं अवसइं सिरउ [8]वहंति ॥९९

है, इसमें भ्रान्ति नहीं है। कहीं पत्थरोंकी नाव पत्थरको पार उतारती देखी गई है ॥८६॥ यदि दानके विना भी जगत्में कोई मनुष्य गृहस्थ कहा जाय, तव तो पक्षी भी गृहस्थ हो जाता है, क्योंकि घोंसलारूप घर तो उसके भी होता है ॥८७॥ 'यदि धन हो जाय तो धर्म करूँ, ऐसा दुर्वचन मत बोल। क्योंकि यमराजके दूतका हकारा आज आ जाय, कि काल, इसका क्या भरोसा है ॥८८॥ उस वहुत सम्पत्तिसे क्या लाभ, जो कृपणके घरमें होती है। समुद्र खारे पानीसे भरा है, उसका कोई पानी नहीं पीता है ॥८९॥ हे जीव, पात्रको दिया गया थोड़ा-सा भी दान वहुत होता है। बटका बीज भूमिमें पड़कर भारी विस्तार ले लेता है ॥९०॥ पात्रको दिया हुआ दान धर्मस्वरूपसे परिणत होता है। देखो—स्वाति नक्षत्रका जल सीपमें जाकर रमणीक मोती बन जाता है ॥९१॥ 'जो दिया जाता है, वही प्राप्त होता है' यह वचन विशुद्ध (यथार्थ) नहीं है। देखो—गायको खल और भुस दिया जाता है, तो क्या वह दूध नहीं देती है ॥९२॥ जो मनुष्य घरमें धन-धान्यके होते हुए भी मुनिको कुभोजन देता है, दारिद्रय जन्म-जन्ममें उसका पीछा नहीं छोड़ता है ॥९३॥ जिसने मुनियोंको कुभोजन दिया है, उसे उत्तम भोजनसे भेंट कहाँ है और जाने। घरमें प्रचुर बीजोंके होते हुए भी उसने बबूल बोये हैं ॥९४॥ हे जीव, जो कुछ इस भवमें दिया जाता है, वही परलोकमें प्राप्त होता है। वृक्षके मूलको सींचनेपर ही डालियोंमें फल लगते हैं ॥९५॥ पात्रोंको दान देनेसे मिथ्यादृष्टि भी उत्तमभोगभूमिको जाते हैं और इच्छित भोगोंको पाते हैं ॥९६॥ जिस भोगभूमिमें न खेती और न सेवाकार्य है और न व्यापारका प्रयास ही है। वहांपर घर-घरमें दस प्रकारके कल्प-वृक्ष हैं, वे जीवोंकी सब अभिलाषाओंको पूरा करते हैं ॥९७॥ दानरूपी जलसे सींचा गया धर्मरूपी वृक्ष क्या-क्या सुफल नहीं देता है? यदि मिथ्यात्वरूप अग्निके द्वारा उसकी जलनेसे रक्षा की जाय ॥९८॥ धर्म करनेवालोंके धन होता है, इसमें कोई भी भ्रान्ति नहीं है। जैसे कूपसे जलके निकलने-

---

१ झ जहं। २ म जइ। ३ झ सायर। ४ व सिहु। ५ यह दोह 'झ' प्रतिमें नहीं है। ६ म दस कप्पयर जहिं। ७ व काइमि। ८ म घडंति।

धम्मह धणु पर होइ थिरु विग्घइं विहडिवि जंति।
अह सरवरु मविणइं रहिउ फुट्टिवि जाइ तडत्ति ॥१००

धम्में सुहु पावेण दुहु एउ पसिद्धउ लोइ। तम्हा धम्मु समायरहि जिम हियइच्छिउ होइ ॥१०१
धम्में जाणहिं जंति णर पावें जाण वहंति। घरयर गेहोवरि चढहिं कूवखणय तलि जंति ॥१०२

धम्में एक्कु वि बहु-भरइ सइं भुक्खियउ अहम्मु।
वडु बहुयहं छाया करइ तालु सहइ सइं घम्मु ॥१०३

काइं बहुत्तइं जंपियइं जं अप्पहु पडिकूलु। काइं मि परहु ण तं करहि एहु जि धम्महु मूलु ॥१०४
सत्थसएण[1] वि जाणियहं[2] धम्मु ण चढइ मणेवि। दिणयरसय जइ उग्गमइ घूयड अंधउ तोवि १०५
पोट्टहं लग्गिवि पावमइ करइ परत्तहं[3] दुक्खु। देवल-लग्गिय-खिल्लियइं किण्ण पलोट्टइ मुक्खु[4] ॥१०६
छुडु सुविसुद्धिए होइ जिय तणु मणु वय सामग्गि। धम्मु विढप्पइ इत्तियहं धणहुँ विलग्गउ अग्गि ॥
[5]थुणु वयणें झायहि मणहिं जिणु भुवणत्तयबंधु। कायहिं करि उववासु जिय जें खुट्टइ भवसिंधु १०८

होइ वणिज्जु ण पोट्टलिहिं उववासहिं ण उ धम्मु।
एहु अयाणहु[6] सो चवइ जसु कउ भारिउ कम्मु ॥१०९

पोट्टलियहिं मणिमोत्तियहिं धणु कित्तियहिं ण माइ। बोरिहिं भरिउ बलद्दडा तं णाही जं खाइ ॥

पर उसमें स्रोतोंसे अवश्य ही जल प्रवाहित होता है, अर्थात् झरोंके द्वारा और पानी आ जाता है ॥९९॥ धर्मसे धन स्थिर होता है और विघ्न विघट जाते हैं। जैसे (पाल-बन्धसे जल सरोवरमें भरा रहता है।) किन्तु पाल-बन्धसे रहित सरोवर तुरन्त फूट जाता है (और उसका सारा जल बाहिर निकल जाता है) ॥१००॥ धर्मसे सुख और पापसे दुख होता है, यह बात लोकमें प्रसिद्ध है। इसलिए धर्मका आचरण कर, जिससे मनोवांछित पदार्थ प्राप्त हों ॥१०१॥ धर्मसे मनुष्य यान-वाहनोंके द्वारा जाते हैं और पापसे मनुष्य यानोंका वहन करते हैं। घरके बनानेवाले कारीगर घरके ऊपर चढ़ते हैं और कूप खनन करनेवाले लोग नीचे तल भागकी ओर जाते हैं ॥१०२॥ धर्मसे एक ही पुरुष बहुत लोगोंका भरण-पोषण करता है और अधर्मी स्वयं भूखा रहता है। बटवृक्ष बहुत जनोंपर छाया करता है और ताड़वृक्ष स्वयं घाम सहता है ॥१०३॥ बहुत कहनेसे क्या लाभ, जो कार्य अपने लिए प्रतिकूल हो, उसे कभी दूसरोंके लिए भी मत करो। यह धर्मका मूल है ॥१०४॥ सैकड़ों शास्त्रोंके जान लेनेपर भी मिथ्यादृष्टि जीवके मनपर धर्म नहीं चढ़ता है। यदि सैकड़ों सूर्य भी उदित हो जावें, तो भी घुग्घू अन्धा ही रहता है ॥१०५॥ पापबुद्धि पुरुष पेटके लिए दूसरोंको दुःख पहुँचाता है। मूर्ख मनुष्य देवालयमें लगी हुई खीलोंके लिए क्या उसे नहीं पटकता है ॥१०६॥ हे जीव, यदि तन-मन और वचनकी सामग्री विशुद्ध हो, तो इतनेसे ही धर्म बढ़ता है। (धर्मके लिए धनकी आवश्यकता नहीं है।) फिर उस धनमें आग लगने दे ॥१०७॥ त्रिभुवनके बन्धु जिनदेवका वचनोंसे स्तवन कर, मनसे ध्यान कर और कायसे उपवास कर, जिससे कि हे जीव, भव-सिन्धु अन्तको प्राप्त हो ॥१०८॥ पोटलीसे वाणिज्य नहीं होता और उपवासोंसे धर्म नहीं होता। यह बात तो वही अज्ञानी मनुष्य कहता है जिसने भारी दुष्कर्म किया है ॥१०९॥ देखो—मणि-मोतियोंकी पोटलियोंसे कितना धन कमाया जा सकता है इसका माप (परिमाण)

---

१ झ-सएहिं। २ झ म याणियाहिं। ३ ब टि० परलोकस्य। ४ ब टि० किं मूर्खो लग्नखीलीनिमित्तं देवगृहं न पातयति ? अपि तु पलोट्टइ—पातयति। ५ च म मुणि। ६ ब टि० अज्ञानी पुमान्।

उववासहो एक्कहो फलइं संबोहिय परिवारु । णायदत्तु दिवि देउ हुउ पुणरवि णायकुमारु ॥१११
तं कज्जें जिय तुव भणमि[1] करि उववासब्भासु[2] । जाम ण देहकुडिल्लियहिं ढुक्कइ मरणहुयासु ११२
धम्मु जि सुद्धउ तं जि पर जं किज्जइ काएण[3] । अहवा तं धणु इज्जलउ जं आवइ णाएण ॥११३
णिद्धणमणुयहं कट्ठडा संजमि उण्णय दिंति । अह उत्तमपइ जोडिया जिय दोस वि गुण हुंति ॥११४
णियमविहूणहं णिट्ठडिय[4] जीवहं णिप्फल होइ । अणबोल्लिउ किं पावियइ दाम कलत्त रु[5] लोइ ॥११५

जो वय-भायणु सो जि तणु किं किज्जइ इयरेण ।
तं सिरु जं जिण मुणि णवइ रेहइ भत्तिभरेण ॥११६

दाणच्चणविहि जे करहिं ते जि सलक्खण हत्थ । जे जिणतित्थहं अणुसरहिं पाय वि ते जि पसत्थ ॥
जे सुणंति धम्मक्खरइं ते हउं मण्णमि कण्ण । जं जोवहिं जिणवरह मुहु ते पर लोयण धण्ण ॥११८

अवरु वि जं जहिं उवयरइ[6] तं उवयारहिं तित्थु[7] ।
लइ जिय जीविय लाहडउ देहु म करहु[8] णिरत्थु ॥११९

घरु पुरु परियणु धणियधणु बंधव पुत्त सहाइं[9] । जीवें जंतें धम्मु पर अण्णु ण सरिसउ जाइ[10] ॥१२०
देहि दाणु वउ[11] किंपि करि मा[12] गोवहि णियसत्ति । जं कड्ढियइं वलंतयहं तं उव्वरइ ण भंति ॥१२१

नहीं है और जो खाये जाते हैं, ऐसे बैल भरे बेरोंसे वह धन (मूल्य) नहीं मिलता है ॥११०॥ देखो—एक ही उपवासके फलसे परिवारको सम्बोधित कर नागदत्त स्वर्गमें देव हुआ और वहाँसे आकर फिर भी नागकुमार हुआ ॥१११॥ इसलिए हे जीव, तुझसे कहता हूँ कि तू उपवासका अभ्यास कर, जबतक कि देहरूपी कुटो (झोंपड़ी) में मरणकी आग प्रवेश नहीं कर रही है ॥११२॥ धर्म वही विशुद्ध है, जो कि अपने शरीरसे किया जाता है और धन वही उज्ज्वल है, जो कि न्यायसे आता है ॥११३॥ निर्धन मनुष्यके कष्ट संयममें उन्नति देते हैं। देखो—उत्तमपदमें जोड़े गये जीवके दोष भी गुण हो जाते हैं ॥११४॥ नियमसे रहित जीवकी निष्ठा (क्रिया) निष्फल होती है। क्या कोई लोकमें अनबोले दाम और कलत्र (स्त्री) को पाता है। भावार्थ—जैसे लोकव्यवहारमें वस्तुका दाम (मूल्य) बोलनेपर ही मिलता है, और स्त्री भी विवाहके पूर्व वाग्दान हो जानेपर ही प्राप्त होती है, इसी प्रकार पहले व्रतका नियम लेनेपर ही आचरणरूप क्रिया सफल होती है ॥११५॥ जो व्रतका भाजन हो, वही शरीर है, व्रत-रहित अन्य शरीरसे क्या लाभ है। सिर वही शोभता है, जो जिनदेव और निर्ग्रन्थमुनिको भक्ति-भारसे नमस्कार करे ॥११६॥ जो दान और पूजनविधिको करें, वे ही सुलक्षण हाथ हैं और जो जिनतीर्थोंका अनुसरण करें, वे ही प्रशस्त पाँव हैं ॥११७॥ जो धर्मके अक्षरोंको सुनते हैं, उन्हींको मैं कान मानता हूँ और जो जिनवरके मुखको देखते हैं, वे ही लोचन परमधन्य हैं ॥११८॥ और भी जो अंग जैसा उपकार कर सके, उससे वैसा ही उपकार कराओ। हे जीव, (इस प्रकारसे तुम) जीवनका लाभ लो, देहको निरर्थक मत करो ॥११९॥

घर, पुर, परिजन, धनिक, धन, बान्धव, पुत्र और सहायक ये कोई भी जीवके परलोक जाते समय साथ नहीं जाते हैं, केवल एक धर्म ही साथ जाता है ॥१२०॥ इसलिए दान दो, कुछ

---

१ व.टि० त्वां भणामि । झ म पइ भणिउ । २ झ सयासु । ३ व टि० उपवासादिना कायखेटनेन । ४ म णिट्ठुणी । व निष्ठा क्रिया । ५ म दम्मकलंतरु । ६ व उपकरोति । ७ व तत्र उपकारय, उपकार-निमित्तं प्रेरय । ८ झ म लेहु । ९ व सयाइं । १० यह दोहा 'झ' में नहीं है । ११ म चउ । १२ म माण ।

जइ जिय सुक्खइं[1] अहिलसइ छंडहि विसय कसाय।
अह विग्घइं अणिवारियइं फलहि कि अज्झवसाय ॥१२२

फरसिंदिउ मा लालि जिय लालिउ एहु जि सत्तु। करिणिहिं लग्गउ हत्थियउ णियलंकुसदुहु पत्तु॥

जिब्भिदिउ जिय संवरहि सरस ण भल्ला भक्ख।
[2]गालइं मच्छ चडप्फडिवि मुइवि[3]सहिवि थलदुक्ख ॥१२४

घाणिंदिय वढ[4] वसि करहि रक्खहु विसयकसाय[5]।
गंधहं लंपड सिलिमुहुवि हुउ कंजइ विच्छाय ॥१२५

रूवहिं उप्परि रइ म करि णयण णियारहि जंत। रूवासत्त पयंगडा पेक्खहि दीवि पडंत ॥१२६
मण गच्छहो मणमोहणहं जिय गेयहं अहिलासु। गेयरसें हियकण्णडा पत्ता हरिण विणासु ॥१२७
[6]एक्कु वि इंदिउ मोक्कलउ पावइ दुक्खसयाइं। जसु पुणु पंचवि मोक्कला सु पुच्छिज्जइ काइं ॥१२८
ढिल्लउ होहि म इंदियहं पंचहं विण्णि णिवारि। इक्क णिवारहि जीहडिय[7] अवर[8] पराइय णारि॥
[9]खंचहि गुरुवयणंकुसहिं मिल्लि[10] म ढिल्लउ तेम। जह मोडइ मणहत्थियउ संजमभरतरु जेम ॥१३०
परिहरि कोहु खमाइ करि मुच्चहि कोहमलेण। ण्हाणें सुज्झइ भंति कउ छित्तउ चंडालेण ॥१३१
मउयत्तणु जिय मणि धरहि माणु पणासइ जेण। अहवा तिमिरु ण ठाहरइ सूरहु गयणि ठिएण १३२

व्रत भी करो, अपनी शक्तिको मत छिपाओ। इस वलते (जलते) हुए शरीररूपी घरमेंसे जो काढ़ लोगे, वही वचेगा, इसमें भ्रान्ति नहीं है ॥१२१॥ हे जीव, यदि तू सुख चाहता है, तो विषय और कषाय छोड़ दे। विघ्नोंके निवारण किए विना क्या अध्यवसाय फलीभूत हो सकता है ॥१२२॥ हे जीव, स्पर्शन-इन्द्रियका लालन मत कर, लालन करनेसे यह शत्रु वन जाती है। देखो—करिणी (हथिनी) में आसक्त हुआ हाथी सांकल और अंकुशके दुःखको पाता है ॥१२३॥ हे जीव, जिह्वा-इन्द्रियका संवरण कर, सरस भक्षण भला नहीं होता है। देखो—लोहेकी कीली (वंसी) से विंधी हुई मछली तड़फड़ाकर और जमीनके दुःख सहकर मरती है ॥१२४॥ हे मूढ, घ्राण-इन्द्रियको वशमें कर और विषय-कषायसे अपनी रक्षा कर। देखो—सुगन्धका लम्पटी भौंरा कमलमें वन्द होकर मरणको प्राप्त होता है ॥१२५॥ रूपके ऊपर रति मत कर, रूपपर जाते हुए नयनोंको भी रोक। दीपकमें गिरते हुए रूपासक्त पतङ्गोंको देख ॥१२६॥ हे जीव, मन-मोहक गीतोंके सुननेकी अभिलाषाको मत प्राप्त हो। देखो—गीतरसके श्रवणमें आसक्त हरिण विनाशको प्राप्त होते हैं ॥१२७॥ (देखो—ये सव उपर्युक्त जीव) एक-एक इन्द्रियके वशंगत होकर सैकड़ों दुःखोंको पाते हैं। और जिसकी पाँचों ही इन्द्रियाँ स्वच्छन्द हैं, अर्थात् जो पाँचोंके ही विषयोंमें आसक्त हैं, उसके दुःखोंका तो पूछना ही क्या है ॥१२८॥ पाँचों ही इन्द्रियोंके विषयोंमें ढीला मत हो। उनमें भी मुख्यरूपसे दो इन्द्रियोंका तो निवारण कर ही। एक तो जिह्वा इन्द्रियका निवारण कर और दूसरी परायी स्त्रीका निवारण कर स्पर्शन-इन्द्रियको वशमें कर ॥१२९॥ गुरुके वचनरूपी अंकुशसे मनरूपी गजका निवारण कर, उसे ढीला मत छोड़, जिससे कि संयमभार वाला यह वृक्ष सुरक्षित रह सके ॥१३०॥ क्षमाके द्वारा क्रोधका परिहार कर क्रोधरूपी मैलसे मुक्त हो। चाण्डालसे छुआ हुआ मनुष्य स्नानसे शुद्ध होता है, इसमें क्या भ्रान्ति है ॥१३१॥ हे जीव, मृदुताको मनमें धारण

---

१ म सुक्खहं। २ लोहकण्टकेन। ३ म मुउ विसहइ। ४ म वड। व टि० मूढ। ५ व पमाय। ६ एक्कहि। ७ म जीहडी। ८ म अण्ण। ९ व मनो निवारय। १० म मेल्लि।

माया मिल्लहि थोडिय वि दूसइ चरिउ विसुद्धु । कंजियबिंदुवि[1] वित्तुडइ सुद्धुवि गुलियउ दुद्धु ॥
लोहु मिल्लि चउगइसलिलु हलुवउ जायइ जेम । लोह-मुक्कु सायरु तरइ पेक्खि[2] परोहण तेम १३४
मोहु जि[3]छिज्जें[4] दुब्बलउ होइ इयरु[5] परिवारु । हलुवउ उग्घाडंतयहं अहव णिरग्गलु वारु ॥१३५
मिच्छत्तें णरु मोहियउ पाउ वि धम्मु मुणेइ । भंति कवणु धत्तूरियउ डलु वि सुवण्णु भणेइ ॥१३६

जइ अच्छहि[6] संतोसु करि जिय सोक्खहं विउलाहं[7] ।
अहवा णंदु वि को करइ रवि मिल्लिवि कमलाहं ॥१३७
मणुयहं विणयविवज्जियहं गुण सयलवि णासंति ।
अह सरवरि विणु पाणियइं कमलइं केम रहंति ॥१३८

विज्जावच्चें[8] विरहियउ वय-णियरो वि ण ठाइ । सुक्कसरहु किं हंसउलु जंतउ धरणहं जाइ ॥१३९
सज्झाएं णाणहु पसरु रुज्झइ इंदियगाउ[9] । पच्चूसें सूरुग्गमणि घूयडकुलु णिच्छाउ[10] ॥१४०
गुणवंतहं सह संगु करि भल्लिम पावहि जेम । सुवणसुपत्त विवज्जियउ वरतरु वुच्चइ केम ॥१४१
[11]सत्तु वि महुरइं उवसमइ सयलवि जियवसि हुंति । [12]वयणइं कक्कस पोसियइं पुरिसहु होइ ण कित्ति

भोयणु [13]मउणें जो करइ सरसइ सिज्झइ तासु ।
अहवा [14]वसइ समुद्दि जिय लच्छि म करहु[15] णिवासु ॥१४३

कर, जिससे कि मानका विनाश हो । अथवा सूर्यके गगनमें स्थित रहनेपर अन्धकार नहीं ठहर सकता है ॥१३२॥ मायाको छोड़, जो थोड़ी भी विशुद्ध चारित्रको दूषित कर देती है । कांजीके एक बिन्दु भी गुड़युक्त शुद्ध दूधको भी फाड़ देती है ॥१३३॥ लोभको छोड़, जिससे चतुर्गतिरूपी जल (पार करनेके लिए तू) हलका हो जाय । देख, लोह-मुक्त (काठ की) नाव जैसे सागरको तर जाती है ॥१३४॥ मोहके क्षय होनेपर राग-द्वेषादिरूप अन्य परिवार स्वयं ही दुर्बल हो जाता है । अथवा अर्गला (सांकल) रहित द्वार उघाड़नेमें हलका होता ही है ॥१३५॥ मिथ्यात्वसे मोहित मनुष्य पापको भी धर्म मानता है । यदि धत्तूरेसे उन्मत्त पुरुष डले (पत्थरके टुकड़े)को भी सोना कहे तो इसमें क्या भ्रान्ति है ॥१३६॥ हे जीव, यदि विपुल सुखकी इच्छा है, तो तू सन्तोषको धारण कर । अथवा सूर्यको छोड़कर कमलोंको आनन्द और कौन कर सकता है ॥१३७॥ विनयसे रहित मनुष्यके समस्त गुण नष्ट हो जाते हैं । अथवा सरोवरमें पानीके बिना कमल कैसे रह सकते हैं ॥१३८॥ वैयावृत्यसे रहित व्रतोंका समूह भी नहीं ठहरता है । सूखे सरोवरसे जाता हुआ हंसोंका समुदाय क्या रोका जा सकता है ॥१३९॥ स्वाध्यायसे ज्ञानका प्रसार होता है और इन्द्रियोंका समुदाय (विषयोंमें जानेसे) रोका जाता है । प्रत्यूषकालमें सूर्यके उदय होनेपर घूकोंका समुदाय निस्तेज हो जाता है ॥१४०॥ गुणवन्तोंके साथ संगति कर, जिससे कि भलाई पावे । सुमनों और सुपत्रोंसे रहित वृक्ष श्रेष्ठ कैसे कहा जा सकता है ॥१४१॥ मधुर वचन बोलनेसे शत्रु भी शान्त हो जाता है और सभी जीव वशमें हो जाते हैं । कर्कश वचनोंके बोलनेपर पुरुषकी कीर्ति नहीं होती है ॥१४२॥ जो पुरुष मौनसे भोजन करता है, उसे सरस्वती सिद्ध होती है । अथवा समुद्रमें लक्ष्मी भी निवास

---

१ म विंदुइं । २ ब पिक्खि । ३ झ म णु । ४ म छिज्जउ । झ छिज्जइ । ५ ब टि० इतरद् राग-द्वेषादिकम् । ६ म इच्छहि । ब टि० यदि तिष्ठति सन्तोषं कृत्वा । ७ ब टि० विपुलानि विस्तीर्णानि सौख्यानि भवन्ति । ८ ब विज्जाविच्चें । ९ ब इन्द्रियग्रामो निरुध्यते । १० निस्तेजो भवति । ११ ब सत्तु वि महुरइं जंपियइ । १२ म झ चाइ कवित्तें पोरिसइं । १३ ब मोणि । १४ ब अह ववसाइ समुद्दि । टि० समुद्र-व्यवसायेन । झ साय । १५ ब करउ ।

जइ जिय सुक्खइं[1] अहिलसइ छंडहि विसय कसाय ।
अह विग्घइं अणिवारियइं फलहि कि अज्झवसाय ॥१२२

फरसिंदिउ मा लालि जिय लालिउ एहु जि सत्तु । करिणिहिं लग्गउ हत्थियउ णियलंकुसदुहु पत्तु

जिब्भिदिउ जिय संवरहि सरस ण भल्ला भक्ख ।
[2]गालइं मच्छ चडप्फडिवि मुइवि[3]सहिवि थलदुक्ख ॥१२४

घाणिंदिय वढ[4] वसि करहि रक्खहु विसयकसाय[5] ।
गंधहं लंपड सिलिमुहुवि हुउ कंजइ विच्छाय ॥१२५

रूवहिं उप्परि रइ म करि णयण णियारहि जंत । रूवासत्त पयंगडा पेक्खहि दीवि पडंत ॥१२६
मण गच्छहो मणमोहणहं जिय गेयहं अहिलासु । गेयरसें हियकण्णडा पत्ता हरिण विणासु ॥१२७
[6]एक्कु वि इंदिउ मोक्कलउ पावइ दुक्खसयाइं । जसु पुणु पंचवि मोक्कला सु पुच्छिज्जइ काइं ॥१२८
ढिल्लउ होहि म इंदियहं पंचहं विण्णि णिवारि । इक्क णिवारहि जीहडिय[7] अवर[8] पराइय णारि ॥
[9]खंचहि गुरुवयणंकुसहिं मिल्लि[10] म ढिल्लउ तेम । जह मोडइ मणहत्थियउ संजमभरतरु जेम ॥१३०
परिहरि कोहु खमाइ करि मुच्चहि कोहमलेण । ण्हाणें सुज्झइ भंति कउ छित्तउ चंडालेण ॥१३१
मउयत्तणु जिय मणि धरहि माणु पणासइ जेण । अहवा तिमिरु ण ठाहरइ सूरहु गयणि ठिएण १३

व्रत भी करो, अपनी शक्तिको मत छिपाओ। इस बलते (जलते) हुए शरीररूपी घरमेंसे जो काढ़ लोगे, वही बचेगा, इसमें भ्रान्ति नहीं है ॥१२१॥ हे जीव, यदि तू सुख चाहता है, तो विषय और कषाय छोड़ दे। विघ्नोंके निवारण किए विना क्या अध्यवसाय फलीभूत हो सकता है ॥१२२॥ हे जीव, स्पर्शन-इन्द्रियका लालन मत कर, लालन करनेसे यह शत्रु बन जाती है। देखो—करिणी (हथिनी) में आसक्त हुआ हाथी सांकल और अंकुशके दुःखको पाता है ॥१२३॥ हे जीव, जिह्वा-इन्द्रियका संवरण कर, सरस भक्षण भला नहीं होता है। देखो—लोहेकी कीली (वंसी) से विंधी हुई मछली तड़फड़ाकर और जमीनके दुःख सहकर मरती है ॥१२४॥ हे मूढ, घ्राण-इन्द्रियको वशमें कर और विषय-कषायसे अपनी रक्षा कर। देखो—सुगन्धका लम्पटी भौंरा कमलमें बन्द होकर मरणको प्राप्त होता है ॥१२५॥ रूपके ऊपर रति मत कर, रूपपर जाते हुए नयनोंको भी रोक। दीपकमें गिरते हुए रूपासक्त पतङ्गोंको देख ॥१२६॥ हे जीव, मन-मोहक गीतोंके सुननेकी अभिलाषाको मत प्राप्त हो। देखो—गीतरसके श्रवणमें आसक्त हरिण विनाशको प्राप्त होते हैं ॥१२७॥ (देखो—ये सब उपर्युक्त जीव) एक-एक इन्द्रियके वशंगत होकर सैकड़ों दुःखोंको पाते हैं। और जिसकी पाँचों ही इन्द्रियाँ स्वच्छन्द हैं, अर्थात् जो पाँचोंके ही विषयोंमें आसक्त हैं, उसके दुःखोंका तो पूछना ही क्या है ॥१२८॥ पाँचों ही इन्द्रियोंके विषयोंमें ढीला मत हो। उनमें भी मुख्यरूपसे दो इन्द्रियोंका तो निवारण कर ही। एक तो जिह्वा इन्द्रियका निवारण कर और दूसरी परायी स्त्रीका निवारण कर स्पर्शन-इन्द्रियको वशमें कर ॥१२९॥ गुरुके वचनरूपी अंकुशसे मनरूपी गजका निवारण कर, उसे ढीला मत छोड़, जिससे कि संयमभार वाला यह वृक्ष सुरक्षित रह सके ॥१३०॥ क्षमाके द्वारा क्रोधका परिहार कर क्रोधरूपी मैलसे मुक्त हो। चाण्डालसे छुआ हुआ मनुष्य स्नानसे शुद्ध होता है, इसमें क्या भ्रान्ति है ॥१३१॥ हे जीव, मृदुताको मनमें धारण

---

१ म सुक्खहं। २ लोहकण्टकेन। ३ म मुउ विसहइ। ४ म वढ। ब टि० मूढ। ५ घ पमाय। ६ [illegible]। ७ म जीहडी। ८ म अण्ण। ९ ब मनो निवारय। १० म मेल्लि।

माया मिल्लहि थोडिय वि दूसइ चरिउ विसुद्धु । कंजियबिंदुवि[1] वित्तुडइ सुद्धुवि गुलियउ दुद्धु ॥
लोहु मिल्लि चउगइसलिलु हलुवउ जायइ जेम । लोह-मुक्कु सायरु तरइ पेक्खि[2] परोहण तेम १३४
मोहु जि[3]छिज्जें[4] दुब्बलउ होइ इयरु[5] परिवारु । हलुवउ उग्घाडंतयहं अहव णिरग्गलु बारु ॥१३५
मिच्छत्तें णरु मोहियउ पाउ वि धम्मु मुणेइ । भंति कवणु धत्तूरियउ डलु वि सुवण्णु भणेइ ॥१३६

जइ अच्छहि[6] संतोसु करि जिय सोक्खहं विउलाहं[7] ।
अहवा णंदु वि को करइ रवि मिल्लिवि कमलाहं ॥१३७
मणुयहं विणयविवज्जियहं गुण सयलवि णासंति ।
अह सरवरि विणु पाणियइं कमलइं केम रहंति ॥१३८

विज्जावच्चें[8] विरहियउ वय-णियरो वि ण ठाइ । सुक्कसरहु किं हंसउलु जंतउ धरणहं जाइ ॥१३९
सज्झाएं णाणहं पसरु रुज्झइ इंदियगाउ[9] । पच्चूसें सूरुग्गमणि घूयडकुलु णिच्छाउ[10] ॥१४०
गुणवंतहं सह संगु करि भल्लिम पावहि जेम । सुवणसुपत्त विवज्जियउ वरतरु वुच्चइ केम ॥१४१
[11]सत्तु वि महुरइं उवसमइ सयलवि जियवसि हुंति । [12]वयणइं कक्कस पोसियइं पुरिसहु होइ ण कित्ति

भोयणु [13]मउणें जो करइ सरसइ सिज्झइ तासु ।
अहवा [14]वसइ समुद्दि जिय लच्छि म करहु[15] णिवासु ॥१४३

कर, जिससे कि मानका विनाश हो । अथवा सूर्यके गगनमें स्थित रहनेपर अन्धकार नहीं ठहर सकता है ॥१३२॥ मायाको छोड़, जो थोड़ी भी विशुद्ध चारित्रको दूषित कर देती है । कांजीके एक विन्दु भी गुड़युक्त शुद्ध दूधको भी फाड़ देती है ॥१३३॥ लोभको छोड़, जिससे चतुर्गतिरूपी जल (पार करनेके लिए तू) हलका हो जाय । देख, लोह-मुक्त (काठ की) नाव जैसे सागरको तर जाती है ॥१३४॥ मोहके क्षय होनेपर राग-द्वेषादिरूप अन्य परिवार स्वयं ही दुर्बल हो जाता है । अथवा अर्गला (सांकल) रहित द्वार उघाड़नेमें हलका होता ही है ॥१३५॥ मिथ्यात्वसे मोहित मनुष्य पापको भी धर्म मानता है । यदि धत्तूरेसे उन्मत्त पुरुष डले (पत्थरके टुकड़े)को भी सोना कहे तो इसमें क्या भ्रान्ति है ॥१३६॥ हे जीव, यदि विपुल सुखकी इच्छा है, तो तू सन्तोषको धारण कर । अथवा सूर्यको छोड़कर कमलोंको आनन्द और कौन कर सकता है ॥१३७॥ विनयसे रहित मनुष्यके समस्त गुण नष्ट हो जाते हैं । अथवा सरोवरमें पानीके विना कमल कैसे रह सकते हैं ॥१३८॥ वैयावृत्यसे रहित व्रतोंका समूह भी नहीं ठहरता है । सूखे सरोवरसे जाता हुआ हंसोंका समुदाय क्या रोका जा सकता है ॥१३९॥ स्वाध्यायसे ज्ञानका प्रसार होता है और इन्द्रियोंका समुदाय (विषयोंमें जानेसे) रोका जाता है । प्रत्यूषकालमें सूर्यके उदय होनेपर घूकोंका समुदाय निस्तेज हो जाता है ॥१४०॥ गुणवन्तोंके साथ संगति कर, जिससे कि भलाई पावे । सुमनों और सुपत्रोंसे रहित वृक्ष श्रेष्ठ कैसे कहा जा सकता है ॥१४१॥ मधुर वचन बोलनेसे शत्रु भी शान्त हो जाता है और सभी जीव वशमें हो जाते हैं । कर्कश वचनोंके बोलनेपर पुरुषकी कीर्ति नहीं होती है ॥१४२॥ जो पुरुष मौनसे भोजन करता है, उसे सरस्वती सिद्ध होती है । अथवा समुद्रमें लक्ष्मी भी निवास

---

१ म विंदुइं । २ ब पिक्खि । ३ झ म णु । ४ म छिज्जउ । झ छिज्जइ । ५ ब टि० इतरद् राग-द्वेषादिकम् । ६ म इच्छहि । ब टि० यदि तिष्ठति सन्तोषं कृत्वा । ७ ब टि० विपुलानि विस्तीर्णानि सौख्यानि भवन्ति । ब विज्जाविच्चें । ९ ब इन्द्रियग्रामो निरुध्यते । १० निस्तेजो भवति । ११ ब सत्तु वि महुरइं जंपियइ । १२ म झ चाइ कवित्तें पोरिसइं । १३ ब मोणि । १४ ब अह ववसाइ समुद्दि । टि० समुद्र-व्यवसायेन । झ साय । १५ ब करउ ।

विसय-कसाय-वसण-णिवहु अण्णु वि मिच्छाभाउ ।
पिसुणत्तणु कक्कसवयणु मिल्लहि सयलु अणाउ ॥१४४
अण्णाएं आवंति जिय आवइ[1] धरण ण[2] जाइ । उम्मग्गें चल्लंतयहं कंटउ भज्जइ पाइ ॥१४५
परिहरि पुत्तु वि अप्पणउ जसु अण्णायपवित्ति । अप्पणियइं लालइं मरइ कुसियारउ ण उ भंति ॥
अण्णाएं वलियहं वि खउ किं दुव्वलहं ण जाइ । जहिं वाएं वच्चंति गय तहिं किं पूणी[3] ठाइ ॥१४७
अण्णाएं दालिद्दियहं रे जिय दुहु आवग्गु । लक्कडियहं विणु खोडयहं मग्गु सचिक्खलु दुग्गु ॥१४८
अण्णाएं दालिद्दियहं ओहट्टइ णिव्वाहु । लुंगउ[4] पायपसारणइं फिट्टइ[5] को संदेहु ॥१४९
ता अच्छउ जिय पिसुणमइ संगु जि ताह विरुद्धु । सप्पह संगें कट्टियउ चंदणु पिक्खु सुयंधु ॥१५०
विहडावइ ण हु संघडइ पिसुणु परायउ णेहु । टालइ रय[6] ण उल्लिडउ उंदरु को संदेहु ॥१५१
धम्में विणु जे सुक्खडा तुट्टा गया वियार । जे तरुवर खंडिवि खुडिय ते फल एक्कु जि वार ॥१५२
सुहियउ हुवउ ण कोवि इह रे जिय णरु पावेण । कद्दमि ताडिउ उट्ठियउ गिंदुउ दिट्ठउ केण ॥१५३
[7]रे जिय पुव्वि[8]ण धम्मु किउ एवहिं करि संताव ।
भंति कवण विणु णावियइं खडहडि[9] णिवडइ णाव ॥१५४

करती है, सो हे जीव, वह भी मौनरूप स्वमुद्रावाले तुझमें निवास करे । भावार्थ—प्राकृत 'समुद्दि' पदका संस्कृतरूप 'समुद्रे' और 'स्वमुद्रे' दोनों होते हैं । यतः लक्ष्मी समुद्रमें निवास करती है, यह प्रसिद्धि है, अतः वह समुद्रावाले मौनभोजी पुरुषमें भी रहे, ऐसा अभिप्राय ग्रन्थकारने आशीर्वाद-रूपसे प्रकट किया है ॥१४३॥ विषय, कषाय, व्यसन-समूह, पिशुनता, कर्कश वचन, सकल अन्याय और अन्य सर्व मिथ्याभाव इनको भी छोड़ देना चाहिए ॥१४४॥ हे जीव, अन्यायसे आपत्तियाँ आती हैं, फिर उन्हें रोका नहीं जा सकता । उन्मार्गपर चलनेवालोंका पांव काँटेसे भग्न होता है ॥१४५॥ जिसकी अन्यायमें प्रवृत्ति हो, ऐसे अपने पुत्रका भी परिहार कर । देखो—कुशियारा क्रीड़ा अपनी ही लारसे मरता है, इसमें कोई भ्रान्ति नहीं है ॥१४६॥

अन्यायसे वलवानोंका भी क्षय हो जाता है, फिर क्या दुर्बलोंका क्षय नहीं होगा ? जिस वायुके वेगसे हाथी भी उड़ जाते हैं, वहां क्या रुईकी पोनी ठहर सकती है ॥१४७॥ रे जीव, अन्यायसे दरिद्रियोंका दुःख और वढ़ता है । लकड़ीके खोड़ों (ठूंठों) के विना वर्षा ऋतुमें मार्ग कीचड़मय और दुर्गम हो जाता है । (इसी प्रकार न्यायके खोड़े लगाये विना दरिद्री पुरुषोंकी दशा और भी दुःखमय हो जाती है ।) ॥१४८॥ अन्यायसे दरिद्री पुरुषोंका निर्वाह दूर हट जाता है । लुंगी पांवोंके पसारनेसे फटती ही है, इसमें क्या सन्देह है ॥१४९॥ इसलिए हे जीव, पिशुनमति (चुगलखोर) मनुष्यको दूर ही रहने दे, उसका संग भी बुरा होता है। देखो—सांपके संगसे सुगन्धी चन्दन वृक्ष भी काट दिया जाता है ॥१५०॥ पिशुन पुरुष पराये स्नेहको तोड़ता ही है, जोड़ता नहीं । देखो—उंदर (चूहा) विलमेंसे रज निकालता ही है, उसे भरता नहीं. इसमें क्या सन्देह है ॥१५१॥ धर्मके विना जो सुख भोग हैं, उन्हें टूटा गया विचार । जो वृक्षको काटकर फल तोड़े जाते हैं, वे एक ही वार प्राप्त होते हैं ॥१५२॥ रे जीव, यहाँ पापसे कोई मनुष्य सुखी नहीं हुआ । कीचड़में मारी गई गेंद उठती हुई किसीने देखी है ॥१५३॥ रे जीव, पूर्व भवमें धर्म नहीं

---

१ व टि० आपदः । २ ब निषेद्धुं न शक्यते । ३ म सूणी । ४ व लग्गउ । म लुग्गउ । ५ म फाटइ । झ फट्टइ । ६ म रयइ । ७ व अरि । ८ म पुव्व । ९ व खरहडि ।

जेण सुदेउ सुणरु हवसि सो पइं कियउ ण धम्मु ।
विण्णिवि छत्तें वारियहिं इकु पाणिउ अरु धम्मु ॥१५५

अभयदाणु भयभीरुयहं जीवहं दिण्णु ण आसि । वार वार मरणहिं डरसि केम चिराउसु होसि ॥
विज्जावच्चु ण पइं कियउ दिण्णु ण ओसहदाणु । एवहिं वाहिहिं पीडियउ कंदिम होहि अयाणु ॥
संघहं दिण्णु ण चउविहहं भत्तिए भोयणदाणु । रे जिय काइं चडप्फडहि दूरीकयणिव्वाणु ॥१५८

पोत्थय दिण्ण ण मुणिवरहं विहिय ण सत्थहं पुज्ज ।
मइ पंडियउ कइत्तु गुणु चाहहि केम णिलज्ज ॥१५९
पाउ करहि सुहु अहिलसहि परसिविणे वि ण होइ ।
माडिइं[1] णिवइं वाइयइ अंब किं चक्खइ कोइ ॥१६०

गुरुआरंभहिं णरयगइ तिव्वकसाय हवंति । इक छिद्दिय पाहणभरिय वुड्डइ णाव ण भंति ॥१६१
कूडतुलामाणाइयहिं हरि-करि-खर-विसभेसु । जो णच्चइ णडु पेक्खणउ सो गिण्हइ बहुवेसु ॥१६२
हलुवारंभहिं मणुयगइ मंदकसायहिं होइ । छुडु सावउ धणु वाहुडइ लाहउ पुणरवि होइ ॥१६३
सम्मत्तें सावयवयहिं उप्पज्जइ सुरराउ । जोग[2]वणिट्ठिउ छंटियइं सो वारइ वि ण जाउ ॥१६४

किया, ऐसा सन्ताप कर । यदि नाविकके विना नाव खड्ढेमें जा गिरे, तो इसमें कौन सी भ्रान्ति है ॥१५४॥ जिससे तू उत्तम देव और उत्तम मनुष्य होता, उस धर्मको तूने नहीं किया । देख—एक छत्रके धारण करनेसे एक पानी और दूसरा घाम ये दोनों ही निवारण किये जाते हैं ॥१५५॥ भय-भीत जीवोंको तूने कभी अभयदान नहीं दिया । अब वार-वार मरनेसे डरता है । चिरायुष्क कैसे हो सकता है ॥१५६॥ तूने पहिले कभी साधुजनोंकी वैयावृत्य भी नहीं की और औषधिदान भी नहीं दिया । अब इन व्याधियोंसे पीड़ित हो कर और अजान बनकर आक्रन्दन करते हो ॥१५७॥ चतुर्विध संघको तूने भक्तिसे भोजनदान नहीं दिया । अब रे जीव, निर्वाणको दूर करके क्यों तड़फड़ाता है ॥१५८॥ मुनिवरोंको न पुस्तकोंका दान दिया और न शास्त्रोंकी पूजा ही की । अब हे निर्लज्ज, बुद्धि, पांडित्य और कवित्व गुण किस प्रकार चाहता है ॥१५९॥ पाप करता है और सुख चाहता है, पर यह स्वप्नमें भी नहीं होगा । मांडी (घर) में नीम बोनेपर क्या कोई आम चख सकता है ॥१६०॥ भारी आरम्भ और तीव्र कषायसे नरक गति होती है । पाषाणोंसे भरी नाव एक ही छेदसे डूब जाती है, इसमें भ्रान्ति नहीं ॥१६१॥ कूट-तुला, कूट मान आदिसे सिंह, हाथी, गधा, विषधारक प्राणी और मेंढा आदि पशुओंमें उत्पन्न होता है । जो नट नाटकमें नाचता है, वह बहुत वेष धारण करता है ॥१६२॥ लघु आरम्भ और मन्दकषायसे मनुष्यगति प्राप्त होती है । व्यापारमें लगा श्रावकका धन शीघ्र वापिस लौटता है और फिर भी लाभ होता है ॥१६३॥ सम्यक्त्वसे और श्रावकके व्रतोंसे मनुष्य देवगतिमें देवराज उत्पन्न होता है । जो बीज योग्य अवनीमें बोया गया और समय पर सींचा गया, यह उत्पन्न होनेसे रोका नहीं जा सकता है ॥१६४॥

---

१ झ मायइ । म माइण्णिवें । ब टि० वाटिकायाम् । २ झ गवणिट्ठिउ । म गविणिट्ठिउ । ब० टि० गगने सहस्थितः पुरुषः पश्चात्यक्तः स द्वारे वि म जाउ मा गच्छतु । अपि तु यात्येव त्यक्तः । परं उद्धार-पर्यन्तं याति । यथा गुरुश्रावकयोर्मध्ये मुनिर्मोक्षं गतस्तर्हि श्रावकः स्वर्गं किं न याति, अपि तु यात्येव इति इति भावः (?) परन्तु यह अर्थ मूल दोहेके उत्तरार्धसे नहीं निकलता है । जो अर्थ ऊपर किया गया है, वह 'झ' प्रतिके टव्वेके आधारसे किया है ।—सम्पादक

धम्में जं जं अहिलसइ तं तं लहइ असेसु । पावें पावइ पावियउ दालिद्दु वि सकिलेसु ॥१६५
धम्में हरि हल चक्कवइ कुलयरु जायइ कोइ । भुवणत्तयवंदियचलणु कुवि तित्थंकरु होइ ॥१६६
जासु जणणि सग्गागमणि पिच्छइ सिविणय-पंति । पहु तेएं संभावियइ सूरुग्गमणु णं भंत्ति ॥१६७

जो जम्मुच्छवि ण्हावियउ अमियघडहिं सक्केण ।
किम ण्हाविज्जइ अतुलबलु जिणु अहवाऽसक्केण ॥१६८

सुरसायरि जसु णिक्कमणि घल्लइ चिहुर सुरिंदु । अह उत्तमकज्जहं हवइ ठाउ जि खीरसमुद्दु ॥
णाणुग्गमि जसु समवसरणि पत्तामरसंघाउ । होइ कमलमउलियभसलु सूरुग्गमणि तलाउ ॥१७०
जसु पत्तुत्तमराइयउ विलुलंतो वि असोउ । [1]अइदूरुज्झियपरियणहं किम उप्पज्जइ सोउ ॥१७१
वारिउ तिमिरु जिणेसरहं भामंडलु अइदित्तु । ह्यतमु होइ सुहावणउ इत्थु ण काइं विचित्तु ॥१७२

माहउ[2]सरणु सिलीमुहउ कुसुमासणि[3]थिप्पंति ।
सुमणस अलियविवज्जिया जिणचलणहं णिवडंति ॥१७३

धवलु वि सुरमउडंकियउ सिंहासणु बहु रेइ । अह वा सुरमणिमंडियउ जिणवर आसणु होइ ॥१७४
सद्दमिसिण दुंदुहि रडइ छंडहु जीवहं वेरि[३] । हक्कारइ णर तिरिय सुर एरिस होइ स भेरि ॥१७५

जीव धर्मसे जो जो अभिलाषा करता है, वह सबको पाता है। पापी जीव पापसे दरिद्रता भी पाता है और क्लेश युक्त भी रहता है ॥१६५॥ धर्मसे कोई हरि, हलधर, चक्रवर्ती और कुलकर होता है और कोई भुवनत्रयसे वन्दित चरणवाला तीर्थंकर भी होता है ॥१६६॥ जिसकी माता स्वर्गसे आगमनके समय स्वप्नोंकी पंक्ति देखती है। सूर्योदयकी संभावना होनेपर पथ (मार्ग) उसके तेजसे प्रकाशित हो जाता है, इसमें भ्रान्ति नहीं है ॥१६७॥ जो तीर्थंकर जन्मोत्सवके समय शक्रके द्वारा अमृत घटोंसे नहलाये जाते हैं। अथवा अतुलबली जिनदेव क्या अशक्त पुरुषके द्वारा नहलाये जा सकते हैं ॥१६८॥ निष्क्रमण कल्याणकके समय जिनके केशोंको सुरेन्द्र क्षीर सागरमें डालते हैं। अथवा उत्तम कार्योंका स्थान भी क्षीर सागर ही है ॥१६९॥ केवलज्ञानके उदय होनेपर जिसके समवशरणमें देवोंका समुदाय प्राप्त होता है। जैसे सूर्यके उदय होनेपर तालाब भ्रमर-संवेष्टित विकसित कमलवाला हो जाता है ॥१७०॥

उन तीर्थंकरके ऊपर उत्तम पत्रोंसे विराजित अशोक वृक्ष लहलहाता है। (वह अशोक यह सूचित करता है कि) जिन्होंने परिजनोंको बहुत दूरसे परित्याग कर दिया, उन्हें शोक कैसे उत्पन्न हो सकता है ॥१७१॥ जिस जिनेश्वरका अज्ञान-अन्धकार दूर हो गया, उनका भामण्डल अतिदीप्त, अन्धकार-नाशक और सुहावना होता है, तो इसमें कोई विचित्र बात नहीं है ॥१७२॥ माधव अर्थात् वसन्त ऋतु है शरण जिनके ऐसे भौंरे तो कुसुमोंके आसन पर बैठ कर तृप्त होते हैं। किन्तु अलि (भौंरोंसे) विवर्जित सुमनस (पुष्प) एवं अलीक (असत्य) रहित सुमनस (देव) जिनदेवके चरणों पर पड़ते हैं। समवशरणमें होनेवाली पुष्पवृष्टिको लक्ष्यमें रखकर ग्रन्थकारने उक्त श्लेष-वाक्य लिखा है ॥१७३॥ धवल और देवोंके मुकुटोंसे अंकित जिनदेवका सिंहासन बहुत शोभायुक्त होता है। अथवा जिनवरका आसन देव-मणियोंसे मंडित होता ही है ॥१७४॥ शब्दके मिपसे दुंदुभि यह शब्द करती है कि जीवोंके प्रति वैरभाव छोड़ो। वह भेरी इस प्रकार मनुष्य, तिर्यंच और

---

१ ब टि० अति दूरे त्यक्तपरिजनस्य शोकः कथमुत्पद्यते। २ ब टि० माधवो वसन्तः शरणं स्यात्।
३ वैरम्।

चामर ससहरकरधवल जसु चउसट्ठि पडंति। हरिसिय जिणपासट्ठिया अह सच्चामर हुंति ॥१७६

छत्तइं छण[1]ससिपंडुरइं सुरणर णाय धरंति। विसहर सुरचक्किहिं महिय जिणपुंडरियं[2] हवंति ॥

झुणि अक्खियसंपुण्णहल जीवासासणि[3] जासु।
अमियसरिस हियमहुर गिर अह व ण वल्लह कासु ॥१७८

एह विहूइ जिणेसरहं हुव धम्में एवड्डु। वणसइ णयणाणंदयरि होइ वसन्तें मंड ॥१७९

एवंविहु जो जिणु महइ वंछिउ सिज्झइ तासु। वीजें अहवा सिंचियइं खेत्तिय होइ ण कासु ॥१८०

जो जिणु ण्हावइ घय-पयहिं सुरहिं ण्हाविज्जइ सोइ। सो पावइ जो जं करइ एहु पसिद्धउ लोइ ॥

गंधोएण जि जिणवरहं ण्हाविय पुण्णु वहुत्तु। तेलहं बिंदुवि विमलजलि को वारइ पसरंतु ॥१८२

जलधारा जिणपयगयउ रयहं पणासइ णामु। ससहरकिरणकरालियहं तिमिरहु कित्तिउ थामु ॥१८३

जो चच्चइ जिणु चंदणइं होइ सुरहि तसु देहु। तिल्लें जह दीवहं गयइं उज्जोइज्जइ गेहु ॥१८४

जिणु अच्चइ जो अक्खयहिं तसु वरवंसपसूइ। अह विहियइं सुयपंचमिहिं होइ वि चक्किविहूइ ॥

खुट्टइ भोउ ण तसु महइ जो कुसुमहिं जिणणाहु। अह सरवरि णइसारिणए पाणिउ होइ अगाहु ॥

देवोंको हक्कारती है ॥१७५॥ उन तीर्थंकर देवके ऊपर चन्द्रकिरणोंके समान धवल चौंसठ चमर ढुलते हैं। (वे मानों यह कह रहे हैं कि) जो हर्षित होकर जिनदेवके पास स्थित होते हैं, वे सच्चामर अर्थात् सच्चे देव हो जाते हैं ॥१७६॥ पूर्णमासीके चन्द्र तुल्य तीन श्वेत छत्रोंको जिन भगवान्‌के ऊपर देव, मनुष्य और नाग धारण करते हैं। (वे मानों यह प्रकट करते हैं कि भगवान्‌के ऊपर छत्र ताननेवाले पुरुष) धरणेन्द्र, इन्द्र और चक्रवर्तीसे पूजित जिन पुण्डरीक तीर्थंकर परमदेव होते हैं ॥१७७॥ जिनकी दिव्यध्वनि (पुण्य-पापके) सम्पूर्ण फलोंको कहनेवाली और जीवोंको आश्वासन देनेवाली होती है। अथवा अमृतके सदृश और हृदयको मधुर लगनेवाली वाणी किसे प्यारी नहीं लगती है ॥१७८॥ जिनेश्वरदेवकी इस प्रकारकी विभूति धर्मसे ही होती है। नयनोंको आनन्द करनेवाली वनश्री वसन्तसे ही मण्डित होती है ॥१७९॥ इस प्रकारके जिनदेवकी जो पूजा करता है, उसका वांछित अर्थ सिद्ध होता है। अथवा बीजके सींचने पर किसकी खेती अच्छी नहीं होती है ॥१८०॥ जो जिनदेवको घी और दूधसे नहलाता है, वह देवोंके द्वारा नहलाया जाता है। 'जो जैसा करता है, वह वैसा पाता है' यह उक्ति लोकमें प्रसिद्ध ही है ॥१८१॥ सुगन्धित जलके द्वारा जिनवरको नहलानेसे बहुत पुण्य होता है। तेलकी एक बिन्दुको भी निर्मल जलमें फैलनेसे कौन रोक सकता है ॥१८२॥

जिनदेवके चरणों पर छोड़ी गई जलधारा पाप-रजका नाम तक नष्ट कर देती है। चन्द्र-किरणोंसे करालित (विनष्ट) तिमिरका कितना सामर्थ्य है ॥१८३॥ जो जिनदेवकी चन्दनसे पूजा करता है, उसका शरीर सुगन्धित होता है। जैसे कि दीपकमें डाले गये तेलसे घर प्रकाशित होता है ॥१८४॥ जो अक्षतोंसे जिनदेवको पूजता है, उसका उत्तम वंशमें जन्म होता है और श्रुत-पंचमीके पूजा-विधानसे चक्रवर्तीकी विभूति प्राप्त होती है ॥१८५॥ जो पुष्पोंसे जिननाथकी पूजा करता है, उसके भोग कभी कम नहीं पड़ते। जैसे सरोवरमें नदीकी सारिणी (नहर) के द्वारा

---

१ पूर्णिमाचन्द्रवत्। २ ब टि० धरणेन्द्र-इन्द्र-चक्रिमहिता जिनपुण्डरीकास्तीर्थंकरपरमदेवा भवन्ति।
३ ब कथितसम्पूर्णफला जीवानामाश्वासिनी स्यात्।

धम्में जं जं अहिलसइ तं तं लहइ असेसु । पावें पावइ पावियउ दालिद्दु वि सकिलेसु ॥१६५
धम्में हरि हल चक्कवइ कुलयरु जायइ कोइ । भुवणत्तयवंदियचलणु कुवि तित्थंकरु होइ ॥१६६
जासु जणणि सग्गागमणि पिच्छइ सिविणय-पंति । पह तेएं संभावियइ सूरुग्गमणु णं भंत्ति ॥१६७

जो जम्मुच्छवि ण्हावियउ अमियघडहिं सक्केण ।
किम ण्हाविज्जइ अतुलबलु जिणु अहवाऽसक्केण ॥१६८

सुरसायरि जसु णिक्कमणि घल्लइ चिहुर सुरिंदु । अह उत्तमकज्जहं हवइ ठाउ जि खीरसमुद्दु ॥
णाणुग्गमि जसु समवसरणि पत्तामरसंघाउ । होइ कमलमउलियभसलु सूरुग्गमणि तलाउ ॥१७०
जसु पत्तुत्तमराइयउ विलुलंतो वि असोउ । [1]अइदूरुज्झियपरियणहं किम उप्पज्जइ सोउ ॥१७१
वारिउ तिमिरु जिणेसरहं भामंडलु अइदित्तु । हयतमु होइ सुहावणउ इत्थु ण काइं विचित्तु ॥१७२

माहउ[2]सरणु सिलीमुहउ कुसुमासणि[3]थिप्पंति ।
सुमणस अलियविवज्जिया जिणचलणहं णिवडंति ॥१७३

धवलु वि सुरमउडंकियउ सिंहासणु बहु रेइ । अह वा सुरमणिमंडियउ जिणवर आसणु होइ ॥१७४
सद्दमिसिण दुंदुहि रडइ छंडहु जीवहं खेरि[3] । हक्कारइ णर तिरिय सुर एरिस होइ स भेरि ॥१७५

जीव धर्मसे जो जो अभिलाषा करता है, वह सबको पाता है। पापी जीव पापसे दरिद्रता भी पाता है और क्लेश युक्त भी रहता है ॥१६५॥ धर्मसे कोई हरि, हलधर, चक्रवर्ती और कुलकर होता है और कोई भुवनत्रयसे वन्दित चरणवाला तीर्थंकर भी होता है ॥१६६॥ जिसकी माता स्वर्गसे आगमनके समय स्वप्नोंकी पंक्ति देखती है। सूर्योदयकी संभावना होनेपर पथ (मार्ग) उसके तेजसे प्रकाशित हो जाता है, इसमें भ्रान्ति नहीं है ॥१६७॥ जो तीर्थंकर जन्मोत्सवके समय शक्रके द्वारा अमृत घटोंसे नहलाये जाते हैं। अथवा अतुलबली जिनदेव क्या अशक्त पुरुषके द्वारा नहलाये जा सकते हैं ॥१६८॥ निष्क्रमण कल्याणकके समय जिनके केशोंको सुरेन्द्र क्षीर सागरमें डालते हैं। अथवा उत्तम कार्योंका स्थान भी क्षीर सागर ही है ॥१६९॥ केवलज्ञानके उदय होनेपर जिसके समवशरणमें देवोंका समुदाय प्राप्त होता है। जैसे सूर्यके उदय होनेपर तालाब भ्रमर-संवेष्टित विकसित कमलवाला हो जाता है ॥१७०॥

उन तीर्थंकरके ऊपर उत्तम पत्रोंसे विराजित अशोक वृक्ष लहलहाता है। (वह अशोक यह सूचित करता है कि) जिन्होंने परिजनोंको बहुत दूरसे परित्याग कर दिया, उन्हें शोक कैसे उत्पन्न हो सकता है ॥१७१॥ जिस जिनेश्वरका अज्ञान-अन्धकार दूर हो गया, उनका भामण्डल अतिदीप्त, अन्धकार-नाशक और सुहावना होता है, तो इसमें कोई विचित्र बात नहीं है ॥१७२॥ माधव अर्थात् वसन्त ऋतु है शरण जिनके ऐसे भौंरे तो कुसुमोंके आसन पर बैठ कर तृप्त होते हैं। किन्तु अलि (भौंरोंसे) विवर्जित सुमनस (पुष्प) एवं अलीक (असत्य) रहित सुमनस (देव) जिनदेवके चरणों पर पड़ते हैं। समवशरणमें होनेवाली पुष्पवृष्टिको लक्ष्यमें रखकर ग्रन्थकारने उक्त श्लेष-वाक्य लिखा है ॥१७३॥ धवल और देवोंके मुकुटोंसे अंकित जिनदेवका सिंहासन बहुत शोभायुक्त होता है। अथवा जिनवरका आसन देव-मणियोंसे मंडित होता ही है ॥१७४॥ शब्दके मिषसे दुंदुभि यह शब्द करती है कि जीवोंके प्रति वैरभाव छोड़ो। वह भेरी इस प्रकार मनुष्य, तिर्यंच और

---

१ ब टि० अति दूरे त्यक्तपरिजनस्य शोकः कथमुत्पद्यते। २ ब टि० माधवो वसन्तः शरणं स्यात्।
३ वैरम्।

चामर ससहरकरधवल जसु चउसट्ठि पडंति। हरिसिय जिणपासट्ठिया अह सच्चामर हुंति ॥१७६
छत्तइं छण[1]ससिपंडुरइं सुरणर णाय धरंति। विसहर सुरचक्किहिं महिय जिणपुंडरिय[2] हवंति ॥

झुणि अविखयसंपुण्णहल जीवासासणि[3] जासु।
अमियसरिस हियमहुर गिर अह व ण वल्लह कासु ॥१७८

एह विहूइ जिणेसरहं हुव धम्में एवड्डु। वणसइ णयणाणंदयरि होइ वसन्तें मंड ॥१७९
एवंविहु जो जिणु महइ वंछिउ सिज्झइ तासु। बीजें अहवा सिंचियइं खेत्तिय होइ ण कासु ॥१८०
जो जिणु ण्हावइ घय-पर्यहिं सुरहिं ण्हाविज्जइ सोइ। सो पावइ जो जं करइ एहु पसिद्धउ लोइ ॥
गंधोएण जि जिणवरहं ण्हाविय पुण्णु बहुत्तु। तेलहं बिंदुवि विमलजलि को वारइ पसरंतु ॥१८२
जलधारा जिणपयगयउ रयहं पणासइ णामु। ससहरकिरणकरालियहं तिमिरहु कित्तिउ थामु ॥१८३
जो चच्चइ जिणु चंदणइं होइ सुरहि तसु देहु। तिल्लें जह दीवहं गयइं उज्जोइज्जइ गेहु ॥१८४
जिणु अच्चइ जो अक्खयहिं तसु वरवंसपसूइ। अह विहियइं सुयपंचमिहिं होइ वि चक्किविहूइ ॥
खुट्टइ भोउ ण तसु महइ जो कुसुमहिं जिणणाहु। अह सरवरि णइसारिणए पाणिउ होइ अगाहु ॥

देवोंको हक्कारती है ॥१७५॥ उन तीर्थंकर देवके ऊपर चन्द्रकिरणोंके समान धवल चौंसठ चमर ढुलते हैं। (वे मानों यह कह रहे हैं कि) जो हर्षित होकर जिनदेवके पास स्थित होते हैं, वे सच्चामर अर्थात् सच्चे देव हो जाते हैं ॥१७६॥ पूर्णमासीके चन्द्र तुल्य तीन श्वेत छत्रोंको जिन भगवान्के ऊपर देव, मनुष्य और नाग धारण करते हैं। (वे मानों यह प्रकट करते हैं कि भगवान्के ऊपर छत्र ताननेवाले पुरुष) धरणेन्द्र, इन्द्र और चक्रवर्तीसे पूजित जिन पुण्डरीक तीर्थंकर परमदेव होते हैं ॥१७७॥ जिनकी दिव्यध्वनि (पुण्य-पापके) सम्पूर्ण फलोंको कहनेवाली और जीवोंको आश्वासन देनेवाली होती है। अथवा अमृतके सदृश और हृदयको मधुर लगनेवाली वाणी किसे प्यारी नहीं लगती है ॥१७८॥ जिनेश्वरदेवकी इस प्रकारकी विभूति धर्मसे ही होती है। नयनोंको आनन्द करनेवाली वनश्री वसन्तसे ही मण्डित होती है ॥१७९॥ इस प्रकारके जिनदेवकी जो पूजा करता है, उसका वांछित अर्थ सिद्ध होता है। अथवा बीजके सींचने पर किसकी खेती अच्छी नहीं होती है ॥१८०॥ जो जिनदेवको घी और दूधसे नहलाता है, वह देवोंके द्वारा नहलाया जाता है। 'जो जैसा करता है, वह वैसा पाता है' यह उक्ति लोकमें प्रसिद्ध ही है ॥१८१॥ सुगन्धित जलके द्वारा जिनवरको नहलानेसे बहुत पुण्य होता है। तेलकी एक बिन्दुको भी निर्मल जलमें फैलनेसे कौन रोक सकता है ॥१८२॥

जिनदेवके चरणों पर छोड़ी गई जलधारा पाप-रजका नाम तक नष्ट कर देती है। चन्द्र-किरणोंसे करालित (विनष्ट) तिमिरका कितना सामर्थ्य है ॥१८३॥ जो जिनदेवकी चन्दनसे पूजा करता है, उसका शरीर सुगन्धित होता है। जैसे कि दीपकमें डाले गये तेलसे घर प्रकाशित होता है ॥१८४॥ जो अक्षतोंसे जिनदेवको पूजता है, उसका उत्तम वंशमें जन्म होता है और श्रुत-पंचमीके पूजा-विधानसे चक्रवर्तीकी विभूति प्राप्त होती है ॥१८५॥ जो पुष्पोंसे जिननाथकी पूजा करता है, उसके भोग कभी कम नहीं पड़ते। जैसे सरोवरमें नदीकी सारिणी (नहर) के द्वारा

---

१ पूर्णिमाचन्द्रवत्। २ ब टि० धरणेन्द्र-इन्द्र-चक्रिमहिता जिनपुण्डरीकास्तीर्थंकरपरमदेवा भवन्ति।
३ ब कथितसम्पूर्णफला जीवानामाश्वासिनी स्यात्।

णेवज्जइं दिण्णइं जिणहु जिय दालिद्दहु णासु।
दुरिउ ण ढुक्कइ तहु णरहु लच्छिहु[1] होइ ण णासु ॥१८७

दीवइं दिण्णइं जिणवरहं मोहहु होइ ण ठाउ। अह उववासहिं रोहिणिहिं सोउ वि पलयहु जाउ॥
धूवउ खेवइं जिणवरहं तसु पसरइ सोहग्गु। इत्थु म कायउ भंति करि तें पडिबद्धउ सग्गु ॥१८९
देइ जिणिंदहं जो फलइं तसु इच्छियइं फलंति। भोयधरहं गय रुक्खडा सयल मणोरह दिंति १९०
जिणपयगयकुसुमंजलिहिं उत्तमसिय संजोउ। सरगयरविकिरणावलिए णलणिहिं लच्छिम होइ १९१
जिणपडिमइं कारावियइं संसारहं उत्तारु। गमणट्ठियहं तरंडउ वि अह व ण पावइ पारु ॥१९२
जिणभवणइं काराविय‌इं लब्भइ सग्गि विमाणु। अह टिक्कइं आराइणइं[2] होइ समीहिइं[3] ठाणु॥

जो धवलावइ जिणभवणु तसु जसु कहिंमि ण माइ।
ससिकरणियरु सरयमिलिउ जगु धवलणहं वसाइ ॥१९४

जो पइठावइ जिणवरहं तसु पसरइ जगि कित्ति। उवहिवेल छणससिगुणइं को वारइ पसरंति॥
आरत्तिउ दिण्णउ जिणहं उज्जोयइ सम्मत्तु। भुवणुब्भासइ सुरगिरिहिं सूरु पयाहिण[4] दिंतु ॥१९६

तिलयइं दिण्णइं जिणभवणि[5] जणि अणुराउ ण माइ।
चंदकंति चंदहं मिलिउ पाणिय दिण्ण ण ठाइ ॥१९७

चंदोवइं दिण्णइं जिणहं मणिमंडियइ विसाल। अह संबंधा[6] ससहरहं गहतारायणमाल ॥१९८

अगाध पानी हो जाता है ॥१८६॥ हे जीव, जिनदेवको नैवेद्य चढ़ानेसे दारिद्रयका नाश हो जाता है। उस मनुष्यके पास पाप नहीं ढूँकता और लक्ष्मीका भी नाश नहीं होता है ॥१८७॥ जिनवरको दीप चढ़ानेसे मोहको स्थान नहीं मिलता। तथा रोहिणीव्रतके उपवाससे शोक भी प्रलयको प्राप्त हो जाता है ॥१८८॥ जो जिनवरके आगे धूप खेता है, उसका सौभाग्य फैलता है और उसने स्वर्गको बाँध लिया, इसमें कुछ भी भ्रांति मत कर ॥१८९॥ जो जिनेन्द्रको फल चढ़ाता है, उसको यथेच्छ फल प्राप्त होते हैं। भोगभूमिके कल्पवृक्ष उसके सब मनोरथोंको पूरा करते हैं ॥१९०॥ जिनदेवके चरणोंपर चढ़ाई गई पुष्पांजलिसे उत्तम लक्ष्मीका संयोग होता है। देखो—सरोवरमें गई हुई सूर्यकी किरणावलीसे कमलिनियोंमें लक्ष्मी प्राप्त होती है ॥१९१॥ जिनप्रतिमा करानेसे जीव संसारके पार उतरता है। अथवा गमनके उद्यत पुरुषोंको जहाज क्या पार नहीं पहुँचाता है? पहुँचाता ही है ॥१९२॥ जिन-भवनको बनवानेसे मनुष्योंको स्वर्गमें विमान प्राप्त होता है। तथा जिनभवनकी टोक (छाप) ओर आरास (पलस्तर) करनेसे समीहित स्थानकी प्राप्ति होती है ॥१९३॥ जो जिन-भवनको सफेदी कराकर धवल करता है उसका यश कहीं भी नहीं समाता। शरद्-ऋतुसे मिली हुई किरणोंका समूह समस्त जगत्को धवलित कर देती है ॥१९४॥ जो मनुष्य जिनवरकी प्रतिष्ठा करता है, उसकी कीर्त्ति जगत्में फैलती है। पूर्णमासीके चन्द्रके गुणोंसे प्रसारको प्राप्त होती हुई समुद्रकी वेलाको कौन रोक सकता है ॥१९५॥ जो जिनदेवकी आरती करता है, उसके सम्यक्त्वका उद्योत होता है। सुरगिरि (सुमेरु) की प्रदक्षिणा देता हुआ सूर्य समस्त भुवनको प्रकाशित करता है ॥१९६॥ जिन भवनपर तिलक देनेसे अर्थात् शिखर पर कलशा चढ़ानेसे जगत्में उसका अनुराग नहीं समाता जैसे चन्द्रकान्तमणि चन्द्रमाकी किरणोंसे मिलकर पानी देनेसे नहीं रुकता है ॥१९७॥ जिन भगवान्‌को चढ़ाये हुए मणि-मंडित विशाल चन्दोवा (ऐसे प्रतीत होते

१ म लच्छिहि। २ म आराणहं। ३ म समाहिहि। ४ म पयाहि ण। ५ म जिणवरहं।
६ ब संबंधी।

भव्वुच्छाहणि पावहरि जिणहरि घंट रसंति। कुमुयाणंदणि तमहरणि छणजामिणि ण हु भंति १९९
चिंध[1]-चमर-छत्तइं जिणहं दिण्णइं लब्भइ रज्जु। अह पारोहहिं णिग्गयहिं वडु वित्थरइ ण चोज्जु॥
जिणहरि लिहियइं मंडियइं लच्छि समीहिय होइ।
पुण्णु महंतउ तासु फलु कहिवि कि[2] सक्कइ कोइ॥२०१
जंबूदीउ समोसरणु णंदीसर लोयाणि। जिणवरभवणि लिहावियइं सयलहं दुक्खहं हाणि॥२०२
दिण्णइं वत्थ सुअज्जियहं दिव्वंबर लब्भंति। पाणिउ पेसिउ पउमिणिहिं पउमइं देइ ण भंति॥
सारंभइं ण्हवणाइयहं जे सावज्ज भणंति। दंसणु तेहिं विणासियउ इत्थु ण कायउ भंति॥२०४
पुग्गलु जीवें सहु गणिय[3] जो इच्छइ धणचाउ। इणि[4] सम्मत्ते तसु तणइं किम सम्मत्तु वि जाउ॥
सम्मत्तें विणु वय वि गय वयहं गयहं गउ धम्मु। धम्में जंतें सुक्खु गउ तें विणु णिप्फलु जम्मु २०६
पुण्णरासि ण्हवणाइयइं पाउ लहुवि[5] किउ तेण। विसकणियइं वहु उवहिजल णउ दूसिज्जइ जेण॥
तें सम्मत्तु महारयणु हियमंचलि थिरु बंधि।
तें सहु जहिं जहिं जाहि जिय तहिं तहिं पावहि सिद्धि॥२०८
दाणच्चणविहि जो करइ इच्छिय भोयणिबंधु। विक्कइ सुमणि वराडियइं सो जाणहु जाच्चंधु॥

हैं) जैसे ग्रह और तारागणकी माला चन्द्रमासे सम्बद्ध हुई हो ॥१९८॥ जिनमन्दिरमें बजता हुआ घंटा भव्यजनोंका उत्साह-वर्धक एवं पाप-हारक होता है। पूर्णचन्द्रवाली रात्रि कुमुदोंको आनन्द देनेवाली और अन्धकारको हरनेवाली होती है ॥१९९॥ जिनभगवान्‌को ध्वजा, चमर और छत्र चढ़ानेसे राज्य प्राप्त होता है। यदि प्रारोहों (जटाओं) के निकलनेसे वटवृक्ष विस्तृत हो तो कोई आश्चर्य नहीं है ॥२००॥

जिनमन्दिरमें मांडने लिखनेसे मनोवांछित लक्ष्मी प्राप्त होती है, और महापुण्य होता है। उसके फलको कहनेके लिए कोई भी समर्थ नहीं है ॥२०१॥ जम्बूद्वीप, समवशरण, नन्दीश्वरद्वीप और तीन लोकोंकी रचनाको जिनेन्द्रभवनमें लिखवानेसे सकल दुखोंकी हानि होती है ॥२०२॥ सुआर्यिकाओं-को वस्त्र देनेसे दिव्य वस्त्र प्राप्त होते हैं। कमलिनियोंको पानी देनेपर वे कमलोंको देती हैं, इसमें भ्रान्ति नहीं है ॥२०३॥ जो अभिषेकादिके समारम्भको सावद्य (पापयुक्त) कहते हैं, उन्होंने सम्यग्-दर्शनका विनाश कर दिया, इसमें कोई भ्रान्ति नहीं है ॥२०४॥ जो पुद्गलको जीवके साथ गिनकर (मानकर) धनके त्यागकी इच्छा करता है, उसके इस प्रकारसे सम्यक्त्व माननेपर क्या उसके सम्यक्त्व उत्पन्न हो गया? भावार्थ—जो जीव और पुद्गलकी एकता मानकर धनत्यागकी इच्छा करता है, वह मिथ्यादृष्टि ही है, उसके धनत्यागसे कोई भी लाभ नहीं है ॥२०५॥ सम्यक्त्वके विना व्रत भी गये। व्रतोंके जानेसे धर्म गया और धर्मके जानेसे सुख भी गया। फिर उसके विना मनुष्यजन्म निष्फल है ॥२०६॥ पुण्यकी राशिवाले अभिषेकादि कार्यमें अभिषेक करनेवालेके द्वारा यदि अल्प पाप भी किया गया, तो विषकी एक कणिकासे समुद्रका सर्व जल दूषित नहीं हो सकता ॥२०७॥ अतएव सम्यक्त्वरूपी महारत्नको हृदयरूप अंचलमें स्थिर बाँध। उसके साथ हे जीव, तू जहाँ-जहाँ जायगा, तहाँ-तहाँ सिद्धि पायगा ॥२०८॥ जो मनुष्य भोग-प्राप्तिकी इच्छासे ज्ञान और पूजन-विधान करता है, वह उत्तममणिको कौड़ियोंमें बेचता है, उसे जन्मान्ध जानो ॥२०९॥

---

१ ब चिंधइं चमरइं छत्तइं वि। २ म ण। ३ ब टि० यः पुमान् पुद्गलः (स्य) जीवेन सह ऐक्यं मन्यते स बहिरात्मा मिथ्यादृष्टिरेव। तस्य धनत्यागेन न किमपि। ४ ब ईदृशेन सम्यक्त्वेन। ५ ब लहुक्किउ।

तें कम्मक्खउ मग्गि जिय णिम्मल बोहिसमाहि । ण्हवणदाणपूजाइयइं जें सासयपइ जाहि ॥२१०

पुण्णु पाउ जसु मणि ण समु तसु दुत्तरु भवसिंधु ।
कणय-लोहणियलइं जियहु किं ण कुणहिं पय बंधु ॥२११

ण हु विग्गासिय कमलदलु ससरु स बिंदु सरेहु । वंछिज्जइ इय कप्पयरु कामिउ को संदेहु ॥२१२

हियकमलिणि ससहरधवल सुद्धफलिहसंकास । भवियां[1] पडिम जिणेसरहं तोडइ चउगइपास ॥२१३

जासु हियइ अ सि आ उ सा पाउ ण ढुक्कइ ताहं । अह दावाणलु किं करइ पाणियगहिरठियाहं ॥

जिय मंतइं सत्तक्खरइं[2] दुरियइं दूर हु जंति । अह सीहहं गुंजारियइं हरिणउलइं कहिं ठंति २१५

विण्णिसयइं अ सि आ उ सा जे वासरि फलु दिंति ।
इक्कसएण वि तं जि फलु सत्तक्खरइं ण भंति ॥२१६

गरुड[3]सहावइं परिणवइ रे जिय जाव हि मंति । ताव हि णरु विसघेरियउ[4] उट्ठावइ ण हु भंति ॥

जिणु गुण देइ अचेयणु वि वंदिउ णिंदिउ दोसु ।
इउ णियभावहं तणउ फलु जिणह ण रोसु ण तोसु ॥२१८

मणुयत्तणु दुल्लहु लहिवि भोयहं पेरिउ जेण । इंधणकज्जें कप्पयरु मूलहो खंडिउ तेण ॥२१९

दुल्लहु लहिवि णरत्तयणु विसयहं तोसिउ जेण । पट्टोल्लइं[5] तागय थियहं सुरयणु फोडिउ[6] तेण २२०

इसलिए हे जीव, अभिषेक, दान, पूजादिसे कर्मोंका क्षय, निर्मल बोधि और समाधि की माँग कर, जिससे शाश्वत पदपर जा सको ॥२१०॥ जिसके मनमें पुण्य और पाप समान नहीं है, उसे भवसिंधु पार करना कठिन है । सोने और लोहे की बेड़ी क्या जीवके पाद-बन्धनको नहीं करती हैं ॥२११॥ कमलकी कर्णिकाकी परिधिमें अकारादि सोलह स्वरोंका, कर्णिकाके मध्यमें रेफ और बिन्दुसहित हकारका, अर्थात् 'र्हं' पदका और कमलके आठों पत्रोंपर कवर्गादि आठ वर्गोके अक्षरोंका विकास न करके, अर्थात् ध्यान न करके जो इस लोकके मनोरथ पूर्ण करनेवाले कल्पवृक्षकी इच्छा करता है, वह कामी है, इसमें क्या सन्देह है ॥२१२॥ हृदयकमलमें ध्यान की गई चन्द्रके समान धवल और स्फटिकके समान शुद्ध जिनेश्वरकी प्रतिमा चतुर्गतिके पाशको तोड़ती है ॥२१३॥ जिसके हृदयमें 'अ सि आ उ सा' विद्यमान हैं, अर्थात् जो निरन्तर इस पंचाक्षरी मन्त्रका जप करता है, उसके पास पाप नहीं ढूँकते हैं । जैसे गहरे पानीमें बैठे हुए जीवोंका दावानल क्या कर सकता है ॥२१४॥ हे जीव, 'णमो अरहंताणं' इस सात अक्षरोंके मन्त्रसे सर्व पाप दूर भागते हैं । अथवा सिंहकी गुञ्जारमें हरिण-कुल कहीं ठहर सकता है ॥२१५॥ 'अ सि आ उ सा' इस पंचाक्षरी मंत्रका प्रतिदिन दो सौ जप जो फल देता है, वही फल 'णमो अरहंताणं' इस सप्ताक्षरी मन्त्रका एक सौ जप देता है, इसमें भ्रान्ति नहीं है ॥२१६॥ हे जीव, जब मन्त्र-वेत्ता गरुडस्वभावसे परिणत होता है, तब वह उसीसमय विषसे मूर्च्छित मनुष्यको उठा देता है, इसमें भ्रान्ति नहीं है ॥२१७॥ वंदना की गई अचेतन भी जिन-प्रतिमा गुणको और निन्दा की गई दोषको देती है, यह अपने भावोंका ही फल है । जिनभगवान्के तो न रोष है और न तोष ॥२१८॥ दुर्लभ मनुष्यपना पाकर जिसने उसे भोगोंमें लगाया, उसने ईंधनके लिए कल्पवृक्षको जड़-मूलसे काट डाला ॥२१९॥ दुर्लभ नर-जन्म पाकर जिसने विषयोंमें सन्तोष माना, उसने तागा (धागा) के लिए पट (वस्त्र) को फाड़ा

---

१ म भाइय । २ ब टि० णमो अरहंताणं । ३ म गरुडहं भावइं । ४ म-घारियउ । ५ म ज पट्टोलय ।
६ ब टि० हीरदवरकनिमित्तं सुरत्नं स पुमान् स्फेटति ।

दुल्लहु लहि मणुयत्तणउ भोयहं पेरिउ जेण । लोहकज्जि दुत्तरतरणि णाव वियारिय तेण ॥२२१
दुण्णि सयइं विसुत्तरइं पढियइं सिवगइ दिंति । धम्मधेणु संदोहयहं वरपउ दिंति ण भंति ॥२२२
णयसुरसेहरमणिकिरणपाणिय पयपोमाइं । [1]संघहं जाहं समुल्लसहिं ते जिण दिंतु सुहाइं ॥२२३

दंसणु णाणु चरित्तु तउ रिसि गुरु जिणवर देउ ।
बोहिसमाहिए सहुं मरणु भवि भवि हुज्जउ एउ ॥२२४

इय सावयधम्मदोहा समत्ता ।

और रजके लिए चिन्तामणि रत्नको फोड़ा, ऐसा समझना चाहिए ॥२२०॥ दुर्लभ मनुष्य जन्मको पाकर जो भोगोंमें प्रेरित रहा, उसने लोहाके लिए दुस्तर तरणि अर्थात् उत्तम नावको तोड़ डाला ॥२२१॥ ये उपर्युक्त दो सौ बीस दोहे पढ़नेपर शिवगति देते हैं। धर्मरूपी कामधेनु उत्तम प्रकारसे दुहनेवाले लोगोंको वर श्रेष्ठ पय (दूध पक्षान्तरमें पद) देती है, इसमें भ्रान्ति नहीं है ॥२२२॥ नमस्कार करते हुए देवोंके मुकुटोंकी मणियोंकी किरणोंसे जिनके चरणकमल प्रकाशमान हैं और जो चतुर्विध संघको उल्लासके करनेवाले हैं, ऐसे वे जिनदेव सुखको देवें ॥२२३॥ सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, ऋषि-गुरु, जिनवर-देव और बोधि-समाधि-सहित मरण, ये मुझे भव-भवमें प्राप्त होवें ॥२२४॥

इति श्रीश्रावकधर्म दोहा समाप्त ।

o

---

१ ब टि० संघस्य उल्लासं कुर्वन्ति ।

परिशिष्ट

कुछ प्रतियोंमें कुछ दोहे अधिक पाये जाते हैं, जो कि प्रक्षिप्त प्रतीत होते हैं, क्योंकि गन्थ-कर्ताने अपने दोहोंकी संख्या—जिनमें कि श्रावक धर्मका वर्णन किया गया है, २२० ही कही है। पर विषयकी समानताके कारण उन अधिक पाये जानेवाले दोहोंको यहाँपर दिया जा रहा है

दोहाङ्क २२ और २३ के मध्य 'भ' प्रतिमें—

मज्जहु तिजहु भव्वयणु जेण मई विवरीय। हीणकुलेसु य जोय कहि तस थावर उवजंति ॥१
परिहर मांस हु अरि जिय पंचेंहि णासी पसेहि। तस्सु वि थावर धाइही सम्मोच्छिय बहु होइ ॥२

अर्थ—हे भव्यजनो, मद्यको तजो, इसके पीनेसे बुद्धि विपरीत हो जाती है। यह हीन कुलोंके योग्य कही है। उसमें त्रस और स्थावर जीव उत्पन्न होते हैं ॥१॥ अरे जीव, मांसका परिहार कर, वह पंचेन्द्रिय जीवोंके नाशसे प्रसूत होता है और फिर भी उसमें बहुत त्रस और स्थावर सम्मूर्च्छन जीव उत्पन्न होते रहते हैं ॥२॥

दोहाङ्क २८ और २९ के मध्य 'क' प्रतिमें—

चउ ए इंदिय विण्णि छह अट्ठह तिण्णि हवंति। दह चउरिंदिय जीवडा बारह पंच हवंति ॥३

दोहाङ्क ७६ और ७७ के मध्य 'भ' प्रतिमें—

भरहे पंचमकालहिं ण स्सेणी महव्वयधारी। अत्थि अणुव्वयधारी कोट्टिहिं लक्खेसु कोई ॥४

अर्थ—भरतक्षेत्रमें इस पञ्चमकालमें श्रेणीपर चढ़नेवाले उपशामक या क्षपक महाव्रतधारी नहीं होते हैं। केवल महाव्रतधारी करोड़ोंमें कोई और अणुव्रतधारी लाखोंमें कोई विरला होता है ॥४॥

दोहाङ्क १८१ और १८२ के मध्य 'क' प्रतिमें—

जिणु ण्हावइ उत्तमरसहिं सक्कर-अम्मभवेहिं। सो नरु जम्मोवहि तरहि इत्थु म भंति करेहि ॥५
जो घियकंचनवण्णडइ जिणु ण्हावइ धरि भाउ। सो दुग्गइ गइ अवहरइ जम्मि ण ढुक्कइ पाउ ॥६
दुद्धें जिणवरु जो ण्हवइ मुत्ताहलधवलेण। सो संसारि ण संभवइ मुच्चइ पावमलेण ॥७
दुद्धझडाझढि उत्तरइ दडवड दहिउ पडंति (° तु)। भवियहं मुच्चइ कलिमलहं जिणदिट्ठउ विसहंतु ॥८
सव्वोसहि जिण ण्हाहियइं कलिमलरोय गलंति। मणवंछियसय संभवहिं मुणिगण एम भणंति ॥९

अर्थ—जो जिनभगवान्‌को शक्कर और आमके उत्तम रसोंसे नहलाता है, वह मनुष्य संसार-सागरके पार उतरता है, इसमें भ्रान्ति मत करो ॥५॥ जो कंचनवर्णघृतसे जिनभगवान्‌को उत्तम-भावोंसे नहलाता है, वह खोटी गतिको दूर करता है और जन्मभर उसे पाप ढूँकता नहीं है ॥६॥ जो मुक्ताफलके समान दूधसे जिनवरको नहलाता है, वह फिर संसारमें उत्पन्न नहीं होता और पापमलसे मुक्त हो जाता है ॥७॥ दूधकी धाराके पश्चात् जिनभगवान्‌पर धड़ाधड़ पड़ता हुआ दही भव्यजनोंको कलिमलसे मुक्त कर देता है ॥८॥ सर्वौषधिके द्वारा जिनभगवान्‌को नहलानेसे

भव्योंके कलि-मलरोग गल जाते हैं और मनोवांछित सैकड़ों पदार्थ प्राप्त होते हैं, ऐसा मुनिजन कहते हैं ॥९॥

दोहाङ्क २०६ और २०७ के मध्य 'अ' प्रतिमें—

पारंभइ ण्हवणाइयइं जे सावय जि भणंति । दंसण तेहं विणासियउ एत्थु ण कायउ भंति ॥१०

अर्थ—जो जिनभगवान्‌के अभिषेक करनेमें सावद्यदोपको कहते हैं, उनका सम्यग्दर्शन विनष्ट हो जाता है, इसमें कुछ भी भ्रान्ति नहीं है ॥१०॥

दोहाङ्क २२३ और २२४ के मध्यमें—

जो जिण सासणि भासियउ सो मइं कहियउ सारु । जो पालेसइ भाउ करि सो तरि पावइ पारु ॥११
एहु धम्मु जो आचरइ चउवण्णहं मह कोइ । सो णरु णारी भव्वयणु सुरयइ पावइ सोइ ॥१२
काइं बहुलइं झंखियइं तालू सूखइ जेण । यहु परमक्खरू चेर लइ कम्मक्खउ हुइ तेण ॥१३
भव्वय लग्गा सुवयण सुग्गइ गच्छइ जेण । जह दिट्ठिवउ भवगयह कहिउ ण किव्वउ तेण ॥१४

अर्थ—जो जिनशासनमे कहा गया है, वही श्रावकधर्मका सार मैंने कहा है। जो भावोंसे इसे पालेगा, वह संसार-सागरको तैरकर पार हो जायगा ॥११॥ इस श्रावक धर्मको चारों वर्णोंमेंसे जो कोई भी भव्य नर-नारी जन आचरण करेंगे, वे देवगतिको पावेंगे ॥१२॥ बहुत कहनेसे क्या, जिससे कि तालू सूखे। यही परम अक्षरको चिरकाल तक धारण करो, जिससे कि कर्मक्षय होवे ॥१३॥ जिससे भव्यजीव सुगतिको प्राप्त होते हैं, वे ही सुवचन हैं। जिनसे भवगतिको देखना पड़े, ऐसे वचन नहीं कहना चाहिए ॥१४॥

दोहाङ्क २२४ के पश्चात् 'क' प्रतिमें—

इय दोहावद्धवयधम्मं देवसेणें उवदिट्ठु । लहु अक्खर मत्ताहीणमो पय सयण खमंतु ॥१५

अर्थ—इस प्रकार देवसेनने इस दोहाबद्ध श्रावकव्रतधर्मका उपदेश दिया। इसमें लघु अक्षर मात्रसे हीन जो पद हों, उन्हें सज्जन क्षमा करें ॥१५॥

०

* प्रतिमें दोहाङ्क ९४ नहीं है। वस्तुतः वह मूलका नहीं होना चाहिए, तभी ग्रन्थकारका २२० दोहोंके द्वारा श्रावकधर्मके प्रतिपादनका कथन ठीक बैठता है। मुद्रित प्रतिके अनुरोधसे उसे यहांपर दिया गया है।